

श्रीहरि

धर्माङ्क

विषय-सूची

विषय	पृष्ठ-संख्या	विषय	पृष्ठ-संख्या
१—धर्मक्रक धर्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी वन्दना [कविता]	३०	१३—धर्म-अनुशीलन (अनन्तश्री जगद्गुरु रामानुजाचार्य आचार्यपीठाधिपति स्वामीजी श्रीराष्ट्रवाचार्यजी महाराज)	१९
२—धर्मस्वरूपनाटकम् [संस्कृतभाषा] (पाण्डेय पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री पाठम् साहित्याचार्य)	३०	१४—धर्म (महात्मा श्रीसीतारामदास औंकारलालजी महाराज)	२१
३—धर्मकी महत्ता [कविता]	३०	१५—बैण्डवधर्म (भागवताचार्य प्रसुपाद श्रीमान् प्राणकिन्नोर गोस्वामी महाराज, ईम्० ए०, विद्याभूषण, साहित्यरत्न)	२८
४—श्रीजगद्गुरु आशङ्कराचार्य तथा सनातनधर्म (अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीहारकाशारदापीठाधीश्वर श्रीमद्भिन्नव-सुक्षिदानन्दतीर्थ स्वामीजी महाराज-का प्रसाद)	३०	१६—धार्मिक एकता (स्वामीजी श्रीरामद्वारजी महाराज)	३३
५—उद्योगपरि धर्म (अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य श्रीकाञ्जीकामकोटिपीठाधिपति श्रीस्वामी नन्दशेषवरेन्द्र सरस्वतीजी महाराजका शुभाशीकांड)	३०	१७—हमारा धर्म (श्रीश्रीअरविन्द)	३५
६—धार्मिक चेतना (श्रीशृगोरीमठाधीश्वर अनन्त-श्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराजके सदुपदेश)	३०	१८—स्वधर्म [पीताग्रवचन्द्रसे संकलित] (श्रद्धेय संत श्रीविनोदा भाष्य)	३६
७—सनातन-धर्मका स्वरूप (मूल अंगेजी लेखक—अनन्तश्रीविभूषित जगद्गुरु श्रीगोपर्धनमठाधीश्वर ब्रह्मलीन स्वामीजी श्रीभारतीकृष्णतीर्थजी महाराज; अनुचाक—श्रीशुदिशीलजी शर्मा, तक्किरोमणि)	३०	१९—मानव-धर्मका संजित स्वरूप (श्रद्धेय पं० श्रीपाद दधोदर सातवलेकर महोदय)	३९
८—धर्मका स्वरूप और माहात्म्य (पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामीजी श्रीकरणानन्दजी महाराजका प्रसाद)	३०	२०—धर्मके लक्षण (श्रद्धेय स्वामीजी श्रीविद्यानन्दजी शिवेदेह महोदय)	४०
९—सुख-सान्तिका एकमात्र उपाय-धर्म (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सुरवती महाराज)	३०	२१—धर्मका तेजस्वी रूप (श्रद्धेय आचार्य श्रीतुलसी महोदय)	४१
१०—धर्म अविनाशी तत्त्व है (एक महात्माना प्रसाद)	३०	२२—धर्मकी महत्ता (महामहिम डॉ० श्रीसर्वपल्ली राधाकृष्णन् महोदय—राष्ट्रपति)	४३
११—हमारा सद्या यार्थी कोन है १ धर्म (परमार्थनिकेतन-के सुनें स्वामीजी श्रीभजनानन्दजी महाराज)	३०	२३—धर्मका उद्देश्य (महामात्य श्रीलक्ष्महावृत्तजी शास्त्री, प्रधान मन्त्री)	४४
१२—धर्मकं प्रवर्तताम् (अनन्तश्री स्वामीजी श्रीविशद्वाचार्यजी बैकटाचार्यजी महाराज)	३०	२४—धर्मका स्वरूप (महामहिम डॉ० श्रीसंगूणनन्दजी, राज्यपाल, राजस्थान)	४४
		२५—श्रेष्ठतमसे भी श्रेष्ठ आदर्श (महामहिम श्री-विभूषणदत्तजी राज्यपाल, उत्तरप्रदेश)	४७
		२६—धर्मका वास्तविक अर्थ (माननीय श्रीश्रीग्रकाशजी)	४९
		२७—पीता-धर्म (पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)	५०
		२८—धर्म और उसका प्रचार (ब्रह्मलीन श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)	५४
		२९—मास्तीय समाज-मर्यादाके आदर्श श्रीराम (श्रीश्रीरामनाथजी 'सुमन')	५७
	१७		



COLLECTION OF VARIOUS

- HINDUISM SCRIPTURES
- HINDU COMICS
- AYURVEDA
- MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with



By

Avinash/Shashi

[creator of
hinduism
server]

१०—सद्गुरात्मसंरेषण भगवान् श्रीरामका आदर्श चरित्र (१० श्रीशिवकुमारजी शास्त्री, ल्याकल्याचार्य, दर्शनालक्ष्मीर)	... ६०	३—(१० श्रीकृष्णशरजी शा. काव्यतीर्थ व्याकरणाचार्य)	... ९६
११—श्रीरामके पदपर्णमे नमस्कर [कविता] ...	६१	४—(न्योटोविंडमूर्यण काव्यव्युत्तरीण रमेशचार्य पै० श्रीत्रैसुवन्नद्वजी शास्त्री)	... ९८
१२—धर्मके परम आदर्शवल्य भगवान् श्रीराम और उनकी दिनवर्ती (श्रीकृष्णलाप्रसादजी श्रीवाल्मीकी वी० काम०, समाजक उद्दीपन मार्ती)	... ६२	५—(श्रीदुक्त विष्णुदत्तजी पुरोहित)	... ९९
१३—धर्मके परम आदर्श धर्मसुर्ति भगवान् श्रीराम और उनकी दिनवर्ती (श्रीगोपिन्द्र-प्रसादजी चतुर्वेदी शास्त्री वी० ए०, विद्यामूर्यण)	... ६३	६—(श्रीचन्द्रशेखरदेवजी काव्यतीर्थ, लाहिल्लिशारख)	... १००
१४—सत्यकमे और उसके आदर्श श्रीराम (श्रीरामचरित्मी सिंह, ए०० ए० (संस्कृत तथा हिन्दी), व्या० शा०, आचार्य, साहित्यक)	... ६४	७—(स्व० श्रीकृष्णकृष्ण शीरेश्वरिम् पंतुङ—अनु०—श्रीगोपिन्द्र-प्रसादजी, ए००२	१०२
१५—मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम तथा महात्मा गृहस्ती (श्रीब्रह्मद्वयनुजी शर्मा)	... ६५	८—मानव और मानव-धर्म (श्रीसक्तमांगदजी लघाली व्याकरणाचार्य)	... १०५
१६—अहिंसा-धर्मकी धारणा (श्रीकृष्णदत्तजी मह०)	६६	९—अधर्मसे अन्तमे सर्वनाश [संकलित] (मनु० ४। १७४)	... १०६
१७—अहिंसा-धर्मका स्वरूप (व्र० श्रीत्वामीजी ओमानन्दतीर्थजी)	... ६७	१०—मनव-धर्म (प्राव्यापक श्रीचन्द्रनूलाल ब०ठकर ए००००, काव्यतीर्थ)	१०७
१८—हिंसका अनुमोदक भी हिंसक है [संकलित] (महामारत-अनुदासन० ११५। ३१)	... ६८	११—ज्ञव सत्य-धर्मकी प्रेरणा होती है ! (श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)	... १११
१९—अहिंसा परस्परी धर्म : ७८से८०	६९	१२—सत्यकी महिमा [संकलित] (मण० अनुदासन० ७६। २३)	... ११२
१—श्रीशिवप्रसादजी शुर्मा काव्यतीर्थ)	... ७०	१३—सत्य-धर्म (श्रीसतीषचन्द्र रुक्मिणी ए००५, ए००६ ए००७)	... ११४
२—(श्रीगुलाबचन्द्रजी बालचल)	... ७१	१४—सत्यकी कुछ आदर्श उदाहरण ११६से१२३	
३—(श्रीरामेन्द्रप्रसादजी जैन)	... ७२	१—राजा हरिचंद्र (त्रु०)	... ११६
४—अहिंसके शुण और मोर-मक्षणके द्वेष [संकलित] (महामारत-अनुदासन० १४७)	... ७३	२—सत्य-धर्मके लिये प्राण देनेवाले महाराज ददरथ (त्रु०)	... ११७
५—अहिंसा-धर्मके आदर्श उदाहरण ८४से८६	७४	३—श्रीगोपिन्द्र (त्रु०)	... ११९
६—अहिंसा-धर्मके आदर्श सेठ सुदर्शन (त्रु०)	८५	४—श्रीब्रह्मद्वयनुजी काव्यतीर्थ (त्रु०)	... १२१
७—ज्ञाहादकी विलक्षण अहिंसा, पर-दुर्घटकात्मा और क्षमाशीक्षा (श्रीमती राधा भालोदिया)	... ८६	५—सत्य-धर्मके आदर्श महात्मा सुकरात (या० ला०)	... १२३
८—क्षुद्राय त्रुत करनेवालेको क्षमा करो [कविता]	... ८८	६—सत्यवादी राधम भक्त (श्रीमती राधा भालोदिया)	... १२०
९—नमो धर्मव महते (डॉ० श्रीवामुदेशवद्यरजी अवसाल ए००००, वी० लिट०)	... ८९	७—तत्त्वप्रिय रुग्णविनिधि (त्रु०)	... १२२
१०—मानव-धर्म	... ९०	८—तत्य-धर्मनीष नन्दा गौ (त्रु०)	... १२२
११—(श्रीशीरामनाथजी न्तुमन)	... ९२	९—आलचर चालक (त्रु०)	... १२३
१२—(श्रीगोपिन्द्रसंखरजी गुप्त)	... ९४	१०—नवधा मक्ति तथा परम धर्म और उनके लक्षण	... १२४से१२७

५५—धर्मो भारती प्रजाः [कहानी] (श्री चक्र)	१३७	७२—धर्मस्य भगवान् श्रीकृष्ण	१८०
५६—सनातन-धर्मका लक्षण, स्वरूप और सार्वभौमत्व (प० श्रीमाभवाचार्यजी शास्त्री, शास्त्रार्थमहारथी)	१४०	७३—धर्मके परम आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण और उनकी दिनचर्या (श्रीलक्ष्मीकान्तजी त्रिवेदी)	१८१
५७—अधर्मसे दुःख और धर्मसे खुश [संकलित] (मंत्र० ६। ६४)	१४२	७४—भगवान् श्रीकृष्णकी धर्मसुख हैवी राजनीति (सर्वाय श्रीलौट्सिंहजी गौतम, एम० ए०)	१८७
५८—धर्मका लक्षण, स्वरूप और उसकी परिभाषा १—(श्रीचारुचन्द्र चट्टोपाध्याय एम० ए०) २—(प० श्रीकैलाशनाथजी द्विवेदी, एम० ए०, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न)	१४३	७५—धर्म और परम धर्म (मु०)	१८९
५९—धर्म और सम्प्रदाय (श्रद्धेय स्वामी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती भग्नराज)	१४४	७६—परम धर्म (डॉ० प० श्रीगोपीनाथजी तिवारी एम० ए०, पी-एच० डी०)	१९२
६०—धर्म और सम्प्रदायका अन्तर (श्रीसुदर्शनसिंहजी)	१४५	७७—धर्मो भारते प्रजाः (डॉ० सुंदरियमजी शर्मा एम० ए०, पी-एच० डी०, डी० लिट०)	१९४
६१—धर्मका यथार्थ रहस्य भवा है १ (श्रीकान्तार्हिलाल पटक, एस० पी०)	१४६	७८—बैद्यर्णि राष्ट्र-धर्म (श्रीसिंहारामजी सक्सेना प्रवर, एम० ए०, साहित्यरत्न)	१९६
६२—धर्म जीवनमें प्रतिदिन, प्रतियल व्यवहारकी जीवन-पद्धति है (डॉ० श्रीरामचरणजी मदेन्द्र, एम० ए०, पी-एच० डी०)	१४७	७९—परस्वप्रहरण-स्थान या अस्तेय-धर्म	२०३
६३—व्यक्तिगत दैनिक जीवनमें धर्मका रूप (श्रीरामनिरोदणसिंहजी एम० ए०, काव्यतीर्थ)	१४८	८०—भगवत्प्रेमीका जीवन धन्य है [कविता]	२०५
६४—धर्मकी महिमा [कविता] (श्रीशजेन्द्रसिंहजी चौहान)	१४९	८१—अस्तेय-धर्मके आदर्श उदाहरण	... २०६ से २०९	
६५—भागवत-धर्म (राष्ट्रपति-पुरस्कृत डॉ० श्रीकृष्णादत्तजी भारद्वाज, एम० ए०, पी-एच० डी०, पुण्याचार्य)	१५४	१—अस्तेय-धर्मके आदर्श ज्ञापि बाह्यनिलिपि (मु०)	२०६
६६—धर्म और भगवान् [कविता]	१५५	२—अस्तेय तथा व्याग-धर्मके आदर्श ब्राह्मण (मु०)	२०७
६७—भागवत-धर्म	१६०	३—सुहिता माहंकी हक्की रोटी (श्रीमती राधा मालोटिया)	२०८
६८—परम भागवतके लक्षण [कविता]	१६३	४—अस्तेय-धर्मके आदर्श-निधन बालक (मु०)	२०९
६९—परमधर्म भागवत-धर्म	... १६८-१६९	१६४	८२—धर्मशास्ति जीवन	२०९
१—(श्रीजयरणछोड़दासजी 'भगत')	१६५	८३—वर्णाश्रम-धर्म (श्रीवसन्तकुमार चट्टोपाध्याय, एम० ए०)	२१२
२—(प० श्रीवैद्यनाथजी इा आचार्य, एम० ए०, साहित्यरत्न)	१६६	८४—वर्णाश्रमकी महामहिमा (डॉ० श्रीनीरजाकान्त क्षीघुरी देवघर्या एम० ए०, पी-एच० डी०, प्ल-एल० वी०)	२२०
७०—ग्राणीका सर्वोपरि धर्म परमाभस्तुताकार अथवा भगवद्दर्शन (प० श्रीजानकीमाथजी द्वार्मा)	१६७	८५—भारतीय वर्ण-धर्मका स्वरूप और महत्व	२३३
७१—परम श्रेष्ठ धर्म (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महरपन)	१६८	८६—संतका धर्म-आचार [कविता]	२३५
		१६९	८७—भारतीय चार आश्रमोंके धर्म और पालनीय नियम	२३६
		१७०	८८—सनातन-धर्म (प० श्रीदीनानाथजी शर्मा, शास्त्री, सारस्वत, विद्यावागीश, विद्याभूषण, विद्यानिधि)	२३८
		१७१	८९—सहिष्णुता-अहिंसाके रक्षक देवता [संकलित]	२४१
		१७२	९०—सनातन धर्म ही सार्वभौम-धर्म या मानवधर्म है	... २४२ से २४६	
		१७३	१—(श्रीनारायणजी युरोपेत्तम सांगाणी)	२४२
		१७४	२—(श्रीइन्द्रजीतजी शर्मा)	२४६

११—उनातन धर्म ही सार्वभौम मानव-धर्म है (श्रीगंगाधर गुरुजीः वी० ए०, एल्-एल० वी०, एडचोकेट)	२५०	४—श्रमा-धर्म गोष्ठीबी (सु०)	२८२
१२—ब्रह्मचर्य-महिमा (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	२५३	५—श्रमा-धर्मके आदर्श महामनि जपदेव (सु०)	२८३		
१३—ब्रह्मचर्य-धर्म और उसके आदर्श २५६-२५७ १—(एक चहस्य)	६—श्रमा-धर्मके आदर्श समर्थ रामदास (सु०)	२८४		
२—(श्रीपरमहेशजी, श्रीरामकृष्णजी)	७—त्राक्षण-गुरुकी क्षमा (श्रीरामा भालोटिया)	२८४		
१४—ब्रह्मचर्य-धर्मके आदर्श उदाहरण	२६२ से २६४	१०८—श्रम (मनोनियह)—संयम-पालनके आदर्श [अर्जुन] (सु०)	२८६	
१—श्रीहनुमानजी (सु०)	१०९—मन-विजयी [कविता]	२८७	
२—श्रीगुरुकृदेवजी (सु०)	११०—श्रम (मनोनियह)-धर्मके आदर्श-दो संत २८८-२८९ १—श्रीविनाशीजी महागण एवं वासन वाचा (सु०)	२८८	
३—ब्रह्मचर्य-धर्मके आदर्श उत्तम (सु०)	२६३	२—मनोनियहके आदर्श—तपस्त्री शेरफिल (य० ल०)	२८८	
४—ब्रह्मचर्य-धर्मके आदर्श मीमांसितामह (सु०)	२६४	३—मनोनियह-धर्मके आदर्श भिक्षु उपग्रह (य० ल०)	२८९	
१५—अपरिग्रह तथा संतोष-धर्मके आदर्श २६५-२६६ १—महाप्रिं लोमध्य (सु०)	१११—श्रम (इन्द्रिय-संयम)-धर्मके आदर्श २९१ से २९३ १—ब्राह्मणग्रेष (सु०)	२९१	
२—साक्षी रात्रिया (य० ल०)	२—चेठ सुदर्शन (सु०)	२९२	
१६—शौच-धर्मके आदर्श [वाचा भोजल्पुर] (सु०)	३—महाराज छत्रसाल (सु०)	२९३	
१७—संतोष-धर्मके आदर्श [महामना मालवीयजीके पिता] (चु०)	४—नाम-परम्परण इन्द्रिय-विजयी भक्त हरिद्वजी	२९३		
१८—संतोष ही परम सुख है [कविता]	११२—धी-धर्म [कहानी] (श्री‘चक्र’)	२९४	
१९—संतोष-धर्म (श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम० ए०, एल्-एल० वी०, एल० ढी०)	२६९	११३—विद्या-धर्म [कहानी] (की‘चक्र’)	२९४	
२००—तप-धर्मके आदर्श	२७०-२७१	११४—अक्षोध-धर्मके आदर्श	३०० से ३०५		
१—काशीकी दो संत (सु०)	१—एकनाथजी (श्रीमती राचा भालोटिया)	३०२		
२—असुर गुडाकेश (सु०)	२—अक्षोधकी परीक्षा (श्रीमती राचा भालोटिया)	३०३	
३—तप एवं लोकहितका आदर्श—असुर राय (चु०)	३—अक्षोध-धर्ममें निपुण धासुदेव (सु०)	३०४		
१०१—स्वाध्याय-धर्म (श्रीकन्हैवलालजी लोहा वी० ए०)	४—अक्षोधी मुक्तरता	३०५	
१०२—धर्म सेता [कविता] (श्रीकुरुदयनसिंहजी)	२७६	११५—धर्मनूर्ति महाप्रिं वाल्मीकि और उनके रामायणप्रतिपादित धर्म (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	३०६	
१०३—स्वाध्याय-धर्मके आदर्श [श्रीदेवनाथसिंह] (सु०)	११६—वर्षाग्राण भगवान् व्यासदेव और उनके पुराणप्रतिपादित धर्म (पं० श्रीजानकी- नाथजी शर्मा)	३०८	
१०४—ईश्वर-प्रणिधानके आदर्श [संत तुकाराम] (सु०)	११७—हिंदू-धर्मके आचार-ग्रन्थ	३१०	
१०५—अक्षिय और हुक्मरूप [मंकलित] (महामारत, अनुशासन १४५)	११८—सुषिका प्रथम धर्मोपदेश—तप (सु०)	३१६	
१०६—धूतिका स्वरूप	११९—सुषिकर्ताका अपनी प्रजाको धर्मोपदेश (सु०)	३१७		
१०७—अमरका आदर्श	२७९ से २८४	१२०—आदर्श धर्मगालन	३१८ से ३२१		
१—विष्णु भगवान् और भगुनी (श्रीमती राचा भालोटिया)	१—धर्मनूर्ति महाराज दिवोदास (सु०)	३१८	
२—प्रहादकी क्षमादीक्षा	२—शाज-भद्राके आदर्श श्रीकुमारिल मह (सु०)	३१९	

३—ज्ञानिष्ठके आदर्श राजा रुक्मणीद (सु०)	३२०	५—दान-धर्मके आदर्श—राजा हर्षवर्धन (सु०)	३६०
४—धर्मज्ञ सोता (सु०)	...	३२१	६—दानशीलता-धर्मके आदर्श— विद्यासागर (सु०)	३६०	
१२१—महाभारतमें धर्म (डॉ० श्रीबलदेवजी उपाध्याय, एम्० ए०, साहित्याचार्य)	...	३२२	१२२—हमारा धर्म और शिक्षा (साहित्यभूषण श्रीभगवानसिंहजी चन्देल, 'चन्द्र')	...	३६१		
१२२—धर्म-परिचय (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	...	३२८	१२३—घोर अविद्या, अविद्या, विद्या [कविता]	...	३६२		
१२३—धर्मका दृष्टि और अदृष्टि फल (वाचिक- समादृ० पं० श्रीवेणीरामजी शर्मा, गौड, वैदाचार्य, कान्तीर्थ)	...	३३३	१२४—सामाज्य-धर्म और विशेष-धर्म	...	३६४ से ३६७		
१२४—धर्मके विविध रूप	...	३३६	१—प्रेमधर्मकी विशिष्ट सजीव प्रतिमाएँ श्रीगोपालना	...	३६५		
१२५—शरणागत-रक्षण धर्मके आदर्श	३३९ से ३४२	२—पितॄभक्ति परशुराम	...	३६६			
१—महाराज शिवि (सु०)	...	३३९	३—प्रातुरसक्त लक्ष्मण	...	३६७		
२—आश्रित-रक्षा-धर्मके आदर्श—युधिष्ठिर (सु०)	...	३४०	४—पतिपारायण शाष्ठिली (सु०)	...	३६७		
३—पतिधर्मके आदर्श अर्जुन और शरणागत- वस्तुला सुमद्रा (सु०)	...	३४१	१२९—सर्वधर्मानुष्ठान-परिवर्त्य	...	३६९ से ३७९		
४—शरणागतरक्षण-धर्मके आदर्श शरण हमीर (सु०)	...	३४२	१—(—)	...	३६९		
१२६—कठोर वाणिसे मर्माधार मत करो [संकलित] (महाभारत, अनु० १०४। ३१-३२)	...	३४३	२—(प्राचार्य श्रीजयनारायणजी महिलक, एम्० ए० [दृश्य], स्वर्णपदक-ग्रास; छिप० घड०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार)	...	३७२		
१२७—सत्य सनातन विश्व-धर्म (दासपवित्र)	...	३४४	३—गीताका चरम इलोक—एक व्याख्या	...			
१२८—धर्मका सत्य-स्वरूप (राजवीजी डॉ० स्वामी श्रीबलदत्तानन्दजी एम्० ढी०, एच० एम्० डी०, एम्० वी०, आई० एम्० एस०)	...	३४५	(प्र०—पूज्यचरण आचार्य श्रीराधवा- चार्यजी भारात)	...	३७८		
१२९—धर्म क्या है ? (श्रीधर्मजयजी भड़ प्ल०खल)	...	३४६	४—(पं० श्रीसुधाकरजी त्रिवेदी घट्ट)	...	३७९		
१३०—दम-धर्मकी श्वेषता [संकलित] (महा० अनु० ७५। १६-१७)	...	३४७	१४०—सामाज्य-धर्म और विशेष-धर्म तथा इनके आदर्श (श्रीश्रीकान्तशरणजी)	...	३८०		
१३१—धर्मो रक्षति रक्षितः (सु०)	...	३४८	१४१—वात्सल्य-धर्म (श्रीब्रीप्रसादजी पंचोली, एम्० ए०, पी-एच० डी०, साहित्यरत्न)	...	३८५		
१३२—काम-क्रोधादिमें रत लोग भगवान्को नहीं जान सकते [संकलित] (दौहावली)	...	३४९	१४२—आतुरमानव और उसकी गति [संकलित] (महाभारत, अनु० १४५)	...	३९४		
१३३—कलियुगका ग्रधन धर्म—दान (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	...	३५०	१४३—श्रीधर्मतत्त्व-सीमांता (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)	...	३९५		
१३४—धर्म ही जीवनका व्याधार [कविता] (श्रीमहावीरप्रसादजी अग्रवाल)	...	३५१	१४४—आतिथ्य-धर्मके आदर्श	...	३९६ से ४०२		
१३५—दान-धर्मके आदर्श	...	३५२ से ३६०	१—महर्षि सुदूर (सु०)	...	३९७		
१—दैत्यराज विरोचन (सु०)	...	३५२	२—महाराज मयूरस्वर्ज (सु०)	...	३९८		
२—महादानी दैत्यराज बलि (सु०)	...	३५६	३—श्रीकृष्णका अतुलनीय अतिथि-सकार	...	३९९		
३—महादानी कर्ण (सु०)	...	३५८	(सु०)	...	४००		
४—दान-धर्मकी महिमा (सु०)	...	३५९	४—आतिथ्यरूप धर्मका फल (सु०)	...	४०१		

१४५—दया-धर्मका स्वरूप	४०४	१०—जर्जरमिष्ट शेवक (सु०)	...	४३४
१४६—ममता ही मृत्यु है [संकलित] (महाभारतः आश० १३। ३, ६-७)	...	४०४	११—मूदेष मुखोपाल्याय (सु०)	...	४३४	
१४७—दया-धर्मके आदर्श	४०५ से ४०७		१५४—धर्म जीवनमें उत्तारनेकी वस्तु है, लिख रखनेकी नहीं	...	४३४	
१—दया-धर्म परोपकारी यज्ञा	...	४०६	१५५—मानसमें धर्मकी परिमात्रा (टॉ० श्रीहरिहरनाथजी हुक्का, एम० ए०, टॉ० लिट०)	...	४३५	
२—दया-धर्मकी मूर्ति महाभासा मालवीयजी (सु०)	...	४०६	१५६—श्रीगणेशमानसमें धर्म-सत्त्व-निरूपण (वैष्ण व० व्यापकभौ रामायणी, मानस-तत्त्वानेपी)	...	४३५	
३—दया मोजके राजकवि (सु०)	...	४०६	१५७—शुभकर्मका शुभ और अशुभम अनुभव कल मिलता है [संकलित] (महाभारत, अनुशासन० ९६)	...	४३५	
४—नाश महात्मा	...	४०६	१५८—धर्म और परलेक (व्याकुलशान्ति० व० श्रीरुद्रोर मिठ०-वाचस्पति)	...	४३०	
५—अत्राहम लिङ्गम	...	४०७	१५९—जय धर्म-संकट आता है (सु०)	...	४४१	
१४८—मानवका परम धर्म—परोपकार (श्रीअपार-चन्द्रजी नाहदा)	...	४०८	१६०—दर्शनोन्मुखता ही परम धर्म (श्रीरथेश्वरमजी वैष्ण, एम० ए०)	...	४४२	
१४९—परहित सरिल धर्म नहि माइ (श्रीसुरेन्द्र-कुमारजी प्रिया० एम० ए०, एम० ए०, वाहिन्दरल)	...	४११	१६१—आचुवेद और धर्मयात्रा (प० श्रीदरिवेदजी जौशी, तीर्थय)	...	४४५	
१५०—सर्वत्र आत्मरक्षन ही सत्य धर्म है (श्रीजगदाधि गुरु पुरुषोत्तम द्वया महायज)	...	४१५	१६२—श्रान्तेको सदा धर्मकी कलोटीपर करता रहे [कविता]	...	४४१	
१५१—परोपकार-धर्मके आदर्श	४१७ से ४२५		१६३—जन्माद्यसे धर्म-विचार (व्योतिशाचार्य श्रीविद्वान्मजी धात्ती, एम० ए० वाहिन्दरल)	...	४५०	
१—महर्षि दधीचि (सु०)	...	४१७	१६४—धर्म और विश्वा० ४६० से ४६०			
२—नीधराज जयसु (सु०)	...	४१८	१—(प्रधायापक श्रीहिमांशुदेशर ला, एम० ए०)	...	४५५	
३—देवी कुत्ती (सु०)	...	४१८	२—(श्रीनृपतकुमारजी लोदा निर्मल)	...	४५७	
४—कोसलराज (सु०)	...	४२०	३—(कुमारी श्रीउपायती विद्यालंकुता, शास्ती, साहिन्दरल)	...	४५१	
५—महाराज मेथवाहन (सु०)	...	४२०	४—(श्रीसुत डी० एस० जाईया)	...	४६०	
६—सिवाजी और आद्यात्मा (सु०)	...	४२२	१६५—मिलोभता-धर्मके आदर्श	४६२ से ४६५		
७—ईश्वरबन्द्र विद्यासागर (सु०)	...	४२३	१—हुलधार (सु०)	...	४६२	
८—कन्तड हृष्ण नावर (सु०)	...	४२४	२—सौकृत्योक्ता (सु०)	...	४६३	
९—मोग (सु०)	...	४२४	३—नामदेव (सु०)	...	४६३	
१०—पैडम ज्वेयटकी (रा० ला०)	...	४२५	४—श्रीसुनानत गोक्षामी (सु०)	...	४६४	
१५२—परोपकार धर्म और परापकार अधर्म है [कविता]	...	४२५	५—संत त्रुकाराम (सु०)	...	४६५	
१५३—सेवक-धर्मके आदर्श	४२६ से ४२४		६—अलीम-धर्मका आदर्श शावस्ती-नरेश और श्रावण-कुमार (सु०)	...	४६५	
१—भक्त हनुमानजी (सु०)	...	४२६	१६६—धन अनर्थ तथा हुँखका मूल [संकलित] (महाभारत, अनुशासन० १४५)	...	४६६	
२—आदर्श सेवके मूर्तिमान् स्वरूप श्री-हनुमानजी (श्रीहृदयवांकरजी 'पागल')	४२७		१६७—गौका धार्मिक और आर्थिक सहस्र (प० श्रीमूलनारायणजी मालवीय)	...	४६७	
३—सुप्रिया (रा० ला०)	...	४२९				
४—सहाया देवायितो (सु०)	...	४२९				
५—निकाम सेवके पवित्र आदर्श—दैत्य-गूर्ति संत फान्सिस (रा० ला०)	...	४३०				
६—राढौखर हुगोदास (सु०)	...	४३१				
७—संयमाय (सु०)	...	४३२				
८—सेवकधर्मका यह आदर्श (सु०)	...	४३२				
९—प्रका धाय (सु०)	...	४३३				

१६८—गो-सेवा-धर्म और उसके आदर्श (प० श्रीमुकुन्दपतिजी त्रिपाठी एम० ए०; रलमालीव)	३०	१८७—वर्मयुद्ध (श्रीशिवानन्दजी शर्म, एम० ए०)	३०	५१०
१६९—गो-सेवाका आदर्श—महाराज चिकमादित्य (सु०)	३०	१८८—शरीरमें अहंतान्मता करनेवालेको नरककी प्राप्ति [संकलित] (चारदर्पणिजको- पनिषद् ३ । ४६-४८)	३०	५१३
१७०—गौ लक्ष्मीकी; जड़ और चर्वपापनाशिनी है [संकलित] (महाभारत, अनुशासन० ५१ । २८, ३२)	३०	१८९—राणभूमिये बीरका धर्म और उसका फल [संकलित] (महाभारत, अनुशासन० १४५)	३०	५१४
१७१—प्रसार्थी [कहनी] (श्रीकृष्णगोपालजी मथुर)	३०	१९०—राजका धर्म और उसका फल [संकलित] (महाभारत, अनुशासन० १४५)	३०	५१५
१७२—श्रद्धाविश्वास-धर्मके आदर्श—जार्ज थूलर (रा० ला०)	३०	१९१—बही, हमारा धर्म सनातन [कविता] (श्रीश्यामजी दर्मा, एम० एस-सी०, एम० ए० (जय), साहित्यरत्न, आशुवेदरत्न)	३०	५१६
१७३—धर्मको जीवनमध्यमें लानेवे ही समर्पित है (श्रीहन्द्रलालजी शास्त्री, जैन, विद्यालंकार)	३०	१९२—आर्यधर्म और संस्कृतिके प्रति गणराज्य- संविधानकी इष्टि (श्रीकृष्णरमलजी बाँटिका)	३०	५१७
१७४—धर्मस्थ पुरुष अथा करे ! [संकलित]	३०	१९३—धर्महीन मनुष्य [कविता]	३०	५१८
१७५—धर्म और मनोविज्ञान (प० श्रीललजी- रामजी शुक्ल, एम० ए०)	३०	१९४—मौतिकवाद और अध्यात्मवाद (श्रीशोभीचन्द्रजी धाढ़ीशाल, वी० एस-सी०, एल-एल० वी०)	३०	५१९
१७६—धर्म द्वादशका दुरुपयोग (महामहिम डॉ० श्रीसमूर्णनन्दजी, राज्यपाल, राजस्थान)	३०	१९५—धर्मका मर्म [कविता] (श्रीमुगलसिंहजी खीची, एम० ए०, वार- एटला)	३०	५२१
१७७—अर्थे नामक अर्थ [संकलित] (श्रीमद्भागवत २१ । २२ । २६-२९)	३०	१९६—धर्मसंखापनार्थीय (श्रीज्ञशोकजी कौशिक)	३०	५२२
१७८—धर्म और सेक्युलरिज्म (श्रीरामकृष्णप्रसादजी वी० ए०, वी० एल०)	३०	१९७—मोक्षका अधिकारी [संकलित] (चार- परिज्ञाजकोपनिषद् ४ । ४५)	३०	५२३
१७९—धर्ममें शासनका हस्तक्षेप अचान्क्षीय (प० श्रीराजारामजी शास्त्री)	३०	१९८—संतोषसे परम सुख तथा उन्नति, असंतोषसे दुःख तथा पतन [संकलित] (श्रीमद्भगव० ७ । १५ । १६ । १७, २०, २१)	३०	५२४
१८०—धर्म और सुमाजवाद (वैद्य श्रीगुरुदत्तजी एम० एस-सी०, आशुवेद-चाच्चसति)	३०	१९९—देशमत्ति-धर्म (श्रीमधुसूदनजी बाजपेयी)	३०	५२२
१८१—महाकवि भारतिके काव्यमें राजधर्म (श्रीयुगलसिंहजी खीची, एम० ए०, वार-एटल०, विद्यावारिषि)	३०	२००—देशमत्ति-धर्म (श्रीमधुसूदनजी बाजपेयी)	३०	५२४
१८२—धर्म और रणनीति (श्रीविश्वनाथ केशव शुक्लजी हजरदापकर)	३०	२०१—देशमत्ति-धर्म [कविता]	३०	५२४
१८३—धर्म और दण्डनीति (छा० कै० सी० करदाचारी, एम० ए०, पी-एच० डी०)	३०	२०२—धर्म-ग्रन्थ (वैद्य श्रीकृष्णरामलजी व्याकरणाशुब्देशाचार्य)	३०	५२५
१८४—मनुष्यको कितना चाहिये ! [संकलित] (महाभारत, अनु० १४५)	३०	२०३—विवेक-धर्म [कविता] (श्रीरामविशालजी शर्मा विशाल साहित्यरत्न)	३०	५२७
१८५—धर्म और राजनीति १—(आचार्य श्रीविश्वनाथजी दीक्षित 'बहुक') २—(श्रीभागवतनारायणजी भागवत, संसद- सदस्य राजसमा)	३०	२०४—भारतीय इतिहास और धर्म (पद्मभूषण डा० श्रीसुर्यनारायणजी लाल, डी० लिट०)	३०	५२९
१८६—प्रेमधर्मरूप-सौन्दर्य माझुर्व-सिन्दु श्रीकृष्ण [कविता]	३०	२०५—धर्म-महिमा [कविता] (श्रीभवदेवबी झा० एम० ए० [द्वय])	३०	५३०

२०६—अन्तर्मुखता ही धर्मकी कसौटी है (साथी श्रीकनकप्रभाजी) [प्रेपर — श्रीकमलेश्वरी चतुर्वेदी] ५५१	४—शासकधर्मके आदर्श महाराज, चन्द्रायीड (सु०) ५७९
२०७—गुरु-धर्मके आदर्श महर्षि श्राव्यु (सु०) ...	५५२	२२०—ब्रेट राजाकर धर्म [कविता] ... ५८०
२०८—हमारे पूर्वज और उनके धर्म [कविता] (श्रीगण्यमुनि पद्मेन्द्र)	... ५५३	२२१—शक्तधर्मके आदर्श ... ५८१-५८२
२०९—शिष्य-धर्मका आदर्श ...	५५५-५६०	१—काशी-नरेश (सु०) ... ५८१
१—कौस और आदर्श दाता खु (सु०)	५५५	२—राज रत्नसिंह (श्रीगिलकुमारजी योद्धा) ५८२
२—आशुणि (सु०)	... ५५६	२२२—गृहस्थ-धर्म-विचार (विद्याभूषण श्रीगम-कुण्ड अनंत भट्ट काशीकर) ... ५८३
३—उपमन्तु (सु०)	... ५५७	२२३—भगवन्नुभागात यहस्त [कविता] ... ५८५
४—एकलव्य (सु०)	... ५५८	२२४—भारतीय गृहस्थीमें धर्मसालन (अचार्य श्री-बत्तमाजी जाली, एम० ए०, साहित्यरत्न) ५८६
५—श्रीकृष्ण-सुदामा	... ५५९	२२५—धर्मो रक्षति रक्षितः [कविता] (प० श्री-नन्दनिश्वरजी जा) ... ५८७
६—छपपति शिवाली (सु०)	... ५५९	२२६—बारें वणोंके धर्म (ब्रह्मलीन परमदूस परिवाजानार्थ श्रीश्री १००८ श्रीसामी योगेश्वरानन्दजी सरस्वती, प्रेपर—श्रीनवृत्तमलजी देसरका) ... ५८९
७—श्रमद्भास कृष्णाण (सु०)	... ५६०	२२७—चारें वणोंका समाप्त महस्त [कविता] ... ५८९
२१०—धर्म तर्वं प्रतिष्ठितम् ! (डा० जे० नरसिंह जाली, विश्वालंकार, साहित्यरत्न, वैदान-भूषण, श्राव्यु-दक्षिणोमणि, रिसर्च लाइब्रेरी) ५६२		२२८—ग्रामण-धर्म एवं उसके आदर्श ... (प० श्रीशीधरजी द्विवेदी, व्याकरणानार्थ, साहित्यशाली, 'विद्यारथ') ... ५९०
२११—यतो धर्मसतो जयः ...	५६३-५६५	२२९—ग्राहाष-धर्मके आदर्श ... ५९१-५९२
१—(श्रीगीपालद्यन जालनापुरस्कर महाराज) ५६३		१—महापणित कैपट (सु०) ... ५९१
२—(श्रीवल्लभदासजी विजानी व्याजेश्वर साहित्यरत्न) ५६५		२—श्रीरामनाथ तर्क-सिद्धान्त (सु०) ... ५९२
२१२—सुक कौन होता है ! [संकलित] (महाभारत, आश० १९। २—४)	५६६	२३०—ग्राहण-धर्म [कविता] ... ५९३
२१३—धर्म और कामोपभोग (आचार्य प० श्रीशिवकुमारजी जाली, व्याकरणानार्थ, दर्शनालंकार)	५६७	२३१—शक्तिधर्म (प० श्रीवीरीश्वरकल्जी भट्टाचार्य) ५९३
२१४—कामना और मानव-धर्म (डा० श्रीपरमानन्दजी)	५७०	२३२—शक्तिधर्मके आदर्श [भीमपितामह] (सु०) ५९६
२१५—सत्य-धर्म (प० श्रीदेवदत्तजी मिश्र का० व्या० सा० स्म० तीर्थ)	५७१	२३३—तैत्य-धर्म (श्रीप्रल्लादरायजी व्यास) ... ५९७
२१६—परम धर्मका परमार्थ (प० श्रीसूरजचन्द्र 'सत्यप्रेमी' [डॉगीजी])	५७३	२३४—तैत्य-धर्मके आदर्श [तृतीयाधार] (सु०) ... ५९९
२१७—तृष्णा-स्वामी-धर्म [संकलित] (महाभारत, अनुयासन० ९३। १४०, ४१, ४३, १४५)	५७४	२३५—आदर्श वैश्व [कविता] ... ६०१
२१८—सर्वभूतिहैतिशिता-धर्मके आदर्श ...	५७५-५७७	२३६—शूद्र-धर्म (गोकामी प० अब्दुनारायणजी भारती) ... ६००
१—राजा रुद्रेष्व (सु०)	५७५	२३७—पहलमीर्हे गहे ! (श्रीश्रीरामनाथजी 'सुमन') ६०१
२—मनकोली वैधना (सु०)	५७६	२३८—सतीधर्म (रानी श्रीसजनकुमारीजी विवरतो) ६०६
३—हायामुच्ची (सु०)	५७७	२३९—युग-धर्मके अनुसार नारी-धर्म (श्रीहरिमोहनलालजी श्रीवास्तव, एम० ए०, एल-ए-ठ० वी०, एल-ठ० वी०) ... ६०७
२१९—राजधर्मके आदर्श	५७८-५७९	२४०—मारतीय नरनारीजा मुख्यमय गृहस्थ [कविता] ६०९
१—महाराज अश्वपति (सु०)	५७८	२४१—नारी-धर्म और उसके आदर्श ६१०-६१२
२—सप्ताध वशोक (सु०)	५७८	१—(श्रीमोहनलालजी चौके, वी० ए०, वी० ए०, साहित्यरत्न) ... ६१०
३—राजकुमार मूलराज (सु०)	५७९	२—(शाहित्यवाचस्पति प० श्रीमधुरानाथजी शर्मा श्रेष्ठिय) ... ६१२

२४२—पति-धर्म [कविता]	...	६१६	२५८—मिश्र-धर्मके विलक्षण आदर्श	६४६—६५०
२४३—नारी-धर्म (बहन श्रीशशिवलालजी दिवायी पवित्रारद्ध)	...	६१७	१—भगवान् श्रीकृष्ण	...
२४४—सपली-धर्म	...	६१८	२—पितृ-धर्मके आदर्श महारथी कर्ण (सु०)	६४७
२४५—माताके धर्मकी आदर्शभूता—पतिमता मदालता (सु०)	...	६२०	३—राजधर्माशा विलक्षण मिश्र-धर्म	६४८
२४६—प्रथम सती महारानी अर्चि (सु०)	...	६२१	४—मैत्री-धर्मकी आदर्श हंसश्रेष्ठ	
२४७—नारी-धर्मकी आदर्शभूता सतियाँ १—भगवती सती (सु०)	...	६२२—६२९	कुमुख (सु०)	...
२—भगवती उमा (सु०)	...	६२२	५—मैत्री-धर्मके आदर्श डेमन और पीथिका (सु०)	...
३—सती अनसूया (सु०)	...	६२३	६—मैत्री-धर्मके आदर्श—रोजर एटोनिओ (सु०)	...
४—सती सवित्री (सु०)	...	६२५	२५९—पुत्रधर्म और उसके आदर्श (आचार्य श्रीबल्लामजी शास्त्री, एम० राहित्वरल)	...
५—भगवती श्रीजानकीली (सु०)	...	६२६	२६०—पुत्र-धर्मके आदर्श	६५३—६५८
६—सती दमयन्ती (सु०)	...	६२७	१—विष्णुदामी (सु०)	...
२४८—विलक्षण पत्नी-धर्म [मामती देवी] (सु०)	६२९	२—पितृमक्त सोमशर्मा (सु०)	...	
२४९—पत्नी-धर्मकी आदर्शभूता श्रीमती बालुकी (सु०)	...	३—पितृसेवी-सुकर्मा (सु०)	...	
२५०—कुछ सती देवियाँ— १—सती कुमारी सूर्यवथा परमाल (शि० दु०)	६३०	४—पुत्र-धर्मके आदर्श पुण्डरीक (सु०)	...	
२—सती पश्चिमी (शि० दु०)	६३१	५—पुत्र-धर्मके आदर्श श्रवणकुमार (सु०)	...	
३—सती तारा (शि० दु०)	६३२	६—पितृमक्त देवघ्रन मीष (सु०)	...	
२५१—कुछ आदर्श हिंदूनारियाँ १—सती चंचलकुमारी (शि० दु०)	६३३—६३८	७—आदर्श पुत्र सनातन (सु०)	...	
२—सती लज्जावंती (शि० दु०)	६३४	८—मानुषपत्निके आदर्श बालक रामसिंह (शि० दु०)	...	
३—पतिता मयथल्लदेवी (सु०)	६३५	२६१—धर्मसील सुपुत्र [कविता]	...	
४—साध्वी कान्तिमती (सु०)	६३६	२६२—कवि और लेखकका धर्म	६६०—६६४	
५—सती वासन्ती (शि० दु०)	६३७	१—(आचार्य श्रीविश्वनाथजी पाटक)	...	
६—सती ब्राह्मणपत्नीका प्रभाव (शि० दु०)	६३७	२—(श्री एन० कनकराज ऐवर)	...	
७—सती रामरखीका प्राणोत्तर्मय (श्रीशिवकुमारजी गोयल, पत्रकार)	६३८	३—(शिवाविभाग-अग्रणी, सामिक्षी-मंडुलजी)	...	
२५२—ब्रह्मसुत सतील (सु०)	...	४—(श्रीहरिकृष्णदासजी गुप्त 'हरि')	...	
२५३—पतिप्राणा देवियाँ १—पतिप्राणा विग्रहपत्नी (सु०)	६४०—६४२	२६३—आदर्श निर्मांक कवि—श्रीपति (श्रीशिवकुमारजी गोयल)	...	
२—पतिप्राणा रानी पिङ्गला (सु०)	६४१	२६४—धर्मकी बलिदेहीपर (भक्त श्रीएमज़ारपद्मासजी)	...	
३—पतिप्राणा जयदेव-पत्नी (शि० दु०)	६४२	२६५—सदाचार-धर्म [संकलित] (महाभारत, अनुशासन० १०४। ६—९)	...	
२५४—पतिप्राणा सतियोंकी जय [कविता]	...	२६६—भ्रातृ-धर्मके आदर्श	...	
२५५—नारी-धर्मकी आदर्श—सिरिमा (सु०)	...	१—त्यागमूर्ति श्रीमरतजी (सु०)	...	
२५६—धर्मके सूर्य—श्रीकृष्ण-कुपाप्राप्त श्रीम-पितामह	...	२—धर्मराज युधिष्ठिर (सु०)	...	
२५७—आदर्श मिश्र-धर्मका निरूपण (कविमूषण 'जगदीश' साहित्यरल)	...	२६७—पुरोहित-धर्मके आदर्श (सु०)	...	
		२६८—धर्म और मछनिदा (डा० श्रीनीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी)	...	

२६५—धर्म और खात-पान (श्रीरामचन्द्रजी उपलब्धाय 'आर्य मुसाफिर')	... ६७४	२७७—धर्म (श्री जी० आर० जौशयथु एम० ए०, एक०-आर० ई० एस० महोदय)	... ६८६
२७०—गुद आहार [कविता]	... ६७५	२७८—अधर्मरूप आखुनिक धर्मसे सर्वनाश (सामीजी श्रीजयरामदेवजी महाराज)	... ६९१
२७१—पतिधर्म (श्रीमहेन्द्रप्रतापजी पाठक)	... ६७६	२७९—विश्वास-धर्म—भगवानका प्रत्येक विधान मङ्गलमय	... ६९४
२७२—गुहधर्म और आदर्श (श्रीरामचन्द्रजी गौड़, एम० ए, व्य० सा० आचार्य, साहित्यरत्न, काव्यतीर्थ आदि)	... ६७७	२८०—प्रसुत प्रत्येक विधान मङ्गलमय [कविता]	६९४
२७३—धर्म [कविता] (पाण्डेय प० श्रीरामनारायणदच्चनी शास्त्री 'रम', साहित्याचार्य)	... ६७८	२८१—पहित-धर्म	... ६९५
२७४—धर्म और प्रेम (श्रीनन्दुलालजी ब्रह्मचारी 'मक्ति-वैष्णव')	... ६८०	२८२—परहितकारीके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं [कविता]	... ६९५
२७५—अनन्य शशांगति-धर्म (सामीजी श्रीरैंगीली-शशांगदेवाचार्यजी, साहित्य-वेदान्ताचार्य, काव्यतीर्थ, सीमांसा-शास्त्री)	... ६८१	२८३—सर्वत्र भगवद्वृत्तन-धर्म	... ६९६
२७६—एक परमात्माको देखना ही चालाकिक धर्म है (शशांगरूपा सन्यासिनी)	... ६८२	२८४—सर्वत्र भगवद्वृत्तन [कविता]	... ६९७
	—	२८५—धर्मपर स्वामी विवेकानन्दके कुछ विचार (स० श्रीमुद्गालालजी मालबाबा 'मरत', एम० व्या०)	... ६९८
	—	२८६—क्षमा-प्रार्थना	... ६९९

चित्र-सूची

बहुरंगे चित्र

१—धर्मराज	... १	१—मुख्यपृष्ठ
२—धर्मराजक अनन्त शौर्य-दीर्घ-सिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण	... ४८	२—रामो विग्रहवान् धर्मः
३—भगवान् श्रीकृष्णकी अनुपम उंदरता	... ६१	३—सादा
४—धर्मस्वरूप अनन्त शौर्य-दीर्घ-सिन्धु भगवान् श्रीराम	... १२८	४—आदर्श शिष्य
५—प्रेम-धर्म-रूप सौन्दर्य-माधुर्य-सिन्धु भगवान् श्रीराम	... १०८	(१) लाशणि
६—महर्षि वाल्मीकि और महर्षि वेदव्यास	... २३१	(२) उपमन्तु
७—दुर्वासाके शापसे धर्मके तीन रूप—चिन्ह	... ३६८	(३) श्रीकृष्ण-सुदामा
सुधिष्ठिर, चाण्डाल	... ४४८	(४) एकलव्य
८—भगवानका आवाहन	... ४४८	२—पञ्च-पत्रिकापितोमणि
९—धर्मरूप धर्मराज	... ४४८	(१) सीता
१०—धर्मराजक यमराज	... ५०९	(२) सती
११—प्रेमधर्मरूप सौन्दर्य-माधुर्य-सिन्धु भगवान् श्रीकृष्ण	... ५०९	(३) अमृता
१२—धर्मके सूर्य श्रीमोमपितामहके समीप श्रीकृष्ण-सुधिष्ठिर	... ६४४	(४) दमयन्ती
१३—आत्मधर्म—श्रीराम और भरत	... ६६९	(५) साधिच्छी

दोरंगा चित्र

१—रामो विग्रहवान् धर्मः	... ५५७	१—रामी मुख्यपृष्ठ
२—सीता	... ६२५	
३—अमृता	... ६४८	
४—दमयन्ती	... ६४८	
५—साधिच्छी	... ६४८	
६—आदर्श मित्र	... ६४८	
७—श्रीकृष्ण-कर्ण	... ६४८	
८—कुन्ती-कर्ण	... ६४८	
९—भीमपितामह-कर्ण	... ६४८	
१०—पितृभक्त भीष्मकी विलक्षण प्रतिका	... ६४८	

देखाचित्र

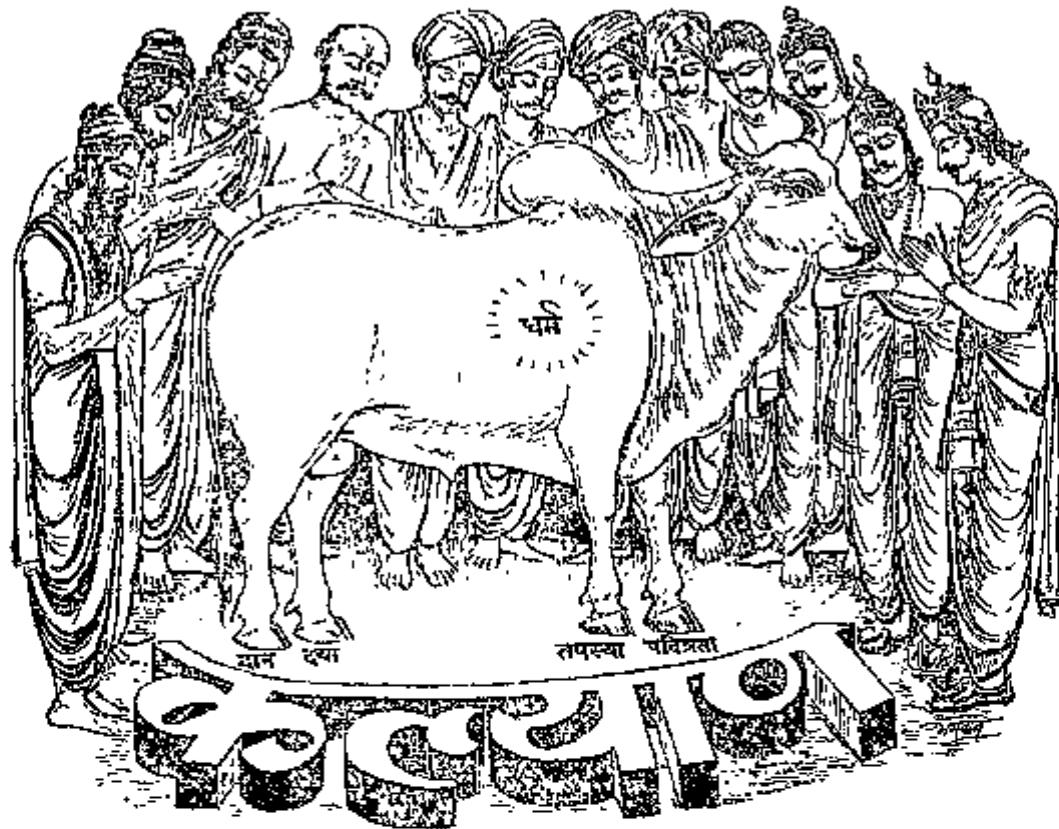
१—महर्षि विश्वद्वारा विश्वासित्रके प्रति ब्रह्मर्षि-पदकी मान्यता	१५
२—अहिंसक रेठ सुदर्शनद्वारा अर्जुनमालीको श्रमण महाचौरके समीप छलनेका प्रेरणाद्वान	८५	१६
३—प्रह्लादद्वारा मृत गुरुपुत्रों—पुरोहितोंको जीवनदान देनेके लिये भगवान्‌से विनीत प्रार्थना	१७
४—समशानभूमिमें धर्मराजका रैहितको जीवित करना तथा हरिश्चन्द्रको अपने चाण्डालस्प धारण करनेकी वात बताना	१८
५—महायज दशरथकी कैकेयीके वरदानकी स्त्रीकृतिसे व्याकुलता तथा कैकेयीका रामसे अपने वरदानकी वात कहना	१९
६—गुरुजीके महोत्तमसे लौटकर सत्यवादी घाटम भक्तका राजके समक्ष उपस्थित होना	२१
७—सत्यग्रिह रुषपतिसिंहको प्रधान सेनापतिका सुक्त करना	२२
८—सत्य-धर्मनिष्ठ नन्दा गौत्रों द्विद्वारा अभयदान तथा धर्मराजका प्रकट होकर उसे बछड़के साथ स्वर्गकी अधिकारिणी बताना	२३
९—शूष्णि लिखितकी राजाको दण्ड-विधानके पालनकी सीख	२४
१०—अस्त्रेय तथा त्वाग-धर्मके आदर्श ब्राह्मणका अपने उत्तरीयमें भस्त्र याँधकर चलना तथा ब्राह्मसुहृत्में राजाका उसकी चरण-चन्दना करना और पूढ़ना	२५
११—बुद्धिवामीहृदीकी राजासे हक्की रेटीके सम्बन्धमें स्पष्टवादिता	२६
१२—त्रानिमें श्रीसीताजीकी खोजके लिये छङ्गमें प्रवेश करनेपर राक्षसोंके अन्तःपुरकी लियोंके देहका ब्रह्मचारी हतुमानजीकी इष्टिमें शवके समान दीख पड़ना	२७
१३—श्रीशुकदेवजीकी खोजमें व्यासजीका अपने आपको आते देखकर स्वर्गकी देवियोंद्वारा शीघ्रतापूर्वक बृज धारण किये जानेपर आश्र्य प्रकट करना तथा उससे कारण पूढ़ना	२८
१४—श्रीभीष्मपितामहका अपनी आजीवन ब्रह्मचारी रहनेकी प्रतिशक्तके कारण अभ्यासको असीकर करना	२९

१५—महर्षि लोमशका श्रीनारदजीके समरण करनेपर इन्द्रके समक्ष आना तथा उन्हें व्यपरिग्रहकी सीख देना	२६
१६—श्रीनारायणका गुडाकेशकी प्रार्थना स्त्रीकर करना तथा अपने चक्रसे उसे देहसुक्त करना	२७
१७—श्रीनारायणका गयामुखके विभिन्न अङ्गोंपर देवताओंको स्थापित करना तथा उसके हृदयदेशपर स्थंयं गदा लेकर सङ्खा होना और गयामुखकी वरदान-न्याचना	२८
१८—भृगुजीका भयवान् विष्णुके वक्षःस्थलपर खूब जोरसे एक लात मारना और उनका महर्षिके चरण अपने करकमलोंमें लेकर सहलाना	२९
१९—श्रमादील प्रह्लादकी प्रार्थनापर प्रसन्न होकर भगवान् दृष्टिहका उसके पिता हिरण्यकशिपुकी सद्गति प्रदान करना	२१
२०—द्रौपदीका अपने पाँचों पुत्रोंके हत्यारे अश्वत्थामासके प्रति दया प्रकट करना तथा उसे चुइवा देना	२२
२१—महाकथि जयदेवके अपराधी ब्राह्मणवेषधारी डाकुओंके पापसे पृथ्वीका फट जाना तथा उसमें उनका समा जाना	२३
२२—समर्थ रामदासका उन्हें कोईसे पीटनेवाले गन्नेवालेको शिवाजीसे दण्डके बदलमें गन्नेका सेत पुरस्कारमें दिलाना	२४
२३—ब्राह्मणगुरुका अपने प्रति अपमान करनेवाले शूद्र शिशुको शिवजीके कठोर शापसे सुक्त करनेके लिये उन्हीं (शिवजी) से प्रार्थना करना तथा शापका मङ्गलमय वरदानके रूपमें बदल जाना	२५
२४—श्रावणगुरुकी गायोंको दस्तुते वचनेके लिये अर्जुनका द्रौपदीके साथ बैठे हुए युधिष्ठिरके कक्षमें प्रवेश कर गाण्डीव धनुप्र लेकर नियमभঙ्ग करना तथा गायोंको वचनेका कार्य पूरा कर ऐशा-त्वागकी तैयारी करना और धर्मराजसे विदा माँगना	२६
२५—स्वर्गकी सर्वश्रेष्ठ अप्सराओं राजिमें अकेली अर्जुनके निवासपर पहुँचना तथा अर्जुनका उसे माता कहकर प्रणाम करना	२७

४६—अद्यात्मर ग्रन्तके लालग्रेकुल वर्णिनी बहुत्पुणी भूत्वारता *** ***	२९१	४४—महिं दुर्बोलता नहीं सुखलद्वारा अच- भवके लिये ही गर्भी प्रायंत्रा त्वंकार करता *** ***	२९७
४७—उठ हुस्तुतके शूष्मन चढ़ायि जाते समय शूष्मन विहृतमें उड़ जाना ***	२९२	४५—यजा मधुरमन्त्रा न्तर उक्ती पल्ली और प्रद्युम्य अग्रसे चीरा जाना तथा ग्रास्य- देवदारी श्रीकृष्ण और दर्शके गिर्वालमें धन्देश्वरा इच्छ हम्मके देखना और कर्णनीं नक्षिका गई नट होना ***	२९८
४८—महाम छम्भारका उम्मदी जाना उम्भेजारी छम्भी कामरुषमा जाँके लिये अगरे- आपको ही उम्मा पुत्र तीक्ष्ण जन्म ***	२९३	४६—यजा मधुरमन्त्रा न्तर उक्ती पल्ली और प्रद्युम्य अग्रसे चीरा जाना तथा ग्रास्य- देवदारी श्रीकृष्ण और दर्शके गिर्वालमें धन्देश्वरा इच्छ हम्मके देखना और कर्णनीं नक्षिका गई नट होना ***	२९९
४९—हान्द्रियवेदी भूमि हरिहरना वेदाके न्हान् नृमनी और नक्षिनी जन्म होना ***	२९४	४७—यजा मधुरमन्त्रा न्तर उक्ती पल्ली और प्रद्युम्य अग्रसे चीरा जाना तथा ग्रास्य- देवदारी श्रीकृष्ण और दर्शके गिर्वालमें धन्देश्वरा इच्छ हम्मके देखना और कर्णनीं नक्षिका गई नट होना ***	२१०
५०—अद्य तुम्हारो ज्योतिर्वद मूर्खगदलका प्रकट दर्शन *** ***	२९५	४८—यजा मधुरमन्त्रा न्तर उक्ती पल्ली और प्रद्युम्य अग्रसे चीरा जाना तथा ग्रास्य- देवदारी श्रीकृष्ण और दर्शके गिर्वालमें धन्देश्वरा इच्छ हम्मके देखना और कर्णनीं नक्षिका गई नट होना ***	२११
५१—अद्य तम्हारे बालविद विश्वानी प्रसिद्ध दर्शन होना *** ***	२९६	४९—मही धर्मोत्तिका समाधि लगाकर बैठ जाना तथा बोनके हाथ प्रागोत्तर बरसा करना ***	२१२
५२—अद्य तम्हारे बाली प्रजाको धर्मोपदेश ***	२९७	५०—एक्षका नारीमें कुन्तीका अन्मे पुत्र मीनरेतामें उम्भुका नोपन लेकर मेजनेही बत्त कहर लालग्रेत्विको आवाहन देना *** ***	२१३
५३—यजा दिवोशातके सम्मे भवतान् विष्णुका प्रकट होना *** ***	२९८	५१—केतल्याका अस्तिकारी समामें स्वयं आकर अन्मे पकड़े जानेके लिये बोणित ही लग्नुदारोंता पुरस्कार परिक्लो देनेका आपह करता तथा उक्ती परेक्षारनिष्ठामें प्रसारित होकर अस्तिकार उन्हें चिह्नित वर्णनकरना *** ***	२१४
५४—अद्य वंकजा वाचार्य तुम्हरिलो प्रद्युम्यमें विनो-नदर भूमि के दरमें अग्नि ग्रामकर बैठे देखना *** ***	२९९	५२—केतल्याका वरणद्वारा नेत्राहनकी वर्ती परिक्ला *** ***	२१५
५५—अद्य गजा चम्माक्षमा अन्मे इन धर्मोपदेशके बदले लिये उच्च देना; नन्मी नेत्राहनीका उम्भु दुर्यन तथा भवतान् गारावयका प्रकट होना *** ***	३००	५३—अद्य गजी विनो-नदर उक्ती लिये अन्मे आश्रयदाता ब्रह्मगर्भी दृष्टिगती असह्य हो उठता तथा अग्ने वदात्मवाली बात प्रकट जर पुरस्कार- वरस्त उक्त लालग्रेमें ही हजार अग्नियों देनेके लिये नूदेवरके नाम देन लिप्तकर देना	२१६
५६—अद्य ग्रन्त तुम्हारे उम्भुका नम्भर्ते लिये अन्मे उम्भु दुर्यन दूर करनेकी प्रेमिता जन्म ***	३०१	५४—तुम्हारा धन न लेनेही बापर दहू नहा	२१७
५७—अद्य ग्रन्त तुम्हारे अन्मान उम्भुके उम्भुकर दैवाक्र विशेषमान स्वदेशे अन्मे जन्म होना ***	३०२	५५—यजा नारीका अन्मे परि रोकाव्याग सुहानां भरी पर्णीने धूम्भे दहने देखकर हृषि पहना ***	२१८
५८—अद्य ग्रन्त तुम्हारा श्रीग्रन्त रुद्रने प्राप्त नाम्भुपरी क्षया कर्त्ता *** ***	३०३		२१९

५६—ब्रह्मणका सनातनसे पारसपे भी अधिक गूत्ययन् थसु प्रदान करनेकी प्रार्थना करना	४६४	पतिग्रता मथणहृदेशीको अस्वीकार करनेपर स्वयं चितामें भस्म हो जानेकी चेतावनी देना	६३५
५७—अभिलम्ब कपिलका धावस्तीनरेशका उिहसन अस्वीकार कर तृष्णालर्पिणीसे अपना धीषा दुष्टाना 	४६६	७०—दुर्गचारी पतिकी सेवामें संलग्न साक्षी कालितमती 	६३६
५८—महिषि शृंभुका निदापको तस्वशानका उपदेश ५९—गुरुदेवकी पीड़के उपचारके लिये छवपति शिवजीद्वाय सिद्धनीका दूध दुहा जाना ...	४५३	७१—सामन्तकुमारीका अद्भुत सतीत्व ...	६३७
६०—गुरु-आगामकारी अग्न्यादासका इक्षपर चढ़कर कुण्डेपर दृष्टकी दुर्दृष्ट धायाओं काटना ...	५६०	७२—पतिग्राणा राजपुरोहित-पलीके प्रति अपने परिहासके दण्डस्वलय महायज शर्यातिका अभिन्में ग्रेष्ट तथा राजपुरोहितका सर्व- नारायणमे उन्हें पुनर्जीवित कर देनेका वर माँगना 	६४०
६१—सप्तार्द्ध अशोकी मगधके प्रान्तीय प्रशासकके लिये सर्वक्षेत्र शासन होनेके पुरस्कारकी धोपणा करना 	५६१	७३—वावा गोरखनाथके एक कुट्टामी भस्म चितापर फँक्कनेपर उसमेंसे रानी पिङ्गलका प्रकट होना	६४२
६२—राजकुमार गूल्माजका अपने विता राजा भीमदेवसे «जहों अकाल पड़ेगा, वहोंके कृपामें नहीं लिया जायगा»—की धोपणाका पुरस्कार माँगना ...	५७९	७४—मुमझलका खनने पर उपदेश अहंकर मिल्कु दननेके लिये मन्दिरमें पहुँचना तथा पतिग्राणा सिरिमिका पहलेमे ही वहाँ पड़ी रहकर प्रभुसे पतिको सदृशुद्विं देनेकी प्रार्थना करना 	६४३
६३—महाराज चन्द्रपीठ चमारसे उसकी धौंपढ़ीपर मुमिदान भाँग रहे हैं ...	५७९	७५—देवराज इन्द्रम अमृतकलश लेकर विम्रकुमारका विता विष्णुदामके समुख उपस्थित होना ...	६४३
६४—निर्भनेके धौंपढ़े जलवा देनेके अपराधमें काशीनरेशमे अरनी रानीके बज्जामूर्यण उत्तरयाकर उसे फटे धन्त्र पढ़ना दिये ...	५८०	७६—ग्रहाजीका सारसका रूप धारणकर तपसा- मधरी गर्वित पिपलको सावधान करना ...	६४५
६५—राजाद्वारा भूमिका दानपत्र दिये जानेसे रह होकर परय विरक्त मदाप्तिदत्त कैवल्यजी उसका शब्द दोहराय जानेको प्रस्तुत हो रहे हैं ...	५८१	७७—भतीजे रामसिंहका शाहजहाँके दुर्गमे महाराजा अमरसिंहकी लक्षा लाकर देना तथा रानीका उसे आश्रित देते हुए चितामें प्रविष्ट होना ...	६४९
६६—माता कौसल्याका हनुमन्तीके हारा पुश्त शमके पास मैत्रेय भित्रवाना कि भौंकी लाज मन्त्रानेके लिये दिना लक्षणके तुम अयोध्या मत लौटना तथा माता सुमित्राका भरती दयनीय दशाका भेदेय भेदकर रायमें लक्षणके विना अद्वेष अयोध्या लौटनेकी प्रार्थना करना	५९१	७८—राजपुरोहितका महाराणा प्रताप एवं शत्रुर्सिंहके समझ अपनी कठार छातीमें मारना और दोनों भाइयोंको शगड़ीसे विश्वत करना ...	६७०
६७—पतिग्रता मदालसका अपने पुश्करे लेनी देते हुए गान—«पुच, तुम शुद्ध हो, जानस्वरम हो, निर्मल हो ! मोहनिमाका त्वाग करो !» 	६१९	७९—इवलालै युवा पुत्रकी मृत्युपर भक्त नरसीका भल्लू थयूरे भौंगी जंजाल। सुखेथी भजशू श्रीशोणालू भजनका यान करना ...	६९४
६८—पिण्डत श्रीवास्तवति भित्र तथा उनकी धर्म- पत्नी भामतीका विलक्षण ऐक्षयभ्रम् ...	६२०	८०—परहित-निरत पश्चिमाज जटायुका शब्द-देह त्वागकर चतुर्भुज नीलमुन्दर दिव्यरूप ग्रात करना तथा भगवान्मुका स्वप्न करना ...	६९५
६९—राजगाना उदयमतीका अपने पुत्र कर्णके	६२१	८१—सर्वत्र भगवद्वीर्णपरायण श्रावणश्रेष्ठ विष्णु- दासको अपने यशकी पूर्णहृतिसे पूर्व ही भगवान् भारायणके साथ वैकुण्ठ जाते देख धनदर्शसे चूर्ण चोलराजका ग्लानिसे भरकर यशकुण्डमें कूदना तथा भगवान् नारायणका यशान्मिमें प्रकट होना ...	६९७

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमैवावशिष्यते ॥



लोके यस्य पदित्रतोभयविधा दानं तपस्या द्या चत्वारश्चरणाः शुभाच्छुसरणाः कल्याणमातन्त्रे ।
यः कामाद्यभिर्वर्णणाद् बृपत्पुर्वार्पिरजापिभर्विद्युद्दैरयि वन्धते स जयताद्भर्मो जगद्वारणः ॥

वर्ष ४० }

गोरखपुर, सौर माघ २०२२, जनवरी १९६६

{ संख्या १
पूर्ण संख्या ४७०

धर्मरक्षक धर्मस्वरूप भगवान् श्रीकृष्णकी वन्दना

जय चतुर्देव-देवकी-नन्दन, ब्रजपति नन्द-यशोदालाल ।
जय मुष्टिक-चाणूर-विमर्दक, गल कुवलया-कंसके काल ॥
जय नरकासुर-केशिनिषृदन, जरासंध-उद्धारक इयाम ।
जयति जगहुरु, गीता-नायक, अर्जुन-सारथि-सखा, ललाम ॥
जय अनुपम योद्धा, लीलामय, येषोश्वर, इती, निष्क्रम ।
जय धर्मज्ञ, धर्म, चरदायक, शुचि सुखदायक शोभाधाम ॥
जय सर्वक्ष, सर्वमय, शाश्वत, सर्वातीत, सर्वविद्धाम ।
जयति परात्पर लोकमहेश्वर, गुणतीत चिन्मय गुणधाम ॥



धर्मस्तुतनाटकम्

(इतिहास—दग्धेष पूर्व वैश्वनामाद्यवृत्तिर्थी छाली नाम, साहित्यकार)

सचावदाना लक्षणि बोडलितया उपलक्षु चक्रेनन्तेषु च निदासनामा चक्रलिः ।
 आनन्दिपु स्फुरति अश्वदमन्दमोहर्त्तु नन्दनन्दनठन्तुं प्रणमामि धर्मम् ॥ १ ॥
 ये रस्तिके जगति रस्तिके सर्वजीवान् तीर्तः कर्ति कृपयते निहतो निहन्ति ।
 नितिषुने क्रचन वेन विना न विद्विन् लंघारणो विजयते भगवान् च धर्मः ॥ २ ॥
 मूलं य एव पुरुषार्थचतुष्पद्य चक्रेकं यत्र परामोक्तातत्त्वं चन्द्रः ।
 यः तेविनः फलति भूम्लनेव विर्यं धर्मं वृष्णं दनभिरुपचर्मवर्त्तम् ॥ ३ ॥
 आथित्य यं चूजति सर्वमिदं विद्वता विद्वर्व विभूतिं किं यत्य दलेत विज्ञुः ।
 मूलुः जयन् हरति वस्त्र हरोऽपि शक्त्या धर्मं तमित्यचरणं शरणं प्रपद्ये ॥ ४ ॥
 तंस्त्रापनाथ भूषि चल्य च रक्षणाय लोके इत्यानि संगवान् विविश्ववत्त्वान् ।
 भारतं भुवः शिष्यति दुष्कृतं विद्वार्व चाधृत्य चक्रति सदा जयतात्त धर्मः ॥ ५ ॥
 धार्म्यं समेवयति साधयते धर्मानि कामान् उदात्तयति चापि तत्तेऽभिरात्मान् ।
 चौमित्यवर्माक्षयति दुर्गते दुर्गायिं च्याधिं चर्मं शमयते भूषि धर्मं एव ॥ ६ ॥
 प्राणैः प्रणनुमससा विज्ञाप्ताद्युक्तमेव सरद् रणमुखे न पराङ्मुखः स्यन् ।
 धर्मां बृजोलि वरणाद्यपि कीर्तिमेव सेव्यः समैरपि जज्ञेत एव धर्मः ॥ ७ ॥
 उत्ताहशैर्युतिदाद्यगुणान् गरिष्ठान् चन्द्रं च नाथयति वाध्यतीह वाचाः ।
 भर्तिं विन्तत्यपि रणाद्यपलाद्यत्त्वं भावं विभावयति चल्लसुपेन धर्मन् ॥ ८ ॥

संकारमें विद्वान् अविल हैं वे अन्ते अस्तित्वे दुर्घटित हैं उनमें जै उक्तहर्त्त्वं प्रदातित होता है, केवलमें कैवल्यसमें दोनों दलों हैं दधा आनन्दकी अनुष्टुपी कर्त्तेनाद्येन अमन्द अनन्द अनकर का नहीं है, वह धर्म लालान् भगवान् नन्दनन्दनका कर है। ये उन धर्म देवताओं सदृश प्रकाश करता हैं। जो अनन्द रक्षण या राजन् लिये जानेव तत्त्वं जीवत्तों रक्षा करता है, अनेकों शति दहुँचारी जानेव उन धर्मोंहिन्दैल भी नर्तन्त्व कर जाता है, जिवने विना कहीं कोई नीं बहु तिक नहीं सकती, वह धर्म लालान् भगवान् है। उक्तों करन करतेवाले उन नरादार, वर्णकीं लक्ष्य हीं विजय होती है। जो धर्म और नेत्र—ज्ञाने दुर्गायोका दूर है, नलोकों गर्म हुए वाँचका जो एक्षमात्र दूर (लक्ष्मन) है, जो अनन्द विभूति जानेव देवताओंस्थि लक्ष्मनाद् रुद्र प्रवान करता है दधा ये लक्ष्मनोंका कर्मदात्या अमेव उक्तम करने हैं उस धर्मको मैं दधण करता है। जिपक्षा अध्याद लेत्वा ही ब्रह्माजी इह नार जानकी दूरि करने हैं, जिनके बड़से ही विष्णुनन्दनाद् चल्लसुप्य विद्वान् भरण-गोपय करते हैं दधा नहारेवजी जिनकी दृक्षिणे ही चल्लसुप्य विजय पालक समन् लंदाको नहारेवये तमर्प होने हैं उन पूज्यनाद वर्म देवताओंमें शरण करता है। उपर्युक्त विद्वान् लालाना और रक्षा करनेके लिये ही मध्यनान् श्रीहृषी योगमें नाना प्रकारक अवतार वाचन करते, चूलका नार उक्ताने दधा दुष्कृतका इन करते, चाहुँजानेकी रक्षा करने हैं, उस वर्मकी लक्ष्य नहीं है। चूलावर वर्म ही वालकी दूरि दधान् अनाजकी उत्तर दहाता, धनकी प्राप्ति करता, नन्दको मिय अनेकाङ्क अभिप्रय पदार्थोंको प्रस्तुत करता, दुर्भिति विद्वान् दुर्भिति (तुलाल) लान्, दुष्कृतार्थ दूर करता और समन् रोप-व्यापियोंको चालत कर देता है (अनु चर्ची आध्यय देवे देवय है)। वर्म उन्द्र ही प्राप्त देवता नीं वर्मने सहृदी अजा करता नहाता है और शुद्धज्ञ तुहानर चैत्याह अगे चढ़ता है, वह उड़ते कमी सुहृद नहीं नौङ्गो और सहृदीयों गले करताकर नीं कर्त्तेनाही दधण करता है अर्थः नव लोगोंकी वस्त्रा ही नेक्तन करता चहिदे। जो उत्ताह चौर्य, इति दृक्षता और चन्द्र—हृषी उत्तर उत्तर तुलोंकी प्राप्ति करनान् समन् वालओंको दूर हृषीना, चुदुनन्दनका मैर उड़ने यीछे न छुनेका भाव उत्तराहै, उस धर्म की वरण की (इतनी सचका करताहै)।

धर्मकी अहता

धर्म करता है चित्त पवित्र । धर्म देता है उच्च चरित्र ॥
 धर्म है सदा सभीका मित्र । धर्म देता है फल सुविचित्र ॥
 धर्म करता विषयिका नाश । धर्म करता सब पाप-विनाश ॥
 धर्म करता विज्ञान-प्रकाश । धर्म भरता जीवन उद्घास ॥
 धर्म ही है सबका आधार । धर्म ही है जीवनका सर ॥
 धर्म करता सबका उद्धार । धर्म ही है विशुद्ध आचार ॥
 धर्म हरता सम्यात्म धोर । धर्म फैलाता शुति सब ओर ॥
 धर्म रखता नित पुण्य-विभोर । धर्म देता सुख दिव्य अछोर ॥
 धर्म हर लेता कलह कलेश । धर्म हर लेता राग-द्रेष ॥
 धर्म हरता हिंसा निःशेष । धर्म उपजाता दया विशेष ॥
 धर्म हर लेता सारी आनन्द । धर्म हर लेता मोह-अशानन्द ॥
 धर्म हर लेता सरी श्रान्निं । धर्मसे मिलती शश्त्र शान्निं ॥
 धर्म करता न करी गुमराह । धर्मसे बढ़ती सम्बिक चह ॥
 धर्म हर दुःखोंकी परवाह । धर्म करवता त्याग अथाह ॥
 धर्मसे मिलते इच्छित काम । धर्मसे मिलते अर्थ तमाम ॥
 धर्मसे मिलता पद निष्काम । धर्मसे मुक्तिलाभ सुखधाम ॥
 धर्ममें सहज अहिंसा-सत्य । धर्ममें सदाचार सब नित्य ॥
 धर्ममें रहते युण संचिन्त्य । धर्ममें मिटते भव अनित्य ॥
 धर्ममें नहीं नीचतम स्वार्थ । धर्मका लक्ष्य एक परमार्थ ॥
 धर्ममें सफल सभी पुरुषार्थ । धर्ममें पूर्ण ब्रह्म एकार्थ ॥
 धर्ममें नहीं शुभतिको स्थान । धर्म है निमिल बुद्धिकी स्थान ॥
 धर्मसे होता नित्योत्थान । धर्मसे मिलते श्रीभगवान ॥
 धर्म कर अधका सहज अभाव । धर्म उपजाता पावन भाव ॥
 धर्मसे बढ़ता योग-चाव । धर्मसे बढ़ता भगवद्भाव ॥
 धर्म कर दिव्य विवेक-विकास । धर्म करता वित्तपका नाश ॥
 धर्म उपजा प्रभु-पद-विद्वास । धर्म कर देता प्रशुका दास ॥
 धर्मसे मिलता अचल सुहाग । धर्म कर देता शुचि वडभाग ॥
 धर्म उपजाता विषय-विराम । धर्म देता प्रभु-पद-अनुराग ॥

हस श्लोकके अपने भाष्यमें परमादैत्यिकान्तके प्रतिश्वायक भगवान् शंकराचार्य भी भगवान्की सुतिको ही प्रकृष्टतम् धर्म निर्वाचित करते हैं। अपने देशके सभी बालक-बालिकाओंको भगवद्गत्पूर्ण कोई छोटी-सी सुति अवश्य कण्ठ रखनी चाहिये; जिसमें भविष्यमें जनतामें कुछ मक्किका आविर्भाव हो। आज भी बहुतसे बूढ़े लोग, जिन्हें वास्त्रकालमें एक भी भक्तिस्त्र कण्ठ नहीं किशा था। इसके लिये पश्चात्तय करते दीखते हैं और कहते हैं कि हम तो बेकार ही बैठे रहते हैं और यों ही समय नष्ट करते हैं। इस विषयमें सभी आस्तिकोंको अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार राष्ट्रोद्धार तथा आत्मोद्धारके लिये कुछ करना चाहिये। जो कण्ठस्थ पाठ फरनेमें सुलभ हैं, ऐष्ट भगवत्प्राप्त महापुरुषोंके मुखसे निकले हैं, ऐसे छोटे-छोटे स्तोत्रोंको पुस्तिकालमें छपना चाहिये। इन्हें देशके

छोटे बालक-बालिका जिस ग्रन्ति कर लें, वैसा प्रयत्न करना चाहिये। कण्ठाघ करनेवाले बालक-बालिकाओं-को एक कोई चौंदीकी भगवन्निष्ठाङ्कित मुद्रा देनी चाहिये और विशेष योग्य धर्मपरीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियोंको अगली कक्षाके योग्य पुस्तक भी ही जानी चाहिये। मुद्रणालय-अधिकारी, धनी-मानी सेठ, पुस्तकालिकों, विद्यालय-संचालक प्रबन्धकगण यदि इधर थोड़ा ध्यान दें तो बहुत कुछ कार्य हो सकता है। इससे बातावरणमें पर्याप्त सुधार तथा परिष्कार हो सकेगा—

स्वल्पमप्सरा धर्मस्थ ज्ञात्ते महतो भयाद् ।

(गीता ३।४०)

इस महाकार्यमें आयोजनार्थ देश-प्रदेशकी कीर्तन-मण्डलियाँ और भजन-समाजादि भी सम्मतभासम्मेलन आदि करेंगे, ऐसी नारायण-समृद्धिके साथ शुभाग्रा करता हूँ।

धार्मिक चेतना

(श्रीभृगेरीयग्राधीश्वर अनन्तजीविभूषित जगद्गुरु श्रीशंकराचार्यजी महाराजके सदुगदेश)

धर्म ही हिंदुओंके धार्मिक जीवनका मूल स्वर है। सामाजिक एवं नैतिक आचरणमें व्यक्त आध्यात्मिक जीवनका ही नाम धर्म है। मनव-जीवनका यही आश्रय और आधार है। रामायण और महाभारत धार्मिक जीवनकी व्याख्या उपदेश और उदाहरणद्वारा करते हैं। महाभारतमें धर्मशज्जधर्मके एक भग्नान् उदाहरण है, किंतु रामायणके श्रीराम तो साक्षात् धर्मकी मूर्ति ही है—‘रामो विग्रहवान् धर्मः’।

धार्मिक जीवनका अर्थ है—‘आर्जव’ और ‘अहिंसा’। धार्मिक व्यक्ति स्वयं तपस्वी होता है। तपस्थाके अन्तर्गत वृक्षचर्व, कुञ्जका दमन तथा शरीरमें सर्दी-गरमी एवं अन्य कष्टोंको सहनेकी शक्ति लानेवाले विभिन्न साधनोंकी भी गणना है। विवेक तथा उच्चित निश्चयके साथ की हुई ये तपस्याएँ भक्तों आध्यात्मिक इंकारके साथ अपने तन-मनकी तानको मिला देनेमें सहायक लिद्ध होती हैं। आत्मानुशासन-का अर्थ अपनेको यत्नणा देना नहीं है। तपका महत्तम उद्देश्य है—सनातन आत्मानन्दके बदले क्षणभङ्गुर इन्द्रिय-सुखोंको ऐष्ट भाननेवाली मनुष्यकी कुदुदिको बदल देना।

एक महात्माने हृदयमें वैठनेवाली बात कही है कि ‘जहाँ धर्म है, वहाँ साथमें सुख भी है।’ धार्मिक जीवन विताईये

और आप सदा सुखी रहेंगे। कोई व्यक्ति निभुवनका स्वामी होकर भी तुली रह सकता है और दमिले दरिद्र मिलमंगा भी संसारका सबसे अधिक सुखी प्राणी हो सकता है। भगवान् एक कदम और भी आगे बढ़ गये हैं। उन्होंने कहा है—‘यतो धर्मस्तो जयः’—जहाँ धर्म है, वहाँ जय है।

धर्म क्या है? धर्म वह प्रणाली अश्रवा संशा है, जिसकी सर्वोक्तुपूर्ण परिभाषा बन चुकी है और जिसे सनातन धर्मके नामसे पुकारा जाता है। न तो किसी समविशेषमें इसका आरम्भ हुआ तथा न किसी विशेष संस्थापकसे ही। इसका श्रीगणेश हुआ। सनातन होनेके साथ ही वह सार्वमौर्म भी है। यह पूर्वविग्रह सीमावन्धनको नहीं मानता। जितने लोग विश्वमें पैदा हो चुके हैं और जो उत्तम होंगे, वे सब इसीके अन्तर्गत हैं। इसके नियमसे मनुष्य वस्त्र नहीं सकता। चीज़ी मीठी होती है और आग जलती है, ये सनातन सत्य अपनी बास्तविकताके लिये इस बातपर निर्भर नहीं रहते कि हम उनको मानें। हम इन सत्योंको मान रहे हैं तो हमारे लिये शुभ और कल्याण है; हम नहीं मानते तो हमारे

दोनों ही परिस्थितियोंमें नियम तो सर्वभौम, अविकारी और सनातन ही रहेगा। ऐसा है हमारा धर्म।

हमारा विश्वास है कि वेद सबंहं भगवान्‌की बाणी हैं। सुष्टुप्तेष्ठात् भगवान्की जगह किसी अन्य उपदेशके द्वारा वाक्यमें चलाया हुआ कोई भी धर्म विभिन्नतरूपसे अपूर्ण और असिद्ध होगा। वेद इसी एक ऐसा भव्य है: जिसपर समस्त हिंदू समान अधिकारसे मिल सकते हैं। प्रस्तानक्योंमें वेद भी एक है, जिसके प्रमाण और अधिकारको अवलक सबने माना है। वह बन्धन दृटा कि हिंदू तितर-वितर ही जायेगी।

कहा गया है कि धर्मकी अवहेलना करनेवाला और शास्त्रोंके विपरीत आचरण करनेवाला नष्ट हो जायगा तथा तत्त्वरत्नापूर्वक धर्मके सार्वपर चलनेवालेकी रक्षा होगी।

धर्म एव हृतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ।

धर्मश्च सर्वप्रथम और सर्वप्रथान सिद्धान्त है—अपमें माता-पिताका आदर करना। इनमें भी उन माताका पहले और पिताका बादमें, जिससे हमको अपने शरीरकी प्राप्ति हुई है। उनके बाद आचार्य अथवा गुरुकी पूजा करनी चाहिये—

सानुदेहो भव, पिलुदेहो भव, आचार्यदेहो भव ।

सामान्य धर्मोंसे नीचे कुछका नामेवलेख किया जाता है। लीबनके प्रत्येक छेनमें सभीको हनका तत्परतापूर्वक अनुसरण करना चाहिये—

(१) अहिंसा, (२) सत्य, (३) अस्तेय, (४) शौच, (५) इन्द्रियनिग्रह।

इनके अतिरिक्त अपने भीतर श्रद्धाका भी बोध योना चाहिये और सदा शुमकी आशा रखनी चाहिये। साध ही सभी प्राणियोंको कुछ देनेका अस्थास करना चाहिये। वास्तवमें दानको उन सिद्धान्तोंमें माना गया है: जिसपर हमारा धर्म आधारित है। फिर मनुष्य जो कुछ करे अत्यन्त श्रद्धाके साथ करे। सच पूछा जाय तो श्रद्धाको सीमामें न बैधनेवाले आत्माका स्वरूप ही माना गया है। श्रीधराद्यानन्द कहा है—

अल्लाम्योऽयं उरुषो यो यच्चलः स एव सः ।

‘अहिंसा’ धर्मका एक अन्यतम सिद्धान्त है। धर्मका यह सिद्धान्त सर्वथा पृथक् आशापर चला है। यह भी कहा गया है कि सत्य-प्रेम और दया-धर्मके तीन मूल सिद्धान्त हैं।

अहिंसा और दया ग्रावः गमनार्थी हैं। अहिंसाका एक पार्श्व प्रेम है और दूसरा पार्श्व दया। दोनों मिलकर अहिंसाका गमनार्थी चिन्ह प्रस्तुत करते हैं।

प्रेमका अर्थ है—दूरगोंको सुख प्रयुक्त्याना और उनके सुखसे प्रसन्न होना। अपने ही सुखमें दूर्गम होना पछुके लिये भी भरत है। परंतु दूरगोंकी प्रसन्नताके लिये प्रसन्न करना और निवार्यात् होना ही सबा प्रेस है। अहिंसाका असरार्थ हमें दूसरोंके दूखमें दुखी रोनेकी प्रेरणा देता है और इसीला नाम दया है। दूसरोंके लिये और वहाना ही पर्याप्त नहीं है। दया केवल भावमें भरकर ड्रष्टा बनकर नहीं जानेको मर्ही कहा जाता। दयामें अनुप्राप्ति व्यक्ति दुःखमें पड़े प्राणीकी पीड़िको अपनी ही पीड़ा समझकर सद्भायता करनेके लिये दौड़ पड़ेगा। मेरे दोनों पद्धति मिलकर अहिंसाका समूर्ण चिन्ह उपस्थित करते हैं। अहिंसाके तथा उत्थकी दौड़ देनेवाले विकुल पूरा चिन्ह स्तेयर है। जायगा। रामका विवेद तुष्ण ‘सत्य’ बताया गया है और श्रीकृष्ण है—प्रेमक अवतार। “संस्कृत गद्व चतुर्यकी शुद्धता द्वे पदोन्ते हुई है। परत्—जितका अर्थ है गुर्वी; जह और अग्नि और व्या—जितका अर्थ है बायु और आकाश। इन पोंचों नबोंमें भगवान्को अतिरिक्त ऊंचा करा जाता है? इसी रीतिमें भगवान्को दुखी-से मिलाया गया है।

दूसरोंकी निःस्वार्थ सेवा ही मनुष्यका कर्तव्य है। सेवा दूर्गरोका उपकार करनेकी हृषियें नहीं; वरं अपना जीवन-धर्म मानकर करनी चाहिये। प्रत्येक व्यक्तिको बाद रस्ता चाहिये कि उसकी गुणतम भावना भी उसके एवं दूसरोंके ऊपर प्रभाव ढालती है। हस्तियं मनुष्यको आत्मनिप्रहका अभ्यास करना चाहिये; जिससे दुर्विचार मनके वाहर रहें और वहाँ श्रेष्ठ एवं महान् विचारोंको स्थान मिले।

यह भी आवश्यक है कि मनुष्य मनको नौति अपने तनको भी निर्मल और स्वच्छ रखें; क्योंकि कहा है ‘स्वच्छता दिव्यताकी फहली सीढ़ी है।’ मनुष्य अपने विचारोंका पुतला है। वह जो सोचता है, वही बन जाता है। अतएव बुराईके प्रलोभनको कुचल ढालना चाहिये। मन चम्पत है और बायुकी भोति कठिनतासे बशमें आता है। इसको निरन्तर अभ्यास और वैराग्यके द्वारा नियन्त्रणमें रखना चाहिये। इसका स्वभाव ही चम्पत है। सबको अपने नित-

कर्म प्रतिदिन नियमपूर्वक करने चाहिये और अपने मनको भणिके समान स्वच्छ रखना चाहिये। यह भी आवश्यक है कि मनुष्यको अपने जीवनके इस उद्देश्यका सप्तष्ठ जान हो कि 'भगवान्की पूजा ही सर्वोत्कृष्ट उद्देश्य है।' भगवान्के धर्मका पालन करते हुए उनका काम करना और प्राणिमात्रकी निःस्वार्थ सेवा करना सबसे ऊँची पूजा है।

जो कुछ भी उत्कृष्ट और उदात्त है, उसका आवार है

सत्य। जो कुछ भी कहा जाय, वह सत्य और सुननेमें प्रिय हो। अवणक्षु यात सत्य होनेपर भी नहीं कहनी चाहिये और श्रुतिप्रिय किंतु मिथ्या बचन भी नहीं बोलना चाहिये। धर्मके एक प्रमुख सिद्धान्त सत्यका यही ठीक-ठीक तात्पर्य है। यही कहा भी गया है—

सत्यं वृथात् प्रियं वृथात् वृथात् सत्यमिष्यम् ।
प्रियं च ननृतं वृथादेय धर्मः सनातनः ॥

सनातन-धर्मका स्वरूप

(मूर्ख अंगेली लेखन—सनातनशीविभूषित बागद्रुष श्रीगोविंशतमङ्गीश्वर ब्रह्मलीन स्वामीजी श्रीभारतीकृष्णार्थजीप्रहराज)

[अनुवादक—श्रीश्रुतिश्वीलजी श्रमी तक्षशिरोमणि]

* * *

सनातनका अर्थ है 'नित्य'। वैदिक धर्मका नाम 'सनातन-धर्म' अत्यन्त उपयुक्त है। अन्य किसी भी भाषामें धर्मका बाचक कोई शब्द नहीं मिलता। अंगेलीमें इसके लिये 'रिलीजन' शब्द है, पर धर्मका भाष 'रिलीजन'में पूरी तरहसे नहीं उत्तर पाया। 'रिलीजन' शब्द धर्मके उस भावको लिये हुए है, जो बहुत सीमित और संकुचित है; पर सनातन-धर्म इतना विशाल है कि इसमें हमारे इस जन्मके ही नहीं, अपितु पूर्वजन्म और भविष्य-जन्मके सभी विषयों और परिणामोंका पूर्णतया समावेश हो जाता है।

आख्योंमें धर्मकी परिमाप्य 'धारणात् धर्मः' की गयी है। अर्थात् धर्म वह है, जो हमें सब तरहके विनाश और अदोगतिसे बचाकर उप्राप्तिकी और ले जाता है। अर्थात् 'रिलीजनकी तरह 'धर्म' शब्द सीमित और संकुचित अर्थवाला नहीं है। उदाहरणार्थ—बैद बैनल पारलौकिक सुख-प्राप्तिका मार्ग बताकर ही नहीं रह जाते, अपितु इस लोकमें सर्वाङ्गीण उद्धारित और समृद्धिके पथका भी अदर्शन करते हैं।

सनातन-धर्मके अर्थ

पहला अर्थ

व्याकरणकी दृष्टिमें सनातन-धर्ममें पट्टी-तत्पुरुषप्रसमाच है अर्थात् 'सनातनत्वं धर्म इति सनातनधर्मः।' सनातनका धर्म, सनातनमें लगायी गयी पट्टी विभक्ति स्वात्म-स्वापक-सम्बन्धकी वैधक है। दूसरे शब्दोंमें—जित प्रकार इसाई मुहम्मदी, जरक्षुल संशो वैद्यधर्म अपने साथ ही

इसा, मुहम्मद, जरक्षुल तथा बुद्धके भी वैधक हैं, उसी प्रकार सनातन-धर्म भी वह बताता है कि वह धर्म उस सनातन अर्थात् नित्य तत्त्व परमात्माद्वारा ही चलया गया है, किसी व्यक्तिके द्वारा नहीं।

सनातन-धर्मको छोड़कर और सभी धर्मोंको दो भागोंमें बांटा जा सकता है—(१) वे धर्म जो पूर्वकालमें थे, पर अब विद्यमान नहीं हैं, (२) वे धर्म जो पूर्वकालमें नहीं थे, पर अब हैं। पर सनातनका अन्तर्भाव इन दोनोंमें से किसीमें भी नहीं किया जा सकता; क्योंकि वह धर्म अन्य धर्मोंके जन्मसे भी पूर्व विद्यमान था और अब भी विद्यमान है।

—पर मविष्यमें? इस प्रस्तुतमें हमें 'चज्जनन्यं तदनित्यम्' (जो उत्सन्न हुआ है, वह अवश्य नष्ट हो जायगा) — यह प्राकृतिक नियम व्यानमें रखना पड़ेगा। इस नियमका कोई अपवाद न अवताक हुआ और न आगे कभी होगा ही। उदाहरणस्वरूप—सज्जनोंकी रक्षा और दुष्क्रोके विनाश तथा धर्मके संख्यापनके लिये जब भगवान् मानव-रारिके रूपमें अवतरित होते हैं और अपना कार्य पूरा कर लेते हैं, तब वे चले जाते हैं; इस प्रकार मगवान्का अवतरित दिव्य शरीर भी इस प्राकृतिक नियमका अपवाद नहीं है।

दूसरा अर्थ

सनातन-धर्म अनादि और अनन्त है; क्योंकि सुषिकी उत्पत्तिके समयसे लेकर सुष्टि-प्रलयतक वह विद्यमान रहता है। वह सनातन इसलिये नहीं है कि वह सनातन ही शरदद्वारा

स्वप्रित हैं, अपेक्षु यह स्वयं भी सनातन वा नित्य है। यह प्रलयतक अस्तित्वमें रहेगा, प्रलयके बाद भी यह नष्ट होने-वाला नहीं है अपेक्षु गुतलयमें तथा भी यह अवस्थित रहता है। पुनः सुषिके साथ ही यह लोगोंकी रक्षा और उन्नति करनेके लिये प्रकट हो जाता है। व्याकरणकी दृष्टिएँ इस दूसरे अर्थका बोधक कर्मधारय तमाच हैं, जिसके अनुसार 'सनातनधर्म' इस पदकार चिह्नित होता है—'सनातन-सचासौ धर्मस्य' अर्थात् सनातनधर्मसे रहनेवाल धर्म है।

इसका अर्थ यह नहीं है कि दूसरे धर्म छुठे हैं। इसके विरोत्त हमारा तो यह कथन है कि उभी धर्म किसी-न-किसी सम्में उस अन्तिम लक्ष्यतक मनुष्यको पहुँचाते ही हैं पर वे किसी व्यक्तिविशेषके द्वारा लंस्थापित होनेके कारण उभयके साथ नष्ट भी हो जाते हैं; यह सनातन-धर्म ही ऐसा है, जो सुषिकालमें सारी रक्षाको उन्नतिकी ओर प्रेरित करता है, प्रलयमें सुखमुहूर्में रक्षा है और अगले कल्पने पुनः प्रकट हो जाता है।

तीसरा अर्थ

इसमें भी 'सनातन-धर्म' कर्मधारय समाप्तमें है पर यहाँ 'सनातन' पदमें दूसरे अर्थकी अपेक्षा कुछ और बिकेवता है। यहाँ उसका विग्रह होगा—

सदा भवः सनातनः, सनातनं करोति इति सनातनयति, सनातनयतीति सनातनः। सनातनशासौ धर्म इति सनातन-धर्मः।

यह सनातन केवल इसलिये नहीं है कि वह सनातन परमात्माद्वय संस्थापित है, यह धर्म सनातन इसलिये भी नहीं है कि वह स्वयंमें अविनिधर है, अपेक्षु यह सनातन इसलिये है कि इस धर्ममें विश्वास रखनेवाला यथा इस धर्मपर खलनेवाला भी सनातन हो जाता है। यह धर्म अपेक्षे अनुयायीकों भी अमर कन देता है।

इसको और गहरा समझनेके लिये हमें और राष्ट्रोंकी ओर भी गुरुनामक दृष्टिदृष्टि देखना पड़ेगा। ग्रीष्म, रोम, सीरिया, असीरिया, पर्शिया, श्रेवीलन, चाहिड्यन, फीनिदिया, मिश्र, निवेदा, कायेडा तथा दूसरे भी साङ्गात्य, जिन्होंने सारी हुनियाको हिला दिया था, आज पृथ्वीकी यतहसे चर्चया समाप्त हो चुके हैं। उनके पास धनशूल, चन्द्रल, सैन्यवल—चमी कुछ था; पर लोगोंको सनातन या—अमर कननेकी दृष्टि उन साक्रान्तोंके पास नहीं थी। वही

उनके सम्पूर्ण विनाशका कारण बना। पर भास्तके दात दूर दृष्टि थी, इसलिये वह आजतक जीवित रहा। इसमें संघर्ष नहीं कि इसको जीवित रखनेमें सनातन-धर्म एक सुख्य कारण रहा है, जो—

(१) सनातनतत्त्व अधीन् परमात्माद्वया निर्वापित है (पदला अर्थ—सनातनतत्त्व धर्मः, प्रश्नोत्पुरुष समाप्त अर्थात् सनातनका धर्म)

(२) स्वयं भी सनातन है (दूसरा अर्थ—सनातनशासौ धर्मः, कर्मधारय समाप्त)

(३) अपने अनुयायीकों भी सनातन, नित्य तथा अमर बना देता है (तीसरा अर्थ—सनातनयति इति सनातनः, सनातनशासौ धर्मः इसि सनातनधर्मः)

यहाँ एक प्रश्न उठता है कि इस धर्मके अनुयायीके अमरत्वका स्वरूप क्या है ? इस प्रश्नका उत्तर हमें सनातन-धर्म द्वादसे चौथे अध्येत दिलेगा।

चौथा अर्थ

इस चौथे अर्थमें भी तीसरे अर्थकी तरह 'सनातन' में कर्मधारय सनात है, अर्थात् 'सनातनयति इति सनातनः' अर्थात् वह धर्म जो हमें सनातन बनाता है सनातन-धर्म है। पर यहाँ 'सनातनयति' का अर्थ होगा—'सनातनं परमात्मत्वस्य प्राप्यति इति' अधीन् जो हमें परमात्मन्वल्लक्षको प्राप्त करवाता है, वह धर्म सनातन-धर्म है। इस धर्मके भावनार चलनेवाला अपने नित्य द्युदः सुदः सुक्ष सचिदानन्दत्वरूप का साक्षात्कार करके परमात्माके साथ एक हो जाता है।

यह सनातन-धर्मका सदा स्वरूप है जिसे अपनाकर मार्चीन मारत बहुत उन्नत भा। पर आज जब उत्तरे इस धर्मकी अवहेलना कर दी; तब वह दिनोंदिन अवनतिकी ओर ही चला जा रहा है। जो धर्मशालको छोड़कर स्वेच्छापूर्वक काम करता है, उसकी अवनति अनिवार्यीच हो जाती है। ऐसे व्यक्तियोंके विषयमें ही भगवान्ने गीवमें जहा है—

यः शास्त्रविधिसुख्य चतुर्ते कामकास्तः।

न स सिद्धिमवाप्नोति च सुखं न पाणो गतिम् ॥

सत्त्वाच्छास्त्रं प्रभाणं तै कायोऽकर्मन्यद्विस्तीर्ता ॥

ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि ॥

(१६ : २३-२४)

जो शास्त्रविधिकी अवहेलना करके मनमाना कर्त्त्व

करता है, वह न लिद्धि प्राप्त करता है। न सुख ही प्राप्त करता है और न भोग ही प्राप्त करता है। इसलिये हे अर्जुन ! तेरे कार्य और अकार्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही प्रमाण है। सुखर्य शास्त्रप्रतिपादित विधानको जानकर उद्गुराकार कार्य कर।'

मनुने कहा है—

धर्मका स्वरूप और माहात्म्य

(पूज्यपाद अनन्तश्री लालीजी शीकरणानीजी महाराजका प्रसाद)

शुभाश्रम्य कर्म-वासना-वासित परमाणु ही धर्म है—यह विवरणों (जैनियों) का सत है। क्षणिक विज्ञान-संबंधित वासना ही धर्म है—यह सौगतों (बौद्धों) को अमीष है। योग-ज्ञानादिसे द्वृत्तियोंके निरोधद्वारा जीवन्मुक्ति धर्म है—यह सांख्ययोगवादियोंका सत है। विहित-प्रतिषिद्ध कर्मोंके आचरण तथा धर्मनदारा प्राप्त विधिष्ठ गुण धर्म है—यह नैयायिकोंका सत है। अपूर्व ही धर्म है—यह प्रभाकरदि मीमांसकोंका कथन है। वैदाचान्यालन ही धर्म है—यह जैमिनिके अनुयायी मीमांसकोंका सत है। 'वलवद्विनियाप्रयोजकत्वे सति शेयःसाधनतत्त्वा वैदेशमापितत्वमेव धर्मत्वस्'—वलवान् अनिष्टसे रक्षक एवं श्रेयस्कर होनेसे वैदाचान्यालन ही धर्म है—वस्तुतः यही सबका निष्कर्ष है, ऐसी—विद्वान् आचार्योंकी समन्वयार्थी मान्यता है।

प्रवृत्तिनिवृत्तिके भेदसे यह 'वेदोक्त धर्म' भी दो प्रकारका कहा गया है—

द्वाविमावध्य पञ्चानी यज्ञ वैद्वा: प्रतिष्ठितः।

प्रवृत्तिलक्षणो धर्मो निवृत्तौ च सुभावितः॥

(ज्ञानपुराण २३४ । ६ ... महाभारत शान्तिपर्व २४१ । ६)

—इन्हें ही शान (सांख्य) योग तथा कर्मयोगसे भी अभिवित किया गया है। सनकः सनन्दन, सनसुजातः शूकरेवादि महात्मागण निवृत्ति-धर्मके अनुयायी हैं। * अन्य धर्मात्मागण प्रवृत्तिके अनुयायी हैं। इन दोनों धर्मोंसे रिक्त धर्म-कर्म चाहे महाफलदायक—राज्यैक्षर्यादिदायक भी क्यों न हो, नहीं करना चाहिये; क्योंकि आगे उसका परिणाम शुभावह नहीं होता—

* इनके उदाहरणोंको स्पष्ट करनेके लिये महाभारत शान्तिपर्व १४३—१४९, अनुशासनपर्व, धध्याय १ वादिकी कथाएँ भी देखी जा सकती हैं।

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षिति रक्षितः।

पृथन किया हुआ धर्म प्रजाको भी सार देता है और रक्षित हुआ धर्म लोगोंको भी रक्षा करता है।

सनातन-धर्मका यह स्वरूप इतना उच्च और श्रेष्ठ है कि इसकी हुलनामें संसारका कोई भी धर्म नहीं आ सकता।

धर्मादपेतं यत्कर्म यथापि स्याम्भृतफलम्।

न तत्सेवेत मेधावी न तद्वितमिहोच्यते॥

(महाभारत शान्तिपर्व २५३ । ८)

ऐसा कर्म पीछे कर्ताकी समूल शालोपशास्त्राओंको दग्ध करता हुआ चला जाता है—

वधर्मश्वरितो लोके सद्यः फलति गौरिव।

शनैरावर्तमानस्तु कर्त्तुर्सूलमि कृन्तति॥

मूलानि च महास्त्राश्र दहूर् समधिगच्छति।

(समुस्त्रित ४ । १७२, महाभारत शान्तिपर्व १५ । १७—१८)

जो यह समझकर कि 'अरे धर्म कहाँ है ?', धर्म सभा धर्मस्याओंका उपहास करता है, वह विनाशको ही प्राप्त होता है—

न धर्मोऽस्तीति मन्वानः कुचीनवहस्त्वितः।

अप्तवृत्तिर्थ भवेद् विनाशमुपवत्तति॥

(महाभारत शान्तिपर्व १५ । १९ । २०)

अधर्मात्मा पुरुष (वा देश भी) कभी-कभी रावण, हिरण्यकश्यु, दुर्योधन आदिके समान बढ़ते हैं; पर अन्तमें उनका भीषण विनाश हुए रिना भी नहीं रहता—

अधर्मेणैधते तावत् ततो भद्राणि पदयति।

ततः सपलाङ्गयति समूलस्तु विनश्यति॥

(नमुस्त्रित ४ । १७४, महाभारत शान्तिपर्व १४ । ४ तथा ब्रह्मवैतर्पुराण प्रकृतिवृष्टि १४ । २६, इत्यादिका भाव)

अतः धर्मशूल्य अर्थकामका भी सर्वधा परित्वाग कर देना चाहिये—

* इस सम्बन्धमें लक्ष्मपुराण, महेश्वरस्त्रणके नन्दमद्र-सत्यवत्तंचारकी विस्तृत कथा देखनी चाहिये।

परित्यजेदर्थकामी थी सातां धर्मवर्जितो ।
 (मनुसूति ४ । २७६, विष्णुपुण्ड्र ३ । ११ । ७, कौटीय
 कर्मशास्त्र १ । ० । ८)

अफेला धर्म ही सर्वत्र सहायक—रक्षकः होता है—
 धर्म एको समूच्चाणां सहायः परिकीर्तिः ।
 (महापुण्ड्र १७ । ९)

धर्मस्तमनु गच्छति ।
 (मनुसूति ४ । २४१-४२)

बने ऐ वद्वालाग्निमध्ये
 रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि ।
 (वीतिशतक ५५, मु० सि० २ । ५३)

धर्मो ही अर्थकामभोक्तादि सभी सुख भिलते हैं ।
 धर्म ही सभी पुरुषाशार्थोंका मूल है । (मनु० चाणक्यशस्त्र
 १-२०) धर्मलेश्वरों भी जो आन्तरिक्षुद्र सात्त्विक सुख—
 आनन्द उपलब्ध होता है, वह अर्थकामादिमें कहाँ
 है । अतः सदा धर्ममें ही मन लगाना चाहिये । धर्महीन
 ग्राणीका जीवन तो अत्यन्त ही चिन्त्य है—
 अनित्याभि शरीराभि विभयो नैव शावतः ।

नित्यं संनिहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः ॥
 (शृ० सि० १६९, विक्रमार्क० चरि० ३३ । ३,
 महापुण्ड्र धर्मसारोद्धार, पञ्चतन्त्र ३ । ९५)

पुण्यका इव धार्मेषु पूर्यष्टा इव पक्षिषु ।
 मशका इव मर्त्येषु वेषां धर्मो व कारणम् ॥
 (महामातृ शान्तिपर्व ३२२ । ७, पञ्चतन्त्र ३ । ३ । ९७)

अतः धर्मका ही अभ्यास करना चाहिये ।
 धर्मेणापि हितो धर्मो धर्मसेवानुवर्तते ।
 धर्मसेवेण हृतो धर्मो धर्मसेवानुवर्तते ॥
 (महामातृ शान्तिपर्व ३२३ । २८)

जो तम-घनादिसे धर्मचरणमें सर्वथा असर्वथे हो, उसे
 भी कर्मसेवेण भनते ही सबके कल्याणकी कामना करनी
 चाहिये । यह मानसिक धर्म कहा गया है, जो सब धर्मोंका
 मूल है—

मात्सर्सं सर्वभूतानां धर्ममाहुर्मनीयिणः ।
 तस्माद् सर्वेषु भूतेषु भनसा द्विवाचरेत् ॥
 (महामातृ शान्तिपर्व ३२५ । ३१)

(भेषण—दग्धिता श्रीबानकोनामनी शर्मा)

सुख-शान्तिका एकमात्र उपाय धर्म

(लेखक—स्वामीजी श्रीनिदिवानद्वारी चरमती महाराज)

यूरोप-अमेरिकाके रामें रङ्ग और विश्वनके चक्राचौधमें
 कैसा आजका मारतीय सुखक भी कहने छा गया है कि
 ईश्वर और धर्मके प्रति हमें वृणा हो गयी है, अतएव इस
 विषयमें हमारे साथ चर्चा न करो । परंतु भाई ! हम तो
 नीबोको भूल रहे हो । जिस ईश्वरसे द्वूषको वृणा है, वह ईश्वर
 तो हृष्ट्वारे ही शरीरमें, हृष्ट्वारे अपने हृदयमें सर्वदा विशाल
 रहा है । उसकी कुमारे हृष्ट्वारी आँख देख रक्ती है और
 कान सुन रक्तते हैं । उसकी दयामे हृष्ट्वारी नासिका सूँघ
 रक्तती है और जिहा स्थाद् ले रक्तती है । उसके प्रशादसे
 हृष्ट्वारे हृथ लेन-देन करते हैं और वैर चलन-फिर सकते हैं ।
 उसके जनुआहे हृष्ट्वारी त्रुदि विश्वय करती है और मन

मनन कर सकता है । अधिक क्या कहें, कुम्हार जीवन ही
 उसकी अनुकूल्याके लम्ह आशित है । ऐसे ईश्वरसे वृणा
 होनेपर कैसे काम चलेगा ।

धर्मके विषयमें भी यही बात है । हुम जिस विश्वमें रहते
 हो, उस विश्वका स्वल्प जितना विशाल है, उससे अनेक-
 शुना विशाल है स्वल्प धर्मका; और उसके उद्दरके एक
 जंश्यमें हृष्ट्वारा यह विश्व स्थित है । तब फिर ऐसे धर्मों वृणा
 रखनेपर हृष्ट्वारा पालन-पोषण कैसे चलेगा ।

धर्मका स्वल्प हृतना अधिक विशाल है कि उसको
 किसी एक व्याख्यामें चाँथा नहीं जा सकता । इस प्रकार

* देवता ब्रह्मणः सन्तो यज्ञा मात्सुपचारणः । धर्मिनान् पूज्यन्तीह न भ्रातृव्यान् न वासिनः ।

भने मुख्यका कान्चित् धर्मे हु परमं सुखम् ॥ (महामातृ शान्तिपर्व २७१ । ५६)

इस विषयमें यद्यकौ कुण्डधारकी कथा भी अवश्य देखने चाहिये ।

अपनी-अपनी हाथिके अनुसार विभिन्न विचारकोंने धर्मकी अनेकों व्याख्याएँ की हैं, 'धर्म' शब्दकी व्युत्पत्ति भी विभिन्न प्रकारसे की है। जहाँ हम बैठे हैं, उसी कमरेका एक छायाचित्र यदि कैमरेको इंशान कोणमें रखकर लें तभा दूसरा छायाचित्र वैश्वर्य कोणमें रखकर लें तो ये होनों छायाचित्र एक समान नहीं होंगे। एकमें जहाँ हमारा मुँह दीखेगा, वहाँ दूसरेमें हमारी पीठ दीखेगी। इसी प्रकार जहाँ-जहाँ खड़े होकर जिस दृष्टिसे धर्मका अवलोकन किया गया, उसीके अनुसार उसकी व्युत्पत्ति करके लक्षण बनाया गया।

अब धर्मशब्दकी कुछ व्युत्पत्ति देखिये। अन्तिम अर्थ तो लक्षण एक ही है। परंतु हमने जैसा पहले कहा है, उसके अनुसार जित कोनेसे हम उसे देखते हैं, वैसा ही यह हमें दीखता है। (१) विन्वनाद् धर्मः। विन्वनका अर्थ है धारणा या आशासन देना, दुःखसे पीड़ित समाजको धीरज देकर सुखका भार्य दिखाना। इस प्रकारके आचरणका नाम धर्म है। (२) धारणाद् धर्मः। धारण करना, दुःखसे बचाना। श्रीकृष्णभगवान्ने जैसे गोवर्धनको धारण करके ब्रजको बचाया था, उसी प्रकार जिसके आचरणसे समाज अधोगतिकी ओर न जाय और अपने उच्च आसनपर स्थिर रह सके, उसका नाम धर्म है। प्रकृतिका स्वभाव ही जलके समान नीचेकी ओर जानेका है। अर्थात् यदि धर्मका अवलभन न किया जाय तो सहज स्वभावसे प्रजा अधोगतिकी ओर घसीटती जाती है। आज धर्मका आशय छूट जानेके कारण ही हम दिन-मतिदिन गिरते जा रहे हैं, वह प्रत्यक्ष ही है।

मनुभगवान्ने धर्मके दृष्ट लक्षण बताये हैं। उनमें धर्मपालन करनेका सारा स्वरूप आ जाता है। मुराणोंने उसका विस्तार करके धर्मके तीस लक्षण बताये हैं। धर्मके एकाध अङ्गका भी यदि समझदारीके साथ पालन हो तो दूसरे अङ्गोंका पालन अपने-आप हो जाता है। जैसे खाटके एक पांचों सीधेनेसे शेष तीन पाये उसके साथ अपने-आप ही खिच जाते हैं, इसी प्रकार धर्मके पालनमें भी होता है। धर्मपालन समझदारीके साथ होना चाहिये।

केवल अब धर्मकी एक सर्वदेशीय और सर्वमान्य व्याख्या देखिये। वास्तवमें धर्मका ज्ञान चर्चा या इस विषयके अन्योंके अवलोकनसे ठीक दौरपर नहीं होता। यह तो आचरणमें लगेकी बस्तु है। जैसे-जैसे आचरण धर्ममय होता जाता है, वैसे-वैसे ही धर्मका रहस्य समझमें आता जाता है। बाँचरेसे

या चर्चा करनेसे तो केवल ऊपरी ज्ञान होता है, जिसको केवल जानकारी साव बह सकते हैं। धर्मकी एक व्याख्या इस प्रकार है—

यतोऽस्मुद्यनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

जिसके आचरणसे अस्मुद्य तथा निःश्रेयसकी प्राप्ति होती है, उसका नाम धर्म है।

अब अस्मुद्य और निःश्रेयसका अर्थ समझना चाहिये। निःश्रेयसका अर्थ स्पष्ट है, इसलिये इसको पहले समझ लीजिये। श्रेयसका अर्थ है कल्याण। जिस कल्याणसे बढ़कर दूसरा कोई बढ़ा या अधिक महत्वका कल्याण न हो, उस सर्वश्रेष्ठ या सर्वोपरि कल्याणको निःश्रेयस कहते हैं। सर्वश्रेष्ठ कल्याण 'मोक्ष' कहलाता है; क्योंकि उसको प्राप्त करनेके बाद और कुछ भी प्राप्त करना शेष नहीं रहता। इस प्रकार निःश्रेयसका अर्थ हुआ मुक्तिकी प्राप्ति या भगवत्प्राप्ति अथवा जन्म-मृत्युरुलीय बन्धनसे निवृत्ति। अतएव धर्मका एक लक्षण यह हुआ कि जिसके आचरणसे मोक्षकी प्राप्ति हो।

'अस्मुद्य'का अर्थ केवल यही है कि शरीरके निर्वाहके साधन सुगमतासे प्राप्त हों, विलासकी सामग्री या शरीरको लाड लखानेवाले वैभव नहीं। मनु महाराजने अत्यन्त संक्षेपमें बतलाया है कि धर्मका आचरण कैसे करना चाहिये। यथा—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ज्ञानमिन्द्रियनिवृहः।

दृष्टद् धर्मं समाप्तेन ज्ञानुवर्ण्येऽश्रुतेन्मतुः॥

पहला है—अहिंसा। हिंसाका स्थूल अर्थ है शरीर और प्राणका विद्युग करना। परंतु इसका सूक्ष्म अर्थ है—मनसा, वाचा, कर्मण किसीको कष्ट देना। अपने शरीरसे किसीको पीड़ा पहुँचाना, वाणीसे मृत्युकी धर्मकी देना अथवा ऐसी कठोर वाणी बोलना जिससे किसीके मनपर आघात पहुँचे और मनसे किसीका विनाश या कुरा चाहना, यह भी हिंसा ही है। ऐसी किसी भी हिंसासे दूर रहनेका नाम है 'अहिंसा-का पालन'।

दूसरा तत्त्व है—सत्य। ऐसा कौन सम्प्रदाय है, जो सत्यकी आवश्यकताको स्वीकार न करता हो। भले ही कदाचित् सत्य बचनपर कोई बल न दें; परंतु असत्यका आचरण करनेके लिये तो कोई भी सम्प्रदाय नहीं कहता। अतएव सत्य, अर्थात् सत्यका आचरण और असत्यका त्याग, यह सब सम्प्रदायोंके लिये सामान्य धर्म है।

सीसरा है—अल्लेग। स्त्रेशका अर्थ है चोरी करना। मालिककी अनुपस्थितिमें या उसकी नजर बचाकर उसकी वस्तु अपने उपयोगके लिये लेना, यह साधारणतः चोरी कहलाता है। उसकी उपस्थितिमें कल्पूर्वक छीब लेना दूर्घट्ट कहलाता है। यह चोरी और दूरका बहुत साधारण अर्थ हुआ। परंतु जो आपारी एक मन मालिका पैसा लेकर कम नापकर देता है, अथवा दस गज कपड़ेका पैसा लेकर कम नापकर देता है, यदिया मालिका पैसा लेकर धर्मिया देता है या निखालिंस चीजेमें दूसरी चीज मिलकर देता है। तथा जो कारीगर पूरा वैतन लेकर निश्चित कामको हीमान-दारीसे नहीं करता, जो अधिकारी या नौकर धूस-रिश्वत लेता है या लेनेकी इच्छा करता है—सारांश यह है कि जो लोग अपने व्यवहारमें पूरी हीमानदारी नहीं वर्तते, जो अपनी व्यावर्षकतासे अधिक संग्रह करते हैं तथा जो देवक अपने ऊपर साँपा हुआ काम विश्वासपूर्वक नहीं करते, वे सभी चोर-डाक् या छुट्टे हैं। इस प्रकारकी किसी भी चोरीसे दूर रहनेका नाम 'धर्मतेय-व्रतका पालन' कहलाता है। इस अस्तेय-सिद्धान्तके विषय जोहरी सम्प्रदाय ही सकता है, यह मैं नहीं मानता।

चौथा है—शौच। शौचका अर्थ है पवित्रता। इसमें एक तो है—शरीरकी पवित्रता अर्थात् शरीरको खल्ज रखना। इस बातको तो पश्चापकी भी समझते हैं; फिर मनुष्यको तो ऐसा करना ही चाहिये, इसमें क्या नयी बात है? दूसरी है मनकी पवित्रता। मनको दूष संकल्पसे बूर रखना चाहिये। मनमें किसी भी प्रकारका दुरा निचार आने ही न पाये, उसको ऐसा पवित्र बनाना चाहिये। शौचके विषयमें भी किसी भी सम्प्रदायका कोई विरोध नहीं होता; क्योंकि तन-मनकी पवित्रताके लिये ही उसका निर्माण होता है और इसीके लिये सारे कर्मकाण्डकी योजना थीनी होती है।

पाँचवाँ है—इन्द्रियनिग्रह। चालुविक स्वतन्त्र मनुष्य कौन है?—जिसका स्थानी इन्द्रियोंके ऊपर पूरा काल है, दूसरा कोई नहीं। स्वतन्त्र देशमें रहनेसे बरीर भले ही स्वतन्त्र कहलाता हो; परंतु वह मनुष्य, जो इन्द्रियोंका गुलाम है, वे जैसे बलाती हैं, वैसे ही पशुके समान चलता है तो वह स्वतन्त्र मनुष्य नहीं है वस्त्र गुलामसे भी बदतर है। इस प्रकार इन्द्रिय-निग्रह भी प्रत्येक सम्प्रदायमें किसी-न-किसी भावेमें मन्त्र होना चाहिये और इस कारण कोई भी सम्प्रदाय इन्द्रिय-निग्रहकी शिक्षाका विरोध नहीं करता।

इस विवेचनसे यह देखा जाता है कि कोई भी राज या संसाधा, अथवा समाज या धर्मियों द्वारा रह ही नहीं सकता। राज्य असाम्प्रदायिक हो सकता है, परंतु वह धर्मनिरपेक्ष या धर्मविहीन हो ही सही सकता। शख्सके लिये भी उसके धर्म हैं और जहाँतक उसका पालन होता है, वहाँतक वह 'सुराज्य' कहलाता है। राज्यके धर्म रामायण तथा महाभारतमें विश्वारपूर्वक लिखे हैं, जिसको जान लेना भारती राज्यसत्रके प्रत्येक सम्बन्धोंमें लिये आवश्यक है।

आज जो दुःखके बादल हमारे ऊपर मँडर रहे हैं, उनको विश्वायुद्ध दूर नहीं कर सकता। एटम थम, हाह्योजस वेम, कोछाट थम अथवा इनसे भी भयंकर शब्द उनको दूर नहीं कर सकते। अनेकों प्रकारके कारखानोंकी साधनासे दुःख दूर नहीं होता। संततिनियमनके साधनोंद्वारा भावी प्रजाका विनाश करनेसे भी दुःख दूर नहीं होगा। विपुल धनराशि तथा पुष्कल भोगसामग्री भी दुःखके बादलोंको छिन्न-पिन्न नहीं कर सकती। चन्द्र, मङ्गल या शुक्रतक पहुँचनेसे भी दुःखका अन्त न होगा। दुःखके बादलोंको दूर करके सुख-शान्तिकी साधना करनेका एकमात्र उपाय है—धर्म। जवाहरक पुनः धर्मकी संसाधना नहीं होती, तथातक दूसरे किसी भी उपायसे इन दुःखके बादलोंको दूर करके सुख-शान्ति नहीं प्राप्त की जा सकती।

अंग्रेजोंके आमेके पूर्व हमारे यहाँ ईश्वर और धर्मके लिये पूर्ण खान था। उनके आमेके बाद हम उनकी आकर्षक भोगसामग्री देखकर छुच्च हो गये और धीरे-धीरे ईश्वर और धर्मकी ओरसे उदासीन और वेपरबाह होने लगे। हम जैसे-जैसे धर्मविसुख होते गये, वैसे-वैसे ही हमारे दुःख बढ़ते गये। अब दुःखकी कोई शीमा नहीं रह गयी है। आज प्रजा दासेदासेके लिये भर रही है और अनीति तथा दुराचारका साक्षात्य जम गया है; क्योंकि ईश्वर और धर्मके लिये हमने कोई स्थान नहीं रखता है। इन दोनोंकी अवहेल्ना करके हम दोनोंको पूर्णतः निकल पोका है और हम इनका आदर गिरफ्तार ही नहीं करते।

हमने देखा कि धर्मकी पुनः साधना किये विना हस्त भयंकर दुःखसे बचनेका दूसरा कोई इलाज नहीं है। अधर्म और उसके तत्त्व—अनीति, दुराचार आदि बहुत जोर पकड़ती और अपनेसे जब वे काढ़नेमें नहीं आवेगे तब भगवान् अपने वचनके अनुसार अवतार लेकर धर्मकी साधना करेंगे और इस प्रकार दुष्टोंका संहार करके

धर्मकी संस्थापना करेंगे तथा स्वयं अविनाशी होनेके कारण अवतारका काम पूरा होनेपर अदृश्य हो जायेंगे ।

यहाँ कुछ शानलब्धुर्विदर्थ मानव प्रश्न करेंगे कि क्या भारतवर्ष ही ऐसा पापी है ? और क्या यहाँ बहुत अधिक पाप होता है कि जिसका निवारण करनेके लिये भगवान्‌को अवतार लेना पड़ता है ? यूरोप, अमेरिका, अफ्रिका, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैंड आदि देशोंमें भगवान्‌को क्यों नहीं अवतार लेना पड़ता ? इससे चिढ़ होता है कि पापाचरण केवल भारतवर्षमें ही होता है । इसके उत्तरमें इतना ही कहनाहै कि भगवान् अवतार धारण करते हैं—धर्मकी संस्थापना करनेके लिये ही । मारतके सिवा दूसरे देशोंमें धर्मको स्थान नहीं होता; क्योंकि वहाँ मानव-जीवनके लिये कोई सुन्दर योजना नहीं है । जहाँ धर्म होता है, वहाँ जीवन योजनाके अनुसार चलता है । वह योजना है धर्म, अर्थ, काम और सोक्ष—इस चतुर्विध पुरुषार्थका सम्पादन करनेकी । इस योजनाको पूरी करनेके लिये दूसरे अनेक सिद्धान्त इसके साथ लुढ़े हुए हैं । जैसे—(१) कर्मकल्पका सिद्धान्त, (२) उससे उत्तम पुनर्जन्मका सिद्धान्त, (३) उससे निकली हुई चातुर्वर्णव्यवस्थाका सिद्धान्त, (४) और उसकी भूमिकमें ब्रह्मचर्य आदि चार आश्रमोंका सिद्धान्त । इससे स्पष्ट हो गया कि उम देशोंमें धर्मको स्थान नहीं है,

तब फिर धर्मका हास कैसे होगा ? और फिर उसकी पुनः संस्थापनाके लिये भगवान्‌को अवतार क्यों धारण करना पड़ेगा ?

आहारनिद्रामयमैथुनं

समान्वयमेसत्प्रशुभिर्वाणम् ।

धर्मो हि तेषामविक्रो दिक्षोऽप्तो

धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

आहार, निद्रा, भय और स्त्रीसङ्ग—ये चार बातें पशुओं और मनुष्योंमें समानरूपताएँ होती हैं । मनुष्यमें यदि कोई विशेषता है तो वह धर्मकी है । अतएव जिस देशमें अथवा जिस समाजमें धर्म नहीं होता, उसको शाल “पशु” कहते हैं । पशुके लिये तो इश्वरने एक ही नियम बनाया है कि जन्म लेना और प्रारब्धके अनुसार सुख-दुःख भोगकर मर जाना । इन नियमों योनियोंमें जीवकी उन्नतिके लिये कोई साधन नहीं होता, अतएव उनके लिये भगवान्‌को अवतार नहीं लेना पड़ता । उनका जीवन तो भगवान्‌के बनाये हुए नियमके अनुसार चलता ही रहता है और इस कारण भारतवर्षके लिया दूसरी जगह कहीं भगवान्‌को अवतार धारण करना नहीं पड़ता ।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः

धर्म अविनाशी तत्त्व है

(एक महात्माका प्रसाद)

धर्म मानवकी खोज है, उपज नहीं । खोज सदैव अविनाशी तत्त्वकी होती है । इस दृष्टिसे धर्म अविनाशी तत्त्व है । भौतिकवादकी दृष्टिसे धर्म प्राकृतिक विधान, अत्यात्मवादकी दृष्टिसे निज विवेकका प्रकाश तथा अद्वापथकी दृष्टिसे प्रभुका मङ्गलमय विधान है । धर्म धारण किया जाता है अथोत् धर्मकी धर्मकी साथ एकता होती है । धर्मके धारण करनेसे मानवको भगवरहित चिर शान्ति मिलती है । धर्म मानवको रागरहित करनेमें समर्थ है । रागरहित होते ही साधक स्वतः योगवित् तथा तत्त्ववित् एवं प्रेमवित् द्वी पुत्रकुल हो जाता है । इस कारण धर्म सर्वतोमुखी विकासकी भूमि है ।

धर्म सर्वप्रथम मानवको यह प्रेरणा देता है कि विवेक-विरोधी तथा सामर्थ्य-विरोधी कार्य भत करो । सामर्थ्य तथा

विवेकके अनुरूप किया हुआ कार्य काठीको जम्म-जम्मान्तरके विधान रागसे रहित कर देता है । यह धर्मका बाह्य रूप है । नवीन रागकी उत्पत्ति न हो, इसके लिये धर्म निज अधिकारके त्वामकी प्रेरणा देता है और फिर मानव रागरहित होकर अत्यन्त सुगमतापूर्वक मानव-जीवनके चरम लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है ।

रागरहित भूमिमें ही योगस्थी हृष्ट लगता है और योगस्थी बृक्षपर ही तत्त्वज्ञानस्थी फल लगता है, जो प्रेमस्थी रससे परिपूर्ण है ।

शक्ति, मुक्ति और भक्ति भर्मसे ही उपलब्ध होती हैं । धर्मात्माके जीवनमें सतत सेवा, लाग, प्रेमकी त्रिवेणी, लहराती है । सेवासे जीवन जगत्के लिये, त्यागसे अपने लिये और प्रेमसे सर्वसमर्थ प्रभुके लिये उपयोगी होता है । धर्मके

धारण किये बिना जीवन उपयोगी नहीं होता। अनुपयोगी जीवन को किसीको अभीष्ट नहीं है और उपयोगी जीवन की मौग सदैव सर्वत्र समीक्षा रहती है।

इस हिस्से धर्मात्मा सभीको स्वभावसे ही प्रिय है। धर्मात्मामें जगत्का चिन्तन नहीं रहता, अपितु जगत् धर्मात्माकी सदैव आवश्यकता अनुभव करता है। कारण कि धर्मात्मासे सभीके अधिकार सुरक्षित रहते हैं और वह स्वयं अधिकारलालसाएं रहित ही जाता है। वह निर्विवाद सत्य है। प्रत्येक मानवमें धर्मका ज्ञान विद्यमान है; पर उसकी खोज बीतराग महापुरुष ही कर पाते हैं। रागरहित होनेकी स्वाधीनता मानवको जन्म-ज्ञात प्राप्त है। कारण कि उसे उसके रचयितासे विवेकली प्रकाश तथा बुद्धिरूपी हाथि एवं भावशक्ति प्रदान की है। धर्म मानवको मिले हुएकी अर्थात् जो प्राप्त है उसीके सदुपयोगकी प्रेरणा देता है। इस हिस्से धर्मात्मा होनेमें मानव सर्वदा स्वाधीन है। यद्यपि धर्मको धारण करना सहज तथा स्वामानिक है, फिर भी मानव अपनी ही मूलसे अपनेको धर्मसे चुत कर लेता है, जो विनाशका मूल है।

अपनी भूलका ज्ञान और उसकी निवृत्ति आवश्यक हो सकती है पर कब? जब मानव कब औरते विमुख होकर अपनी ओर देले। अपनी ओर देखते ही उसे अपनी सच्चितथा आवश्यकताका बोध होगा। सच्चिकी निवृत्ति और आवश्यकताकी पूर्ति अवश्य होती है—यह अविचल सत्य है। सच्चिका उद्दासम एकमात्र पराधीनताको स्वीकार करना है। पराधीन प्राणी सच्चिमें आवद्ध हो जाता है। पराधीनतासे पीड़ित होनेपर जब मानव स्वाधीनताकी आवश्यकता अनुभव करता है, तब अपने-आप सच्चिका नाश होने लगता है। सर्वाश्रमें सच्चिका नाश होते ही स्वाधीनताकी मौग अपने-आप पूरी हो जाती है। स्वाधीन मानव ही धर्मके वास्तविक तत्त्वका अनुभव करता है। पराधीनताको सहन करना ही धर्मसे चुत होना है। जिसे किसी प्रकाशकी पराधीनता सहन नहीं होती, वही जगत्के प्रति उदार तथा प्रभुके प्रति प्रेमी होता है। स्वाधीन होनेकी स्वाधीनता मानवको अपने सच्चितासे प्राप्त है। पर यह रहस्य तभी स्पष्ट होता है जब मानव बलका दुरुपयोग तथा विवेकका अनादर नहीं करता और अपने तथा जगत्के आवाहन तथा प्रकाशकमें अविचल अद्वा रखता है। उर्जाधार सर्वका, प्रकाशक, तथा सर्वसमर्थ है; इच्छा ही नहीं, वह सदैव है और सभीका है। जो उसे स्वीकार नहीं

करते, उनका मीं वह उच्चना ही है; जितना उनका है जो उसे स्वीकार करते हैं। पर यह तभी स्पष्ट होता है, जब मानव धर्मको धारणकर रागरहित हो जाय।

निज शानका आदर मानवको बलके सदुपयोगकी तथा अलौकिक दिव्य चिन्मय अविनाशी लीबनकी प्रेरणा देता है। ज्ञानविरोधी कार्य करते हुए धर्मके तथ्यको जानना समझ नहीं है। राग और क्रोधने ही हमें धर्मसे विमुख किया है। दूसरोंके अधिकारकी रक्षा बिना किये रागका नाश नहीं होता और अपने अधिकारका स्वाग करनेपर ही मानव क्रोधरहित होता है। पराग जड़ता, अभाव तथा नीसतामें आवद्ध करता है और क्रोध कर्तव्य, निःस्सल्प तथा प्रमुखकी विमुखीतमें हेतु है। अतपद राग तथा क्रोधका अन्त करना अनिवार्य है, जो एकमात्र धर्मके धारण करनेसे ही सम्भव है। कर्तव्यकी रक्षति और उसके पालन करनेकी सावधान क्रोधरहित होनेपर स्वतः आ जाती है। कर्तव्यनिष्ठ होते ही मानव अपने परिपूर्ण हो जाता है। पर विकास धर्मात्माका स्वतः हो जाता है। इस हिस्से धर्मका धारण करना मानवमात्रके लिये अत्यन्त आवश्यक है। धर्मात्मा प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग करके सभी परिस्थितियोंसे अतीत दिव्य चिन्मय जीवनसे अपित्त होता है। अतः प्राणोंके रहते हुए ही चर्तामालमें भूलपहिल ही धर्मको धारण करनेका अथवा प्रयास करना मानवमात्रके लिये परम अनिवार्य है।

की हुई भूल न दोहरानेका, वर्तमान निर्दोषपत्रको सुरक्षित रखने एवं मानवजीवनके चरम लक्ष्यको प्राप्त करनेका इदं संकल्प तथा बल स्वीकार करना आवश्यक है। ब्रतके पालन करनेमें आवी हुई कठिनाइयोंको हस्तपूर्वक सहन करनेकी प्रेरणा धर्म देता है। कठिनाइयोंके राहन करनेसे आवश्यक शक्तिका प्रादुर्भाव होता है।

अपने लक्ष्यसे कभी निराश नहीं होगा चाहिये, कारण कि लक्ष्यकी प्राप्तिके लिये ही मानव-जीवन मिला है। लक्ष्यसे निराशा तभी आती है, जब मानव प्रमादसे निज विवेकका अनादर तथा बलका दुरुपयोग एवं सर्वसमर्थ प्रभुमें अभद्रा करता है। धर्मात्मा कभी निज विवेकका अनादर तथा बलका दुरुपयोग एवं सर्वधारमें अशद्रा नहीं करता। यह सभीको मान्य है कि प्रत्येक उत्पत्तिके मूलमें उत्पत्तिरहित अनादि अविनाशी नित्य तत्त्व अवश्य है। जो अविनाशी है, वही अनन्त है, वही असम्पूर्ण

है। उसकी महिमाकार कोई शारापार नहीं है; किंतु अपने लक्ष्यकी विस्मृतिसे मानव उसमें अधिकाल आसा नहीं कर पाता। भोगकी रुचि, भोगकी याँग, सत्कार किंशासा सथा प्रियलालसा (प्रेमकी भूल) मानवको अपनेमें स्वभावसे प्रतीत होती है। भूलरहित होते ही भोगकी रुचिका नाश हो जाता है, जिसके होते ही योगकी उपलब्धिः

जिशासाकी पूर्वि एवं प्रेमकी प्राप्ति खतः होती है। योगसे अस्ति, बोधसे मुक्ति तथा प्रेमसे अनन्त रसको पाकर मानव अपने चरम लक्ष्यको प्राप्त कर लेता है। अतः लक्ष्यसे निराश होनेके समान और कोई भूल नहीं है। धर्मात्मा सदैव अपनी ओर देखता है और अपने लक्ष्यको अनुभव-भर भूलरहित हो सफलता प्राप्त करता है। यह मुख्य सत्य है।

हमारा सच्चा साथी कौन है ? धर्म

(लेखक—परमार्थ निकेतनके संघ भामीजी श्रीभग्नानन्दजी महाराज)

हमारा सच्चा साथी कौन है, इसपर विचार करनेपर शत होता है कि प्रणीका सच्चा साथी धर्म ही है। कहा भी है—

धनानि भूमौ पक्षावो हि गोष्ठे
नारी यृद्धारि सक्षा श्मशाने।
देहश्चिताद्यौ परलोकमार्गे
धर्मानुगो गच्छति जीवं पृकः ॥

अर्थात् मनुष्यके पाञ्चमौतिक शरीर ढोड़नेपर उसका धन भूमिमें था तिजौरीमें पढ़ा रह जाता है। पश्च पञ्चशालामें वैधे रह जाते हैं। परम प्यारी छी शोकानिसे विहूल घरके दरबाजेतक साथ देती है। मित्र तथा परिवर्त्वर्ग श्मशानवक तथा शरीर, जिसका इतना पालन-पोषण किया, चितातक साथ देता है। परलोकमार्गमें केवल एक धर्म ही साथ जाता है।

महाभारतके स्वगरीहण-धर्ममें लिखा है कि जब पाण्डव द्रौपदीके साथमें सदेह स्वर्ग जाने लगे, उस समय उनके साथ एक कुत्ता भी चल रहा था। चलते-चलते प्रथम द्रौपदी हिमालयके वर्फमें गलकर गिरने लगी, तब भीमने युधिष्ठिरसे कहा कि हमलोगोंकी निरसङ्गिनी परम सुन्दरी द्रौपदी गिर रही है। धर्मराज युधिष्ठिरने पीछेकी ओर यिना देखे हुए ही जबाब दिया कि भीम जाने दो। उसका व्यवहार पक्षपातपूर्ण था; क्योंकि वह हम सबसे अधिक अर्जुनसे प्रेम करती थी। ऐसा कहते-कहते आगे चलते गये। पीछेको देखा भी नहीं; क्योंकि धर्मानुगारीको पीछे नहीं देखना चाहिये—जिस प्रकार मोटर ड्राइवर मोटर चलाते समय पृष्ठभागकी ओर न देखते हुए मोटर चलाता है; क्योंकि ऐसा न करनेसे हुर्दृटना होनेका भय रहता है। किंचित् दूर ही चल पाये थे कि महात्मा सहदेव लड़खड़ाने लगे। भीमने

कहा—“दादा, परम प्रिय सहदेव सहदेव गिरना चाहते हैं; उन्होंने तो अहंकाररहित होकर सदैव ही हमलोगोंकी सेवा की है, ये क्यों गिर रहे हैं ?” युधिष्ठिरने कहा—भाई सहदेवको विद्वत्ताका अभिमान था, वे अपनेको संसारमें सबसे बड़ा विद्वान् समझते थे। ऐसा कहते हुए बिना पीछे देखे शेष भाइयोंके साथ आगे चलते रहे। इसमें भाई नकुलको लड़खड़ाते हुए देखकर भीमने कहा—नकुल भी साथ छोड़ना चाहते हैं। धर्मराज युधिष्ठिरने कहा—उसे अपनी सुन्दरताका अभिमान था, इसलिये इसका पतन हुआ।—ऐसा कहते हुए बिना पीछे देखे धर्मराज युधिष्ठिर आगे बढ़ते चले जा रहे थे।

इतनेमें अर्जुनके गिरनेका समय उपस्थित हुआ। भीमने कहा कि “दादा, गाण्डीव धनुपका धारण करनेवाला श्वेत घोड़ोवाले रथपर भ्रमण करनेवाला अर्जुन गिर रहा है।” युधिष्ठिरने बिना पीछे देखते हुए ही जबाब दिया—“गिर जाने दो, उसे अपनी शुरुवातीका विशेष अभिमान था।” अन्तमें उस हिमप्रदेशमें महावली भीम भी गिरने लगे तो उन्होंने पुकारकर कहा—“दादा, मैं भी गिरा जाता हूँ, रक्खा करो।” युधिष्ठिरने कहा—“दू तो वडा पेटू था हुक्के अपने वेळका अभिमान था कि संसारमें मुझसे बढ़कर कोई बड़ी नहीं है; अतः तेरा पतन हो गया।” संसूत मूल सूल प्रद नाना। सकल सेह दायर क अभिमान।॥१॥ बिना पीछे देखते हुए महाराज युधिष्ठिरने अपना चलना बंद नहीं किया। उन्होंने देखा कि जो कुत्ता प्रारम्भमें हमें मिल था, वह साथ आ रहा है। उसे साथ लेते हुए आगे बढ़ रहे थे कि उन्हें एक रथके साथ महाराज इन्द्रदेवके दर्शन हुए। महाराज इन्द्रने कहा कि “रथपर सवार होकर सदैव इन्द्रलोककी चलिये।” महाराज युधिष्ठिरने कहा कि वह

कुत्ता हमारे साथ आया है; प्रथम इसे रथपर चढ़ाइये,
तब मैं चढ़ूँगा । इन्हने कहा—स्वर्गमें कुत्ता नहीं जा
सकता । महायजु युधिष्ठिरने कहा—यदि कुत्ता नहीं जा
सकता तो मैं भी नहीं जासूँगा, क्योंकि यह हमारी
शरणमें आया है । सभी साथ छोड़ गये; परंतु इसने साथ
नहीं छोड़ा; अतः इसे छोड़कर मैं स्वर्गमें नहीं जाना
चाहता । क्योंकि—

सरणागत कहै जे तजर्दि निज अनहित अनुभवि ।
ते भर पौंदर पापाग त्रिन्दुहि विलोकत हानि ॥

इसके अनुसार शरणागतकी रक्षा न करनेवालेको भी
स्वर्गकी शास्ति नहीं होती, ऐसा नियम है—

भीतं भक्तं भान्यदक्षीति धार्तं
प्राप्तं क्षीणं रक्षणे प्राणलिप्सुम् ।
आणत्यागादप्यहं नैव भोक्तुं
यज्ञेयं वै क्षित्यमेतद् ब्रतं मे ॥

अर्थात् भयमीत भक्त जिसे किसी अन्यका आश्रय
न हो, निर्बलताके कारण शरणमें आकर अपने प्राणोंकी
रक्षा चाहता है, ऐसे शरणागतकी रक्षा अपने प्राणोंका
उत्तर्मव करके भी करता चाहूँगा, ऐसा मेया परम ब्रत है ।

जब धर्मायजु युधिष्ठिरने इस मकार इन्द्रसे कहा, तब
जिस धर्ममें कुरुकेका सब धारण किया था, वह मूर्त्तिरूप
होकर सासने उपस्थित होकर कहने लगा—मैं तुम-
पर बहुत प्रसन्न हूँ, तुमने अनेक कठिनाइयोंको झेलते
हुए भी धर्मका परित्याग नहीं किया ।

अतः धर्म ही हमारा इस लोक तथा परलोकका
साथी है । एक कलि कहा है—

मात्रान मेरा जीवन, सदृशसेकृ लिये हो ।
हो जिद्यौ हो लेफिन, उपकारके लिये हो ॥
सुन्दर स्वभाव मेरा दुष्यमनका मन रिहा हो ।
वह देखते ही कह दे, तुम पारके लिये हो ॥
हामें बिनेक जाते, हम धर्मको न मूँहे ।
जाहे हारी नैया महाधारके लिये हो ॥
मन, तुष्टि और तमसे सब जातका महा हो ।
चाहे हमारा यह तिर तहवारके लिये हो ॥
नीतिकारने एक लोक बहुत सुन्दर लिखा है—

चित्ता मित्रं प्रवासे च भार्ता मित्रं शुहेषु च ।
न्यधितस्यौषधं मित्रं धर्मो मित्रं भृतस्य च ॥

अर्थात् परदेशमें मनुष्यके लिये विद्या ही मित्र है
यानी उसके पास कोई दस्तकारी आदि है तो लोग उसका
आदर करेंगे । धर्म आशाकारिणी जी मित्र है । रोग
होनेपर औपच भित्र होगी तथा मरनेवालेके लिये
एकमात्र धर्म ही मित्र है । अतः धर्म ही हमारा सबा
साथी है । धर्माङ्कके ओतागण कहेंगे कि धर्म क्या है
तो धर्मको न बताकर धर्मका सार कहते हैं—

शूद्रतां धर्मसर्वस्वं शुल्का वैवाहिकार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां च समाचरेत् ॥

धर्मका सार सुनकर उसको धारण करना
चाहिये । धर्मका सार है कि अपने प्रतिकूल आचरणका
अस्थके लिये प्रयोग न करे । दूसरोंके साथ वही व्यवहार जरूर
जो स्वयं चाहते हों है । यदि आप चाहते हैं कि हमारी
बहिन-बेटीको कोई दुरी नियाहसे न देखे तो आपको भी
चाहिये कि आप किसीकी बहिन-बेटीको दुरी नियाहसे
न देखें । यदि आप दूसरेका शूल बोलना पसंद
नहीं करते तो आपको भी किसीके साथ शूल व्यवहार
नहीं करना चाहिये । यदि आपको अपनी बस्तुकी चोरी हो
जानेपर कष्ट होता है तो आपको भी दूसरोंकी बस्तुओं
चुरानेका क्या अधिकार है ? यदि बाजारसे मिलावटी बदुके
खीदनेसे ऐतराज है तो आप भी मिलावटी बदुक किसीको
न दें । अर्थात् जैसा व्यवहार आप दूसरोंसे चाहते हों,
वैसा ही व्यवहार दूसरोंके साथ करें । जिस व्यवहार से
आपको कष्ट होता है, वैसा व्यवहार दूसरोंके साथ न करें ।

खेतमें जो आप बोर्डें, वही आपको मिलेगा । इसी
प्रकार गीतजीके अध्याय १३ इलेक १ के अनुसार
सभी प्राणियोंके शरीर खेतके समान हैं । उनके साथ जैसा
व्यवहार करेंगे, वैसा ही आपको प्राप्त होगा । यदि
आप प्राणिमत्रको मुख देंगे तो आपको उसके बदले
में मुख मिलेगा और यदि दुःख देंगे तो दुःख मिलेगा ।
यही धर्मका सार है ।

चार वेद छः शालमें बात मिली है दोष ।
दुःख दीन्हें दुख होत है, सुख दीन्हें सुख होत ॥

धर्मचक्रं प्रवर्तताम्

(लेखक—अनश्वरी सामीजी श्रीभगवद्गीतार्थी वेंकटाचार्यजी महाराज)

धर्मोका मूल

वैदिक संहिताओं, ब्राह्मण-ग्रन्थों, आरण्यकों एवं उपनिषदोंमें 'धर्म'-तत्त्व एवं 'शुण'-तत्त्वकी वक्षयती (परस्पर अनुस्थून) अवस्थाको 'ब्रह्म' शब्दसे अभिहित किया गया है। प्रातिशास्त्र (वैदिक व्याकरण) में ब्रह्म-शब्दकी निष्ठति भी 'विमर्त्ति' धारुसे इस प्रकार की गयी है—विभिन्न कार्यगालाओंको धारण करनेके कारण ब्रह्म 'ब्रह्म' शब्दसे अभिहित है। यतउत्तराहणमें 'ब्रह्म' तत्त्वको 'यजुः' तत्त्व तथा 'आकाश' तत्त्व भी कहा गया है। यही तत्त्व विश्वगत सब द्रव्यों (धर्मों) एवं सब गुणों (धर्मों) का मूल कारण है। 'ब्रह्म' अथवा 'यजुः' अथवा 'आकाश' तत्त्वके आगेव भागसे द्रव्यों (धर्मियों) तथा सौम्य भागसे गुणों (धर्मों) की उत्पत्ति होती है। अधुनात्म दार्शनिक एवं लान्त्रिक परिमाणमें गुण-तत्त्व अथवा धर्म-तत्त्वको 'प्रतिक्रिया'-तत्त्व कहते हैं। अतः गुण, धर्म और शक्ति—तीनों अभिन्न हैं।

धर्म सनातन है

तत्त्व पदार्थोंकी स्वरूपनिरूपिका (स्व-स्वरूप-निष्ठादिका) सहजा शक्ति (धर्म अथवा गुण) ही तत्त्व-पदार्थोंका सनातन धर्म है। यही धर्म तत्त्व पदार्थका रखक भी है। इस स्वरूपनिष्ठादिक धर्मके किसी भी कारणसे अभिभूत अथवा उच्छित्त हो जानेपर विश्वका कोई भी पदार्थ स्व-स्वरूपमें प्रतिष्ठित नहीं रह सकता। स्वरक्षक धर्मके अभावमें वह सदाके लिये विलीन हो जाता है। धर्मके इस स्वरूपका दर्शन करते हुए आत्मतन कहते हैं—‘धर्मो हि वीर्यं ज्ञियते हि धर्मो इत्तो धारयते हि स्वप्नः धर्म एक शक्ति है। स्वरूपस्त्राम तथा स्वरूपकी रक्षाके लिये पदार्थद्वारा धृत होनेसे वह ‘धर्म’ है। पदार्थद्वारा धृत धर्म ही पदार्थोंका रक्षण करता है, अतः वह विश्वकी प्रतिष्ठा है। धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा’ एवं ‘धर्मो रक्षति रक्षितः’ आदि आत्म-वचनोंका मूल उपर्युक्त विज्ञान ही है। विश्वगत ये शक्तियाँ पदार्थोंकी सहभाविनी होनेसे नित्य हैं। अतः धर्मोंकी नित्य (सनातन) कहा गया है। कदाचित् वह स्वरूपका निलक्षक धर्म तिरोहित अथवा

उच्छित्त हो जाय तो पदार्थ कथमपि अपनेको प्रतिष्ठित नहीं रख सकता—‘धर्म एव हतो हन्ति’।

धर्मोंका सामान्य-विशेष रूप

‘निर्विद्वेषं न सामान्यम्, पुर्वं विवरमान्यं न विसेषं’ व्यायदर्शनके इन दो नियमोंके आधारपर यह विद्वान्त श्विर किया गया है कि किसी भी सामान्य धर्मका विकास उसके विशेष रूपमें ही उदा हो सकता है। विशेष धर्मकी स्थिति भी सामान्य धर्मके आश्रय बिना अशक्त ही नहीं, असम्भव है। वृक्षमें विषमाल वृक्षस्त्ररूप सामान्य धर्मकी उपलब्धिः उसके विशेष रूप आप्नत्व, वटत्व, शिशपात्र एवं निष्ठत्व आदि रूपोंमें ही होगी। आप्नत्व, वटत्व एवं निष्ठत्व आदि विशेष धर्मोंकी उपलब्धिः भी सामान्य धर्म—वृक्षस्त्रसे आस्कन्दित खलूपमें ही होगी। अतः धर्मोंका सामान्य एवं विशेष उभयात्मक रूप है।

भानवताके विशेष रूप

भ्रकन्त्र व्यायदर्शनके नियमोंके अवलम्बनपर विचार, विवेक, सुमति, २० प्रकारकी मर्यादाएँ, शायदभावि रुण, स्वर्ध-अस्त्यादिद्वेषाभाव, धृति, क्षमा, दम, अस्तेष्ट, शौच, इन्द्रिय-निग्रह, ही (अकार्यसे निवृत्ति), विद्या, सत्य (भूतहितकारी किया), अकोष, अनसूया (परगुणोंसे प्रसन्न होना), माङ्गल्य (विश्वकी कल्याणकामना), अनायास (किसीको कष्ट न पहुँचाना), अकार्पण्य, असृष्टा, दान, रक्षा, सेवा, हितवादिता, स्वात्माय, साधुर्य, मधुरभाषण, श्रद्धा, आस्तिक्य, अदम्भ, मैत्री, करणा, मुदिता, उपेक्षा, विनय, एकपक्वीत्व, पातित्रत्य, गुरुसेवा, राष्ट्रसेवा, अभय, श्रावणत्व, क्षत्रियत्व, वैश्यत्व, शूद्रत्व, पितॄत्व, मातृत्व, पतित्व, पत्नीत्व, पुत्रत्व, आतृत्व, सेवकत्व, सेनापतित्व, सैनिकत्व, राजत्व, उपासकत्व, अहिंसा, ग्रहन्यर्च, अपरिग्रह, तप, ईश्वरप्रणिधान, गार्हस्त्रा एवं संन्यास आदि सानवताके विशेषरूप हैं। सानवताका द्वय भी दर्जन होगा, तब उसके विशेषरूप पितॄत्व, मातृत्व, करणा, मैत्री एवं मुदिता आदिके रूपोंमें ही होगा। अपने विशेष रूपोंसे अनवच्छिन्न सानवता कदापि क्विदिपि उपलब्ध नहीं होगी। सानवताको छोड़कर उसके विशेष रूपों—दया, क्षमा, शौच एवं अनसूया आदिके दर्जन मी कहीं भी नहीं होगे।

सानवताके विशेष स्पष्ट सनातन और विश्व-व्याप्त हैं

सानवताके विशेष रूप हैं पुष्टि, स्वतिः, समति:, धूति, धनोऽन्तोः, शूद्रिः, दद्यः, प्रतिष्ठाः, कीर्ति एवं किया आदि विश्वधरक प्रकृतियों लंबा होनेमें सनातन एवं विश्वमें व्याप्त हैं। प्रकृतियों कौनसी जल्द हिन्दूमें विभाग उड़-चैक्र पश्चायोंकी रक्षा करती है—इन्हा उन्नद विशेष व्रह्म-वैदर्युत्याणके प्रकृतिलक्षणमें उत्तमव्यय है। पुष्टियोंका कहना है कि प्रकृतियों पुष्टियोंकी (धनं) विश्वके पश्चायोंकी कीमतावें रक्षा करती है। तुष्टिवर्ण (शक्ति) विश्वके पश्चायोंकी स्वरूप-स्थितिमें रक्षा करता है। स्वयंत्रिःशक्ति विश्वके पश्चायोंकी दायित्व (दुर्गनि)एवं रक्षा करती है। धूतिः-धर्म विश्वके पश्चायोंकी विश्वायित्वमें रक्षा करता है। धूमोऽधर्म विश्वके पश्चायोंकी स्पष्ट एवं उत्तमदर्शे रक्षा करता है। धर्मिः-कला विश्वके पश्चायोंकी उद्देश्य (भूतत्व) एवं रक्षा करती है। पुष्टिः-धर्म विश्वके पश्चायोंकी अन्तेस्थितीमें रक्षा करता है। धूतिः-धर्म विश्वके पश्चायोंकी निरुत्तमसे रक्षा करता है। धूतिः-कला विश्वके पश्चायोंकी उच्छेष्टत्वमें रक्षा करता है। धूतिः-कला विश्वके पश्चायोंकी द्वैपत्ते रक्षा करती है। धूतिः-धर्म विश्वके पश्चायोंकी स्वरूपसे रक्षा करती है।

सनातन धर्मोक्ता विश्वकी रक्षामें सहयोग

सनातन-धर्मके पात्न्यन्त शुद्ध व्रह्मवैदर्योंके व्याख्यारम्भ कृष्ण व्यंग्यमें उत्तरितिहृष्ट है। अन्यान्य पुराण नीं अपनी प्राकृत भाषामें सनातन-वर्णके विश्वलक्ष्में पात्न्यस्ते विश्वव्याप्तमें चृष्टियोग्यता वर्णन कर रहे हैं। उनका कहना है कि विश्वव्याप्त धर्मकी १३ प्रजिनीं (शक्तियाँ) हैं। भासवंत्र्यं इनका धूप-रूपमें विकास हुनियद विश्वमें शुद्ध, समृद्धि एवं व्यास्तिकी वर्णन होती है। धर्मकी १३ प्रजिनीं (शक्तियों)के नाम तथा उनके नामानन्दे विकासका फल इस रूपमें पुष्टियोंमें उत्तराध्यय है—

अहु मैत्री इता शान्तिस्तुष्टि: पुष्टि: किलोन्तिः।
शुद्धिमेत्या तितिक्षा हृष्टिर्वर्मलः पत्तयः॥
श्रद्धासूत् शुद्धं नैको प्रसादस्मयं दद्या।
शान्तिः सुखं सुद्धं हुष्टि: सर्वं पुष्टिरस्त्रतः॥
धूतिः श्विष्योन्तिर्वैपनयं उद्दिरस्त्रतः।
मेधा स्त्रीवितिक्षा तु क्षेमं हीः प्रदर्शं सुत्तम्॥
मूर्तिः उर्चसुगोप्तिर्वरनाराधगवृत्ती।

धर्मकी पक्षी (शक्ति) अद्वारे विश्वमें शुद्ध (कल्याण) का उंचार होता है। कल्याणकी प्रतिष्ठावें विश्वमें विश्वनान अकल्याणका नाम होता है। धर्मकी पक्षी मैत्रीवें विश्वमें धनाद (प्रसादस्ता)का संचार होता है। प्रसादताका उंचार उद्देश्यों नद कर देता है। पृथ्वीवैक्षणें विश्वमें अचाल और आधिरैक्षणें अमयका उंचार एवं नवका विनाश होता है। व्यासिंश्चतिसे रिष्ट्वैवं ब्रह्मान्दर्म सुखका संचार होता है। व्यासिंश्चतिसे अमयका उंचार होता है। व्यासिंश्चतिसे अमयके उंचारसे अचालित और दुर्लक्ष नष्ट हो जाते हैं। पुष्टियोंकी विश्वमें उद्द (धान्द) का उंचार होता है। किंवा शक्तिसे विश्वमें उद्योगका उंचार तथा अल्लयका विनाश होता है। उल्लास-शक्तिसे विश्वमें दूर्प (रत्ताह) का उंचार तथा अतुस्यादका विनाश होता है। उद्दिष्ट-शक्तिसे विश्वमें इष्ट (मुख) की प्राप्ति तथा अनिष्टका विनाश होता है। धर्मकी पक्षी मैत्रासे विश्वमें ललंका उंचार तथा अपसारका विनाश होता है। धर्मकी पक्षी परिषद-शक्तिसे विश्वमें देनका उंचार तथा लक्ष्मीका विनाश होता है। धर्मकी पक्षी धृष्टि से विश्वमें विनाश होता है। धर्मकी शक्ति नृत्यसे विश्वमें उत्तुष्टियोंकी उत्तराध्यय होती है। धूतिः स्थानमें ही विष्वान्देशेन सर तथा ब्रह्मान्दावच्छेदेन नारायण-की चम्प दिया है। विश्व सानवतें धूतिः-शक्तिका विकास होता है। उसके सब धूर्षण नष्ट हो जाते हैं।

दे सब नियन धर्म और नियमभेदते दो भागमें विभक्त हैं। इनमें यमोंका पालन परमानन्दक है। कैवल नियमोंका पालन यमोंके पालनके विना वर्ध्य हो जाता है।

चमाद् उद्देश लततं व नित्यं नियमाद् धृष्टः।
यमाद् पतञ्जल्याणी नियमाद् कैवलाद् भजन्॥

(मछ० ७)

धर्म और मृत

विश्वव्याप्त असामिया वैसामन्त्र एवं परत्तर अविभासके अनेक कारणोंमें धर्म और मदमें अपैदमह मी अन्वतम कारण है। त्रिविक्ष्य तीर्थों पात्नान्दृश्यमें धर्म और मदके भेदका स्वप्न विद्येश करपे हुए आहा है कि ‘‘भवका विषय—जृष्ण प्रकृतिः नैव और नोऽनु—ये चार प्रार्थ्य ही हैं। नतका तमस्य उत्तरानाभागते हैं। उत्तरानाका सम्बद्ध गमसे है। मनके निषुग्गालक होनेसे उपासनामें नेद हो जाना सामान्यिक है। धर्मके नियन दंस्कारक होनेसे प्रकृतिके नियमोंसे उम्मन्त्र

रखते हैं, जो सभी मतके उपासकोंके लिये आवश्यक हैं। मैथी, दत्ता, त्रुषि एवं तितिक्षा आदि सभी उपासकोंके लिये आवश्यक हैं। धर्म-नियमोंके अनुकूल मत ग्राह्य एवं उपकारक है। धर्मविरोधी मत अग्राह्य एवं विनाशक है।”

किसी भी मतद्वारा इसके उपासकके लिये आठ

प्रकारके सामान्य धर्मोंका पालन करना भवुहरिने आवश्यक माना है। अहिंसा, अस्तेय, सत्य, दान, एकपलीब्रत, संतोष, विनय एवं दया—इनका पालन अनिवार्य है। व्यष्टि और समष्टिके सुख, शान्ति एवं समृद्धिके लिये विश्वमें धर्मचक्रका प्रबर्तन परम आवश्यक है। विश्व-कल्याणके लिये “धर्मचक्रं प्रबर्तताम्”में सहयोग देना महती सेवा है।



धर्म-अनुशीलन

(अवनन्दश्री वगङ्गारु रामानुजाचार्य आचार्यपीठाभिषिधि स्वामीजी श्रीराधवाचार्यजी सद्वापुज)

अनन्त अपौरुषेय वेदमें “धर्मों विश्वस्य नगतः प्रसिद्धा” कहकर धर्मको विश्वकी—जगत्की प्रसिद्धा बताया है। जगत्में ऐसा कोई पदार्थ नहीं, जिसमें धर्म विद्यमान न हो; ऐसा कोई तत्त्व नहीं, जिसमें धर्मकी सत्ता न हो। धर्मकी वह व्यापकता तत्त्व धर्मशाश्वदेस प्रकट है। इसकी व्युत्पत्ति है—(१) धरति इति धर्मः अर्थात् जो धारण करता है, वह धर्म है। (२) श्रियते अनेन इति धर्मः अर्थात् जिसके द्वारा धारण किया जाय, वह धर्म है।

धर्मका वह धारण करनेका कार्य प्रकृतिके कण-कणमें निरन्तर चलता रहता है। प्राणिभानकी नैतिकीक प्रगति इसीके अधीन होती रहती है। प्रकृतिकी सर्वोत्कृष्ट कलाकृति मानवमें इसीकी अभिव्यक्ति मानवताके रूपमें होती है और इसीके बलपर मानव अम्बुद्यमें लेकर श्रेष्ठतक समादान करनेमें सफल होता है।

विश्वचारी जीवनके प्रवाहमें धर्मका अवेषण करनेपर दो तथ्य उपलब्ध होते हैं—(१) गति और (२) स्थिति। गतिका परिचय जड़-चेतन-संयोगमें मिलता है। जगत्की यमनशीलता इसी संयोगपर निर्भर करती है। गतिके निवान्त अभावका नाम स्थिति है। जड़ प्रकृतिमें उत्सक्त धर्म रहता है। प्रकृतिको इसका ज्ञान नहीं होता। कारण, प्रकृति जड़ है। चेतन अपने धर्मभूत ज्ञानके सहारे अपने स्वस्त्र एवं अपने धर्मका अनुभव कर सकता है। वही अनुभूति उसकी त्वाभाविक स्थिति है। धर्मशास्त्रकारोंने गति और स्थितिको प्रवृत्ति और निवृत्तिकी सहा दी और निवृत्तिकी चरमावस्थामें वास्तविक स्थितिका अनुभव किया। इस प्रकार एक ही धर्मके दो रूप हो गये—एक प्रवृत्तिपरक और दूसरा निवृत्तिपरक।

अनन्त अपौरुषेय वेदके द्वारा शूष्यियोने धर्मके इन दोनों रूपोंका ज्ञान प्राप्त किया। वेद चार हैं—(१) ऋग्वेद, (२) यजुर्वेद, (३) सामवेद और (४) अथर्ववेद। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद्—इन चार विभागोंमें वेदकी अक्षरराशि विभक्त है। शूष्यियोने (१) शिला, (२) व्याकरण, (३) निश्चल, (४) छन्द, (५) च्योतिप और (६) कल्प—हन छः अङ्गों एवं (१) धर्मशास्त्र, (२) पुराणेतिहास, (३) त्याग और (४) मीमांसा—इन चार उपाङ्गोंके द्वारा वेदवाद्यको अलंकृत किया है।

साङ्घोपाङ्ग वेद एवं तत्प्रतिपादित धर्मकी अविच्छिन्न परम्परा आज भी धरादलपर विद्यमान है। भारतदेशको, जो कि विश्वका हृदय है, इसे सुरक्षित रखनेका गौरव प्राप्त है। धर्मनिष्ठ समाजने वंशपरम्परा तथा गुरुपरम्परा दोनों ही प्रकारसे इसे अक्षुण्ण रखता है। वंशतः जहाँ हम आदि मानवसमाजके उत्तराधिकारी हैं, वहाँ गुरुपरम्परातः हमने गुरुपरम्परागत उपदेशको जीवित रखता है। कहना न होगा कि वेद और धर्म दोनोंका सम्बन्ध गुरुपरम्परागत उपदेशसे है। गुरुपरम्परागत उपदेशको ही सम्प्रदाय कहते हैं। वेदकी जितनी शास्त्राद्य है, वेदके उत्तने ही सम्प्रदाय हैं। ये सम्प्रदाय श्रौत हैं। धर्मशास्त्रोंको सूति कहते हैं। इनकी भी अल्प-अल्प परम्पराएँ हैं। पुराणों और आगमोंको भी सूतिकी कोटिमें गिन लिया जाता है। इनकी भी अल्प-अल्प परम्पराएँ हैं। उपनिषद्दोनोंमें अल्प-अल्प ब्रह्मविद्याएँ मिलती हैं। प्रत्येक ब्रह्मविद्याकी अपनी परम्परा है। इन समस्त परम्पराओं एवं सम्प्रदायोंकी मणना धर्मके अत्तर्गत होती है। इस युगके आरम्भ

होनेके पूर्वी ही महर्षि वेदव्यासने देवताओंको व्यस्त तथा वेदान्त-को सूक्ष्मवद करके खर्मके प्रवृत्तिग्रन्थ एवं निष्ठुरित्प्रक क समस्त सम्प्रदायोंका सामग्रज्य स्थापित किया था । ऐसा करनेमें उन्होंने जिस मीमांसा-पद्धतिका आश्रय लिया था, उसमें कर्म-मीमांसा और दैवत-मीमांसाके बाद उनके सूक्ष्मवद्वान्थको ब्रह्ममीमांसाका पद मिला था । कर्ममीमांसाके सूक्ष्मकार ये महर्षि काश्चक्रस्तुत । जैसा कि कहा है—

कर्मदेवता भ्रह्मोचरा सा विषेषद्वयी सूक्ष्मकारतः ।
जैमिनेस्तुते: काश्चक्रस्तुतः वादव्यायादिध्यतः क्रमात् ॥

महर्षि जैमिनिने धर्ममीमांसाके बारह अध्यायोंमें वेदविद्वित कर्मकी मीमांसा की । महर्षि काश्चक्रस्तुतने दैवत-मीमांसाके चार अध्यायोंमें क्रमशः देवताओंके स्वरूप, उनके भेद, उनकी उपासना तथा उनकी उपासनाके फलकी मीमांसा की । महर्षि वादव्यायण व्याख्यने चार अध्यायोंमें लक्ष्मी मीमांसा की । कर्म साध्य-धर्म है और त्रिष्णु सिद्ध-धर्म है । दैवत-मीमांसा साध्य-धर्मको सिद्ध-धर्मसे जोड़नेवाली कही है । इस प्रकार वीस अध्यायके मीमांसाद्वाल्को एक शास्त्र मानकर महर्षि वेदाध्यन, टड्डुमुनि एवं अस्त्रार्थ द्रमिदने कर्मकाण्ड और ब्रह्मकाण्डके सामग्रज्यका प्रतिपादन किया । आगामुरु श्रीरामानुजाचार्यने इसी परम्पराका अनुसरण किया है ।

वैदिक कर्मकाण्डका सम्बन्ध है दैवताओंसे । दैवताओंके अन्तर्भीमी है परत्रात् । इस प्रकार कर्मकाण्डका पर्यवसान होता है दैवत-काण्डमें और दैवतकाण्डका पर्यवसान होता है ब्रह्मकाण्डमें । यह सामग्रज्यकी एक पद्धति है । महर्षि वेदव्यासने निता महर्षि पराशरने—

कर्म च: पितॄस्यधिविष्टहुसं हृष्णं च भुद्भूक्तेषिमुः ।
देवत्वे भगवान्दिनिधनः स्वाहास्त्रासंज्ञिते ॥

—कहकर इसी पद्धतिका प्रसिद्धाद्दन किया है । उनके कथनका आश्रय यह है कि अनादिनिधन विषु भगवान् श्रीहरि स्वभासेशक कब्जको पितॄस्यसे तथा स्वाहासेशक हृष्णको देवरूपसे ग्रहण करते हैं ।

अहं हि सर्वथज्ञानां भोक्ता च भ्रमुरेष च ।

अर्थात् मैं समस्त यज्ञोंका भोक्ता एवं प्रभु हूँ, कहकर भगवान् श्रीकृष्णने इसका अनुमोदन किया है ।

पुराणोंने विभिन्न सम्प्रदायोंके प्रतिप्रापक आचार्योंको अवतारपुरुष बताकर एक दूसरी पद्धति प्रस्तुत की है । उदाहरणार्थ जैसे—

शंकरः शंकरः साक्षात्त्वेषो रामानुजः स्वरम् ।
भद्राचार्यः स्वयं ब्रह्म………………॥

अर्थात् श्रीशंकरचार्य साक्षात् शंकर थे । श्रीरामानुजाचार्य शेषके अवतार थे । वितामह ब्रह्मने मन्त्राचार्यके हृष्में अवतार अहण किया था ।

पद्धति कोई भी क्यों न हो, अमीष है धर्मके अन्तर्गत आनेवाले सम्प्रदायोंका सामग्रज्य । साङ्गेषोऽप्ने देके गुरुपरम्परागत उपदेशसे सम्बन्ध होनेके कारण, यह सामग्रज्य स्वतंसिद्ध है ।

वास्तवमें लोकसे परलोकतक, व्यवहारसे परमार्थतक, व्यक्तिसे समाजतक ऐसा कोई लक्ष्य या उद्देश्य नहीं जो पुरुषार्थ-चतुष्पक्षके अन्तर्गत न थाता हो । हमारे धर्म-शास्त्रकारोंने धर्म, अर्थ, काम और सोशके रूपमें पुरुषार्थ-चतुष्पक्षको मानव-जीवनका लक्ष्य निर्धारित किया । अर्थ और कामको धर्म-नियन्त्रितकर उन्होंने मानवके लिये धर्मभूत जीवनका विधान किया । प्रवृत्तिसे निष्ठुतिकी ओर इस आधारपर उन्होंने जीवनकी व्याख्या की और मानवको परम पुरुषार्थकी ओर अभियुक्त होनेकी प्रेरणा दी । जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें साध्य-धर्मका अनुष्ठान और सिद्ध-धर्मका चिन्तन करता हुआ साधक अपने धर्मभूत जीवनको पूर्णरूपसे विकसितकर अपने स्वरूपगत धर्मको अनुभव करनेमें समर्प होता है ।

जीवनेकी इच्छा आनन्दकी वाक्षाल्ला और अमरत्वकी कामनाको लेकर आरम्भ हुई । जीवनयात्रामें धर्मभूत जीवन व्यक्तिको सर्वधार, सर्वनियन्ता, सर्वदोषी, सर्वात्मा भगवान्की और अभियुक्त करता है । इस आभियुक्तीपूर्ति आत्मसमर्पण-यज्ञमें होती है, जिसके समन्वय होनेपर आनन्दतिन्दु मगवान् चेतनविन्दुमें सदा के लिये अनन्त आनन्दानुभूतिरूप धर्मकी प्रतिष्ठा कर देते हैं ।

धर्म

(लेखक—महात्मा श्रीसीतारामदास औंकारनाथजी गदाराज)

विशालविश्वस्य विधानशीर्जं
वरं वरेष्यं विधिविष्णुश्चैः ।
वसुं भगवाचारिविभावहि—
वासुस्वरूपं प्रणवं विवन्दे ॥

धर्म क्या है ?—‘विश्वे येन स धर्मः’ । जिसने इस
विश्व-ब्रह्माण्डको धारण किया है, वह धर्म है ।

ऋग्वेदमें लिखा है—

श्रीणि पदा विचक्षेषे विष्णुर्गोपा अद्वात्मः ।
अस्ते धर्माणि धारयन् ॥

(ऋक्-सहिता १ । २३ । १८)

अर्थात् परमेश्वरने आकाशके द्वीनमें विष्णु-परिमित
स्थानमें विलोकका निर्माण करके उनके भीतर धर्मों
(जगन्निर्वाहक कर्मसमूहों) को स्थापित किया ।

अज्ञेन अज्ञस्वजन्त देवास्तामि धर्माणि प्रथसाम्यासन् ।

(ऋग्वेद १० । १० । १६)

‘यज्ञके द्वारा यज्ञपुरुषकी देवताओंने पूजा की थी, यह
प्रात्ययिक धर्म था ।’ देवलोककी प्रेरणासे मनुष्य-न्योकमें यज्ञ
प्रवर्तित हुआ ।

ईशोपनिषद्में लिखा है—

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्वापिहितं सुखम् ।
तत्त्वं एषन्तपावृणु सत्यधर्मीय इष्टये ॥

(१५)

‘व्योतिर्मय यात्रके द्वारा सत्यका (अर्थात् आदित्य-
महाद्वच्य व्याहृति-अवश्यक पुरुषका) मुख (मुख्य-स्वरूप)
आवृत है । हे जगत्के परिपोषक सर्वदेव ! सत्यस्वरूप त्रुम्हारी
उपासनाके फलसे सत्यस्वरूपकी मेरी उपलब्धिके लिये उस
आवरणको हटा दो ।’

देवैरत्रापि विचिकित्सितं तुरा
त हि सुशैयमालुरेष धर्मः ।

(कठ० ८० १ । १ । २१)

नचिकेता आत्मशानकी प्राप्तिके अधिकारी हैं या नहीं—
यह फरीद्धा करनेके लिये यमराज कहते हैं—

‘इस तत्त्वके विषयमें सुष्टिकालमें देवगणको भी सदेह

हुआ था; क्योंकि यह आत्मात्म धर्म सूक्ष्म होनेके कारण
सुविदेश नहीं है ।’ इस मन्त्रसे धर्म आत्माके नामसे कथित
हुआ है ।

एतद्बूत्वा सम्परिगृह्ण भल्यः
मवृद्ध धर्म्यमणुमेत्मान्य ।

(कठ० १ । २ । १३)

मनुष्य इस आत्मतत्त्वको श्वरण करके, भैं ही आत्मा
है—इस प्रकार उसको सम्यक् ग्रहण करके पश्चात्
आत्मशानल्पी श्रेष्ठ धर्मकी सहायतासे प्राप्त उस आत्माको
वेदादिसे पृथक् उपलब्ध करता है ।

यहाँ तत्त्वशास्त्रको ही धर्म कहा है ।

भन्यत धर्माद्यन्नाधर्माद्यन्नासाद् कुताङ्गसाद् ।

(कठ० १ । २ । १४)

इस भन्तमें शास्त्रीय अनुष्ठानको धर्म कहा है ।

थथोदके बुर्गे बृद्धम् ।

(कठ० २ । १ । १४)

‘पुर्गम पर्वत-द्विवरपर वर्षित दृष्टिधाय जिस प्रकार
निम्नतर पहाड़ी प्रदेशमें फैल जाती है, उसी प्रकार जो व्यक्ति
‘धर्मस्त् अर्थात् सत्य प्राप्तियोंको……’ ।’ इस मन्त्रमें उपनिषद्-
माताने धर्म शब्द प्राणीके अर्थमें प्रयुक्त किया है ।

सत्यं चर । धर्मं चर ।

(तैतीतीव० २ । ११ । २)

सत्य बोलो । धर्म (अनुष्ठेय कर्म) का आचरण
करो ।’ इस स्थानमें ‘धर्म’ शब्द अनुष्ठेय कर्मके अर्थमें है ।

स च प्रसदेवं विद्वान्—

(छान्दोग्योपनिषद् २ । १ । ४)

‘जो कोई इस प्रकार जानकर साधुगुण-विशिष्ट रूपमें
आपकी उपासना करता है, उसके पास सारे उच्चम धर्म
(पुण्यसमूह) अतिशीघ्र आ जाते हैं और उसके
भोग्य रूपमें अवस्थान करते हैं ।’ यहाँ धर्म-शब्द पुण्य अर्थमें
आया है ।

स चैव व्यभवत् तच्छ्रौयो रूपमत्यसूजत धर्म—

(शहदारण्यक २ । ४ । १४)

वे तथ भी सक्षम न हुए, उन्होंने श्रेष्ठस्वरूप सबके लिये कशाणग्रद धर्मकी भूषिति की । यह धर्म ही क्षत्रियका क्षत्रिय अर्थात् नियन्ता है । अतएव धर्मसे ब्रेष्ट कुछ भी नहीं है । राजाकी सहायतासे जैसे कोई दूसरेको जीत लेता है, उसी मकार धर्मकी सहायतासे दुर्बल मनुष्य सबको जीतनेकी क्रमना करता है । वह धर्म ही सत्य है । इसी कारण जब कोई सत्य बोलता है, तब ज्ञानी लोग कहते हैं कि यह धर्म कहता है और धर्म बोलनेपर कहते हैं कि यह सत्य कहता है; व्याख्याकि धर्म ही यह दोनों ही जाता है ।

श्रुतिमता धर्मस्वरूप है । धर्म आत्मा है, धर्म तत्त्वज्ञान है, धर्म प्राणी है, धर्म शास्त्रविधिरूप है; धर्म पुण्य है, धर्म सत्य है । दृष्ट-अदृष्ट रूपमें धर्म ही कार्य उत्पादन करता है, इत्यादि वाचं कही गया ।

ननिचेत्नाने यमसे कहा, आपने धर्मसे अन्य, अधर्मसे अन्य, कार्यकारणसे पृथक् तथा भूत, भविष्यात् और चर्तमानसे भी पृथक् जिस वस्तुको प्रत्यक्ष किया है, उसे मुक्तको कहें । (कठोपनिषद् १ । २ । २४) यमने कहा—

सर्वे वेदा यद्यद्मामनन्ति
तपासि सर्वाणि च यद् वदन्ति ।
यदिच्छन्तो व्रह्मचर्यं चरन्ति
तत्ते पदं संग्रहेण ब्रह्मीयोमिल्येतत् ।

(कठ० १ २ । २५)

जिसको सारे वेद परम चान्द्रित बतलाते हैं, निखिल तपस्या जिसकी प्राहिका उपाय है, मनुष्य जिसको प्राप्त करनेके हेतु व्रह्मचर्यका व्याचरण करते हैं, वह परम ईप्सिततम वस्तु पुरुषोत्तम अङ्कार है ।

पर और अपर व्रह्म हस्त अङ्कारको जानकर जो जिस वस्तुकी इच्छा करेगा, इसके द्वाय उसे पायेगा । यह सर्वश्रेष्ट आलमन है । पर और अपर व्रह्म—दीनोंका यही आश्रय है । जो हस्त अङ्कारकी उपासना करेगा, वह व्रह्मलोकमें पूर्णित होगा । (कठोपनिषद् १ । २ । १६-१७)

पूर्ण है सत्यकामं परं चापरं च व्रह्म चदोंकारः ।
तमाद् विद्येनेत्याशतवैर्णैकतरमन्वेति ॥

(प्रश्नोपनिषद् ५ । २)

‘हे सत्यकाम ! ये जो पर और अपर व्रह्म हैं, ये दोनों अङ्कारस्वरूप हैं । इसी कारण शानदान् व्यक्ति अङ्कारका अवलम्बन करके अपने अभिलिप्ति पर या अपर व्रह्म अङ्कारको आत्मस्वरूपमें प्राप्त करता है ।’

ओमिल्येतद्वशरमिदंसर्वम् । हस्योपन्याल्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोक्षकार एव । चक्षान्यत्रिकालातीतं सदृप्तं कार एव ।

(माण्डूष्योपनिषद्)

‘ॐ—यह अङ्कर (वर्ण) ही जगत् तथा सूः-भुवः-स्य-स्म निमुक्तन—सद कुछ है । इसकी सुसमृष्ट व्याख्या यह है कि अतीत, वर्तमान तथा भविष्यत् जो कुछ है, वह अङ्कार ही है । इससे अतिरिक्त जो कुछ विकालातीत है, वह भी अङ्कार ही है ।’

अङ्कारके सिवा और कुछ नहीं है । लावर-जङ्गम—पूर्व कुछ अङ्कार है । उद्दिज्ज्ञ, स्वेदज्ञ, अण्डज्ञ, जरायुज—समस्त प्राणियोंके रूपमें तथा नदननदी, पर्वत, लौह आदि स्थावरलूप बनकर वही विराजमान हो रहा है । यह अङ्कार ही परमार्थके सारस्वरूप अद्वैत ब्रह्म है ।

परमार्थसारभूतं यद्द्वैतमशेषतः ।
धर्म इस अङ्कारका ही नाम है ।
उक्तसुक्ष्यकरश्चोक्त्या व्रह्मक्षत्रिविन्तिः ।
धर्मोऽधर्मस्त्रैरो धर्मोऽधर्मो धर्मपरायणः प्रभावः ।
(अङ्कारसहस्रनाम, प्रणववल्मी)

त्रीष्ठ संहिताएँ तथा मनु, अविदि, विष्णु, हारीत, वाशवद्य, वायुसु, वाहू, लिंगित, दक्ष, गौतम, शात्रात्म, विष्णु, प्रजापति, लघुशङ्ख, औक्षनस, वृहद् यम, लघु यम, अरुण, अग्नि, आङ्गिरस, उत्तराङ्गिरस, कपिल, लघ्वाशक्लविन, वृहद् हारीत, लोहित, दाल्य, कष्ट, वृहत्परायन और नारद—ये समृतियाँ हैं । इन सबक्षण नाम धर्मशाल है । श्रीमनुभगवान्ने मनु-संहिताके प्रथम व्याख्यायमें आत्मशानको ही प्रकृष्ट धर्म वस्तुया है । उसको ग्राप्त करनेके लिये उपनयन आदि संस्कार आवश्यक हैं, वह बतलानेके पहले धर्मका लक्षण बतलाते हैं—

विद्विः सेवितः सम्हित्यमहोपरागिभिः ।
इद्येनाप्यनुशास्तो यो धर्मसं निवेष्टत ॥

(मनु० २ । १)

जो धर्म राग-द्वेषविहीन साधुचरित विद्वानोंके हारा अनुष्ठित होता है तथा जिसको हृत्य अनुष्ठोदन करता है (जिससे हृदयमें किसी प्रकारकी विमति नहीं आती), उस धर्मको मुनो ।

धर्मका मूल अथवा प्रमाण—
वेदोऽस्तिलो धर्मसूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।
शाचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव च ॥

(मनु० २ । ६)

प्तारे वेद, वेदोंकी सूतियाँ, उनके शील (ब्रह्मण्डता आदि तेरह गुण), साधुजनके आचार तथा आत्मतुष्टि—ये कातिपय धर्मके मूल या प्रमाण हैं ।

श्रुतिस्तु वेदों विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः ।
ते सर्वधैर्यमीमांस्ये साभ्यां धर्मो हि निर्विचौ ॥

(मनु० २ । १०)

वेदोंका नाम है श्रुति, धर्मशास्त्रोंका नाम है स्मृति । सब विषयोंमें इन दोनों शास्त्रोंके विषय तर्क के द्वारा भीमांसा अभिप्रेत नहीं है; क्योंकि श्रुति और स्मृतिसे धर्म स्वयं प्रकाशित हुआ है ।

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमास्तनः ।
पुतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षात्धर्मस्य लक्षणम् ॥

(मनु० २ । १२)

वेद, स्मृति, सदाचार तथा आत्मतुष्टि—ये चार धर्मके साक्षात् लक्षण (प्रमाण) श्रूतियोंने विदेश किये हैं ।

अर्थकानेष्वसक्तानां धर्मज्ञानं विद्धीयते ।
धर्मं जिज्ञास्यमननानां प्रमाणं परमं श्रुतिः ॥

(मनु० २ । १३)

‘यथार्थ धर्मका ज्ञान उनको ही होता है, जो अर्थोंऔर काममें आसक्त नहीं होते और धर्मकी जिज्ञासा करनेवालोंके लिये वेद ही प्रकृष्ट प्रमाण है ।’

सत्यशुगमें एक प्रकारका धर्म या, वेताशुगमें दूसरे प्रकारका, द्वापरमें अन्य प्रकारका और कलिशुगमें और ही प्रकारका धर्म है । जैसेजैसे शुगका हास होता जाता है, उसी प्रकार धर्मका भी हास होता है । (मनु० १ । ८५)

सत्यशुगमें धर्म तपत्याप्रधान होता है, वेतामें ज्ञान-प्रधान होता है, द्वापरमें यज्ञप्रधान होता है वथा कलिशुगमें दात ही एकमात्र धर्म है । (मनु० १ । ८६)

बर्णधर्म, आश्रमधर्म, गुणधर्म, नैमित्तिक धर्म, पुरुषधर्म, स्त्री-धर्म आदि सब धर्मोंके विषयमें भगवान् मनु आदि त्रिहिताकारीमें लिखा है—

आर्यं धर्मोपदेशं च वेदशास्त्राविरोधितः ।
यस्तक्षेणात्मसंबन्धते स धर्मं वेद नेतरः ॥

(मनु० २२ । १०६)

वेद और वेदसूलक स्मृति आदि शास्त्रोंके उपदेशका जो अविवेधी तर्क के द्वारा अनुसंधान करता है, वही धर्मके स्वरूपको जान सकता है ।

चारों आश्रमोंके साधारण धर्म—

धृतिः शमा दमोऽस्तेयं शौचसिन्दृयनिश्चहः ।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनु० ६ । १२)

“स्मृति (धैर्य) अर्थात् चंतोप, शमा अर्थात् सामर्थ्य रहते हुए भी अपकारीका अपकार न करना, दस अर्थात् विषयोंका संरक्षण होनेपर भी मनको निर्विकार रखना, अस्तेय अर्थात् काय, वचन और मनसे परद्रव्यको न तुराना, शौच अर्थात् शाश्वतुसार मिट्टी-जल आदिके द्वारा ऐहशुद्धि, इन्द्रियनिश्चह अर्थात् यथेच्छ विषयमोगसे हटाकर अलौकिक विषयकी प्राप्तिके लिये शाळा-सम्मत मार्गसे इन्द्रियोंको ले चलना, धी अर्थात् आत्मविषयिणी बुद्धि—मैं शरीर नहीं, आत्मा हूँ—इस प्रकारकी बुद्धि, विद्या अर्थात् आत्मज्ञान जिससे हो उस ब्रह्मविद्याका अनुदीलन, सत्य अर्थात् यथार्थ कथन और प्राणियोंका हित-साधन, अक्रोध अर्थात् क्रोधका कारण उपस्थित होनेपर भी कुछ न होना—इन दसोंका नाम धर्म है ।” इनमें जो सम्यक् प्रतिष्ठित है, वही धार्मिक है । उसीको परम गतिकी प्राप्ति होती है ।

सर्वसाधारणके अनुष्ठेय धर्म—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचसिन्दृयनिश्चह ।

पुतन् सामासिकं धर्मं चातुर्वर्णंऽवचीन्मनुः ॥

(मनु० १० । ६३)

“अहिंसा, सत्यवचन, परद्रव्य अपहरण न करना, शूचिता तथा हन्दियनिश्चह अर्थात् इन्द्रियोंका संयम—इनको सर्वसाधारण चारों वर्णोंके धर्म तथा संकीर्ण जातिके धर्मों अनुष्ठेय बतलाते हुए भगवान् मनुने निर्देश किया है ।” विष्णुसंहितामें लिखा है—

शमा, सत्य, दम, शौच, दान, इन्द्रियनिश्चह, अहिंसा, गुरुसेवा, तीर्थ-दर्शन, दया, शृङ्खला, मिलोभता, देव-ब्राह्मणोंकी पूजा और अनसूशा—ये साधारण धर्म हैं । ये सब धर्म चारों वर्णोंके हैं ।

जैमिनिकृत मीमांसादर्शनका प्रथम सूत्र है—‘अथातौ धर्मज्ञश्च ।’ अर्थात् धर्मकी मीमांसा ही मीमांसादर्शनका मूल है, ऐसा जान पड़ता है । धर्म क्या है ? उसका क्या लक्ष्य है ? किस कर्मके करनेसे धर्म होता है और किस कर्मके करनेसे धर्म नहीं होता ? इसका उच्चर देनेके पहले धर्मका एक लक्षण करना आवश्यक है । धर्मजिज्ञासाका अर्थ

है—धर्मको जननेकी इच्छा । धर्मको जननेकी आवश्यकता क्या है तथा धर्मके कौनकौनसे साधन हैं? प्रसिद्ध धर्म क्या है और अप्रसिद्ध धर्म क्या है? एक आदमी धर्मका लक्षण एक प्रकारसे करता है और दूसरा दूसरे प्रकारसे करता है। इन सभी वातांकी मीमांसा करके जैमिनिये धर्मका लक्षणमें यह सूचिता है—

चोइनालक्ष्योऽयम् धर्मः ।

‘किसामें प्रवर्तित करनेवाले शुद्ध-वद्वनका नाम ‘कोदना’। अर्थात् आचारसे प्रेरित होकर जो वैष्ण आदि किये जाते हैं, उर्चिका नाम धर्म है।’ आचारके उपदेशके अनुसार किया जानेवाला वह आदि ही धर्म है। जो कार्य मनुष्यके कल्याणके लिये होता है, उसका नाम धर्म है। अर्थात् जिस कर्मका अनुशासन करनेसे मङ्गल होता है, वही धर्म है तथा जिसे भूत, मविष्वत्, वर्तमान और सूक्ष्म, अवहित, विप्रकृष्ट अर्थ अवगत करनेमें समर्थ हो सकते हैं उसका नाम धर्म है। जो कुछ शेयरकर अर्थात् महसूजनका है, उसका नाम धर्म है।

अ पूर्व श्रेयस्तरः स पूर्व धर्मशब्देनोच्यते ।

(तिक्तोपमे मीमांसा १ । २ सूक्ष्माय)

धर्मका लक्षण—

प्रते दार्च सति: कुण्डो मातापित्रोऽश्च रूजनम् ।
अद्वा वलिंगां ब्राह्मः षड्विष्वं धर्मलक्षणम् ॥

(शश्कल्पत्रमें पातोदत्तसंख्य)

‘कुण्डको दान देना; हृणामें सति, माता-पित्रोंकी पूजा; अद्वा; प्राणियोंके आहारके लिये द्रव्य-दान, गोमात्र प्रदान करना—ये छः प्रकार धर्मके लक्षण हैं।’

धर्मका अङ्ग—

प्रसूचयेण सत्येन तपसा च प्रवर्तते ।
दावेन लियमेनापि क्षसाक्षीचेन वस्त्रम् ॥
आहितया सुशान्तया च अस्त्वैषेनापि चर्तवै ।
पृतैङ्गभिरकैस्तु धर्ममेव असूचयेत् ॥

(पाण, मूरित्तण्ड)

प्रसूचयेण, सत्य और तपसा, दान, नियम, क्रमा, शौच, आहिता, सुशान्ति तथा अस्तेवके द्वारा धर्म सूचित होता है।

धर्मका मूल—

अद्वैहोऽप्यलोभम् इमो भूतद्वा तपः ।
प्रसूचयं ततः सत्यमनुक्रोषः क्रमा धृतिः ॥

सनातनस्य धर्मस्य सूलमेतद् दुरासदम् ॥

(मत्स्यपुराण)

अद्वैहोः अलोम, वाहेन्द्रियनिघ्रह, प्रणिमाके प्रति दया, तपस्या, ब्रह्मचर्य, सत्य, करण, क्रमा और धृति—सनातन-धर्मके लक्षण मूल हैं।

देवताओंके धर्म वामनपुराणमें इति प्रकार कहे गए हैं—‘सुकेदारी भामक एक राक्षसने प्राप्तिवेति वह प्रथ किया था कि जगत्में श्रेय कृश है। नृणायेनै दत्तलया कि शह और परलोकमें धर्म ही श्रेव है। साक्षुजन हस्त अक्षय धर्मका आश्रव लेनेके कारण ही जगत्में पूज्य हैं और वह मार्गपर चलनेसे सद्य तुली हो सकते हैं।’ तुकेशनि पृथु ति धर्मका लक्षण क्या है? और क्या करनेसे धर्म होता है? नृणायेनै कहा—‘वाग-सशादि किसा, स्वात्माय, उत्तेजनः विष्णु-मूर्तयमें रति, विष्णुकी लुति देवताओंका परम धर्म है। वाहुद्वारा पराक्रम तथा संग्रामलघु सत्कार्य, नीतिशास्त्रमें विन्दा और लिचनकि दैत्योंका परम धर्म है। वोगानुशान स्वात्माय, ब्रह्मशान, विष्णु और शंकरकी भक्ति दैत्योंके धर्म है। नृत्यगीत आदिकी अभिशता और सरख्तीर्द दृढ़ मृक्ति गृधरोंके धर्म हैं। पौरषके कार्यमें अभिशता भवनी और सूर्यकी भक्ति तथा गान्वर्त विद्या—विद्याधरोंके धर्म हैं। समर्ज भन्न-जालविद्यामें निषुग्र किंपुरुषोंका धर्म है। वोगानुशास्यमें सदा अनुरति सब खानोंमें इच्छानुसार गमनागमन, नित्य ब्रह्मचर्य औ जपसम्बन्धी शान पितरोंके धर्म हैं। धर्मजन ऋषियोंका धर्म है। स्वात्माय, ब्रह्मचर्य, दम, बजन, सरखता, इम लितेन्द्रियतः शौच, महत्त्वाकार्यमें अद्वा, देव-भक्ति मान धर्म हैं। धनभिमतित्व, योग, स्वात्माय, शंकरोपासना, अहंक और नदसे रहित होना—ये गुह्यकोंके धर्म हैं। परदारा अभिलापा, परस्कीय अर्थोंके लिये लोकुपता, वेदाभ्यास अंकोंक-भक्ति राक्षसोंके धर्म हैं। अविवेकरा, अज्ञान, अज्ञा सत्य आग्निभवनामें रति—ये पिण्डार्थोंके धर्म हैं (वामनपुराण ११ अध्याय)

मत्स्यपुराण ३ । ९० के अनुसार एक देवता इत्याके दक्षिण रानसे उत्पन्न होते हैं। श्रीमद्भगवत् अनुसार दक्ष ग्रनथतिने धर्मदेवको १३ कन्याएँ दानमें देता। उनमें धर्मदेवकी अनेक संतान उत्पन्न हुए। उन अद्वाके गमसे सत्य, मैत्रीके गमसे प्रसाद, इच्छाके गम अभय, शान्तिके गमसे धर्म, हुणिके गमसे इर्ष, तुष्टिके

गम्भीर गर्व, कियाके गम्भीर थोग, उद्गतिके गम्भीर दर्प, बुद्धिके गम्भीर अर्थ, मेधाके गम्भीर स्मृति, तितिशाके गम्भीर सङ्कल, लक्ष्मीके गम्भीर विनय और मूर्तिके गम्भीर नर-नारायण उत्सव हुए।

धर्मकी उत्पत्ति—

अथोत्पत्ति प्रवक्ष्यामि धर्मस्य महतो नृप ।

महात्म्यं च तिथिं चैव चक्रिवेदं नराधिप ॥

सर्वं ब्रह्माच्यदः शुद्धः परादपरसङ्गितः ।

स सिद्धुषुः प्रजास्त्वादौ पालनं च व्यचिन्तयत् ॥

—इत्यादि

(वराहपुराण)

“हे राजन् ! अब धर्मकी उत्पत्ति और उसकी तिथि तभा माहात्म्य वतलाज्ञेग, ध्यानपूर्वक अवण करो। प्रजाकी शुष्ठि करनेकी अभिलापासे परात्पर ब्रह्माजी अत्यन्त चिन्तनसे सुकु हुए। उनके चिन्तनसे उनके दक्षिण अङ्गसे छेत-कुण्डलधारी तथा श्वेत माल्य और अनुलेपन आदिसे युक्त एक पुरुष प्रकट हुआ। ब्रह्माने उसको देखकर कहा—‘तुम चतुष्पाद वृपाकृति हो, तुम स्येष होकर प्रजा-पालन करो।—इतना कहकर वे शान्त हो गये। वही धर्म सत्युगमें चतुष्पाद, वेतामें त्रिपाद, द्वापरमें द्विपाद और कल्में एक पाददारा प्रजावर्गका पालन करता है। वह ब्राह्मणोंकी पूर्णलूपसे, शक्तियकी त्रिपादसे, वैश्यकी द्विपादसे और शूद्रकी एक पादसे रक्षा करता है। गुण, प्रबन्ध, किञ्च और जाति—ये चार पाद हैं। वह वेदमें विश्वकोे नामसे अभिहित होता है। उसका आवृत्त अङ्कार है, दो सिर और सात हाथ हैं। उदाचादि तीन स्वरोंके द्वारा बद्ध है। ब्रह्माने यह भी कहा कि न्धमदेव, आजसे चयोदशी तुम्हारी तिथि होगी; इस तिथिमें तुम्हारे उद्देश्यसे जो उपवास करेगा, वह पापसे मुक्त हो जायगा।’”

वामनपुराणमें लिखा है कि धर्मके अद्विता नामक भाष्यसे चार पुत्र उत्पन्न हुए। उनमें योगशास्त्रविशारद ज्येष्ठ पुत्र सनकुमार थे, द्वितीय पुत्र सनातन थे, तृतीय सनक और चतुर्थ सनन्दन थे। परंतु दूसरे युगोंमें ये लोग ब्रह्माके मानसपुत्र कहे गये हैं। श्रीमद्भागवतमें चतुष्पादकी कथा इस प्रकार वर्णित है—

तथः शौचं सूता सत्यमिति पादः प्रकीर्तिः ।
अधर्मादैख्यो भगवाः सायसङ्गमदैख्यः ॥

ध० ध० छ०

इदानीं धर्म पादस्ते सत्यं विवर्तयेद् यतः ।

तं जिष्वक्षस्यधर्मोऽथमनुत्तेनैधितः कलिः ॥

(श्रीमद्भगवत् १। १७। २४-२५)

‘सत्युगमें तपस्या, शौच, दया और सत्यस्य तुम्हारे चार पाद थे। विषय, विषयसङ्ग और गर्वके द्वारा उत्पन्नों सीन पाद दूट गये हैं। अब सत्यस्य तुम्हारा एक पाद अवशिष्ट है। तुम इसीके आधारसे किसी प्रकार अवस्थित रह सकोगे, ऐसा सोच रहे हो; किंतु यह दुरंत कलि असत्यसे परिवर्तित होकर तुम्हारे उस पादकी भी भग्न करनेके लिये उद्यत हो रहा है।’

धर्मका आधारस्थान—

(ब्रह्मवैचत्त्वपुराण, कृष्णजन्मखण्ड, अ०३२)

सारे वैष्णव, यति, ब्रह्मचारी, पतित्रता नारीः प्राण व्यक्तिः वानप्रस्थी, मिक्षु, धर्मशील नृप, सद्वैद्य, द्विजसेवा-परायण शूद्र तथा सज्जनोंके हसगामें रहनेवाले लोग—इन सब लोगोंमें धर्म सर्वदा समर्पणसे अवस्थित रहता है। तथा अश्वत्थ, बट, विल, चन्द्रम, देवधूजके योग्य पुर्णवाले बृद्ध, देवालय, तीर्थस्थान, वेदवेदाङ्ग अवण करनेवाले व्यक्तिः जहाँ वेदशास्त्र होता हो, श्रीकृष्णके नामन्त्रय जहाँ कीर्तित होते हों, ब्रतभूजा, तप तथा विधिपूर्वक धर्मके साक्षी स्थल, दीक्षा, परीक्षा, शपथके स्थान, गोष्ठ, गोप्यद-भूमि तथा गोमृह—इन सब स्थानोंमें धर्म अवस्थित रहता है तथा इन सब स्थानोंमें धर्म निर्वेज नहीं होता।’

हेमाद्रि, ब्रह्मस्थानमें उड्ढृत भविष्यपुराणके अनुसार वर्णधर्म, आश्रम-धर्म, वर्णाश्रमधर्म, गौणधर्म और नैमित्तिक धर्म—ये पाँच प्रकारके धर्म हैं। एक वर्णका आश्रम लेकर जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको वर्ण-धर्म कहते हैं—जैसे उपनयन आदि। आश्रमको आश्रम करके जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको आश्रम-धर्म कहते हैं—वथा मिशा तथा दण्डादि-धारण। वर्णत्व और आश्रमत्वको अधिकार करके जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको वर्णाश्रम-धर्म कहते हैं—जैसे मौली-सेललदि-धारण। जो धर्म गुणके द्वारा प्रवर्तित होता है, उसे गुण-धर्म कहते हैं—जैसे नियमपूर्वक प्रजाभालन आदि। किसी नैमित्तिको आश्रम करके जो धर्म प्रवर्तित होता है, उसको नैमित्तिक धर्म कहते हैं—जैसे प्रायधित्त-विधि आदि।

विश्वामित्रके द्वारा कथित धर्मका लक्षण—

यमार्थः क्रियमाणं हि शंसन्त्वागमसेवितः ।

त धर्मो यं विगद्यन्ति तमधर्मं प्रचक्षते ॥

व्यागमत्वको जानेवाले आवलोग जिस कर्मका अनुष्ठान करते हैं तथा जिसकी प्रशंसा करते हैं, उसको धर्म कहते हैं और जिन कर्मोंकी निन्दा करते हैं, उनको अवर्ध्म कहते हैं ।^{१०} प्रशुचि और निवृत्तिजनक दो प्रकारके वैदिक कर्मोंका व्यावासे सुषिक्षे आदिमें निर्देश किया था । इनमें प्रवृत्तिलक्षण जो कर्म हैं, उनको धर्म कहते हैं । ये धर्म गुणमेदानुसार दीन प्रकारके हैं—सात्त्विक, राजस और तामस । जिन कर्मोंमें किसी प्रकारकी कल्पनाना नहीं होती, ये ही कर्म इसारे कर्तव्य-कर्म हैं, इस प्रकारकी दुर्दिनों जो कर्म अनुष्ठित होते हैं, उनको सात्त्विक कर्म कहते हैं । सात्त्विक धर्मका अनुष्ठान करनेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । मोक्षके निमित्त संकल्प करके जो कार्य अनुष्ठित होते हैं, उनको राजसधर्म कहते हैं । कर्मोंमें विविक्ती अपेक्षा न करके केवल कर्म-दुर्दिनों जो कार्य अनुष्ठित होता है, उसको तामस धर्म कहते हैं ।

‘मनुष्यके लिये जो कर्तव्य या आचरणीय कहा गया है, वही धर्म है । स्मृतिशास्त्रसे धर्मका यह अर्थ प्राप्त होता है ।’

‘पुराण-शास्त्रमें धर्मका एक अर्थ नहीं देखनेमें आता, अनेक स्थलोंमें धर्म-बाब्द अनेक अर्थोंमें व्यवहृत हुआ है ।’

‘पनोवृत्तियोंको धर्म कहा गया है—जैसे दया-धर्म, सत्य-धर्म, अहिंसा परम धर्म, कोच अपकृष्ट धर्म इत्यादि ।’

‘इन्द्रियोंके कार्य भी धर्म-नामसे कथित होते हैं—जैसे चक्षुका धर्म है दर्शन, नासिकाका धर्म है आवाप, मनका धर्म है चिन्तन—आदि ।’

‘कर्तव्यका नाम भी धर्म है, जैसे पिताका धर्म, पुत्रका धर्म, पत्नीका धर्म इत्यादि ।’

‘गुणोंकी कियाको भी धर्म कहते हैं—जैसे शीतका धर्म है संकोचन, तापका धर्म है सम्प्रसारण इत्यादि ।’

‘कृत्यगुणकूल कार्यको मी धर्म कहते हैं—जैसे चौराधर्म, याजकका धर्म, कृपकका धर्म, व्यवसायीका धर्म इत्यादि ।’

‘कर्तव्य विविष्ट व्यापारोंकी समष्टिको भी धर्म कहा जाता है—जैसे जागतिक धर्म, लौकिक धर्म, सामाजिक धर्म, कौलिक धर्म, दैविक धर्म और मानसिक धर्म आदि ।’

धर्माहिंसालक्षणो धर्मो हिंसा चाधर्मलक्षणा ।

(महाभारत)

‘धर्म अहिंसालक्षण है और अधर्म हिंसालक्षण है ।’ को

धर्मः ? भूतकृचा ।^{११} अर्थात् प्राणिवर्गके ऊपर दया करना ही धर्म है ।

द्वान् तपस्तीर्थनिषेवणं जपो
न चास्त्रहिंसासद्वर्णं सुखुम्यम् ।

हिंसासततां परिवर्जयेजन ।

सुधर्मनिष्ठो दद्धर्मवृद्धये ॥

(श्रीवैष्णवमनाञ्जसास्कर ११२)

द्वान् तपस्त्र, तीर्थसेवा और जप—ये अहिंसके समान पुण्यजनक नहीं हैं । अतएव उत्तम-धर्मपरायण मुमुक्षु पुरुष सुधर्मकी दृढ़ता वदानेके लिये परम्पराङ्गनल्प दिसा न करे ।

जैसे वक्ष्यामिनी नदी सागरमें मिलती है, उसी प्रकार सारे धर्म अहिंसक पुरुषका आश्रय लेते हैं । काष्ठसिंह अग्निके समान खावर-जड़में व्याप्त भगवानकी अपेक्षा करतेवाले हिंसक पुरुषका धर्म आश्रय नहीं करता । (वही, ११३)

वेदशिष्टिः धर्मो श्वधर्मस्तद्विपर्ययः ।

(श्रीमद्भागवत)

वेदमें जो कुछ कहा गया है, वह धर्म है; उसके विपरीत सब कुछ अधर्म है ।

विहितक्रिया साध्यो धर्मः पुंसो गुणो मतः ।

प्रतिपिद्धक्रियासाध्यः च गुणोऽधर्म उच्यते ॥

(धर्मदीपिका)

व्याख्य-विहित क्रिया-साध्य गुणका नाम धर्म है, प्रतिपिद्ध क्रिया-साध्य गुणका नाम अधर्म है ।

एक एव सुखद् धर्मो शिष्मेऽप्यज्ञुयाति यः ।

शरीरेण समं चाशं सर्वेमन्थतु गच्छति ॥

(हिंसोपदेश, मित्रलय)

भनुष्यका धर्म ही एकमात्र सुखद् है, मूल्यके पश्चात् और कोई उसका अनुगमन नहीं करता, एकमात्र धर्म ही अनुगमन करता है ।

धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार पुरुषार्थोंमें धर्म ही प्रथम ग्रधान पुरुषार्थ है । श्रीमातानन्दे कहा है—

अन्याद् स्वधर्मो विगुणः परधर्माच्चलतुषुषितात् ।

स्वधर्मो विवर्णं श्रेयः परधर्मो भवावहः ॥

(गीता ३ । २५)

उत्तम रूपसे अनुष्ठित परधर्मकी अपेक्षा स्वधर्म कुछ अकृहीन भी हो तो भेड़ है । स्वधर्ममें मूल्य भी श्रेय है; क्योंकि

उससे स्वर्गादिकी प्राप्ति होती है। परधर्म मयानक है, क्योंकि वह नरकमें ले जाता है।

शतोऽस्युद्यन्तिःश्चससिद्धिः स धर्मः ।
(वैशेषिकदर्शन)

जिससे सम्यक् सांसारिक उपाति और मोक्ष अर्थात् परमार्थकी प्राप्ति हो, वही धर्म है। धर्मवादका पर्याय है पुण्य, श्रेव, सुकृत, वृप (अमरकोप), त्याग, स्वभाव, आचार, उपमा, क्रतु, अहिंसा, उपनिषद्, धनु, यम, सोम्य (मेदिनी कोप), सत्सङ्ग, अहन (देमचन्द्र) ।

धर्मके अनन्त लक्षण हैं। शुति-स्मृतिमें धर्मके जो लक्षण कहे गये हैं, उनको एकप्रिति करना मनुष्यके वशकी बात नहीं है। स्थूलरूपमें, जिससे सांसारिक उपाति और परमार्थकी प्राप्ति होती है, वही धर्म है।

भारतके नरनारीके जीवनका एकमात्र लक्ष्य भगवत्साक्षात्कार है; इसका उपाय शास्त्र है। जो इदतापूर्वक शास्त्रका अवलम्बन करता है, वह जीवन-संग्राममें विजयी होकर निश्चय ही श्रीमगवान्को प्राप्त होता है। आज कलियुग-के मोहन्यकारमें पढ़कर अधिकांश लोग पथभ्रष्ट ही रहे हैं। ऐहिक सुखके सिवा और भी कुछ है, इसे वे नहीं जानते। शास्त्रानुकूल आचार-धर्मका त्याग करनेके कारण अशान्तिस्सी अनलकी ज्वाला चतुर्दिन् प्रज्वलित हो रही है। भयंकर कलिने समस्त शास्त्रीय धर्मको ग्रसित कर लिया है। शास्त्रानुकूल आचार-पालन करनेकी सामर्थ्य भी मनुष्यमें नहीं है। कैवल भोग-ही-भोग है; अशास्त्रीय भोग रोगरूप होकर दाहण उत्ताप दे रहा है। इस अधर्मके महाश्वानसे कैसे मानवकी रक्षा होगी! आज धर्मकी उपेक्षा हो रही है, पट्टपदपर धार्मिक गोग लाभित हो रहे हैं, क्या होगा? क्या होगा?

भय नहीं है, भय नहीं है। श्रीभगवान् कह रहे हैं—
यदा यदा हि धर्मस्य गत्वानिर्वर्ति भारत !
अस्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽत्मार्थं खल्याम्यहम् ॥
परिचाणाय साध्नां विनाशाय च हुकृताम् ।
धर्मसंख्यापार्थीय सम्भवायि शुग्रे शुग्रे ॥
(गीता ४ । ७-८)

हे भारत! जब-जब धर्मकी गति और अधर्मका प्राहृत्य होता है, तब-तब मैं अपनेको सूजन करता हूँ। साधु-तनकी रक्षा और दुष्कर्मी लोगोंके विनाश तथा धर्मकी आपनाकेलिये मैं युग-युगमें (तचत् कालमें) अवतीर्ण होता हूँ।

हे स्वधर्म और शास्त्रीय आचारके पालक सजनवृन्द ! आपलोग मयघीत न हों। भगवान् हैं—वे धर्म और धार्मिक लोगोंकी रक्षाके लिये इस मृत्युलोकमें अवतीर्ण होते हैं।

काय-भन-वचनसे उनका आश्रय लेनेपर मनुष्यके सारे दुःख निवृत्त होंगे ही। उनके श्रीमुखकी बाणी है—

मन्मना भव भद्रक्षमे मद्यानी सां नमस्कुरु ।
मामेवैष्वसि सत्यं ते प्रतिज्ञाने ग्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्माद् परित्यज्य मामेकं शरणं द्रव ।
आहं त्वा सत्रैपापेभ्यो मोक्षविज्ञामि मा शुक्षः ॥

(गीता १८ । ६५-६६)

हे पार्थ ! तुम मद्रतचिन्त हो जाओ, मेरे मक्ष वन जाओ, मेरी प्रीतिके लिये बशादिका अनुष्ठान करो तथा मुक्तको नमस्कार करो; इससे तुम मुक्तको ही प्राप्त होओगे—तुमसे मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ; क्योंकि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो। तुम सारे धर्माधर्मका त्याग करके एकमात्र मेरे शरण-पत्र हो जाओ। (सब प्रकारके कर्मका त्याग करनेसे पीछे कहीं पाप न हो) इस भयसे) तुम शोक न करना, मैं तुमको सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा ।

वे ही श्रीकृष्णके रूपमें श्रीमद्भागवतमें कलिकालमें संसारसे उत्तीर्ण होनेका उपाय बतला रहे हैं—

कलेदीपनिधे राजन्नस्ति होको महात् शुणः ।
कीर्तनादेव कृष्णस्य शुक्तसः परं चतेव ॥
कृते शद् ज्यायतो विष्णुं व्रेतायां वज्रतो मसैः ।
द्वापरे परिचर्यायां कलौ लद्विरितीनात् ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । ३ । ५१-५२)

दोपोंकी जानि कलियुगका एकमात्र महात् शुण यह है कि कैवल हरिकीर्तनके द्वारा मानव सर्वसङ्ग-विनिर्मल द्वैकृत् भगवान्को प्राप्त होता है। सत्ययुगमें निर्विकल्प समाधिदेशमें विष्णुका भवान करके, वेतामै नाना प्रकारके यज्ञोंके द्वारा यज्ञपुरुषका यजन करके द्वापरयुगमें काय-भन-वचनसे विष्णुकी परिचर्या करके जो फल प्राप्त होता है, वही फल कलियुगमें भगवान् श्रीहरिके नाम-संकीर्तनसे प्राप्त होता है और वह फल है श्रीमगवत्साक्षात्कार—ईश्वरदर्शन ।

विष्णुपुराणमें श्रीव्यासजी कहते हैं—

यस्कृते दशभिर्वैस्तेतायां हायनेन यत् ।
द्वापरे यज्ञ भासेन हाहीशवेण तत्कलौ ॥
ज्यायत् कृते यजन् यज्ञस्तेतायां द्वापरेऽर्थयन् ।
मद्यमेति तदाभ्योति कलौ सद्गतिर्यं केववम् ॥

(विष्णुपुराण ८ । २ । १६-१७)

—ऋग्वेदके इस मन्त्रमें वैष्णव साधनाका मूल लोक प्राप्त होता है। वे विष्णु ! तुम्हारी अनन्त महिमाको हम कितना सा जानते हैं और क्या कह सकते हैं ? तुम्हारे नामकी महिमाको जानकर भास-भजन ही हम करते हैं। इसीसे हमको तुम्हि ग्रास होगी ॥

र्हित, उपनिषद्, शास्त्र, सूत्र, पञ्चरात्र, पुराण, तन्त्र आदि सब शास्त्रोंमें विष्णु, वैष्णव और धर्मकी यात्रा भरी पड़ी है। मनु, अथि, विष्णु आदि स्मृतियों विष्णु, नारायण, अद्युतकी नाम-महिमा, वैष्णवके धर्मचार तथा सामाजिक और ब्यक्तिगत जीवनचर्याकी विस्तृत प्रयोगपद्धति विश्लेषणपूर्वक प्रदर्शित करती हैं।

शाण्डिल्यविद्या और सूत्र, नारद-भक्तिरत्न, महाभास्तके नारायणीय और पाञ्चविक्रिय व्युत्तिचार, गौतमीय तन्त्र तथा तापनी श्रुतिके समन्वयसे वैष्णवधर्मका जो विस्तार हुआ है और जिस व्यविचारका विकास हुआ है, वह एक विराट् साहित्य है।

इसको कोई पाञ्चविक्रिय कहते हैं तो कोई पौराणिक साहित्य, कोई तान्त्रिक कहते हैं तो कोई अवैदिक और कोई धौद्वयभाव बतलाते हैं। पता नहीं, अन्यथा कहते हैं।

वैष्णव कहते हैं कि अनादि वैष्णवधर्म काल-कलन-धर्मों तुग्धर्मवर्तक सार्वजनिक मानवधर्म है। श्रीविष्णुके चरणाभित भक्तोंके लिये वह धर्म नित्य है। देवतिनि नारद, व्यास, धात्मीकि, श्रीशृङ्ख आदिसे साधनामें, चिन्तनमें, भावनामें, प्रेरणमें सुरसरिकी धाराके समान सर्वलोकपापावन वैष्णवधर्मको मानवके हृदयाङ्गमें अवशिष्ट किया है। वैद्यतिषय यह धर्म पाद्युपत आदि धर्मोंके समान शून्यवादपर आश्रित मतवादसे पूर्णतः पृथक् और स्वतन्त्र है। सौर, शास्त्र, दीव और गाणपत्य निगमसे निवन्धित साधनाका जो क्रम समस्त भारतमें फैल हुआ है, उसमें सर्वत्र विष्णु, नारायण, थेश्वरको मुख्य स्थान प्राप्त है।

सार्व, वैदिक, वेदान्ती, तान्त्रिक या पौराणिक—सभी विष्णुभगवान्का नामस्वरण करके पवित्र होते हैं, विष्णु-भगवान्का नामस्वरण करके आचमन करते हैं, व्यशेषरकी पूजा करके अन्य किसी पूजामें लगते हैं। नित्य, नैमित्तिक, काम्य या निष्काम कर्म विष्णुको समर्पित होनेपर ही पूर्ण फल प्रदान करते हैं। अन्यथा मन्त्रसः या तन्त्रतः कोई न-कोई छिद्र—दोग रह जानेके कारण सम्यक् रूपसे अनुष्ठित नहीं माने जाते।

जलचर, धलचर, नमचर प्राणिसमूह तथा मात्र—स्वयमें सर्वत्र एक विष्णु ही गुहाशय-स्थानमें प्रविष्ट हैं। स्थावर-जड़म उद्धोके ही रूप हैं—विष्णुभक्त हस्त रूपका दर्शन करके उन्हें प्रणाम करते हैं।

सर्वसूत्रेषु यः पश्येद् भगवत्प्राप्तमात्मनः ।

भूसानि भगवत्प्राप्तमन्येष भागवतोच्चमः ॥

(श्रीमद्भागवत १२ । २ । ४५)

स्थावर जड़म देखे ना देखे ताँ मूर्ति ।

जाहौं जाहौं दृष्टि पढ़े जाहौं इष्ट स्फूर्ति ॥

परम देवताके मर्त्यलोकमें अवतरणका संदेश वैष्णव-धर्मकी ही देन है। संसारके अन्य किसी धर्मदर्शनमें इस प्रकार सुस्पष्ट भाष्यमें स्वयं भगवान्के अवतारकी बात नहीं है। वैष्णवलोग भगवान्की अनन्त लीला, अनन्त धार, अनन्त प्रकाश और अनन्त महिमाके सम्बन्धमें संदेहरहित विश्वास-का परिचय देकर प्राकृत लोकोंमें उसके दर्शनार्थी उद्घाटित होते हैं। वे सदस्यमुक्तायाले हैं, अष्टशुज हैं, चतुर्षुज हैं तथा द्विषुज भी हैं। अनेक रूपोंमें उनकी आराधना होती है। श्री, भू, लीला आदिसे परिसेवित श्रीनारायणस्थानमें, श्रीराम-जानकी दुग्गलसुरकरणके स्थानमें, फिर गोपालकृष्ण, गोपीजनयललग, राधा-कृष्णमनुन्दर स्वरूपमें आराधित हैं। यह साधनाका क्रम अनादि कालसे चला था रहा है। इसको ऐतिहासिक विचारसंग्रहीय लाकर जो इसे किसी देश-कालमें या किसी मानव-समाजके द्वारा सुष्टु बतलाया जाता है, उसे वैष्णवरण महीं मानते। श्रीभगवान्का रूप नित्य है, पर्वद नित्य है, धार नित्य है और उनकी लीला नित्य है। समय-समयपर उसका प्राकृत्य और अप्राकृत्य, अविर्भाव और तिरोगाव होता है।

प्राकृत विश्वरचनाके पूर्वाह्नमें ही परम पुरुषकी तपस्या, कामना, ईक्षणकी बात, श्रीभगवान्के आविर्भावके सम्बन्धमें कल्पान्तर-कथा तथा पुराणकृहितमें नित्य आविर्भावकी व्यवना मिलती है। सदिके प्राकृत्कालमें मनु-बतत्स्यानी तपस्यामें श्रीभगवान्का आविर्भाव, श्रीभगवान्के नाभि-कमलसे ब्रह्माकी उत्पत्ति, प्रलयपर्योगिमें श्रीकृष्णका प्रवाहित होना आदिसे अनन्त देवकी अनन्त लीलाओंके संकेत मिलते हैं। वैष्णवगण लीलाकैवल्यवादके ऊपर संष्टि आदि व्यापार तथा जीवोंके परम पुरुषार्थकी प्राप्तिके सम्बन्धमें अपने विचारोंको प्रतिष्ठापित करते हैं। इतेव्वैष्णवोंके कालिन्दी-कूलके निकुञ्ज-योगपीठदक और श्रीरेष्टागरसे कास्य-समुद्रपर्यन्त सर्वत्र श्रीभगवान् अपने नित्य पर्वद भक्तोंके

द्वारा परिवेषित होकर साधक वैष्णवोंको असीष्ट प्रदान करते हैं।

वैष्णुरेव हि पत्त्वैष देवता वैष्णवः स्मृतः ।

—लिङ्गयुगणके इस याक्षयके अनुसार श्रीविष्णुके आशाधक वैष्णव हैं। और भी विशेषरूपसे कहा गया है—

गुहीतविष्णुदेवकां विष्णुपूजापत्तो नरः ।

वैष्णवोऽभिहितोऽमित्रैतिसोऽसाद्वैष्णवः ॥

वैष्णव दीक्षा लेकर श्रीविष्णुकी सेवा करे। श्रीगौराज्ञ महाप्रभुसे कुलीन ग्रामवासी पूछते हैं—‘वैष्णव कौन है? प्रभु पहले कहते हैं—

जाँ भुजे एक बार सुनि कृष्णनाम ।
सेह वैष्णव ताँरं करियो सम्भान ॥

दूसरे वर्ष भी आगवाचिर्षोते वैसा ही प्रभु फिर किया। इस बार जौधङ्कने कहा—

कृष्ण नाम निरन्तर जाँहार बदने ।
सेह वैष्णव थेह, मज जाँहार चरणे ॥

दूसीय वर्ष पुनः यही प्रभुनकरनेपर महाप्रभुने उनसे कहा—
जाँहार दर्शने भुजे आइसे कृष्णनाम ।
ताँहरे जनिओ तुमि वैष्णव-प्रधान ॥

इस प्रकारसे भागवतगणका तारतम्य शालमें वर्णित है। वैष्णव निरभिमानी होते हैं। वर्णाश्रमके कारण उच्च या नीचका कोई विरोध उनमें नहीं होता। वे लोग कुलगौरव, विद्या या धनके गौरवको तुच्छ नामकर सब अवस्थाओंमें अपनेको सबका सेवक समझते हुए सबका सम्मान करते हैं। ब्राह्मण-कुलमें जन्म लेकर भी वाभिजात्यहीन वैष्णव जानते हैं कि भजनके प्रभावसे हीन कुलमें उत्सक व्यक्ति भी सर्वपूज्य हो जाते हैं। अन्यानेहित गुणोंके परमोन्तर्का व्याख्याकार ही वैष्णव-जीवनकी सार्थकता है। वैष्णवका देह भगवान्का रथ है, इदय उनका सिंहासन है, प्रत्येक व्यक्तिमें हरिमन्दिर है, पदवारण परिकरा है, वाणीमें नाममन्त्र है, दृष्टिमें प्रेम है, व्यवहारमें पूजा है, दर्शनमें पवित्रता है और सेवामें भगवत्सानिध्य है। सत्यनिष्ठा, शौर्य, निर्भीकता, दैन्य, कारुण्य उनके अङ्गोंके भूषण हैं। ग्राचीन वैष्णवोंका नाम-संरण करके मैं उनको प्रणाम करता हूँ—

“द्वादशारवपरास्तरुणदीक्-

न्यसाम्बद्धीष्मुक्तोर्वक्त्वीप्यवृत्त्वान् ।

स्वमालाङ्गदाङ्गुलयस्त्रियविभीषणादीन् ।

उपथानिमान् परमभाववत्तान् नमामि ॥

देवघिं नारद भक्तिप्रवर्तक गुरु है और प्रह्लाद शिष्य है। इन्होंने प्रह्लादका नाम सर्वप्रथम उल्लेख करना तात्पर्य-पूर्ण है। भक्तिकी प्रवलतासे गुरु-शिष्यमें शिष्यका नाम ही अधिक आदरणीय माना गया है। दैत्यकुलमें जन्म लेनेपर भी इसमें वाधा नहीं आयी। भक्तिनिष्ठा, सदाचार, विश्वास, शान्, परिचर्या, प्रेम, गुश्या, चारित्रिक दृढ़ता, त्याग, सेवग, निर्भरशीलता, सूक्ष्मदृष्टि, अरण्यागति आदि सदृशुचित्यों भक्तोंका आश्रय लेकर नित्य समुद्देश्य ही रही है।

वैष्णव-साधना सार्वजनिक, सार्वदेविक और सार्वकालिक है। सब लोग परम गुरुओंसमझी लेखके अधिकारी हैं। अतएव वैष्णव भाषा अनुशीलनके बोध्य हैं। दूसरी साधनाओंमें योग्य और अयोग्यका विचार होता है। जो अयोग्य माना जाता है, उसका प्रवेश निरिद्ध होता है। वैष्णवका शार पतित, अधम, अयोग्य—समीके लिये खुला है। जिस दिन भगवान्का नाम प्रदृश किया, उसी दिनसे वैष्णव-साधना अत्यरम्य हो गयी। जिनदो जो कुछ होता है, सब जैसा होता जाता है जरा-न्ता भी नष्ट नहीं होता। अति अस्त साधनासे बहुत लाभ होता है। जिस दिन तनिक मी भक्त-पूजा हुआ, जिस दिन धारुका चरणस्पर्श प्राप्त हुआ, नामकी धनि कानमें पहुँची, उसी दिनसे भक्तिका आभास पाकर भगवान् संतुष्ट हो गये। वलदेव विद्याभूषणकी भाषणमें—

भज्याभासेनपि शोरं दृष्टाने
धर्माच्यसे विश्वनिष्ठाराजान्त्रि ।
नित्यानन्दाद्वैतसैतन्यस्त्वे

वाचे तस्मिन् नित्यमास्तां रतिनः ॥

वैष्णव विश्वासमय जीवन आपन करते हैं। विश्वस्त भगवान् अपने भक्तोंके विक्षित नहीं करते। अति अस्त-साधनसे ही उनकी प्रीति प्राप्त होती है। ‘पञ्च मुष्यं कलं लोचम्’—अदि पञ्च, मुष्य, फलके आहरणमें अम होता हो तो अनायास लोच जलते भी उनकी एजा हो जाती है। ‘जलस्य तुलुकेष्य वा’—एक तुलू जलके प्रदान करनेपर भी श्रीभगवान् भक्तके सामने शूष्णी होकर आत्मविक्षय करते हैं।

कृष्णके तुलसी लल देय नह जन ।

तार कर शोधिदारे कृष्ण करेन चिन्तन ॥

तुहली जहर मत घरे नाहि चन ।
अपव अस्त बेचि करे त्रिंग शोधन ॥

वैष्णवशारीरमें विष्णुभगवानकी उणाचली संक्रमित होती है। वैष्णव क्षमाशील, हिंसारहित, सहिष्णु, सत्यप्रिय, निर्मल, सममाद, निरुपाधि, कुपालु, अक्षुरध, स्थिरखुदि, संयोगेन्द्रिय, कोमलस्वभाव, पवित्र, अकिञ्चन, कामनारहित, मिताद्वारी, शान्त, शरणगत, अप्रभ्रत, गम्भीरशब्द, निरभिमान, सम्मानकारी, वस्तुभावपन, करुणस्वभाव तथा सत्यदृष्टि होते हैं। श्रीमद्भागवतकी भाषामें (१। १। २९-३१)—

कृष्णकृत्तद्विस्तिष्ठः सर्वदेहिनाम् ।
सत्यसारोऽनवधारत्मा समः सर्वोपकारकः ॥
कामाक्षुभित्तधीर्दीन्तो भृषुः शुचिर्किञ्चनः ।
अमीहो मित्तुकृ शान्तः स्थिरो भृष्टरुणो भुनिः ॥
अप्रमत्तो गम्भीरत्मा इतिमालितवृणः ।
अमानी सामदः करुणो मैत्रः कारुणिकः कृषिः ॥

हिमालयके उत्तुङ्ग गिरिशिखरपर शित बदरिका-अमकी वैष्णवीधरपरे अभिषुष्ट भावप्रवाह पुण्यसंहिता, ब्रह्मसूत्रको बाहन बनाकर नीचे उत्तर रहा है पुण्य भारतके प्राङ्गणमें। मनुने (१। १०) कहा है—

व्यापो भासा इति प्रोक्ता आपो वै भरसूनवः ।
ता यदस्याच्च एवं तेऽ नारायणः स्मृतः ॥

नारायण-नामका तात्त्वर्य निखिल जीवका परम आश्रय है। उसी नारायणके चरणोंका आश्रय लेकर वैष्णव-भावधारा फैल गयी है—उत्तरभारतको छापित करके दक्षिणमें सुदूर सागर-तटक भानुकमात्रके कल्पणके लिये भक्ति-बीजका बपन करनेके लिये। उसीके फल-स्वरूप अगाधित अब्द्वार संत, साधक-द्वाडशणि तथा शाश्वत भावनाके प्रतीक परम आचार्योंका अमुद्य हुआ है।

ग्राचीन दर्शनिक मतवादोंकी अभिनव थोड़ना करके वैष्णव-दर्शन समृद्ध हुआ है। परमाणुवादी वैशेषिकका 'विशेष', सांख्यदर्शनका 'सत्त्वसंख्यान', परम नैयायिकोंका युक्तिशुक्त ('अनुमान'), योगसाधकोंका 'योग', पूर्वमीमांसकोंका 'देवतास्तप्त' और वेदान्तियोंका 'सम्बन्धभिषेष-प्रयोजन'—ये सभी वैष्णव-जिज्ञासामें यथायोग्य सर्वादसे युक्त स्थान प्राप्त कर समन्वित हो गये हैं। विशिष्ट प्रकारके मतवादोंमें परस्पर मतमेद होनेपर भी वैष्णव अचार्य एक अभिल परम पुरुषोत्तमके संधानमें प्रवृत्त हुए हैं।

श्रीरामानुज, निष्ठाक, मल्ल, विष्णुस्तामी, वल्लभाचार्य, वल्लदेव विद्याभूषण आदि आचार्योंने वेदान्तसूत्रोंपर भाष्य करके दर्शनिक विचारको प्रतिष्ठित किया है। प्रधानतः उनके भाष्यमें अनात्मा जड़-जीव और जीवात्मा, परमात्मा परमेश्वर और उनके नित्य पार्षद भक्तोंको लेकर विचार किया गया है। इससे सृष्ट जगत्, सृष्टि परमेश्वर और आराधक जीवका सम्बन्ध-निरूपण करनेमें विभिन्न प्रकारके मतवाद प्रकट हुए हैं। श्रीरामानुजका विशिष्टाद्वैत, श्री-निष्ठाकका द्वैताद्वैत, श्रीमध्वका द्वैत, श्रीवल्लभका शुद्धाद्वैत और श्रीवल्लदेवका अचिन्त्यमेदामेदवाद वैष्णवगणके लिये विचारणीय हैं। इनके विषयमें आलोचना करनेका यहाँ अवकाश नहीं है। यहाँ तो देखना है कि आचार्य रामानुज परम भर्तके सम्बन्धमें, शरणगतिके विषयमें क्या कहते हैं—

श्रीमहारायण अशरणशरण अनन्यशरण सत्पदार-विन्दुशुशाळ शरणमहं ग्रपच्ये ।

सर्वधर्मांश संव्यज्य सर्वकामांश साक्षरात् ।
छोक्विक्षान्तचरणौ शरणं तेऽव्रजं विभी ॥

'जिसका कोई नहीं है नारायण ! एकमात्र तुम्हीं उसके हो । मेरा और कोई नहीं, और कुछ भी नहीं है । तुम्हारे पद्मुगलमें मैंने शरण ले ली है ।'

आचार्य निष्ठाक भी कहते हैं—

नान्था गतिः कृष्णपदरविन्दात्
संदृश्यते ब्रह्मशिवादि वन्दितात् ॥

'ब्रह्मादि देवगणके द्वारा वन्दित श्रीकृष्ण-पदारविन्दके सिवा और कहीं भी गति नहीं देखनेमें आती ।'

श्रीमध्वका यहाँ है—

श्रीसत्तं तमुपास्तहे चुम्बसामिष्टपदं विठ्ठलम् ।

'साधुजमके मङ्गलायतन श्रीमान् विठ्ठलदेवकी में उपासना करता हूँ ।'

श्रीवल्लभाचार्य 'श्रीकृष्णः शरणं मम, दासोऽहं श्रीकृष्ण स्वामि' कहकर दीम्यक् शरणाशतिका उपदेश दिया है। वल्लदेव विद्याभूषण प्राधीना करते हुए कहते हैं—

समृद्धत्वं यो हुःखङ्करं सभक्षणं
सत्पद्मचुत्क्षित्सुसे धार्मि नित्यम् ।

यित्रात् गावरगात् तिष्ठार्थं विमोक्षं

न चेष्ट्यसावेद सुजैनिवेद्यः ॥

जो अपने भक्तोंको हुःखङ्करसे उदार करके

चिदानन्दसय निज नित्यधारमे कुला लेते हैं तथा प्रगाढ़ अनुरागवश उनको क्षणमात्रके लिये भी छोड़ना नहीं चाहते, शण्डित लोगोंको उन्हीं अन्युतकी आराधना करनी चाहिए ।

श्रीरामानुजाचार्थके आराध्य शहू-ब्रह्म-गदा-पदाधारी चतुर्भुज श्रीविष्णु भगवान् हैं, और सभीके आराध्य द्विभुज श्रीकृष्ण गोविन्द गोपाल हैं । श्रीरामानन्द द्विभुज श्रीरामके उपासक हैं । मुख्यीदासबी मक्ति-भावसे कहते हैं—

अस प्रमु दीनवं बु हरि कारन रहित दगाल ।
मुख्यीदास सठ तेहि मनु छाहि कपट जंगाल ॥

सर्वाङ्गमें हरिमन्दिर-रचना, चक्रादि चिह्न नामाङ्कन-धारण, बुल्लीमला, कण्ठी, नामजप-माला आदि धारण, भहाग्रसाद-मोजन, आमिपत्याग, बुल्ली-सेवन, धाममें वास, श्रीगुरु और विग्रहकी रेखा, नित्य भागवत-रामायण आदि शालोका पाठ तथा श्रवण, स्तुति-पाठ, वैष्णवाचारका पालन, नाम-संकीर्तन सभी सम्प्रदायोंमें नित्य-कर्त्तव्य माने गये हैं । भक्तिके चौराट अङ्ग हैं, परंतु कम-से-कम नौ अङ्ग, अथवा किसी भी एक अङ्गके साथसे भी जीव कृतार्थ हो सकता है । श्रीरामानुजाचार्थी जिस प्रकार शरण-गतिको प्रथानन्दा प्रदान की है, वज्रवलीयणने उसी प्रकार सेवा-सुखकी प्रथानन्दा स्वीकार की है । पुष्टिमार्गका अवलम्बन करनेवाले श्रीवक्ष्मभाजार्थीके अनुशासी प्रीतिपूर्वक श्रीविग्रह और गुरुकी लेखा करते हैं । श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुकी कृपासे परिपूर्ण श्रीरूप-सनातन आदि वैष्णव-गुरुजनोंने बंगल, श्रीक्षेत्र तथा श्रीबृन्दावनको एक अवलम्बन-प्रथम ग्रथितकर भारतके एक प्राच्यसे दूसरे प्रान्ततक श्रीहरिनाम-संकीर्तनको ही कलियुगमें एकमात्र साधन और साथके सिद्धान्तके स्वप्नमें प्रचारित किया है ।

श्रीमन्द्रागवस (११ । ५ । ३२) का सिद्धान्त है—

कृष्णवर्णं लिप्यकृष्णं साङ्गोषाङ्गस्यापर्यन्तम् ।
यज्ञः संकीर्तनप्रायैर्यजनिति हि सुमेधसः ॥

संकीर्तन प्रवर्तक श्रीकृष्ण चैतन्य ।
संकीर्तन यह तोरे भजे सेह धन्य ॥

भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुने स्वयं कीर्तन करके दिखा दी है—

हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ।
हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे ॥

कृष्णकांक्षे नामस्त्वपे हृष्ण अवतार ।
नाम हृते सर्वजगत् हम त निष्ठार ॥

स्वरूप दामोदरके प्रश्नके उत्तरमें गम्भीरमें अवस्थानके समय श्रीमहाप्रभुने कहा था—

मुन स्वरूप रामराय नामसंकीर्तन कलौ परम उपाय ।
संकीर्तन यज्ञे कलौ कृष्ण आराधन ।
सेह त सुमेहा पाप बुण्डार चरण ॥

विष्णु-मन्दिर-मिर्मण, देवताप्रतिष्ठा, प्राकार-विभान आदिकी संस्था, उच्चाता, विस्तार आदिके समन्वयमें भारतीय स्थापत्यमें विराट् साहित्य विद्यमान है । शास्त्रानुग्रहादित देश-काल आदिका विचार करके ऐवतारकी प्रविष्टि और अर्चनाके प्रवर्तनमें कितने नये-नये तीर्थोंकी कृष्ण वैष्णवोंने की है, इसकी गणना कौन कर सकता है ? मन्दिरमव भारतवर्षमें विष्णु-मन्दिरोंकी संख्या सवपिक्षा अधिक है, यह कहनेमें अत्युक्ति नहीं है । आधुनिक मन्दिरोंमें प्राचीन गोपुरोंमें अवस्थित देवी-देवताओंकी मूर्तियाँ प्रायः कुत हो रही हैं और उनके स्थानमें अधिकार कर लिया है मन्दिरकी दीवालोंपर साधु-मंत्र महापुरुषोंके चित्रोंने । किसी-किसी मन्दिरकी दीवालमें गीता-भागवतके ऋक भी उल्कीण ऐसे जाते हैं । ये यद मन्दिर आगे साधकोंको शास्त्रानुशीलनके लिये प्रेरणा प्रदान करते—यह आशा की जाती है । उत्तरमें बद्रीनारायण, दक्षिणमें विठ्ठला, तिष्यादि, विष्णुकांडी, चरदराज, पश्चिममें सुदामापुरी, वेट झारका, समुद्रके तटपर पुरुषोंजम नीलाचलनाथ, मध्यमात्रमें अयोध्यामें श्रीराम, मथुरा-बृन्दावनमें श्रीकृष्ण तथा उन्हींके विशेष आविर्भाव नदियामें श्रीकृष्णचैतन्य हैं । इस वैष्णव-भावधाराके उच्छ्वासमें वेवल धर्म और धार्मिक ही नहीं, वल्कि कितने गुणी, जानी, शिल्पकार और कवियोंकी मानसिक शक्तिका—मनोराज्यका विकास हुआ है, इसका इविहास कौन लिखेगा ? भारतीय साहित्यको वैष्णव कवियोंने जिस प्रकार संजीवित, स्वरूपित और समृद्ध बनाया है, उसके प्रभावने भारतकी प्रस्त्रेक भाषाके लमर अपनी छाप लगा दी है । दिल्लीके सभीष सूरदास; महाराष्ट्रमें शानेश्वर, नामदेव, तुकाराम; गुजरातमें नरसी मेहता, राजस्थानमें भीरोंबाई, असम प्रदेशमें इंकरदेव, गङ्गालमें जयदेव-चण्डीदास, गोविन्ददास; मिथिलामें विद्यापति, उड़ीसामें जगन्नाथदास—जौर मी कितने वैष्णव कवियोंके काव्य, पद, पदावली, दोहा, सोरडा, और्वा

और अभिज्ञोंके द्वारा परमदेवताकी भवित्वाका वर्णन हुआ है, उसकी सीमा नहीं है।

बैष्णव-शास्त्र-मन्थन करके जो विभिन्न मतवादोंकी समालोचना तथा चिदान्तोंके प्रचारके द्वारा भक्तिमें सचि उत्पादन करते हैं, वे मानव-समाजके परम बन्धु हैं। उनको प्रादेशिकताका विश्वाष्ट कमी स्पृश्य नहीं करता; भाषाकी सीमामें उनकी भावधारा अवश्य नहीं रहती; देशाचारका लपात्तर उनके हृदयमें भावान्तरकी सुहिनहीं रहती। भक्तिकी कथा—चाहे वह संस्कृत, हिन्दी, मराठी, गुजराती, तमिल, उडिया, कंगाली, असमिया आदि किसी भी भाषामें हो—हरिकथा बैष्णवके लिये परम आदरणीय है। बैष्णव मापाका विरोध नहीं करता। एकनाथ महारुप कहते हैं—

आतो संस्कृता किंवा प्राकृता मात्रा ज्ञाती जे हरिकथा।
ते वावनन्दि तत्त्वता सत्य सर्वथा मानली॥

संस्कृत या जो कोई प्राकृत माध्य हो, हरिकथा उसका गौरव है। साधुगण हस प्रकार सभी भाषाओंको सम्मान

प्रदान करते हैं। भाषाकी सम्पत्ति है—हरिकथा, वैष्णवोंकी सम्पत्ति है—हरिनाम-हरिमति। वैष्णव-शाहित्यमें भक्त-जीवनकी कल्पना, कहानी और प्रातिके आनन्दते मरणगत्यमें अमृतधाम-को प्रतिडित किया है। व्रजलीला संकीर्तन-मण्डलमें आस्वादनीय हो गयी है। बैष्णवगण समिलित स्वरमें हरिनाम-संकीर्तन करके नित्यधामके माधुर्यके रसमें मम ही जाते हैं। वैष्णवधर्म इस प्रकार प्राकृत लोकमें मी चिन्मयराज्यका विस्तार करता है अनुरागीके अनुरागसे। अतएव प्रवोधानन्द सरस्वतीकी भाषामें प्रार्थना है—

दन्ते निष्ठाय लृणकं पद्योर्निष्ठत्वं

कृत्वा च काङ्क्षात्मेतद्वां चकीभि ।

हे साधवः सकलमैव विहाय दूराद्

गौराङ्गचन्द्रचरणे दृख्यात्मुरागम् ॥

(शैवतंयचन्द्राद्यत)

दाँतोंमें तूण दबाकर चरणोंमें गिरकर शतवार विनयपूर्वक प्रार्थना करता हूँ—हे दाखुण ! और सब कुछ दूरसे ही ल्यागकर श्रीगौराङ्गचन्द्रके चरणोंमें अनुरागी हों।

धार्मिक एकता

(ऐसक—स्वामीजी शीरामदासी महाराज)

संसारमें अनेक धर्म, जाना मत और अगणित सम्प्रदाय हैं। प्रत्यक्षतः उन सबका उद्देश्य एक ही है—मानव-हृदयमें परस्पर एक आध्यात्मिक सम्बन्धके बोधको—मानवभावनेके प्रति आत्मभावना एवं भगवान्के प्रति पितृभावना अथवा मातृ-भावनाको जगा देना। परंतु वास्तविक स्थिति क्या है ? एकता, प्रेम और आत्मत्वका पोषक बनानेके स्थानपर वे मनोमालिन्य भड़काने तथा मानव-मानवके बीच पारस्परिक सम्बन्धोंको तोड़नेमें व्यस्त हैं और आश्रयकी बात है कि वह सब होता है भगवान्के नामपर।

यदेवदे आचार्य, जिन्होंने भगवान्के प्रकाशको मनुष्योंके हृदयतक पहुँचाया, किसी एक धर्म, समाज, मठ या मन्दिरके होकर नहीं रहते थे। सारा संसार ही उनके लिये मन्दिर था और उनके भगवान् सभी प्राणियों तथा जीवोंके हृदयमें विश्वजमान रहते थे। इसीलिये उनका स्वेह मनुष्य-कृत मर्तों और वगोंपर विशेष ध्यान दिये जिना सबके जारी समानरूपसे बरसता था। वायुकी भाँति उन्मुक्त था उनका

प्रेम, सूर्यके प्रकाशके समान विश्वधारिनी थी उनकी हृषि और मानव-जातिके प्रत्येक व्यक्तिके लिये समान थी उनकी सेवा।

पार्थिव प्रभुता और गौरव प्राप्त करनेके लिये संसारमें संघर्ष, संगर और संग्राम मच रहा है। इन उद्देश्योंके पीछे हीड़नेवाले जन वास्तवमें अपनी अधःप्रकृति अथवा अपने अवसर अन्तःकरणकी प्रेरणाओंके शिकार बन रहे हैं। किंतु उनके विषयमें क्या कहा जाय, जो उपदेश, हिंसा तथा दुःखकी सूषि किया करते हैं और वह भी उन भगवान्के नामपर जो पूर्ण प्रेम, करुणा और शान्तिके स्वरूप हैं ?

पुनः कुल, वैभव, मर्यादा और जातिके अभिमानियोंमें जिस प्रकाशकी बहुध्यनकी भावना बनात रहती है, वैसी ही बात संसारके महान् आचार्योंके अनुयायियोंमें भी देखी जाती है। वे कहते हैं, केवल मेरे गुरु ही पूर्णकथाको प्राप्त हैं और आपको नुक्ति केवल उनके ही अनुसरणसे प्राप्त हो सकती है। मेरा ही धर्म सदा धर्म है और अन्य धर्म मिलता है,

केवल में ही सम्य भानव हूँ, शेष सब अनीश्वरनादी और धर्मविरोधी हैं। जबतक धर्मसुरधर कहे जानेवालोंमें इस प्रकारकी भावना अपना अड्डा जमाये हुए हैं, संसारमें एकता; एकस्वरता और शान्ति लानेकी अपेक्षा वे केवल वैमनस्य और विद्रोहक ही रिस्तार करते हैं।

भगवान्की धारणा ही सार्वभौम समन्वय और शान्तिके विद्वान्तमर आचारित है। भगवान् और मानवताका सच्चा सेवक है वह, जिसने इस सत्यको दृढ़यंगम कर लिया है, जो भगवत्प्रेमकी एकसूत्रमें वॉधेनेवाली शक्तिको जानकर अपने साथी सभी मानवसमाजको भगवान्के एक परिवारका सदस्य भानता है। वह सबमें भगवान्के दर्दीन करता है। इसी स्थितिमें उसके दृढ़यमें प्रेमकी बाहु आ जाती है। इसी स्थितिमें द्रिव्य ज्योतिरे उसकी ओँहें चमकने लगती हैं और अन्तर्गती भगवान्के चरणोंपर उसका जीवन न्यौष्ठावर हो जाता है। सम्प्रति इसी प्रकारके आध्यात्मिक जागरणकी आवश्यकता है। मनुष्यको अपने दृढ़यको कुद्र करके उसे दिव्य प्रैमने औत-ओत कर लेना चाहिये और उसकी जीवनसरिताकी आनन्दमयी धारा द्वुःखान्तर्मानकी सेवामें अनायस्प प्रवाहित होती रहनी चाहिये।

नामकरण: नामोल्लेख, संस्था और तमाजकी महत्त्वा गौणस्थानीय है। दैवी सत्ता जिसे चाहे भगवान्, सत्य या वाक्तविकता कहें, उसके द्वारा हमारी आत्मा इस प्रकार अभिभूत हो जानी चाहिये कि इस उसकी सत्तामें विलीन हो जायें और उसीके नाम स्वरूप बन जायें। भगवान् श्रीकृष्ण, कुद्र एवं अन्यान्य महापुरुषोंको महान् आदर्श मानकर केवल दूरसे उनकी पूजा कर लेना ही पर्वात नहो है। हमको अपने जीवनको इस प्रकार रूपान्तरित करना होगा कि हम भी उनके स्थीप यहुँच जायें, उनकी ऊँचाईतक उठ जायें और अपने यथार्थ, दिव्य एवं अमर स्वरूपको पहचान लें।

भीतरसे तो प्रत्येक आत्मा भगवान्के प्रकाश और आनन्दमें रानन कर रहा है। इस महिमाको वदि हम जन लें तो हम संसारमें शान्ति और सद्भावनाको तुला सकते हैं, अन्यथा नहीं। भगवद्दृढ़यको स्वर्ण जलेवाला, जैचा उडानेवाला और रूपान्तरित कर देनेवाला ल्ललत्त उदाहरण चने विना कोरे उपदेशोंसे कुछ उपकार होनेका लहों।

कुद्रोंके कारण संसार एक भवानक यन्त्रणाके कालको

पार कर रहा है। इस समय हम सबके लिये शोभाकी वस्तु नहीं है कि हम अपने कुद्र विदेशीको जलमग्न करके एक साथ विद्वनियन्ता भगवान्की और अपना हृदय उठाकर संसारमें शान्ति और सद्भावनाके लिये उनमें प्रार्थना करें। भगवान् और उनकी लौलाको सम्मूर्खस्थितीसे जान लेना हमारे अधिकारके बाहरकी वस्तु है। उनके विषयमें जो सीमित और अपूर्ण धारणाएँ हम बनाते हैं, उन्हें लेकर हमें लड़ना नहां चाहिये। हम इतना जानते हैं कि भगवान् सर्वशक्तिमान्, सर्वतुल्य और सर्वकरुणाकर हैं। हमें चाहिये कि हम अबने दृढ़यका द्वारा मुक्त कर दें, जिससे उनकी शक्ति और कुपा हमारे भीतर जाग उठे। हमें चाहिये कि हम अपनी इच्छाको उनके चरणोंमें बिलीन कर दें, बिलसे वे हमको अपना यन्त्र बना सकें। हमारी कुद्र सत्ता उनके जाव्यल्यमान स्वरूपमें समा जाय। उनके नामग्रह हम संसारके सब लोगोंको प्यार करें। दुःख और शोकमें पड़े हुए सब लोगोंके प्रति दया और उहानुभूतिसे हमारा दृढ़य द्रवित हो उठे। हम उनके ऊर भगवान्के चरदानका आङ्कान करें। उनके दिव्य गुणोंको उत्तराधिकारमें प्राप्तकर हम भगवान्की सभी संतान बनें।

परमात्माका संदेश

संसार प्रश्न-जीवासे तड़प रहा है—

एक नया जन्म देखेके लिये, एक नवी सृष्टि रचनेके लिये। लीर्प परमात्मा, रीते आचार शीर्प मानवताएँ— सब भूमेकी देरियों हैं।

जल रही हैं ज्वलामें महान् विष्वनके ।

कालपूरुष चल पड़ा है विनाश करनेके लिये ।

और करनेके लिये फिरसे निर्माण

अद्यमुत सुविद्याल प्राप्ताद्

साय-साय शान्तिका—

अरे एक ऐसी मानव-जातिका, जो गुणी होगी एकत्रके सज्जोंपै, मानकर—सबका आधार है सच्चा सनातन, एक मूलस्रोत सकल प्राणिमात्रका ।

संदेश परमात्माका—सारी मानवता मुक्तमें समायी हुई, मुक्तमें मतजीवन है ।

जीवनको शांटो मत, काटो मत—मैंने है जन्म लिया फिरसे एक नयी चेतनामें ।

इस बदले हुए दृढ़यको स्वीकार करो...सच्चे बनो और सार्वभौम !

हमारा धर्म

(श्रीबीजद्विष्ट)

हमारा धर्म सनातन-धर्म है। यह धर्म विवेध, त्रिमार्ग-गमी और विकर्म-रत है। हमारा धर्म विविध है। भगवानने अन्तरस्मा, मानसिक जगत् और स्थूल जगत्—इन्हीं तीन धारोंमें प्रकृतिसृष्टि भवाशक्तिचालित विश्वके रूपमें अपने-आपको प्रकट किया है। इन्हीं तीन धारोंमें उनके साथ युक्त होनेकी चेष्टा करना सनातन-धर्मका त्रिविधत्व है। हमारा धर्म त्रिमार्गगमी है। ज्ञान, भक्ति और कर्म—इन तीन स्वतन्त्र या सम्बलित उपायोंसे उच्च युक्तवस्थाको मनुष्य प्राप्त कर सकता है। इन तीन उपायोंसे आत्मशुद्धि करके भगवान्के साथ युक्त होनेकी इच्छा करना ही सनातन-धर्मकी विमार्गगमी गति है। हमारा धर्म विकर्मरत है। मनुष्यकी सभी प्रधान दृष्टियोंमें जो तीन दृष्टियाँ अध्यगामिनी, ब्रह्म-प्राप्ति-यद्यादिनी हैं, वे हैं—सत्य, प्रेम और शक्ति। इन्हीं तीन दृष्टियोंके विकासके द्वारा मानव-जातिकी क्रमोन्नति साधित होती अथ रही है। सत्य, प्रेम और शक्तिके द्वारा विमार्गमें अग्रसर होना ही सनातन-धर्मका भिक्षम है।

सनातन-धर्मके अंदर बहुतसे गौण-धर्म निहित हैं, सनातनका अवलम्बन करके महान् और क्षुद्र नाना प्रकारके परिवर्तनशील धर्म अपने-अपने कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। सभी प्रकारके धर्म-कर्म स्वभावसृष्टि होते हैं। सनातन-धर्म जगत्के सनातन स्वभावपर आकृति है और ये नाना प्रकारके धर्म नानाविधि आधारगत स्वयंवक्तके फल हैं। व्यक्तिगत धर्म, जातिगत धर्म, वर्णाभित धर्म, युग-धर्म इत्यादि नाना प्रकारके धर्म हैं। ये सब अनिष्ट होनेके कारण ही उपेक्षणीय या वर्जनीय नहीं हैं, बल्कि इन्हीं अनिष्ट परिवर्तनशील धर्मोंके द्वारा सनातन-धर्म विकसित और अनुष्ठित होता है। व्यक्ति-धर्म, जाति-धर्म, वर्णाभित धर्म, युग-धर्म इत्यादिका परित्याम करनेसे सनातन धर्मकी पुष्टि नहीं होती, बल्कि अधर्मकी दी दृष्टि होती है तथा यीनामें जिसे संकर कहा गया है—सनातन प्रणालीका भङ्ग और क्रमोन्नतिकी विपरीत गति—बहु चतुर्नदाको धाप और अत्याचारसे दृग्ध करता है। जब उस पाप और अत्याचारकी अतिरिक्त मात्रासे मनुष्यकी उन्नतिकी विरोधिनी धर्मनाशिनी आसुरिक शक्तियाँ वर्द्धित और वल-शाली होकर स्वार्थ, कृपा और अहंकारसे दसों दिव्याओंको अच्छल कर देती हैं, जगत्में अनीश्वर ईश्वरका रूप ग्रहण

करना आसान करता है; तब भारती शृणुवीका दुख कम करनेके लिये भगवान्के अवतार या विभूति सानन्द-शरीरमें प्रकट होकर पुनः धर्मरथको निष्काष्टक बनाते हैं।

सनातन-धर्मका ठीक ढीक पालन करनेके लिये व्यक्तिगत धर्म, जातिगत धर्म, वर्णाभित धर्म और युग-धर्मका आचरण सर्वदा रक्षणीय है। परंतु इन नानाविधि धर्मोंमें क्षुद्र और महान्—दोनों प्रकारके रूप हैं। महान् धर्मके साथ क्षुद्र धर्मकी मिलाकर और संशोधितकर उसका पालन करना श्रेयत्कर है। व्यक्तिगत धर्मको जाति धर्मके क्रोडमें इकाकर उसका आचरण नहीं करनेसे जाति नष्ट हो जाती है एवं जातिधर्मके छुट हो जानेसे व्यक्तिगत धर्मका क्षेत्र और सुरोग नष्ट हो जाता है। यह भी धर्मसंकर है—जिस धर्म-संकरके प्रभावसे जाति और संकरकारीगण दोनों अदल नरकमें नियमन होते हैं। सबसे फहले जातिकी रक्षा करनी चाहिये; तभी व्यक्तिकी आप्यात्मिक, नैतिक और आर्थिक उच्चति नियपद बनायी जा सकती है। वर्णाभित धर्मको भी युग-धर्मके सौंचेमें ढालकर यदि उसे गठित न किया जाय तो महान् युग-धर्मकी प्रतिकूल गतिसे वर्णाभित धर्म चूर्ण-पिचूर्ण और नष्ट हो जाता है और उसके फलस्वरूप समाज भी चूर्ण-चूर्ण और नष्ट हो जाता है। क्षुद्र रक्षा ही महात्मा अंश और सहायक होता है। इस स्वयंधर्मकी विपरीत अवस्थामें धर्म-संकरसमूह घोर अनिष्ट होता है, क्षुद्र धर्म और महान् धर्मके बीच विरोध होनेपर क्षुद्र धर्मका परित्याग करके महान् धर्मका आचरण करना ही मङ्गलप्रद होता है।

हमारा उद्देश्य है—सनातन-धर्मका प्रचार करना और सनातन-धर्माभित जाति-धर्म और युग-धर्मका अनुष्ठान करना। हम भारतवासी आर्यजातिके बंशधर हैं, आर्य-शिष्य और आर्य-मीतिके अधिकारी हैं। यह आर्यभाव ही हमारा कुल-धर्म और जाति-धर्म है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्म आर्य-शिष्यके मूल तत्व हैंतथा ज्ञान, उदारता, प्रेम, साहस, शक्ति और विनय आर्य-चरित्रके लक्षण हैं। मानवजातिये ज्ञान प्रदान करना, जगत्में उन्नत उदार चरित्रका निष्काष्टक आदर्श रखना; दुर्वलकी रक्षा करना, प्रवल अत्याचारीको दण्ड देना आर्य-जातिके जीधनका उद्देश्य है। उसी उद्देश्यको सिद्ध करनेमें

उसके धर्मकी चरितार्थता है। हम धर्मज्ञ, लक्ष्यज्ञ, धर्मसंकर, होकर और आनिसंकुल तामसिक मोहमें पड़कर आर्थशिक्षा और जार्य-नीतिये रहित हो गये हैं। हम आर्य होकर शूद्रलव और शूद्रधर्मलव दासत्वको अझीकारकर जगत्‌में हैश, प्रबल-पद-दलित और दुःख-नरमरण-प्रपीड़ित हो रहे हैं। अतएव यदि हमें जीवित रहना हो, यदि अनन्त नरकसे मुक्त होनेकी लेशमात्र भी अभिलाषा ही तो अपनी जातिकी रक्षा करना हमारा प्रथम कर्त्तव्य है और जाति-रक्षाका उपाय है आर्य-चरित्रको पुनः अपने अंदर गठित करना। हमारा पहला उद्देश्य है अपनी समस्त जातिको, विशेषकर युवक-सम्पदाद्यको ऐसी उपसुक्त शिक्षा, उच्च आदर्श और आर्यभावोदीपक कार्य-प्रणाली देना, जिससे जननी जन्मभूमिकी भावी संतान ज्ञानी, सत्यनिष्ठ, मानव-प्रेमपूर्ण भ्रातुभावकी भावुक, साहसी, शक्तिमान् और विनीत हो। जबतक हम इस कार्यमें सफल नहीं होते, तबतक सनातन-धर्मका प्रचार करना चेन्ल उसर क्षेत्रमें बीज बोनेके समान है।

जाति-धर्मका पालन करनेसे युग-धर्मकीसेवा करना सहज हो जाता है। यह युग शक्ति और प्रेमका युग है। जब कलिका आरम्भ होता है, तब ज्ञान और कर्म भक्तिके अधीन और सहायक होकर अपनी-अपनी प्रवृत्तिको चरितार्थ करते हैं, सत्य और शक्ति प्रेमका आश्रय लेकर भजन-ज्ञातिके अंदर प्रेमका विकास करनेकी चेष्टा करते हैं। वौद्ध-धर्मकी मैत्री और दया; ईसाई-धर्मकी प्रेमशिक्षा, मुसलमान-धर्मका साम्य

और भ्रातुभाव, पौराणिक-धर्मकी भक्ति और प्रेमभाव इसी चेष्टाके पाठ हैं। कलियुगमें सनातन-धर्म मैत्री, कर्म, भक्ति, प्रेम, साम्य और भ्रातुभावकी सहायता लेकर मनुष्य-जातिका कल्याण साधित करता है। ज्ञान, भक्ति और निष्काम कर्मके द्वारा गठित आर्य-धर्ममें ही शक्तियाँ प्रविष्ट और विकसित होकर प्रसारित होने और अपनी प्रवृत्तिको चरितार्थ करनेका मार्ग खोज रही हैं। शक्ति-स्फुरणके लक्षण हैं—कठिन तपस्या, उच्चाकाङ्क्षा और महत्वर्तम्। जब यह जाति तपस्यिनी, उच्चाकाङ्क्षिणी, महत्वर्तमप्रयासिनी होती, तब वह समझना होगा कि जगत्‌ली उत्तरितके दिन आरम्भ हो गये हैं, धर्मविरोधिनी आसुरिक शक्तियोंका हास और देवी शक्तियोंका पुनरुत्थान अवश्यभावी है। अतएव इस प्रकारकी शिक्षा भी वर्तमान समयके लिये आवश्यक है।

युग-धर्म और जाति-धर्मके साधित होनेपर सारे जगत्‌में सनातन-धर्म अवाधरुमसे प्रचारिता और अनुष्ठित होगा। पूर्वकालसे विद्वानाने जो निर्दिष्ट किया है, जिसके लम्बन्धमें शास्त्रोंमें भविष्यताणी की गयी है, वह भी कार्यमें अनुसूत होगा। समस्त जगत् आवृद्धेशसमूह वृद्धज्ञानियोंके पास ज्ञान-धर्मका शिक्षार्थी बनकर, भारत-भूमिको तीर्थ मानकर अवनन्त-मासक होकर इसका प्राधान्य स्वीकार करेगा। उसी दिनको ले आनेके लिये भारतवासियोंका जागरण हो रहा है, आर्यभावका पुनरुत्थान हो रहा है। ('धर्म' पत्रिकासे) (प्रेपक—श्रीचार्ददीपनारायणी विष्वासी, श्रीअरुनिन्दाश्रम, गोदावरी)

+---+---+

स्वधर्म

(लेखक—श्रद्धेय संत श्रीविनोदा भावे)

स्वधर्मका स्वरूप और उसका पालन

स्वधर्म कितना ही चिगुण हो, तो भी उसीमें रहकर मनुष्यको अपना विकास कर लेना चाहिये; क्योंकि उसीमें रहनेसे विकास हो सकता है। इसमें अभिमानका कोई प्रक्षम नहीं है। यह तो विकासका सूक्ष्म है। स्वधर्म ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसे बड़ा समाजकर महण करें और छोटा समाजकर छोड़ दें। बद्युतः वह न बड़ा होता है न छोटा। वह हमारे घोलका होता है।

× × ×

दूसरेका धर्म भले ही श्रेष्ठ मालूम हो, उसे ग्रहण करनेमें मेरा कल्याण नहीं है। यहका प्रकाश मुझे प्रिय है। उस

प्रकाशसे मैं बढ़ता रहता हूँ। सर्व मुझे बन्दनीय भी है। परंतु इसलिये यदि मैं पृथ्वीपर रहना छोड़कर उनके पास जाना चाहूँगा, तो जल्दकर खाक हो जाऊँगा। इसके विपरीत मैले ही पृथ्वीपर रहना चिगुण हो, सर्वके सामने पृथ्वी विलक्षुल हुआ हो, वह स्व-प्रकाशी न हो; तो भी जबतक सर्वके हैंजो सहन करनेकी सामर्थ्य मुझमें न आ जायगी, तबतक सर्वसे दूर पृथ्वीपर रहकर ही मुझे अपना विकास कर लेना होगा। मछलियोंसे यदि कोई कहे कि 'पानीसे दूध कीमती है, तुम दूधमें रहने चलो' तो व्या मछलियों उसे मंजूर करेंगी। मछलियों तो पानीमें ही जी सकती हैं, दूधमें मर जावेगी।

× × ×

यह स्वधर्म हमें निसर्गतः ही प्राप्त होता है। स्वधर्मकी कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता।

जिन माँ-बपकी कोखसे में जन्मा हूँ, उनकी सेवा करने-का धर्म मुझे जन्मतः ही प्राप्त हो गया है और जिस समाजमें सैने जन्म लिया, उसकी सेवा करनेका भी धर्म मुझे क्रमसे अपने-आप ही प्राप्त हो गया है। सच तो यह है कि हमारे जन्मके साथ ही हमारा स्वधर्म भी जन्मता है। बल्कि यह भी कह सकते हैं कि यह तो हमारे जन्मके पहलेसे ही हमारे लिये तैयार रहता है, क्योंकि वह हमारे जन्मका हेतु है। हमारा जन्म उसकी पूर्तिके लिये होता है।

X X X

स्वधर्म हमें इतना खहज प्राप्त है कि हमसे अपने-आप उसीका पालन होना चाहिये। परंतु अनेक प्रकारके भोद्दों-के कारण ऐसा नहीं होता, अथवा वही कठिनाईसे होता है और हुआ भी तो उसमें विष—अनेक प्रकारके दोष मिल जाते हैं। स्वधर्मके मार्गमें ऑटि मिश्रनेवाले इन भोद्दोंके बाहरी रूपोंकी तो कोई गिनती ही नहीं है। पिर भी जब हम उनकी आनंदीन करते हैं, तो उन सबकी तरफें एक ही बात दिखायी देती है—संकुचित और छिपली देह-नुदि।

X X X

गीतामें 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म'के अर्थमें व्यवहृत हुआ है। हमारा ज्ञाना, धीमा, सोना—ऐ कर्म ही है; परंतु गीताके 'कर्म' शब्दसे ये सब कियाएँ सूचित नहीं होतीं। कर्मसे वहाँ मतलब स्वधर्माचरणसे है। परंतु इस स्वधर्माचरण-रूपी कर्मको फरके निष्कामता प्राप्त करनेके लिये और भी एक बहुकी सहायता जरूरी है। वह है काम और क्रोधको जीतना। चित्त जबतक गङ्गाजलकी तरह निर्मल और प्रशान्त न हो जाय, तभी तक निष्कामता नहीं आ सकती। इस तरह चित्त-संकोषनके लिये जो-न्हों कर्म किये जायें, उन्हें भीता 'विकर्म' कहती है। 'कर्म', 'विकर्म' और 'अकर्म'—ये तीन शब्द चौथे अध्यायमें बड़े महत्वके हैं। 'कर्म'का अर्थ है, स्वधर्माचरणकी बाहरी—ल्यूछ किया। इस बाहरी क्रियामें चित्तको लगाना ही 'विकर्म' है। ऊपरसे हम किसीको नमस्कार करते हैं; परंतु सिर छुकानेकी उस अपरी क्रियाके साथ ही भीतरसे मन भी न छुकता हो, को बाहर क्रिया व्यर्थ है। अन्तर्दीया—भीतर और बाहर—दोनों एक होना चाहिये। बाहरसे मैं शिव-पिण्डपर सतत जल-धारा गिराते हुए अभिषेक करता हूँ। परंतु इस जल-धाराके साथ ही यदि

मानसिक चिन्तनकी धारा भी अलगड़ न चलती रहती हो, तो उस अभिषेककी क्रमा कीमत रही ! पिर तो वह शिव-पिण्ड भी पत्थर और मैं भी पत्थर हूँ। पत्थरके सामने पत्थर बैठा—यही उसका अर्थ होगा। निष्काम कर्मत्रोग तभी सिद्ध होता है, जब हमारे बाह्य कर्मके साथ अंदरसे चित्त-गुद्दिल्पी कर्मका भी संयोग होता है।

निष्काम कर्म इस शब्द-प्रयोगमें 'कर्म' पदकी अपेक्षा 'निष्काम' पदकी ही अधिक महत्व है, जिस तरह 'अहिंसात्मक असहयोग' शब्द-प्रयोगमें 'असहयोग'की विस्तृत 'अहिंसा-त्मक' विद्येयणको ही अधिक महत्व है। अहिंसाकी दूर होयकर यदि केवल असहयोगका अवलम्बन करेंगे, तो यह एक भयंकर चीज बन सकती है। उसी तरह स्वधर्माचरण-रूपी कर्म करसे हुए यदि मनका शिकर्म उसमें नहीं जुङा है तो उसे धोखा समझना चाहिये।

आज जो लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे स्वधर्मका ही आचरण करते हैं। जो लोग गरीब, कंगाल, दुखी और मुसीबतमें होते हैं, तब उनकी सेवा करके उन्हें सुखी बनाना प्रवाह-प्राप्त धर्म है। परंतु इसमें यह अनुमान न कर लेना चाहिये कि जितने भी लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे सब कर्मयोगी हो गये हैं। लोकसेवा करते हुए यदि मनमें छुट्ट भवना न हो, तो उस लोकसेवाके भवनाके हीनेकी सम्भावना है। अपने कुटुम्बकी सेवा करते हुए जितना अहंकार जितना द्रेप-मत्सर, जितना स्वार्थ आदि विकार हम उत्पन्न करते हैं, उतना सब लोकसेवामें भी हम उत्पन्न करते हैं और इसका प्रत्यक्ष दर्जन हमें ज्ञान-कल्पकी लोक-सेवा-मण्डलियोंके जमघटमें भी हो जाता है।

X X X

यह स्वधर्म निश्चित कैसे किया जाय—ऐसा कोई प्रश्न नहीं, तो उसका सरल उत्तर है—‘वह स्वाभाविक दोहरा है।’ स्वधर्म सहज होता है। उसे खोजनेकी कल्पना ही विचित्र मालूम होती है। मनुष्यके जनके साथ ही स्वधर्म भी जनमा है। बच्चेको जैसे अपनी माँकी तलाश नहीं करनी पड़ती—वैसे ही स्वधर्म भी किसीको तलाशना नहीं पड़ता। वह तो पहलेसे ही प्राप्त है। हमारे जनके पहले भी दुनिया थी, हमारे बाद भी वह रहेगी। हमारे पीछे भी एक बहा प्रवाह था और आगे भी यह है ही—ऐसे प्रवाहमें हमारा जन्म हुआ है। जिन माँ-बपको यहाँ मैंने जन्म लिया है, उनकी सेवा, जिन पास-पहुँचियोंके द्वीच जन्मा हूँ, उनकी सेवा।

ये कर्म सुझे निर्गतः ही मिले हैं। फिर ऐसी बृहिर्याँ तो मेरे नित्य अनुभवकी ही हैं न इ सुझे भूल लगती है, प्यास लगती है। अतः भूखेको भोजन देना, प्यासेको पानी प्रदाना, यह धर्म सुझे स्वतः प्राप्त हो गया है। इस प्रकार यह मेवासु, भूतदयाल्य स्वधर्म हमें खोजना नहीं पड़ता। जहाँ कटी स्वधर्मकी खोज हो रही हो, वहाँ निश्चित समझ लेना चाहिये कि कुछ-न-कुछ परधर्म अथवा अधर्म हो सका है।

X X X

चारुर्ध्वंश्च-व्यवस्था को सुझे मधुर मालूम होती है। उसका कारण यही है कि उसमें स्वाभाविकता और धर्म रहने हैं। इस स्वधर्मको छोड़नेमें काम नहा चल सकता। जो माँ-बाप सुझे प्राप्त हुए हैं, वे ही मेरे माँ-बाप रहेंगे। यदि मैं यह कहूँ कि वे सुझे परमें नहीं हैं, सी बैठे चलना। माँ-बापका पेजा स्वाभावित ही लड़केको नियशतमें मिलता है। जो पेजा पूर्वावस्थे चला आया है, वह यदि नीति विचार न हो, तो उसको करना, उसी दौदीमाली आये चलना चारुर्ध्वंश्चकी एक बड़ी विशेषता है। वह चारुर्ध्वंश्चया आत अल्प-व्यस्थ हो गयी है। उसका पालन आज चतुर किटिन ही गया है। परंतु वहि वह टीक दगपर लायी जा रही, तो चतुर अच्छा होगा; नहीं तो आज शुरुके पचीस-सौस चाल तो नये धूषे सीखनेमें ही चले जाते हैं। काम सीख लेनेपर तिर मनुष्य अपने लिये बीवा-क्षेत्र, कार्य-क्षेत्र खोजता है। इस तरह शुल्के पचीउ सालतक तो वह सीखता ही रहता है। इस शिखाका उसके जीवनमें कोई सम्बन्ध नहीं रहता। कहते हैं, वह भावी जीवनकी तैयारी कर रहा है। शिखा प्राप्त करते समय मानो वह जीता ही न हो। जीवा बादमें है। कहते हैं, परले सब सीखाना और बादमें जीता। मानो जीता और सीखाना, मेरे दोनों चीजें अल्प-अलग कर दी गयी हैं। जहाँ जीवेका सम्बन्ध नहीं, उसे मरना ही तो कहेंगे। हिंदुस्तानकी ओसत उम्म तेहर्ष साल है और पचीस सालतक सो वह तैयारी ही करता रहता है। इस तरह नया काम-धंधा चीखनेमें ही दिन चले जाते हैं। तब नया काम-धंधा चुल होता है। इससे उम्म और महत्वके वर्षे व्यर्थ चले जाते हैं। जो उत्साह, जो उमंग जनसेवामें सर्वं करके जीवन सार्थक किया जा सकता है, वह यों ही व्यर्थ चली जाती है। जीवन कोई लेल नहीं है। पर हुश्वकी बात कि जीवनका पहला अमूल्य अंश तो काम-धंधा लेखनेमें ही चला जाता है। हिंदू-धर्मने इसीलिये वर्ण-धर्मकी युक्ति निकाली है।

साधकके लिये स्वधर्मका हल

शारीर यह कि तामस और राग्य कर्म तो मिलकूल छोड़ देने चाहिये और सात्त्विक कर्म रखना चाहिये। इसके साथ ही वह विवेक रखना चाहिये कि जो सात्त्विक कर्म सद्गुर और स्वाभाविक रूपमें तामस आ जाये, वे उदाहरण देंते हुए भी साध्य नहीं हैं। दोष होता है तो होने वे। उस दोषमें पीड़ा चुदाना चाहिये, तो दूसरे दोष पहले आ पड़ेंगे। अगमी नहुटी नाक जैसी है, वैसी ही रहने दो। उसे अगर काटकर दुख्त बनानेकी कोशिश करोगे, तो वह और भी भवानक और भट्टी दीजेगी। वह जैसी है, वैसी ही अच्छी है। सात्त्विक कर्म रहनेपर हीनेवर भी स्वाभाविक रूपमें प्राप्त होनेके कारण नहीं छोड़ने चाहिये। उन्हें करना है, लेकिन उनका फल छोड़ना है।

और एक बात कहनी है। जो कर्म यज्ञ, स्वाभाविक स्वयंप्राप्त न हुए हों, उनके बारेमें तुम्हें मिला लगता हो कि वे अच्छी नहर किये जा सकते हैं, तो वे उन्हें मन करो। उत्तरे ही कर्म पर्याप्त जितने यज्ञन्ययमें प्राप्त हों। उद्याद-पदाइ और दीह-धूप करके दूसरे नये कर्मोंके नकारात्में मन पढ़ो। जिन कर्मोंको न्यास तौरपर जोड़नोड़ लगाकर करना पड़ता हो, वे जितने ही अच्छे पूर्ण न हों, उनमें दूर रहो। उनका मोद न करो। जो कर्म सद्गुर प्राप्त हो, उन्हें करकर स्वाग हो सकता है। यदि मनुष्य इस श्वेभूमि कि यह कर्म भी अच्छा है और वह कर्म भी अच्छा है, जीवा और दीड़नेलोग, तो फिर कलन्याय कैसे होगा? उसमें तो सात जीवन ही एक कफीदृष्ट हो जायगी। कफ़की आमाने ही वह इन परधर्मलीपी कर्मोंको करना चाहेगा और कल भी स्वाधसे लो देंगेग। जीवनमें कहीं भी शिखता प्राप्त नहीं होती। चिन्त-पर उस कर्मकी असाकि चिन्तन जापती। अगर सात्त्विक कर्मोंका भी लोभ होने लगे, तो उसे भी दूर करना चाहिये। उन नाना प्रकारके सात्त्विक कर्मोंको यदि करना चाहिये, तो उसमें भी यज्ञसता और तामसता आ जायेगी। इसलिये हम कहीं करो, जो हुम्हारा सात्त्विक, स्वाभाविक और सद्गुर प्राप्त स्वधर्म है।

स्वधर्ममें स्वदेशी धर्म, स्वजातीय धर्म और स्वकालीन धर्मका समावेश होता है। ये तीनों मिलकर स्वधर्म बनते हैं। मेरी वृत्तिके अनुकूल और अनुरूप कथा है और कौन-सा कर्तव्य सुझे आकर प्राप्त हुआ है। वह सब स्वधर्म निश्चित

करते समय देखना होता है। तुम्हें 'तुम्हारा' जैसी कोई चीज़ है और इसलिये तुम 'तुम' हो। प्रत्येक व्यक्तिमें उसकी अपनी कुछ विशेषता होती है। वकरीका विकास वकरी बने रहनेमें ही है। वकरी रहकर ही उसे अपना विकास कर लेना चाहिये। वकरी अगर गाय बनना चाहे, तो वह उसके लिये समझ नहीं। वह स्वयं प्राप्त वकरीयनका त्याग नहीं कर सकती। इसके लिये उसे इतर छोड़ना पड़ेगा। नथा

धर्म और नथा जन्म ग्रहण करना होगा, परंतु इस जन्ममें तो उसके लिये बकरीपन ही परिव्रत है। बैल और मैदकीकी कहानी है न। मैद हीके बढ़नेकी एक सीमा है। वह बैल-जितनी होनेका प्रयत्न करेगी, तो मर जायगी। दूसरेके लिये नकल करना उचित नहीं होता। इसलिये पर-धर्मको भयावह कहा है।

(जीता-प्रवचन से संकलित)

मानव-धर्मका संक्षिप्त स्वरूप

(लेखक—ग्रन्थ नं० श्रीपाद दामोदर सातवाहन महोदय)

कोई भी मनुष्य बाजारमें जाता है और कुछ लेने लगता है तो इसका विचार करता है कि वह पदार्थ अपने सच्चे गुण-धर्मोंसे युक्त है या नहीं और जो पदार्थ सच्चे गुणधर्मोंसे युक्त है, वह उसीको लेता है। एक साधारण मनुष्य इतनी दब्रता धरता है। परंतु मनुष्यको पास करनेमें वह इतनी कसौटी नहीं लगता। मनुष्यके पास इतने पदार्थ जन्मते प्राप्त हुए हैं—

- १—शरीर (स्थूल, सूक्ष्म और कारण—ये तीन शरीर)
- २—इन्द्रिय (पाँच कर्मेन्द्रिय और पाँच ज्ञानेन्द्रिय)
- ३—मन (विचार और मनन करनेका साधन)
- ४—तुदि (ज्ञान-संग्रहस्थान)
- ५—आत्मा (संचालक नेता)
- ६—परमात्मा (विश्वका संचालनकर्ता)

प्रत्येक मनुष्यके पास इतने साधन और संचालनके तत्त्व हैं; प्रत्येक मनुष्य इनका योग्य उत्तमोग करेगा तो नित्यदेह उसका महत्व बढ़ेगा। परंतु मनुष्य शरीर, इन्द्रिय, मन और तुदिको हीन कर्मोंमें प्रयुक्त करता है और कैसता रहता है। वही साधारण मनुष्यका देख है। अतः मनुष्यको चाहिये कि वह अपने मन और तुदिको आत्मज्ञान प्राप्त करने और परमात्माका गुण-चिन्तन करनेके परिव्रत कार्यमें लगाये और अपने-आपको कृतकार्य बनाये।

अपर कहे हुए शरीर, इन्द्रिय, मन, तुदि और आत्मा—ये प्रत्येकके पास होते हैं और एकके अंदर दूसरे होते हैं। शरीरके अंदर इन्द्रियों होती हैं। इन्द्रियोंके अंदर उनका संचालन करनेवाला मन होता है। मनके अंदर तुदि—ज्ञानशक्ति होती है। तुदिके अंदर आत्मा (जीवात्मा) होता

है और जीवात्माके अंदर परमात्मा सर्वाकारलिपें रहता है।

प्रत्येक मनुष्यके अंदर ये होते ही हैं। इनका ऐसा अस्तित्व किसी मनुष्यके अंदर नहीं होता, ऐसी बात नहीं है। मनुष्यको अपने अंदर इनको देखना चाहिये और अन्तर्यामीको यथार्थतः जाननेका यत्त करना चाहिये। विश्वमें मुख्यतः जानने योग्य यही बस्तु है।

इसीको 'आत्मा' अथवा 'जीवात्मा' कहते हैं। 'आत्मा'का अर्थ (अह = सातत्यामने) सतत संचालन करनेवाला है। इसका अनुभव सबको प्राप्त हो सकता है। इस शरीरमें रहकर यह सतत हलचल करता है। इस हलचलपर ही इसकी उन्नति अवलम्बित रहती है।

यदि इसने अच्छे कार्य किये तो इसकी उन्नति होती और बुरे कार्य किये तो अवनति होती। अतः इस आत्माको सदा अच्छे कार्यमें ही दत्तचित्त रहना चाहिये। बुरे कार्यमें लगाना कश्चित् उचित नहीं।

मनुष्यमें कर्मशक्ति है; अच्छे या बुरे कर्म वह सदा करता रहता है। अतः वह नियम करे कि मैं सदा अच्छे-से-अच्छे ही कार्य करूँगा, कभी बुरे कार्यमें नहीं फैलूँगा।

कर्मणैव हि संसिद्धिभास्तिता जनकाद्यः।

(श्रीमहावद्विषया)

जनकादि श्रेष्ठ पुरुषोंको श्रेष्ठ कर्म करनेसे ही सिद्धि प्राप्त हुई थी।

श्रेष्ठ कर्म करना, श्रेष्ठ विचार करना, श्रेष्ठ तत्त्व (परमात्म-तत्त्व) का भनव करना, उसीका ध्यान करना, उसीमें तत्त्वानुत्तम प्राप्त करना। वही मनुष्य-उन्नतिका उत्कृष्ट साधन है। वही धर्म है।

जो यह करेगा, वही सबा अनन्द प्राप्त करेगा।

धर्मके लक्षण

(लेखक—प्रद्वेश स्थानीयी श्रीविद्यानन्दजी लिखे हैं महोदय)

चेदोपदेश

ओजस्त्र सैजश्च सहस्र वलं च वाक्चेन्द्रियं च श्रीश्च
धर्मेन्द्रियम् । (अ० १२।५।७)

(ओजः च तेजः च सहः च वलं च वाक् च इन्द्रियं च
श्रीः च धर्मः च ॥)

धर्मकी परिभाषा

ज्ञानियोंने धर्मकी विविधरूपेण परिभाषाएँ की हैं। उन
सबका अनुशीलन और मनन करनेके उपरान्त में इस
परिणामपर पहुँचा हूँ कि साररूपमें धर्मकी परिभाषाके तीन
प्रमुख अङ्ग हैं—

(१) परमात्माको सर्वव्यापक और सर्वज्ञ जानकर
पापसे बचना ।

(२) कर्मनिष्ठा अथवा कर्तव्यपरायणता ।

(३) लोकहित अथवा विश्वलेवा ।

ये तीनों परिभाषाएँ वेदकी एक-एक सूक्ष्मिये संविष्ट
हैं—‘वायुमारोह धर्मणा’ धर्मके द्वारा वायुपर आरोहण कर—
(वायुं) वायुपर (आरोह) आरोहण कर (धर्मणा) धर्मके
द्वारा ।

वायुका धर्त्वर्थ है सुगति और सुगन्धकी कामना ।
सुगतिमें ही वास्तविक सुगन्धका निवास है। कुणति ही
दुर्गन्धि है। सुगति (सुगत) ही सुगन्ध है। गतिसे
तात्पर्य कर्म कृति चेष्टा है। जिसकी प्रवेषक कृति लौर चेष्टा
म्हुः है, उसकी यथा:सुगन्ध संसारमें व्यापती चली जाती
है। परमात्माको सर्वव्यापक और सर्वज्ञ जानकर पापमुक्त
अथवा निष्पाप और निर्दोष रहना, निष्पापक कर्तव्यका
पालन करना, लोकहितमें निरत रहना—इन तीनोंका समन्वय
शी सुगति है और सुगति ही सुगन्धकी सम्पादिका है। इस
व्याख्याके प्रकाशमें उपर्युक्त सूक्ष्मिका स्पष्टिये है—‘धर्मके द्वारा
सुगति और सुगन्धपर आरोहण कर ।’ धर्म सुगति और
सुगन्धपर आरोहण करता है।

इस सूक्ष्मिका एक और भी नड़ा गहन और सुन्दर
आशय है। असेश्वर दृष्टी बस्तु वायुपर आरोहित होकर
आकाशमें कैंची चढ़ जाती है। जिस प्रकार दृष्टी परङ्ग
रीत (होरे) के आश्रयसे आकाशमें कैंची चढ़ती है, उसी
प्रकार धर्मके आश्रयसे आत्मा कैंचा चढ़ता हुआ विष्णुके

परमोन्नत धारमें प्रवेश करता है। धर्म मानवके जीवनको
इतना हल्का कर देता है कि वह चाहे जितना कैंचा चढ़
सकता है। अधर्म वह भारी पर्याप्त है कि उससे जो बैध
जाता है, वह उसे हुता देता है। लाखों-करोड़ों मन धर्म मी
अतिशय हल्का करके ऊपर-ही-ऊपर चढ़ाये लिये चला जाता
है। उसके विपरीत अधर्मका एक कण भी इतना भारी होता
है कि वह सर्वतः सर्वान्तरतः सर्वथा हुता देता है। धर्म वायु
(सुगति और सुगन्ध) पर आरोहित करके कैंचा उठाता
और ऊपर चढ़ाता है।

(२)

धर्मके लक्षण

(२) ‘ऋ धर्मेष्व तत्र ओजस्त्र ।’ जहाँ धर्म होता है
वहाँ ओज होता है। ओज धर्मका पहल्या लक्षण है। धर्मात्मा
व्यक्ति ओजस्ती हो जाता है। वह उमंग, उत्साह और
जोश-खगोशसे सदैव भरपूर मरा रहता है। उत्साहस्तीता,
शिथिलता, प्रसाद—ये तीन द्रुति अधर्मके सहचारी हैं।
धर्मका ओज अदम्य और अक्षय है—जो न दवाये दबता है
न छिपाये छिपता है। धर्मके ओजसे ओजित व्यक्तिमें अमित
कर्मक्षमता और अपार साधना-निरतता सदैव निहित रहती
है। निसके जीवनमें ओज नहीं है; समझ लौजिये कि उसमें
धर्म नहीं है, धर्मभास मले ही हो ।

(२) ‘ऋ धर्मेष्व तत्र तेजश्च ।’ जहाँ धर्म होगा, वहाँ
तेज होगा। धर्मका तेज वह तेज है, जिसके सामने सूर्यका
रेत भी फैला पड़ जाता है। जिसके जीवनमें धर्म निहित
होता है, निससंदेह वह तेजःपुज्ज होता है। उसके रोम-शोम
और कण-कणसे तेजकी तेजोमयी किरणें कूटवी रहती
हैं। मणवान् शंकरगच्छार्य और महर्षि दयानन्दके तेजके सामने
बहे-बहे शून्यस्त्वा और बहे-बहे राजे-महाराजे नतमस्तक
क्षणों हो जाते थे। आचार्य और महर्षिका वह तेज धर्मका
ही तेज या। विमीणणकी धर्मवती मुत्ती कलाने अपने ताऊ
रावणसे पूछा, ‘देविनी सीताके सामने आप इतने निस्तेज
क्षणों हो जाते हैं? प्लीता धर्मके तेजसे इतनी तेजस्विनी है कि
उसके सामने सूर्यका तेज भी शिथिल पड़ जाता है।’ रावणने
उच्चर दिया। ‘जहाँ कृष्ण हैं, वहाँ धर्म है और जहाँ धर्म है,
वहाँ विजय है।’ इस उक्तिमें धर्मके उसी तेजका संकेत है

जिसका उल्लेख यहाँ बेदमाताने किया है। भगवान् श्रीकृष्ण साक्षात् धर्म थे। इसीलिये वे तेजोऽवतार थे, तेजके साक्षात् अवतार थे—उस तेजके, जिसके अभिमुख पृथिवी थर-थर काँपती थी।

(३) 'अत्र धर्मश्च तत्र सहश्र ।' जहाँ धर्म है, वहाँ सह (सहनशक्ति, सहनशीलता, धैर्य) है। 'सह' और 'धैर्य' शब्द पर्यायवाची हैं। जरा धर्मात्माओंके जीवनचरित्रोंका अवलोकन तो कीजिये। आप देखेंगे कि धर्मी उन्हें कैसा सहनशील अथवा धैर्यका धनी बना दिया था। सहका अर्थ है ध्रुव—धैर्यके साथ मुकाबला करके परास्त करनेकी शक्ति। 'सह' ही है, जिससे मनुष्य धीर कहलाता है। जहाँ धर्म होगा, वहाँ सह अवश्य होगा। हो नहीं सकता कि धर्म हो और सह न हो। धर्मात्मा सहके अवलम्बनसे यहीं-बड़ी पाठियोंको पार करते हैं, बड़ी-से-बड़ी आपत्तिशीरोंका मुकाबला करके उनका मुँह केर देते हैं। धर्मात्माओंका सह ही है जो पञ्चविकारों और बासनाओंको परास्त करके उन्हें अपने जीवन-सदनसे निकाल बाहर करते हैं। धर्मात्माओंके सहकी महिमा अपार है।

(४) 'अत्र धर्मश्च तत्र बलं च ।' जहाँ धर्म है, वहाँ बल है। धर्मका बल ही बल है, सच्चा बल है, टोस बल है; और सारे बल शुद्धे बल हैं, थोथे बल हैं। धर्मका ही बल है जो महाबली मूर्त्युसे खाम ठोककर मिछ जाता है। धर्मका ही बल है, जो अत्याचारों और अत्याचारियोंकी जड़ोंको खोदकर मौक देता है। धर्मका ही बल है, जो अन्यायों और अन्यायियोंकी मष्टविनष्ट करके ही दम लेता है। धर्मका बल वह बल है, जिससे बलवान् होकर अपर्याप्त सैनिक और अखोंसे पर्याप्त सैनिकों तथा शङ्खोंपर विजय प्राप्त की जाती

है। धर्मके बलमें व्राचाश्वल निवास करता है। इसीसे धर्मका बल अजेय है।

(५) 'अत्र धर्मश्च तत्र बाक् च ।' जहाँ धर्म होता है, वहाँ बाक् (बचन) का परिपालन होता है।

एनुकूल रीति सदा चलि थाई। आग लाहि वर बचन न जाई।

धर्म बचनसे फिरवा नहीं जानता। धर्मात्माओंके मुख-से जो बचन निकलता है, वह धर्मरूप होता है। इसीलिये धर्मात्मा अपने बचनसे कभी कदापि फिर नहीं करते। वे तो अधर्मला होते हैं, जो अगस्त्यमगर और किंतु-परंतु-की ओटमें हालात और परिस्थितियोंका बहाना बनाकर अपने मुखसे निकाली चातसे डिग जाते हैं।

(६) 'अत्र धर्मश्च तत्र इन्द्रियं च ।' जहाँ धर्म होगा, वहाँ जितेन्द्रियता अवश्य होगी। महर्षि चाषकय कहते हैं, 'जितेन्द्रियता धर्मका मूल है।' जितेन्द्रियताके अमावस्ये धर्म एक क्षणके लिये भी नहीं ठिकता। जिस राष्ट्रके नागरिकों-में इन्द्रियरुद्धय, इन्द्रियनिप्रह, जितेन्द्रियता नहीं होती, उस राष्ट्रमें धर्मका नहीं, अधर्मका राज्य होता है। जितेन्द्रियता धर्मके मूलोंका सिद्धन करती है तो धर्म जितेन्द्रियताका सम्पादन तथा संरक्षण करता है।

(७) 'अत्र धर्मश्च तत्र औः च ।' जहाँ धर्म होगा, वहाँ औः (शोभा, सुन्दरता) अवश्य होगी। धर्मका सौन्दर्य सर्वश्रेष्ठ सौन्दर्य है। तभी तो लोग धर्मात्माओंका दर्शन करते आते हैं और उनके दर्शन करके कुतकूल ही जाते हैं। धर्मकी श्रीमें स्वयं मगवान्-का निर्धिकार सौन्दर्य निलंतरता है। इसीलिये तो कहा गया है, 'धर्मात्माओंके पुण्य-दर्शनमें ही निराकार मगवान्-का निराकार सौन्दर्य साकार होता है।'

धर्मका तेजस्वी रूप

(लेखक—श्रद्धेय आचार्य श्रीतुलसी महोदय)

धर्म केवल वौद्धिक उपलब्धि ही नहीं है, वह मनुष्यकी स्वाभाविक प्रणाली है। आत्मा है; पर वह शरीर और कर्मके आवरणसे आहृत है, इसलिये अज्ञात है। आवरणसे चैतन्य ढका हुआ है, पर उसका अस्तित्व विस्मृत नहीं है। मूर्ख बदलसे ढका हुआ है, पर वह अस्त नहीं है। दिन और रातका विभाग करनेमें वह क्षम है। यह अस्तित्वकी स्मृति ही धर्मकी स्वाभाविक प्रणाली है। आवरणके तारतम्यके कारण कुछ लोगोंमें धर्मकी प्रणाली अव्यक्त

होती है और कुछ लोगोंमें व्यक्त। अपने आपको नास्तिक माननेवाले भी धर्मकी प्रणालीमें मुक्त नहीं होते।

मनुष्य हर प्रवृत्तिके बाद विराम चाहता है। वह क्या है? अन्तरकी ओर गति। शरीर बाही और मनकी प्रवृत्ति मनुष्यको बाहर जगत्से छोड़ जाती है। किंतु कुछ समय बाद मन लौटकर भीतरकी ओर जाना चाहता है। याणी मौन होना चाहती है और शरीर शिविल। शरीरकी विधिलता, याणीका मौन और मनका अन्तरमें

लिंगोन होना स्थान है और वही आत्माका स्वामानिक रूप है और यही बन है।

धर्म है आत्माके जात्माको देखना, आत्माने जात्माको जानना और आत्माके जात्माने लित होना।

धर्मका अर्थ है स्वयंसा सम्भव। जो आत्माका सम्भव है वह धर्म है। जो आत्माका सम्भव नहीं है, वह धर्म नहीं है। धर्मका अर्थ है सद्गुरु का स्वरूप।

शून्यान्वयित्रे विद्वे स्वरूपेण श्रद्धा चतुः।

तस्माद् चस्तुत्वहर्व द्वि प्रादुर्भूमं महर्षयः॥

वह विश्व पर्यायोंसे श्रद्धा द्वेष सहता है। पर्याय वा अवस्थाके मध्य द्वे जनेपर मी वह स्वरूपद्वाप वृत्त रहता है। इत्तिवेचकुण्डा स्वरूप धर्म कहलाता है।

आपना दानानन्द: दद्यनन्दयः आनन्दनन्द और शक्तिनन्द है। दानक दद्यनन्द आनन्द और शक्तिके साथ जो एकत्रहुता है; वह धर्म है। आत्माको नौह, शोभ आदि आदेशोंसे चोरीत से परिवर्तित है; वह धर्म है।

धर्मकी विस्त्रित परिभासाएँ हैं: पर उन सबका वार है—
स्वरूपं विद्व रहनेष्व अन्यकृ। धर्मकी वह परिभासा जितनी आत्मारिक है; उनमी ही तक्षणंगत। अपने आरको अव्याहित काननेवाला मी धर्मकी हर विस्तारते विवक्त नहीं है। धर्मके प्रति जो विश्वक है; वह उच्च धर्मके प्रति है जिसमें आनन्दितको दर्शय वहीं है। जबै आचार्यों गौणता और उपासनाकी प्रधानता है; वहीं उहत ही वैदिक द्रष्टव्य होता है और वह व्यक्तिको धर्मविदुत दाना देता है।

क्या शूणा करनेवाला अधिक धार्मिक है? एक ओर उपासना और दूर्घटी और शूणा। क्या वह दोन किंवद्दु द्विदिवादी अधिको धर्मकी ओर आकृष्ट करनेवाला है?

क्या दोषण करनेवाला अधिक धार्मिक है? एक ओर दोष और दूर्घटी और शूणा। क्या वह दोन किंवद्दु विचारणीय अधिको वर्मकी ओर आकृष्ट करनेवाला है?

धार्मिक उपके साथ प्रेम करता है; इत्तिवेचकुण्डा वह शूणा नहीं कर सकता। धार्मिक व्यक्ति सच जीवोंको आत्मतुर्लभनवा है इत्तिवेचकुण्डा किंचित्का शोषण नहीं कर सकता। जो शूणा और शोषण करता है; वह धार्मिक नहीं हो सकता।

धर्मकी रचने और उसका आचरण—ये दो भिन्न पहचान हैं। जो लोग अपने आपको धार्मिक मानते हैं, उनमें अधिकांश धर्मज्ञ निलंगी धार्मिक व्यक्ति बहुत करते। जो लोग अपने आपको अधिकांश मानते हैं, उनमें मी तुम लोगों का धर्मिक मिलते।

एक विचारणोंठीकी सुनखतापर एक दैनिकत्रैके सम्बद्धको बढ़ा—आपने धर्मकी जो व्याख्या की है, उसके अनुसार मैं भी अपने आपको धार्मिक कह सकता हूँ।

धार्मिकता अन्तःकरणकी परिवर्ता है। वह धर्मकी चार्चा होनेवाले प्राप्त नहीं होती; उसकी साधनाने प्राप्त होती है। साधना करनेवाले धार्मिक बहुत करते हैं। अधिकांश धार्मिक विद्वि चाहनेवाले हैं। वे धर्मको इसलिये नहीं चाहते कि उसने लीखन प्रतिक्रिया देने; किंतु वे उसे इसलिये चाहते हैं कि उससे मोग मिलें। आजका धर्म नौगोप्ये इतना अस्तित्व है कि त्याग और मोक्षके बीच कोई रेला ही नहीं जान पड़ता। धर्मका कानूनकारी रूप तत्त्व होता है कि वह जननानन्दको भोगत्यागको और अस्तर करे। आज त्याग मोक्षके लिये अप्रतर ही रहा है। यह वह कीटाणु है, जो धर्मके स्वरूपको विहृत देना डालता है। मैं जानता हूँ—धर्म जीवनकी अनिवार्य अपेक्षा है; वहाँ उसकी पूर्ति नहीं होती। वहाँ जोक्तमें एक अगावको पूर्ति कभी मही होती। वह है जानवरिक उत्तुकनका अनान। जानविक संतुकनका अमाव अथान् शान्तिका अभाव। शान्तिका अमाव अथान् उत्तुकनुस्तिका अमाव। पदार्थ उत्तुके हेतु है उनके तुलकी अनुभूति नहीं होती। तुलकी अनुभूति नन और मन-संशुक्त इन्द्रियोंकी होती है। वह तभी होती है, जब नन संतुलित और शान्त होता है।

कैशानिक चार्चानके सिकाहे पदार्थका विस्तार तुथा है; पर उससे मनुष्यके मुत्तका विस्तार हुआ है—यह कहना चरल नहीं है।

पदार्थविस्तार और तुलकानुस्ति—ये दो विकल्प हैं। कमी मनुष्य पदार्थ-विस्तारको प्राप्तिकरण देता है मुत्तकु-मूत्तके बूझा द्यान। कमी मनुष्य तुलात्मुत्तिको प्राप्तिकरण देता है और पदार्थ-विस्तारको दूसरे द्यान। प्रथम विकल्पमें त्याग तंगहने प्रभावित होता है और दूसरे विकल्पमें संग्रह द्यानसे प्रभावित होता है। वर्तमान शुग इसी समस्याएं आकर्त्तव्य है। आज त्याग तंगहसे प्रभावित है।

मैं देखता हूँ वहीं त्याग और भोगकी रेताएँ आउताती हैं; धर्म अथवै संयुक्त होता है। वहीं धर्म अथवै से अधिक भयकर चर जाता है। यदि हम चाहते हैं धर्म मुनः प्रतिष्ठित हो तो हम उसके विशुद्ध रूपका अव्यवन करें। इन उच्च शुगमें धर्मकी पुनः प्रतिष्ठाकी जात कर रहे हैं; जिस शुगका नाम उपलब्धिको दृष्टिने दैशानिक, दृष्टिकी दृष्टिने आणविक और सिद्धान्ती हीष्टिते शौद्धिक है। क्या अवौद्धिक, अवैशानिक और शक्तिहीन पदार्थिक धर्मका उत्कर्ष उन्मत्त है? आज ऐसे धर्मकी आवश्यकता है, जो

द्वादिसे प्रचारित हो, विज्ञानसे प्रतिहत न हो और शक्तिसे हीन न हो।

उपरासनात्मक धर्म अनावश्यक नहीं है, पर केवल उपरासनात्मक धर्म पर्याप्त भी नहीं है। वह ज्ञान, दर्शन और आचारसे सम्बद्ध होकर ही मुगकी तुनौतीका सामना कर सकता है।

शाश्वत सत्यके साथ सामयिक मान्यताओं और सामाजिक विविध विधानोंका योग भी धर्मतक पहुँचनेमें बाधा है।

सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक व्यवस्थासे मुक्त किंतु समाज, राजनीति और आर्थिक क्षेत्रको प्रभावित करनेवाला धर्म ही वास्तवमें प्रभावशाली हो सकता है। धर्मसे आत्मोदय होता है, यह उसका वैयक्तिक स्वरूप है। उसका प्रभावशाली होना उसका सामाजिक स्वरूप है। ये दोनों रूप आज अपेक्षित हैं। ये शाश्वत और परिवर्तनकी मर्दादाको समझनेसे ही प्राप्त हो सकते हैं।

धर्मकी महत्ता

(लेखक—महाराजहर ढा० श्रीहर्षपली एवं गुणन् महोदय—राष्ट्रपति)

(१)

हिंदूधर्मकी आधार-शिलाएँ

हिंदूलोग केवल एक परमात्माको मानते हैं, यद्यपि उनके नाम अनेक हैं। नाना जातियोंके होते हुए भी व्यवस्थाकी भूमिपर उनका समाज एक है। समस्त जन-समाजमें अनेक जातियाँ और उपजातियाँ हैं; किंतु सब किसी एक मावनासे परस्पर गुणी हुई हैं। यद्यपि कई प्रकारके विचारोंकी आशा दी गयी है तथापि आदर्श लक्ष्य एक ही बनाया गया है। अगणित विभिन्नताओंके भीतर उद्देश्यकी एकता वर्तमान है।

अनश्वरत प्रवाहवाला संसार ही सब कुछ नहीं है। इसकी मिथ्याधीनता और पूर्णताकी ओर प्रवृत्ति यह सूचित करती है कि इसका आधार कोई आधारितिक सत्ता है, जिसका पर्यवेक्षण किसी एक विशेष वस्तु अथवा वस्तु-समूहमें ही नहीं हो जाता। भगवान् संसारमें हैं, यद्यपि संसारके रूपमें नहीं। विकासप्रणालीके महत्वपूर्ण स्थलोंतक ही उनकी सुषिर-गमिया सीमित नहीं है। केवल जीवन अथवा चेतनताकी सूषिटि करनेके लिये ही वह इस्तेषेप नहीं करता वर्त निरन्तर क्रियाशील रहता है। प्रकृति और प्रकृत्युत्तरतत्त्वकी पृथक् सत्ता नहीं है। जीवनके प्रति हिंदू-भावनाकी यह मान्यता है कि दृश्य और क्षणभङ्गुर जगत्के असंख्य नाना रूप अदृश्य और अनन्त आत्माके द्वारा पैदित, आधारित और ओतप्रोत हैं।

दुराई, भूल और कुरुपता अन्तहीन नहीं हैं। भलाईका जितना रासता चलकर आना है, दुराईका वही नाप है। कुरुपता सुन्दरताके आधे रास्तेपर है। भूल सत्यके भागका एक पड़ाव है। इन सद्यको पार करना है। कोई भी मत इतना सर्वथा भूलोंसे भरा नहीं है, न कोई व्यक्ति इतना सोलह आना हुआ है कि उसका पूर्ण बहिकार कर दिया जाय। यदि एक भी मानव जीव अपने दिव्य गत्तव्य स्थानक

नहीं पहुँच पाता, तो उस सीमातक विश्वकी असफलता माननी चाहिये। संसारमें प्रत्येक जीव दूसरेसे भिन्न है। इसलिये सबसे अधिक सुष्ठुत्याके विनाशका भी अर्थ है, भगवान्की योजनामें एक रिक्त स्थल। नरक नामकी वस्तु नहीं है; क्योंकि इसका तो अर्थ हुथा कम-से-कम एक जगह है जहाँ भगवान् नहीं है और ऐसे भी पाप हैं, जो उनके प्रेमको भी चित्त कर देते हैं। यदि भगवान्का असीम प्यार कल्यानामात्र नहीं है तो सार्वभौम सुक्ति निश्चित बात है। परंतु जगतक ऐसी स्थिति नहीं आ जाती, हम लोगोंमें प्रभाद और अपूर्णता बनी रहेगी। निरन्तर विकासोन्मुख विश्वमें हुराई और भूल अवश्यमध्यादी हैं, यद्यपि क्रमवा: उनका हात होता रहेगा।

धर्मके क्षेत्रमें हिंदूधर्म आध्यात्मिक जीवनको अपना आधार मानता है। वह कहता है कि ईश्वरसम्बन्धी धार्मिक अनुभूतियाँ कभी एक-सी नहीं हो सकती। ब्रह्मविद्याके इतिहासमें एकके बाद दूसरे लपककी परम्परा अन्तमें बोल पड़ती है कि मनुष्य और संसारके जीवनमें केन्द्रिय सत्ता मगवान् है। मेरे उद्यानके बृक्ष भगवान्के लगाये हुए हैं और मेरे पड़ोसीके बगीचेका निर्विक धारा दौतानका लगाया हुआ है, अतएव उसका हमको किसी भी मूल्यपर नाश कर ही देना चाहिये—हिंदू-धर्म ऐसी इन्द्रात्मक सनोहृतिको स्वीकार नहीं करता। इस लिङ्गान्तरपर कि सर्वभेष श्रेष्ठका शत्रु नहीं है, हिंदूधर्म सब प्रकारकी मान्यताओंको स्वीकार करके उनको ऊपर उठा लेता है। भूलको उपचार मारना-काठना नहीं, बल-प्रयोग या दण्डविधान नहीं, वर प्रकाशका मौन विकिरण है।

धर्मके न्यायवहारिक क्षेत्रमें शिष्य-धर्म दो प्रकारके लोगोंको जानता है—एक तो ने जो भगवान्का साक्षात्कार करना चाहते हैं। दूसरे वे जो तत्सम्बन्धी सम्पूर्ण सत्यको जाननेके

* द हिंदू धू भाव साक्षरता संकलित।

मयासमें ही प्रसन्न रहते हैं। कुछको कर्ममें शान्ति मिलती है; तो कुछको अकर्ममें। एक व्यापक धर्म सबको अपने-अपने भागसे चलाकर एक ही मंजिलपर पहुँचा देता है; क्योंकि सभी तो अपने हाथोंमें फिन-फिन उपहार लिये हुए एक ही देवीकी उपासना कर रहे हैं। अपनी विशेषताको हमें एकमात्र और सर्वाधिक महत्व नहीं प्रदान करना चाहिये। ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, संन्यास आदि किसी भी जगत्कार्यमें पूर्णता प्राप्त की जा सकती है। सदा एकरूप रहनेवाला हाथिकोण अनुचित है। एक सहात्मकों संतानका यह अर्थ नहीं है कि उसके आगे पतिनीता पत्नीकी अचल निष्ठा अथवा अवैध विषुकी सरलता निरपेक्ष है। पूर्णता, चाहे वह किसी जातिकी हो, दिव्य बस्तु है। भगवान् कहते हैं—‘जो कुछ भी विभूतियुक्त, कान्तियुक्त और शक्तियुक्त है, उम-उमको मेरे सेजके अंशमात्रसे उत्पन्न हुआ जानो।’^{*}

(२)

मानव-जीवनका सारतत्त्व धर्म +

हम यदि धार्मके अनुसार धर्मके वृथार्थ मार्गपर चलते रहें तो निश्चय ही हमारी विजय होगी। आज देश आदर्शोंकी हत्या करनेवाले संघर्षसे आच्छान्न हैं। इस समय हमें चाहिये कि हम विवेक तथा तद्दुष्टि प्रदान करनेवाले होतोंका आश्रय लें।

जहाँ धर्म है, वही विजय है। धर्म और विजयको एक दूसरेसे अलग नहीं किया जा सकता। धर्म ही सत्यसत्त्वका निश्चय करनेवाला विवेक है और धर्म ही सद्गुरुजीर्ली प्रकल्प है। जबतक हम धर्मपर अटल-लिंगर रहते हैं, तबतक हमारा कोई भी अकल्पाण नहीं होता।

धर्म ही मानव-समाजको एक सूतमें बौधनेवाली परम वस्तु है। बाल्तमें जिसकी सहायतासे मानव-समाज एक सूतमें बँधता है, वही धर्म है और जिससे मानव-समाजका विशेषण होता है, वह व्यधर्म है। मानव-जीवनका सारतत्त्व धर्म ही है।

धर्मका संदेश

(लेखक—प्रधानान्य श्रीललिताद्वजी शास्त्री, प्रधान मन्त्री)

इस समय देश और कालकी पुकार है क्रियाशील होनेकी, कठोर परिव्राम करनेकी। अपनी स्वतन्त्रता-को अन्ध्राण बनानेका जो हमारा संकल्प है, वह तभी पूरा हो सकता है।

कर्मको अध्यानता वेते हुए भी हम धर्मको भूल नहीं सकते। कर्म जहाँ शरीर है, वहाँ धर्म उसको आत्मा है। धर्म जीवनको विश्वास और दिशा प्रदान करता है। इसके सहारे हम जीते हैं। हर घड़े कामके पीछे धर्मका आवार होता है। धर्म, चाहे वह कोई भी धर्म क्यों न हो, हमारे जीवनको पूर्णता और संतोष प्रदान करता है। हमारे आत्मात्मिक अस्तित्वके लिये धर्म वैसा ही आवश्यक है, जैसा पार्थिव अस्तित्वके लिये कर्म।

धर्मका स्वरूप

(लेखक—प्रहरिन डा० श्रीसम्पूर्णसन्दी, राज्यपाल, राजस्थान)

धर्मके विषयमें कुछ लिखनेके पहिले हमको इसको इस शब्दकी परिभासा निश्चित कर लेनी चाहिये। इस समय पण्डित-अपणित दोनों ही हस्तों विभिन्न अर्थोंमें प्रयुक्त करते हैं और अब आवश्यक सरकारने अपनकतापर अपनी आप लगाकर लिखने-बोलनेवालेका काम और भी कठिन कर दिया है।

पूर्वमीमांसाकार जैगिनिके अनुसार—

‘चोदनालक्षणोऽथर्व धर्मः’ वेद जिसकी चोदना—पोषण करे, वह धर्म है। यह वाक्य निर्णय करनेका दौश मनुष्यसे हटाकर वेदपर डाल देता है। जित आवरणका समर्थन वेद करे, वह धर्म है; जो वेदकी हालिये निर्विद्य हो, वह अधर्म

है। अधर्मकी यह परिभासा दी तो नहीं है, परंतु अर्थपत्तिसे यही निश्चय होता है।

इस परिभासामें अन्यासिद्धोप आता है, कम-से-कम ऐसी आशक्ता होती है। पृथिवीपर करोड़ों ऐसे व्यक्ति हैं, जो वेद-को प्रमाण नहीं मानते। यदि यह परिभासा स्वीकार कर ली जाय तो इस ऐसे लोगोंके आचरणके सम्बन्धमें कुछ कहनेके अधिकारको परिवर्त्या कर देते हैं। उनका आचरण हमारी दृष्टिमें न धर्म होगा न अधर्म, या फिर उनके कामोंको अपनी कस्तीटीपर हठात् कर्संगे। वह वेदको मानते नहीं, परंतु हम उनके व्यवहारकी धर्माधर्मस्मताको वेदके अनुसार

* भगवद्गीता १०। ४१।

+ पूर्वमीमांसाकार रत्नाली के प्रकाशनपर अन्त दिचार।

निर्णय करेंगे। इससे अर्थविकल्पता और ब्रह्मी। कल्पमें द्वुदि होगी और हम करोड़ों मनुष्योंको प्रभावित करने तथा उनके आचरणमें सुधार करनेके अवसरको खो देंगे। यह काम अच्छा है या बुरा?—विवाद यहाँसे हटकर इस मञ्चपर आ जायगा कि वेदमें सार्वभौम प्रामाणिकता होनेकी क्षमता है या नहीं। इस प्रश्नका ऐसा उत्तर मिलता, जो सबके लिये संतोषजनक हो, वहुत कठिन है।

इस प्रसङ्गमें ईश्वरका नाम लेना भी उलझनको बढ़ाता है। जो काम ईश्वरको सम्मत है, वह धर्म है—ऐसा कहना भी विवादको कम नहीं करता। पहिले तो ईश्वरकी सत्ताको सिद्ध करना होगा। पिछे यदि ईश्वरका होना मान भी लिया जाय तो उसकी इच्छा कैसे जानी जाय? वेद, कुरान और याइनिल—तीनों ही अपनेको ईश्वरके अभिप्रायका अभिज्ञक बताते हैं; परंतु कई विषयोंमें आपसमें मतभेद है। यह कैमेजानें कि ईश्वर किस धारको पसंद करता है।

ऐसा लगता है कि यदि धर्मके सम्बन्धमें कुछ निश्चय करना है तो यह दायित्व हमको अपने ऊपर ही लेना होगा। इस बोक्षको ईश्वर या वेद या किसी अन्य ग्रन्थपर नहीं डाला जा सकता और हम इस दायित्वको तभी निवाह सकते हैं, जब इस प्रश्नको मनुष्यमात्रकी उत्तिसे देखें। यदि किसी एक समुदायके सामने रखकर विचार किया गया तो वह एकदेशी और अपूर्ण, सम्भवतः प्रत्यापातपूर्ण होगा।

पुराने बाल्मीयमें एक ऐसी परिमापा मिलती है, जिसमें प्रत्यक्ष या परोक्षस्वप्नसे किसी सम्प्रदाय-विशेषका चर्चा नहीं मिलता। वैदेशिक दर्शनमें कथानके कहाने कहा है—

यतोऽम्युदयनिश्चेयससिद्धिः स धर्मः।

धर्म वह है, जिसे अम्युदय और निःशेयसकी सिद्धि होती है।

इस परिमापके अतिरिक्त मनुकी दी हुई परिमाप भी इस उत्तिसे निर्दोष है। उनके शब्द हैं—धारणाद्धर्म—जो जगत्को धारण करता है, वह धर्म है।

जिन दो परिमापाओंको हमने अपेक्षया निर्दोष माना है, उनमें किसी सम्प्रदायविशेषकी मान्यताओंको आधार नहीं माना गया है और न किसी अताध्यात्मिक या धार्मिक सिद्धान्तको पहिले खींकार कर लेना आवश्यक ठहराया गया है; परंतु दोनोंमें ही मतभेद और वैचारिक संबंध के लिये पर्याप्त अवकाश है। अम्युदयकी कसौटी कथा है: अम्युदय किन बातोंसे होता है? निःशेयस कथा है: जगत्को कौन-सी बातें धारण करती हैं? जबतक इन बातोंपर ऐकमत्य न हो, तबतक परिमापके शब्दोंको निर्विवाद और सार्वभौम कहना निर्यक है।

विचार करनेसे ऐसा प्रतीत होता है कि निःशेयसका विषय हमको इतने गहरे शास्त्रार्थमें डाल देगा कि मूल प्रश्नका निर्णय करना कठिन ही जायगा। इत्याचातको श्यानमें रखनेसे मनुकी दी हुई परिभाषा सबसे अधिक समीक्षीय लगती है। वह अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोषोंसे मुक्त है। अन: मैं तो यही मानकर बल्ता हूँ कि ‘धारणतीति धर्मः।’ यो लोकान् धारयति, ऐन मानवसमाजो धृतः स धर्मः।’

परिमापा तो हुई पर अभी इसके शब्दोंको अर्थ पहिनाना है। समाजका धारण कैसे, किन बातोंसे ही सकता है—यह निश्चय करना होगा। पहिले तो यह देखना चाहिये कि सब्ये मनुकी इस सम्बन्धमें क्या राय है? धारणाद्धर्म धृत्याहुः—कहते समय उनकी हुदिमें क्या या? इस प्रश्नका उत्तर स्पष्ट शब्दोंमें मिलता है। उनका ‘अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः’ इत्यादि श्लोक प्रसिद्ध है। उन्होंने अहिंसादि दस बातोंका उल्लेख करके इनको ‘दशर्घं धर्म-लक्षणम्’ बताया है और इनको सार्वधार्मिक—सब वर्णोद्धार पालनीय कहा है। इससे मिलती-जुलती भाषामें पद्मपुराणके भूमिकाण्डमें धर्मके ये दस अङ्ग गिनाये गये हैं—ब्रह्मचर्य, सत्य, तप, दान, निःशम, क्षमा, शौच, अहिंसा, शान्ति और अस्तेय। मत्स्यपुण्य सनातन-धर्मके ये मूल गिनता है—अद्रोह, अलोभ, दम, भूतदया, तप, ब्रह्मचर्य, सत्य, अतुकोश, क्षमा और धृति।

इसी प्रकारकी सूचियाँ दूसरे ग्रन्थोंमें भी मिलेंगी। सब सूचियाँ कुल एक दूसरेसे नहीं मिलतीं, परंतु कई बाते सबमें मिलती हैं। अतः ऐसा मानना चाहिये कि जो बातें समानस्वप्नसे रामी सूचियोंमें विद्यमान हैं, वह सभी आचारोंके मतमें धर्मके अङ्ग हैं। शेषके सम्बन्धमें मतभेद हो सकता है।

जो समानांश है, उसवर हाइ डालनेसे भी कुछ ब्रह्मचार और शोचक तथ्य सामने आते हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य—ये चार नाम हर सूचीमें मिलते हैं। अपरिग्रह भी मिलता है, परंतु भिन्न-भिन्न नामोंसे। इनके अतिरिक्त शौच, दया, क्षमाके नाम आते हैं। इनको यह भूलना न चाहिये कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रहोंपतञ्जलिने योगके अङ्गोंमें प्रथम स्थान दिया है और इनके सम्बन्धमें उनका कहना है कि वे पाँचों देवा-काल-समयाद्यनवनिक्षेप सार्वभौम महाव्रत है अर्थात् इनके पालन करनेमें कहीं किसी अपवादके लिये स्थान नहीं है। इनका हर जगह और हर समय पालन करना चाहिये, सबके साथ पालन करना चाहिये और सबको पालन करना चाहिये। इनका महाव्रत पतञ्जलिकी द्वितीय वर्णातक है कि उन्होंने इनको त्वाध्याय और ईश्वरप्रणिधानकी अपेक्षा भी प्राथमिकता दी है और उनका ऐसा करना उचित भी था। यह ऐसे गुण हैं जिनको ईश्वर-

की सदाको स्वीकार न करेकोले नातिक और अस्तिक
वनी एक लंबरे समझे हैं। प्राचीन काले ही दमी अर्थ
बन्य इन शुगोंका: हमने भी उर्मीराहि सत्य और अहिंसा का
द्वारिगान करते आये हैं। तथा वैदिका कहना है—

सत्यमेव जयते नशुने

सत्येन पन्या वितती वैदिगानः ।

यत्प्रकरणित्वा क्षपदो द्वारिगाना

यज्ञ तेऽसत्यत्वं परमं विषयनम् ॥

—उमरी ही विजय शैरी है: बहुतची मही। सत्यते ही
बहु देवतानामां विद्वा बुआ है: जिसने आत्माकाम खुपि-
रोग उठ स्थानको रहूँचान है; वही उद्यका नर्म भंडार है।

ना हिंसाद् सर्वं भूतानि ।

—किसी प्राणीकी हिंसा नहीं करनी चाहिये ।

नासामें एक नवानन्दे कहा है—

गतो मुख्ये गङ्गां तुष्टां ।

बहु न दृश्यते लिगु तुष्टं कर्त्तुः गतः ॥

—मौर्य ईश्वरके प्रत्यक्ष करनेका लाभ है। मैंने
किसी देजे विनियोग नहीं देखा कि जो सत्यर चक्रवर
पथरुठ हो गया है। और—

नक्षत्र उपर्ये लग्नां व हर्षे खाही तुन
लि वह तीर्थित नी गै वही तुनहै नेत् ।

—किसीको दन्तधोम स्त्र और जो तुनहै जैसे असे,
करोग क्योंकि मेरे घमने इसके लिया और कोई धार नहीं है।

अस्तु: ऐसा नामना अनुसित न होगा कि जिस दावीकी
सब देता प्रयत्न करते हैं: जो उम्रकी दृष्टिये धर्मके अंश
और अहं वा लक्षण हैं; वे धर्मके सर्वभेद यत्नीक हैं।
और यही धर्म नहीं है: धर्मके विद्वन् नहीं हैं: परंतु उनका
साम योग है। वह भहन्त्यूर्य दाता है कि ननु अदिको जो धर्मके
विषयमें ग्रन्था है: किसी विदेश पूजा-नामको चार्यमैन धनाम-मर्या
पिन्दी। एक दो वह विद्वादका विषय ही रहता है कि जौही भी
देती रसा है वह नहीं जो उपास्त है। जिस उपासनाकी
मन्त्रियमें भैरव हुन्दा प्रस्तुत और प्रवार है: उनको चाहिये कि
अहिंसा आदि योंको धर्मके प्रस्तुत और धरातके लिये प्रधन
करें। यदि इनका हात पर्याप्त रसा को कोई पूजानाम धर्मका
उद्धार नहीं कर सकती।

आज जगत्ते अद्वित नचा है। सारे जगहोंकी विवाहों
दोही हैं। हम अरने दैदिके ले। पहले नहीं हम कुछ
नैतिकदारी ओर बहु गये हैं: अद्यने कुछ कमी वा गर्वी
हैं। मैं भी पूजानामके पर्याप्त बन व्यय होता है। नन्हे

मन्त्र देनहो ही जाते हैं। उनमें मैत्र-पूजाके लिये ब्रह्मव
होता ही है। सन्देशमें जानान्दमना होता ही रहता है।
कन्दी-पाता धारण किये तुए साबुन-हल्मा देल ही रहते हैं।
दूसरे ली किर्दा-सूक्तिनी धक्करका जर आदि छर ही
लेने हैं। मैं भी भ्रातारकी विकासन जर्ये और उन
महरी हैं। इसका बड़ा भरी काम यह है कि हम धर्मके
त्वारको भूल गये और 'कलसिन्द्र'—जो कहीं नहीं है—
उसके बहु ला बैदाया है। बर्मका भूल पूर्वान्देश नहीं
है: वर्मके पालनमें है। परंतु हम उने पूजानामसे बैदाने हैं।
यदि जौही व्यक्ति कमी मन्त्रिये पूजा करने न जाय, वहीं
जो मन्त्र आदि वा जो गाना होता है: उसमें तमिक्तिन न
हो: तो उसके छार बैगुडी उठ सकती है। परंतु यह
कोई नहीं देखता कि उसके जापदर्शे चापक ज्ञा साम
है और उसके व्यवहारमें हिंसा किती है। जो मन्त्रिय
बनाता है: उसकी प्रयोग हैरी है: परंतु यह कोई नहीं
पूछता कि नामिद बनानामें लिये उसके पास बन कर्म
आया। नामिद अवाकी यह उक्ति ऐसे अपर्याप्त लोग
भूल जाते हैं—

नामिद्वा परमसामिनि नाहृत्वं कर्म दुष्करम् ।

नाहृत्वा नामवातीत्वं प्रसोर्तु महरी धियन् ॥

—इसके नामा देश किये दिना: अकर्मीय कामोंके
लिये विदेश, किसी प्रकार मधुता एक धरने पेटके लिये
कैकड़ी लोटी स्त्राविष्येता हस्त करता है: उसी प्रकार
दूररोका आशाव किये दिना बहुत बन गाह नहीं हो चकता।

व्यास मी विष्णुके अवधार नमै जाते हैं। परंतु
जब कोई विष्णुकी पर्याप्ती नूरि और उसके लिये पर्याप्तका
मन्त्र बनाता है तो व्याहरणी विष्णुकी इति उकिको हस्त
हृष्टमें सुन्द देते हैं। निर हमको इति वायकी विकासन करनेका
कोई अचिकार नहीं है कि धर्मका हात हो रहा है। धर्म दिन
घातामें है: उसको बढ़ावा देना चाहिये। यदि जौही
धर्मोक्तरणे न्युत होता है तो उसको इसके लिये दृष्ट
निलना चाहिये। प्रस्तुत हो या न हो, उनकामें
श्रावण-पूजाको, उमायके धर्मीय उद्धारनको, उपै
दृष्ट होना चाहिये। कुछ नहीं तो उसमें हृष्टकर हृष्टम-
विच्छेद कर देना चाहिये। यदि हम धर्मके उच्चानु धर्म
रखते हैं तो उसका बही उपास है। वहीसे अन्यद धर्मको
दृष्ट्या आलमदाना है और इसके बहु न बूलना चाहिये
कि आलमदाना परमात्मनकी पहचानी सिद्धी है।

एक बात और। मैं जो पूजानामके सम्बन्धमें कहा
हूँ: उसने किसीको बहु न समझता चाहिये कि मैं उपासना-
का लियेही हूँ। दैज नहीं हूँ। मैं सनुष-जीवनको सार्वक
बनानेके लिये उपासनाको परमापदक उपासना हूँ। परंतु

कौन-सी उपासना ? इस समन्वयमें भी मनुकी ही बातको प्रमाण मानता हूँ। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें कहा है—

अर्थं तु परमो धर्मो यदृ योगेनात्मदर्शनम्।

—योगके द्वारा आत्मसाक्षात्कार करना सबसे बड़ा धर्म है। जो लोग धर्मका चर्चा करते हैं और साथ ही हस्तकी उपासनाको भी धर्मके अङ्गोंमें महत्वपूर्ण स्थान देते हैं जैसा कि देना चाहिये, उन्हें इस परम धर्म योगकी शरणमें आना चाहिये। परम धर्मको छोड़कर क्षुद्र धर्मोंकी ओर जाना उसी प्रकारका काम होगा जिसको कि तुलसीदास-जीने दीं कहा है—

गुंजा रहहि परम मनि खोई ।

धर्मकी एक अचूक कस्तूरी है। वह हमारे ध्यानमें प्रायः नहुत कम आती है। भले ही इस विश्वके सभी प्राणी ब्रह्मसे अभिन्न हों, परंतु हमको इस अभेदका प्रायः अनुभव नहीं होता। अपने छोटेछोटे 'स्व'में प्रत्येक व्यक्ति इस प्रकार भूला रहता है कि उसको उस महात् 'स्व'का पता नहीं लगता। वह पुरुष बहुत भागवान् है, जो समाधिके द्वारा आत्मसाक्षात्कार करता है। कमी-कमी किसी उच्च कोटिके कलाकार या विचारकों भी थोड़ी देरके लिये उस परम सत्यको द्वालक दीख पड़ जाती है। इसके लिया एक और अवस्था हुद्द धार्मिक काम करनेके समय सामने आती है। व्यवहारमें पतिष्ठली या भाता और संततिमें एक

प्रकारका तादात्म्य होता है। इन युगलोंमें साता संततिके लिये, पत्नी पतिके लिये और पति पत्नीके लिये हँसते-हँसते प्राणको न्योछावर कर सकता है। परंतु जहाँ इस प्रकार दो प्राणियोंका तादात्म्य है, वहाँ युगपत् अन्य सारे प्राणियोंसे विलगाव है। माताके लिये उसकी संतान सब कुछ है और उसके लिये वह सारे विश्वे लड़ सकती है। यही दशा पति और पत्नीके बीचमें होती है। अपना व्रेमात्र एक और और सारा विश्व दूसरी ओर। परंतु जब सचमुच कोई व्यक्ति किसी पूर्णतया धार्मिक कामको करता है— और वह स्वरूप रखना चाहिये कि सच्चा धार्मिक काम निश्चय ही निष्काम होगा—तो उस समय उसका एकके साथ तादात्म्य तो होता है, परंतु दूसरोंके साथ विलगाव नहीं होता। यदि कोई व्यक्ति हूँच रहा हो या जलते धर्मों आगसे घिर गया हो और इस दृश्यको देखकर कोई दूसरा व्यक्ति एकाएक उसको बचानेके लिये पानी या आगमें कूद पड़े तो उस समय उसको उस आपन व्यक्तिके साथ तादात्म्य होगा; परंतु समूचे विश्वसे विलगाव नहीं होता। उतनी देरके लिये इस नानात्वपूर्ण विश्वका उसके लिये असाध ही जायगा और इस प्रकार क्षणमरके लिये उसको अभेदका दर्जन ही जायगा। उस क्षणमें विश्वका बाह्यविक सूल रुप उसके सामने आ जायगा और वह मेदमावोंसे ऊपर उठ जायगा। सच्चे धार्मिक कर्मकी यह सबसे बड़ी पहचान है।

श्रेष्ठतमसे भी श्रेष्ठ आदर्श

(लेखक—सद्गुरुभिम श्रीविष्वनाथदास, राज्यपाल, उत्तरप्रदेश)

मानव-महितालक निरन्तर जँचेसे-जँचे और सबौत्कृष्ट आदर्शकी सोलमें है। अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्त व्यक्तिकी यद्योग्या उसके सामने ईसामसीहका आदर्श उपस्थित करती है, जिसको ईसाई समाजने मानव-जातिके सम्मुख प्रस्तुत किया है—क्रासपर लटके हुए ईसाका आदर्श, जब कि वे अपने हृत्यार्थोंके लिये प्रार्थना करते हैं—'पिता ! उन्हें क्षमा कर, क्योंकि वे नहीं जानते, उन्हें क्षया करना चाहिये।' जिस क्रासपर लटके हुए ईसामसीह उनको दी हुई यन्त्रणाओंको क्षमा करते हुए अपने हृत्यार्थोंके लिये प्रार्थना करते हैं, वह क्रास परमोदात्त भावनाओंको उत्सुक करता है। वे ऐसा यह सोचकर करते हैं कि हृत्यारे योजना बनानेवाले प्रधान धार्माधिकारीके केवल आदेशपालक थे। बहुत कुछ इसीके समान चित्र शरणव्यापर पड़े हुए, पितामह भीष्मका मिलता है—(जिसका महाभारतमें बहुत अच्छी तरह उल्लेख हुआ

है)—जहाँ वे अपनेपर बरसाये हुए भयानक प्रहारोंको भूलकर पाण्ड्योंको आशीर्वाद देते हैं। इससे अधिक, वे राजधर्म और मुख्य धर्मका उपदेश भी देते हैं। फिर श्रीमद्भागवतके दसम लक्ष्यके गोपलीला-प्रसङ्गमें कालिय-दमनका चित्र सामने आता है। यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण संसारकी भलाईके लिये अपनी जान जोखिममें ढालकर अपने ऊपर चिपति मोल लेते हैं। ये सब परम्परासे प्राप्त सर्वोच्च एवं सर्वोत्कृष्ट आदर्शोंके चित्र हैं।

वर्तमान सुगकी देन

इस क्षेत्रमें वर्तमान युगकी अपनी अलग देन है। नह है दम तोड़ते हुए भद्रतमा गाँधीका चित्र। गोडसेकी गोली लानेपर बिना किसी द्वेषके उनके सुखसे 'हा राम' की घनि निकलती है।

ये आदर्श निस्तदेह उदात् उत्तम एवं उदाहर हैं; परंतु ये सभी पीछे हट जाते हैं भगवान् श्रीकृष्णके लीला-संबरणके उस महिमामय चित्रके सामने, जो एक ऐसे अपूर्व आदर्श, ऐसे महान् दृष्टिकोण एवं मृत्युकी एक ऐसी विलक्षण व्याख्या उपस्थित करता है, जैसा संसारने अवशक कहीं नहीं देखा-सुना। श्रीमद्भगवत्के ग्यारहवें स्कन्धके ३०वें अध्यायमें इस चित्रका विशद चित्रण हुआ है।

भगवान् श्रीकृष्णके लीला-संबरणका चित्र

श्रीवल्लभमंजीके परम-पदमें लीन हो जानेके थाद भगवान् श्रीकृष्ण चतुर्बुजलय धारणकर सारी दिक्षाओंमें छिटकती हुई अपनी दिव्य ज्योतिसे धूमसे रहित अचिनके समान सुशोभित हुए पीपलके घृक्षकी छायामें मौन होकर धरतीपर ही बैठ गये।

उस समय उनके सजल जलधरके समान व्यामवर्ण दिव्य महाल-शरीरसे तस सुवर्णकी-सी द्व्योति निकल रही थी। वक्षःस्थलपर श्रीवत्सका चिह्न था और वे घोती तथा चादर—दो देशमी वक्ष धारण किये हुए थे। उनके नील अल्कावलिमधिव मुखरविन्दपर मुन्दर मुखकान छायी थी। कमलदलके समान मुन्दर नेत्र थे जौर करनेमें मकराहृति कुण्डल द्विलमिला रहे थे। शरीरमें यथास्थान करघनी, अक्षिपचीत, मुकुट, कंगन, बाज्जूंद, हार, नूपुर अंगूठियाँ और कौस्तुभमणि आदि आभूपण विराजित थे। उन्होंनेतक वनमाला सुशोभित थी तथा शङ्ख, चक्र, गदा, पच आदि आदुध मूर्तिमान् होकर सेवामें उपस्थित थे। उस समय भगवान् अपने चाहें चरणारविन्दको दाहिनी ज़हापर रखके विराजमान थे। उनका लाल-लाल चरणारविन्दका तलवा चमक रहा था।

जस नुमक व्याघ्रने भगवान्को अमसे विश्वाम करता हुआ हरिंग मानकर बाण छोड़ा, जो आकर उनके तलवेको ल्पा और रक्तकी धारा कूट पड़ी। श्रीम ही व्याघ्रको अपनी भूतका पता चल गया। दौड़ता हुआ आकर उनके चरणोंपर इस दुर्घटनाके लिये और, बहाता और चीकार करता हुआ दण्डकृति पढ़ा। वह अपनेको शाप देने लगा और मिकुरुतम महापापी धोपित करने लगा। उसने कहा—‘मधुरदून। सुनते अनजानमें यह अपराध हो गया। मैं महापापी हूँ।

आप परम यशस्वी और निष्पाप हैं। कृपापूर्वक मेया अपराध क्षमा कीजिये। हे दिव्यो ! हे प्रभो !! जिन आपके समरण-मात्रसे मनुष्योंका अद्वानान्धकार नष्ट हो जाता है, हाव ! उन्हीं स्वयं आपका ही मैने अनिष्ट कर दिया।’

अमर्दर्शित भगवान्ने तुरंत उठाकर न्यायकी छातीसे लगा लिया और जैसे उसने कोई अपराध ही नहीं किया, इस स्थाने वे उसे सान्त्वना देने लगे। भगवान् बोले—

मा भैरवे व्यसुक्षिष्ठ काम एष कृतो हि मे ।

याहि त्वं मददुश्शातः स्वां सुकृतिनां पदम् ॥

(श्रीमद्भगवत् ११।३०।३५)

जोर ! उठ, उठ, तू ढर मत। यह तो तूने मेरे मनका काम किया है—मेरी इच्छाकी पूर्ति की है। जा, मेरी आशासे तू उस स्वर्गमें निवास कर, जिसकी प्राप्ति बड़े-बड़े पुण्यवानोंको होती है।

‘मेरी इच्छा’ की पूर्तिका आशय यह है कि भगवान् यही चाहते थे कि उनके लौकिक शरीरका तिरोभाव उसी विधिसे हो, जिसे जरा व्याख्याने अपनाया था। चूँकि उसके बाणने उनको—भगवान्की इच्छाकी पूर्ति की है, इसलिये उसे पुरस्कार पिल रहा है और उसे स्वर्गका अधिकारी बनाया जा रहा है ! मृत्युकी जो व्याख्या यहाँ दी गयी है, उससे अधिक उदाहर, शान्तिप्रद, उदात्, सान्त्वना-प्रदायिनी एवं महिममयी व्याख्या दूसरी नहीं हो सकती। यहाँ एक ऐसा उदारदृष्टि प्रस्तुत है, जहाँ वागविद् तथा मृत्युके द्वारपर पहुँचा हुआ व्यक्ति छोड़के समस्त विचारोंसे मुक्त होकर अपनेपर धातक प्रहार करनेवालेको सान्त्वना ही नहों देता, उसे प्रेमसे भुजाओंमें भरता और पुरस्कार भी देता है।

इस आदर्शसे कि भगवान्की यही इच्छा थी कि वे अपने लौकिक देहको इसी प्रकार अन्तर्धान कर देंगे, इससे अपराधीको तथा इधर इनके परिजनोंको भी शान्ति मिलती है, क्रोध, ग्रातिशोष और कलहके सारे संकल्प ढह जाते हैं, सामाजिक जीवनमें एकतारना आती है तथा समाज एवं संसारकी भी एकता और एकरागता बनी रहती है। इन सब वाकोंसे यह समझमें आ जाता है कि श्रीकृष्णके लीला-संबरणका यह चित्र सर्वोच्च और सर्वोकृष्ण आदर्शवादका प्रतिपादन करनेवाले अन्य सभी चित्रोंसे कहाँ उत्तम है। वह श्रेष्ठतमें भी अेष्ट आदर्श है।

धर्मका वास्तविक अर्थ

[अनन्तचारका निराकरण]

(लेखक—मानवीय वी श्रीप्रकाशनी)

धर्मशब्द वहे व्यापक अर्थमें प्रयोग होता रहा है। इस कारण यदि एक तरफ इसका बहुत बड़ा महत्व है तो दूसरी तरफ इसको समझना कठिन भी है। साधारण प्रकारसे इसका अर्थ अंग्रेजीमें 'ऐलिजन' और फारसीमें 'भलहब' बतलाया जाता है उपर यदि इन शब्दोंके पर्याय-स्वरूप 'सम्प्रदाय' शब्दका प्रयोग हो तो समझतः अधिक उपयुक्त होगा। हमारे यहाँ सभी बातों, चीजों और परिस्थितियोंमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग कर दिया जाता है। इसी कारण मैसेस्मूलने कहा कि 'हिंदू सोनेजागने, उठनेवैठने, खानेजीने, चलनेफिरने—सभी ही धर्मका संनिवेश करता है।' मगवज्जीतामें कितने ही स्थानोंपर 'धर्म' शब्दका अर्थ 'कर्तव्य' प्रतीत होता है। रीतिरस्स, आचारनविचार, प्रतिदिनके साधारण-साधारण कार्यके सम्बन्धमें हम कहते हैं कि ऐसा करना, न करना धर्म अथवा अधर्म है।

सभी मनुष्य-समुदायोंमें धार्मिक शिक्षा आवश्यक मानी जाती है। इस शिक्षाके अन्तर्गत गृहस्थ और व्याधारक अपने संततियों और विद्यार्थियोंको बतलाते हैं कि हमारे धर्मके अनुसार संसारकी सुष्ठि अमुक प्रकारसे हुई। हमारे धर्मके प्रवर्तक अमुक-अमुक हुए, जिनका हमें समान करना चाहिये। हमारे धर्मके अमुक-अमुक बाह्यचिह्न हैं, जिन्हें हमें धारण करना चाहिये और हमारे धर्मके अनुसार उचित-अनुचित, न्याय-अन्याय इस प्रकार माना गया है और इसीके अनुसार सबको बतला चाहिये। योहेमें जिस प्रकारणको हम धर्म समझते हैं, उसके द्वारा हमें बतलाया जाता है कि संसारकी सुष्ठि कैसे हुई, अपने धर्मविलिङ्गियोंको पहचानेका क्वा चिह्न है और हमारा नैतिक आचरण कैसा होना चाहिये। इस प्रकारकी शिक्षापर सभी जगह बहुत ज़ोर दिया जाता है। इंग्लैण्डके १९वीं शताब्दीके जो नास्तिक वैज्ञानिक थे, वे भी अपने ईसाई धर्मशृण्य बाह्यनिलेप पूर्ण-रूपसे परिचय रखते थे। चाहे वे सुष्ठिके सम्बन्धकी उसकी बातोंको मानें या न मानें, चाहे धर्मके बाह्य आचारनविचारोंका पालन करें या न करें, उसकी बतलायी नैतिकताके अनुसार ही वे आचरण करते थे। सब धर्मोंका मूल उद्देश्य यही है कि हमारा नैतिक व्यवहार ठीक रहे; क्योंकि इसीके द्वारा मनुष्य-मनुष्यका—परस्परका ऋग्र सम्बन्ध बनारह सकता है। मनुष्य सामाजिक जल्तु है। वह अकेला नहाँ रह सकता और उपराजको ठीक प्रकारसे बतलाना ही धर्मोंका प्रधान लक्ष्य है और इसी कारण वह धर्म और 'ऐलिजन' दोनों ही शब्दोंका

आधार है। उसका अर्थ यही है कि लोगोंको वह बौधे रहे हमारे यहाँ धर्मका अत्यधिक व्यापक अर्थ होनेके कारण उसका प्रभाव मनुष्यके प्रत्येक प्रगति और प्रत्येक काममें पड़ता है। हम सभी स्थितियोंमें लगातार अपनेसे कहते रहते हैं—अथवा अपनेसे कहते रहना चाहिये—‘यह हमारा धर्म है’—इस कारण हमें करना चाहिये। ‘यह अधर्म है’—इस कारण नहीं करना चाहिये। स्वराज्यके बाद हमने अपने देशमें ‘लौकिक राज्य’ (सेक्युलर स्टेट) की स्थापना की। इसका कारण यही था कि एक तो धर्मके नामपर हमारे यहाँ बहुत ज्ञान बढ़ते रहे, जिसके कारण देशका विभाजनतक हो गया। साथ ही, अपने देशमें धर्मके नामसे अनेक सम्बद्धय हैं, जिन सबको ही हमको बराबर पद देना अभीष्ट था और जिन सबके ही अनुयायियोंको हम समान नाशिक मानना चाहते थे एवं जिन सबको ही हम समान कर्तव्य और अधिकारीको प्रदान करना चाहते थे। ऐसी अवस्थामें हमने अपनेको ‘धर्मनिरपेक्ष’ राज्यका पद प्रदान किया और वह घोषित किया कि राज्यकी तरफसे किसी धर्म अथवा सम्प्रदायको विद्याष पद न दिया जायगा और न राज्यसे सहायता पानेवाली किसी संस्थामें किसी विशेष सम्प्रदायकी शिक्षा दी जायगी।

यहाँतक तो सिद्धान्तको शात हुई, पर सिद्धान्त ही पर्याप्त नहीं होता। उसके परिणामको भी देखना होता है; मनुष्य अपनी करनीसे परता जाता है, करनीसे नहीं। महात्मा गांधीजी कहा करते थे कि प्रचारके अधिक महत्व ‘आचार’का है। अंग्रेजीमें कहते हैं कि ‘उदाहरण’ (एज्जाम्पुल) ‘उपदेश’ (प्रिटेन्ड) से अधिक अच्छा है। इस समय देशमें हर प्रकारके अनाचार, अशाचार, अनुचित महात्माकाला आदिकी शिकायत हो रही है। सब लोग इससे परेशान हैं। सब लोग इसे जानते हैं, पर इसके उन्नलूप्तका कोई प्रकार महंग बतला पाते। ऐसे दुर्भावना इतनी व्यापक हो गयी है कि उससे लज्जा न करके हम गर्व करने लगे हैं और यदि अनुचित कार्योंद्वारा कोई सफल हो जाता है तो वह अपनी स्थितिपर अग्रिमान तो सखता ही है, अन्य लोगभी उसको सम्मानका स्थान देते हैं और उसकी प्रशंसा करते हैं।

किसी दूसरे देश और कालमें वह स्थित अद्विभनीय समझी जाती था यदि किसी विदेशीको वह एकाएक बतलाया जाय तो वह विश्वास भी न करे कि ऐसा सम्भव है। पर

ऐसी स्थिति चालत्वमें है, इसको कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। अनुसंधान करनेपर यही प्रतीत होता है कि हमें शार्मिक शिक्षा नहीं दी जाती। धर्मका पद जो हमारि धर्मों, हमारी पाठशालाओंमें, हमारे व्यवसायोंमें, हमारे समाजमें था, अब नहीं रह रहा। धर्मनिरपेक्ष राज्यके मामले हमने धर्मको ही अपने जीवनसे हटा दिया। अब यह ही यह कहा जायगा कि भौतिक (सेंक्युलर) रैटेटा वह अर्थ नहीं है कि सब लोग ईश्वरको मुला दें वा अपने-आपने सम्प्रदायोंके नैतिक आदेयोंके अनुसार न चलें। पर चालत्वमें हुआ यही है कि हम (हिंदू तो) आग उदाचार ही खूल गये हैं। सुखमान, ईसाई और अन्य-धर्मावलम्बी अपनी संततियोंको अपने धर्मके मूल लिंगान्तरोंको बतलाते हैं, उचित-अनुचितपर भी ल्यान दिलाते हैं। पर हिंदू-समाज हस्ती अनन्त जातियों, अपनातियों, सम्प्रदायों आदिमें विभक्त हो गया है कि उसमें सारी शार्मिक भावनाएँ जाती रहीं। हिंदुओंमें व आचारकी प्रकृता है, म विचारकी एकता है। सबके ईश्वरोपसनाके प्रकार, समय आदि एकत्र-भूषण हैं। यदि कोई हनका पालन न करे, तो भी वह हिंदू ही कहा जायगा, यदि उठका जन्म हिंदू-कुलमें हुआ हो और उसने अपने धर्मको स्वयं ही छोड़ न दिया हो।

शार्मिक भावनाओंकी विज्ञा-दीक्षा न होनेके कारण धर्म-विपरीत आचरणोंका समाजकी तरफसे विरोध न होनेके कारण ही हमारी वह दुर्भाग्य ही रही है। अनाचार भ्रष्टाचार आदि तो तभी दूर हो सकते हैं, जब अनुचित कार्य करनेकी

वासना होते हुए ही हम यह अनुभव करें और अपनेसे कहें कि वह धर्म है, इसे नहीं करना चाहिये।¹ समझूमिं नैतिक स्तर भी तभी लैंचा हो सकता है, जब अधिकारी लोग उसमें ऐसे हों, जो अनाचारी, भ्रष्टाचारीको अपनेसे अल्पा रखनेको उद्धत हों। हम मानते हैं कि सम्प्रदायविशेषोंमें सूक्ष्म अवकाश वाला चिह्न आदि जो वतलाये गये हैं, उनकी विज्ञा हम अपने सार्वजनिक संस्थाओंमें न दें; पर हमारा धर्मनिरपेक्ष राज्य भी नैतिकतामर जोर देता हुआ यह नहीं कहता और न यह कह सकता है कि हमें नैतिक और आचारात्मिक विज्ञा भी न मिले। नैलेजन² और प्रेलिजन प्रज्ञान³ अर्थात् सम्प्रदाय और साम्प्रदायिक विज्ञाको हम चाहें तो दूर रखें, पर सम्प्रदायकी भी संस्थाओंमें हमें नैतिक और आचारात्मिक विज्ञा तो मिलनी ही चाहिये, जिससे हम अच्छे और सच्चे नागरिक यन सकें। साथ ही यह भी आवश्यक है कि भिन्न-भिन्न सम्प्रदायविशेषके मौलिक सिद्धान्तोंको बतलावें और समझावें एवं नैतिकता तथा आचारात्मिकवाद, विशेष जोर दें, जिससे कि सब लोग यह मानने लगें कि सब धर्मोंके नैतिक आधार एक ही है, सभके लक्ष्य भी एक ही हैं और हमें परस्पर देश और भ्रातृभाजसे रहना चाहिये, जिससे कि हम अपने देशसे सब अनुचित आचार-विचारको दूर करें, देशको सुन्दर और उज्ज्वल बनावें और वास्तविक एकताकी स्वापना करके अपनी स्वतन्त्रताको अनुष्ण बनायें रखें।

गीता-धर्म*

(लेखक—पूज्यपाद श्रीप्रभुदत्तजी ब्रह्मचारी)

धर्मस्त्रे श्रुत्येत्र

श्रुत्याप्त उवाच—

धर्मस्त्रे तु लुक्ष्येत्र समवेता युद्धस्त्रः ।
सामृक्तः पाण्डवार्द्धेव किमुन्तं संज्ञः ॥
(गी० अ० १, द्व० ० १)

छप्प

श्रीराजा चृत्याप्त कहें संज्ञ तैं जानी ।
व्यास-चृपा तैं तुम्हि सकल रम-वार्ता जानी ॥
चल किन्ति के सरित लखै धर वैठे सख तुम ।
अब तू देहु बताइ ज्याय, जो पूछें हम ॥
धर्मस्त्रे तु लुक्ष्येत्र में, संज्ञ वक्ति के तुफान गए ।
सब छलिय रव वाँकुरे, रनहित ते कौरे मण ॥

* गीताके प्रथम लोकपर विचार ।

† धर्मस्त्रे तु लुक्ष्येत्र में पूज्य—हे संज्ञ ! धर्मस्त्रे तु लुक्ष्येत्र है, उसमें युद्धकी शक्ति एकत्रित कुप ने रुप तथा पाण्डुके पुत्रोंने क्या किया ?

यह संसार रणाघाट है। इस समझूमिं कोई ऐसा नहीं है, जो उड़ न कर रहा है। कोई धर्मके साथ कोई अधर्मके साथ, कोई धनके लिये, कोई कामके लिये और कोई मोक्षके लिये—सब छड़ रहे हैं। नरका काम ही है लड़ाइ करना। युद्धस्त्रमें आये और लड़े नहीं, समझूमिं प्रवेश करे और रणसे पराहूमुख हो, वह ही ही कैसे सकता है। कगी-कमी गोहवश, क्षणवश तथा अहानवश नर जूझा ढाल देता है। युद्धसे विरत होनेकी विषा करता है। विषण-वदन होकर अस्त्र-शब्द ढाल देता है। उस समय नरके सनातन सदा उसे युद्धके लिये प्रोत्साहित करते हैं। युद्धको अवश्यक धर्म बताते हैं और धर्मका भर्म बतलाते हुए उसे लड़नेको प्रेरित करते हैं। नर विषण हो जाता है, नारियण हूँसते रहते हैं। जीवका धर्म ही है चिन्ता करना—विषाशमें

विहृत होना। इश्वरका स्वभाव है प्रसन्न रहना—हृष्टते रहना। चिन्ताने रोता आता है, हृष्टीमें गीत प्रसुद्देश्य होता है। जीवका भूत है रोता; इश्वरका धर्म है हृष्टते हुए अतीत गाला। नगदृश्वर्म होनेते भगवन्के गाये नीतको नगदृश्वर्म कहते हैं। उठ नगदृश्वर्मीकामो जिसमें उनका लिया; उठका नेह नष्ट हो जाता है। मैं नारायणका उनका उठना हूँ; जिसकी उसे जिस्तृति हो गयी थी; उठकी लृति पुनः जाप्त हो जाती है। वह उठ भागवत्प्रसुद्देश्य—प्रसुद्देश्यने ही उन्नत है। जीव असमे पुरुषर्यसे जिसको जैते उनका उठता है; जिसकी वे ही उनकामा चाहे वही उनका सकता है; जिसे वे ही जकाना चाहें, वही जान सकता है। वही भगवत्प्रसुद्देश्यको परम उठ उठता है। उठे जयशील—जैसकी उठा उठ ही होती रहती ही, जिसकी कमी परायन न हो; वही कह उठता है। पूर्णेश्वर प्रवाचकु होना जातिये और जिसने दृष्टिका उद्दृश्य अपेक्षार जय लिया हो अर्थात् दो उनका जने जानका थो हो; किंतु नेहका उठका पालन करनेमें करनेको असमर्थ या रहा हो। वही पूछता है। जौनकजीके गीता-चन्द्रकी प्रस्तुतको सुनकर दृष्टीमें कहा—“मियो! भरत-वंशमें यंत्रगु नामके बदलना उच्च हो जुहे हैं। उनका विचाह भगवती सुरसि गहानीते हुआ। उनके गन्तव्य आठ पुन—अष्टमु उनका हुए। उनको दो उनको ही गहादेशने उत्तोक पठा दिया जातवै कैर रहे। उनका नाम देवदत्त था। वे दो ब्रह्मान्त्रां द्युसीर उथा जित्यनक थे। उनको उद्यम करके उनकी नौ गङ्गा अन्याहृत हो गयी। उनके मिया विद्युत्की पालित पुनीत बालप हो गये। निशादों नव अद्यार्जने विचाहका प्रसाद किया; वह निशादों द्वच दानार उठा देना सीधार किया कि ऐसी पुनीत जो पुन हो वही अव्यक्त अदिकारी हो। इनमें देव्य ल्येषु क्षेत्रु पुनके रहते रिदा इस अनुचित उठकों कैटे तौकर करते; वे उद्यात हृष्टक उठ लाए। उद्युक्त देवकरों तद चह उठ हृष्टक विदित हुआ; उठ उन्होंने निशादों सम्मुखः—वह नीम प्रतिहा की कि मैं विचाह न करूँग; आजीवन ब्रह्मवृक्षका उलन करूँगा। इच्छा निशादों असरी—कला रामकुमारके निको निशित है दी। पुनर्नै जनने—रिदाका विचाह करना। भीम प्रतिहा करनेमें ही देवदत्त—नीनके नामने जिस्तृत ही गये।

निशादका उलवृत्तीके नीने को पुन विचाहक—और विविद्वर्मीये हुए। एक दो ब्रह्मवृक्षमें ही उद्धो—मार गये। दूर्घटका विचाह नीन्होंने काशिपवकी दी—कन्दूलोंके सम करना। वे नी उपरोक्ते पर्जन्यानी

हुए। वह उलवृत्तीने वज्रे कानीम पुन भगवान् ज्ञानद्वारा चिन्तिवीर्यकी दोनों पत्नियोंसे आरद्धसंनक्षकर दो पुन उलवृत्त कराये। उठेका उन दृष्टवृश्य थे, जो उनका नाम नाहु था, जो वज्रमें प्रतिवर्गके थे। उनका होनेते वडे होनेवर नी दृष्टप्रसू विद्युत्के असविकारी हुए, पाहु ही नरवदेशके विद्युत्प्रसार दृढ़े। वे वडे भूतायमें थे; अतः यवकी रेखनेते अनन्ते वडे अर्थ नाहिको सीनकर वे उनमें चढे गये। वहाँ उनके वडः वडु, इनके द्वारा उन्होंमें सुनिष्ठित मीम और अर्जुन—ये तीन और मात्राते अस्तिनी-कैनायेश्वर नाहु और सूक्ष्मेष्वर दो—इच्छा प्रकार पाँच पुन हुए को पाप्वव कहलाये। दृष्टप्रसूके व्यापर्वकी झूमने वी पुन हुए उनमें दुर्योगसंदर्भ बड़ा था। वे सब कौरव कहलाये। दृष्टप्रसूके नाम हुद्दिमान् मर्यादा नाम संक्षय था; वे इन डाकिये थे। नद्यप्रल पाहुके परलोकगमनके अन्तर ब्रह्मांशु छलिग्रन पाँचों पाप्ववोंको और नहरानी उन्होंको हुसियापुरमें मौजके उन्हीं पहुँचा गये। नाहु उद्युक्तप्रसूकी नाम नाही बनने परिके गाथ सती हो गयी अठ; गैंगों पाप्ववोंका व्यापर्वयेन झूमीने ही किया। इन पाँचों भाव्योंने अस्तन द्वेष था।

दुर्योदामी को भाई थे। उनसे नद्यप्रल नाहु उनमें अद्ये भाई दृष्टप्रसूको उच्च दै नहीं गये थे—वे वे जैवे हीनेके कारण उच्चके व्यापिकारी थे, तिर मी राज्यर अभिकर दृष्टप्रसूका ही था। अद्ये हीनेके कारण उच्चकाज उद्दोषन ही करता था। अह राज्यके प्रधानाभिकारी पाप्वव या नहीं थे। दुर्योपन जाहता था हन्ते नरवदेश में निकालक उच्च कर्तुं। उच्चके प्रधान मन्त्री मिहुर्जी थे, वे पाप्ववोंले ल्ये करवे थे। कौतन्ये दृष्टप्रल रचकर पाप्ववोंको लाकायहने नेचकर नाम जालना चाहा। किंतु दिनुर्वाची कुवलयसे तथा मनवान्की झागे पाँचों पाप्वव अतीती चाला कुन्तीके सहित वहाँते डिनकर निकल गये और शाहीरेन्होंने निजाम निनहि करते हुए द्वार्देशका पालन करते लगे। १२ दृष्टिक वे वेद वद्यकर पूर्वदे रहे। उद्योक्तने उनका ने उद्य भर गये। उनके द्वै और द्वै और वही दृष्टप्रसूके दिव्यायेके लिये इनके शादादि कर्म नी कर दिये। आहानोंको बहुतसा बान नी दिया।

नद्यप्रल कुरुक्ती सर्वक्रेतु सुन्दरी वपोनिज राज्यांकनीके स्वदेवताने ब्रह्मवृक्षरी अर्जुनदे दृष्टप्रसूके प्रतिक्रियार उलवृत्त करते द्वैरयोंको प्राप्त कर लिया। इह ग्रीष्मी पाँचों पाप्ववोंको पती हुई। उद्युक्त कृष्णदत्तके प्रकार दृष्टप्रसूने जाग राज्य पाप्ववोंको दे दिया। वे दृष्टप्रसूने अनन्त राजधानी ब्रह्मवृक्षर वही चूनवानमें पञ्च करते लगे। वहीं चम्पारजने सर्वभेद राजसूय्यर लिया। दृष्टोधन

उन वर्षों में दैनेय सिक्ख था। जाहजों के दैनेय अद्वैत असूक्ष्म ऐश्वर्यको देवतार दैनेय नमीनमन बड़ा दाह—अलग हीथों हुआ। उन्होंने बरने नाना शुभनिशी विद्यवासी दूषकाल अन्तर्गत पापहरणों नीच लिया। उन्हें १२ वर्षों का वर्षालय और एक वर्षों का वर्षालय अहोवाल दैनेय चलने नीकाल दिया गया। उन वर्षों कुदर्दी ही जीति जूदा भी बिनियोग लिये अतिशाली बहु भाव जाना था। और भी मनवी वर्षालय शृंखले कुदर्दे लिये जाया चुनौते लिये छलने देने पर अद्वैत नहीं ही बनाया था। प्राये इन्द्रावर १२ वर्ष वर्षालय और एक वर्ष अहोवाल नीके लैनेके रखाया जब यात्रियों के लिया राजकर गवर दैनेय इनकार आदि। दैनेय लिये पापहरणों के लिये अनेक उपाय लिये गए। उन्हें नामार श्रीहृषी वृत्त वक्तव्य चैत्रों लिये गए। लैनेके गवर भूमियों के लिये गोंध ही गोंध लिये गये। वह भी कुर्योंवाले वायीन रहवाह वैष्णव निर्विकृत लिये। इष्टिष्ठानों राजाये लिये उद्दीप इकट्ठक भाव जाना था। अपेक्षक बढ़ाया था; उन अद्वैतों द्वारा आनन्दको अनुदार अलंकारों लिये गये दावे के। अब यो हान दावे हैं। यज्ञ पालन लक्षितों वर्ष हैं। अब हम कुदरी हृति भूमि वर्ष के वर्ष न दर्शने। हम निर्विवाहको भूमि दें दो, लिये हानेर घर्मी रक्षा ही वाय। लिये कुर्योंशने दृष्ट लियोंके हैरान दो हृषी वृत्त कर दी—ये हृषी लिये कुर्यों ने कहे लियों भूमि लिये वर्ष ही उनकी भी न दृष्टा। उन दोनों अनेकों कुदरी लैनारें हैं लैनों। बृहग्यु नाना पापहृष्ट दोनों ही इन्द्रों सामने आदाने पुक दे। अब अवरोद्धीने चढ़ देना कुदरी हैना प्रवर्णनमनी है तब वे बृहग्युके लियों गये थेरे बृहे—बृहे। लैनेके दूषको दृष्टि कुदरी कुदरी दृष्टि करने वाले नहीं बढ़ाया। अब नहीं दृष्टि करने वाले ही अवरोद्धीने चढ़ देना।

बृहग्युने कह—कहो! नैर उम्मुक्ष यह अपर्युपेष्य वह दृष्टि करनी चाह है। अब हैनोंमें प्रत्यक्ष तो देख न नहीं। लिये भी दृष्टि नहीं करें।

नामार वायरोंने कह—कह। दैर दृष्टि इन्द्रों अन्य दृष्टि वैष्णव वायरों दैर ही अन्यों देवताओं कुदरी दैर ही वायरों ही। लियों दृष्टि वायरों नामारों के वर्ष अन्यों देवताओं के।

बृहग्युने कह—कह। यह वैष्णव की वैष्णवों नहीं देखा तब उन्होंने कुदरी करनों दूर कुदरी आंखोंसे जूँदी है। नैरी हृषीकेशी दृष्टि ही है।

हृषीकेशोंसे जूँदी कुदरी अद्वैत चाहोगा। यह अन्यों अनुदार ही जाय से भेदे यह इच्छा भी दृष्टि हो चकी है।

सुंदर उर्वारुम् नामार वैष्णवोंने उत्ता बृहग्युके कहा—कह। हम अपनी औन्तरों दैत्यों तो चाहते नहीं लिये कुदरी वैष्णवोंके कुचन्द सुनता चाहते हैं; तो हम दृष्टि लियो, नियो उत्तिव सून संदर्भों दिय इस्त्रि दिये हैं। वे दूर दैर ही कुदरी दृष्टि दैनेयों प्रत्यक्ष देने चकी। इस्ते कुदरी लैनी बात नी न दिय लियो। प्रस्तु ही देख हो, दिय हो, राजने हो—ते न्य दिय हाउने उच्च दृष्टि होती। वे कुदरीके भूमियों भूमियों नी जानेमें नहीं हुए। यह ये कुदरी दृष्टि भी जानेमें जै इनके बृहीरों यूकार अधित भी न लैयो। वे सर्वासंबन्ध लुद्दने कुदरी नीट लैयो। हुम लैने जबनी पुकोंके लिये दैर नहीं चाहत। नैर नहीं लैने लिये इच्छाकी बृहीरों प्रस्तु कर हैं। जहो अहै, उहै दृष्टि है; वहै अर्थ है; वहै अन्यून है। आवश्यक दृष्टि अवश्यक हो रहे हैं। इन कुदरी नामार वायरों दृष्टि दिये जाए नहीं।

यह कुदरों नीरन्देशन ह गिर गये दृष्टि नहीं वैष्णवों कर्मार्थ कुदरों कुदरों कुलेशी लिया न हुए। बृहग्युको अनेक भूमी करने के दृष्टि—कह। नैर कुदरी दैर यह कुदरों कुर्यों वैष्णवों कुर्योंकों दैर कुदरी ही रह है और दैर ही लैनेके राजे लिये इच्छित दृष्टि कुदरी है, सम्भवत हुई—दैर ही वहै एकत्रित हैरान वाय चाहते हैं। कुदरों की कुदरी कुदरों कुदरों लैनी ही हुता है। इनकर दैरवारोंने कुदरी कुदरी। कुर्योंको वैष्णवोंको जै दृष्टि दृष्टि करता चाहत। और दृष्टि कुदरोंको रीयुक्तों कुदरी।

इसर अन्यों कुदरों को—कुदियो! वही अपेक्ष लिये लियो—कियो लैने ही उम्मुक्ष है। दैरहर बृहग्यु लैने ही उम्मुक्ष है। जैरे दृष्टि कुदरी नीरन्देशन है। कैरुन्य दृष्टि दृष्टि दृष्टि दृष्टि है। जैरे दृष्टि नीरन्देशन है। कैरुन्य दृष्टि दृष्टि है।

दैरी लियोहो है कि एक दृष्टि कुदरी जैरी बृहग्यु दृष्टि दैरोंके लिये दैर ही कुदरी लिये उद्ध नीरन्देशन है ती है। दैरों और कुदरी दैरों के समान ही है। उद्धों नीर नीरी दैरों दैर ही उद्ध गोपने ही आवश्यक लियोनामार दैर चैत्रद ही जाना। सून नैर नीर नीरन्देशन—नीरन्देशन है। दैर ही उद्ध दैर ही उद्ध है। दैर ही युक्तों शी दृष्टि दृष्टि है।

नीरन्देशन दैरार एक हृषीकौ पकी दैरी लैनी है।

कृषक खेतोंने पानी दे रहा था । अपनी लौसे उसने कहा—
“तू तपतक मेरे पानीको देख मैं जबतक रोटी खा लूँ ।”
खी पानीको देखने लगी । कृषक रोटी खाता रहा । खीकी
गोदमे ५७ महीनेका बच्चा था । एक खानसे पानी
फूटने लगा । खी वास्तव उसमें मिही छाले वह वह जाय,
तब जट उसने अपनी गोदसे बच्चेको उठाकर उस खानपर
रख दिया । पानी ढक गया । बच्चेको मर ही जाना था ।
मृतक पुत्रको बैसे ही लगा छोड़कर वह चली आयी । तब
भगवान्से अर्जुनसे कहा—“पार्थ ! यही सान उपमुक्त है ।”
उसी सानको दोनों पक्षोंने स्वीकार कर लिया ।

वह सान सदासे शुद्धस्तल रहा है । सत्ययुगमें भी यह
सान तीर्थ रहा । विश्वमित्र-वसिष्ठने यहाँ तप किया; वहो
दोनोंमें सुदृढ़ हुआ । भगवान् पशुरामने इक्कीस बार क्षत्रियोंका
वध करके रक्तकी नदी ब्रह्मी थी, क्षत्रियोंके रक्तसे पाँच
वडे कुण्ड भरकर उसी रक्तसे पितरोंका तर्पण करके अपने
पिताके बधका प्रतिशोध किया । वे पञ्चकुण्ड ही समस्त-
पञ्चक तीर्थकी नामसे प्रसिद्ध हुए । इस पावन तीर्थका
महात्म्य वेदों, उपनिषदों, चतुर्थ-त्रायणादि ग्रन्थों तथा
पुराणोंमें प्रचिद्ध है । फहले यह तीर्थ ब्रह्माजीकी ‘उत्तर-
वंदी’ के नामसे विख्यात हुआ । वहाँ ब्रह्मा, विष्णु,
शिव तथा इन्द्रादि देवोंने वडे-वडे यज्ञ किये । महर्षि
भरुने भी वहाँ तपस्या की थी, इसलिये बहुत दिनोंतक
वह शुद्धेनके नामसे विख्यात हुआ । किंतु महाराज कुरुने
इस क्षेत्रको कृषियोग्य बनाया, तभीसे यह धर्म-
क्षेत्र कुरुक्षेत्रके नामसे विख्यात हुआ । पुराणोंमें
इसकी कथा इस प्रकार है—

भरतवंशमें महाराजा कुरु वडे ही धार्मिक और
प्रजावत्सुल सम्माट् थे । प्रजामें धर्मभावना बाप्रत् हो
तथा लौकिक उत्तिः, धन-धात्यकी समृद्धि हो, इस हेतु
उन्होंने इस ब्रह्माकी उत्तरवेदी-ऐसे परम पावन क्षेत्रको
आचार्यात्मिक शिक्षा तथा तप; सत्य, क्षमा, दया, शौच,
दान, योग तथा ब्रह्मचर्यरूप अष्टाङ्ग-धर्मकी कृषि
करनेका निश्चय किया । वे सुवर्णमण्डित रथपर
बैठकर वहाँ आये । उन्होंने उसी सुवर्णका हल बनाया ।
अब हल तो बन गया । इसे खोने कौन ! शिवजीने इहैं
बैल दिया । यमराजके पास मैंसा ही था, उन्होंने मैंसा ही
दिया । अर्थात् हल या तो बैलोंद्वारा या मैंसोंद्वारा
चलाया जाता है । राजा इस धर्मक्षेत्रको धर्मपूर्वक
जीत रहे थे । इसी समय देवराज इन्द्र आये और
कोले—“राजन् ! खेतको जीत तो रहे हो । वीज क्या बोझोगे ?”
राजने कहा—“देवेन्द्र ! आप धरवरायें नहीं, वीज
तो मेरे पास ही है ।”

यह सुनकर इन्द्र चले गये । राजा धर्मक्षेत्रको
जीतते ही रहे । वे सात कोस भूमिको प्रतिदिन
कृषिके निमित्त जोत लेते थे । इस प्रकार ४८ कोस
भूमिको वे कृषियोग्य बना सके । तब भगवान् विष्णु
राजाके ऐसे परिश्रमको देखकर वहाँ पधरे और उनसे
पूछने लो—“राजन् ! क्या कर रहे हो ?”

राजने कहा—“भगवन् ! मैं अष्टाङ्ग-धर्मकी कृषिके
लिये भूमि जोत रहा हूँ ।”

भगवान्ने पूछा—“राजन् ! भूमि तो तैयार कर रहे
हो, बीज क्या बोझोगे ? और वह बीज है कहाँ ?”

राजने कहा—“भगवन् ! बीज तो मेरे पास है ।”

भगवान् विष्णुने कहा—“उसे मुझे अर्पण कर दो,
मैं उसे आपके लिये बो दूँगा ।”

राजने कहा—“धर्मो ! ग्रहण करें ।” यह कहकर
राजने अपनी दायीं भुजा फैला दी । भगवान्ने सुदर्शन-
चक्रसे उसे काटकर उसके टुकड़े करके बो दिया । फिर
कमज़ोः अपनी दायीं भुजा, दोनों पैर और अन्तमें अपना
सिर भी बो दिया ।

इस प्रकार राजने अपना सम्पूर्ण शरीर अष्टाङ्ग-योगकी
कृषिके लिये भगवदर्पण कर दिया अर्थात् उसे धूतिमें
मिला दिया; क्योंकि विना शरीरको धूलिमें मिलाये, विना
स्त्रा-सीना एक किये, विना कठोर श्रमके धर्मक्षेत्रकी
खेती होती नहाँ । इसीलिये राजने अपना सर्वत्र अर्पण
कर दिया । जो सर्वत्र अर्पण कर देता है, ब्रह्मार्पण कर
देता है, उसीसे भगवान् विष्णु प्रसन्न होते हैं । राजने
ऐसे तप, सत्य, दया, शौच, दान, योग-दर्शन द्वारा देखकर
भगवान् /उनपर प्रसन्न हुए और राजा कुरुको जीवित
करके उनसे बर माँगनेको कहा ।

राजने कहा—“भगवन् ! यदि आप मुझसे प्रसन्न
हैं तो मुझे चार वर दीजिये । (१) फहला वर तो
यह कि जितनी भूमि मैंने जीती है अर्थात् ४८ कोसकी
भूमि—यह परम पुण्यक्षेत्र धर्मक्षेत्र हो और मेरे ही
नामसे विख्यात हो अर्थात् लोग इसे धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र
कहा करें । (२) दूसरा वरदान यह कि भगवान् दिव
समक्ष देवताओंसहित वहाँ सदा-सर्वदा निवास करें ।
(३) तीसरा वर यह कि वहाँ ब्रह्म, उपवास, ज्ञान,
ज्य, तप तथा शुभाश्रम जो भी कर्म किये जायें वे
अश्रव हो जायें । (४) चौथा यह कि जो भी वहाँ भूत्यु-
को प्राप्त हो, वह अपने पाप-पुण्यके प्रभावसे रहित होकर
स्वर्गगमी हो ।

भगवान्ने 'तथास्तु' कहकर उलाको चारों ओर दें
दिये। तभीसे यह अति पावन क्षेत्र धर्मशेत्र कुरुक्षेत्रको
नामसे विद्यात हुआ।

ब्रह्मज्ञने सोचा—ये कलियुगी क्षत्रिय धर्ममें खालपर
पढ़े-यहे मरणे तो समीको नरक होय। ब्राह्मणों तमसा
करते करते मरना चाहिये, क्षत्रियों सम्मुख समरमें
हैंसते-हैंसते प्राणोंका परिवाग करना चाहिये। महाभारतका
उद्ध धर्मशेत्र कुरुक्षेत्रमें इसीलिये कराया कि यहाँ जो भी
मरेगा, उसीको सर्वकी प्राप्ति होगी। यह धर्मकी लड़ाई थी;
धर्मराज स्वयं लड़नेवाले थे, इसलिये यह धर्मशेत्रमें हुई।
लड़नेवाले दोनों ही कुरुवंशके थे—कौरव थे, इसीलिये
कुरुक्षेत्रमें लड़ाई हुई। वहाँपर वे सब तीर्थयात्रा-त्रुटिसे
एकत्रित नहीं हुए थे, युद्धकी इच्छाते एकत्रित मुण्ड थे।

महाराज धृतराष्ट्र धर्मात्मा थे, ज्ञानी थे; फिर सो-
सम्बन्धियोंमें कुछ-न-कुछ ममत्व रहता ही है। इस ममत्वका
लाग करना बड़े-बड़े मुनियोंके लिये भी बहुत कठिन है।

धर्म और उसका प्रचार

(छेदन—ग्रहीण श्रद्धेय श्रीवद्यालीन गोपनका)

यह तो पता नहीं कि विशुद्ध धर्म-प्रचारका उद्देश्य
कहाँतक है और यजनीयिक स्वार्थ कितना है; पर दैत्या
जाता है इस समय विभिन्न-धर्मवालम्बी लोग न्यूनाधिक समसे
अपने-अपने धर्म-प्रचारके लिये अपनी-अपनी पद्धतिके अनुसार
प्रयत्न अवश्य कर रहे हैं। किंविद्यन सत्का प्रचार करनेके
लिये ईसाई-जगत् अपर धनराजिको पानीकी तरह बहा
रहा है। अमेरिकातकरे फरोहों रफबे इस कार्यके लिये
भारतवर्ष तथा विभिन्न देशोंमें प्रतिवर्ष भेजे जाते हैं। लाखों
ईसाई छो-पुरुष सुदूर देशोंमें जाजाकर मौति-भौतिसे लोकसेवा
करके तथा लोगोंको अनेक तरहसे लोभ-लालच देकर, कुरुला-
कर और उन्हें उल्ली-सीधी बात समझाकर ईसाई बना रहे हैं।

कुछ मजहबी मतजाले लोग परम्पर तथा परम्परी-अपहरण
करने, धर्मके नामपर हिंसा करने और परम्परीकी हत्या
करनेको ही धर्म मान बैठे हैं और उसीका प्रचार-प्रसार
करते हैं। इसीने आज चारों ओर अशान्ति और
दुःखका विस्तार ही रखा है। अपनी दुर्दिसे लोक-कल्याणके
लिये जिस धर्मको अधिक लपयोगी समझा जाय, उसके
प्रचारके लिये प्रयत्न करना मनुष्यका कर्तव्य है। इस त्याग-
से कोई भाई चारि वास्तवमें ऐसे ही शुद्ध भावसे प्रेरित होकर
केवल लोक-कल्याणके लिये अपने धर्मका प्रचार करना

इसीलिये धृतराष्ट्र दुर्योगनार्दिको भाग्यका—मेरे पुत्र कहते
हैं। पाण्डवोंको पाण्डुका ही पुत्र कहकर जिजाता करते हैं—वे
लोग क्या करने लगे।

सूतजी कहते हैं—मुनियो। अद्य धृतराष्ट्र संवयसे
पूछ रहे हैं—‘संजय! धर्मशेत्र कुरुक्षेत्रमें युद्धकी इच्छासे
एकत्रित हुए भेरे और पाण्डुके पुत्र क्या करने लगे?’ इस
प्रश्नका उत्तर संजय जो धृतराष्ट्रको देते, उसका
वर्णन मैं आगे करूँगा; आदि सब समाहित चित्तसे
सुननेकी कृपा करें।

छप्य

मेरे ही सब पुत्र युद्ध हित अत्युक्त होँ॥
पर पच्छानि तै कुपित होहि कदु नानी बोहै॥
पाण्डुपुत्र हैं पाँच वरमरत सत्र प्रतिवरी॥
दिन की रक्षा करै नदनंदन गिरिचारी॥
समरमूभिमें समरहित, सबही संजनी-सो।
सकल सुसंजित शक्त है, संजय का करिवे लगे॥*

चाहते हैं तो उनका यह कार्य असुन्दर नहीं है; परंतु
उन लोगोंके उपर्युक्त काशोंको देखकर हमलोगोंको लगा
करना चाहिये, यह विषय विचारणीय है। मेरी समझसे
एक हिंदू-धर्म ही सब प्रकारसे पूर्ण धर्म है, जिसका चरम
लक्ष्य मनुष्यको संसारके वित्तायनलसे मुक्त कर उसे अनन्त
मुखकी शान्त-शीतल शेर सीमातक पहुँचाकर सदाके लिये
आनन्दवय बना देना है। इसी धर्मका पवित्र संवेद प्राप्त कर
समय-समयपर जगत्के दुःखदम्य अद्यान्त प्राणी परम शान्तिको
प्राप्त हो चुके हैं और आज भी जगत्के बड़े-बड़े भावुक
पुरुष अत्यन्त उत्सुकताके साथ इसी संदेशकी प्राप्तिके लिये
लालायित हैं। विस धर्मकी इतनी अपार महिमा है, उसी
अनादिकालसे प्रचलित पवित्र और गम्भीर आशयवाले धर्मको
माननेवाली जाति सोहवश जगत्के अन्यान्य अर्थां मर्दोंका
आशय जगहकर अशान सरिताके प्रवाहमें बहना चाहती है।
यह यहै ही दुःखकी बात है।

यदि भारतने अपने विरकालीन धर्मके पावन आदर्शको
भूलकर ऐसिक सुखोंकी व्यर्थ कल्याणोंके पीछे उन्मत्त हो
केवल काल्यानिक भौतिक, अधिक-से-अधिक स्वर्गादि सुखोंके
ही धर्मका स्थेय माननेवाले मर्दोंका अनुसरण आरम्भ कर
दिया तो वडे ही अनर्थकी सम्भावना है। इस अनर्थका

* श्रीनष्ठुवारीजीकी 'भागवती कथा' के ६८ भाग प्रकाशित हो चुके हैं, कई कारणोंपरि नकुल दिनोंसे आगे खण्ड चर्ची छप रहे थे।

† चित्तों प्रकाशन आरम्भ हो गया है, नई ६५३० अधिकारियोंसहित क्रमानुसार प्रश्न व्यवधार है। प्रत्येक सामुद्रको संचारित दर्शिया २.२५ हरये है।

सूक्ष्मपात्र भी हो चला है। समय-उमयपर इसके अनेक उदाहरण मिलते हैं। लोग प्रायः परसानन्द-ग्रासिके घ्येषसे न्युत होकर केवल विविध प्रकारके भोगोंकी प्राप्तिके प्रयत्न-को ही अपना कर्तव्य समझने लगे हैं। धर्मशैश्वका यह प्रारम्भिक दुष्परिणाम देखकर भी धर्मप्रेमी न्युत धर्मनाशसे उत्सन्न होनेवाली भयानक विपत्तियोंसे जातिको बचानेकी संतोषजनक रूपसे चेष्टा नहीं कर रहे हैं, यह बड़े ही परितापका विषय है।

इस समय हमारे देशमें अधिकांश लोग तो केवल धन, परं नाम और कीर्ति कमानेमें ही अपने दुर्लभ और अमूल्य जीवनको दिता रहे हैं। कुछ सबन समाज-सुधार या समाज-कल्याणके कार्योंमें लगे हैं, परंतु सत्य-धर्मके प्रचारक तो कोई विरले ही महात्माजन हैं। यद्यपि मान, बड़ाई और प्रतिभागी कामना एवं स्वार्थपरिणामका परित्याग करके समाज-कल्याणके लिये प्रयत्न करनेसे भी सच्चे सुखवनी प्राप्तिमें कुछ लाभ पहुँचता है, परंतु भौतिक सुखोंकी चेष्टा वास्तवमें परम घ्येय-को मुला ही देती है। सच्चे सुखकी प्राप्तिमें पूरी सहायता तो उस शान्तिप्रद सत्य-धर्मके प्रचारसे ही मिल सकती है।

यद्यपि मुख्य संसारके मत-साधानतरोंका बहुत ही कम ज्ञान है फिर भी साधारणरूपसे मेरा यह विश्वास है कि सबसे उत्तम सर्वभौम धर्म वह ही सकता है, जिसका लक्ष्य महान्-ते-महान्, नित्य और निर्विधि परम आनन्दकी प्राप्ति हो और जिसमें सबका अधिकार हो। केवल ऐहिक सुख या स्वर्गसुख वत्तलानेवाला धर्म भी वास्तवमें बुद्धिमानके लिये त्याज्य ही है। अतएव सर्वोत्तम धर्म वह है जो परम कल्याणकी प्राप्ति करनेवाला है। ऐसा धर्म मेरी समझसे वह चैदिक सनातन धर्म ही है, जिसका स्वरूप निम्नलिखित-रूपसे शाखोंमें कहा गया है—

अभर्यं सत्त्वसंशुद्धिराज्योगव्यवस्थितिः ।
दानं दमशा यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम् ॥
अहेसा सत्यमन्तोधस्त्वपगः शान्तिरपैशुनम् ।
दया सूतेष्वलोकुपर्वं मार्दवं हीरचापलम् ॥
तेजः क्षमा धृतिः शौचसद्ग्रहो ही नातिमानितः ।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत ॥

(गीता १६। १-३)

(सर्वथा भयका अभाव, अन्तःकरणकी अच्छी प्रकारसे सञ्चल्लता, तत्त्वज्ञानके लिये ध्यानयोगमें निरन्तर दृढ़ स्थिति, सात्त्विक दान, इन्द्रियोंका दमन, भगवत्पूजा और अनिन्द्योचादि उत्तम कर्मोंका आचरण, वेद-शास्त्रोंके पठन-पाठन-पूर्वक भगवान्-के नाम और गुणोंका कीर्तन, स्वधर्मपालनके लिये कष्ट सहन, द्वारीर और इन्द्रियोंके सहित अन्तःकरणकी सरलता, मन, वाणी और शरीरसे किसी प्रकार भी किसीको कष्ट न देना, यथार्थ और मियभाषण, अपना अपकार

करनेवालेपर भी कोधका न होना, कर्मोंमें कर्तापनके अभिमानका ल्याग, अन्तःकरणकी उपरामता अर्थात् चिन्तकी चक्षुलताका अभाव, किसीकी भी जिन्दा आदि न करना, सब भूतप्राणियोंमें हेतुरहित दया, इन्द्रियोंका विपर्योग-साध संयोग होनेपर भी आसकिका न होना, कोमलता, लोक और शालके विरुद्ध आचरणमें लज्जा, व्यर्थ चेष्टाओंका अभाव, तेज, क्षमा, वैर्य, शौच अर्थात् बाहर और भीतरकी शुद्धि, किसीमें भी शवुत्यापका न होना, अपनेमें पूल्यताके अभिमानका अभाव—हे अर्जुन ! दैवीसम्बद्धोंमें प्राप्त हुए पुरुषके लक्षण (ये) हैं ।

दृष्टिः क्षमा द्विष्टस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।

धीर्विद्या सत्यमन्तोधो दशकं धर्मलक्षणम् ॥

(मनु० ६। ९२)

‘वैर्य, क्षमा, मनका निग्रह, चोरी न करना, वाहर-भीतरकी शुद्धि, इन्द्रियोंका संधम, सात्त्विक शुद्धि, अज्ञात्म-विद्या, वशार्थी भाषण और कोध न करना—ये धर्मके दस लक्षण हैं ।’

अहिंसासत्यास्तेयव्याप्त्यव्याप्तिग्रहाः यमाः ।

(योग० २। ३०)

‘अहिंसा, सत्यभाषण, चोरी न करना, ब्रह्मचर्यका पालन और मोग-सामविद्योंका संग्रह न करना—ये पाँच प्रकारके यम हैं ।’

शौचसंतोषतपत्प्रस्त्राच्याचेष्वरगणित्यानानि नित्यमाः ।

(योग० २। ३३)

‘वाहर-भीतरकी पवित्रता, संतोष, तप, स्वाध्याय और सर्वस्व ईश्वरके अर्पण करना—ये पाँच प्रकारके नियम हैं ।’ सबका निष्कामभावसे पालन करना ही सब्दा धर्मावरण है।

ये ही सर्वभौम धर्मके सर्वोत्तम लक्षण हैं, इन्हेंसे परमपदकी प्राप्ति होती है। अतएव जो सच्चे हृदयसे मनुष्यमात्रकी सेवा करना चाहते हैं, उन्हें उचित है कि वे उपर्युक्त लक्षणोंते युक्त धर्मको ही उन्नतिका परम साधन समशक्त व्यर्थ उत्तम आचरण करें और अपने हृष्णात् तथा युक्तियोंके प्राप्त इस धर्मका महत्व वत्तलाकर मनुष्यमात्रके हृदयमें इसके आचरण-की तीव्र अभिलापा उत्पन्न कर दें। वास्तवमें यही सच्चा धर्म-प्रचार है और इसीसे लौकिक अभ्युदयके साथ ही साथ देश-कालकी अवधिसे अतीत मुक्तिलय परम कल्याणकी प्राप्ति हो सकती है। इस स्थितिको प्राप्त करके पुरुष हुःस्वल्प संसारान्तरमें लौटकर नहीं आता। ऐसे ही पुरुषोंके लिये श्रुति पुकारती है—

न च मुनरावर्तते न च पुनरवर्तते ।

(छान्दोग्य० ८। १५। १)

इस परम आनन्दका नित्य और मधुर आत्माद मनुष्य-मात्रको चक्षुनेके लिये वैदिक सनातन धर्मका प्रचार करनेकी चेष्टा मनुष्यमात्रको विशेषरूपसे करनी चाहिये।

कुछ सज्जनोंका मत है कि अधिकार और विपुल धनराजिके अभावसे धर्मप्रचार नहीं हो सकता; परंतु मेरी समझमें उनका वह मत सर्वथा टीक महीं है। अधिकारीकी आत्मिसे धर्म-प्रचारमें सहायता मिलती है; परंतु वह यात नहीं कि अधिकारीके अभावमें धर्मका प्रचार हो ही नहीं सकता। धर्मपालनसे बढ़े-जै-बढ़ा आत्मिक अधिकार मिल सकता है; तब इस साधारण अधिकारको तो यात ही कौन-सी है। वह तो अनायास ही प्राप्त हो सकता है।

धनकी भी धर्मके प्रचारमें आवश्यकता नहीं। सम्भव है कि इसमें आदिकर्त्तव्यमें कुछ लाहायता मिल जाय। इसमें प्रधान शांतरक्षकता तो है म्यर्यं धर्मका आन्वरण करनेवाले सच्चे त्वागी और धर्मज प्रचारकोंही। ऐसे पुरुष मान, बड़ाहूं प्रसिद्धि-और स्वार्थको त्वागकर प्राणपणमें धर्म-प्रचारके लिये कठियह ही जायें तो उन्हें ब्रह्मदि वस्तुओंकी तो कोई नुटि रह ही नहीं सकती। असिन्हु वे अन्ने प्रतिपलियोंपर भी प्रेसमें विजय प्राप्तकर उन्हें अपना मिश्र द्वाना ले सकते हैं। केवल गंगावार्षिके लिये ही त्योग-लालच देकर शा फुसला-धर्मकाकर किरीका धर्म-प्रतिरक्षितव करना वातावरमें उसके लियेप हितका हेतु नहों हो सकता औग न ऐसे स्वार्थयुक्त धर्म-प्रचारसे प्रचारकोंही वी विदेष लाभ होता है। जब मनुष्य धर्मन महजको व्यय भलीमेंति समझकर उसका धारण करता है, तभी उसे व्यार्थ आनन्द और आनन्द मिलती है और इस प्रकार अपूर्व आनन्द और परन शान्तिका अनुभव करके ही मनुष्य मंसुतिमें फैसे हुए अग्रान्त, दुखी जीवोंकी दृश्यनीय स्थितिको देखकर करणार्द-चित्तमें उन्हें आनंद और मुख्य वतानेके लिये प्रयत्न करते हैं; यही सच्चा धर्म-प्रचार है।

वहे खोदकी यात है कि इस अपार आनन्दके प्रवक्ष्य सायरके हेतु हुए भी लोग हुःअवृप्य मंसारसागरमें मसा हुए भीपण संतापको प्राप्त हो रहे हैं। मृगवृष्णामें परिश्रान्त और च्याकुल मृग-समूह जैसे गङ्गाके तीपर भी गङ्गाकी ओर न ताककर सम सालुका-नायिमें ही प्यासके मारे छटपटाकर मर जाते हैं, वही दशा इस समय हमारे इन माइयोंकी ही रही है।

सत्य-धर्मके पालनसे होनेवाली अवार आनन्दकी स्थिति-को न समझनेके कारण ही ननुध्योंकी यह दशा हो रही है। अतएव ऐसे लोगोंको दृश्यनीय समझकर उन्हें नैदिक सनातन-धर्मका तत्त्व समझनेकी चेष्टा करनेमें ही उनका उपकार और सच्चा सुधार है। इस धर्मको वसलानेवाले हमारे यहाँ यानेक ऐसे ग्रन्थ हैं, जिन सबका मनन धौर अनुशीलन करना कोई सहज बात नहीं। अतएव किसी एक ऐसे ग्रन्थका

अवलम्बन करना उत्तम है, जो सरलताके साथ मनुष्यको इस पावन पथपर ला सकता हो। मेरी समझमें ऐसा पावन ग्रन्थ 'श्रीमद्भगवद्गीता' है। यहुत थोड़े-जैसे सरल शब्दोंमें कठिन-जै-कठिन लिङ्गलोंके समानानेवाला, सब धक्कारके अधिकारियोंको उनके अधिकारानुसार उपयोगी यार्ग वत्सलनेवाला, सच्चे धर्मका पथप्रदीर्घक, पश्चापाल और सार्थसे रहित उपदेशोंके अपूर्वी मंगलका यह एक ही सार्वभीम महार प्रथ है। जगत्के अधिकांश महानुभावोंमें तुक्ककष्टमें इस वातको स्वीकार किया है। गीतामें नैकड़ों ऐसे श्लोक हैं, त्रिनमें प्रकृतों भी पूर्णता धारण करनेमें मनुष्य मुक्त हो जाता है, किंतु सम्पूर्ण गीताकी तो वात ही क्या है।

अतः जिन सुकृदोंको धर्मक विश्वत ग्रन्थोंको देखनेका पूरा समय नहीं मिलता, उनको चाहिये कि वे गीताका अर्थसुनित अवदान अवदाय ही करें और उन्हें उपदेशोंके पालन करनेमें तत्पर ही जायें। मुकिमें मनुष्यमात्रका अधिकार है और गीता गुरुनिमांग वत्सलनेवाला एक प्रधान ग्रन्थ है; इसलिये परमेश्वरमें भक्ति और यद्वा रक्षानेवाले यमी आनन्द भनुव्योंका इसमें अधिकार है। गीताप्रचारके लिये भगवान्तमें किसी देव, काळ, जगति और व्यक्तिविदेशके लिये दक्षवट नहीं की है, यरं अपने भन्नोंमें गीताका प्रचार करनेवालोंको सभी बद्धकर अपना प्रेमी बनाया है—

य इमं परमं गुरुं मङ्गकेष्वभिधास्यति ।

भर्त्तं भव्यं परां शुद्धा मासेष्वप्यत्परंश्यः ॥

(१४ । ६८)

‘जो गुच्छ मेरमें परम प्रेम करके इस परम रस्तवुक गीताग्रन्थको गेरे भन्नोंमें कहेगा, अर्थात् निकाममावमें प्रैमपूर्वक गेरे भन्नोंको पढ़ायेगा या अर्थकी व्याख्याद्वारा इसका प्रचार करेगा; यह निस्पंदेह मुझको ही प्राप्त होगा ।’

न च समानमनुष्येषु कथित्वमें प्रियकृतमः ।

भविता न च मे तस्माद्वयः प्रियतरो भुवि ॥

(१४ । ६९)

‘और न तो उससे बद्धकर मेरा अतिशय प्रियकार्य करनेवाला मनुजोंमें कोई है और न उससे बद्धकर मेरा अत्यन्त प्यारा पुरियोंमें दूसरा कोई होगा ।’

अतएव सभी देवोंकी सभी जातियोंमें गीता-अपलक्ष्य प्रचार वहे जोरके साथ करना चाहिये। केवल एक गीताके प्रचारमें ही पृथ्वीके मनुष्यमात्रका उद्धार ही सकता है। इसलिये इसी गीताधर्मके प्रचारमें सभी वल्लवान् होना चाहिये। इससे सबको आत्मनिक मुख्यकी प्राप्ति दी सकती है। यही एक सरल, सहज और मुख्य उपाय है।

भारतीय समाज-भर्यादाके आदर्श श्रीराम

(लेखक—श्रीश्रीरामनाथजी 'सुमन')

अगवान् श्रीराम भारतीय समाज-भर्यादाके आदर्श हैं। वे भारतीय संस्कृतिकी सामाजिक विशिष्टताओंके प्रतीक हैं। उनके जीवनमें हमारी सामाजिक भर्यादाएँ एवं आदर्श अविवृत हुए हैं।

समस्त भारतीय संस्कृति त्यागमयी है। उसमें प्रस्तुत वर्णके लिये, अपने स्तर एवं स्थितिके अनुसार, भोगको कमशा: छोड़ते हुए त्यागकी वृत्ति प्रहण करनेपर बल दिया है। जहाँ भोग है भी, वहाँ वह त्यागके लिये एक सीढ़ीके स्पर्में है। हसीलिये भारतीय जीवन आत्मार्थणकी मावनापर गठित हुआ है। हल भावनाके कारण सामाजिक पक्षमें व्यषिकारके स्थानपर कर्तव्यकी प्रधानता स्थापित हुई। राम-का समस्त जीवन त्याग-प्रधान एवं उदाचर कर्तव्य-भावनासे पूर्ण है। उनका जीवन कहाँ भी अपने लिये नहीं है। वह एक आदर्शीय प्रेरित, एक आदर्शके लिये समर्पित और उस आदर्शको वाचरणमें व्यक्त करनेके लिये निरन्तर प्रयत्नशील जीवन है। वह व्यक्तिगत सुख एवं भोगपर कर्तव्योन्मुख लोकहितकी प्रधानताका जीवन है।

वंश-भर्यादा

जिस धन्दमें उन्होंने जन्म लिया था उसमें भारतीय संस्कृतिके आदर्शको प्रकाशित करनेवाले एक-से-एक महापुरुष हुए हैं। हरिश्चन्द्र, दिलीप, भरत, रघु-एक-से-एक राजा इस धन्दमें हुए। इस धन्दका धर्षन करते हुए कालिदासने लिखा है—

सोऽहमाजन्मशुद्धानामाप्नोद्यकर्मणाम् ।
आस्मुत्रक्षितोशानामानाकरथवस्त्वेनाम् ॥
थथाधिधित्वात्मीनां अथकामार्चिताधिनाम् ।
यथापराधदण्डानां अथकालजयोधिनाम् ॥
स्थागाय सम्भृतार्थीनां स्थाय भित्तभाविणाम् ।
यस्मे विजिगोषूणां प्रजायै भुहमेधिनाम् ॥
क्षैश्चेऽभ्यस्त्विद्यानां यौवने विषयेषिणाम् ।
वाद्यके मुनिवृत्तीनां योगोनान्ते तजुत्यजाम् ॥
रघूणमन्वयं वद्ये तत्त्वाविभवोऽपि सन् ।
तद्यौः कर्णमानात्य धरपलाय मनोदितः ॥

(खण्ड १। ५—९)

अर्थात् मैं उन प्रतापी रघुवंशियोंका वर्णन करने वैता हूँ जिनके चरित्र जन्मसे लेकर अन्ततक शुद्ध और पवित्र रहे, जो किसी कामको उठाकर उसे पूरा करके ही छोड़ते थे, जिनका राज्य समुद्रके ओर-छोरतक कैला हुआ था, जिनके रथ पृथ्वीसे सीधे स्वर्गतक जाया-आया करते थे, जो शालों-के नियमके अनुसार ही यज्ञ करते थे, जो माँगनेवालोंको मनचाहा दान देते थे, जो अपराधियोंको अपराधके अनुसार ही दण्ड देते थे, जो अवसर देखकर ही काम करते थे, जो दान करनेके लिये ही खत बटोरते थे, जो सत्यकी रक्षाके लिये बहुत कम बोलते थे कि जो कहें उसे करके भी दिखा दें, जो दूसरोंका राज्य हड्डपने या लूटमारके लिये नहीं वरं अपना यश बढ़ानेके लिये ही दूसरे देशोंको जीतते थे, जो भोग-विलयके लिये नहीं वरं संतान उत्पन्न करनेके लिये ही विवाह करते थे, जो बालपनमें विद्याभ्यास करते थे, तदण-वस्थामें संसारके भोगोंका आनन्द लेते थे, बुद्धाध्येय मुनियोंके समान जंगलोंमें रहकर तप फरते थे और अन्तमें परमात्मा-का घ्यान करते हुए अपना शरीर छोड़ते थे।

ऐसे धन्दमें उनका जन्म हुआ था; सहज ही श्रेष्ठ संस्कार उन्हें मिले थे। रघुवंशियोंके लिये तुलसीदासजी-ने भी कहा है—

सुखुकुल रीति सदा चलि आई। प्रान जाय बरु बन्तु न जाई॥

शुभ संस्कारस्युक्त जीवन

वे सत्यसंध महायज दशरथ और चारशीला महारानी कोश्लस्थाकी प्रिय संतान थे। इसलिये उनमें शुभ संस्कार वचपनसे थे। यों तो वे साक्षात् परमेश्वर, ब्रह्मावतार ही थे; किंतु मानवीय दृष्टिसे देखा जाय तो भी वे मर्यादा-पुरुषोत्तम थे। शरीर-सम्पत्ति एवं प्रतिमाके आलोकसे उनका शैशव आलोकित है; वचपनसे ही वे शीलके समुद्र हैं; विद्योपार्जन-में केवल सेद्वान्तिक ज्ञान नहीं वरं जीवन, उसके श्रेष्ठ कर्तव्य और आदर्शोंकी विकासमान अनुभूतियाँ उनमें विद्यमान हैं— छोटोपर ममता एवं स्लैह तथा गुरुजनोंके प्रति सम्मान एवं भक्तिसे उम्रका हृदय पूर्ण है। माता-पिता दोनोंकी अक्षय स्लेष्यराखे जिग्य एवं मृदुल हृदय उनको मिला है; परंतु

पुन, आदर्श भाई एवं आदर्श पति हैं। नाता-पिता एवं गुरुजनके प्रति उनमें असीम सम्मानका भाव है। भाइयोंके प्रति उनका हृदय प्रेमसे इतना द्रवित है कि राज्याभिषेककी बात उन्हें अब्सुत लगती है। सोचते हैं—एक साथ जन्मे, एक साथ पालन-पोषण हुआ, साथे, खेले, पढ़े; यह कथा शीति है कि एक माहिनों सही मिले! पहले भाइयोंके सुख-सुविधाकी बात सोचते हैं, तब अपनी। पक्षी उनकी परम अनुगता है और वे भी उसके प्रति सहज प्रेमसे पूर्ण हैं। किंतु यह मातृ-पितृभक्ति, यह आत्मप्रेम, यह दात्पत्य-प्रणथ हतने उच्च स्तरपर है, वे इतने श्रेष्ठ संस्कारोंसे पूर्ण हैं कि वे उनके जीवनाद्योंमें सहायक और साधक हैं। मोहविष्ट प्राणियोंकी तरह वे उनके लिये अध्यनकारी नहीं हैं, श्रेयसाधक हैं। प्रेम यहाँ मुक्तिदाता है, मोहक एवं भूच्छोंकारक नहीं।

जगत्के सभूर्ण स्नेह-सम्बन्ध आत्मलूपको लेकर ही हैं। श्रुति भी यही कहती है। इसलिये धर्मको प्रकाशित करनेमें ही उनकी महत्वा है। जब ऐसा नहीं होता तो वही प्रेम योहरूप हो जाता है और सामाजिक पश्चात्यका भी कारण होता है। श्रीरामके जीवनमें यही सत्य प्रकट हुआ है। उनके पारिवारिक जीवनमें ही स्नेहकी कोमलताके साथ इसी कर्तव्यनिष्ठ इच्छाके दर्जन होते हैं।

श्रेयपथमें

पितके सत्य एवं धर्मकी रक्षाके लिये, युवराज-पदपर अभिषेकके दिन वे समस्त राजसिक सुविधाओंका स्वाम भर जीवनके कठ्ठक-बनकी ओर अग्रसर होते हैं। पिताकी मृद्धा और मृत्यु, भाइयोंकी हृदय-व्यया, पक्षीके कष्ट, खजनोंका आत्माद और प्रजाकरणका गम्भीर शोक भी उन्हें कर्तव्य-मार्गसे चिरत नहीं कर पाते। सबसे बड़ी बात तो यह है कि उनके इस व्यागमें कहीं आवेद्य नहीं है, अनुचित वेग नहीं है। वह सब उनके लिये सहज है। वह शान्त, आवेगहीन, मर्यादाओंसे पूर्ण है। जब उनके समुर जनक तथा भाई भरत आदि माताओंसहित उन्हें गनाने जाते हैं, तब स्नेहके भार एवं शील-संकोचसे तिर सुकाये हुए वे केवल अपनी स्थिति स्पष्ट कर देते हैं और कर्तव्यके निर्णय एवं आदेशका भार उन्हें ही सौंप देते हैं। अपने धर्ममें दृढ़ रहते हुए भी कहीं गुरुजनोंसे तर्क-वितर्क नहीं करते; सदा अपनी समाज-मर्यादाका व्याप करके ही विनयपूर्वक उत्तर देते हैं।

सामाजिक एवं राष्ट्रीय आदर्शोंकी दृष्टिसे विचार कीजिये तो हम उन्हें सदैव अन्यथ एवं अधर्मकी शक्तियोंसे युद्ध

करते देखते हैं। उनका समस्त जीवन अनैतिकता एवं अधर्मके विषद् एक निरन्तर रांबर्थका जीवन है। सामाजिक दृष्टिसे अपने जीवनमें उन्होंने निपादराज, धावरी इत्यादि निष्पत्तियोंको अपनाया; अहंवाका उद्धार करके मानो विताया कि महात्मागण पनितसे धृणा नहीं करते, उनमें अपनी शक्तिका, पावनताका अधिष्ठान कर उन्हें ऊपर उठा देते हैं। छोटे वानर-बनचरैरोंको अपने संसर्ग एवं संस्कारसे उन्होंने शक्ति पवन महत्वकी सीमापर पहुँचा दिया। आर्यवर्त-का जातीय जीवन उस समय विजित एवं विश्वालू हो रहा था। विद्या एवं शक्तिसे महात्म राघवके आतंकसे समस्त दक्षिणायथ एवं मध्यभारत कोंपता था। भोगोन्मुखी आमुखी सम्यताने धर्म एवं श्रेष्ठ संस्कारोंका आर्य-जीवन असम्भव कर दिया था। श्रवियों एवं तपस्वियोंके कार्यमें बड़ी वाधाएँ उपस्थित होती थीं। रावणने अपनी विद्या-बुद्धिसे अनेक श्राहित शक्तियोंको वशीभूत कर लिया था। वायु एवं अग्निपर नियन्त्रण स्थापित कर उनसे मनमाना काम लेता था। मानव-जीवनको आत्मिक विकासके सामग्री प्रेरित करनेवाली और उपर्युक्त संस्कृतिको महत्व देनेवाली आर्य सम्यताके लिये संकट उपस्थित था।

श्रीरामने अपने कौशल, पराक्रम, संघटनशक्ति और अक्षय आत्मविश्वासवे शब्दण एवं उसकी अशानमूला पद्धति-का विनाश किया और बन्धनोंमें बैधे देशको पुनः मुक्त स्वस्थ बातावरणमें बाँस लेते और जीनेका अवसर प्रदान किया। शत्रुके साथ युद्धमें भी इम देखते हैं कि श्रीरामके पास भौतिक साधन शत्रुकी अपेक्षा नगण्य थे। परंतु आत्मिक शक्तियों एवं उदात्त गुणोंके समुचित संघटनद्वारा उन्होंने युद्धकर शत्रुपर विजय पायी।

असत्य एवं अन्धकारसे सत्य एवं प्रकाशका युद्ध ही श्रीरामके जीवनमें प्रबलताके साथ व्यक्त हुआ है। मानवमात्रके जीवनमें वह युद्ध व्यूनाधिक मात्रामें चलता रहता है, चल रहा है। असत्य एवं अधर्मके प्रति युद्ध करते हुए उसके निवारण-निराकरणमें हम जिस सीमातक लगते हैं उसी सीमातक मानो श्रीरामको अपने जीवनमें उत्तारते हैं। जिस सीमातक हम श्रीरामय बनते हैं, उसी सीमातक हम धर्मरूप होते हैं, क्योंकि श्रीराम ही आर्य-संस्कृतिकी सामाजिक मर्यादाके आदर्श हैं। वही धर्म हैं, वही जीवन हैं, वही आत्मा हैं, वही परमात्मा हैं। उनके चरित्रका श्रवण, मनन, अनुकरण कर उनसे अपने दृद्यकी गाँठ-बाँधकर हम पावन एवं धर्म हो सकते हैं।

सदाचार-धर्मपरायण भगवान् श्रीरामका आदर्श चरित्र

(छेतक—५० श्रीशिवकुमारजी शास्त्री, व्याकरणाचार्य, दर्शनालङ्घन)

भारतीय वैदिक-संस्कृतिका कार्यक्षेत्र सम्पूर्ण विश्व है। उसके चाहा-आचरणर स्वरूप परस्पर इतने मिले हुए हैं कि उनमें भेदविष्टि की नहीं जा सकती। वैदिक-संस्कृतिको किसी भी रूपमें परिविष्टि, उसमें एक देव, एक काल, एक समाज, एक व्यक्तिको लेकर कोई विचार सम्भव नहीं, 'कुण्डलन्दो विश्व-मार्गम्' 'वर्यं राष्ट्रे जायश्चाम उरोहिता' का तात्पर्य विश्वकल्पाण, सर्वसमाज-कल्पाण है। उसकी प्रार्थनाएँ भी 'धीरेष शरदः शत-शृणुयाम शरदः शतम्प्रवास शरदः शतमदीनाः स्याम शरदः शतम्' 'त्वस्यस्तु विश्वस्य स्लः प्रसीदतां भ्यामन्तु भूतानि दिवं सिथो धिया' 'सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः' 'हम सब सौ वर्षतक जीवित हैं, सुनते हैं, बोलते हैं और दीनगते हैं।' तंसारका कल्पाण हो, तुष्टि भी प्रसन्न हो; जीव परस्पर एक दूसरेका कल्पाण-चिन्तन करे।' 'सभी भुखी और नीरोग हों।' कल्पाण-कामना सम्पूर्ण संसारके लिये है। संसारके तुच्छाचार संचालनके लिये धर्मोंको परम आवश्यक माना गया है। 'धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा' 'धर्मं सारे संसारकी स्तिति है।' उस धर्ममें भी 'आचारः प्रथमो धर्मः' कहकर धर्मशालने आचार-पालनपर विशेष वल दिया है। वस्तुतः वार ऐसी ही है। मनुष्यका जैवा आचरण होता है, कैसे ही उसके सहज विचार मी होते हैं। विचारोंकी झुट्ठिके लिये शुद्ध सत् आचारोंका होना आवश्यक है। इसीसे आचार-विचारमें आचारका प्रथम स्थान है।

प्रान्तीन कालमें सारी शिक्षा आचारपर ही आधारित थी। कार्यशूद्धि, चाकृशूद्धि, मनःशूद्धिपर अधिक भ्याम देना, ब्रह्मचर्य, अहिंसा, सत्य, अस्तेय आदिका पालन, गिरावर्थियोंके शानोपार्जनके आवश्यक अनु थे।

भगवान् श्रीराम आचारवर्भके मूर्तिमान स्वरूप हैं। भगवान् श्रीरामका यारा जीवन सदाचारकी प्रतिविम्ब मूर्ति है। 'नामराज्य' शब्द आज सभी वर्गके लोगोंका कण्ठहार-सा बन गया है। 'पोशवासिष्टम्'में श्रीरामके विचारों एवं महर्षि वसिष्टके उपदेशोंको पढ़कर हृदय पुलकित हो उठता है। आस्तीकीय रामावण वर्थवा रामचरितमानस पद्मेवाले पुरुषोंको यह तमझते विलम्ब न होगा कि श्रीरामके विचार

और आचारमें कितना समन्वय था। श्रीरामको वनसे लौटानेके उद्देश्यसे नाटिक मतका अवलम्बन कर समझनेवाले श्रीजायालिको उत्तर देते हुए श्रीराम कहते हैं कि 'मेरा प्रिय करनेकी हच्छाए आपने जो ब्रतं कही हैं, वे कर्तव्यके समान दीखनेपर भी कर्तव्य नहीं हैं, पश्य प्रतीत होनेपर भी पश्य नहीं हैं। जो पुरुष धर्मं अथवा वेदकी मर्यादा तोड़ देता है, वह पापकर्ममें प्रवृत्त हो जाता है। उसके आचार-विचार दोनों प्रष्ट हो जाते हैं।' इससे वह स्वपुरुषोंमें कभी समान नहीं पाता। आचर ही यह यताता है कि कौन पुरुष लक्ष्म या नीच कुलमें उत्तम है, कौन श्रीर है या बृहुत्य अभिमानी है, कौन पवित्र और कौन अपवित्र है। आपका उपदेश पहले सो धर्मका चोला है, किंतु है वह अधर्म। इससे संसारमें बर्णलंकरताका प्रचार होगा। यदि मैं वेदोंका शुभकर्मोंको व्यापकर विधिहीन कर्मोंमें छा जाकूंतो कर्तव्य-अकर्तव्यका शान रखनेवाला कौन समसदार मनुष्य मुझे अच्छा मानकर आदर देगा? इस दृश्यमें मैं जगत्में द्वुरुचारी, लोकको कल्पित करनेवाला माना जाऊँगा। आपके इस उपदेशको मानकर चलेंगे मेरे लाभ सारा लोक त्वेच्छाचारी ही जायगा। सत्य-सदाचारका पालन ही शासकोंका दया-प्रधान धर्म है। सत्यमें ही सब लोग प्रतिष्ठित हैं। सदाचारी पुरुष ही अक्षय पद पाता है। संसारमें सत्य-सदाचार ही धर्मकी मर्यादा है और वही सबका मूल है। दामः यशः होमः तप और वेद—इन सबका मूल सत्य ही है। सत्य ही ईश्वर है। अतः मनुष्यको सदाचारी होना चाहिये। पहले सत्य-पालनकी प्रतिक्षा कर थव लोभ-प्रोद्धव अवश्य संसारसे विवेकशृण्य होकर मैं पिताकी मर्यादा भक्त नहीं करूँगा।'

जिस रामराज्यकी स्थापनापर आज जोर दिया जा रहा है वह केवल सदाचारपर ही प्रतिष्ठित था। यदि रामराज्य माल है तो भगवान् श्रीरामके आदर्श आचार-विचार भी माल होने चाहिये और भगवान् श्रीरामके पावन चरित्रके प्रकाशमें शाखशुद्ध लोककल्पाणकारी आचार-विचार ग्रहणकर 'मृत्युर्मां असृतं गमयथकी अृषिवाणीको सार्थक करना चाहिये।

वास्तवमें भारतीय-संस्कृतिमें मर्यादापुरुषोऽप्तम भगवान् श्रीरामके परमपावन परम आदर्श भव्य धरित्रसे बढ़कर मानव-

बावनको सबोन्नुद्दर कनामेचाला समूर्ण हिंदुप्रद चरित्र अद्यवधि कहीं भी उपलब्ध नहीं है। वहि भरतीय लाहिल्से श्रीरामका आदर्श चरित्र निकाल दिया जाय, तो वह कथन अतिथियोजितपूर्ण न होगा कि राहिल्से आचार-शिक्षणका एक क्रियात्मक सर्वथा अभाव उपस्थित है जाग्रा। आदर्श आचार-विकासको लेकर ही आज भी प्रान्तराल्य शब्द आश्रोह हुद्द जमका कलहार बना हुआ है। भास्तीय-प्रस्तुति हश्यमें सर्वोच्चम कही जाती है क्योंकि उत्तरें धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष-इन चारों पुरुषार्थोंके विवेचनके साथ आचारका भी पूर्ण समन्वय है। वहि विचारोंके द्विना व्याप्ति पड़ता है तो आचारके द्विना भी विचार सर्वथा अन्वय है। इच्छ प्रकार मतिशील पदार्थ भी दर्शन-व्यक्तिसे रहित होकर गर्तमें गिर सकता है। 'आचारः प्रथमो धर्मः' 'आचार प्रभवो धर्मः' 'आचारहोनं न पुनर्निष्ठेदाः'-इन वचनोंसे आचारको सर्वधेषु धर्म वताया गया है। भगवान् श्रीरामका चरित्र यहि जित दृष्टिको लेकर परखा जाय वह सर्वथा आदर्श, शुभ तथा सद्गुचार-समन्वय है।

रामस्य धरितं कृत्स्नं कुरु त्वमूषिस्त्वम् ।
धर्मस्त्वमनो भरवतौ लोके रामस्य धीमतः ॥

त ते वाग्मृता काम्ये कर्तिद्वय भविष्यति ॥
कुरु रामकाम्ये तुम्यो द्वोक्तव्यां भनोरमाम् ।

(चा० चा० चा० चा० २ । ३२, ३५-३६)

भगवान् ब्रह्मकी इस प्रेरणावे भविष्य कालमीकिके द्वारा दर्शित यहि रामचरित्र प्रमाणित है। श्रीरामका यह चरित्र सुग-नुगान्तरोंसे असेहुल्य बनताकर समर्पणदर्शक रहा है—रहेगा।

'एकपदीवसधरो राजिष्ठपरितः शुचिः ।' आदर्श भवीद्य-पुष्पोचम श्रीरामका दिल्ल चरित्र उपके रूपमें, भ्राताके रूपमें, परि और विष्वके रूपमें, पिता तथा राजा के रूपमें—याहे जिस प्रकार परखा जाय, सर्वतः सर्वथा सर्वदा निर्मल निष्कलहु चन्द्रके समान बन्दीय और आचरणीय है। ब्रह्मण्ड श्रीरामका यह बचन उनके ही अनुत्तम है। 'तीते ! मैं अपना जीवन होड़ रकता हूँ, लक्षणको और त्रुम्हें भी होड़ रकता हूँ, पर ब्रह्मण और धर्मकी रक्षाके लिये की गयी प्रतिशक्ति व्याप कैसे सम्भव है ?'—

सम्यहं जीवितं लह्यां खां चा सीते सलझणाम् ।

म हि प्रतिशो संधृत्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः ॥

महात्मा श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

नैति प्रोप्ति परमारथ त्वारथ । कोठ न राम सम जान जग्मरथ ॥

—यह है श्रीरामका आदर्श। मायादे परे, लक्ष्मीके पक्षि, दूषके आदिकारण, जगत्के उत्पत्ति-साम, प्रत्यक्ष आदि प्रभागोंसे अगम्य, मोहका नाश करनेवाले, सुमिजनोंके बद्दनीय, दोगियोंके द्वारा ज्वानशेष्य, योगमार्गके प्रवर्तक, सर्वत्र परिपूर्ण, समूर्ण उंसारको आमन्द हेनेवाले हित्युषणप्रसम्भव उम परम सुन्दर सगवान् श्रीरामकी प्रणाम ही करता हूँ।

मायातीत मायावमार्य जगदार्दि

जातातीत मोहविनादं सुनिवन्नाम् ।

योगित्येत्यं योगविवातं परिपूर्ण

धन्दे रामं रक्षितलोके रमणीयम् ॥

(अथात्प्राप्नाम)

—ैं श्रीव्रह्माजीके इन स्तुतेन्वचनोंको दोहराता हूँ।

श्रीरामके पदपद्मोमें नमस्कार

शौर्य-चौर्य-ऐश्वर्य अनुल माधुर्य दिल्ल सौन्दर्य-निधान ।
नित्य सौचिदानन्द दिल्ल शुचितम गुणगण-सामार भगवान् ॥
धैर्य परमः गाम्भीर्य सरस, सौशील्य सहज, धौदार्य महान् ।
शरणागत-वात्सल्यः साम्य, काल्प्य, स्वैर्य, चातुर्य अमान ॥
सत्यः वहिसा, सृदुता, आज्ञाव, ज्ञान, तेज, वल, दुद्धि ललाम ।
नमस्कार पद-पद्मोमें जो गुणनिधि अनुल राम-से राम ॥

धर्मके परम आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीराम और उनकी दिनचर्या

(लेखक—श्रीकृष्णप्रसादजी शीराजर, श्री० काम०, सन्दर्भ 'वर्तमानभारती')

भगवान् श्रीराम अनन्तकोषिक्राण्डनायक परम दिता परमेश्वरके अवतार थे और धर्मकी मर्यादा रखनेके लिये भास्तुभूमि अपेक्षामें राजा राघवथे, यहाँ उपर्युक्तमें अवतारित हुए थे। उन समय गवांशोऽन्न नम वीभत्सुरप इतना प्रचण्ड हो गया कि श्रुतिभूमियों गौ एवं ब्राह्मणोंका जीवन खटारेमें पड़ गया था। उर्वांशों कोई शास्त्रविदित यज्ञकर्म आदि किये जाते थे, गवांशोंग उर्वांशिर्वस करनेके लिये सदा तप्तपर रहते थे। गवांशोंका राजा चतुर भारत-भूमिपर अपना एकच्छव चतुर व्यापित करनेके लिये चारों ओर जाल फैला रहा था। देवताओंके आगम एवं अनुनय-विनायके फलम्बनप भगवान् रूप अपने अंगोंगहित राजा, लक्षण, भरत एवं वत्सप्रान्ते नपर्यं अवतारित हुए।

भगवान् श्रीरामके आदर्श धर्मिका विवरण इन भिन्न-भिन्न रामायणोंमें पाते हैं जिनमें वाल्मीकीय रामायण, अच्यात्मरामायण तथा परम भक्त गोस्वामी तुलसीदासरचित रामचरितमानस प्रसुल हैं। इन निवन्यका आधार जिनमें मर्यादापुरोत्तम भगवान् श्रीरामकी दिनचर्याका विवरण कराया गया है, गोस्वामी तुलसीदासकृत रामचरितमानस है।

साधारण बालकोंकी सहद बालभूमिमें अपने छोटे माझ्यों एवं बाल-सत्त्वाओंके साथ भगवान् श्रीराम सरण्यके तप्तपर कन्दुकक्षीष्ठ एवं अन्य सेव्योंमें ऐसे भक्त हो जाते हैं कि उन्हें अपने खानेपीनेकी भी त्रुप नहीं रहती थी।

भोजन करत बोल अब राजा । नहि आजत तजि चाह समाजा ॥
फौसल्या जब बोलन जाँ । हुमुकु हुमुकु प्रभु चहहि पाँ ॥

(रा० च० भा० बा० २०२ | ३-४)

अपने भाष्योंके नाथ शेष-शुगारकी चर्चा करना भगवान् भवता-पिता, गुरुके आशानुसार प्रतिदिन दैनिक कार्यमें लग जाना उनका नित्यका कार्यक्रम था—

जेहि जिवि सुक्षी होहि पुर लोगा । करहि कृष्णनिधि सोइ संजोगा ॥
बेद सुनहि भल लाइ । आपु कहहि अनुजन्हि समुदार्द ॥
प्रातकल ढठि कै रुक्नाथ । भासु पिता मुह नावहि माथा ॥
अपसु मानि काहि भुज काजा । देखि चरित हरपह मन राजा ॥

(रा० च० भा० बा० बा० २०४ | ३-४)

विश्वामित्र भुनिके वर्जनी भगवान् श्रीरामने जिन लक्षणमें की लगा नहमेके भवते उन्हें कैसे निर्वर्त किया गय हम उग्नी टाँटी वामननिनदीमध्यमें दाते हैं तो उनकी धीमता, भीमता एवं कार्यमानताही और द्वारा व्यक्त वरयम आकर्षित हो जाता है और उन्हें यह धर्मके परम आदर्शके रूपमें पाने हैं।

प्रात राज तुनि सन चुपावं । निर्मय अद चारु तुनि रातं ॥
दीम राम लगि तुनि धारी । अनु वे दद दी भत्तारी ॥
तुनि नारिक निनाचर देती । है सदाय धारु तुनि देती ॥
तुनि वर बान गल देती धार । मद जेतन राम मारु धार ॥
पदक भर तुनि तुनि धार । अनुज निन चर फल्दु संदाय ॥
मानि अनुर द्विज निनमारी । अनुनि वारि देव तुनि धारी ॥
तदें तुनि कुतुक दिवन चुपाया । रुदू देवि निन ध धारा ॥
मानि रुदू बदू रद्य तुराना । कहै चित्र जरामि प्रनु जाना ॥

(रा० च० भा० बा० २०५ | ३-५)

विश्वामित्र भुनिके पश्चकी पूर्णाहुतिके पश्चात् भगवान् श्रीराम और लक्षणजी दोनों भाई भुनिके साथ धनुषपक्ष देसमेके लिये जनकपुर जाते हैं। रास्तेमें गौतमभूषिकरे पली अद्व्याका, जो शारवदा तप्तपर हो गयी थी, उद्धर प्रसुने अपने चरणकबलकी धूष्टिके स्पर्शमि किया। नगवान् श्रीराम आतिर पतितागवन ही तो थे।

लक्षणपुरमें गुरुकी सेवा करना भगवान् श्रीराम और लक्षणजीका दैनिक कार्यक्रम था। उनकी दिनचर्यामें भक्त-बत्सलता, भवत्ता एवं संसारको भी द्वारा देखा था। नगर-दर्शनार्थे लिये जब लक्षणजीने इन्द्रपर्वते प्रियेव व्यालमा जाप्रद हो गयी तब भगवान् श्रीराम तुलजी विश्वामित्र भुनिके किस संकोच एवं विनायके साथ जाग नौगने हैं, ऐसिये—

लक्षण रठम लाहला जिलोई । जाइ लक्षणपुर अरज देसो ॥
प्रभु मय वहुरि भुनिहि सकुचाहरै । प्रात न कर्दि न नहि मुसुमारै ॥
राम अनुज नम की गति जानी । मदत बदलता दियै हुलसारी ॥
परम विनीत सकुचि भुमुकरै । बेले तुर अनुसासन परै ॥
नाय लहलु पुर देसमन चहहै । प्रभु सकोच हरप्राट न कहहै ॥
जै रावर अपसु जै पावै । नन्द देवहाइ तुरन है आहै ॥

मुनि मुनीसु कह बचन सरीती । कस न राम तुम्ह राखहु नीती ॥
धर्म सेतु पालक तुम्ह ताता । प्रेम विवस सेवक सुख दाता ॥

(रा० च० मा० चाल० २२७ । ५—४)

नगर तथा धनुषयशाला देखते-देखते जब देर हो गयी तो भगवान् श्रीरामके मनमें भय हो गया कि उधर गुरुजी कहाँ अग्रसन्न न हो जायें । दोनों भाई श्रीमही गुरुजीके पास आपस आ गये ।

संघर्षके समय संघायवन्दन और वेद, पुराण, इतिहासकी चर्चा उनका दैनिक कार्यक्रम था । किस अद्दा, निष्ठा एवं भक्तिदेवे गुरुजीकी सेवा करते थे, उसकी साँझी गोस्वामीजी-के ही शब्दोंमें—

मुनिवर सबन कीन्ह तब जाई । लगे चरन चापन दोड भाई ॥
जिन्ह के चरन सरोरह लगी । करन विनिष्ट जप जोग विरामी ॥
तेइ दोड बंधु प्रेम जनु जीते । गुर पद कमल फूलट ग्रीते ॥
बार बार मुनि अग्न दीन्ही । रघुवर जाइ सबन तब कीन्ही ॥
(रा० च० मा० चाल० २२५ । २-५)

प्रातःकाल गुरुजीके जागनेके पहले ही भगवान् श्रीराम जगा जाते थे तथा गुरुजीकी सेवामें लग जाते थे ।

सकल सौच करि जाइ नहाए । नित्य चिकाहि मुनिहि सिर नाप ॥
समग जानि गुर आपसु पाई । लेन प्रसून चले दोड भाई ॥
(रा० च० मा० चाल० २२६ । १)

भगवान् श्रीराम धर्मके परम आदर्शस्वरूप थे और उनके मनमें एक सुन्दर प्रेमपूर्ण पछतावा तब हुआ जब कि उन्हें पता चला कि उनके राज्याभिपेक्षकी तैयारी हो रही है । विश्व-इतिहासमें यह एक वेजोड़ उदाहरण है । उन्होंने अपने हृदयका उद्धार प्रकट किया—

जनमे एक संग सब भाई । गोजन सबन केलि लस्तिकाई ॥
करनवेष ठपकीत चिआहा । संग संग सब भए उठाहा ॥
चिमल बंस यहु अनुचित एकू । बंधु विहाइ बढ़ेहि अभिषेकू ॥
(रा० च० मा० अयोध्या० ९ । ३-४)

पर जब दूसरे दिन बनवासकी सूचना मिली तब उनको तनिक भी गलानि न हुई । यद्विक परम प्रसन्नता हुई कि पिताके वचनकी रक्षाके लिये वे चौदह वर्षके लिये बन जा रहे हैं । कालिदासने रघुघंडमें यहाँतक लिखा है कि बनवास-की सूचना पानेपर जब लोगोंने देखा कि भगवान् श्रीरामके चेहरेपर किसी भी तरहकी शिकन न आयी तो वे लोग

शाश्वर्यचकित हो उनका दिव्य सुन्दर मुखमण्डल देखते ही रह गये ।

भगवान् श्रीरामने अपनेको बहा ही भाग्यशाली समझा और उस अवसरपर कहा—

सुनु जननी सोइ सुत बहमानी । जो पितु मत्तु बचन अनुरामी ॥
तनय मातु पितु तोविनिहारा । दुर्जन जननि सकल संसारा ॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ४० । ४)

चित्रकूटमें बासके समय भगवान् श्रीरामकी दिनचर्यामें प्रत्यधि-मुनियोंके साथ धर्म-चर्चा एवं सत्संगका कार्यक्रम रहता था । पत्नी और भ्राताओं भी सुखी इसनेकी चेष्टा करते रहते थे ।

सीध लखन जेहि चिषि सुखु कहह । सोइ रघुनाथ करहि सोइ कहह ॥
कहहि पुरातन कथा कहानी । सुनहि लखनु सिय अहि सुख मानी ॥

(रा० च० मा० अयोध्या० १४० । १)

बनवासकालमें चृष्ण-मुनियोंसे मिलना-जुलना तथा राक्षसोंका संहार ग्रन्थ श्रीरामकी दिनचर्याका प्रधान अङ्ग था । पृथ्वीको राक्षसोंसे रहित करनेके लिये उन्होंने मुनियोंके समक्ष प्रतिष्ठा की और उसका पालन अन्ततः किया—

निसिचर हीन काड़ महि मुज उठाइ पन कील ।

सकल मुनिन्ह के आश्रमन्ह जाइ जाइ सुख दीनह ॥

(रा० च० मा० अयोध्या० ९)

भगवान् श्रीरामके बनवासकालमें अनेक प्रसंग—जैसे बालीकिजीसे भेंट, अजिसे मिलन, चारभङ्ग तथा सुरीक्षणजीसे मुलाकात, अगस्त्यजीके आश्रममें प्रभुका पदार्पण, जटायुका उद्धार, चन्द्रीजीसे नवधा भक्तिका वर्णन, सुग्रीवसे मित्रता, वालिवध, लक्ष्मणजीके साथ सत्संग तथा नारद-राम-धन्वाद आदि आते हैं जिनके माध्यमसे हमें भगवान् श्रीरामकी दिन-चर्चा-सम्बन्धी अनेक वात्स भालू होती हैं और वे हमारे जीवनको धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा भगवद्गतिकी ओर अग्रसर करती हैं ।

सीताहरणके पश्चात् ग्रन्थ श्रीरामने किञ्चिन्धार्म पर्वतके शिखरपर बास किया और वहाँ उनकी दिनचर्याकी प्रधानता रही लक्ष्मणजीके साथ सत्संग ।

फटिक सिला अति सुख सुहाई । सुख आसीन तहाँ द्वी भाई ॥
कहत अनुज सन कथा अनेका । भगवति निरति नृप नीति चिलेका ॥

(रा० च० मा० किञ्चिन्धा० ५५ । १)

राजगाना वध कर सीतासंहित प्रमुख लंकासे अयोध्या लैटे हैं। अयोध्यामें उनकी दिनचर्याकी हाँकी गोस्वामीजी-के शब्दोंमें—

प्रातःकल सख्त करि मध्यन । वैठहि सभीं संग द्विज सजन ॥
बैद्र पुरान वालेष्ट वकानहिं । सुवहि राम जद्यपि सम जानहि ॥
अनुज्ञह संलुत मोजन करही । दैवित सख्त जननीं सुख मरही ॥

(रा० च० सा० उत्तर० २५ । ३-२)

प्रजापालनके लिये भगवान् विषेष सचेष्ट एवं सतक छहते हैं। राजसमामे सनकादि तथा नारद आदि भूषि प्रतिदिन आते हैं और उनसे वेद-युराण और इतिहासकी चर्चा होती है। भगवान् श्रीरामकी दिनचर्याकी अन्तिम हाँकी हम अयोध्याकी अमरपर्में पाते हैं—

एरन सख्त श्रम प्रमु श्रम पाई । गप जहाँ सीतक अवैराई ॥
मरत दीनह जिज वसन डसई । वैठे प्रमु सेवहि सब भाई ॥
मालतसुत तब माहत करहै । पुरुक वपुष कोजन जल मरहै ॥

(रा० च० सा० उत्तर० ४५ । ३-४)

धर्मके परम आदर्शस्वरूप भगवान् श्रीरामकी दिनचर्याचे हमें प्रेरणा भिलती है जो जीवनको अद्वा, भक्ति एवं पवित्र प्रेमकी भावनाए औतप्रौढ कर देती है।

(२)

(लेखक—श्रीविद्येश्वरीप्रसादसिंहजी उत्तर० ५०)

यतोऽनुद्यनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः।

धर्म वह है जिससे इहजीहिक तथा पारलैकिक कल्याणकी सिद्धि हो। अस्युः जब इन दोनों क्षेत्रोंसे कल्याणकी हानि होती हो तब अधर्मकी वृद्धि तथा धर्मका हास मानना होगा। आज हमारी दयनीय स्थिति है। न हमारा पेठ भर पाता है, न हमें परलेककी सिद्धि हो पाती है। हम संशयात्मा बन गये हैं। फलतः न हमारा यहाँ कल्याण होता है न हमारा परलेक बन पाता है। ऐसे समय हमें 'रामराज्य'की पाद आती है। उस राज्यमें दैवित, दैविक तथा भोतिक ताप किसीको नहीं होता था। सभी ग्राणी अपनी-अपनी मर्यादामें रहकर लुकी एवं सम्पन्न थे। और यह सब था मर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामके कारण ही।

भगवान् श्रीराम धर्मके परम आदर्श स्वरूप थे। उनका अवतार ही धर्मकी हानि होनेपर हुआ था। उनके अवतारका उद्देश्य ही धर्मका अभ्युत्थान था। हमें

हमें उनकी दिनचर्यामें धर्मके गृह सिद्धान्त सहज ही मिल जाते हैं। भगवान् श्रीरामके अवतारके सद्यों वपेके बाद भी धर्मका मापदण्ड उनका आदर्श चरित्र रहा है। रामायणका प्रचार एवं प्रसार तथा उसका प्रचुर समादर हसका साक्षी है। भगवान् श्रीरामने अवतार लेकर अधर्म, अधिमानी अमुरोंका नाश किया तथा अपने आदर्श चरित्र-द्वारा धर्मका विकास किया। जबतक हम उनके बताये गार्गपर चलते रहेंगे, तथतक धर्मकी स्थिति रहेगी।

भगवान् श्रीरामके चरित्रमें धर्मके विभिन्न पहलुओंपर भलीमौति प्रकाश पहता है। माता-पिता, शुक्र वर्ण-वान्मुख, सखा-मित्र, छी-पुत्र, देश-समाजके प्रति इमारे धर्मका जो आदर्श रूप है, उसका सहज रूपसे पालन भगवान् श्रीरामने अपने जीवनमें किया था। चत्तपनसे ही उनके धार्मिक जीवनका श्रीगणेश होता है। सबैरे शाश्वाका त्याग करके वै माता-पिता तथा गुरुजनोंको प्रणाम करते थे तथा सर्वूत्तमपर जाकर नित्यकिंवा सम्पन्न करते थे। हे मोजन अनुज और सलाके साथ करते थे। माता और पिताकी आशाका ही अनुसरण करते थे। दिनका अधिकांश समय शालकोंका साथियोंके साथ कटता है; पर भगवान् श्रीराम अपने इस समयको वेद-युराणके सुननेमें तथा साथियोंके साथ उसकी ही सम्बन्ध चर्चामें विताते थे। पितासे वादेश प्राप्त करके पुरुके विभिन्न कार्योंका समादान करते थे। उनका कार्य लोकाहितकर होता था। वह हमें स्थाने स्थाने होता है कि कोसलपुराजी नरनारी चूड़े अथवा यन्त्रे किसीको उनके प्रति कोई शिकायत नहीं थी। सभ्योंको भगवान् श्रीराम प्राणसे यढ़कर ग्रिघ लगते थे। आजकल नवयुवक समाज हस्ते शिक्षा ग्रहण कर सकता है।

इस तरह भगवान् श्रीरामके बालचरित्रमें ही हमें उनके आदर्शों एवं संस्कारोंकी क्षमता मिलती है। हस अवस्थामें भगवान् श्रीराम विद्या, विनय तथा गुण एवं शीलमें आदर्श स्वरूप हो गये थे। गुरुके पर जाकर अव्यकालमें ही सभी विद्याएँ उन्होंने प्राप्त कर ली थीं।

वाल्क श्रीराम अब किशोरावस्थाकी ओर बढ़े। उनकी विद्या तथा शक्तिकी प्रशंसा दूरदूरतक फैल चुकी थी। विश्वामित्र मुनिको पापी निशाचरोंके बधकी आवश्यकता था पढ़ी। ये खवरं उनके लिये दशरथजीके दरवारमें आउपस्थित हुए। राजाने कुछ ननुनचके बाद दोनों भाइयोंको

शृंखिके हाथ सौंप दिया। किशोर श्रीराम उनके साथ सहर्ष चले। सहर्ष नार्तन्यपालनके लिये चल पड़ना किशोरीका आदर्श धर्म है। शृंखिके प्रति भगवान् श्रीरामने जो धर्मपालन किया है, वह किसी भी शिष्यके धर्म-निदेशनके लिये पर्याप्त है। मुनिने इस अद्भुत अवकेशकुमारको आशा दी कि ताङ्काको मारो। गुरुके आदेशका तुरंत पालन हुआ। पिर गुरुने प्रसन्न होकर सभी गृह-सेनाहूँ विद्याएँ उन्हें दी, अल्प-शास्त्र दिये तथा ऐसे भेद दिये जिनसे भूख-प्यास नहीं लगे तथा अनुष्ठित बल और तेज शरीरमें चला रहे। वह रही भगवान् श्रीरामकी उच्च विद्या। भगवान् श्रीरामने यशकी रक्षा जिस खुदीके साथ की, वह इस बातका परिचय देता है कि मुनिने वोग्यतमको उच्चतम विद्या दी थी। मारीच और मुबाहु सैन्य पराजित हुए। वह निर्विघ्न समाप्त हुआ। गुरुसमाज प्रसन्न हुआ।

भगवान् श्रीराम तथा लक्ष्मणकी दिनचर्यावहाँ अनुकरणीय थी। राजमन्त्रदे जंगलके दीच मुनिके आश्रममें तथा राज्यसुखसे दूर आश्रमके कष्टपूर्ण जीवनयापनमें भगवान् श्रीरामको कोई शिकायत नहीं थी। जैसे पुरासिर्योंको प्रसन्न रखता था, उसी दरह अपने तप, स्वाध्याय तथा ईश्वर-प्रणिधानसे मुनिसमाजको भी संतुष्ट कर सके। नित्य गुरुकी देवा, उनके उठनेसे पहले शश्यात्मग, गुरुकी पदबन्दना, संध्यादि कुल्य तथा उन्हें सुलाकर ही सीना उनकी नित्यकी चर्चा थी। राजकुमार मानो शृंखिकुमार हो गये। वरकी लुधि जाती रही। शृंखिके कहनेपर धनुषधर देखनेके लिये उनके पीछे हो लिये। पाँव-नैदल, सवारी-की चिन्ता ही नहीं हुई। मानो मानापमान, हर्षमर्ष सभी गुरुको सौंप दिये थे।

उच्चतम शिक्षा तथा प्रयोगशालाकी छिद्दिके बाद भी व्यावहारिक परीक्षामें गुरु उन्हें उत्तीर्ण देखना चाहते थे। जनकपुरकी यात्रामें वह परीक्षा पूर्ण हुई। अहल्योद्वार-सैरा कार्य हुआ, पर अभिमानके बदले भगवान् श्रीरामको इससे ख्याति ही हुई। भगवान् श्रीरामके संयमपूर्ण जीवनकी अजीब ज्ञानीकी जनकपुरमें मिलती है। गुरुकी परम सेवा, एक भी कार्य उनके स्पष्ट आदेशके बिना नहीं करना तथा अपने नित्यकर्मके साथ अपने कुलकी भर्यादाका वरावर व्यास रखना उनके आदर्श युवक-धर्मका परिचय देते हैं। एक ही उदाहरणसे सब स्पष्ट है। लक्ष्मणजीको नगर देखनेकी लालसा है। वे भगवान्की ओर लालसामरे नेत्रसे देखते हैं।

भगवान् उनके मनकी यति जानकर गुरुकी ओर देखते हैं। गुरु उनके मनकी गति जानकर बोलनेका आदेश देते हैं। तब संकोचसे परम विनीत हो फिर भी सुखुराकर लक्ष्मणजी-की लालसा शिष्यमात्रामें प्रकट करते हैं और आशा पानेपर ही पुरी-भ्रमण करते हैं।

जनकपुरमें संध्या-बन्दनादि नित्य-क्रियाके साथसाथ गुरुके लिये पुण्य-चयनादि भी करते हैं तथा उनकी प्रसन्नता-के लिये कोई काम उनका आदेश लिये बिना नहीं करते और कोई गृह-सेनाहूँ बात उनसे छिपाते भी नहीं हैं। श्रीजानकीजी-जैसी परम सुन्दरीके प्रति मनमें जो सात्त्विक क्षोभ हुआ, उसे भी गुरुजीसे निवेदन करते हैं। आत्म-विश्वास उनमें भरा था। तभी तो कहते हैं कि जिसने खपन-तकमें परनारी नहीं देखी, उसके मनमें यह क्षोभ ? विधाता ही इसका कारण जान सकते हैं। ब्रह्मचर्य-व्रतके पालनकी पराकाष्ठा यहाँ है। पर ऐसी मनचाही परम सुन्दरीको पानेके लिये भी उत्तावलापन देखनेको नहीं मिलता।

धनुष-भज्जके क्रममें जहाँ जनक-समान भीर अधीर है उठे, स्वयं लक्ष्मण भी उड़व फहे, वहाँ भर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम गुरुका आदेश पानेपर भी उन्हें प्रणाम करके बिना हर्ष-विषाद किये धनुषभज्ज करते चले। धनुषभज्ज हुआ। महि, पाताल, स्वर्गमें यथा व्यास ही गया।

अब गाईस्वर्ण-जीवनके दीच भगवान् श्रीरामके धर्मस्वरूप जीवनकी कुछ ज्ञानियों देखिये। भगवान् श्रीरामके रूप, गुण, शील एवं स्वभावसे पुरवारीलोग तथा स्वयं दशरथजी प्रसुदित थे। उन्हें योवशरूप देनेकी तैयारी की गयी। अयोध्यामें आनन्दोत्साह छा गया, पर भगवान् श्रीरामको विमल दंशके एक इस अनौचित्यपर पछाड़ा हुआ कि और भाई तो इसमें साथ नहीं हुए। फिर राज्यभज्जके अवसरपर जित भीता, मातृ-पितृ-भक्ति, सत्यप्रियता आदि उच्चतम धर्मका दर्शन मिलता है, वह अन्यत्र फुल्भ है। पिताने मुखसे कमी भी बन-गमनका आदेश नहीं दिया। पर उनका बचन नियमनेके लिये कैकेयीकी रुचि रखनेके लिये तथा भाई भरतको राजा बनानेके लिये एवं मुहिसंगके लिये जिस तत्परताएँ भगवान् श्रीराम श्रीजानकी तथा लक्ष्मणसहित बनगमन करते हैं; वह बताता है कि लीवन भोगके लिये नहीं, व्यासके लिये है। राज्य बन्धन है। बाहरी यज्ञ राज्य नहीं, आत्माका राज्य ही सुराज्य तथा स्वराज है। बनगमनके प्रसंगमें

और यह सब क्यों ? इस्तेलिये कि धर्मात्मा भगवान् श्रीरामके राज्यमें धर्मके चारों चरण ठीक थे । स्वभावमें भी पापका नाम नहीं था । अकालमृत्यु तथा विभिन्न रोगोंका पताक नहीं था । कोई दरिज़ दुखी तथा दीन नहीं था । सभी उदार तथा परोपकारी थे । विप्रोंके प्रति सबका अद्भुत था । सभी एकनारीत्रती थे । नारियाँ भी पतिव्रता होती थीं । इस तरह रामराज्यमें प्रजामें वे सभी गुण आ गये थे जो राज-रिवारमें स्वभावसे ही मौजूद थे ।

तिहासनपरवैठकर मी भगवान् श्रीरामने अनेक यज्ञ किये, वे धर्मपर सदा अचल रहे । महायाती सीता भी पतिके परम अनुकूल चलती थीं । अपने हाथों भगवान्की सेवा करती थीं । अपनी सालकी सेवा भी स्वयं करती थीं ।

भगवान् श्रीरामकी सीखके अनुसार 'भक्ति' ही धर्मजी यथार्थ गति है । भगवद्गति ही धर्मतत्त्वका सुन्दर फल है । भक्त भगवान् ही हैं और भगवान् भक्त ही है । अस्तु परम धर्मात्मा श्रीराम ही भगवान् हैं । उनकी मत्ति ही इष्ट है ।

धर्मके परम आदर्श धर्ममूर्ति भगवान् श्रीराम और उनकी दिनचर्या

(लेखक—श्रीगोविन्दप्रसादजी चतुर्वेदी शासी, वी० ए०, विद्याभूषण)

महर्षि मनुने अपनी स्मृतिमें—

ऋतिः क्षमा द्वमोऽस्तेयं शौचमिन्दित्यनिग्रहः ।

धीरिष्णा सत्यमकोधो दक्षकं धर्मलक्षणम् ॥

—के अनुसार धर्मके दस लक्षण लिखे हैं सथा विष्णुशर्मने हितोपदेशमें—

हस्तभाष्ययनदानानि तपः सत्यं धृतिः क्षमा ।

अलोक इति मार्गोऽर्थं धर्मस्ताष्टविधः स्फृतः ॥

—के अनुसार धर्मके आठ मार्ग लिखे हैं ।

दोनोंके मतमें धैर्य, क्षमा, सत्य, अच्युत, अलोकविशेषोंमें साम्य है । मनुजी विषयोंसे विरक्ति, शूचिता, इन्द्रियनिग्रह तथा विवेकशीलताको एवं विष्णुशर्मा यज्ञ करना, दान करना, तप करना—धर्मके लक्षण मानते हैं । दोनोंका सत्त एक साथ ही माननेवालोंको धर्मके उपर्युक्त बारह लक्षणोंसे युक्त होना चाहिये ।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीमें उपर्युक्त सभी लक्षण हैं ।

महर्षि बालमीकिके अनुसार वे धैर्यमें हिमालयके समान 'धैर्येण हिमवत्तमिद' तथा क्षमामें पृथ्वीके समान 'क्षमया पृथिवीसमः' हैं । सत्यमायणमें तो उनका वंश प्रसिद्ध ही है—रघुकुल रीति सदा चलि आई । प्रान जाहि बहु बचन न जाई ॥

और इस वंशमें श्रीरामजी तो दो बार भी नहीं बोलते; मुँहसे एक बार ही जो कह दिया, उसे ही पूर्ण करते हैं । 'रसमो द्विनौभिभाषते' वाक्य इमारे लिये आदर्श है । अच्युतमें वह—

'सर्वशास्त्रार्थतत्त्वः स्तृतिमात्यविभगवान्'

—के अनुसार सारे शास्त्रोंके अर्थके तत्त्वके जाता हैं । अलोकके लिये उन्होंने विमाताकी इच्छापूर्तिके हेतु राज्यतत्काका त्याग कर आदर्श प्रस्तुत किया । वे नियतात्मा हैं शूचिर्वस्य हैं तथा 'बुद्धिमत्तिमान्वान्मी'के अनुसार वे विवेकशील हैं । वे यज्ञोंके रक्षक हैं और स्वयं यज्ञकर्ता भी हैं । उन्होंने विद्वामित्रजीके यज्ञ-रक्षणार्थ राक्षसोंसे संवर्ष किया । अरण्यवासी शृण्यियोंके यज्ञोंकी उन्होंने रक्षा की ।

वे वहें तपस्वी हैं; उनका शत्रु यज्ञ भी उनको तापस कहकर अंगद-रावण-संबादमें—

गर्भ न गयहु व्यर्थं तुम्ह जायहु । निज मुख तापस दूत छहायहु ॥

—उम्बोधित करता है । अतः यह स्पष्ट है कि भगवान् श्रीरामने धर्मके सभी लक्षणोंका पालन कर हमारे समक्ष आदर्श प्रस्तुत किया है । महर्षि बालमीकि तो सत्यपालनमें 'सत्ये धर्मं इवापरः' कहकर उनको द्वितीय धर्मराजके समान मानते हैं ।

भगवान् श्रीराम धर्मवितार हैं । उनके पावन चरितै शिक्षा ग्रहण कर हमको तदनुसंधार व्यवहार करना चाहिये । अच्छा हो यदि हम उनकी दिनचर्यानुकूल अपनी दिनचर्या बनावें ।

भगवान् श्रीरामजीकी दिनचर्याका आनन्दरामायणके राज्यकाण्डके १९वें सर्गमें बड़े विस्तारसे वर्णन है । श्रीरामदासके द्वारा महर्षि बालमीकिजी अपने शिष्यको उपदेश करते हैं—

शृणु शिष्य बद्यन्यय रामराजः शुभावह ।

दिनचर्या राज्यकाले कृता लोकन् हि शिक्षितुम् ॥

प्रभाते गायकैनीतिं शोधितो रहुनन्दनः ।
नवदायनिनादांश्च सुखं शुधावं सीतया ॥
ततो भ्यत्वा शिवं देवीं गुरुं दशरथं सुरान् ।
पुण्यतीर्थीनि मातृश्च देवतायतनानि च ॥
(आ० ए० राज्यकाण्ड १९ । २५)

भगवान् श्रीरामजी नित्य प्रातःकाल चार घड़ी राति
शेष रहते मङ्गलीत आदिको श्रवणकर जागते थे । फिर
शिव, देवी, गुरु, देवता, पिता, सीर्वे, माता, देव-भन्दिर
तथा पुण्यक्षेत्रों पर्वं नदियोंका स्वरण करते थे; फिर
शौचादिके पश्चात् दम्त-शुद्धि करते थे । इसके अनन्तर कभी
घरपर और कभी सर्यूमें जाकर स्नान करते थे ।

स्नात्वा यथादिवानेत्र अहोषपुरःसरम् ॥
प्रातःसंध्यां ततः छुत्वा अहोषद्वं विधाय च ।
(आ० ए० राज्यकाण्ड १९ । १०-११)

ब्राह्मणोंके वेदधीपके साथ विविक्त् स्नान करते
थे । तदनन्तर प्रातःसंध्या तथा ब्रह्मवत्स करके
ब्राह्मणोंको दान देकर महलमें आकर हचन करके
शिवपूजन करते थे और इसके बाद कौसल्या आदि तीनों
माताभ्योंका पूजन करते थे । फिर गौ, तुल्यी, पौष्टि आदि
एवं सूर्यनारायणका पूजन करते थे । इसके पश्चात् सद्गुर्खों
तथा गुरुदेवका पूजन करके उनके मुखसे पुराण-कथा
श्रवण करते थे और तब श्रावा एवं ब्राह्मणोंके साथ कामबेनु-
प्रदत्त अग्निपर बना हुआ उपहार ग्रहण करते थे ।

तदनन्तर बल्लादि तथा अल्प-दाता धारणकर वैद्य तथा
च्योतिशिवियोंका स्वागत कर वैद्यकी नाड़ी-धरीक्षण करते तथा
च्योतिशिवियोंसि नित्य पञ्चाङ्ग श्रवण करते थे; क्योंकि—

‘लङ्घ्मीः स्याद्बला तिथिभ्रवणतो वारात्स्याऽयुद्धिचरम्’***

—के अनुसार तिथिके श्रवणसे लङ्घ्मी, बालसे आयुष्मद्वितीय
नद्यनरे पापनाश, योगसे प्रियजन-वियोगनाश तथा करण-
श्रवणसे सब प्रकारकी मनःकामना पूर्ण होती है ।

पञ्चाङ्ग-श्रवणके अनन्तर श्रीरामजी पुण्यमाला धारणकर
तथा दर्शण देखकर महलमें बाहर आकर अपनी प्रजाके
लोगोंसे तथा आगल्युकोंसे भेंट करते थे ।

इसके अनन्तर उधानमें निकलकर ऐनाका निरीक्षण
करते थे; फिर राजसमांगे जाकर राज्य-कार्योंपर अपने

माहियों, पुत्रों तथा अधिकारियोंसे विचार करके आवश्यक
व्यवस्था करते थे । तथा सध्याह-कृत्योंके लिये श्रीरामजी
पुनः महलमें पथारते थे ।

वहाँ आकर मध्याह्नमें ज्ञान करके पितरोंका दर्शण,
देवताओंको नैवेद्य तथा बल्लैवेद्य, काक-बलि आदि
देकर भूत-बलि देते थे । फिर अतिशिवियोंको भोजन कराकर
त्राह्मणों तथा यतिर्थीके भोजन कर लेनेके पश्चात् स्वयं
भोजन करते थे । भोजनके अनन्तर ताम्बूल खाते तथा
त्राह्मणोंको दक्षिणा देकर सौ पहर चलकर विश्राम
करते थे ।

विश्रामके पश्चात् श्वासिक मनोरंजन करके पितरोंमें
पाले गये महलके पक्षियोंका निरीक्षण करके महलकी छतपर
चढ़कर अयोध्या नगरीका निरीक्षण करते । फिर गोशालामें
जाकर गायोंकी देख-रेख करते । इसके पश्चात् अश्वशाला,
गजशाला, उद्धुशाला तथा अख्याला वादिका निरीक्षण
करते थे ।

इन सब कार्योंके बाद वे दूतावास एवं तृण-काष्ठागारोंका
निरीक्षण करते हुए दुर्गके रक्षार्थी वनी खाईकी देख-भाल
करते और रथारुद्ध हो अवधुरीके रजमार्गसे दुर्गके
द्वारों तथा द्वाररक्षकोंका निरीक्षण करते थे । फिर बन्धुओंके
साथ सरयोंके तटपर भ्रमण कर सैनिक विविरोंका निरीक्षण कर
महलमें लौटकर राज्य-कार्यकी व्यवस्था करके साधकालके
समय सार्यसंध्या तथा पूजनादिके पश्चात् भोजन करते थे ।
फिर देश-मन्दिरोंमें जाकर देवदर्शन तथा कीर्तन-श्रवण करके
महलमें लौट आते थे ।

यहाँ बन्धुओंसे परिवारिक विवियोंपर चर्चा करके
मगवान् (सार्थकामो निशो नोस्वा) डेढ़ पहर रात्रि
व्यतीत हो जानेपर शयनकक्षमें प्रवेश करके विश्राम
करते थे ।

भगवान्की यह नियमित दिनचर्या हम सभीके लिये एक
आदर्श दिनचर्या है । अदि हम इसके अनुरूप व्यवहार करें
तो हमारा इहलोक तथा परलोक दोनोंमें ही कल्याण ही
सकता है । यह दिनचर्या जहाँ एक सद्भावारिकके लिये
आदर्श दिनचर्या है, वहाँ वह शासकोंको भी कृदृश प्रशासक
बनानेवाली है ।

सत्यधर्म और उसके आदर्श श्रीराम

(लेखक—श्रीरामवारे मिश्र पम्० ए० (संस्कृत तथा हिंदी), व्या० शा०, आचार्य, साहित्यका०)

अस्युदय तथा निःप्रेयसका साधन धर्म चार पुरुषाओंमें प्रधान माना जाता है। धर्म मोक्षका प्रधान साधन है। अर्थे एवं कामकी मी वास्तविक सिद्धि धर्मसे ही होती है। इस धर्मकी मारतीय शास्त्रोंमें अनेकविधि परिभाषाएँ दी गयी हैं, जिसमें त्रिवर्गसापर धर्मको जीवका प्रेरक माना गया है। उभी उसे ध्रेय-प्रेयका आधार और सुखका मूल स्वीकार करते हैं। लोकरक्षक, प्रेरक, आचार-शिक्षक तथा ऐहिक-आसुभिक सुखका प्रधान साधन धर्म है। सत्य इस धर्मका प्रधान अङ्ग है और इतना महत्वपूर्ण है कि कहीं-कहीं तो वह धर्मसे भी व्यापक या धर्मका पर्याय हो गया है। प्राचीन कालमें जब गुरुकुलके शास्त्रपारंगतोंको आचार्य आचार-शिक्षा देते थे तो 'सत्यं वद' 'धर्मं चर'में उन्हें धर्मसे पहले सत्यके पालनपर इष्टि रखनी पड़ती थी। सत्य न केवल धर्मका एक प्रधान अङ्ग या उससे महत्वपूर्ण है अपितु वह ग्रहात्मानीय भी है। 'ग्रह सत्यं जगन्निष्ठामें जहाँ एक दार्शनिक परिभाषा है, वही सत्य तथा मिथ्याका वादानिक रूप भी वर्णित है। वाल्मीकि भहर्षिने रामायणमें सत्यका महत्व इस प्रकार वस्तुलाभा है—

सत्यमेकपदं अहं सत्ये धर्मः प्रतिष्ठितः ।
सत्यमेवाक्षया वेदाः सत्येनावाप्यते परम् ॥
(वा० रा० अयोध्या० १४ । ७)

वस्तुतः प्रणव, वेद या सत्यसे चित्तशुद्धि होती है। चित्तशुद्धि होनेपर सत्यवहा परंपदकी प्राप्ति सरल हो जाती है। लोकमें भी अर्थ और कामकी अपेक्षा धर्मका ही महत्व अधिक रक्खा गया है। धर्म अर्थ तथा कामका प्रमुख तो है ही, सबसे अधिक महत्वपूर्ण और जीवलोकके सर्वथेषोंका एकमात्र कारण है। सत्यं भगवान्, मर्यादा-पुरुषोत्तम श्रीरामने धर्मके सम्बन्धमें कहा है—

धर्मोपेक्षामाः खलु जीवलोके
समीक्षिता धर्मफलोदयेषु ।
ये च च च सर्वे सुरसंशयं मे
भायेद वस्त्राभिमता सपुत्रा ॥
एकिदस्तु सर्वे सुरसंनिविष्टा
धर्मो यतः साव तदुपक्रमेत ।

द्वैष्यो भवत्यर्थपरो हि लोके

कामात्मता खलवपि न प्रकाशा ॥

(वा० रा० अयोध्या० २१ । ५७-५८)

श्रीरामचन्द्रजीके बन जानेपर जब श्रीभरतजी अयोध्याके प्रमुख लोगोंको लेकर उन्हें पुनः अयोध्या लानेके लिये चित्रकूट गये थे उस समय अूपि जावालिने श्रीरामचन्द्रजीको अयोध्या लौटानेकी इष्टिसे कहा था 'प्रत्यक्षं यत्तदातिष्ठ परोक्षं पृष्ठतः कुरु'। जावालिकी इष्टिसे प्रत्यक्ष मात्र ही सत्य था, परोक्ष अनुमानः शब्द आदि प्रमाण सत्य न थे; किंतु सत्यपराक्रम श्रीरामचन्द्रने वैद्यशास्त्र-स्मृतिविदित कुछीनाचरको ही धर्म माना था। जिसका परिणाम सुख हो, फल सुभ हो, उसी स्वर्गप्रद प्रियपूजित पथ सत्यको श्रीरामने राज्य तथा जीवनका मुख्य आधार मानकर कहा था—प्राजाओंको विशेषतः सत्यका पालन करना चाहिये। क्योंकि जैसा आचरण राजा (लोकनाथक) का होगा, उसी प्रकार ग्रन्थ (जनता-) का भी होगा। 'थद्वृत्ताः सन्ति राजान्तद्वृत्ताः सन्ति द्वि ग्रन्थाः। श्रीरामकी इष्टिसे कामबृत्त यथेच्छाचारी जीवन सर्वलोक-विनाशक है। संसारमें सत्य ही सर्वतुमर्थ तथा धर्मका आश्रय है। जगत्का सर्वस सत्यपर आधारित है। सत्यसे गिर्ज परम पद नहीं है। इससे श्रीरामचन्द्रजीने सत्यकी जिस ग्राहक महिमाका उद्घोष किया है, उसीको आधार मानकर चलनेमें जगत्का हित सम्भव है। शुद्धे पुरुष श्रीरामचन्द्रजीके शब्दोंमें 'द्विजिह्वा' तथा लोकपीडाकारक गान होते हैं।

सत्यमेवानुराशसं च राजवृत्तं सत्तात्तनस् ।

सत्यस्त्र तत्यात्मकं राज्यं सत्ये लोकः प्रतिष्ठितः ॥

शूष्यवद्वैव देवाक्षव सत्यमेव हि मेनिरे ।

सत्यवादी हि लोकेऽस्मिन् परं गच्छति चाक्षयम् ॥

उद्विजन्ते यथा सर्वान्नरावनृतवादिनः ।

धर्मः सत्यपरे लोके मूर्लं सर्वस चोच्यते ॥

सत्यमेवेष्वरे लोके सत्ये धर्मः सदाभितः ।

सत्यमूलानि सर्वाणि सत्याक्षात्ति परं पदम् ॥

(वा० रा० अयोध्या० १०५ । १०—१३)

इसी क्रममें भगवान् श्रीरामने सत्य कहा था कि 'ज्ञान, यज्ञ, एवन तप तथा वेद धर्म भेयस्कर हैं। वेदोपदिष्ट

होनेके कारण फलप्रद हैं; किन्तु स्वतः प्रमाणभूत होनेके कारण सत्य तथा ईश्वरमें बाच्य-बाचकत्वके कारण अभेद है। सत्यके प्रतिपालनके लिये ही कैकेयीके कहनेमात्रसे विना पिताके कहे भी श्रीरामचन्द्रजीने बनसे लौटना अर्थमें तथा अनुचित माना था। इसीलिये सन्मार्गाभी पुरुषोंमें श्रीराम अवश्यक भाने जाते हैं। 'नहि रामात् परो लोके विद्धते सत्यये स्थितः'। भारत-जैसे धर्मप्राण देशमें जो सत्य नहीं बोलता, वह सत्यात्र आहारण या उत्तम मनुष्य ही नहीं माना जाता।

जिस प्रकार नारीमात्रके लिये लज्जा आभृण भानी जाती थी, उसी प्रकार बालीकी ज्ञाना भित तथा सत्यमापानमें ही थी। विविध तपमें बाह्य-तप सत्यमापान ही भाना जाता या। समाके प्रत्येक सम्बन्धके लिये छलरहित सत्यका बोल्ना अनिवार्य था। धर्मके चार चरणोंमें सत्यका स्थान सबोंधं माना गया था। भारतीय जीवनका प्राण सत्य था। स्वप्नके सत्यके लिये शब्द, ऐश्वर्य, प्रेममयी पत्नी, स्नेहमय पुत्रके त्यागकी कथाके रूपमें प्रख्यात हैं। उशीनरन-रेत्या शिवि कपोतकी रथाके लिये संवारी-भांत देनेके वचनके प्रतिपालन मात्रके लिये स्वयं अपने शरीरके मांसको मुन-मुनः काटकर तुलपर रखते गये। वह एक अद्भुत कहानी है। तेजस्वी अल्कीने वेदपार्श्वात् किसी ब्राह्मणकी बाचनापर अपने नेत्र भी दे दिये थे। अच्छे शुणोंकी एक शुभ परम्परा होती है। एक सत्यमात्रके अवलम्बनसे दया, दान, त्याग, तपस्या आदि जैसे अनेक गुण स्वतः उद्भुत हो जाते हैं। इसलिये मानवमात्रके लिये निष्ठापूर्वक सत्यवत्तका आकर्षण आदिकालसे रहा है। इन सत्यवादियोंकी परम्परामें मगवान् श्रीरामकी सत्यनिष्ठा अप्रतिम थी। उनकी धारणा थी कि लोग, मोहु अशानु किसी भी प्रतिबन्धसे सत्यको नहीं छोड़ना चाहिये। देखता सत्या पितर भी असत्यवादीका इच्छ नहीं ग्रहण करते। बनवासके असद्य दुःख जटा-चीरको मात्र सत्यपालन धर्म-रक्षाके लिये ही उन्होंने धारण किया था। कायिक, वाचिक, मानसिक वायोंसे रखा सत्यपालनसे होती है—जो मात्र मनमें उत्पन्न होता है, उसीको चापीसे कहते सत्य चरीरसे करते हैं। पृथ्वी, स्वदेश या परदेशन्यापिनी कीर्ति या यश तथा लक्ष्मी सभी सत्यका अनुसरण करती है। इसलिये भी सत्यकापालन सबको करना चाहिये। मारतीय धर्म

ईश्वर वेद सत्ता परलोकके आत्मापूर्वक स्वीकार करता है, इसीलिये परलोक-विरोधी जाग्रालिके विचारोंकी भी श्रीरामने सत्यपालनके समझ अग्राह्य माना था। धर्मप्रथा सत्य, परक्रम, प्राणियोंपर दया, प्रियवादिता, द्विजाति-ऐव-धतियपूजन—इन सर्वांग प्रथा साधनोंमें सत्यको उन्होंने प्रथम साधन माना था। श्रीरामने सत्य कहा था—'रामो हिन्दीभिरभाषते'। इस सत्यविडाको उन्होंने जीवन-पर्यन्त निमाया। उनकी मिदा पत्नी सीताने दण्डकारण्यमें शास्त्र न ग्रहण करनेका पर्यामर्ज देते हुए कहा था कि मिद्यावाक्य-की अपेक्षा परदाराभिगमन तथा मृगवा, विना वैर दैदत्तामें विशेष पाप होता है। शश-सेवनसे कायरता उत्पन्न होती है। घण्टियके आर्त-परिवर्तनमात्रके लिये शश भारण करना चाहिये। उन्होंने यह भी कहा था कि आप मुक्तः अयोध्या लोट चलनेपर ही अन्नधर्मका आचरण करे। किन्तु श्रीरामचन्द्रजीने इसका साधान करते हुए स्पष्ट कर दिया था कि मैंने प्रृथियोंसे दण्डकारण्यके राक्षसों (आत्मायियों) के नियमनकी वात कह दी है। अतः उस सत्यकी रक्षा करना मेरा कर्तव्य है।

संशोधनं दण्डकारण्यमें संशुत्तं जनकात्मजे।

संशुत्त्य च न दक्षरामि जीवस्त्वानः प्रतिश्रव्यम्॥

मुनीनामन्यथा कर्तुं सत्यमिन्दं हि से सदा।

अप्यहं जीवितं जहो त्वां जा सीदे सलक्षणम्॥

न तु प्रतिज्ञां संशुत्त्य ब्राह्मणेभ्यो विशेषतः।

(३० रा० वा० ३० वा० ३० : १७—१९)

सत्य-रक्षाके लिये ही श्रीरामचन्द्रजीने अपने अन्तिम क्षणोंमें कालको वचन देनेके कारण अपने वहिश्वर प्राण लक्षणको मी त्याग दिया था। इस प्रकार श्रीरामचन्द्रजीका जीवन सत्यके लिये ही अर्पित था।

लोक तथा परलोक-सङ्घायक सत्यकी महिमा भारतीय शास्त्रों, काव्यों तथा ज्ञानात्मोंमें बहुधा प्रतिपादित है। 'सत्याशास्ति परो धर्मः' के साथ ही 'नानुतत्पातकं परमः' का भी निर्देश है। मिथ्याभाषणको रोग, विष यथा भयंकर शत्रु माना जाता है। असत्यवादीसे कोई मित्रता नहीं जाता। उसका पुण्य, यश, धोय सब नष्ट हो जाता है। असत्यको पुष्पाला पुरुष अविक्षासका मूल कारण, दुवासनांकोंका निवासस्थान, विपत्तिका कारण,

अपराध तथा वक्ष्माका आधार मानकर त्याग देते हैं। जिस प्रकार अन्नि वनको जला देता है, उसी प्रकार असत्यसे यथा नष्ट हो जाता है। जल-सेचनसे जैसे शूक्रोंका विकास होता है, उसी प्रकार असत्यसे हुःख बढ़ते हैं। बुद्धिमान् पुरुष संयम, तपके विरोधी असत्यसे सदा दूर रहते हैं। सत्यभाषणका पुण्य सहस्रों वद्वमेघोंके पुण्यसे अधिक होता है। यह उक्ति कितनी तथ्यपूर्ण है कि गौ, विष, वेद, तत्त्व, सत्यवादी, निलोभ तथा शूर—ये सात पृथ्वीके आधार हैं। इनके अभावमें पृथ्वीका अस्तित्व ही सम्भव नहीं। सत्यसे विश्वास उत्पन्न होता है, विपक्षियाँ नष्ट हैं। जाती हैं, अपराधी अपराध छोड़ देते हैं। व्याप्र तथा सर्प स्वामानिक हिंसा छोड़कर सरल हो जाते हैं। सत्य सभी प्रकारसे हितकारी, समृद्धिदायक तथा सौभाग्यका संजीवन है। भारतीय जीवनके लिये उपदेश है—‘सत्यसूतो बद्रौ वाणीम्’।

भर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम तथा महात्मा तुलसी

(लेखक—श्रीभिमन्तुली शर्मा)

अनुज जानकी सहित प्रभु चरण बन भर राम।
मम हिंस गमन इन्दु द्वय बसहु सदा निकाम॥

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके समान सर्यादारक्षक आजतक कोई दूसरा नहो हुआ। श्रीराम सत्त्वात् परमात्मा थे। धर्मकी रक्षा और लोकोंके उद्धारके लिये उन्होंने अद्यतार धारण किया था। उनके आदर्श लीलान्नन्दित्रिको पढ़ने, जुनने और सरण करनेसे द्वदशमें महान् पवित्र भावोंकी लहरें उठने लगती हैं और मन सुध हो जाता है। उनका प्रत्येक कार्य परम पवित्र, भनोसुधकारी और अनुकरण करने योग्य है। श्रीराम भर्यादा-के साकार-रूप सर्वगुणाधार थे। सत्य, सुहृदयता, गम्भीरता, क्षमा, दया, मृदुता, शूलता, वीरता, धीरता, निर्भयता, विनय, शान्ति, तितिक्षा, तेज, ग्रेम, सर्यादारंक्षणता, एकपलीवत, भानु-पितृ-भक्ति, गुरुभक्ति, ग्रादूप्रेम, सरलता, व्यवहार-कुशलता, प्रतिशान्तरता, शरणागतवत्सलता, त्याग, साधु-संरक्षण, दुष्प्रविनाश, लोकग्रियता आदि सभी सद्गुणोंका श्रीराममें विलक्षण विकास हुआ था। इतने गुणोंका एकत्र विकास जगत्‌में कहो नहों मिलता है। श्रीराम-जैसी लोक-प्रियता तो आजतक कहों देखनेमें नहों आयी है।

श्रीरामकी मानृ-भक्ति आदर्श है। स्वमाता और अन्य माताओंकी तो बात ही क्या, कठोर-से-कठोर व्यवहार करने-

प्रातःकाल विविध दैवोंकी उपस्थितिके क्रममें नित्य सत्यकी सुन्ति की जाती है—

सत्यरूपं सत्यसंधं सत्यनारायणं हरिम्।
यस्तत्परदेव वगतस्तत् सत्यं त्वां नमाम्यहम्॥

भारतके धर-धरमें भगवान् सत्यनारायणकी कथा आज भी होती है, जिसमें मिथ्यावादियोंके धन-धात्व-विनाशकी कथाएँ उनके हुःख, पीड़ा, परिवार-विनाशको रोकनेके लिये अशृणशरण सत्यनारायण भगवान्के शरणमें जानेका संदेश देती हैं।

सत्यधर्मके पालनसे व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा विश्वहित-साधनमें बढ़ी सहायता प्राप्त हो रहती है। सनुष्य सत्यका पालन कर अपने विकासकी चरम सीमापर पहुँच सकता है। भगवान् श्रीराम इस परमधर्म—सत्यके स्वरूप ही थे।

बाजी माँ कैकेयीके प्रति भी श्रीरामने भक्ति और सम्मानपूर्ण व्यवहार किया है। जिस समय कैकेयीने वन जानेकी आशा दी, उस समय श्रीराम उनके प्रति सम्मान प्रकट करते हुए योले—माता ! इसमें तो सभी तरह मेरा कल्याण है।

मुनिगान मिठुन विसेषि वन सवदि माँति हित मोर ।
तेहि महि पितु आशु बहुरि संमत जननी तोर ॥

एक बार लक्ष्मण जंगलमें माता कैकेयीकी शिकायत करने लो, इसपर मातृभक्त भर्यादापुरुषोत्तम भगवान् श्रीरामने जो कुछ कहा, सदा मनन करने योग्य है—

न देऽन्वा भव्यमा दात गृह्णत्व्या कदाचन ।
तामेवेक्ष्वाकुनापस्य भरतस्य कपो छुर ॥
(चा० रा० अरण्य० १६ । २७)

‘हे भाई ! मङ्गली माता (कैकेयी) की नित्या कमी मत किया करो। याँते करनी हो तो इस्त्वाकुनाथ भरतके सम्बन्ध-में करनी चाहिये। (क्योंकि भरतकी चर्चा मुझे बहुत प्रिय है।)’

इसी प्रकार उनकी पितृ-भक्ति भी अद्भुत है। पिता के चरनको पूरा करनेके लिये उन्होंने अयोध्याका सारा सुख-वैभव त्यागकर जौदाह वर्षतक जंगलोंकी खाक छानी।

अहीं छिठ् नाहैसे देवि वकतुं मासौदर्शा वचः ।
अहं हि वचभद्राङ्गः पतेयमपि पावके ॥
भक्षयेचं विषं तीक्ष्णं पतेयमपि चापौवे ।
(वा० रा० अयोध्या० ८८ । २८-२९)

‘अहो’ सुझे धिक्कार है । हे देवि ! दुष्को ऐसी थात
नहीं कहनी चाहिये । मैं पिताकी आशाएं आगमे कूद सकता
हूँ, तीक्ष्ण विष खा सकता हूँ, समुद्रमें कूद सकता हूँ ।’

लक्षणने जब यह कहा कि ऐसे कामालक पिताकी आज्ञा
मानना अधर्म है, तब श्रीरामने सगर-युत्र और परसुराम
आदिका उदाहरण देते हुए कहा कि ‘पिता प्रत्यक्ष देवता
हैं । उन्होंने किती भी कारणोंसे वचन दिया हो, सुझे उसका
विचार नहीं करना है । मैं विचारक नहीं हूँ । मैं तो निश्चय
ही पिता के बच्चोंका पालन करूँगा ।’

विलाप करती हुई जननी कौसल्यासे श्रीरामने स्वप्न ही
कह दिया या कि—

नाहिं शक्तिः पितुवाक्यं समतिक्रमितुं यम ।
असाद्ये त्वां शिरसा गन्तुमिष्टान्महं वनम् ॥

(वा० रा० अयोध्या० २१ । ३०)

मैं चरणोंसे खिर टेककर प्रणाम करता हूँ, सुझे बन
जानेके लिये आवा दो । माता ! पितालीके बच्चोंको टालनेकी
शक्ति सुझमें नहीं है ।’

श्रीरामका एकपक्षीत आदर्श है । पढ़ी सीताके प्रति
कितना अशाव भेम था, इसका दिनदर्शन सीता-हरणके बाद
श्रीरामकी दशामें मिलता है । महान् धीर वीर योद्धा श्रीराम
पिरहोनमत्त होकर अशुपूर्ण नेशोंसे विलाप और प्रलाप करते
पायालकी भाँति मूर्छित हो पड़ते हैं और वह सीते । हा सीते !
पुकार उठते हैं ।

श्रीरामका सज्जन-प्रेम भी आदर्श एवं अनुकरणीय है ।
सुमीवके साथ मिलता होनेपर उन्होंने कहा—

सदा सोच त्वामहु वृक्ष मोरे । सद विषि घटन काज मैं दोरे ॥

‘इसी प्रकार श्रीरामका आत्म-प्रेम भी अनुलमीय है । यहाँ
हमें जिस आत्म-प्रेमकी शिक्षा मिलती है, आत्म-प्रेमका जैसा
आदर्श ग्रास होता है, वैसा जगत्‌के इतिहासमें और कहीं नहीं

मिलता । यहाँतक कि खेल-कूदमें अपनी जीतको हार मानकर
भाइयोंको हुल्हपते थे ।

खेलत संग अनुज बालक निज जीमत अनत उपाक ।

जीति हारि भुजुकारि हुल्हपत देत दिक्षाकर दाक ॥

श्रीरामको अकेले राज्य स्वीकार करनेमें बड़ा अनौचित्य
प्रतीत हुआ—

जनमे पक संग सब भाई । भोजन सपन केलि लसिकाई ॥

करनबेच उपवीत विआहा । संग संग सब भए डछाहा ॥

विषक वंस यहु अनुचित एक । बंसु विहाइ बहेहि अमिकू ॥

भरत-धनुष्ण तो उस समय मौजूद नहीं थे, इतलिये
लक्षणजीते कहा—

सौमित्रे भुजुक्व भौगांत्त्वमिष्टान् राज्यफलानि च ।

जीवितं चापि राज्यं च त्वदर्थमिभिकामये ॥

(वा० रा० अयोध्या० ४ । ४४)

‘भाई लक्षण ! तुमलोग वाञ्छित भोग और राज्यफल-
का भोग करो । मेरा यह जीवन और राज्य तुम्हारे ही
लिये है ।’

धन्य है यह स्वाग । आदिसे अन्ततक कहीं भी राज्य-
लिप्ताका नाम नहीं और भाइयोंके लिये सर्वदा सर्वस्व स्वाग
करनेकी तैयार ।

ऐसे श्रीरामके प्रति ही तो हुल्हीकी कामना है—

अथ न धरम न काम फूचि गति न अहौं निर्बन्ध ।

जनम जनम रति धम फद यह वरदान न आन ॥

उन्हें इसके सिवा कुछ नहीं चाहिये । सुमति नहीं
चाहिये, सुमति नहीं चाहिये, सम्पत्ति नहीं, शृद्धिचिदि,
बड़ाई कुछ भी नहीं चाहिये । बस, चाह है तो केवल यही कि
राम-पद्मे दिन-दिन अनुराग घटता जाय—

नहीं न सुमति लुमति संपत्ति कलु रिक्षिति विपुल बड़ाई ।

हेतु रहित अनुराग धम फद वहु अनुदिन अधिकाई ॥

इसलिये आश्रे हम सब भर्तिमूर्तक गोस्लामी तुलसीदास-
जीके स्वरमें स्वर मिलाकर भगवान् श्रीरामसे यह धाचना और
प्रार्थना करें—

कामिहि नारि पिथारि जिपि कोमिहि जिमि जिमि धाम ।

जिमि रशुनाय निरंतर जिमि लागहु मोहि धम ॥

अहिंसा-धर्मकी साधना

(लेखक—ओमशंकरजी भट्ट)

प्रेम न बाढ़ी नौजै, प्रेम न हाट निकाय ।
राजा परजा जैहि रुचै, सील देय है जाय ॥

अहिंसा माने क्या ?

अहिंसा माने प्रैम । अहिंसा माने किसीको न सताना ।
किसीको न मारना । किसीको दुःख न देना । किसीको कष्ट
न पहुँचाना । किसीका जी न तुच्छाना । किसीका अहिंत न
करना ।

और इस 'किसीभै—सब कुछ आ जाता है । सारी
मनुष्यजाति आ जाती है । सारे पशु-पक्षी आ जाते हैं ।
सारे कीड़े-मकोड़े आ जाते हैं । सारे प्राणी आ जाते हैं ।
सारी सुष्ठि आ जाती है—स्थावर-जंगम सब । पैद़की एक-एक
पत्ती, पौधेका एक-एक पूळतक उसमें आता है । उसे मी
न तोड़ना चाहिये ।

X X X

किसीको भी न सताना अहिंसा है ।

सताना होता है तीन तरह—मनसे, वचनसे, कर्मसे ।

इम शरीरसे तो किसीको मारें-भींटें या किती भी तरह—
से सतायें ही नहीं; बाणीसे भी किसीको कष्ट न दें । कहुवा
न बोलें, तीसा न बोलें, व्यंग न करें, शृङ् न बोलें ।
लगती वात न करें । ऐसी कोई वात सुँहसे न सिकालें जिससे
किसीका तुरा हो, किसीका अहिं हो, किसीका तुक्कान
हो । पर इतना ही नहां, हम मनसे भी किसीका तुरा न
चेतें । हम अपने मनमें भी न सोचें कि किसीकी हानि हो
जाय ।—इसका नाम है अहिंसा ।

X X X

हिंसके दो मैद कर सकते हैं—स्थूल और सूक्ष्म ।

स्थूल हिंसा है—किसीको जानसे मर देना, धावल कर
देना, हाथ-पैर तोड़ देना, अङ्ग-मङ्ग कर देना, पीट देना,
कट लेना आदि ।

स्थूल हिंसा है—किसीको अपशानित कर देना, किसीकी
रोजी छीन लेना, किसीका शोषण करना, किसीका अहिंत
करना, किसीसे उसकी मर्जीकि खिलाफ़ काम लेना । स्थूल
हिंसा है—गाली-गलौज, व्यंग, ताना, सुका-मुक्की, लाठी-
डंडा, तोप, बन्दूक, बम आदि हिंसक शाकाओंका प्रयोग ।

सूक्ष्म हिंसा है—मनमें किसीके प्रति दुर्भाव रखना,
शुणाका भाव रखना, राग-द्वेषका भाव रखना और उस
भावको व्यावहारिक रूप देनेके लिये योजनाएँ बनाना ।
ऐसे मौकोंकी तलाश करना जब विरोधी व्यक्ति या प्राणीको
सदाकर अपना वैर भेजा लिया जाय ।

मनमें सूक्ष्म हिंसा भरी रहती है तो जरा-सी चिनगारी
देखते ही वारूदकी तरह भमक उठती है ।

X X X

हिंसमें एक ही भाव भरा रहता है—मैं और आपकी
मर्जी !

मैं जो चाहूँ सो हो । मेरी मर्जी ही कानून है । मेरी
ही बात चलनी चाहिये । मेरा ही विचार चलना चाहिये ।
मुझे हर तरहका सुख मिले । सारी हुनिया, सारी सुष्ठि—
मेरी इच्छाके अनुकूल चले । जो कोई मेरी मर्जीके खिलाफ़
चलेगा, बोलेगा, उसे मैं कुचल दूँगा, बर्बाद कर दूँगा,
मिट्टीमें मिला दूँगा ।'

X X X

यह 'मैं' हर जगह टकराता है ।

घर-परिवारमें, दफ्तरमें, कारखानेमें, सङ्कपण वात्रामें,
समाजमें, समस्मैं, संसदमें जहाँ देखिये 'मैं' का बोलबाला
है । एक 'मैं' दूसरे 'मैं'से टकराता है । नतीजा
आँखोंके सामने है । जहाँ देखिये संघर्ष है, लड़ाई
है इगदा है, विरोध है । घरकी कलह दफ्तरमें जाती
है, दफ्तरकी कलह घरमें आती है, समाजमें आती है,
राष्ट्रमें आती है, संसारमें आती है । इस कलहके चलते घर
बर्बाद होते हैं, जीवन बर्बाद होते हैं, समाज बर्बाद होते हैं,
राष्ट्र बर्बाद होते हैं । चारों ओर हिंसाका दावानल सुलगता है ।
जो भी उसकी लपटोंमें आता है, भस्स हुए बिना नहीं रहता ।

वह सर्वोमुखी हिंसा आज हमें खाये जा रही है ।
वह हमारे जीवनमें अशानित और असंतोष भर रही है । हम
उसकी लपटोंमें हुरी तरह छालस रहे हैं ।

इस खितासे बाण पानेका एक ही उपाय है—अहिंसा ।

X X X

पर अहिंसाकी साधना कोई आसान बात है ?

दालभातका कौर है अहिंसा !

अहिंसा सुख नहीं है, पर यदि इम अपनेको बचाना क्षम्भते हैं, अपनी अशान्तिसे हुटकाय पाना चाहते हैं—वो अहिंसाकी शरणमें गये विना गति ही नहीं ।

X X X

योगकी पहली सीढ़ीका पहला कदम है—अहिंसा ।

योगकी आठ सीढ़ियाँ हैं, जिनमें पहली सीढ़ी है यम और दमका पहला कदम है—अहिंसा ।

अहिंसाकी भजिल पूरी किये विना योगमें गति हो ही नहीं सकती । और अहिंसाकी साधना करते ही सारा वैर सारा छेष, सारा क्रोध, सारा क्षोभः सारी धृणः, सारी अशान्तिः, सारी वेचैनी समात हो जाती है । इतना ही नहीं, अहिंसाके साधकके निकट भी जो आ जाता है; वहैतक वह अपना वैर-माथ नूल जाता है । दौर और वकरी एक घाटपर पानी पीने लगते हैं । कारण ।

‘अहिंसाप्रतिष्ठायां सरसंनिधौ वैरत्यागः ।’

X X X

इस अहिंसाकी प्रतिष्ठा कैसे की जाय ? साधना कैसे की जाय ? माला कि ‘अहिंसा परमो धर्मः’ है । अहिंसा परम धर्म है । सभी धर्मोंने, सभी पंथोंने, सभी सम्प्रदायोंने, सभी उत्तो-प्रहृष्टों-ओंनें, ऋषियों-मुनियोंने अहिंसापर जोर दिया है । सभी शास्त्रः सभी धर्मग्रन्थः, सभी धर्माचार्यः अहिंसाके पालन-को सबसे अधिक महत्वशाली मानते रहे हैं । समाज-शास्त्रीय, राजनीतिश भी ।

पर*****)

कहाँ है अहिंसा हमारे जीवनमें ?

कहाँ है अहिंसा हमारे सामाजिक जीवनमें ?

कहाँ है अहिंसा हमारे राष्ट्रीय जीवनमें ?

यों कहनेके लिये विश्वके सभी स्तरसौर अहिंसापर जोर देते हैं । कुछ, शान्ति और आनन्दकी विवेणी प्रवाहित करनेके लिये अहिंसाको अनिवार्य मानते हैं, पर सिति कुछ और ही है ।

उसमें चारोंसे समझ रखा है तुमने असे लिखः,
उसके बानेको तो देखो कि किसर जाते हैं ।

रुस हो या अमेरिका, इंग्लैण्ड हो या फ्रांस—विश्वका कोई भी शक्तिशाली शास्त्र वकालत सान्तिसी करता है, तैयारी

पुढ़की । दिन-दिन एकते एक भवंतर शास्त्रज्ञ तैयार किये जा रहे हैं, बयांके कारखाने खड़े हो रहे हैं, पान कैजिं फैब्रियाँ खुल रही हैं, हिंसके साधन जुटाये जा रहे हैं ।

कौन पूछता है बेचारी अहिंसाको ।

X X X

पर कोई पूछे था न पूछे, अहिंसा जीवनकी अनिवार्य शर्त है । हिंसाके चलते न तो मानव-जीवन मुखी हो सकता है, न किसी समाजः राष्ट्र या देशका कल्पणा हो सकता है । विश्वशान्तिके लिये, विश्वकल्पणाके लिये, विश्व-पैदोंके लिये अहिंसा आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है ।

राष्ट्र-देश, मनोमालिन्य, धृणातिरस्कार, कोध स्नोभ आदि हिंसाके मिश्र-भिज्र प्रकार जबतक मनमें वसे हुए हैं उसकतक शान्ति कहाँ ? मुख कहाँ ? मानन्द कहाँ ? व्यक्तिगत जीवन हो, सामाजिक जीवन हो, राष्ट्रीय जीवन हो—उबमर यही जात आगू होती है । इस यदि सुखः शान्ति और आनन्द चाहते हैं तो हमें सभी छोतेंसे हिंसका निवारण करना पड़ेगा ।

X X X

प्रश्न है कि यह हो कैसे ?

उपाय उसका भी है, वशते कि हम उसे करना चाहें ।

अहिंसाके मार्गमें सबसे बड़ी बाधा यही है कि हम तब्दी दृद्ध्यसे अहिंसाकी साधना करना ही नहीं चाहते ।

उसकी शुरुआत—उसका श्रीगणेश किया जा सकता है व्यक्तिगत जीवनमें, पारिवारिक जीवनमें: सामाजिक जीवनमें तैकदों व्यक्तियोंसे हमारा सम्बन्ध आता है । चाहे, न चाहे पिर भी हमें असंख्य लोगोंसे मिलना पड़ता है, व्यवहार करना पड़ता है । अहिंसाकी साधनका श्रीगणेश यहूंसि किया जा सकता है ।

X X X

हम परिवारमें रहते हैं । समाजमें रहते हैं । व्यक्तिगत जीवनमें, पारिवारिक जीवनमें: सामाजिक जीवनमें तैकदों व्यक्तियोंसे हमारा सम्बन्ध आता है । चाहे, न चाहे पिर भी हमें असंख्य लोगोंसे मिलना पड़ता है, व्यवहार करना पड़ता है । अहिंसाकी साधनका श्रीगणेश यहूंसि किया जा सकता है ।

बर्दें, परिवारमें, मुहल्लेमें, समाजमें—जहाँ भी जिस किसी भी व्यक्तिले हमारा सम्पर्क आये, हमें चाहिये कि इस प्रेमसे मिलें, प्रेमका व्यवहार करें । हमारा आचरण

प्रेममय हो । हमारा व्यवहार प्रेममय हो । हमारी बातचीत प्रेममय हो ।

अहिंसाका व्यावहारिक रूप है—प्रेम ।

और यह तो सच है कि प्रेमका रास्ता बहुत देढ़ा होता है । उसमें त्याग करना पड़ता है । उसमें बलिदान करना पड़ता है । उसमें निजी स्वार्थ छोड़ना पड़ता है । उसमें सहनशीलता, क्षमा, उदासता, दया, करुणा, नम्रता—सभी सद्गुणोंका विकास करना पड़ता है ।

कारण:

यद्य तो धर है प्रेमका, खालोका धर नहिं ।
सीस उतारै मुँह धरै, तब चैड़े यहि भाइं ॥

X X X

प्रेमको जीवनमें उतासना ही अहिंसाका पदार्थपाठ है ।

हमारे हृदयमें प्रेम मर जाय, फिर तो हिंसा अपने आप चली जायगी । किसीको माननेकी, किसीको मतानेकी, किसीको कष्ट पहुँचानेकी मावना केवल तभी आती है, तभी बहुती-पनपती है, लद्द हम उसे पैरे चमकते हैं, 'पराया' समझते हैं ।

अपनोंको भी कोई सताता है ।

अपनोंको भी कोई कष्ट पहुँचाता है ।

सबको हम 'अपना' मान लें—यस, अहिंसाकी साधना सफल ।

फिर तो और कुछ करना ही नहीं पड़ेगा ।

कहा है उदूके एक कविने—

खूनेका खौफ़ हमको हो तो फिर क्या खाक हो,
हम तेरे, किश्ती तेरी, साहिंक तेरा, दरिया तेरा ॥

X X X

भारतीय विचारधारामें सबको अपना माननेकी, अपना बनानेकी भावना असरभसे ही पनपती आयी है ।

ईशावास्यसिद्धं रुद्धं अर्तिच जगत्या जगत् ।

सब कुछ ईश्वरसे आच्छादित है—

ईशका आवास यह सारा जगत् ।

सारी स्थावर और जंगल प्रकृतिमें सूर्णिके कण-कणमें ईश्वर भरा हुआ है । निधर देखिये उस परम प्रभुकी ही शाँकी दिलासी पड़ती है ।

एकै पदन एक ही पनी, एक ज्योति संसारा ।
एकहि खाक गहे सब मर्डै, एकहि सिरजनहारा ॥

जब मनुष्य सारी सूर्णिमें सर्वत्र उस ईश्वरकी शाँकी करने लगता है, तो सरे राग-त्रेष, सारे क्षोभ, सारे विकार अपने आप दूर हो जाते हैं । स्वतः ही उसका चरित उदार हो जाता है—

अर्थ तिजः परो वेदि गणना छघुचेतसास् ।
उदारचरितान् तु बसुधैव छुदुम्बकम् ॥

फिर तो सारी तुनिया अपने कुदुम्बका रूप धारण कर लेती है । मनुष्य विश्वपरिवारका सदस्य बन जाता है । यह 'मेरा', यह 'तेरा'—यह भाव ही जाता रहता है । तब तो सारा मानवसमाज अपना ही समाज लगता है । सब लोग अपने ही परिवारसाले जान पड़ते हैं । किसीसे शायड़ा नहीं, किसीसे बिरोध नहीं, किसीसे धृष्णा नहीं । सारे ऐद-भाव अपने-आप हाइ जाते हैं । ब्राह्मण और शूद्र, हिंदू और मुसलमान, बौद्ध और ईसाई—सब-के-सब अपने हो जाते हैं । और अपनोंकी दिलासा, अपनोंकी सदानेका प्रकल ही कहाँ उठता है ।

सारे मेदभाव दूर खड़े रहते हैं—चर्ण और रंग, जाति और सम्पदाय, देश और काल, भाषा और लिंग, कर्ग और विचार—किसीकी दाल नहीं गलसी ।

हम सब मनुष्य हैं । हम सब एक हैं । हम सब एक पिताके बालक हैं ।—यह भाव हम अपने जीवनमें विकसित कर लें, सबको अपना मान लें, फिर तो अहिंसाकी साधना अपने-आप होने लगेगी । उसके लिये कुछ भी करना न पड़ेगा । हमारे जीवनसे, हमारी वाणीसे, हमारे व्यवहारसे अहिंसा-धर्म स्वतः मुखरित होने लगेगा । कठिन है, फिर भी यह साधना करने जैसी है । आइये, हम सच्चे हृदयसे हस्त धर्मके पालनका व्रत लें ।

प्रेमके इस मार्गपर थोड़ा-सा आगे बढ़ते ही हमारा रोम-रोम पुकार उठेगा ।

कहूँ मैं दूशमनी किससे अगर दूशमन भी हो अपना ।
मुहूर्ततने, नहीं दिलमें जगह छोड़ी अद्वावतकी ॥

X X X

अब मैं का सौं चैर कहूँ ।

कहते पुकारत प्रमु निज मुक्त तें घट-घट हौं विहरै ॥

अहिंसा-धर्मका स्वरूप

(लेखक—ज० श्रीसामीदी योगानन्दशीर्यंजी)

अहिंसा—शरीर, वाणी अथवा मनसे काम, क्रोध, लोभ, गोह, भय आदिको मनोहृतियोंके साथ किसी प्राणीको शारीरिक, मानसिक पीड़ा अथवा हानि पहुँचाना या पहुँचाना, या उसकी अनुमति देना या न्यष्ट अथवा अस्पष्ट रूपसे उसका कारण बनना हिंसा है। हस्ते बचना अहिंसा है। गौ, अश आदि पशुओंका उचित रीतिहृषे पालन-पोषण करके प्राण-हरण न करते हुए उनसे सियमित रूपसे दूध आदि सामग्री प्राप्त करना तथा सेवा देना हिंसा नहीं है; पर वही जब उनकी रक्षाका ध्यान न रखते हुए दूध, सेवा आदि कूरताके साथ लिया जाय तो हिंसा हो जाती है।

शिक्षार्थी ताङ्गना देना, रोग-निवारणार्थ डोपथि देना अथवा ऑपरेशन करना, सुधारार्थ या प्राथमिकतके लिये दण्ड देना हिंसा नहीं है। यदि ये विना द्वेष आदिके केवल प्रेमसे उनके कल्याणार्थ किये जायें। पर यही जब द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, गोह और भय आदिसी मनोहृतियोंसे मिथित हों तो हिंसा हो जाते हैं। प्राणीका शरीरसे वियोग करना सदर्शे बड़ी हिंसा है। श्रीव्यासजी महायजने अहिंसाकी व्याख्या इस प्रकार की है कि ‘सर्वकालम् सर्वमकारसे सब प्राणियोंका वित्तमें भी द्रोह न करना अहिंसा है।’ अहिंसा ही सब शमनियमोंका मूल है। उसीके साधन तथा विद्धिके लिये अन्य यम और नियम हैं और उसी अहिंसाको निर्मल स्पृष्ट बनानेके लिये यहण किये जाते हैं।

X X X

‘जिस प्रकार सारे कलेशोंका मूल अविद्या है, उसी प्रकार सारे यमोंका मूल अहिंसा है। हिंसा तीन प्रकारकी है—
 (१) शारीरिक—किसी प्राणीका प्राण-हरण करना अथवा अन्य प्रकारसे शारीरिक पीड़ा पहुँचाना। (२) मानसिक—मनकी कलेश देना या मनसे किसीका अहिंसा-दुरा चाहना, (३) आत्मात्मिक—अन्तःकरणको महिन करना। यह गांग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, गोह, भयादि तमोगुण वृत्तिसे मिथित होती है। किसी प्राणीकी किसी प्रकारकी हिंसा करनेके साथ-साथ हिंसक अपनी आत्मिक हिंसा करता है, अर्थात् अपने अन्तःकरणको हिंसके हिंष्ट संस्कारोंके मलसे दूषित करता है। इन तीनों प्रकारकी हिंसाओंमें सबसे बड़ी हिंसा आत्मात्मिक हिंसा है, जैसा कि ईशोपनिषद्में बताया है—

असुर्या नाम ते लोका अन्देन तमसाऽऽहृताः ।
 ताऽस्ते अत्यासिगच्छन्ति ये के चास्महृनो ज्ञातः ॥

‘जो कोई आत्मचाती लोग है (अर्थात् अन्तःकरणको महिन करनेवाले हैं), वे मरकर उन लोकोंमें (योनियोंमें) जाते हैं, जो असुरोंके लोक कहलाते हैं और जने अंधेरे से ढके हुए हैं अर्थात् जानरहित मृद्ग मीच योनियोंमें जाते हैं।’

शरीर तथा मनकी अपेक्षा आत्मा श्रेष्ठतम् है; क्योंकि शरीर और मन तो आत्माके कारण (साधन) हैं, जो मनुष्यको उसके कल्याणार्थ दिये गये हैं। इसलिये हिंसक अधिक हराका पात्र है। उसके प्रति भी द्वेष अथवा दद्दा लेनेकी भावना रखना हिंसा है। इसलिये जिसपर हिंसा की जाती है, उसके तथा हिंसक दोनोंके कल्याणार्थ हिंसायापको हटाना तथा अहिंसा-धर्मको व्रहण करना चाहिये। योगीमें अहिंसा-ब्रतकी विद्धिसे आत्मिक तेज इतना बढ़ जाता है कि उसकी सक्रियिद्धि ही हिंसक हिंसाकी भावनाको त्याग देता है। मानसिक शक्तियाले मानसिक वलसे हिंसाको हटा दें, चार्चिक तथा शारीरिक शक्तियाले जहाँतक उसका अधिकार है। उस सीमातक इन शक्तियोंको हिंसाके शोकनेमें प्रयोग करें। शास्त्रकी तथा न्यायाधीशोंका परम कर्तव्य संसारमें अहिंसा-ब्रतको स्वारंपन करना है। जिस प्रकार कोई मनुष्य मदोन्मत्त अथवा पागल होकर किसी धातक शस्त्रसे जो उसके पास शारीर-स्वास्थ्यके लिये है, अपने ही शारीरपर आश्रित पहुँचाने लगे, तो उसके शुभमित्तकोंका यह कर्तव्य होता है कि उसके हिंसार्थ उसके हाथोंसे वह शब्द हरण कर लें। इसी प्रकार यदि कोई हिंसक बरीरल्पी शब्दसे, जो उसको उसकी आत्माके कल्याणार्थ दिया गया है, दूसरोंको तथा अपनी ही आत्माको हिंसार्थी आवात पहुँचा रहा है और अन्य किसी प्रकारसे उसका सुधार असम्भव हो गया है तो अहिंसा तथा उसके सहायक अन्य सब वर्षोंकी सुव्यवस्था रखनेवाले शास्त्रोंका परम कर्तव्य होता है कि उसके शारीरक उसके वियोग कर दें। वह कार्य अहिंसा-ब्रतमें वाधक नहीं है, वरं अहिंसा-ब्रतका रक्षक और पोषक है।

पर यदि यह कार्य द्वेषादि वर्षोंगुणी शुचियों अथवा दद्दा लेनेकी भावनाएं मिथित हैं तो हिंसाकी सीमामें आ

जाता है। अहिंसाके स्वरूपको इस प्रकार धिकेपूर्वक समझना चाहिये कि सल्लाही धर्म, शान, वैराग्य और ऐश्वर्य (श्रेष्ठ मानवाओं) के प्रकाशमें अहिंसा तथा उसके अन्य सब सहायक घर्मोंमें और तमस्यी अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अतैश्वर्य (नीच भावताओं) के अवकाशमें हिंसा तथा उसके सहायक अन्य चारों वितरकोंमें प्रवृत्ति होती है। धर्म-स्थापनके लिये युद्ध करना क्षत्रियोंका कर्त्त्व है, उससे बचना हिंसालीपी अधर्मोंमें सहायक होना है। श्रीकृष्ण अर्जुनसे कहते हैं—

स्वधर्ममयि धारेद्य न विकम्पितुमहसि ।

धर्माद्वि सुखाद्वैयोऽन्यवक्षविद्यस्य न विद्यते ॥

(गीता २। ३१)

‘स्वधर्मको समक्षकर भी तुझे हिंसकिचाना उचित नहीं है; क्योंकि धर्मयुद्धकी अपेक्षा क्षत्रियके लिये और कुछ अधिक श्रेयस्तर नहीं हो सकता।’

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपापृतम् ।

सुखितः क्षत्रियः पर्य लभन्ते युद्धमीद्यम् ॥

(गीता २। ३२)

‘हे पार्थ ! योंअपने-आप प्राप्त हुआ और मानों स्वर्गका द्वार ही खुल गवा हो, ऐसा युद्ध तो भास्यशाली क्षत्रियोंको ही भिलता है।’

बेदमें भी ऐसा बतलाया गया है। यथा—

ये युध्यन्ते भवते यु चरासो ये तनूलजः ।

ये वा सहस्रदक्षिणास्तीश्विदेवापि नच्छतात् ॥

(अथवेद १८। २। १७)

‘जो संप्रान्तोंमें लड़नेवाले हैं, जो शूलीरत्नसे शरीरको ल्यागनेवाले हैं और जिन्होंने सहक्षों दक्षिणाएँ दी हैं, तू उनको (अर्थात् उनकी गतिको) भी प्राप्त हो।’

अपनी दुर्बलताके कारण भवभीत होकर अत्याचारियोंके

बत्याचार सहन करना, अपनी धर्म-सम्पत्तिको लोट-डाकुओं-से हरण करनाता, अपने समक्ष अपने परिवारु देश, दमाज अथवा धर्मको दुर्जनोंद्वारा अपमानित देखना अहिंसा नहीं है, वल्कि हिंसाका पोषक काशरताली महापाप है। इतना बतला देना और आवश्यक है कि क्षात्रधर्मानुसार तेजसी वीर ही अहिंसा-वत्तका यथार्थस्थाने पालन कर सकता है। दुर्बल, डरपोक, कायर, नपुंसक हिंसकोंकी हिंसा बढ़ानेमें मारी होता है।

X X X

सर्वसाधारणके लिये अहिंसालप ब्रतके पालन करनेमें सबसे सरल कसौटी यह है “Do to others as you want others do to you.” अर्थात् दूसरोंके साथ व्यवहार करनेमें पहले यह मली प्रकार जाँच लो कि यदि हम इनके स्थानपर होते और वे तुम्हारे स्थानपर तो तुम उनसे किस प्रकारका व्यवहार करना चाहते। वह, वैसा ही हम उनके साथ व्यवहार करो। यही उद्दान्त सत्य और अस्तेय आदि वर्मोंमें भी घट सकता है।

इस समय इस बतला का ज्ञान रखना चाहिये कि हमारा जीवन प्राणिमात्रके लिये तुलदारी और कल्याणकरी हो। कोई कार्य ऐसा न होने पाये, जिससे किसीको किसी प्रकार का दुःख पहुँचे।

X X X

अहिंसानिष्ठ योगीके निरन्तर ऐसी भावना और अनुभवनेसे कि उसके निकट किसी प्रकारकी हिंसा न होने पावे, उसके अन्तःकरणसे अहिंसाकी सात्त्विक धारा इतने तीव्र और प्रबल बेगसे बहने लगती है कि उसके निकटवर्ती तामसी हिंसक अन्तःकरण भी उससे प्रभावित होकर तामसी हिंसक-शृंखिको त्याग देते हैं।

हिंसाका अनुमोदक भी हिंसक है

अखाद्यन्तुमोद्य भावदोषेण मानवः ।

योऽनुमोदति हन्यन्तं लोऽपि दोषेण लिप्यते ॥

(महाभारत अनुशासन ११५। ३९)

जो स्वयं मांस नहीं खाता, पर खानेवालेका अनुमोदन करता है, वह मनुष्य भी भावदोषके कारण मांसभक्षणके पापका मारी होता है। इसी प्रकार जो मारनेवालेका अनुमोदन करता है, वह भी हिंसाके दोषसे लिप्त होता है।

* श्रीकृष्णमीमांस महाराजद्वारा लिखित ‘पद्मसङ्ख्योगप्रदीप’ नामक पुस्तकसे। यह पुस्तक गीतामेस गोरखगुरुसे द्वारा लिखी गई है।

अहिंसा परमो धर्मः

(३)

(लेखन—जीवितसाक्षी उमी सुदिलपल्ली, वाराणसी ।)

**अद्वोहः सर्वभूतेषु कर्मणा मनसा लितः ।
भनुग्रहय वार्यं च सर्वां धर्मः सनातकः ॥**
(दर्शनात्)

मन, बचन और कर्मके द्वारा समूली प्राणियोंके साथ
अद्वोह अर्थात् मिश्रता करना और प्राणिमात्रके ऊपर अनुग्रह
करके उन्हें सुख पहुँचाना आदि सनातन धर्म ही परम धर्म है ।

जो मनुष्य किसी दूसरेको बचनके द्वारा कष्ट देता है—
किसीकी निन्दा करता है या उठोर बचन बोलता है वह
बचनके द्वारा हिंसा करता है, इसे 'धार्मिक हिंसा' कहते हैं ।
जो मनसे किसीका भी तत्त्विक भी अकल्याण चाहता है, वह
मनके द्वारा हिंसा करता है, इसे 'भान्तिक हिंसा' कहते हैं ।
जो व्यक्ति किसीका वध करता है या चोट पहुँचाता है वह
कर्मके द्वारा हिंसा करता है, इसे 'धारीरिक हिंसा' कहते हैं ।

उपर्युक्त सीरों प्रकारकी हिंसा ही तर्वशा लाज्जा है ।
हिंसाएं मनुष्यमें कूरता आती है और मूरताएं हिंसा होती है ।
ये अन्योन्याश्रित हैं । एक दूसरेको बड़ाते रहते हैं । हिंसाएं
मनकी उद्घावना भी भृष्ट होती है । साथ ही पापकी दृढ़ि
होती है । हिंसको दृढ़ोक्त तथा परलोकमें कभी ज्ञानित नहीं
मिलती । इसके विपरीत वो मुक्त ग्राणिमात्रको 'आत्मवद्
सर्वभूतेषु'की भावनाएं आत्मवद् देखता है और कभी भी
किसीको तन-नन-बचनसे लुप्त नहीं पहुँचाता; वही मुखी
रहता है । महामारतमें कहा है—

**सदृशः सर्वभूतानामामुमाक्षीहिंसा तुच्छी ।
भवत्प्रभक्षयन्मार्प्तं चृदक्षाम् ग्राणितमिति ॥**
(महाभारत अनुशासन ११५ । ४०)

जो मनुष्य समूली प्राणियोंपर दया करता है और कभी
भी मांल नहीं लागा, वह मनुष्य न तो स्वयं किसी भी ग्राणी-
से उक्ता है और न दूसरोंको उक्ता ही है । वह दीर्घायु
होता है व्याधीयशुर्वक रहता है और मुखपूर्वक जीवन व्यतीय
करता है । मनु महाराज लिखते हैं—

**यो बन्दनवक्षेषात् ग्राणिनो न चिक्षीवैति-
त्तम् भर्त्तम् हिन्देष्वः सूक्ष्मनन्तम् भूते ॥**

दद्वयायति दद्वस्वे धृति धमाति पत्र च ।
तद्वाप्तोत्पत्तेन चो हिन्दि न किञ्चन ॥

(मनुस्तुति ५ । ४६-४७)

जो मनुष्य किसी भी ग्राणीका वन्धन द्वा वधे नहीं करता;
किसी भी प्रकारसे किसीको कष्ट नहीं पहुँचाता, वह बचना
द्वितीयताक मनुष्य अग्रर सुख प्राप्त करता है । इस प्रकार
कर्म करनेवाला मनुष्य कुछ भी कर्मों न करता है, वह जिस
कार्यमें धीरतापूर्वक लग जाता है, उसीमें उसे चिना ही
प्रयत्न किये स्वल्पता मिलती है, क्योंकि वह किसी भी
ग्राणीको कभी भी दुःख नहीं पहुँचाना चाहता; तब उसे
दुःख कैसे होगा ? जो ग्राणिमात्र ग्रेमभाव रखता है
उसके पाति सभी ग्राणी ग्रेम करते हैं और वह ग्राणियोंके
अधिकात द्विकर भी उस व्यक्तिपर ग्रेम ग्रसन्न रहते हैं ।

यो भी पद्यति सर्वत्र सर्वं च मयि पद्यति ।
सत्साहै च प्रणश्यामि स च मे न प्रज्ञदेवति ॥

(शीर्षकावली ६ । ३०)

भगवान् शीक्षणावन्द्र कहते हैं कि 'जो मनुष्य सब
भूतोंमें आलक्षण सुखको देकरता है और समूर्ण ग्राणियोंको
नीरे अर्त्तात् देकरता है, उसके लिये मैं अद्वय नहीं हूँ
और वह व्यक्ति नीरे लिये अद्वय नहीं होता; क्योंकि वह
सुखमें एकीभावसे रहता है ।' अतः हमें चाहिये कि
ग्राणिमात्रकी आत्माको एक ही समरकर कभी किसी प्रकार
भी हिंसा न करें । 'अहिंसा परमो धर्मः'का ही पूर्णरूप
पालन करें । मनु महाराज कहते हैं—

**योऽहिंसकमि सूक्ष्मि हिन्दत्यात्मसुदेव्ययः ।
स तीव्रता सूक्ष्मस्वैच स व्यचित्सुखमेपथते ॥**

(मनुस्तुति ५ । ४५)

जो मनुष्य होकर भी अहिंसक अर्थात् नित्यराधी
ग्राणियोंको अपने सुखके लिये दुःख देता है—उनकी हिंसा
करता है वह न तो इस जन्ममें तुच्छी रहता है, न मरनेके
बाद स्वर्गसुख ही ग्राप्त कर सकता है ।'

अदः सामवयात्रका यह एक युनीत कर्त्तव्य है कि
मन, बचन और कर्मके द्वारा किसीको भी दुःख न दे ।
पूर्णरूपसे गदा-सर्वदा, केवल अहिंसा-धर्मका ही पालन करें ।

(२)

(लेखक—भीशुब्राह्मनद्वजी बालकल्य)

वास्तवमें वस्त्रमें अदि कमी सुख-शान्ति जा सकती है तो वह केवल अहिंसा-धर्मसे ही है। अहिंसाका तार्थ है, किसी भी प्राणीको मन, बचन और कर्मसे कभी दुःख न पहुँचाना। इस संषिद्धे प्रत्येक प्राणी जीना चाहता है और जीनेके साय-साथ वह तुख और शान्ति चाहता है। यह स्वाभाविक है कि प्राणी दुःखसे छूटकर तुखी होना चाहता है। परंतु हमसे एक स्वाभाविक दुर्बोलता है कि हम अपना ही स्वार्थ देसते हैं; क्योंकि हमारी अहंता-ममता-मूलक वृत्तियाँ हमें अपने कुछ स्वार्थतक ही सीमित रखती हैं, जिसके कारण हम केवल अपनी ही रथा तथा उन्नति चाहते हैं, दूसरे प्राणी चाहे मरं जायें हमें इससे प्रयोजन नहीं रहता। इसी अपनी नीच स्वार्थभावमात्रको लेकर हम दूसरोंके प्राणोंको तुच्छ समझकर उन्हें कष्ट देते हैं; उनका अहिं करते हैं परंतु उन्हें भारते हैं। हम यह भूल जाते हैं कि जो एक तत्त्व हममें उपस्थित है जिससे हमने जीवन धारण किया है, वही तत्त्व सर्वत्र व्यापक है और समस्त जीवजागिरियोंके भीतर उपस्थित है। प्रकृतिने प्रत्येक प्राणीको चाहे वह छोटा हो या बड़ा, कीट-पतंगसे लेकर गन्धुष्टक रावको समान अधिकार दिये हैं। प्रकृतिकी दृष्टिमें सभी जगत् हैं, परंतु वह मनुष्य है जो शुद्धि और चिन्तका सर्वोच्चम रूप पाकर अपनेको सबका राजा समझता है और अपनी स्वार्थप्रताको लिये अन्य प्राणियोंको कष्ट पहुँचाता है।

अहिंसा एक ऐसा पावन गुण या पवित्र कर्तव्य है जो दृष्टिपर एक ऐसी व्यवस्था करता है, जिससे मानव सुख-शान्तिसे जीवित रह सकता है और जिससे सर्वत्र समत्वद्विद्धि-का प्रकाश कैलता है। इसीसे भारतके आर्यमनीषियोंने अहिंसाको सबसे बड़ा धर्म कहा। हमारे सम्पूर्ण धार्मिक अन्य, हमारे ही क्या विश्वके समस्त धार्मिक ग्रन्थ अहिंसाका गुणगान करते हैं और सनुष्योंको वार-न्वार पद-पद्मपर अहिंसामय जीवन व्यतीत करनेको कहते हैं। अहिंसा-धर्म अनेकों गुणोंका समुच्चय है। दया, क्षमा, करुणा आदि इसमें मुख्यसाधे आते हैं। अब देखना है इस अहिंसा-धर्मके विवरमें कहाँ-कहाँ उपदेशात्मक चर्चा है तथा इसका आदर्श क्या है।

एबसे ग्रथम् गहापारतके जो कि हिंदुओंका उद्दोपनि धर्ममय ऐतिहासिक गौरव-ग्रन्थ है, अनुशासनपर्वमें अहिंसाकी विशद् व्याख्या करते हुए इसकी महत्ता बतलायी गयी है—

अहिंसा परमो चर्मस्तथाहिंसा परं सप्तः ।
अहिंसा परमं सत्यं वतो धर्मः प्रवत्तते ॥
अहिंसा परमो धर्मस्तथाहिंसा परो धर्मः ।
अहिंसा परमं दानमहिंसा परमं तपः ॥
अहिंसा परमो चर्मस्तथाहिंसा परं फलम् ।
अहिंसा परमं मित्रमहिंसा परमं सुखम् ॥
सर्वयशेषु वा दानं सर्वतीर्थेषु वाऽप्लुतम् ।
सर्वदामकरं वापि वैतद् तुल्यमहिंसया ॥

(११५ । १२३ । ११६ । २८—३०)

अर्थात् अहिंसा परम धर्म है, परम सत्य है, इसीसे ही धर्मकी उत्पत्ति होती है। अहिंसा परम संयम है, परम दान है, परम तप है, परम फल है, परम मित्र है और परम सुख है। सब यज्ञोंमें दान किया जाय, सब तीर्थोंमें स्थान किया जाय, सब प्रकारके स्नान-दानका फल प्राप्त हो तो भी उसकी अहिंसा-धर्मके साथ जुल्जा नहीं हो सकती।

इमारे प्राचीन वेद भी इसी बातको बताते हैं। देविये वज्रवेद (३०) में। भां हिंसीक्षन्वा प्रजाः ॥ अर्थात् अपनी देहसे किसी भी प्राणीको कष्ट मत दो। भावार्थ यह कि सर्वथा अहिंसाका पालन करो। श्रीमद्वेष्मर कहते हैं—

न हि प्राणैः ग्रिघत्तमो लोके किञ्चन विघ्नते ।
नन्मात् प्राणिदया कार्यी थथाऽप्स्यनि तथा परे ॥

(गहामारत अनुशासन १४५)

सत्यरमें प्राणोंके समान ग्रिघत्तम दूसरी कोई वस्तु नहीं है। अतः सब प्राणियोंपर दया करनी चाहिये। जैसे अपने लिये दया अमीष्ट है, वैसे ही दूसरोंके लिये भी होनी चाहिये।

देवर्णि नारद मण्डानकी पूजाके लिये गुण-पूर्णोंकी चर्चा करते हुए अहिंसा-धर्मका ही सर्वप्रथम नाम लेते हैं—

अहिंसा प्रथमं पुष्पं द्वितीयं करणघः ।
तृतीयं भूतुर्भा चतुर्थं क्षान्तिरेव च ॥
अर्थात् अहिंसा प्रथम पुष्प है, दूसरा पुष्प हन्त्रिक्षान्तिमह है; तीसरा पुष्प जीवदया है और चौथा क्षमा है।

स्वारी रामानन्दाचार्य अहिंसाकी महत्ता दर्शाते हुए कहते हैं—

दानं नप्तुर्यमिदेवज्ञं जपो

त चार्मस्तथाहिंसासाङ्क्षं सुपुण्यम् ।

सिंसासत्कां परिचर्वयेवज्ञः

सुधर्मनिष्ठो दद्वधर्मवृद्धये ॥

अथात् दान, तपः तीर्थ-देवता एवं मन्त्र-जन—इनमें कोई भी अहिंसाके दानम् पुण्यशक्ति नहीं है। अहः सर्वश्रेष्ठ वैष्णवदर्शका पालन करनेवालेको जाहिंचे किसह अनन्ते कुदृढ़ वर्मकी इदिके लिये तब प्रकारकी हिंसाका परित्याग कर दे।

दात्पर्य वह कि भारतके दड़े-खड़े नहान् पुरुष उन ही सावधाने द्वारा लेकर चलते हैं कि नमुन्धका नरन् वर्म और अन्दरूनी अहिंसा ही है। नारत ही क्या विश्वका प्रत्येक नद अहिंसा को नाम्ना देता है।

ईचाइ-वर्म भी अहिंसाको लीकार करता है। देखिये, हैंचाइ-वर्म चहते हैं—

'Thou shalt not kill and ye shall be holy men unto me neither shall ye eat any flesh that is torn of beasts in the field.'

अथात् दू किंतुको नद नार। दू ऐसे पात्र विद्वन् नहुन् होकर यह लंगलोंके प्राणियोंका बब करके उनका न्योद नद खा।

वैद्यवर्म भी अहिंसाको जरना उद्दीपन वर्म स्वीकृत करता है। उसके नूल विद्वान् अहिंसकर ही अदायते हैं। देखिये नन्दनननिकाय—

पाणिपातो लक्ष्मर्त्त पाणिपातस वैरभगी लुक्ष्मि ॥

अथात् प्रगवान् अहिंसकर है, प्राणवाससे निरक्ष होना इच्छायै है।

उलंग हाने स च बातये रथ न वालुं वन्धुं हृत्यं परेत् ।

लभ्येत् नुतेत् निधाय दंडे ये धावरा पै चतुर्दसै लोकै॥

अथात् खद प्राणियोंपर दक्ष रखकर लो लोकसे स्वावर लेव हीं दा लंगस लीव हीं। उनसे किंचिको प्राण न लेना चाहिये। न उनका धार करना आहिये कौन न धार होनेता नहुनेतन ही करना चाहिये।

वैद्योंका एक ऋष्य तुच्छियतः विचक्षा अंग्रेजी अनुवाद द्वारा Faushold ने लिया है, एक सानकर लिखा है—As I am so are these, as these are so am I, identifying with others, let him not kill, nor cause (anyone) to kill.

अथात् लैज़ मैं हूँ वैसा है हैं लैज़ है हैं वैसा है हैं। अनन्ते उनका दूररोंको जानकर न तो किंचिकी रिंग करनी चाहिये जैत न हिंसा करनी चाहिये।

दैनवर्म दो अहिंसा-प्रदान वर्म ही है। जितना अहिंसा को हैवतवर्म नहस्त देता है, उनना चावद इतर वर्म नहीं हैते। लैन चाहु तो हिंसे मृत्युकर्ता ननने आता पात सुनहते हैं और उचे दृक्कर्ता कारण कहते हैं। कई ईन दुनि तो यहाँतक ननने हैं कि लहाँ आलाके शुद्ध नार्वोंकी हिंस हो, वहाँ हिंस होती है। उरंगु इवसे लूहसे गल्ल करनेकी आवश्यकता नहीं है। हूँने हो लत-सात्राल्पके लिये को हुड्डन हो, वही कहता है। नगवाद् नहावीर कहते हैं—‘जानो होनेका यही सार है कि वह किसी भी प्राणीकी हिंसा न करे।’ इतना ही अहिंसाके विद्वान्का जान च्येष्ट है। यही अहिंसा विवात है।

अहिंसा नानो पूर्व निर्वेगता ही है। पूर्व अहिंसाका वर्म है प्राणिमानके प्रति दुर्मापदा दर्शन बोाव दथा प्राणिनामके प्रति तहव बेन। उनके दर्शन दिला अहिंसा होही नहीं सकती। इसलिये कहा है—‘अहिंसा परनो धर्मः।’

अतः हमें वह जानना चाहिये कि दयायनि अहिंसा-दर्शनी नानन-नीदनका उद्दरे दक्षा पुरुषर्थ है और इसे दर्शनम् दर्शन जानकर नन्द दबन और उनसे नन्द करनेका निश्चय करना चाहिये। अहिंसाका पालन करके नानव अननी नुचिका द्वार अननेजान लोट लेता है। दो नन्द, दबन और कन्दे पूर्व अहिंसक है उनके समीप सभी प्राणी वैरभगको लागवार उनके निम कर लाते हैं और वह प्राणी सदसे अनन्त होकर दुष्कीरत विचरण करता है। वही चन्दयोगीं वही कर्मयोगी और वही तन्मालदी है जितने अहिंसाके साथ अर्मको अनने जीवनके उपार लिया है। अहिंसा-धर्मके आदर्श हैं—दया, शमा, करना, उमादाय, स्वर्वाच्छुद्ध, अक्षेप, ब्रह्मवर्य आदि। सभी प्राणियोंमें एक ही वैद्यन्य वर्ममालाका, अनुभव करके उन्मीठों समानमात्रते देत्वाना, किंसुति राम-द्वेर म उन्ना, किंचिति तुगा न करना, किंशिको कष न देना, सदको तुल पूँचाना, सभीका हिंत करना और सभीते प्रेम करना।

(६ .

त्रेता—श्रेष्ठदेवसदर्शी जैत ;

[अहिंसा-धर्मोत्तरी]

अहिंसा उद्देश दक्षा धर्म है, अन्य उद्द वर्म हरी उद्दमें उन्ना जाते हैं। लो अहिंसक है उद्दरे कोई पात नहीं है

सकता । हिंसाके त्यागसे सब पापोंका त्याग हो जाता है । अतएव कहा है—‘अहिंसा परमो धर्मः ।’

—‘अहिंसा परमो धर्मः ।’ वज्ञा सुन्दर मन्त्र है । परंतु अहिंसाका क्या स्वरूप है ? इसे समझाइये ।

—‘अहिंसा परमो धर्मः ।’ किसीको पीड़ा न देना, मनसे, बचनसे अथवा कायासे—किसी भी प्रकार किसीको न तो स्वर्यं पीड़ा देना, न दूसरेसे दिलचाना और न किसी हिंसक कर्मका अनुभोदन करना । इस प्रकार रजु ग्रन्थकी हिंसासे बचना ही सच्ची अहिंसा है ।

‘अठारह पुराणोंमें ज्यासने हो ही चाहते कही हैं, दूसरोंका उपकार करना पुण्य है और पीड़ा देना पाप है । केवल व्याप ही नहीं, वैद, उपनिषद्, श्रुति, स्मृति—सभीने अहिंसाको ही परम धर्म घर्म बतलाया है । भगवान्, महावीर भगवान्, बुद्ध, ईसामसीह, हमारे अपने सभीयों पूज्य महात्मा गाँधीने अहिंसा-धर्मको सर्वोच्च स्थान दिया है ।’

‘अच्छा तो, अब यह बताइये कि किस प्रकार हम अपनी हिंसक भगवान्नुसिकी वशमें करके अहिंसा-धर्मका पालन करनेमें समर्थ हो सकते हैं ?’

—‘वत्स ! तुम्हारा प्रश्न बहुत ही सुन्दर है । मैं कुमसे बहुत प्रत्यक्ष हूँ । हिंसा होती है अतृप्त कामनाके कारण । जब कोई हमारी कामना-पूर्तिमें वाधा ढालता है तो हम उसे हड्डा देना चाहते हैं । समझा-बुझाकर, नहीं तो बलात् । वस, यही हिंसा है । जिन्होंने हमारी कामनाओंमें वाधा ढाली है या जिनसे हमें ऐसी आशङ्का है उन्हें प्रतिशोधलम्बमें हम पीड़ा देना चाहते हैं । फिर तो, कुछ लोगोंका स्वमाव ही परपीड़क हो जाता है । उन्हें दूसरोंको पीड़ा पहुँचानेमें वज्ञा आनन्द आता है ।’

—‘तब यिदि तुम्हा कामना, ही हिंसाकी जड़ है । जबतक कामना है तबतक कोई भन्नोई उसकी पूर्तिमें वाधा पहुँचाता ही रहेगा । अतएव हमारी हिंसक वृत्ति जाग्रत् होती ही रहेगी । अहिंसा-धर्मका पूर्णरूपेण पालन करनेके लिये यह अवश्यक है कि सत्तुष्य समस्य कामनाओंका त्याग करके भगवान्, महावीर, भगवान्, बुद्ध आदिकी तरह संन्यास ले ले । क्यों यही चाहत है न ?’

—‘वत्स ! महाबती महात्मा गाँधीने यह स्थानीयनमें ही अहिंसाके पालनको सफल करके दिखाया है ।’

—‘पूज्य गाँधीजी राज्य-व्यवस्थाके समर्थक थे । प्रत्येक राज्य-व्यवस्था आदिक रूपसे हिंसाको स्वीकार करती है । अपराधियोंको दण्ड देना राज्यका परम कर्तव्य है और दण्डसे सभीको थोर पीड़ा होती है, हर्ष नहीं होता ।’

—‘गाँधीजीने अहिंसाको कुछ आगे बढ़ाया है, उसके बेब्रको कुछ और विलूप्त किया है । यदि वे सम्पूर्ण क्षेत्रमें अहिंसाको नहीं ला सके तो इस कारण हीमें, जितना वे अहिंसाको व्यापक बना सके हैं उतनेको भी, उपेक्षाकी दृष्टिसे नहीं देखना चाहिये । सम्भव है भविष्यमें कोई महात्मा राज्य-व्यवस्थाको भी आहेसापर आश्रित करके दिखाला दे ।’

—‘वह दिन भविष्यके लिये अवश्य ही त्रुम होगा । आज तो अहिंसाका अर्थ है राजा को प्रजा के विशद् हिंसाकी खुली छूट है । परंतु प्रजा सच्यके विशद् हिंसक न बने । देशके छोटेसोटे आन्तरिक उपद्रव हिंसाद्वारा दबा दिये जायें, परंतु अन्ताग्रीय क्षेत्रमें सुखका प्रसंग नहीं आना चाहिये ।’

—‘मूल्यके विशद् तो प्रजाको कभी हिंसापर उत्तरसा ही नहीं चाहिये वह तो तुम भी मानते जाये हो ।’

—‘यदि प्रजाका राज्य-व्यवस्थामें ही विश्वास न रहे तो ऐसी व्यवस्थाको उत्तराहृ फेंकनेमें हिंसाका प्रयोग प्रजाकी ओरसे भी हो सकता है । शूर्सिंह अवतारने हिरण्यकशिपुकी और भगवान् श्रीकृष्णने कंसकी व्यवस्थाको हिंसाद्वारा ही पलटा था ।’

—‘महात्मा गाँधीने अहिंसाके द्वारा ही एक अत्याचारी शासनको पलटाकर दिखला दिया है । प्रत्येके किं प्रमाणम् ।’ अब भी क्या तुम अहिंसाकी शक्ति अस्वीकार करते रहेगे ?

—‘पहले भी अस्वीकार की है और अब भी करूँगा । यारा जड़ जागत् अहिंसक है, हिंसा तो केवल चैतन्यमें ही है । तो क्या इस कारण चैतन्यसे जड़ थेष्ट हो जायगा ? शक्ति अहिंसामें नहीं है, अन्यायके प्रतिकारमें है । गाँधीजीने अहिंसाकी शक्ति नहीं दिखलायी । उन्होंने केवल यह दिखलाया है कि अन्यायका प्रतिकार अहिंसाके द्वारा भी हो सकता है ।’

—‘धरी मैं भी चाहता हूँ कि तुम मान जाओ कि अन्यायका प्रतिकार अहिंसाके द्वारा हो सकता है ।’

—‘मानता हूँ, परंतु सदैच नहीं ! अहिंसाके द्वारा

अन्यायका प्रतिकार हो सके, इसके लिये तीन बातें आवश्यक हैं—१—अन्याय तात्कालिक न होकर दीर्घकालिक हो। अहिंसाके द्वारा आप बलाकार, नारी-अपहरण, हत्या, आय लगाने इत्यादिको नहीं योग सकते। ये पाप बलप्रयोगके द्वारा ही से के जा सकते हैं। २—अन्यायी पीड़ितको नष्ट न करके केवल उसके श्रम और साधनोंका इच्छानुसार उपयोग करना चाहता हो। जहाँ फिसी देशकी सम्पूर्ण जनताको नष्ट करके वहाँ स्वयं वस जानेका लक्ष्य हो, जैसा कि आदर्शलिया इत्यादिमें किया गया, वहाँ अहिंसा कुछ नहीं कर पाती। ३—अन्यायी स्वयं थोड़ा-बहुत धर्म और मानवता-को माननेवाला हो और पर-पीड़िका अनुभव करता हो।

—‘तो यह तो मानोगे कि गौधीजीने अहिंसाका क्षेत्र कुछ विस्तृत करके विश्वका बहुत बड़ा उपकार किया है?’

—‘मानता हूँ, परंतु यह नहीं मानता कि प्रत्येक क्षेत्रमें अन्यायका प्रतिकार करनेके लिये केवल अहिंसाका ही एकमात्र मार्ग है। अन्ताराधीय युद्ध न हों, यही उत्तम है। परंतु वे भारतद्वारा अणुवन न बनाये जानेसे नहीं रक्ष सकते। अहिंसाके द्वारा युद्ध तभी रुक सकते हैं, जब सभी यात्र अहिंसक हों। यदि एक भी राष्ट्र अहिंसक बनना अस्तीकार करके हिंसापर उत्तर आता है तो सारे अहिंसक यात्रोंपर उसका आधिपत्य घलक मारते ही खापित हो जायगा और अहिंसाप्रेमी राष्ट्रोंको थोड़ा कष्ट भोगना होगा।’

—‘तो फिर युद्ध रोकनेका दृम्हारे पास कौन-सा मार्ग है?’

—‘जो गार्ग व्यक्तिगत जीवनसे हिंसा हटानेका है वही अन्ताराधीय क्षेत्रसे हिंसा हटानेमें सफल हो सकता है।’

—‘मेरा मत है कि सेवार्थे हिंसाका मूल कामना है और इस प्रकार अहिंसाका साम्राज्य स्थापित करनेके दो ही मार्ग हैं। एक तो सर्वकामनाओंका स्वयं, जिसे संन्यास कहते हैं। दूसरी ऐसी व्यवस्था जिसमें कोई भी एक दूसरेकी कामनामें बाधक न हो। पर यह व्यावहारिक नहीं है; क्योंकि कामनाएँ अनन्त और कभी न पूरी होनेवाली हैं इसलिये यदि उन्हें अनियन्त्रित छोड़ दिया जायगा तो अवश्य ही एक दूसरेकी कामनाएँ आपसमें टकरायेंगी; अतएव इस टकरावको रोकनेके लिये उन्हें नियन्त्रणमें लाना होगा। वह नियन्त्रण जितना ही स्वाभाविक और न्यायपूर्ण होगा, उतनी ही समाजमें युख, शान्ति और

सुखवस्ता होगी तथा राग-द्वेष और इत्याकां अभाव होगा।’

—‘बहुत सुन्दर। अतः प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है कि इस प्रकारके स्वाभाविक और न्यायपूर्ण नियन्त्रणको अधिक-से-अधिक बल प्रदान करे और उसे भद्र करनेवालेके प्रति कठोर थने।’

—‘दुराचार, पाप और अन्यायके प्रति आक्रोशकी भावना प्रत्येक मनुष्यमें जन्मलात होती है और इसी भावनाके बलपर नियन्त्रण हड़ बना रहता है तथा जनता सुख, सुरक्षा और शान्तिका अनुभव करती रहती है। यदि कोई हमारी भूमि छीनेगा, हमारी बहू-बेटियोंपर कुदाइ ढालेगा, हमारे धर्म-में हस्तोप करेगा, हमारा अकारण अपरान करेगा तो जनता उसे सहन नहीं करेगी। इसी विश्वासके बलपर लोग घरमें छुरी, बन्दूक रखना अनावश्यक समझते हैं। जहाँ आत्मायोंके प्रति हुर्भै भावना दिलचारी पड़ने लगती है, वहाँ प्रत्येक व्यक्ति अपनी रक्षाके लिये सुखदी और अज्ञोंके संग्रहमें लग जाता है। जो वात व्यक्तिगत क्षेत्रमें है, वही अन्ताराधीय क्षेत्रमें है। अहिंसा-अहिंसा चिल्डनेसे अथवा निःशाशीकरणसे युद्धका भय नहीं जायगा। युद्धका भय जायगा कामनाओंके नियन्त्रणसे, धर्मसे, विश्वास और सुश्रावसे, न्यायसे, अन्यायके प्रति जो स्वाभाविक आक्रोश है उसे प्रबल करनेसे।

‘अहिंसा परमो धर्मः’ अहिंसा परम धर्म है, परंतु अन्यायका प्रतिकार उससे भी बड़ा धर्म है। यदि दोनों धर्मोंमें विरोध आ जाय तो अहिंसाको छोड़कर अन्यायका प्रतिकार करना होगा। अहिंसा निस्तंदेह परम धर्म है परंतु जहाँ अपनी कायरता छिपाने अथवा दुराचार एवं पापके प्रति उठानेवाली स्वाभाविक आक्रोशकी भावनाको कुप्रियत करनेके लिये अहिंसाका यथ अलापा जाता है, वहाँ अहिंसा धर्म नहीं रहता है। दुराचार अनाचार अन्याय और अधर्मके प्रतिकारकी भावना मानवसमाजकी अमूल्य निधि है। इस भावनासे रहित समाज समाज नहीं है, जाति जाति, महीं है, यात्र राष्ट्र नहीं है। अहिंसाके चक्रमें हम कहीं इस भावनासे हाथ न ले वैठें। भगव्या गौधीजे अहिंसाके साथ-साथ इस भावनाको भी हड़ करनेका प्रयत्न किया जा। उन्होंने सत्यपर आयह करना सिखलाया था, सत्यको छोड़ देना नहीं। अहिंसा बहीतक धर्म है जहाँतक उससे अन्यायी और आत्मायीको प्रोत्ताहन नहीं मिलता।’

अहिंसाके गुण और मांस-भक्षणके दोष

अहिंसा परमो धर्मो लहिंसा परमं सुखम् ।
अहिंसा धर्मशास्त्रेषु सर्वेषु परमं पदम् ॥
देवतातिथिशुश्रूषा सततं धर्मशीलता ।
वेदाच्यवन्यव्याकृति तपो दानं दमस्था ॥
आचार्यगुरुशुश्रूषा तीर्थोभिगमनं तथा ।
अहिंसात्या वरारेहे कला नार्हन्ति धोडशीम् ॥
(महाभारत अनुशासन ० १४५)

अहिंसा परम धर्म है, अहिंसा परम सुख है। समस्त धर्मशास्त्रोंमें अहिंसाको परमपद, ब्रतलाला गता है।

देवताओं और जलिथियोंकी सेवा, सतत धर्मशीलता, वेदाच्यव्याकृति, यज्ञ, तप, दान, दम, गुरु और आचार्यकी सेवा तथा तीर्थयात्रा—ये सब अहिंसा-धर्मकी सोलहवीं कलाके भी वराकर नहीं हैं।

अहिंसा तपोदक्षत्वमहिन्द्रो अज्ञेषे सदा ।
अहिंसः सर्वभूतानां थथा माता थथा पिता ॥
एतत् फलमहिंसाथा भूयश्च लुक्षण्वत् ।
नहि क्षया गुणा बक्तुमपि वर्षशतैरपि ॥
आत्मार्थ्य यः परप्राप्यात् हिंसात् स्वादु फलेष्यथा ।
व्याप्रग्रन्थश्चालैश्च राक्षसैश्च समस्तु सः ॥
संछेदनं स्वमांसत्वं यथा संजनयेद् रुद्धम् ।
तथैव परमार्थेऽपि वेदितव्यं विज्ञानता ॥
स्वमांसं परमार्थेन यो वर्धयितुमिष्ठाति ।
उद्विग्नवासं लभते यत्र यत्रोपदायते ॥
(महाभारत अनुशासन ० १४५)

जो हिंसा नहीं करता, उसकी तपस्या अक्षय होती है। ह सदा यश करनेका फल पाता है। हिंसा न करनेवाला, उप सम्पूर्ण प्राणियोंके माता-पिताके समान है।

कुरुशेष्ठ ! यही अहिंसाका फल है, इतनी ही वात ही है; अहिंसाका तो इससे कहीं अधिक फल है। अहिंसासे निवाले लाभोंका सौ वर्षोंमें भी वर्णन नहीं किया जा सकता।

जो लादकी इच्छासे अपने लिये दूसरोंके प्राणोंकी हत्या करता है, वह वात, गीध, सियार और राक्षसोंके समान है।

जैसे अपना मांस काटना अपने लिये पीड़ाजनक होता , उसी तरह दूसरेका मांस काटनेपर उसे भी पीड़ा होती । यह प्रत्येक विज्ञ पुरुषको समझना चाहिये ।

जो पराये मांससे अपने मांसको बढ़ाना चाहता है, वह जहाँ कहीं भी जन्म लेता है वहाँ उद्देश्यमें पहा रहता है।

ये भक्षणन्ति मांसानि सूतानां जीवितैषिणाम् ।
भक्षणते तेऽपि भूतैस्तैरिति मे नास्ति संशयः ॥
मां स भक्षयते चसाद् भक्षयिष्ये तमप्यहम् ।
एतन्मांसस्त्वं मांसत्वमनुवृद्धयस्त्वं भारतः ॥
धातको वस्त्रते नित्यं तथा वस्त्रते भक्षितः ।
जाताश्चाभ्यवशास्तत्र चित्तमानाः पुनः पुनः ।
पाद्यमानाश्च एतन्ते विवशा मांसगृह्णिनः ॥
कुम्भीपाके च पच्यन्ते तां तां योनिमुपागतम् ।
आक्रम्य मार्यमाणाश्च आत्मन्ते वै पुनः पुनः ॥
नात्मनोऽस्ति प्रियतरः पृथिवीमनुसृत्य ह ।
तस्यात् प्राणिषु सर्वेषु दयाकानामवान् भवेत् ॥

(महाभारत अनुशासन ० १४५)

जो जीवित रहनेकी हच्छावाले प्राणियोंके मांसको खाते हैं, वे दूसरे जन्ममें उन्हीं प्राणियोंके द्वारा भक्षण किये जाते हैं। इस विपर्यमें सुझे संशय नहीं हैं।

मरतनन्दन ! (जिसका वध किया जाता है, वह प्राणी कहता है—) मां स भक्षयते चसाद् भक्षयिष्ये तमप्यहम्। अर्थात् आज सुसे वह जाता है—तो कमी मैं भी उसे खाऊँगा । यही मांसका मांसत्व है—इसे ही 'मांस' धावका तात्पर्य समझे ।

राजन् ! हर जन्ममें जिस जीवकी हिंसा होती है, वह दूसरे जन्ममें सदा ही अपने धातकका वध करता है। फिर भक्षण करनेवालेको भी गार डालता है।

मांसलोक्य जीव जन्म लेनेपर भी परवश होते हैं। वे वारंवार श्लोकोंसे काटे और पकाये जाते हैं। उनकी यह विवशता प्रलयकं-देखी जाती है।

वे अपने पाणोंके कारण कुम्भीपाक नरकमें रोधे जाते और मिच-मिच योनियोंमें जन्म लेकर गला घोट-घोटकर मारे जाते हैं। इस प्रकार उन्हें वारंवार संसार-कक्षमें भटकना पड़ता है।

इस भूराण्डलपर आत्मासे बढ़कर कोई विश वस्तु नहीं है। इसलिये सब प्राणियोंपर दया करे और सबको आपनी आत्मा ही समझे ।

अहिंसा-धर्मके आदर्श उदाहरण

(१)

अहिंसाके आदर्श महर्यि वशिष्ठ

कुशिक-वंशमें उत्पन्न राजा विश्वामित्र सेनाके साथ आखेट करने लिकले थे। अपने राज्यसे हूर महर्यि वशिष्ठके आश्रमके समीप बै पहुँच गये। वशिष्ठजीने एक ब्रह्मचारीके द्वारा समाचार में—‘आप आधामके समीप था गये हैं, अतः मेरा आतिथ्य स्वीकार करें।’

बरणवासी तपसीके लिये राजा असुविधा न उत्पन्न करे, यह नियम है। लेकिन विश्वामित्रने महर्यि वशिष्ठकी प्रशंसा सुनी थी। उनके तप-प्रभावपर विश्वास था। अतः अतिथ्यका बामल्प्रण स्वीकार कर लिया। उन्हें आश्र्य तथा हुआ जब सेनाके साथ उनको राजेभित सामग्री प्रचुरमात्रामें भोजनको दी थी और वह भी तप-शक्तिसे नहीं वशिष्ठकी होमवेदु नन्दिनीके भावावसे।

‘आप यह गौ सुझे दे दें। चब्लेमें जो चाहें मुझसे माँग ले।’ विश्वामित्र उस गौके लिये लालायित हो गये थे। चलते समय उन्होंने अपनी इच्छा प्रकट की।

‘ब्राह्मण गौ-विकाय नहीं करता। मैं इस गौको नहीं दे सकता।’ झूपिने अखीकार कर दिया। उत्तर-सभाव विश्वामित्र उत्तेजित हो गये। उन्होंने चल-पूर्वक गौको ले चलनेकी आशा सैनिकोंको दी। लेकिन नन्दिनी साधारण थी तो नहीं थी। उसकी हुंकारसे अत-शर्व गोद्धा उत्पन्न हुए। उन्होंने विश्वामित्रके सैनिकोंको मार भगाया।

विश्वामित्रने वशिष्ठपर आक्रमण किया। कुशका ब्रह्मदण्ड हाथमें लिये वशिष्ठ स्थिर, शान्त बैठे रहे। विश्वामित्रके साधारण तथा द्वित्य अख्य सब उस ब्रह्मदण्डसे उकरकर नष्ट हो गये। कठोर तप करके विश्वामित्रने और विन्यास पाये; किंतु वशिष्ठके ब्रह्मदण्डसे लगकर बै भी नाप नहीं गये।

‘ब्रह्मवल ही श्रेष्ठ है। क्षत्रियकी शक्ति तपसी ब्राह्मणका कुछ नहीं बिगड़ सकती। अतः मैं इसी जन्ममें ब्राह्मणत्व प्राप्त करूँगा।’ विश्वामित्रने यह निश्चय किया। अत्यन्त कठोर तपमें बै लग गये।

सैकड़ों वर्षके कठिन तपके पश्चात् प्रसन्न होकर ब्रह्मजी प्रकट हुए। उन्होंने वरदान दिया—‘वशिष्ठ-के स्वीकार करते ही तुम ब्रह्मर्थ हो जाओगे।’

विश्वामित्रके लिये महर्यि वशिष्ठसे प्रार्थना करना थहुत अपमानजनक था। संयोगवश तब वशिष्ठ मिलते थे तो इन्हें ‘यजर्यि’ कहते थे। अतः विश्वामित्र वशिष्ठके घोर शब्द हो गये। एक राक्षस-को प्रेरित करके उन्होंने वशिष्ठके सौ पुत्र भरवा दिये। सबं वशिष्ठको अपमानित करने, तीचा दिखानेका अवसर द्वृढ़ते रहने लगे। उनका हृदय दैर तथा हिंसाकी प्रवल भावनासे पूर्ण था।

विश्वामित्रने अपनी ओरसे कुछ उड़ा नहीं रखा। उड़ा दृढ़ निश्चय, प्रथल संकल्प था उनका। दूसरी सुषिट्के करनेमें लग गये। अनेक ग्राणी, अश्वादि वना डाले। ब्रह्माने ही रोका उन्हें। अन्तमें सबं शाल-सदा होकर रात्रिमें छिपकर वशिष्ठको मारने निकले। दिनमें प्रत्यक्ष आक्रमण करके तो अनेक धार पराजित हो चुके थे।

चाँदनी रथवि थी। कुटियाके बाहर वेदीपर एकान्तमें पत्नीके साथ महर्यि बैठे थे। अरुन्धतीजीने कहा—‘कैसी निर्मल ज्योत्स्ना है?’

वशिष्ठजी बोले—‘ऐसा ही निर्मल तेज आज्ञकल—विश्वामित्रके तपका है।’ वशिष्ठका निर्मल मन अहिंसा तथा क्षमासे पूर्ण था।

विश्वामित्र लिये खड़े थे। उन्होंने सुना और उनका हृदय उर्हे विकार उठा—‘एकान्तमें पत्नीके साथ बैठा जो अपने सौ पुत्रोंके हृत्यरेक्षी प्रदानसा करता है, उस महरपुरुषको मारने आया है तू।’

शखा नोच फैके विश्वामित्रने । दौड़कर महार्पि के चरणोंपर गिर पड़े ।



'अहिंसप्रतिष्ठावां तत्सनिधौ वैरत्यागः ।'

विश्वामित्रके ब्राह्मण होनेमें उनका दर्प, उनका द्रेष, उनकी असाहिष्णुता ही तो घावक थी । वह आज दूर हुई । महार्पि विश्वामित्र उन्हें छुककर उठाते हुए कहा—'उठिये ब्रह्मार्पि' । —३०

(२)

अहिंसा-धर्मके आदर्श सेठ सुदर्शन

अर्जुन माली यशोपासक था । उसके घरमें छः ढाकू भुस आये । मालीको दाँधकर धर तो लूटा ही, उसकी पक्कीसे हुर्व्यवहार करने लगे । इसी समय अर्जुनमें यशुका आवेश हो गया । उसने बन्धन तोड़ डाले । पास रक्खा लोहेका मुहर उठाकर उसने ढाकुओंको तथा पक्कीको भी मार दिया ।

यश्विदामें उन्मत्त अर्जुन माली लौहमुहर लिये घरसे निकल पड़ा । जो सामने आया, मारा गया । राजगृह-नगरमें हाहाकार मच गया । अर्जुन माली उस आवेशमें भ्रतिदिन सात मनुष्योंको मारकर ही शान्त होता था । लोगोंका घरेंसे निकलना धूंद हो गया ।

सेठ सुदर्शनको समाचार मिला था कि अग्रण महावीर राजगृहके समीप उद्यानमें पधारे हैं । तीर्थेकरकी पवित्र वाणी सुननेका विश्वय वे किसी भयके कारण त्याग नहीं सकते थे । घरके लोगोंने बहुत समझाया, किंतु वे रुके नहीं ।

उस दिन अर्जुन छः मनुष्य मार चुका था । एकसे लथपथ मुहर लिये वह सातवें व्यक्तिको हूँड़ता राजपथपर शूम रहा था । सेठ सुदर्शनको देखते ही दौड़ा; किंतु चोट करनेके लिये उठानेपर मुहर हाथसे झूटकर शिर पड़ा । उसके शरीरमें आविष्ट चक्ष अहिंसक सुदर्शनका तेज व सह पानेके कारण भाग चुका था ।



'अर्जुन ! इस प्रकार क्या देखते हो ? चलो तीर्थेकरकी पवित्र वाणी सुनें !' चकित, भीत खड़े अर्जुन मालीका हाथ पकड़ा सेठ सुदर्शनने और उसे श्रमण महावीरके समीप ले गये । उसी दिन अर्जुनने दीक्षा ग्रहण कर ली । लोग उसपर इण्ड-प्रहार करते, पत्थर फेंकते; क्योंकि उसके द्वारा सजनोंके मारे जानेसे लोग बहुत कुछ थे; किंतु अब तो अर्जुन माली शान्त, अहिंसक मुनि हो चुका था । —३०

(३)

प्रह्लादकी विलक्षण अहिंसा, परदुःखकातरता
और सुमाशीलता

संतोकर जीवन वडा ही शिवित होता है। खर्यं तो वे दुःख-सुखसे परे होते हैं, पर दूसरोंके दुःख-सुखसे दुखी-सुखी हुआ करते हैं। पर-दुःख-कातरता, सुमाशीलता, अहिंसा आदि उनके सहज स्वभाविक गुण हैं। किसीका अमङ्गल न हो, किसीको दुःख न हो; सब संकट-मुक्त हैं, सदा सदका मङ्गल है, सब सुखी हैं, सब नित्य निराभय हैं—यह उनकी स्वभाविक कामना रहती है। उनकी कोई कितनी ही हानि करे, कितना ही अपमान करे, कितना ही कष्ट-फ्लेश पहुँचावे, कितनी ही भीषण हिंसा करे—वे कभी भूलकर भी उसका अमङ्गल नहीं चाहते, नहीं देख सकते, वरं अपनी ओरसे प्रयत्न करके उसे सुखी यना देते हैं। प्रह्लाद ऐसे ही एक परम उदार भक्त है।

वे आस्तमसे ही प्रसुभक्त थे। यद्यपि उन्होंने जन्म असुर-कुलमें दुर्घट दैत्य हिरण्यकशिष्युके यहाँ लिया था। पर आसुरी भाव उनको छू तक नहीं गया था। उनका तो यक ही चरम लक्ष्य था—भगवत्तीर्ति और एक ही काम था भगवद्भजन। वे इसी पाठशालामें पढ़ते थे।

जगत्के नियमके अनुसार पितावे समयपर उनको वालोंचित पाठ पढ़नेके लिये गुरु-गृहमें भेजा। वालक धरि-धीरे शिष्या पाने लगा। एक दिन पिताने दुलाकर वडे स्नेहसे पूछा—‘वत्स ! असलतक गुरुसेवामें तत्पर रहकर तुमने जो कुछ सीखा-भइ है, उसका सारभूत अहं हमें मुनाओ !’ वालक प्रह्लाद को सब बातोंकी सार बात और सब

सराँका एकमात्र सार श्रीहरिको ही जानते थे। उन्होंने कहा—‘जो आदि, मत्य और भन्तसे रहित जन्मा, द्विद्विषयवद्य और अच्युत हैं, उन श्रीहरिके श्रीचरणोंमें मेरा अणाम। मैंने तो यही सीखा है कि उन भगवान्में गुणोंका अवण, कीर्तन, उन्होंका समरण, उन्होंका पाद-सेवन, अर्चन, बन्दूक, दास्य, सख्य तथा उन्होंकी प्रति ब्रात्मनिवेदन किया जाय ।’

इतना सुनते हो दैत्यराज कुपित हो उठा, दाल-साल आँखें करके गुरु श्रुकाचार्यके पुत्र पण्डितमहार्थी वादिसे थोला—‘अरे द्विद्विषयवद्य ! तुमलोगोंने मेरी आह्वाकी अधज्ञा करके इसे मेरे विषद्वीकी स्तुतिसे युक्त असार दिक्षा क्यों दी ? जाओ, ले जाओ इसे और भली प्रकार श्रासित करो !’ प्रह्लाद फिर गुरुजीके संरक्षणमें विद्याव्ययन करने लगे। कुछ दिन बाद असुरराजने उन्हें फिर शुलाया और कहा—‘घेटा ! आज कोई गाया सुनाओ !’ प्रह्लादकी तो—एकहि धर्म एक द्वादु नेमा—‘बाली स्थिति थी ! उन्होंने कहा—‘जिससे सार सचराचर उत्तरन हुआ, वे जगन्नायन्ता भगवान् विष्णु हमपर मसान हो !’ क्रोधित होकर हिरण्यकशिष्यु थोला—‘अरे ! यह !’ वहा ही दुरात्मा है। इस पापीको तुरंत मर्याके गले। यह तो विषद्वीका ही पद लेनेवाला है। दुरात्मार पैदा हो गया है। इसके लोगनका क्या ?’ योद्धन !’ इतना सुनते ही हजारों दैत्य प्रह्लादको अजमालेके लिये विवेद्य प्रथोन करने लगे।

उनके भोजनमें शुलाहल विष मिला दिया गया। वे भगवन्मामका उज्ज्वरण करते हुए उसे पी शे और विष पत्र गया। दारण दैत्योंने उनपर जाना प्रकारके शङ्खाल्लोंसे प्रह्लाद

किया; पर उन्हें तानिकर्सी बेक्षना भी नहीं हुई; सारे शब्दाल्प नष्ट हो गये। अति कूर विषधर सर्पोंके द्वारा भयानक रूपसे अङ्ग-अङ्ग कटवाये गये, सर्पोंकी दाढ़े दूट गयीं, सिरकी मणियाँ चटक गयीं, फलोंमें पीड़ा होने लगी, सौंपेंका हृदय काँप गया; पर भगवान् श्रीकृष्णमें आसक्ति नहीं हो भगवत्स्वरणके परमानन्दमें हुई हुए प्रह्लादकी जरा-सी भी खबा नहीं कटी और न विपक्ष की कोई असर हुआ। पर्वताकार दिग्गजोंके द्वारा पृथ्वीपर पटककर भैषण दींतोंसे दौंदवाया गया; पर भगवान्का स्वरण करते रहनेके कारण हाथियोंके हजारों दाँत इनके चक्षःश्वलसे टकराकर दूट गये; पर इनका वाल भी वाँका नहीं हुआ। पहाड़के ऊपरकी चोटीसे गिरवाया गया; परंतु भगवान्की कृपासे इन्हें पृथ्वीपर गिरते ही कोमल पुष्पका-सा सुखद स्पर्श प्राप्त हुआ। समुद्रमें डालकर ऊपरसे पहाड़ गिराये गये, परंतु इनको जरा भी कष्ट नहीं हुआ। ये जलमें बड़े आरामसे अपने गोविन्दकी स्मृतिमें विधाम करते रहे। आगमें अलाया गया, पर अग्रि दान्त हो गयी। सब तरहसे हताश होकर आखिर दैत्यराज हिरण्यकशिरुने पुरोहितोंसे कहा—

त्वर्यतां त्वर्यतां हे हे सदो दैत्यपुरोहिताः ।
कृत्यां तस्य विनाशाय उत्पादयत मा विरम् ॥
(विष्णुपुराण १ । १८ । ९)

‘अरे अरे पुरोहितो! जल्दी करो, जल्दी करो; इसको नष्ट करनेके लिये कृत्या उत्पन्न करो। अब देरी न करो।’

तब प्रह्लादजीके पास जाकर पुरोहितोंने उनको भाँति-भाँतिसे समझाया और प्रह्लादके न माननेपर वे धमकाकर बोले—

यदासमद्वचनान्मोहग्राहं न लक्ष्यते भवन् ।
ततः कृत्यां विनाशाय तव सूक्ष्याम दुर्मते ॥
(विष्णुपुराण १ । १८ । ३०)

‘अरे दुर्मुद्धि! यदि तू हमारे समझानेपर भी इस मोहमय आश्रहको नहीं छोड़ेगा तो तुहे भार डालनेके लिये हम कृत्या उत्पन्न करेंगे।’

प्रह्लादजीने कहा—‘कौन जीव किससे मारा जाता है और कौन किससे रक्षित होता है?’ प्रह्लादकी बात उनकर पुरोहितोंने कोधित होकर आगकी भयानक लपटोंके समान प्रलवलित शरीरबाली कृत्याको उत्पन्न किया। उस भयानक कृत्याने अपने पैरकी धमकसे धरतीको कँपाते हुए बड़े कोधसे प्रह्लादकी छातीमें त्रिशूलका प्रहार किया। पर आश्वर्य! उस वालकके चक्षःश्वलसे टकपते ही चह तेजोमय त्रिशूल सैकड़ों हुकड़े होकर पृथ्वीपर गिर पड़ा। जिस हृदयमें निरन्तर भगवान् सर्वेश्वर श्रीहरि निवास करते हैं, उसमें द्वनाकर बज्र भी डुकड़े-डुकड़े हो जाता है—फिर इस त्रिशूलकी तो बात ही क्या है!

यत्रानपायी भगवान् द्वित्ते हरिरीश्वरः ।
मङ्गे भवति वज्रस्य तत्र शूलस्य का कथा ॥
(विष्णुपुराण १ । १८ । ३१)

पापी पुरोहितोंने पापर्हित प्रह्लादपर कृत्याका प्रयोग किया था, अतएव कृत्याने लौटकर उन्हींका नाश कर दिया और फिर सर्वं भी नष्ट हो गयी। अपने गुरुओंको कृत्याके छाया जलाये जाते देखकर महामति प्रह्लाद—‘हे कृष्ण! हे अवन्त! रक्षा करो, रक्षा करो’—कहते हुए उनकी ओर दौड़े।

प्रह्लादजीके हृदयमें न राग था, न द्वेषः हिसाकी तो बहाँ कल्पना ही नहीं थी। अतएव उन सर्वत्र भगवान्का दर्शन करनेवाले सर्वथा अहिंसायूर्ण-हृदय क्षमाशील प्रह्लादने अपनेको निष्प्रितस्वप्से मारनेकी ओर व्यवस्था करनेवाले गुरुपुत्रोंको धनानेके

लिये भगवान् से विनीत प्रार्थना की । प्रह्लादजीने कहा—



‘हे सर्वधारणी, विश्वस्तुप, विश्वस्त्रष्टा जनार्दन !
इन ब्राह्मणोंकी इस मन्त्रान्तरिक्ष दुःसह दुःखसे रक्षा कीजिये । सर्वधारणी जगहुरु भगवान् विष्णु सर्वत्र सभी प्राणियोंमें व्याप्त है—मेरे इस अनुभूत सत्यके प्रभाषके ये पुरोहित जीवित हो जायें । यदि मुझे अपने विषयोंमें भी सर्वव्यापक और

विविनाशी भगवान् विष्णु ही दीखते हैं, तो ये पुरोहितगण जीवित हो जायें । जो लोग मुझे भरनेको आये, जिन्होंने मुझे विष दिया, जिन्होंने अस्त्रिमें जलाया, जिन्होंने दिग्गज हाथियोंसे कुचलबाया और जिन्होंने विषधर सर्पोंसे कटबाया, उन सबके प्रति भी मैं यदि समान (सर्वथा हिंसारहित) मित्रभावसे रहा हूँ और मेरे मनमें कभी पाप (द्वेषथा हिंसा) कुद्धि न हुई हो तो उस सत्यके प्रभावसे ये असुर-पुरोहित जीवित हो जायें ।’

प्रह्लादने इस प्रकार भगवान् का स्वावन करके उन पुरोहितोंको सपर्श किया और स्पर्श पाते ही वे स्वस्थ होकर उठ बैठे एवं विषयपूर्वक सामने खड़े हुए चालकसे गङ्गाद होकर छुलेश्वरापूर्ण हृदयसे आशीर्वाद देते हुए थे—

दीर्घायुप्रतिहतो बलवीर्यसमन्वितः ।

पुत्रपौत्रधनैश्चर्युर्युक्तो वस भवेचमः ॥

(विष्णुपुराण १।१८।४५)

‘वत्स ! तू परम श्रेष्ठ है । तू दीर्घायु हो, अप्रतिहत हो, बलवीर्यसे तथा पुत्र-पौत्र एवं धन-पैश्चर्योदिसे सम्पन्न हो ।’

यह है अहिंसाचृति, रागदेवशून्यता, क्षमा-शीलता, परतुःस्तकातरता और सर्वत्र भगवद्वर्णनका उच्चलन्त उद्धारण ।

—राधा भाजेडिया

तुम्हारा दुरा करनेवालेको क्षमा करो

काम-लोभ-वस कोप करि, करत लो तुअ अपकार ।
निज अनिष्ट नित करत सो, निश्चै मृढ़ गँगार ॥
ताकौं नित कीजै छिमा, दया पात्र तेहि जानि ।
बो मिल हाथ हि ते करत, अपनी अतिसै हानि ॥

नमो धर्माय महते

(लेखक—जा० श्रीवास्तवशरणगी विद्यालय पर्म् ५०, हो० लिप्त्)

भारतीय साहित्यमें सबसे पहले शृङ्खेदमें 'धर्म' शब्द भिल्ला है। वहाँ और उसके बादके वैदिक साहित्यमें धर्म शब्दका अर्थ जैसे धरातलपर है। वह प्रकृतिके या ईश्वरके नियमोंके लिये प्रयुक्त होता है। शृङ्खेदका धर्म शब्द लोटे बालककी तरह अस्तित्वमें आनेके लिये अपने हाथ-पैर कैलाता हुआ जान पड़ता है। शृङ्खेदका असली शब्द तो 'ऋत' है जो सृष्टिके अखण्ड देश-कालव्यापी नियमोंके लिये प्रस्तुत होता है। वे नियम सबसे ऊपर हैं और ब्रह्माण्डमें जो कुछ भी है, ऋतके अधीन है। ब्रह्माण्डकी यह अखण्ड एकता आज विज्ञानसे प्रत्यक्ष है। प्रकाश और रश्मियोंके जो नियम पृथ्वीपर हैं, वे ही सूर्यमें हैं और उन्हींके अनुचासनमें वे कूर्दूरके लोक हैं, जहाँसे प्रकाशको पृथ्वीतक पहुँचनेमें ही पौँच अरब बर्ब लग जाते हैं। इस विस्तृत ब्रह्माण्डको बौद्धकर चलनेवाले जो नियम हैं, उनका बेदमें नाम शृङ्ख था। अंगरेजीमें उन्हींके लिये Rigit शब्द है। लेकिन शब्दोंका भी युग बदलता है। शीघ्र ही 'धर्म' शब्दकी महिला बढ़ने लगी। धर्म शब्द संस्कृतकी शृङ्ख भाषुसे चना है, जिसका अर्थ है धारण करना या संभालना। जो धारण करे, जो टेक बनकर किसी दूसरी वस्तुको रोके, वह धर्म हुआ। धर्म शब्दका यह अर्थ आवानीसे समझमें आता है। साधारण समझके आवानीको भी यह अर्थ धर्म शब्दों सरलतासे परिचया हुआ दिखायी पड़ता है। अतएव ऋत शब्दकी जगह सृष्टिके अखण्ड नियमोंके लिये धर्म शब्दका प्रयोग बढ़ा।

अर्थवैदमें पृथ्वीसूक्तके नामसे एक लुन्दर सूक्त है। उसमें भावृभूमिकी अनेक प्रकारसे व्याख्या की गयी है और यह भी बदलाया गया है कि किन-किन नियमोंके द्वारा मातृभूमिकी रक्षा और दुष्कृती होती है। उसमें पृथ्वीको 'धर्मण धृता' अर्थात् धर्मसे धारण की हुई कहा गया है। अवश्य ही धर्म शब्दका यहाँ वही कैन्चा अर्थ लिया गया है, जिसका सामन्य 'शृङ्ख भाषुसे है। लेकिन उच्ची युगमें धार्मिक विद्याओं और मान्यताओंके लिये भी धर्म शब्द प्रयोगमें आने लग गया था। पृथ्वीपर रहनेवाले अनेक मौतिके उनका वर्णन करते हुए ही यहाँ यह भी कहा है कि वे नाना धर्मोंके माननेवाले हैं, जो कि हरारे ऐसी पहुँच पुणी सचाह है।

वस्तुतः साम्प्रदायिक मतके लिये धर्म शब्दका प्रयोग यहींसे आरम्भ होता है। शृङ्खस्त्रोंमें धर्म शब्दका रीति-रिवाजोंके लिये भी व्यवहार किया गया है। इस तरहसे रीति-रिवाज सामयाचारिक धर्म अर्थात् पुराने समयसे आये हुए सामाजिक आचार या शिष्टाचार कहे गये हैं। इस तरहके रीति-नियम समाज और राज्य दोनोंके लिये मानने लायक होते हैं और वे ही पंचायतीं या अदालतोंमें कानूनका रूप ग्रहण कर करते हैं। धर्मस्त्रोंमें इस तरहके सामाजिक नियमोंका संग्रह धर्म शब्दके अन्तर्गत किया गया है। इस दृष्टिसे आईन या कानूनके लिये भारतवर्षका पुराना शब्द धर्म है और इस अर्थमें धर्म-जैसे छोटे और सुन्दर शब्दका प्रयोग बहुत दिनोंतक इस देशमें चालू रहा। अदालतके लिये 'धर्मसून' और न्याय करनेवाले अधिकारीके लिये 'धर्मसून' शब्द हीरी अर्थमें प्रयुक्त होते थे।

इस तरहके रीति-रिवाज, जो सामाजिक या राजकीय कानूनकी दैसियत रखते हैं, बहुत तरहके हो सकते हैं, जिन्हें देश-धर्म, कुछ-धर्म कहा गया है। पैदावर लोगोंके संगठनको उस समय श्रेणी और पूर्ण भी कहते थे और उनके व्यवहार 'अंगी-धर्म' या 'पूर्णधर्म' कहलाते थे। मनु और यजवल्यके धर्मशास्त्रोंमें एवं कौटिल्यके अर्थशास्त्रमें राजाके हिदायत दी गयी है कि वह इस तरहके अलग-अलग धर्मों या रिवाजों आनेवाले अमल दस्तूरोंको मान्यता दे। धर्म शब्दका यह अर्थ लगभग कानून-जैसा ही है। मनु आदिका शास्त्र मी हसीलिये धर्मशास्त्र कहलाता है। उसमें एक तरहसे समाजमें प्रचलित व्यावहारिक और धार्मिक नियमोंका संग्रह या। इस तरहके संग्रहके लिये अंगीका उपयुक्त शब्द 'कोड' है। दूसरे देशोंकी पुरानी सम्यताओंमें भी इस तरहके बहुतसे संग्रह मिलते हैं, जिनमें कुछ धार्मिक, कुछ सामाजिक, कुछ व्यक्तिगत आचार और कुछ कानूनी नियमोंके संग्रह पाये जाते हैं। इस तरहका संग्रह, जो 'शुल्कनियन कोड' के नामसे भवाहूँ है, इसी तरहका है। भारतवर्षमें मनुका धर्मशास्त्र वैसा ही गत्य है, जिसमें धर्म शब्द कई तरहके नियमोंके लिये लागू हुआ है।

लेकिन हन गायोंसे लगार भर्म शब्दका वह कैन्चा अर्थ

धर्मः'। राम धर्मवृक्षके बीज हैं। दूसरे आदमी उस वृक्षके फूल और फल हैं। इस एक वाक्यमें हमारी धर्म-मूलक साध्यायताकी किलनी सुन्दर व्याख्या मिलती है। गाँधीजी धर्म या सत्यवृक्षके बीज हैं और सब नेत्रा एवं कार्यकर्त्ता उस वृक्षके पत्ते, फूल और फल हैं। गाँधीजीके धर्म-वृक्षसे जनतक हमारा सम्बन्ध छाड़ा है, तभीतक हमारे जीवनमें रस और तेज है। नहीं तो इमें सुरक्षाये हुए समझो। सत्यके वृक्षका रस सारी प्रजाओंमें फैलता है और अपने वितानसे राष्ट्रको छा लेता है। गाँधीजीके धर्मवृक्ष-की छायामें आज हम सब बैठे हैं। पर हम महान् धर्मवृक्ष-की छायामें मत-भवान्तरके भेद नहीं हैं। गाँधीजीकी यही बड़ी देन थी कि उन्हनि राष्ट्रीयताका सम्बन्ध गत्य और धर्मसे जोड़ दिया। गीताके बाद्योंमें गाँधीजी द्वारा सबकी खापना धर्म-संख्यापन कहा जा सकता है। धर्मका यही वास्तविक अर्थ देखके लेके इतिहासके भीतरसे हमें प्राप्त होता है। वह भावव्यक्त है कि वह राष्ट्रके नये जीवनके लिये स्वीकार करना चाहिये। मत-भवान्तर अक्षियोंके लिये है, लेकिन धर्म राष्ट्रके लिये है। धर्म या सत्यसे ही भूमि और आकाश टिके हैं। देशके इस अनुभवपर हमारी चरी राष्ट्रीयताको फिरसे छाप लगानेकी आवश्यकता है।

आज संस्कृतिका जो अर्थ है, वही व्यापक अर्थ धर्म शब्दका था। हम संस्कृति शब्दका तो बहुधा प्रयोग करते हैं किंतु धर्मका प्रयोग करते हुए हिन्दूकिंचत हैं। यह भारतकी प्राचीन राष्ट्रीय परम्पराके बिचड़ है। यदि वह प्रश्न किया जाय कि सहस्रों वर्ष प्राचीन भारतीय दंस्कृतिकी उपलब्धि क्या है परं यहाँके जनसमूहने किस जीवनदर्शनका अनुभव किया था तो उसका एकमात्र उत्तर यही है कि भारतीय साहित्य, कला, जीवन, संस्कृति और दर्शन—इन सबकी उपलब्धि धर्म है। भारतीय जीवनरूपी मानसरोषरमें तैरता हुआ सुनहरा हंस धर्म है। उसके ऊपर हमारी संस्कृतिके निर्माण प्रजापति ब्रह्मा जीवनके सब क्षेत्रों या लोकोंमें विचरते हैं। यदि धर्म शब्दका हम निश्चरण कर दें तो अपनी समस्त संस्कृतिको छोड़ना पड़ेगा। राष्ट्रीय जीवनके विकासमें इससे बही भूल नहीं हो सकती कि हम धर्म शब्दमें संचित अपनी दीर्घकालीन उपलब्धिकी उपेक्षा करें।

वर्तमान समयमें राष्ट्रीय चिन्तनमें एक बड़ी भूल है। यही। वह यह कि हमने धर्म और सम्प्रदायको समानरूपक

जान लिया। धर्म शब्दका एक अर्थ सम्प्रदाय या मत-भवान्तर भी है। किंतु उसका प्रेरणा नहुत तंग है और वह धर्मकी उस महान् महिमाको बिला नहीं कर सकता। जिसे बैद्ध, मनु, वात्सीकि और व्यासने स्त्रीकृत किया था। और जो आजतोक भारतके उच्चकोटि जनोंके हृदयमें सुप्रतिष्ठित है। आमचासिमी भारतमात्रामें जितने स्त्री-पुरुष निवास करते हैं उसमें कोई ऐसा न होगा जिसने धर्म शब्द न सुना हो और जो उसके कौन्चे आदर्श प्राण अर्थको न मानता हो; ऐसा सटीक शब्द हमारी राष्ट्रीय नैतिक जीवननिषिका कथच है। इसे छोड़ना बुद्धिमत्ता नहीं। अपने राष्ट्रको धर्ममूलक और धर्मसापेश कहना बुद्धिमत्ता है। दूसरी व्याप्रदायमूलक राष्ट्रका आश्रह काई भी महा कर सकता। उन्नीत तो यह है कि धर्म शब्दके कौन्चे इन्द्रासनकी रक्षा करनी चाहिये। राष्ट्रीय संविधानमें धर्म और सम्प्रदायके भेदको अलग्य समझाकर धर्म शब्दकी सम्मान और प्रतिष्ठा-की रक्षा करनी चाहिये। धर्म शब्दमें भारतीय जीवनके लिये एक अमृतका कला रक्षा हुआ है, उसका स्वाद सबको अच्छा लगता है। संघमें और सभाओंमें, समाजमें और धर्में उस अर्थका प्रचार करनेसे सबका हृदय प्रफुल्लित होता है। अनुच्छेदके नारायण मृणिने जब 'हानि धर्माणि प्रधमान्वासन्' यह शोधणा की थी तो उसका आशय सुन्दरिके आधारपर उन महान् सन्दर्भ और व्यष्टि नियमोंसे था जिन्हें आज हम समाज और जीवनके वैशानिक और नैतिक नियम कहते हैं। जब यह कहा गया कि तीन लोकोंके तीन चरणोंसे परिच्छिन्न करके भगवान् बिष्णुने उन्हें धर्मसे धारण कर दिया तो उसका आशय कभी भी सम्प्रदाय नहीं हो सकता। किंतु वे ब्रह्माण्डव्यापी नियम हैं जो देश और कालमें अमर हैं और ब्रह्मकी सत्ता के रससे सबको हृदयोंको कौचते हैं (त्रीणिष्वदा दिवचक्रमे विष्णुर्गेषा लदाभ्यः, अतो धर्माणि धरमन्, ४० वै० १ । २३ । १८)। ज्ञान-विश्वानकी छढ़ नीद धर्मपर है। मातृभूमिको 'धर्मणा धूतास्त्' कहनेका आशय यही था कि राष्ट्रीयताका आचार धर्म है। जो राष्ट्रीयता धर्मसे पराहमुख हो जाती है वह सकुशल नहीं रहती। जीवनमें सलकर्म करनेकी प्रेरणा और स्कृति जीवनको धर्मस्वरूप बनानेसे आती है। धर्म, संस्कृति, सत्य आदि महान् सुषोका हमें आवाहन करना चाहिये, यही भारतीय राष्ट्रीयताके लिये कल्पाणका मार्ग है। व्यापक यह चाल्य सुवर्णांश्चरी है—

'नमो धर्माय महते धर्मो धारयते प्रजाः'

प्रजाओंको या समाजको धारण करनेवाले जितने बहु-मुखी नियम हैं, उन सबकी समृद्धि संशा धर्म है। 'रामो धर्मभूतो वरः'; अथवा 'रामो विग्रहवान् धर्मः' वास्तीकिकी इस परिभाषाको क्या हम छोड़ सकते हैं? 'धर्मसंस्थापनार्थीय संभवामि युगे युगे' श्रीकृष्णकी यह वाणी आज भी जनतामें धूँजती है। धर्म शब्दके ऊँचे

अर्थको हमने अपने ज्ञान और कर्मकी शान्तिसे पाला-पोसा है। उस अक्षय निधिकी रक्षा और संबद्धन करना उचित है। छात्रोंका धर्म दिल्ला और प्रश्नचर्चा है, नेतार्थोंका धर्म जनसेवा है, जनताका धर्म राष्ट्रीयता है। इन अनेक प्रकारके अर्थोंको प्रकट करनेके लिये धर्म शब्द अमूल्य हीरा है, उसे खोना नहीं, उसका उचित मूल्याङ्कन करना है।

मानव-धर्म

(१)

(केद्रक—श्रीश्रीमतीश्वरी 'सुमन')

१

मनुष्यका समस्त जीवन विश्वासका आधाय लेकर चलता है। कोई स्त्रीकार करे या न करे और कोई चाहे कैसा ही तार्किक हो, उसके अन्तस्तालमें कुछ अस्पष्ट विश्वास अवश्य होते हैं। जर्मन विद्वान् बेटेने लिखा है—‘संसार एवं मानवेतिहासका एक और केवल एक ही वास्तविक तथा गहन वर्ण विषय है—और सब वर्ण विषय उसके अधीन हैं—विश्वास एवं अधिश्वासके बीचका संतर्वर्ष।’

इन विश्वासोंसे संसारमें विविध धर्मों या स्तरोंका विकास हुआ है। जलवायु, इतिहास, भौगोलिक परिस्थितिने प्रत्येकको एक विशेष प्रकारकी आचरण-मालिका प्रदान की है। विश्वके सभी प्रधान धर्म हृशीरीय वाणीसे अपना उद्गम मानते हैं। वह हृशीरीय वाणी उनकी किसी प्रधान धर्म-पुस्तकमें संचित है। सब अपनेको एकमात्र सत्य मानते हैं—दूसरे धर्मोंके प्रति उनकी हीन दृष्टि है।

इसी हीमहादि या अपने विशिष्ट धार्मिक अहंकारके कारण प्रत्येक भुग्में धर्मोंको लेकर खींचतान होती रही है। वे आपसमें ढक्काते रहे हैं। उनको लेकर मध्यस्थक उत्तमात हुआ है। परंतु यह सब दुःखद काण्ड इरीलिये होते रहे हैं कि मानव-समाजकी विभिन्न जातियों धर्मके केन्द्रीय सत्यके द्वीपको भूलकर उसके कर्मकाण्डमें, उसके बाह्यकाण्डमें उलझ गयी हैं; धर्मकी आत्मा दृष्टिसे ओक्सील हो गयी है श्रीर शशीरमात्र रह गया है।

प्रत्येक देशमें सत्यान्वेषी तत्त्वज्ञानियोंने इस स्थितिसे इपर उठनेकी घेषा की है। अपने अन्वेषणमें उन्हें उन ज्ञानोंकी अद्भुति दुई जिसे नहीं, परगत्ता, परमेश्वर,

पुरुष, गॉड, अल्लाह इत्यादि विविध नामोंसे पुकारा गया है। जिनमें यह अनुभूति जितनी ही बनीभूत हुई, उनमें सुदृष्टा, संकुचितता, विभक्तीकरण, फँटेप उत्तरा ही कम होता गया और जीवमात्रके एकत्रकी भावना बढ़ती गयी। संस्कृत विवेकने इस भावनाको पुष्ट किया। यह एक आश्वर्यजनक बात है कि धर्मोंमें जो पार्थक्य है, भेद-भान्धि है, विदेप-भावना है, वह उन धर्मोंके पौरोहित्य तथा उससे उद्भूत अन्यों, विधायी, आचार्य एवं आदेशोत्तरक ही तीमित है। तत्त्वज्ञानके क्षेत्रमें ऐसा विदेप बहुत कम है। श्रुतिमें वह भेद नहीं है, अथवा नगण्य है; सूत्रिमें, कर्मकाण्डमें अधिक है।

इसलिये जब हम धर्मोंका तुलनात्मक अध्ययन करते हैं तो यह देखकर आश्वर्य होता है कि अधिकांश धर्मोंके तत्त्वज्ञानमूलक सत्यों एवं विद्वन्तोंमें बहुत कम अन्तर है। इस वस्थकी अनुभूतिसे ही एक सामान्य मानव-धर्मकी कल्पनाका उदय हुआ है।

२

ल्यौ-ज्यों मानवमें यह अनुभूति जोर पकड़ती गयी कि सब धर्मोंका लक्ष्य एक ही उद्गमको पाना है और ल्यौ-ज्यों उसमें समझ आयी कि सब मानव एक ही परमात्माकी संतति हैं ल्यौ-ज्यों भेद-भुक्तिपर मानवकी भूलभूत एकत्रात्मा भाव प्रवल होता गया। इससे विश्ववन्दुत्ताकी, सर्वमानव-आत्मत्वकी भावनाका विकास हुआ। सब मानवोंमें एक ही ईश्वरकी कल्पका प्रकाश है, यह ज्ञान दृढ़ हुआ।

३

यो तो सभी धर्मोंके तत्त्वज्ञानियों एवं संतोंमें इस दत्तवकी

उपलब्धि दिलावी पड़ती है। किंतु भारतीय आर्य-धर्ममें वह सदसे प्रचल, सबकी अपेक्षा सुस्पष्ट है। प्राचीन कालमें हमारेवहाँ मजहब, मत या सम्बद्धायके संकुचित अर्थसे धर्म वहुत दूर रहा है। वेदके श्रुतियोंने वहुत पहले हसे अनुभव किया था कि जिसे धर्माद्यन्तर कहा जाता है, वह मूल सत्यसे भटका देनेवाला है। उस समय भी मूल सत्योंको भूलकर संकुचित मानव-वर्ग अज्ञान-तिमिरमें भटक रहे थे। इसीलिये श्रुति कहती है—

न त्वं विदाथ य इमा जग्नान् अन्यद् युप्याकं अन्तर्वं अभूव ।
शीहरेण प्रावृत्ता जल्प्या चाऽसुनृप उक्थं शासद्वरन्ति ॥

(अ० १०।८२।७, यु० १७।३१)

अर्थात् ऐसे मनुष्यो ! तुम उसे नहीं जानते जिसने कि इस सबको बनाया है। तुम अन्य प्रकारके हो गये हो और तुमसे उससे बहुत अन्तर ही गया है। अज्ञानकी नीहारिका तथा अमृत और निरर्थक शब्दजालसे ढके हुए मनुष्य प्राणत्रुटिके कार्योंमें लगाकर या आडम्यरुक्त और बहुभावी होकर भटकते हैं।

श्रुतिदे वास्तवार स्तरण दिलाया—‘जैसे सब नदियाँ नाम-रूपसे रहित होकर समुद्रमें सिल जाती हैं वैसे ही सब धर्म एक ही ब्रह्ममें विलीन हो जाते हैं।’ अथवा ‘एक सद् विग्र बहुधा वदन्ति’ एक ही सत्यको विद्वान् अनेक प्रकारसे कहते हैं।

शाल, पुराण, स्मृतिमें धर्मके अनेक लक्षण और शुण बताये गये हैं। अपने-अपने स्तरपर सब ठीक हैं। उनकी अपनी अलग-अलग कला है, इष्टि है। किंतु वास्तविक धर्म-का मूल गुण एक ही है अर्थात्, वह हृदयोंको विभक्त नहीं करता, जोड़ता है। जो हृदयोंको जोड़ता है वही धर्म है। धर्म कभी अलग नहीं करता; क्योंकि जो देख सकता है वह देखता है कि समस्त विश्व ही प्रभुका विग्रह है और विश्वकी सेवा ही, प्रकारान्तरसे, प्रभुकी सेवा है। इसीलिये हमारी संस्कृतिमें दूसरोंको खिलाकर राने, दूसरोंको जिलानेके लिये प्राणत्याग करने, मतलब उत्सर्गको धर्म माना गया है। इमारा तत्त्वज्ञान अपनी रोटीकी फिक नहीं करता; अपने सुखमें समाहित होकर नहीं रह जाता; सबका सुख चाहता है, सदका श्रेय चाहता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामथाः ।

यह सर्वभग्नल ही वास्तविक मानव-धर्म है और लोक-

प्रिय स्तरपर पुराणकासने भी इसी सत्यका उद्घोष इन शब्दोंमें किया है—

श्रुतां धर्मसर्वस्वं श्रुता चैवावधार्यताम् ।

आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत् ॥

पहलेमें जहाँ तत्त्वज्ञान एवं शाश्वत कामना है वहाँ उपर्युक्त इलोकमें उसे आचरणके स्तरपर उत्तार दिया गया है—

मुनोः समत धर्मका तत्त्व हतना ही है कि जो अपने-को प्रतिकूल लौटे, अच्छा न लौटे—उसका वूलरोंके प्रति भी आचरण न करो ।

भगवान् व्यासने कहा है—‘मनुष्यसे श्रेष्ठ कुछ नहीं है।’ यहाँ मनुष्यका मतलब उस जागरित मनुष्यसे है जो आत्मरूप है; जिसमें ईश्वरत्वकी अनुभूति और उदय है। यहाँ देह और आत्माके ऐक्यका विभाजन नहीं है; क्योंकि आत्मत्तिक दृष्टिमें देह और आत्मा एक हैं। देह भी उसी-की है, आत्मा भी उसीकी है।

मानव-ज्ञेतनाके कई स्तर हैं। पौराणिक शब्दावलीमें ये स्तर दो खण्डोंमें वॉट दिये गये हैं—१. आसुरी, २. दैवी। कहाँ-कहाँ इन्हें आसुरी, मानवी एवं दैवी—तीन खण्डोंमें विभाजित किया गया है। तत्त्वज्ञानकी भापामें उसके तीन स्प: तीन स्तर, तीन प्रवृत्तियाँ हैं।—१. तामसी, २. राजसी, ३. सत्त्विकी। शास्त्रियिक विकासकी दृष्टिसे इन्हें ही तीन अवस्थाएँ कह सकते हैं।

१. विकृति

२. प्रकृति

३. संस्कृति

विकृति	=तामसी	=आसुरी
प्रकृति	=राजसी	=मानवी
संस्कृति	=सत्त्विकी	=दैवी

जो वृत्तियाँ मानवको विकृतिसे प्रकृतिसे प्रकृतिसे संस्कृतिकी, और ले जाती हैं वे ही यथार्थ धर्म हैं। जो मानव-को ईश्वरसे जोड़ती हैं, उनवाँ समधाय धर्म है। सुकरातसे किसी भारतीय तत्त्वचिन्तकने कहा था—‘यदि हम ईश्वरके विषयमें नहीं जानते तो मनुष्यके विषयमें भी कुछ नहीं जान सकते।’ वस्तुतः ईश्वर एवं मानवका मिलन जिन गुणों, नियमों, आचारों एवं प्रसुतियोंसे होता है, वही मानव-धर्म है।

इसीलिये आज मानव-धर्ममें धर्मके उन संकुचित हैपौकी अस्वीकृति है जो मनुष्यमनुष्यके बीच दीवारें खड़ी करते हैं। खण्डित जीवनसे परिपूर्ण जीवन, इश्वर-मिसुक जीवनसे ईश्वरयुक्त जीवनकी ओर ले जानेवाला धर्म ही मानव-धर्म है। यहाँ ईश्वर किसी सम्प्रदायविशेषका आराध्य नहीं है, यह मानवमत्रका गत्तव्य, मानवके मन-प्राप्तकी समझ चेतनाका उत्तर है।

मानव-धर्म वही है जो पश्च-मानवको ईश्वरीय-मानवमें नदूर देता है।

(२)

(केदक—श्रीगौरीशंकरजी गुप्त)

आजकल अँगरेजी 'रेलिजन' शब्दके अर्थमें धर्म शब्दका प्रयोग किया जाता है; परंतु यह धर्मका वास्तविक अर्थ नहीं है। हिन्दू-मतानुसार धर्म, अर्थ, काम और गोपन्चतुर्विधि पुस्पायी कहते हैं। इस दृष्टिसे जब हम धर्म-पर विचार करते हैं तो अँगरेजी 'रेलिजन' उसका पर्यायवाची नहीं ठहरता। उसका अँगरेजी अर्थ 'प्राइट कन्फर्न्स' (सदाचार) से ही व्यक्त हो सकता है। इसलिये धर्मका आचरण करनेकी शिक्षाको अम्यात वा साधनाकी आनंदिकता होती है।

कहा गया है कि भैं धर्म जानता हूँ, पर मेरी उसमें अवृत्ति नहीं है और अधर्म जानता हूँ, पर मेरी उससे निवृत्ति नहीं है। हे हृषीकेश ! तुम मेरे हृष्टयमें बैठे हो, जैसा सुखे नियुक्त करते हो वैसा मैं करता हूँ।' जिसकी परसेश्वरपर हतनी आसा हो और जो बासावमें अपने अनुचित कायेकि कल्से बचनेके लिये बहाने न होइता हो, उसके मुँहसे तो वह उक्ति अशोभनीय नहीं है। परंतु जो बात-यातमें अपनी बदाहै बघारता हो, उसकी तो यह भण्डभक्ति ही समझी जायगी। पिर भी इस उक्तिके भीतर एक बड़े मार्कोंका तत्त्व निहित है और वह यह है कि धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्मसे निवृत्ति धर्म वा अवर्म जाननेसे ही नहीं होती। उसका नियातमक अम्यात और साधना करनेसे होती है।

यह साधना कैसे की जा सकती है, वह जाननेके पहले हमें यह जान केना आवश्यक प्रतीत होता है कि धर्म बधा है और अवर्म बधा है; क्योंकि महामारतमें व्यासजी मुजा उठाकर कह चुके हैं कि धर्मही ही अर्थ और कामकी प्राप्ति

होती है। इसलिये काम, भय वा लोभसे ग्राण बचानेके लिये कभी धर्म नहीं छोड़ना चाहिये। धर्म तो भाव है और इसलिये लक्षणोंसे ही यह दिखाया जाता है। जिन बातोंसे मनुष्यको अम्युद्दय और निःश्रेवतकी प्राप्ति हो: वे धर्म मानी गयी हैं और जिनसे इनके विपरीत फ़ल हो, उनकी गिनती अधर्ममें होती है।

यहो व्याप देनेकी बात यह है कि अम्युद्दय आत्मनिक श्रेयके साथ हसीलिये वाँधा गया है कि यह अनुचित उपायोंसे भी हो सकता है, बद्धापि उसे व्यापार अम्युद्दय नहीं कहा जा सकता। लूटपाट, डाके, चोरी इत्यादिसे भी मनुष्यकी लौकिक उच्चति हो सकती है; पर ये उपाय बाज़नीय नहीं हैं; व्योंकि धर्मके विरुद्ध हैं। धर्मसे अविरुद्ध उपायोंसे जो उन्नति होती है, वही बाज़नीय है। इसलिये निःश्रेष्ठ उर्दीको प्राप्त हो सकता है जो सदाचारी हो। 'मनुस्मृति' में धर्मके जौ दस लक्षण वराये गये हैं, उनसे धर्मके अनुसार चलनेमें सहायता मिल सकती है। वे हैं—वैर्य, धमा, दस, अत्सेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि विद्या, सत्य और अकोध। इनमें कुछका सम्बन्ध अपने साथ और कुछका दूसरोंके साथ है। अर्थात्—मनुष्यको सदाचारका उपदेश इन दस लक्षणोद्धारा दिया गया है। वैर्य, दस और शौचका सम्बन्ध अपने ही साथ है; पर धमा, चोरी न करने, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि, विद्या, सत्य और अकोधका अपने और दूसरोंके साथ भी है। एक मनुष्यको समाजमें रहकर इन गुणोंकी बड़ी आवश्यकता होती है।

एक स्थानपर गाहैस्थ-धर्म बताया गया है। वहो कहा गया है—अहिंसा, सत्य बचन, सब प्राणियोंपर दया, स्थमा और वथादाति द्यान गाहैस्थ-धर्म है। इसके अनुसार यहस्यके लिये ये ही कर्तव्य हैं। परंतु हमें 'मनुस्मृति' के दस लक्षणोंके साथ इनको मिला देना चाहिये, जिसमें इनमें पूर्णता आ जाय। इस प्रकार अहिंसा, सत्य, स्थमा, दया, वैर्य, शौच, दस, चोरी न करना, इन्द्रियनिग्रह, बुद्धि विद्या और अकोध—ये १२ गुण हो जाते हैं। इनके साथ ही जिन दोषोंके करण इनमें कई गुणोंका विकास नहीं हो पाता या हास दोता है, उनपर भी विचार करना कर्तव्य है। शालमें ये पहूँची अवधा बदूरिपु नामसे वर्णित हुए हैं। ये हैं—काम, कोध, लोम, मोह, मान और मत्तर।

इस प्रेषणमें पहला प्रश्न यही उठेगा कि काम तो

चतुर्विंश पुरुषार्थका एक अङ्ग है, वह शुभ कैसे हो सकता है ? प्रश्न ठीक है; क्योंकि सब काम शुभ नहीं है और न ही ही सकता है ! परंतु जहाँ इस कामसे क्रोध, लोभ, मत्सर आदि दुर्गुण उत्पन्न होकर मनुष्यको अहिंसा, सत्य, शौच, दम, चोरी न करना, इन्द्रियनिग्रह आदिमें बाधा डालते हैं, वहाँ काम शुभ है, अन्यत्र नहीं । इसलिये कामके नायका नहीं, उसके निवन्ननका प्रयोजन है ।

क्रोध और अक्रोधमें दिन और रात अथवा प्रकाश और अन्धकारका अन्तर है । जब अक्रोध धर्मका लक्षण बताया गया है, तब क्रोध अधर्मका लक्षण आप-ही-आप बन जाता है । पर यहाँ भी वही बात है । अन्याय-अत्याकार-पर क्रोध होना प्राकृत मानवका लक्षण है; अन्यायको देखा परं प्रैमसे जीतना गहात्मका लक्षण है ।

जहाँ हम दूसरेकी वस्तुको इस दृष्टिसे देखते हैं कि वह हमें मिल जाय और नहीं मिलती दिखती है तो हम उसे चुपनेको तैयार हो जाते हैं, वहाँ तो लोभ निन्दनीय है ही; पर इसके लिया वहाँ भी लोभ द्वारा है जहाँ किसीको कुछ देना उचित है, वहाँ लोभके कारण सामर्थ्य रहते भी हम देना नहीं चाहते । धनकी तीन गतियाँ विद्वानोंने बतायी हैं—दान, भोग और नाय । जो न चिसीको देता है और न आप धनका भोग करता है, उसके धनकी तीसरी ही गति होती है—अर्थात् वह नष्ट हो जाता है । ठीक ही कहा जाता है—‘जोह-जोह धर जायें, माल जवाई लायेंगे ।’ हम बहुतसे लोभियोंका धन इसी प्रकार नष्ट होते देखते हैं । आप तो भूखे रहकर धन एकत्र करते हैं और भरनेके बाद यार लोग उसे उड़ाते हैं ।

अशान, मासनशी, भूल और धनराहटका नाम सोह है । विद्या, बुद्धि और धीरजसे मोह जीता जाता है । यह सचमुच शुभ है, जिसके पक्षमें कोई बात नहीं कही जा सकती । इससे पिण्ड छुड़ाये लिया कोई मनुष्य अपने कर्तव्योंका पालन नहीं कर सकता । परंतु मान वा अभिमान अच्छा और दुरा यथास्थान हो सकता है । मनुष्यको सद्गुणोंका अभिभावन करना तो अच्छा है, परंतु दूसरोंसे विद्या, धन, सम्पत्ति अथवा गुणीनता और विशाल कुश्मनका अभिमान

* सद्गुणोंका अभिभावन भी कोई धर्म-ज्ञान, ईश्वरोन्मुखों प्रदृष्टि नहीं । इससे सद्गुण नष्ट हो जाते हैं । किसी ग्रन्थारको ये अभिमान चतुने लंबाये गगानमुखे लिये गये ही है ।—सम्पादक

निन्दनीय है । इसी प्रकार भत्तर वा ईर्ष्या दूसरोंके सद्गुणोंकी और उनके-से अच्छे बननेकी तो अच्छी है और सर्वेत्र लाज्य है ।

शम्भु-मधु-बर्गका जीतना उनको अपने वशमें रखना है । जिस प्रकार कमी-कमी विष भी अमृतका काम करता है, उसी प्रकार इन पठ्ठरिपुओंके वशमें रहनेपर बहुत काम होते हैं । इन्द्रियनिग्रहका अर्थ भी इन्द्रियोंको वशमें रखना है । इन्द्रियोंके दो भेद हैं—अन्तःकरण और बहिःकरण । मन-बुद्धि अहेकार और चित्त—इनकी संज्ञा अन्तःकरण है और दस इन्द्रियोंकी संज्ञा बहिःकरण है । अन्तःकरणकी चारों इन्द्रियोंकी कल्पना भर हम कर सकते हैं, उन्हें देख नहीं सकते; परंतु बहिःकरणको इन्द्रियोंको हम देख भी सकते हैं ।

अन्तःकरणकी इन्द्रियोंमें मन सोचता-चिचारता है और बुद्धि उसका निर्णय करती है; उसपर अपना आखिरी फैसला देती है । कहते हैं ‘नैसा मनमें आता है, करता है ।’ मन उंशयात्मक ही रहता है, पर बुद्धि उस संशयको दूर कर देती है । चित्त या दिल अनुभव करता है या समझता है । अहंकारको लोग साधारण रूपसे अभिमान समझते हैं; पर शास्त्र उसे स्वार्थपरक इन्द्रिय बताता है ।

बहिःकरणकी इन्द्रियोंके दो भाग हैं—एक शानेन्द्रिय और दूसरा कर्मेन्द्रिय । शाँख, कान, नाक, जीय और खालको शानेन्द्रिय कहते हैं; क्योंकि शाँखसे रंग और स्फ, कानेसे चब्द, नाकसे सुगन्ध और दुर्गन्ध, जीभसे रस का स्वाद और खालसे उड़े और गर्भका ज्ञान होता है । रूप, रस, चब्द, रनब और स्फर्व शानेन्द्रियोंके गुण हैं । चारी, हाथ, पैर, जननेन्द्रिय और गुदा—ये पाँच कर्मेन्द्रिय हैं । इनके गुण मूर्ख-से-मूर्ख मनुष्य जानता है; इसलिये बतानेका प्रयोजन नहीं है ।

इन चौदह इन्द्रियोंको जो अपने वशमें रखता है, वह जितेन्द्रिय कहता है; परंतु यह काम बहा कठिन है । फिर भी हसका अर्थ यह नहीं है कि कठिन समझकर इसे छोड़ दी दिया जाय । आज-के-आज कोई जितेन्द्रिय नहीं हो सकता । इसके लिये उसे अव्याप्त वा साधनाका योजन होता है । इन्द्रियों जंगली जानवर वा नये धैर वा बोलेपीं तरह अन्धन छुड़ाकर भागना चाहती है । जरन-वी अग्राम हीली दुई कि नये घोड़ोंकी तरह इन्द्रियों मनुष्यको लेफूर फहाँ गिर देंगी इसका कोई छिकाना नहीं है । इच्छिये अनाय गणावर कही

रखनी चाहिये । वही इन्द्रिय-निग्रह है । सच तो यह है कि जो इन्द्रिय-निग्रह कर लेता है, वह कभी दारता नहीं; क्योंकि मनुष्यको दुर्वल करनेवाली इन्द्रियोंके फेरमें वह नहीं पड़ सकता ।

उच्चे जवरदस्त कास जो आदर्शीको करना चाहिये; वह इन्द्रिय-निग्रह ही है । वही मुख्य भर्त है । इसके बाद तो आगेका कान सहज हो जाता है । वह काम कठिन है; पर तो भी छोड़ नहीं जा सकता ।

सम्पत्ति और धनके कारण भाई-भाई और वाप-वेटेमें भी ढड़ाई ही जाती है और एक दूसरेकी जानका गाहक हो जाता है । महाभारत और रामायणकी उठनाओंका सम्बन्ध सम्पत्तिके सिवा सौंसे भी है । द्रौपदी और सीताके कारण भी अनेक उठनाएँ हुई हैं । जो हो; मनुष्यमें लोभ बहुत होता है । वह अपनी उत्तु तो किसीको देना नहीं चाहता, पर दूसरेकी लेनेकी बाबर इच्छा करता है । इसलिये लोभ वज्र अनर्थकी जड़ है । मनुष्य दूसरेकी जीको कुछहिसे भी देनेमें आगामी नहीं करता; पर यदि उसकी पलीफर कोई कुहाष्टि बाल्जा है तो वह नहीं सह उठता । इसलिये विवाह-प्रथा चलायी गयी, जिसमें कोई दूसरेकी पलीकी बोर आकर्षित न हो । फिर भी मनुष्य नहीं मानता ।

इन्द्रियों वड़ी प्रबल होती हैं और मनुष्यको अन्या कर देती हैं । हरीटिये भनुत्सुकियमें कहा है कि मनुष्यको जन्मान माँ, दहिन वा लड़कीसे भी एकान्तमें बासचीत न करनी चाहिये । कुछ लोग कहते हैं कि लेखकका मन कल्पित था और वह अपनी ही नाहीं खदको समझता था । इसलिये उसने ऐसा लिखा है; पर वह उनका भ्रम है । मनुष्य-हृदय कितना दुर्वल होता है, यह बहुत्सुकि, विभागित और परावर-जैसे अधिनुनियोंके आख्यानमें स्पष्ट होता है ।

इमारे समझके सदाचारको जड़ इन्द्रिय-निग्रह ही है । इस एक ही वाधनाते मनुष्य चदाचारी रह सकता है ।

नीतियें कहा हैं कि दूसरेकी सीओ माता मानो, पर हम कहते हैं कि आप माता, दहिन वा लड़की कुछ भी न मानें, पर हतना तो अवश्य मानें कि अपनी पली नहीं है, परेयी है और इसलिये हमें उसे परायी पलीके रूपमें ही देखना चाहिये । यह कियोंके विश्वमें हमरे अंदर दूरी मात्र आना और इसीको लानेके लिये हम सदको यक्ष करना चाहिये । ऐसी यह दशादर याद रखना चाहिये कि लिस

वस्तुके देखनेमें लोम बढ़ता है, उसे देखते रहनेमें बढ़कर कोई पार नहीं है ।

अन्तमें तुद्ध भगवान्का यह उपदेश भी अप्राप्तिका न होगा । तुद्धका कहना है—इन अप्रत्यक्ष हैं; क्योंकि हमारी इच्छाएँ मूर्खतापूर्ण हैं । यदि हम तुलसी जीका चाहते हैं तो वह अनायास जा जानेवाला नहीं है, वरं सुविचारें, सुशब्दों और सुकृतोंसे वह बनाया जा सकता है । शिळा और शाश्वतोंसे हम अपने हृदयको पवित्र कर और नैतिक नियमोंका पालन कर अपने स्वभाव बदल सकते हैं । यदि हम तुलसी सूखना चाहते हैं तो हमें अपनी इच्छाशक्ति प्रबल करनी चाहिये; क्योंकि ननुष्यके स्वभावमें विचार जा अनुभूतिकी अपेक्षा इच्छाका सामन बढ़ा है ।

विदेशीमें धर्मके नामपर बहुत मार्काट और सुद्ध द्वुए हैं, पर वास्तवमें वे सब अज्ञानजन्य हैं । जो परलोक और परमेश्वरको नहीं मानते, वे भी सज्जरिता और नैतिकताको मानते हैं और इसलिये नैतिकताको ही नानव-धर्म कहा जाय, तो अनुचित न होगा ।

जो लोग मानते हैं कि परमात्मा सबने व्याप है और हस प्रकार सब एक हैं, उन्हें तो अनुभव करना चाहिये कि हम यदि अन्य मनुष्य या मनुष्योंका कोई उपकार करते हैं, तो प्रकाशन्तरसे वह अरना ही उपकार है; क्योंकि जो हम हैं, वही वे हैं; हममें और उनमें कोई अन्तर नहीं है । इसी प्रकार जब सब परमात्माके बंधा वा रूप हैं, वो हम यदि सबका हितचिन्तन वा सदकी सहायता करते हैं, तो वह परमात्माका ही पूजन और उसीकी आराधना है ।

इस हंगमे सार्वजनिक कामोंमें ग्रीति रखना सर्वभूतहित-रत होना है और जो अत्यन्त सर्वहित है, वही उच्चकोटिका धर्म है । परमेश्वरको दीनोंका परिपालक और लनार्दन कहा जाय है । इस हिस्ते यदि हम दीनोंका परिपालन करते हैं और लोगोंकी कष्टोंका निवारण करते हैं, तो परमेश्वरका ही कार्य करते हैं, जो सच्चे मरणद्रष्टव्यका लक्षण है ।

(३)

(लेन्ड—प० श्रीबुद्धेश्वरजी ज्ञा काम्हीर्ष, अग्रकरणनाम)

यह चरचर जात् रस्ते व्याप है । ऐसी कोई वस्तु नहीं जिसका निजी धर्म न हो । हठ भर्मण्य जगतमें चौराही लाल योनिके अन्तर्गत मानव सर्वशेष लीन है; क्योंकि यह शानी जीव है । अतः शुभायुम कर्मका विदेश उत्तरदायित्व

मानवपर ही है, अन्य देहभारी जीवोंपर नहीं। पुराणोंमें भी अशुभ कर्मोंके दण्डका भागी मानव ही मानव गया है, अन्य तनेधारी जीव नहीं; क्योंकि मतुष्य ही कर्मानुयोनि है। मनुष्येतर योनि मोगानुयोनि है। अतएव मानव जन्मसे मरण-पर्यन्त धर्मके बन्धनसे मुक्त है। धर्म सृष्टिके साथ ही प्रादुर्भूत हुआ है। जैसे पटरीसे उत्तरनेपर रेल, सड़कसे उत्तरनेपर सोटरकी गति छूट हो जाती है, ठीक उसी तरहसे धर्मच्युत मानवकी गति होती है। धर्म तो मानवजीवनका एक उत्तम कोटिका पथ है, जिससे चल करके मानव अपने लक्षित स्थानमें पहुँचता है। अतः धर्मग्रन्थके भवित्वमें देश, काल, पात्रानुसार इसमें ह्रास और वृद्धिकी बात कही है। मानवोन्नित कर्तव्यकी कायिक, वाचिक, मानविक प्रतिक्रिया करके उसका यथावत् पालन करना ही धर्म है। व्याकरणमें धर्म शब्दकी व्युत्पत्ति इस रूपमें है कि 'धृञ्' धातुसे भक् प्रत्यय करनेपर धर्म शब्द बनता है। 'धृञ्' धातुका अर्थ ही है 'धृञ् धारणपौष्णयोः' अर्थात् किसी भी शास्त्रीय नियमोंका धारण करना एवं उनका यथोन्नितरूपैण पालन करना।

देश, काल, जातिके अनुसार धर्मके अनेक भेद माने गये हैं। जैसे देश-धर्म, काल-धर्म एवं जाति-धर्म आदि। किन्तु सनातन धर्म ही ऐसा धर्म है जो सर्वत्र है, सर्वदा है। ग्रामीण कालसे परम्परागत आया हुआ धर्म ही सनातन धर्म है, जिसके अन्तर्गत देश-धर्म, जाति-धर्म आदि सभी प्रकारके धर्मोंका अन्तर्भूत हो जाता है। धर्म-पालनके सम्बन्धमें भगवान् श्रीकृष्णका स्वयं वाक्य है कि—

अत्रात् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात् ।

स्वधर्मे नित्यं श्रेयः परधर्मो भयाचहः ॥

भलीभैति आचरण किये हुए पर-धर्मसे गुणरहित स्वधर्म ही अच्छा है। इसमें स्वधर्मसे मानवत्व (मानव-धर्म) और परधर्मसे द्यनवत्व-पशुत्व (दानव एवं पशु-धर्म) को समझना चाहिये। तात्पर्य यह है कि मानवको कसी भी मानवत्व नहीं खोना चाहिये। सत्यः अहिंसा, दया, परोपकार, अस्तेयादि धर्मके अनेक लक्षण या गुण माने जाते हैं, जिनमें परोपकारको श्रेष्ठ मानव गया है। इस सम्बन्धमें किसी संख्यत कविने कहा है—

अपादश्चापुरणेषु स्यासस्य वचनहृष्यम् ।

परोपकारः पुण्याद्य पापाद्य परपीडनम् ॥

ध० सं० १३—

अर्थात् अष्टदश पुराणोंमें ज्यासजीने दो ही सारांश-पूर्ण वचन वर्तलये हैं कि परोपकार ही पुण्य है और परपीडन ही पाप है। इस सम्बन्धमें संत तुलसीदासजीका भी कथन है कि—

परहित सरिस धरम नहि भाई ।

पर धैरा सम नहि अपभाई ॥

वस्तुतः धर्म ही मानव-जीवनका सार पदार्थ है। यथापि इसे निभानेमें मानवोंके समक्ष विविध कठिनाइयाँ अवश्य आती हैं, तथापि जो धर्मके सच्चे अनुरागी होते हैं, उनके लिये कुछ भी अप्रभव नहीं है। उदाहरणके लिये इस शिवि, दधीचि, रन्तिदेव, हरिश्चन्द्र प्रभृति महामानवोंको ले सकते हैं जो जीवनकी अन्तिम घड़ीतक स्वधर्मसे कथमपि नहीं छिरे और धर्म भी अन्ततोगत्वा उनका साथ देता रहा। अतः किसी महानुभावने कहा है—

जो धर्मकी टेक रखता है धर्म उसको बचाता है ।

धर्मको ले भिटाता है वह खुद भी भिट ही जाता है ॥

यह संसार क्षणभद्धुर है। इसके अन्तर्गत सभी वस्तुएँ नाशवान् एवं अनित्य हैं, केवल एकमात्र धर्म ही शाश्वत है। अतः इस सम्बन्धमें किसी कविने कहा है—

अनित्यानि शारीरणि विभवो नैव शाश्वतः ।

नित्यं संनिहितो मूल्यः कर्तव्यो धर्मसंवयः ॥

इतना ही नहीं, जिस मानवने मानव-जीवे अमूल्य तनको प्रात करके इसे स्वधर्मपालनहारा सार्थक नहीं किया, वही सोचने योग्य है।

अधुक्तेण शरीरेण प्रतिक्षणविनाशिना ।

धृष्टं यो नार्जयेद्युम्नं स शोच्यो मूढवेतनः ॥

विद्वानोंने इस संसारको चलायमान माना है, इस नाशवान् संसारमें केवल धर्म ही अचल है और मानवका सच्चा साथी है।

क्योंकि—

चलं चित्तं चलं वित्तं चले जीवनमौजने ।

चलाचले हि संखारे धर्म एको हि निश्चलः ॥

अतएव इस दुर्दान्त कलिकालमें मानवको सदैव धर्मपर सिर रहना चाहिये, तभी मानव मानव कहलानेका अधिकारी हो सकता है।

(४)

(ज्येतिविद्यम् प्रण काम्यभुरीण रथाचार्यं प० श्रीसरसनन्दजी शास्की)

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः ।

सम्यक् संस्कृतः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम् ॥

वस्तुतः मानवता के चरम विकास का अवक्ष शोत्र वेदवल मात्र धर्म ही है । अर्थात् श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित मार्गका अनुसरण, सत् आचरण, प्राणिमात्रके साथ सदाशश्वता एवं कार्यिक, वाचिक, मानसिक शुद्धि ही धर्मका मूल बताया गया है । अतः 'आत्मनः ज्येतिविद्यनि परेषां न समाचरेत्' अर्थात् स्वयंके विपरीत पद्मनेत्राला कोई भी कार्य दूसरोंके लिये मत फरो, ऐसा जो कहा गया है वह हस्ती हृषिए कहा गया है । धर्मकी परिमापमें श्रुति इस प्रकारसे कहती है—

धर्मो विश्वस्य जगतः प्रतिष्ठा धर्मिण्ट वै प्रजा उपसर्पेन्ति ।

धर्मेण पापमपनुदिता तत्पाद् धर्मं परमं वदन्ति ॥

आजके इस मौतिक सुगमे यदि मानव, मानवके साथ सदृशवदार करना नहीं सीखेगा, तो अनन्दितूर कालमें वह एक दूसरोंको खाने दीड़ने लगेगा । यही कारण है कि वर्तमानमें धार्मिकतासे रहित यह आजकी शिक्षा मानवको मानवताकी ओर नहीं ले जाकर मानवताकी ओर ले जा रही है । आप देख रहे हैं जहाँ एक और धर्मशिद्धीन मानव आण्यांजोंका निर्माण कर मानव-धर्मको समाप्त करनेमें कठिनद्वय ही रहा है, वहाँ दूसरी ओर उद्गत वर्मोंका निर्माण कर अपने दानव-धर्मका प्रदर्शन करनेको उद्यत है । ऐसी स्थितिमें आप सेविये वह 'वसुषैष फुद्धक्षम्भूम्' वाला हमारा स्नेहमय मूल मन्त्र कहाँ गया ? संसारके सभी व्यक्ति जब एक ही परमात्माकी संतुष्टि हैं और हस्ती कारण यह सम्पूर्ण विद्याल विश्व एक विशाल परिवारके समान है तो पुनः परस्परमें संघर्ष क्यों ? अतः यह जिचार केवल आज्ञका नहीं है जिसे आप नहा मान देते हैं । समय-समयपर संसारमें प्रवर्तित अनेक प्रमुख धर्मोंमें इस व्यापक तथा परमोद्दार विचारकणका यामखल पुक्कीभूत है ।

मानवता वास्तवमें मनुष्यका धर्म है । सभी मनुष्योंसे हनेह करनेका मूल भाड मानव-धर्म लिखाता है । जाति, सम्प्रदाय, वर्ण, धर्म, देश आदिके विभिन्न रूपात्मक भेदभाव-के लिये यहाँ कोई स्थान नहीं है । मानव-धर्मका आदर्श एवं इसकी मनोभूमि अल्पत्त ऊँची है तथा इसके पालन-में मानव-जीवनकी वास्तविकता निहित है । मानव-धर्म सम्यक्ता

एवं संस्कृतिकी एक प्रकारकी रीढ़की हड्डी है । इसके बिना सम्यक्ता एवं संस्कृतिका विकास कल्पनामात्र ही है ।

मानव-धर्मकी वास्तविकता एवं उपादेवता इसीमें है कि मनुष्यत्वके विकासके साथ-साथ संसारभरके लोग सुरु, शान्ति और प्रेमके साथ रहें । माणीमात्रमें रहनेवाली आत्मा उसी परम पिता परमेश्वरका अंश है । प्रत्येकमें एक ही जगन्नियन्ता प्रभुका प्रतिविम्ब दिखलायी पड़ता है, यह समझ-कर मानवकी ओर आदर्पायन। यद्यपि रक्षेते, तब ही अन्तराधिव भावनाओंका चाहे वे गलनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक हों, सर्वाङ्गीण विकास सम्भव है ।

मानव-धर्मका वाच्यात्मिकता तथा नैतिकतासे महत्वपूर्ण सत्त्वस्थन्ध है । यदि कोई मानव सदाचरणशील नहीं है, चारित्रिक अथवा नैतिक आदर्शोंमें उसकी भावना अद्वाल नहीं है, ईश्वरीय सत्तामें यदि उसका लेद्यमात्र भी विद्याल नहीं है, इसके अतिरिक्त सौबन्ध, सहृदयता, सात्त्विकता, सरलता, फरोपकारिता आदि उद्गगुण उसमें नहीं हैं तो आप यह मानकर चलिये कि असी उसने मानव-धर्मका स्वरूपज्ञन भी नहीं सीखा है । सर्वोदयके उद्गाता श्रीविनोदाने अपने गीता-प्रवचनमें एक स्थानपर लिखा है कि 'मानव-धर्मके विनाशद्वेष्टु मानवने अपने चारों ओर एक स्वार्थका संकीर्ण बोरा बना रखा है जिसके बाहर वह निकल नहीं पाता और तोड़े त्रिना, उससे बाहर निकले विना कोई भी मानव मानवतावादी नहीं बन सकता । अतः अपने हृदयको परमोद्दार तथा सरल बनानेकी नितान्त आवश्यकता है । प्रैषप्रयोगिमें स्थान करना परमापेक्षित है । जो व्यक्ति परहित-साक्षणमें लगा रहता है वही मानवताको अपना धर्म बना सकता है । मानव-धर्मकी प्राप्तिमें परम सहायक नैतिकता तथा वाच्यात्मिकताका संबल परमावश्यक है ।

मानव-नीवनका केवलमात्र उच्चतम आदर्श जैसा भगवान् व्याख्यने कहा है—

अष्टदशपुराणोपु व्यासस्य वचनद्वयम् ।

परमेष्वरः सुप्राप्य पापाय परपीडनम् ॥

—होना चाहिये । यही कारण है कि ग्रान्तीन एवं आधुनिक संत-महात्माओंने इस भूपर मानव-धर्मकी रक्षा करने एवं इसको प्रसाति देनेहेतु सद्य जेता की और उन्होंने कोटि-कोटि मानवोंके उद्धारद्वेष्टु एकमात्र मानव-धर्मका प्रचार किया । लोककल्याण तथा लोकसंग्रहका एक ही मार्ग

श्रेष्ठस्कर प्रतीत होता है और वह है मानव-धर्मका पूर्ण विकास एवं इसकी परिपालना। इसी दृष्टिसे स्वामी रामकृष्ण परमहंस, पूज्यपाद चित्तेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ तथा स्वामी दयानन्द सरस्वती आदि महापुरुषोंने मानव-धर्मके प्रचारहेतु अपनेको इसकी सेवामें ही लगाकर सर्वत्र घूम-चूमकर अधिकाधिक लोगोंको इस कल्याणमार्गपर चलनेका पूर्ण आश्रह किया। उन्होंने एकमात्र यही उपदेश किया कि परम पिता परमात्माके दरबारमें मानवयत्र समान हैं, सब भगवत्-कृष्ण एवं भगवद्गतिके पात्र हैं। सबको छल, छड़ा, कपट, पाखण्ड छोड़कर प्रेमसे रहना चाहिये। किसीके साथ भेदभाव नहीं रखना चाहिये।

मानव-धर्मके विषयमें मृग्यवेद (६।५२।५) में कहा है—

'विद्वद्वार्थौ सुमनसः स्वाम'

अर्थात् इस उर्वदा प्रसन्न रहें; क्योंकि मनःप्रसादसे समस्त आपदाएँ शान्त हो जाती हैं। दूसरे शब्दोंमें लोक-हितैषणामें लगे रहना ही तो मनःप्रसादका हेतु है जो कि सञ्चा मानव-धर्म है। इसी प्रकारसे मृग्यवेदका यह वाक्य भी तो 'पुमान् पुमासं परिपातु विद्वतः' अर्थात् मानव, मानवकी रक्षा करे मानव-धर्मका मूल भन्न है। इसी प्रकारसे प्राचीन ग्रन्थोंमें एक नहीं, अनेक सूक्षियाँ मानव-धर्मकी ओर प्रेरित करती हैं। यथा—

यावानात्मनि वैद्यत्मा तावानात्मा पश्यत्मनि ।
य एवं सततं वैद्य सोऽसृतत्वाय कल्पते ॥

यह है मानव-धर्मका स्वल्प अर्थात् जिस प्रकार सर्वके द्वारीरें ज्ञान-स्वरूप आत्मा है, वैसे ही दूसरोंके द्वारीरें भी है— ऐसी विचारणा जिस व्यक्तिकी बन जाती है वह सुधात्मको मुलभतासे प्राप्त कर सकता है।

वर्तमानमें देख रहे हैं कि मानव उर्वया दुःखावस्थाका अनुभव ही नहीं कर रहा है अपितु इससे इतना ग्रसित हो गया है कि उसके समझ केवलमात्र दुश्खार्थ ही दिखायी दे रहा है; क्योंकि वर्तमानका मनुष्य जहाँ उसे स्वयंमें निमाङ्कित सद्गुणोंका समावेश करना चाहिये, वहाँ वह असद्गुणोंके प्राप्त करनेमें ग्रगतिशील बना हुआ है। यदि इस मानव-धर्मप्रेरक सद्गुणों एवं उनकी विरोधी प्रवृत्तियोंको व्यक्त करना चाहें तो संक्षेपमें निम्नलिखित तालिका बनती है—

मानव-धर्मकी ओर ले जानेवाले सद्गुण—

- १ परमात्मामें विश्वास
- २ परोपकार
- ३ अहिंसा
- ४ सत्य
- ५ ब्रह्मचर्य
- ६ अपरिक्लृप्त
- ७ सत्त्विकता
- ८ सेवामाद
- ९ विनम्र
- १० किञ्चादक्षता
- ११ समता
- १२ त्याग
- १३ प्रेम
- १४ धार्ति
- १५ सदाशिवता
- १६ सद्विचार
- १७ क्रमा

मानव-धर्मके विपरीत असद्गुण

- | | |
|--------------------|-----------|
| प्रकृतिमें विश्वास | स्वार्थ |
| हिंसा | असत्य |
| संग्रह | विलासिता |
| अधिकार | मद |
| मूर्खता | दैद |
| शूद्र | शूद्रता |
| अशान्त जीवन | संक्षीणता |
| असद्विचार | दैर |

अन्तमें यही निवेदन कहँगा कि मानव-धर्मकी ओर प्रतृत फरनेवाले उपर्युक्त सद्गुणोंको ग्रहण करनेमें ही सबका कल्याण है।

(५)

(लेखक—श्रीयुक्त विष्णुदत्तनी पुरोहित)

शिष्यके प्रणिपात करनेपर आचार्यका यद्दी आशीर्वाद होता है—‘वत्स, तुम्हें धर्म-लाभ हो।’ इस एक शब्द ‘धर्म-लाभ’के साथ ही भगवान् आचार्यने मानो शिष्यको कृतार्थ कर दिया। बास्तवमें कृतार्थता धर्मका रूप है। जीवनमें दिव्यता, दिशालता, उद्घाता तथा सत्यके गति निर्मल प्रेम-धर्मकी सहज अभिव्यक्ति है। सर्वसमर्थ परमेश्वरसे विश्वासमें नित्य स्थिति ही वास्तविक रूपमें धार्मिक जीवनकी कसौटी है। दिव्यता, विशालता, प्रेम आदि जब कभी दूषित बातावरणके अधिक प्रभावसे तिरोहित होने लगते हैं, तभी उनकी स्थिति सुदृढ़ करनेके लिये परमेश्वर प्रकट होते हैं; क्योंकि समस्त लोक धर्मसे धारण किये जाते हैं और धर्मका द्वारा सम्पूर्ण अस्तित्वके हासका चोतक है। इसलिये धर्म प्राणीका आधार है एवं धर्म प्राणीका जीवन है।

परमेश्वरकी कृपासे मानव-जातिमें समय-समयपर ऐसे

महापुरुष प्रकट होते आये हैं, जिन्होंने अपने सम्पूर्ण कुलोंको त्यागकर धर्म-लाभके लिये समस्त जीवन अर्पण कर दिया। सत्य-जीवनको अपनाकर परमेश्वरके समर्क समर्पित किया और उनके चैतन्यमें ही स्थित रहे। ऐसे भगवत्यशयण नहापुरुष अब मी वरीर-धरणाधिक्षितक एवं उसके उपरान्त मी स्त्रियोंमें सागवत्सत्त्वके प्राकृत्यका प्रयत्न करते हैं। व्यष्टि कहीं-कहीं अनुचायियोंने नाना भवोंका रूप देकर चालाकिताको बदल दिया है, किंतु नूलवः समग्रलपते समस्त सत्पुरुष केवल एक धर्म—परमेश्वरके प्राकृत्यके साधन हैं। वे सभी महापुरुष नानव-जातिके लिये घन्दनीय हैं एवं उनके सहुपदेश ग्राह्य हैं।

आज संसारमें जो नाना भत्तात्त्वात् देते हैं उनमें भी अन्तर देखल इतना ही है कि एक पक्ष किसी एक पहलूको चिरोप महत्व देता है तो अन्य पक्ष किसी दूसरेको। यात्रामें अपने सम्पूर्ण जीवनको, अपनी सम्पूर्ण शक्तियोंको भगवदुन्दुखों करना धर्म-लाभकी प्रमुख प्रक्रिया है। जिसके जीवनका प्रयाह केवलमात्र परमेश्वरकी ओर होता है, उससे स्वार्थ, संकीर्णता, द्रेष, भव, कूला आदि सहज ही दूर हो जाते हैं और उसे सर्वात्मक करनेका सहस नहों करते। व्यक्तिमें परमेश्वरका छुद्द-सुद्द प्राकृत्य ही उसे सच्चा धार्मिक पुरुष बनाता है।

इसी दिव्य-जीवनकी प्राप्तिके प्रयत्न विकिध धार्मिक प्रक्रियाएँ हैं। उनके प्राकृत्यके उद्घातक तत्त्वोंको प्रोत्साहन दिया जाता है तथा उसके चिरोधी तत्त्वोंसे उदासीन रहनेशा प्रयत्न किया जाता है। व्यष्टि मूल रूपमें दिव्यताके प्रतिवक्षी भाव भी उस अनन्त सत्त्वा पञ्चका परमेश्वरके ही हैं, तथापि भगवान्के साक्षात् प्रकट होनेमें अवरोध उत्तम करनेवाले स्वभावके होनेके कारण उनसे उदासीन रहना उचित बताया जाता है।

इस प्रकार हृत देखते हैं कि धर्म सत्य-विवेचन-सुन्दरपूर्णका शुद्धत्वमें रूप है और उसे प्राप्त करनेके लिये उसके मूल निवास सक्षिदानन्द, परमेश्वरकी और जीवनकी वृत्तियोंको प्रवाहित करना मानवका नुस्खा जर्त्त्व है। अनादिकालसे भगवत्-प्राप्त महापुरुष यहीं कहते आये हैं कि अनन्या जीवन भगवान्के समर्पण नेत्रा चाहिये। दिव्यताविरोधी भावोंको त्यागकर सम्पूर्ण भेद भर्म सार्वमौम नूलतत्त्वा परमेश्वरको पूर्ण इरना, सब कुछ उनका मानकर सम्पूर्ण जीवनको

उनका चेतनन्यन्त्र बनाकर अतीत करना मगवत्-सनर्पणका मौलिक रूप है। सबोंमा परमेश्वरसे ग्रेम, उनसे प्रार्थना, उनका नाम-सारण-कीर्तन, उनका ध्यान आदि मगवत्समर्पण जीवनके द्योतक हैं; क्योंकि जिसने अनन्तको प्रणिधान किया, उसमें उपर्युक्त भाव सहन ही प्रकट होते हैं एवं कर्मयः उसका जीवन उच्चेशामी तथा दूसरे द्वाढोंमें धार्मिक बनवा जाता है।

वही मानव-धर्मका वथार्थ रूप है। तनोगुण, रजोगुण और यहाँतक कि सत्त्वगुणसे भी अतीत स्वयंसंलग्न सक्षिदानन्दकी अभिव्यक्ति ही धर्म है। इसीसे प्राणी कृतार्थ होता है। जिल्ला भागवान् भगवद्गुण-ग्रास महापुरुषमें धर्मका प्राकृत्य होता है, उस निर्माता, जिल्ला मगवत्-चैतन्यमें स्थित महापुरुषकी हृषि पृथ्वीपर उपस्थिति नान्य ही प्राणियोंके लिये परम कल्याणकी हेतु है। जिस धरतीपर वह रहता है वह कृतार्थ होती है; जिस वासुदे वह श्वस लेता है वह वासु कृतार्थ होती है और समत्त सुषि परम भगवत् दिव्यता-का स्वर्ण पाकर अन्तर्न्त कृतार्थ हो जाती है।

ऐसा धर्मलभ नहापुरुष देह रहते भी भगवान्के दिव्य विशद्में लीन रहता है और देहस्वामके पश्चात् भी भगवान्ने ही विलीन हो जाता है। इस प्रकार मानव ही क्या प्राणीनामका धर्म भगवत्स्वरूपमें स्थिति है।

(६)

(लेखक—शोचन्द्रशेषरदेशी जायनीर्थ, साहिलगिराम)

धर्म एव वृत्ति वृत्ति धर्मो रक्षति रक्षितः ॥

(नुस्खा ८ । १५)

‘धर्मः शब्दका व्यापक अर्थ है। प्रत्येक पदार्थमें धर्मका अस्तित्व ज्ञात होता है; क्योंकि धर्मरहित वस्तु ही नहीं। आजकलके कई लोग धर्म चाल्द सुनते ही अनादरकी भावना व्यक्त करते देखे जाते हैं। इसका कारण यही है कि उन्होंने धर्मके व्यापक अर्थको संकुचितरूपते ग्रहण किया है। अतः धर्मके व्यापक अर्थको जानना अत्यावश्यक है।

वेद आगम, स्मृति, पुराण तथा महामाओंकी अनुभव-पूर्ण उल्लिखित यही सिद्ध होता है कि अनन्तविचित्र रक्षन्-स्व जगत्का एकमात्र आलमन धर्म है। व्यष्टि धर्म सत्त्वमें उपस्थित है तो भी वह सबको मालूम नहीं पढ़ता है। यदि नानव-धर्मको दीड़कर कोई मननाना आचरण करे तो वह मनुष्यत्वको खो बैठता है। साथ ही पश्च वन जाता है।

आहारु निदा, भय और मैथुन—ये सब पशुओं तथा मनुष्योंमें प्रायः समान ही हैं; केवल धर्म ही मनुष्यमें अधिक है। धर्म न रहे तो गतुष्य पश्च ही है।

धर्म क्या है ?

‘धर्म’ शब्द ‘धृ’ धारुसे बना है। धृ धारु धारण, प्रेषण और अवस्थान आदि इस अर्थमें युक्त होता है। इसी धृ धारुसे ही ‘धर्म’ निष्पत्र हुआ है। यह मानी हुई बात है कि कारणके गुण कार्यमें प्रविष्ट होते हैं; अतएव धृ धारुका व्यापक अर्थ भी धर्म पदमें पाया जाता है। धर्म अबद्धी परिभाषा इस प्रकार है—‘शिष्यत इति धर्मः’ ‘धार्यत इति धर्मः’, ‘पतितं पतन्तं पतिष्ठन्तं धर्त्तीति धर्मः’—सारा प्रपञ्च जिसके द्वारा धारित होता है, जो प्रपञ्चका आश्रय-स्वरूप है, जो अपनेमें गिरे हुए, गिरते हुए और गिरनेवाले मनुष्योंको अवनतिके मार्गसे घनाकर उत्तिकी और ले जानेकी शक्ति धारण करता है; वही धर्म कहलाता है। एवं जो व्यक्तिसे लेकर समाज तकनी व्यवस्था रखनेका सुखमय मार्ग दिखानेका सामर्थ्य रखता हो, जिसमें व्यक्ति, समाज तथा ग्रामके कल्पाणके लिये नियम, नीति, न्याय, सत्य, सदृश, सदाचार, सुखभाव, स्वार्थत्वाग, कर्तव्य-कर्म और ईश्वरभक्ति आदि उत्तम गुण विद्यमान हों तथा जो लौकिक और अलौकिक श्रेयका साधन हो, वही वास्तविक धर्म कहलाता है, वही परिपूर्ण धर्म है।

धर्मकी आवश्यकता

पुरुषार्थकी प्राप्ति ही पुरुषका परम लक्ष्य है। पुरुषार्थका अर्थ पुरुष-प्रयोजन छोटा होता है। पुरुष-प्रयोजन अनन्त होते हुए भी भारतीय तत्त्ववेच्छाओंने धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—ये चार ही माने हैं। इन चार पुरुषार्थोंमें धर्म पहिला पुरुषार्थ है। अन्तिम सोपानतक पहुँचनेके लिये प्रथम सोपानपर चढ़ना ही पड़ेगा, इसलिये मोक्षलीपी परम और तुरीय पुरुषार्थकी प्राप्तिके लिये धर्मलीपी प्रथम पुरुषार्थकी सिद्धि अव्याधक है।

मोक्ष साध्य है जो धर्मादि तीन साधनोंके द्वारा सिद्ध होता है। अतः हमें धर्मात्मा बनना चाहिये। त्रिना धर्मके कुछ भी सिद्ध नहीं होगा; अधार्मिकका जीवन सुखमय नहीं बनेगा, धर्मरहित देश और अरण्य बन जायगा; धर्मशूल्य साम्राज्य स्थिर नहीं हो सकेगा। जैसे जड़रहित पैड़में शाखाएँ, पत्ते, फूल तथा फल उत्पन्न नहीं हो सकते, वैसे ही धर्मरहित

जीवन देश और साम्राज्यमें अर्थ, काम और मोक्षलीपी पुरुषार्थ प्राप्त नहीं हो सकते। और मारतीय संस्कृतिकी यह महान् देन है कि धर्मको प्राणोंसे भी अधिक तमझना एवं उसका आचरण करना अत्यावश्यक है।

धर्मका मूल स्रोत

वेद और आगम धर्मके मूल ग्रन्थ हैं। मन्त्रादि स्मृति और धर्मसूत्र आदि ग्रन्थ भी धर्मका विवेचन करते हैं, जिन्होंने वेद और आगमोंका अनुसरण किया है। इनमें मनुस्मृति अनमोल धार्मिक ग्रन्थ है, जिसमें सारे मानव-समाजके कल्याणोंका ग्रतिपादन किया गया है। उसमें सामान्य तथा विशेष धर्मोंका विवरण मिलता है। मानवता ही सामान्य धर्म है। उसीका ज्ञान होना सबके लिये मुख्य विषय है।

मत-सत्तान्तर

इस दुनियामें सब मानव एक ही तरहके होते हुए भी कई कारणोंसे मानवोंमें अनेक मत-सत्तान्तर बन गये हैं। किन्तु ही मत-सत्तान्तर बनें, लेकिन मानवताल्प धर्म एक ही है; क्योंकि कोई भी मत ही उसमें मानवताकी नितान्त आवश्यकता है। मानवता ही मानवको बचाती है। केवल तत्त् मतोंके नियम, और आचरण आदिमें भिन्नता मिलती है।

मत या धर्म आचार-विचार तथा उपासना-प्रद्वतिल्प उपाधिसे भिन्न-भिन्न पाये जाते हैं। जैसे भिन्न-भिन्न नामकी नदियाँ भिन्न-भिन्न सागरसे अलग-अलग दिशाओंमें बहती हुई अन्तर्में प्राप्तव्य स्थान समुद्रमें लौन हो जाती हैं, वैसे ही चिरसुख, चिरशान्ति, मोक्ष या सत्यान्वेषणकी सिद्धि पाना ही सब मतोंका चरम लक्ष्य है। सब मतोंकी उपासना आदि पद्धतियाँ नदीके बहावके-जैसे उपाधिमात्र हैं। ये उपाधियाँ किसीको नापसंद होती हैं और किसीको अमीष बनती हैं; पर हर एक आदमीका कर्तव्य यह है कि अपने-अपने मनके मूल उद्देश्यको जानना और तदनुसार आचरण करना, वही सहृति एवं सर्वकर्ता निहित है। तभी सर्व-धर्मका समन्वय पूर्ण हो जाता है।

प्रधान धर्मका स्वरूप

एकताकी सिद्धिके लिये प्रधान या सामान्य धर्मको ठीक-ठीक समझे और अनुष्ठान करे। इसीसे सम्पूर्ण विश्वमें अखण्ड सुख मिलता है। राजविं भगुने इस मानव (प्रधान) धर्मके स्वरूपको नीचेके श्लोकमें उल्लेख किया है—

स्तुतिः क्षमा द्वमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः ।
धीर्विद्या लत्यमक्षेत्रो दशकं धर्मलक्षणम् ॥
(मनुष्यति ६ । ३२)

धैर्य, सामर्थ्य रहनेपर भी क्षमा करना; मनोनिग्रह करना; चोरी न करना, पवित्रता, इन्द्रियनिग्रह करना; धर्मविश्वक द्वुद्धि विद्या, सत्यमापण करना और क्रोध न करना—ये दस गुण भानवताकी समानताको कथम रखते हैं। ये ही परमर्थ-साधिण्यतामें कारण हैं और विश्वमानव-धर्मके सौपान हैं। इन मानव-धर्मके सौपानपर चढ़नेके बाद ही मानव-जन्मकी सफलता एवं सार्थकता प्राप्त होती है। अतः इन्हीं इस गुणोंको समझना और ग्रहण करना अत्यन्त आवश्यक है।

इन महागुणोंको जाननेके लिये सरल उपाय यह है कि धार्मिक महापुरुषोंके चरित्र और उपदेशोंको सुनना और समझ करके तदनुसार आचरण करना। मानव-धर्म जब-जब हास होने लगता है तब-तब सत्युत्तम जन्म लेकर महाधर्म या मानव-धर्मका उपदेश देते हैं। भगवानसे प्रार्थना है कि सबको धर्माचरणकी दुद्धि दें।

धर्मं चर । सर्वे जनाः सुखिष्यते भक्षन्तु । सत्यं लिखं सुन्दरम् ।

(७)

(लेखक-ख० श्रीकृष्णराम वैष्णविंशति, पंचुल)

[अनुवादक—श्रीपन्दितशैष्ठ बैकटेट्वर्ड, 'साहित्यरक']

लाजकल संसारमें ज्ञानकी अत्यन्त दुद्धि अवश्य हुई है, परंतु मनुष्यने बाह्य-व्यपञ्चके बारेमें जितना ज्ञान प्राप्त किया, उतना आत्माके बारेमें नहीं। 'आत्मा है'—इसे कहनेवाले बहुत हैं, किंतु उस आत्माको जाननेवाले बहुत ही कम पाये जाते हैं।

मानव और पशु-पक्षीके निर्माणमें अन्तर

'मानव'के दो चरीर होते हैं—(१) पशु-पक्षी, जन्म आदिकी तरह स्थूल-देह और (२) आध्यात्मिक ज्ञान-देह।

स्थूल-देहका निर्माण समस्त प्राणियोंके देह-निर्माणसे फिल नहीं है। इसलिये मनुष्यके स्थूल-देहके धर्म, अन्यान्य प्राणियोंके देह-धर्मोंके समान ही होते हैं।

भानव और पशु-पक्षीमें अन्तर एवं भानवकी विशेषता परंतु मनुष्यकी एक दूसरी देह होती है, जो आध्यात्मिक ज्ञान-देह है। सभी प्राणियोंमें केवल मनुष्यको ही यह ज्ञान-देह प्राप्त हुई है।

'मानव' शब्दका निर्वचन

महात्मा श्रीविद्याप्रकाशनानन्द स्वामीजीने 'मानव' शब्दका निर्वचन इस प्रकार किया है। 'मानव' शब्दमें 'मा' का अर्थ 'व्यज्ञान' या 'विविद्या' है और 'व्य' अक्षरका अर्थ है 'विवरण' एवं 'व्य' अक्षरका अर्थ है 'वर्तन करो या वर्ताव करो'। मानव शब्दका भाव यह हुआ कि अज्ञन या अविद्यारूपी मायाको हटाकर आधा-साक्षात्कारके द्वारा परमेश्वरका सामीक्ष्य प्राप्त करनेवाला ही 'मानव' कहलाने चाहिये है।

नीति (सदाचार) से युक्त रहना ही गानवात्मका स्वामानिक गुण है। नीतिवाहा हीना अस्वामानिक है। मधुर सत्त्वे युक्त रहना आमका स्वामानिक धर्म है। रस-विहीन हीना अस्वामानिक है। द्योरीका स्वस्त्र रहना स्वामानिक धर्म है, रोगोंसे दुर्बल बन जाना अस्वामानिक है। इसी प्रकार नीतिः ज्ञान आदिसे आनन्दका अनुभव करना आत्माका स्वामानिक गुण है। पाप एवं अज्ञान आदिसे आनन्दित न होकर पीड़िका अनुभव करना अस्वामानिक है।

भानवका धर्म

जैसे हर-एक मनुष्यका सर्वप्रथम धर्म अपने शरीरको स्थूल रखना है। वैसे ही अपनी आत्माको रोग-पापोंसे सर्वथा दूर रखना भी उसका प्रधान कर्तव्य है। रोगअस्त होनेपर औपधोके सेवनसे अपने आरीएको स्वस्त रखना जैसे मनुष्यका धर्म है, ऐसे ही आत्माके पाप और अज्ञान आदि दुर्गुणोंके आश्रित होकर दुखी होनेपर उसे 'अनुत्ताप'रूपी औपधोके पाप-विमुक्त बनाकर जिसे सुख और आनन्द प्राप्त करनेका प्रश्न करना भी उसका सुख्य धर्म है।

'नीति' (सदाचार) ही मनुष्यका लक्षण है। सदाचार ही मनुष्यका परम धर्म है और सदाचार ही मनुष्यको परमेश्वरके स्वेहसे बाँधनेवाला लूँगा है। अतः सदाचारवर्त्तनके द्वारा ईश्वर-सामीक्ष्य पाकर नित्यानन्द प्राप्त करना ही मनुष्य-जीवन-का परम प्रयोजन है। अतः हर-एक मनुष्यको नीति—

सदाचार-भाग्यके द्वारा परमेश्वर से मिलकर अद्वितीय—अलौकिक आनन्द पाने के लिये निरन्तर प्रयत्न करना चाहिये ।

मुक्ति-भागी

पापोंसे शिशुक होकर, अच्छे बर्ताव से ईश्वर-सामीप्य पाकर अलौकिक आनन्दका अनुभव करना ही 'मुक्ति' है । अर्थात् पापोंसे और पशुत्वसे छूटकर शाश्वतानन्द प्राप्त करना ही 'मुक्ति' है । आत्माके गुणोंकी वृद्धि करके उसके अनुकूल बनाना ही 'मुक्ति-भागी' है । सभी शक्तियोंकी उच्चति समान रूपसे होना ही 'वृद्धि' है, एककी वृद्धि करके दूसरेकी अनन्ति करना नहीं । उदाहरणके लिये हमारे जगरीकी उच्चति देखिये । शरीरके सभी अङ्गोंकी उच्चति समान रूपसे करने तथा सबके सुख द्वेषको 'वृद्धि' कहते हैं, न कि किसी एक वेद, सिर या और आदि किसी एक अङ्ग-की उच्चतिको । केवल किसी एक अङ्गकी वृद्धि होना सो रोगका लक्षण है । आत्माके विषयमें भी हमीं तरह जान, नीति (सदाचार), मेस और ईश्वरके प्रति भक्तिमें समान रूपसे वृद्धि होनी चाहिये । ऐसी वृद्धि प्राप्त करके और पापोंसे परिहार पाकर नित्य-देवा-भावसे ईश्वर-सङ्ग-नुज्ञाका अनुभवकर, पाप-विसुख होकर नित्यनन्द प्राप्त कर सकता है । ईश्वर तो समस्त कल्याण-गुणोंका सामर है । जीवात्मा 'नीतिराज'के प्रबाह है । जैसे तदियाँ समुद्रमें मिलने जाती हैं उसी प्रकार हमारी आत्माओंको भी परमेश्वरसे मिलनेके लिये ईश्वर-मुख्य होकर निरन्तर यात्रा करते रहना चाहिये । हमारी आत्माका धर्म है 'नीति'—सदाचार । इस नीतिकी वृद्धि करते-करते हमारी आत्माएँ परमेश्वरके समीप पहुँचती हैं । 'नीतिकी वृद्धि करना ही देवत्वकी ओर जाना है । अतः मानुष-नाशकारी हर एक प्राणीको प्रतिदिन, प्रतिज्ञन परिचुद और निर्मल बनते हुए हृदयके अंदर विश्वमान देवांशकी वृद्धि करनेकी कोशिश करनी चाहिये । कोई भी आम वा पेश करना पड़े, परंतु नानवको 'नीतिभागी' नहीं ढौड़ना चाहिये ।

नीतिकी महत्त्व

नीति ही मनुष्यका लक्षण है । नीतिका अभाव ही पशु-

का लक्षण है । यह विषय ज्ञानकर हमें नीतिवद्व होकर जीवन व्यतीत करना चाहिये । विश्वके समस्त मानव-कोषिको आपसमें मिलानेवाला प्रत्येक आचार—प्रत्येक साधन 'नीति' ही है । यह साधन 'नीति' अत्यन्त पवित्र एवं समस्त गुणोंके बाधनेमें दृढ़तर है । नीति-मार्गसे ही सभी लोग आपसमें भाई बन जाते हैं । पर यदि ये नीति-सूत्र दृट यथे तो एकताका मङ्ग होकर सब लोग आपसमें शत्रु बन जायेंगे । उपर्युक्त छोटेसे शब्द 'नीति'में महान् एवं गहरे भाव लिये हुए हैं । इसके अन्तर्गत सत्य, करण, क्षमा तथा परोपकार आदि सभी गुण विद्यमान हैं ।

हृदयके वेशसे जैसे लौह डड़ जाती है, वैसे ही नीति-वलके सामने दुनियाके समस्त अनावश्यक गुण मिट जाते हैं । नीतिमान् पुरुष सभी दृष्टियोंसे सर्वोल्लङ्घ छूट जाते हैं । अतः नीतियलकी हृषिके अधम जातिके लोग भी पूजनीय बन जाते हैं । ईश्वरके अनुग्रहसे प्राप्त सर्वश्रेय सभी विषयोंमें नीति-रत्न ही महोच्चर है ।

(१) धर्ममें रति, (२) युक्तायुक्त-शानको ज्ञानकर उसके अनुसार युक्त आचरण करनेवाला निर्मल मन और (३) अन्तरास्त्राके शुद्ध लपदेशोंकी भगवद्वज्ञा समस्तकर आचरण करनेकी शक्ति आदि मनुष्यके लिये पुण्यरज्ञ हैं । सारे विश्वमें भी इनसे बद्रकर कोई महोक्षत गुण नहीं है । देवताओंमें भी इनसे बद्रकर कुछ भी महत्तर नहीं है । ये सद्गुण ही नीति हैं—सदाचार हैं । इन समस्त गुणोंके सम्पूर्ण रूपसे होनेपर मनुष्य-देवताओंको कोई भी अन्तर नहीं होता । तब हमारा भूतल ही सर्व बन जाता है ।

हमारे हृदयनगरनपर जो युक्तायुक्त विवेचना-शान शोभायमान हो रहा है, वही परमेश्वरके अनुग्रहसे हमें प्राप्त हुआ 'सत्य-चेद' है । इस सत्य-चेदके अनुसारसे ही अन्य वेदोंकी आवश्यकतानुसार स्वना हुई है । हृदय-फलकपर अङ्गित यह नीति ही परमेश्वरके साथ हमारा वन्धुत्व सापितकर हमें नित्यनन्द-सम्प्राप्त्य प्राप्त करनेके लिये प्रेरित करती है । यही शानोदय हमको ईश्वर-गुण-सम्बद्ध बनायेगा । इस शानके प्रकाशसे जिसके हृदयमें 'धर्म-रति' स्थापित होगी, वह उसी दिनसे ईश्वरके साथ अलग न होनेवाली वन्धुताको प्राप्तकर अपने हृदय-फलकपर सुवर्ण-अक्षरोंमें अंकित की गयी परमेश्वरकी आशाके बद्ध होकर अन्तरास्त्राये शास्ति विषयोंके अनुसारणको वान्धवनन्दकी प्राप्तिका मूल (बड़) मानकर, हुनियाके विषयोंकी परवा न करके, अपनी अन्तरास्त्राको प्रसन्न करनेके लिये प्रयत्न करता है ।

अन्तरात्माका उपदेश ही यात्रानन्दधारी वीज है

अन्तरात्माके उपदेश ही 'यात्रानन्द'रूपी महायुक्तके लिये वीज हैं। यदि हम इन उपदेशोंका अनुसरण करें तो कृतार्थ होकर उत्तरोत्तर सत्य-पदको प्राप्त करेंगे। परं यदि आत्माकी धोयणाको अनसुनी करके, उसके उपदेशोंका निरस्कार करेंगे तो हमें दुःख-भाजन बनकर परमेश्वरके अनुग्रहसे बचित हो जाना पड़ेगा। अन्तरात्माके उपदेशोंके अनुसार व्याय-वर्तन प्राप्त करनेवाले सभी आपसमें भाई बन जायेंगे। इस विरादीके लिये लौकिक-अविकार धन-सम्पत्ति और ऊँचे स्थानदानकी आवश्यकता नहीं। और इनके रहने-पर भी सभी विरादी प्राप्त नहीं होतीं। इस विरादीके लिये एक 'नीति-रतिश्च' ही अवश्यकता है। अत्रेक लौकिक सम्पत्तियाँ पानेपर भी यदि भनुमत नीतिनालौ बन जाय तो वह धर्मकी हासिले पश्च-प्राप्त बनकर ईश्वर-प्राप्तिके लिये अवोग्य बन जायगा।

पापोंसे संग्राम करनेवाला, कष्ट-नष्ट तथा वाधाओंसे विच्छिन्न न होकर अचञ्चल रहनेवाला और नीतिमार्गपर ही अठल रहनेवाला मनुष्य महामानव समझा जायगा। कठोरोंके समय भी धर्मनागर्भि न हठनेवाला ही सच्च मानव है। जब पातकस्त्री भयंकर भूत-पिण्डाचोंका नाश हो जायगा, तभी आत्माको अनिर्वाच्य तथा अनुपवैक्य आनन्द प्राप्त होगा।

सल्कारैके आचरणमें कुछ मनोधर्मोंकी आवश्यकता है। हनमें प्रथम है (१) मनकी दृढ़ता और (२) आत्म-गौरव। मनकी दृढ़ता प्राप्त करनेके लिये 'आत्मगौरव' की बड़ी आवश्यकता है। अपनी धृक्षिणे विश्वास रखना ही 'आत्म-गौरव' है।

दूसरोंके मत हमारे मतसे भिन्न रहनेपर भी, उनको अनादर न करके। उचित गौरव देना हमारा धर्म है; परंतु दूसरोंके मतसे हमारे मत अच्छे एवं ठीक होनेका विश्वास रहनेपर भी दूसरोंके भवयसे अपनी टेक नहीं छोड़नी चाहिये। जिसके पास दृढ़ निश्चय करनेकी शक्ति नहीं होगी, वह पराधीन बन जायगा।

कार्यशूलको 'दृढ़-निश्चय' शक्तिकी आवश्यकता है। ग्रहण-जाकि एवं साधन-सम्पत्ति पर्याप्त मात्रामें रहनेपर भी कह मनुष्योंमें चाकूशूलताके सिवा कार्यशूलता दिलायी नहीं पहली। कार्य-भौवता पुरुषोंका लक्षण नहीं है। जो सल्कार्योंका आचरण करना चाहते हैं, उनको दृढ़-उत्साह और साहस्रोंसे भय छोड़कर अपने आदर्शोंका अनुकरण

करना चाहिये। कहनेकी अपेक्षा करना थेष्ट है। अनः काम करके दिखाना चाहिये।

उपदेश देसेके पहले वह सौन्दर्या चाहिये कि अपने उपदेशोंमें दूसरोंको लाभ होगा या तुकड़ान। यदि लाभ मिलनेकी सम्भावना हो तो उपदेश देना चाहिये, नहीं तो सुपर रहना अच्छा है। आजकल भारतमें उपदेशकोंकी संख्या बहुत अधिक हो चवी है, परंतु उसके अनुकार न्यय-आचरण करनेवालोंकी संख्या बहुत कम है। महापुरुषोंकी जीवनियाँ पढ़ते समय या भाषण मुनने समय लौगेंदे छुदयोंमें महान् कार्य करनेकी अभिलापा उत्तम होती है, परंतु ये अभिलाप्याएँ सदा नहीं रहतीं। उन भाषणोंकी धारोंको आचरणमें उत्तराना होगा। सल्कार्योंका अनुदान ही मानव-धर्म है।

परोपकार-परायणता

दूसरोंका उपकार करना मानव-धर्म है। निःत्वार्थ-तुदिसे सभीं तेवा करनी चाहिये। किसीको भी अपने कामका बदला पाने, नाम कराने अथवा नाम या फलकी कामना नहीं रखनी चाहिये।

अच्छे काम करते समय, सम्भव है कुछ लोग परिहास करें, भासित-भासितसे दरावें, बन्धुलोग गीती-गीटी बातें कहकर हमें सहनायोंसे हटाकर असल्कायोंकी ओर लगानेका प्रयत्न करें, परं किसीकी बातमें आकर सल्कार्यका लाग कभी नहीं करना चाहिये।

मानव-जीवनमें चरित्र या शील-स्वमावका प्रधान स्थान है। विनय, लदाता, लालचमें न पड़ना, धैर्य, सत्य-भाषण, वचनका प्रतिपालन करना, कर्तव्य-परायणता यदि महान् गुण हर-एक मनुष्यमें रहने चाहिये। इन सब गुणोंका समावन ही मानव-धर्म है।

उपर्युक्त सभी गुणोंका अर्जन करना और उनका अनुसरण करना एवं 'नीति-सिद्धान्तपर' सुदृढ़तासे प्रतिष्ठित रहना 'मानव-धर्म' है। जो इस प्रकार अपने कर्तव्योंका पालन कर सद्गुणोंको अपनाता है, वही 'मानव' है। सद्गुणोंको अपनानेमें ही 'मानव-कल्याण' निहित है। जब सभी मानव अपने कर्मोंका ठीक-ठीक समाप्तन करने लगें तभी देश तथा समाजकी व्यापार्थ उत्तमि और मानव-जीविका वृद्धि होगी और इसीके साथ-साथ मानवके 'हृजन' करनेग भगवान्का महान् उद्देश भी पूरा हो जायगा।

दलोंमें भारत, पारस, प्रील, रोम, जर्मनी, स्कैपिनोविया आदि देशोंकी ओर निकल पड़े। पहले कहा जाता था कि तकालीन असम्य भारतीय आदिम अधिपति लिखण (दस्तुओं) को छन्होंने परालित किया। परंतु आनकल ट्यूबी (Toynebee) पिगट (Piggott) आदि लेखकोंका मत ठीक हस्तके विपरीत है। इनके मतसे आर्य अभियाच्ची निम्नलकड़ी असम्य जातिके लोग ये अहङ्कार और मोहन-ज्ञो-दहोके निवासी सुसम्य थे, परंतु उनसे पराल हो गये। असम्य आयोनि विजित लिन्यु-उपत्यकाकी सम्भावना बहुत कुछ ग्रहण किया। वैदिक (सनातनी) धर्म और संस्कृति हस निश्चित सम्भावना परिणाम मात्र हैं।

वे दोनों ही मत अनपूर्ण हैं। अनेक प्रमाणोंमें सुन्दर का उल्लेख करके यह स्पष्ट किया जाएगा कि वैदिक वर्णांशमी जाति इन देशमें ३००० ई० पूर्वसे बहुत पहले से ही विश्वास कर रही है।

१. ज्योतिषका प्रमाण—

(क) भारतमें कुप्रचलित युविहिरान्द और कल्यन्द कुरक्षेत्रके पुद्दके बार अनुमानतः ३१०२ ई० पूर्वे प्रचलित हो गया था। अतएव २५०० से १५०० ई० पूर्वके वीचका 'आर्य-अधिपति' निरान्त असम्य बात है।

(ख) बेली (Bailey), वाल्स (Wallace) आदि पाश्चात्य विज्ञानी ने मणितद्वारा प्रमाणित किया है† कि भारतीय

* This method of interpretation, however, is one which grew up at a time when the Harappa civilization was still undiscovered and when it was assumed that the Aryans invaders of India encountered only a rabble of aboriginal savages, who could have contributed little save a few primitive animistic beliefs to Vedic thought, nothing to the structure of later Indo-Aryan Society. But the Aryan advent in India was in fact the arrival of barbarians into a region already highly organized into an empire based on a long established tradition of literate urban culture. The situation is, in fact, almost reversed; for the conquerors are seen to be less civilized than the conquered. { Pigot, Prehistoric India (Penguin p. 257) }

† Astronomical tables in India must have been constructed by the principles of Geometry. Some are of opinion that they have been scraped from the observations made at a very remote period, not

ल्योतिषकी सारणी व्यामितिकी उदायतासे अति प्राचीन कालमें, यहाँतक कि ३००० वर्ष ई०पूर्वे निर्णीत और लिपिबद्ध हो गयी थी। अतएव वैदिक सम्भावना उससे बहुत पूर्व वर्तमान थी। इसमें कुछ भी संदेह नहीं है।

२. यजुवेदीय वंशवाक्यण

शतपथ ब्राह्मणके अत्यर्गत वृद्धारण्यक उपनिषद् महाभारत युग (३१०० ई० पूर्व) से बहुत पहले आग्राह हो गया था। इस उपनिषद्में मधुविद्या (व्रक्षविद्या) के वंशवाक्यमें जो गुरु-शिष्य-परम्परा पायी जाती है, इससे सिद्ध होता है कि इस विद्याके आदि गुरु दधीर्चि श्रीषि पौत्रिमात्र नुनिके धज्वां पीढ़ीके आदिपुरुष थे। गुरु-शिष्यकी एक पीढ़ीमें ५० वर्षका उमय मानना असंगत न होगा। अतएव देखा जाता है कि पौत्रिमात्रका उमय अनुमानतः ३५०० ई० पूर्व माननेपर दधीर्चि उनसे $50 \times 45 = 2250$ वर्ष पूर्व अर्थात् ५८५० ई० पूर्वमें विद्यमान थे। अतएव अन्ततः ५००० ई० पूर्व वैदिक सम्भावना मात्रमें थी, यह विश्वास करना दुकिहीन नहीं है।

३. सिन्यु-उपत्यकाकी सम्भावना प्रस्तरिक प्रमाण

मोहन-ज्ञो-दहो, हङ्कार आदि स्थानोंमें जो प्राचीन चंद्रावशेष प्राप्त हुए हैं, वे २५०० वर्ष ई० पूर्व या इससे भी प्राचीन हैं। यह लिन्यु-उपत्यकाकी सम्भावना वैदिक वर्णांशम सम्भावना थी, वह निम्नलिखित प्रमाणसे प्रतिशोधित होती है—

(क) इन स्थानोंमें प्राप्त कुछ नूर्दियोंमें व्यासनवदस्त, नासाग्रहणि आदि पायी जाती है। आठन चोगका एक प्रधान अङ्ग है। आठन लगाकर बैठनेकी पद्धति भारतके बाहर कहीं कभी न थी। यह चीन, जापान और हिन्दूशिया आदिमें इस देशसे ही गयी है। नासाग्रहणि मनको अन्तर्मुखी करनेका एक वैग्निक उपाय है। अतएव लिन्यु-उपत्यकाकी संस्कृति वैदिकी थी।

(ख) एक सौल मुहरपर कलसी, काष्ठ आदिके साथ सम्भावना दर्श अद्भुत है।

less than 3000 years before the Christian era, (This has been conclusively proved by Bailey.) (Prof. Wallace, in the Edinburgh Encyclopaedia Geography, p. 191)

(ग) खुदाईके फलस्वरूप कितने ही प्रत्यरमव शिवलिङ्गः पाये गये हैं । वैदिक सनातनधर्मको छोड़कर अन्यत्र शिवलिङ्गकी पूजा कहीं नहीं होती ।

(घ) जो सील-मुहर ध्वंसावशेषमें पाये गये हैं, उनमें जो लिपि है, उसका पाठोद्धार पाश्चात्य देशमें अभीतक नहीं हुआ है । किन्तु सिलचरनिवासी पण्डित श्रीमहेन्द्रचन्द्र काव्यतीर्थ सांख्यार्थवने^१ कुछ सील-मुहरोंका पाठोद्धार किया है ।

एक सीलमें जो चिन है, उसमें एक बुक्षपर दो पक्षी चित्रित हैं । एक पक्षी फल खा रहा है, दूसरा कुछ खाता नहीं है, केवल देख रहा है । इस चित्रमें सम्भवतः ईश्वर और जीवविषयक एक सुप्रसिद्ध वैदमन्त्रका भाव अङ्गित हुआ है—‘शा सुपर्णा’ इत्यादि ।

(नक्क २।१।६४।२०)

सांख्यार्थ महाशब्दने इसकी लिपिको पढ़ा है । २ सुवर्ण (मुद्रा) । ‘शा सुपर्णा’ के साथ ‘२ सुवर्णकी’ च्वरिका सुन्दर मेल है और चित्र मी सम्भवतः इस मेलके कारण इस प्रकारसे अङ्गित हुआ है । यदि यह अनुमान सत्य है और यही सम्भव है तो अन्ततः यह प्रसापित होता है कि ‘सिन्धु-उपत्यकाकी सम्भवा’ इस वैदमन्त्रके बहुत बादकी है तथा सिन्धु-सम्भवाके लोग वैदिक धर्मका ही पालन करते थे ।

और मी कलिपय सीलोंका पाठोद्धार करके सांख्यार्थ महाशब्दने दिखला दिया है कि वे सब मी विमिष्म सुद्राओंके भानके शोतक हैं—यथा, ३ धरण, नव निष्क, शुण चरण, रजत द (दी) नारु फल आदि । ये सारे मुद्रा भासमें प्राचीन युगमें व्यवहृत होते थे तथा मनुस्मृति आदि ग्रन्थमें इनका उल्लेख प्राप्त होता है । उनके मतसे ये सील व्यवसायी लोगोंके हारा हुंडी या वल्लादि-विक्रियके द्रव्यादिके ऊपर मुद्राङ्कनके लिये व्यवहृत होते थे । यही सिद्धान्त द्युक्तिसंगत है । पिगट (Piggot) ने भी ‘Prehistoric India’ नामक ग्रन्थमें इसके अनुरूप ही मत प्रकाशित किया है ।^२

* Certain large, smooth, cohesive stones unearthed at Mohenjodaro and Harappa were undoubtedly the Lingas of those days. This association (with the worship of Siva) however seems more probable.

(Mackay, the Indus Civilization P. 77-8)

† (M. C. Kavayatirtha Sankhyavasya, Mohen-jodaro seals deciphered p. 9)

‡ ‘Harappa traders by about 2900 B. C., must have had their resident representatives in Ur and Lagesh, and other centres of trade using the characteristic seals on merchandise and documents.’ (Piggot, Prehistoric India, p. 210)

(४) इन दोनों नगरोंके ध्वंसावशेषमें ईटसे बैठे कृप चर्तमान हैं । उनके चारों ओर असल्य मिट्टीके चर्तनोंके टुकड़े राशिल्पमें पड़े हैं । इसको समझनेमें कष्ट नहीं होता कि जल पीनेके बाद वह फेंक दी गयी होगी या तो बढ़ाकोड़ दी गयी होगी ।*

संसारकी दूसरी किसी जातिमें, या किसी देशमें, सर्वांस्पर्श-विवेक या आहारशुद्धि और आचार जिसको आजकल व्यङ्ग्य करके कूँझपर लगते हैं, नहीं था और न है । केवल वर्णाभग्नी जातिके शास्त्रानुसार मिट्टी-के चर्तनोंको एक बार ओठसे लगानेसे ही वह उन्छिष्ट हो जाता है और उसे फेंक देते हैं । सिन्धु-उपत्यकाके अधिवासी वैदिक सनातन (हिंदू) धर्मको मानते थे और आचारका पालन करते थे—यह ईटेकूटे मिट्टीके चर्तनोंसे पूर्णतः प्रसापित हो जाता है । इसके लिये किसी तर्की आवश्यकता नहीं और न संदेहके लिये ही कोई जगह नहीं है । अतएव वर्णाश्रम-धर्म इस देशमें ५००० वर्ष हैं पूर्वमें तथा उससे बहुत पहलेसे विद्यमान था, यह निश्चय हो जाता है ।

४. मेगास्थनीजका लेख

ग्रीक सम्माट सेल्प्यकूसके दूत मेगास्थनीजने मौर्य-राज्यसमारें कई वर्ष (ई० पूर्व चतुर्थ शताब्दीके अन्तिम मासमें) व्यतीत किये थे । उनके निबन्ध विशेष महत्वपूर्ण हैं । उन्होंने लिखा है कि भारतमें बहुतसे लोग और जातियाँ हैं, परंतु उनमें कोई बाहरसे आया हुआ या विदेशी वासिन्दा नहीं है । † १५०० है० पूर्वीतक मारतमें ‘मार्य-अमियान’ हुआ होता तो उसको यायः १००० वर्षके भीतर ही लोग भूले नहीं होते ।

अतएव बाहरसे ‘भायो’के अभियानकी कहानी बिल्कुल

* Round such well-heads have been found innumerable fragments of mass produced little clay cups, suggesting that, as in Contemporary Hinduism, there was a ritual taboo on drinking twice from the same cup, and that each cup was thrown away or smashed after it has been used. (Ibid, p. 171)

† It is said that India, being of enormous size, when taken as a whole, is peopled by races both numerous and diverse, of which not even one was originally of foreign descent, but all were evidently indigenous, and moreover that India neither received a colony from abroad, nor sent out a colony to any other nation.

(Mac Crindie, “Ancient India” Megasthenes, p. 51-54)

शी निर्मूल है और कपोलकल्पना मात्र है। अनादिकालसे, ऐतिहासिक मतसे भी, अन्तरः सुदोष्यं प्रायः छः हजार वर्षोंके उत्तरसे वर्णोभासी भारती जाति भारतसंघमें आस करती आ रही है, इसमें संदेह नहीं है। बहुत-से लोगोंने दूसरा धर्म ग्रहण कर दिया है। परिवारनियोजन, बहुविवाह-नियेष आदिके द्वारा हिन्दुओंकी संख्या घटानेकी चेष्टा ही रही है। तथापि आज भी इनकी संख्या नगद्य नहीं, बल्कि ४० कोटिये लोक हैं।

वर्णोभासी अमरत्व और आपेक्षिक गुरुत्व, विभिन्न ग्राचीन और नवीन सम्प्रताके

साथ तुलना

ज्ञातिमेदने भारतका सर्वनाश किया है—यह बात नितान्त भ्रमपूर्ण है। वर्णोभासी वैदिक सम्प्रताके प्रकृत महत्व और अष्टत्वको समझनेके लिये विभिन्न ग्राचीन और नवीन सम्प्रताओंके

साथ इसकी तुलना करना आवश्यक है। अनन्त कालसिन्धुमें न जाने कितनी जातियाँ, संस्कृति और सम्भवाएँ, धर्म और सम्प्रदाय बुद्धिमुद्रके सम्बन्ध उठकर बिलीन हो गये हैं। केवल एकमात्र वर्णोभासी सम्भवा और वर्ष नाना प्रकारके आंधी-दूफानका आवात सहरे हुए आज भी गौरवके साथ टिका हुआ है तथा पुनः राजनीतिक स्वतन्त्रताओं भी प्राप्त करनेमें समर्प्य हो गया है।

प्राक्षाल्य पुरातत्त्वविदों और ऐतिहासिकोंकी गवेषणा और अभिमतके अनुसार व्याख्यानिक इतिहासका अनुसरण करके सुख-मुख्य प्राचीन और अवाचीन सम्भवाओंकी ल्परेखा तथा संक्षिप्त विवरण मीठे दिया गया है। कहनेवाले आवश्यकता नहीं कि राज्य-विस्तार, जनसंख्या आदिको जो आंकड़ा दिखलाया गया है, वह आपाततः ढीक होते हुए भी केवल आनुमानिक है।

पृथ्वीकी सम्प्रताका रेखा-चित्र

ईत्तवी संख् पूर्वमें

४०००	३०००	२०००	१०००	१०००	११६५
------	------	------	------	------	------

दुर्मेरियन सम्भवा	वैविलोनियन मिस्री स.	मितानि	हिन्	ग्रीक (भूनानी)	चैलिङ्गन सम्भवा
					कासाहत
वर्णोभासी सम्भवा	चीनी	मेदिचकन	वाइसमण्डीय	हिन्दौरात-हित्ती सम्भवा	अलंरियन सम्भवा
					ईरानियन सम्भवा
			इस्लामी	पूरोपियन अमेरिकन	रोमनक सम्भवा
					माया
			ऐर		ऐर

पाश्चात्य लेखक ईसाई हैं। ईसाई मत यहूदी धर्मकी ही एक शाखा है। इसा और उनके शिष्यगण यहूदी थे। अतएव पाश्चात्य जातियोंका धर्मदर्शन सेमिटिक है। इस्लाम-धर्म भी यहूदी और ईसाई मतपर अबलम्बित है। अतिरिक्त इसके पाश्चात्य संस्कृतिका भूलखोत ग्रीक और रोमन ऐतिहास है। अग्रेजी, फ्रांसीसी, जर्मन, इटालियन आदि भाषाएँ भी मूलतः ग्रीक और लैटिनसे निकली हैं; इनकी वर्णालालका इतिहास भी सदतुरूप है। अतएव वर्तमान यूरोपीय और अमेरिकन सभ्यता सेमिटिक (यहूदी), पैगन (Pagan), ग्रीकरोमीय तथा नार्दिक (Nordic), उत्तर यूरोपीय—इन सब संस्कृतियोंकी खिचड़ी है। विभिन्न देशोंके नस्तारियोंके अवाभ गिलनके फलतुरूप इन सब समाजोंमें संकरता भी पर्याप्त हुई है।

केवल एक सी वर्ष पहले पाश्चात्य लेखकगण अपने ईसाई तथा यहूदी धर्मग्रन्थों (New and Old Testaments) के अनुसार दृढ़तापूर्वक विश्वास करते थे कि पृथ्वीकी सृष्टि और मानवजातिका उद्भव केवल ४००४ ई० पूर्व, अर्थात् आजसे प्रायः ५९६१ वर्ष पूर्व हुआ था। सभातन्त्रधर्मके पुराणोंके अनुसार शुगमेदकी वास सुनकर उनमें से बहुतेरे नाक-मौं चिकोङ्नेसे बाज नहीं आते थे।

परंतु नृत्य, पुरातत्व, भूगर्भ आदि शाखोंकी दृथा मौगलिक और ऐतिहासिक नाना प्रकारकी वैज्ञानिक गवेषणाके फलतुरूप क्रमशः यह निष्पत्तपूर्वक ग्राणित हो गया है तथा और भी हो रहा है कि केवल ६००० वर्ष ही नहीं, पृथ्वीकी सृष्टि कोठिकोठि वर्ष पूर्वकी बदना है। अन्ततः इ लाख वर्ष पूर्व भी इस भूपृष्ठपर मनुष्यजातिका अस्तित्व था। ईसाई

धर्मग्रन्थ वाहिल (Old Testament) में वर्णित सुहितनाकी वास विल्कुल कल्पित और मिथ्या है। यह शात अब पाश्चात्य लेखकबहुनं भी स्वीकार करनेके लिये वाप्त हो गये हैं।

वद्यपि वर्णांशमी मारतीय वैदिक सभ्यताका उदय और भी अनेक सुगोपूर्व हुआ था; तथापि केवल ४००० वर्ष ईसवीपूर्वसे इसका आरम्भ वहाँ लिया गया है। इसका प्रचाह अविच्छिन्नतापसे सुदीर्घ ६००० वर्ष पूर्वसे आजतक चला आ रहा है। केवल सुमेरीय ही नहीं, हिण्डाइत, (ग्रीक तथा इटालियन एत्रस्कन (Etruscan) लोग भी हिण्डाइत वंशके हैं) कासाइत, मिस्री, ईरानी, मेसिस्कन, माथा तथा चीन और दक्षिणपूर्व एशियाके अन्यान्य देशोंकी सभ्यताके ऊपर भी वैदिक सभ्यताका प्रभाव स्पष्ट दीखता है।

इस रेखाचित्रसे स्पष्ट जात हो जाता है कि आधुनिक पाश्चात्य ऐतिहासिक मतसे भी पृथ्वीकी सारी सभ्यताओंमें मारतीय (वर्णांशमीय) सभ्यताने असाधारण और सर्वप्रधान स्थान अधिकृत किया है।

आधुनिक सभ्यता, जैसे इस्लामी, यूरोपीय, अमेरिकी आदि किस प्रकार थोड़े दिनकी है—यह भी इस चित्रसे स्पष्ट हो जाता है। वस्तुतः केवल खायित्वकी दृष्टिसे देखनेपर भी वर्णांशमके साथ अन्य किसी संस्कृतिकी तुलना नहीं हो सकती।

नीचे विभिन्न सभ्यताके उत्थान और पतनका समय, उद्भवस्थान, चरम उत्कर्षका समय, रात्य और संस्कृतिका विद्वार तथा जनसंख्याका एक संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। इस तालिकासे विभिन्न आचीन जातियोंकी सभ्यताकी तुलनात्मक प्रवानता, जापेश्विक गुणत्व तथा परिणति समझमें आ जायगी। मारतीय, हिन्दू और चीनकी सभ्यताके सिवा अन्य सभी सभ्यताएँ एकत्रासी झुस हो गयी हैं।

* If we are Jewish or Semitic in our religion, we are Greek in our philosophy, Roman in our Politics, and Saxon in our morality.
† Maxmuller, What India can teach us ? p. 20.

चादशाह अलाउद्दीनको यह समाचार मिला। उसने राणा हमीरको पास संदेश भेजा—‘मर्मी अपराधीको शरण देना तत्काली तौहीन करना है। रणथम्भौरकी ईट-से-ईट धजा दी जायगी, वहीं तो हमारे अपराधीको लैटा दो।’

राणा हमीरका उत्तर सीधा था—‘ऐसा नहीं हो सकता कि बोई भार्त मनुष्य प्राणरक्षके लिये राजपूत-की शरण आये तो क्षत्रिय उसे निराश कर दे। राजनाश अथवा प्राणभयसे हम धर्म नहीं छोड़ेगे। जो विपस्तिसे दुखीको बचाये नहीं, वह क्षत्रिय कैसा?’

सरदार लोग राणासे सहमत नहीं थे। उनका कहना था—‘चादशाहसे शकुना लेना ठीक नहीं। यह भगवान् सरदार मुसलमान है। यह अन्तमें अपने लेगांसे मिल जायगा।

राणा हमीर कुक लाते तो ‘हमीर-हठ’ विव्यात जैसे होता? वे बोले—‘मेरा धर्म यह नहीं है कि शरणगति कौन है, क्या किया उसने अथवा आगे क्या करेगा—इसका विचार करूँ। लोभ अथवा भय-से मैं कर्तव्यका त्याग नहीं करूँगा।’

अलाउद्दीनने राणाका उत्तर पाकर भारी सेना भेज दी; किंतु रणथम्भौरका दुर्ग लोहेका चना सिद्ध हुआ। शाही सेनाके छक्के छुड़ा दिये राजपूतोंने। कई चारका आक्रमण व्यर्थ गया तो सेनाने दुर्गपर

घेरा डाल दिया। पाँच वर्षतक घेरा डाले चादशाह-की सेना पड़ी रही। उसके सैकड़ों सैनिक मारे गये; किंतु उसे धरावर सहायता मिलती रही।

रणथम्भौरके दुर्गमें भोजन समाप्त हो गया। सैनिक घटते ही जा रहे थे। मंगोल सरदारने कहा था राणासे कहा कि उसे चादशाहके पात्र जाने दिया जाय, उसके कारण राणा और चिनाश न करायें; किंतु राणाने उसे हर बार रोक दिया—‘आपको एक राजपूतने शरण दी है। प्रश्न रहते जापको वहीं नहीं जाने दूँगा।’

दुर्गमें उपवास चल रहा था। एक बड़ी चिता चनायी गयी दुर्गके प्राङ्गणमें। दुर्गके भीतरकी सब नारियाँ उस प्रज्वलित चितामें प्रसन्नतापूर्वक झूट-कर सती हो गयीं। पुरुषोंने केशरिया बछ पहिने और दुर्गका छार खोलकर शाकुपर झूट पढ़े। उनमेंसे एक भी उस युद्धमें जीता नहीं बचा। केवल वह मंगोल-सरदार पकड़ा गया। अलाउद्दीनने उससे पूछा—‘तुमको छोड़ दूँ तो क्या करोगे?’

सरदार बोला—‘हमीरकी संतानको दिलीका तस्वीरेके लिये तुमसे जिदगी भरतलबार बजाऊँगा।’

कूर अलाउद्दीन भला उसे जीवित छोड़ सकता था?

—छ०

कठोर वाणीसे मर्मधात मत करो

नारन्तुवा स्वात्र नृशंसवादी न हीनतः परमधाददीत ।

ययस्य वाच्चा पर उद्विजेत न तो बद्रे रुशां पापलोप्याम् ॥

वाक्सायका वदनाक्षिष्पतन्ति यैराहतः शोचति राज्यहानि ।

परस्य वा मर्मेतु ये पतन्ति तान् पण्हस्ते नावसृजेत् परेषु ॥

(महामारत अनु० १०४ । ३१-३२)

दूसरोंके मर्मपर आवात न करें कूरतापूर्ण वात न लोले, औरेंको नीचा न दिखाये। जिसके कहनेसे दूसरोंको उद्गेह होता है, ऐसी रक्षाहसे भरी हुई वात पापियोंके लोकोंमें ले जानेवाली होती है। अतः वैरी चात कभी न लोले।

चचनल्ली शण मुँहसे निकलते हैं, जिनसे आहत होकर मनुष्य यत्नदिन शोकमें पड़ा रहता है। अतः जो दूसरोंके मर्मस्थानोंपर चोट करते हैं, ऐसे चचन चिह्नन् पुरुष दूसरोंके प्रति कभी न कहें।

सत्य सनातन विश्वधर्म

[The True Eternal Universal Faith]

(लेखक—दासगीति)

श्रीभगवानका शाश्वत भागवत-धर्म एक है। वह अखण्ड है, सार्वमौम है, अविनाशी, अनादि और अनन्त है। वह भगवानसे सदा अभिज्ञ है। वह सबै भगवत्वरूप ही है। उस शाश्वत अमृतमय धर्मप्रवाहमें जो मीं किसी भी प्रकार आ पड़ता है, वह भगवानको प्राप्त करके ही रहता है, वह भगवानको प्राप्त हो चुका—लौक वैसे ही जैसे अमर्हको जानेवाली गाहीमें जो बैठ गया, वह बर्म्मी पहुँच ही चुका, पहुँचकर ही रहेगा। यही शाश्वत भागवत-धर्म अनेक नाम-रूपोंसे प्रसिद्ध होते हुए भी अपने मूल रूपमें सदा एक अखण्ड बना रहता है। वेद-काल-न्यायानुसार इसीकी अंशिक प्रसिद्धि ही जिमिन सम्प्रदायोंका रूप धारण किया करती है। इसी एक शाश्वत धर्मकी धोषणा समव-समधर्म अनादिकालसे आजतक अनेक महर्षि-मुनि, अद्वातुरु पैगम्बर और धर्मार्थी आदि करते चले आये हैं। संसारके सभ धर्म, भक्त, सम्प्रदाय इत्यादि इसीके अभिज्ञ अङ्ग हैं। यह सबका प्राण है, सबका समझस्थ करता है, सबको सूक्ष्मकर करता है और सबका मित्र है। यही सत्य सनातन विश्वधर्म—The True Eternal Universal Faith है।

परिभाषा—जो सत्य है अर्थात् तर्क और विश्वानकी कलौटीपर खण्ड उत्तरता है, अनुमतिसिद्ध तथा विश्वके सब चमोहारा अनुगोदित है, वही सत्य है। जो अपौरुषेय है, अनादिकालसे अखण्ड रूपमें चला आया है, वही सनातन है और जिसका विश्वके किसी धर्म, अवसारु आचार्य और पैगम्बर आदिसे कोई विरोध नहीं है, जो सबका सम्मान करता है, जो सम्पूर्ण विश्वको आश्रय देता है, वही विश्व-धर्म या सार्वमौम-धर्म है। यही इस सत्य, सनातन विश्व-धर्मकी परिभाषा हुर्दृ। अब तो कोई भी धर्म विश्व-धर्म होनेका दावा कर सकता है। पर इस प्रकारके सत्य, सनातन विश्व-धर्म अर्थात् शाश्वत भागवत-धर्मके दर्शन हमें सर्वधर्म वैदेशोंमें वैशान्तर्दर्शनमें और मगवद्रीतामें ही होते हैं।

धर्मकी अनिवार्य आवश्यकता—जो हस चराचर सृष्टिको धारण किये हुए है, वही धर्म कहलाता है अर्थात् जिसके द्वारा यह सब अन्युदय और निःश्रेष्ठताको प्राप्त होता

है, वही धर्म है। तब फिर ऐसे धर्मसे दिमुख होकर कौन रह सकता है? मानव-जीवनमें संतुलन शापित करनेके लिये धर्मकी निरान्त आवश्यकता है। अपने-अपने अधिकारके अनुसार जीवनमें धर्मका समावेश करनेपर ही समझस्थ और संतुलन खापित होकर शान्ति प्राप्त ही रहती है, अन्यथा नहीं।

देश-काल-न्यायानुसार धर्मका रूपान्तर—जित शाश्वत वैदिक विश्वानका विकास करके आज भौतिकवाद इतना उन्नत हो गया है, उसी वैदिक अध्यात्मवादका समयोक्ति विकास करके हमें अध्यात्मवादको इतना ऊँचा उठाना होगा कि वह भौतिकवादको अपने काढ़ये कर ले। पूर्वकालमें हमने ऐसा किया भी था। राम और रात्रि इसके ऐतिहासिक वैशानिक प्रमाण हैं। ऐसा किये विना केवल भौतिकवाद, संशयवाद, साम्यवाद और नास्तिकवाद और फिर विषयलिप्सावादको केवल कोसते रहनेसे काम न चलेगा। हमें कर्म-क्षेत्रमें आना पढ़ेगा। कठिन परिश्रम, तप और त्यागका अनुष्ठान करके प्रात्म आत्मशक्ति जीवानी होपरी, जिसके प्रकाशमें भौतिकवाद अपने-आप मूल वह जायगा और अपूरुष एवं तम होद्दि विरागी—की उक्ति चरितार्थ होने लगेगी। जिस प्रकार जर्मनीमें कठिन परिश्रम करके विश्वानकी उन्नति की, उसी प्रकार हम भारतीय भी कठिन तप करके अध्यात्मवादकी उन्नति कर सकते हैं। ऐसा हम करते आये हैं। यह हमारी चपोली है।

आजका धर्म—आज विश्वको जिस ज्ञानिक, सार्व-भौम प्रत्यक्ष धर्मकी आवश्यकता है, उसकी पूर्वी केवल हमारा सत्य, सनातन विश्व-धर्म ही कर सकता है। इसके सक्रिय विश्वज्यामी प्रचार-प्रसारके लिये हर भारतीयकी कठिनदृ ही जाना चाहिये। अपने-अपने अधिकार और वौघताके अनुसार हस सत्य, सनातन विश्व-धर्मको विश्वज्यामी जीवानमें यथाशक्ति सहयोग देनेका हड़ संकल्प आज ही कर लेना चाहिये।

पाश्चात्य देशोंमें धर्मप्रिणासा—आजकल हम भारतीय आम तौरपर पाश्चात्योंके प्रति यह दोपारोपण करते हैं कि वे अधारिक हैं, धर्मको नहीं मानते। किंतु

बात ऐसी नहीं है। पाश्चात्योंने केवल बहुत बड़े अनुभातमें कहुर पंथवादी, साम्राज्यिक इसाई धर्मका परित्याग लिया किया है; किन्तु आज उनकी धर्मपिण्डा संसारमें सर्वाधिक बढ़ी हुई है, धर्मके लिये सब प्रकारकास्याग करनेको बैतैयार है, किन्तु उन्हें चाहिये वैज्ञानिक धर्म। ऐसा धर्म उन्हें कौन बताये ? उन्हें भारतसे वड़ी आवाया थी; किन्तु स्वतन्त्र भारत तो आज पाश्चात्योंकी झट्टन चाटनेपर, उनका अनुकरण करके उनका उल्टा चेला बननेपर उतार्ल हो चुका है। परिणामतः पाश्चात्य धर्मपिण्ड दिनोंदिन हताश होते जा रहे हैं।

विश्वकल्पण किस बातमें है—भौतिकवादी पाश्चात्योंकी यह धर्म-पिण्डा मिटानेमें ही आज विश्वका कल्पण है, अन्यथा वे महान् प्रश्नलघूल कर्मठ पुरुष मीण मुख्यार्थके द्वारा जहान्नुति करके विश्वको चौपट कर डालेंगे !

भारतका हित—हर राष्ट्रकी कोई न-कोई वास्तविकता और विशेषता हुआ करती है। उसे ही अपनाये रखनेमें उस राष्ट्रका हित है। उसीमें उसका जीवन निहित रहता है। इस परम पुनीत विश्वगुह भारतकी विशेषता और वास्तविकता धर्म, अच्यात्मकात्, सम्यता और संस्कृतिमें है। इसे अपनाये रखनेमें ही हमाय हित है। इसे छोड़कर हम अवश्यमेव विनाशको प्राप्त हो जायेंगे, हम कर्त्त्वके भी न रहेंगे और वैसा हो भी रहा है। यदि शीशातिशीश हमें अपना हित करना है तो शीशातिशीश हमें अपने जन्मजात जागहुर-पदपर आरुद्ध हो जाना चाहिये। सम्पूर्ण विश्वको हमारे प्रचण्ड अच्यात्मवादसे मुग्ध करके उसमें दीक्षित कर देना चाहिये। इसीमें हमारा परम हित है।

धर्मान्तर धर्म-संकट और उससे बचनेके उपाय—
यों सो संसारके सभी धर्म आज भौतिकवादकी अभिवृद्धिके कारण संकटग्रस्त हैं, किन्तु हिंदू-धर्म सबसे अधिक है। इसके तो कोई रक्कही नहीं है, लोहे के अल्पतर कमजोर हैं। कारण इसका केवल एक ही है। हमारी श्रद्धा परिवर्त्मनासुरी हो गयी है। हम पाश्चात्योंके अन्धानुकरण करनेवाले अनुचर मक्क हो गये हैं। अतः ‘‘हम जाने क्या ही की मात्रा’’ की उक्तिके अनुसार यदि पाश्चात्य लोग धार्मिक हों जायें तो हम भी ही जायें। इसलिये हमें चाहिये कि हम पाश्चात्योंको

अधिक-से-अधिक संख्यामें हमारे अनुशायी बनायें। उनके सक्रिय सहयोगसे ही भारतमें धार्मिक पुनर्जागरण हो सकता है, अन्यथा नहीं। चिना ऐसा किये आजका धर्म-संकट बहुत उपाय करनेपर भी गिरनेका नहीं।

अन्तराष्ट्रीय धर्मदूत-संघ—एक दिन वह था, जब भारतने प्रचण्ड धर्मदूत-ओज (Missionary Spirit) जागत् करके सम्पूर्ण विश्वको भारतीय धर्ममें दीक्षित कर दिया था। वह हमारे उक्तपर्यका उक्तम युग था। आज हम उसी धर्मदूत ओज (Missionary Spirit) को खोकर दीनः हीन, म्लान हो गये हैं। आज भारत स्वतन्त्र है, अतः हमें पुनः प्रचण्ड धर्म-प्रचार-ओज जागत् करना होगा। हमें अन्तराष्ट्रीय धर्मदूत-मैत्रोंकी स्थापना करके संसारके सम्पूर्ण देशोंमें योग्य धर्मदूतों (Missionaries) को मैजना होगा। हमारा जो राष्ट्रीय उत्थान हमारे हजारों वैज्ञानिक और सियाही नहीं कर सकते, वह केवल कुछ थोड़े-से धर्मदूत कर सकेंगे।

हरिनाम और भगवद्गीताका विश्वव्यापी प्रचार—हरिनाम-प्रचारकी महिमासे हमारे ग्रन्थ मेरे पढ़े हैं। गीताके प्रचारकी महिमा भगवान्ते स्वयं गीतामें बतायी है, किन्तु अधिक है वह। पर हम वैसा कहाँ कर रहे हैं, हमाय साधु-समाज और साधक-समाज कहाँ हधर ज्ञान दे रहा है। भारतीयो ! उठ सड़े होओ ! विश्वभरमें हरिनामकी शैँज उठा दो। भारतके धर-धरमें और विश्वके कोने-कोनेमें भगवद्गीताका संदेश सुना दो। तुम भगवान्के वचनानुसार उनके सर्वसे अधिक प्रिय होओगे; फिर तुम्हारी रक्षा और सहायता वे स्थों न करेंगे, अवश्य करेंगे। तुम अवश्य सफल होओगे। उठ सड़े होओ, शीशातिशीश कटिवद्ध हो जाओ। सम्पूर्ण विश्वको सत्य-सनातन विश्वकर्म्ममें दीक्षित कर दो। भगवान्का नाम और उमका प्रिय संदेश गीता उब संसारको सुना दो और इस शकार सहज ही भगवान्के सर्वाधिक प्रियज्ञन बन जाओ ; इसीमें तुम सबका कल्पण है। इसीमें भारतका सर्वाधिक हित है और इसीमें विश्वका वास्तविक कल्पण है। यही आज भगवान्की सबसे बड़ी सेवा है, जिसकी आज उन्हें और सम्पूर्ण मानवजातिको अत्यन्त आवश्यकता है। यही सत्य-सनातन विश्वधर्मका सक्रिय प्रचार है।

धर्मका सत्य-स्वरूप

(लेखक— राजयोगी दौ० स्वामी श्रीनालदत्तजनन्दजी एम० थी०, पञ्च० पर्व० थी०, पञ्च० थी०, आश० पर्व० पर्व०)

अव्यक्त स्वरूपसे मैंने व्यक्त रूप धारण किया, फिर मैं बाचना-का विकार हुआ और पञ्चमहाभूतोंके महाप्रासादमें आकर फैस गया। यहाँ आधि, व्याधि और उपाधियोग्य पछाड़ा गया, उन्होंने मुझे अभिभूत कर दिया। तब मुझमें सद्विवेक शुद्धि जाग्रत् हुई। फिर मात्रानाओंमें उफान आने लगी। विचार-खिंचे उनका भव्यता किया और उनमें से जो शनसूर्य नवमीव सरवन्में फैनके साथ ऊपर आया, वही आप सबको व्याधरूपमें मंट कर रहा हूँ। मात्र जबदर्शी किसीसे न की जायगी। जिनमें सरिंच्छा हो, उन्हें ही वह पचेगा, परंतु पड़ेगा (वे हैं अवश्य ग्रहण करें, भरपेट खाकर तूस दें, किसी तरहका संकोच न करें)। संकोचसे हानि होगी। संकोच प्रगतिका शूषु और विपरीत गतिका गिरि है।

अपने आस-पास चारों ओर फैले प्रकृति-सौन्दर्यर दृष्टि दौड़ाइये। उसकी प्रतिक्षणकी हलचलमर उत्कर्षासे ध्यान दौड़िये। उसकी बदलती अवस्थासे ध्यानमर एकरूप बनिये और उसकी परियोग्यता अनुपम स्थितिका बारीकीसे अवलोकन कीजिये।

वह देखिये, पूर्वकी ओरसे धीरे-धीरे मध्यर गतिसे ऊपर उठ रहा सूर्योदय ! वह देखिये, ताहतात्योपर स्वच्छन्द ढोलनेवाली रम्य कलिकाएँ ! नीदसे बोय घक्किके अर्धोन्मीलित नेत्रहृषकी तरह वही स्वस्तासे धीरे-धीरे वे अनेक पंखुड़ियाँ खोले जा रही हैं। ध्यानमरमें उन पंखुड़ियोंके बीच छिपा परिमलमुक्त परागकुम्भ अब मुख्य दीराने लगा। उसमें भी सुधामूलक आकण्ठ ग्राणन कालेके लिये गुजार करते हुए आनेवाला वह अलिंगटल ! सभी कुछ एक ही क्षणमें।

सुग्रन्थ दीर्घती नहीं। उसकी अनुभूति केवल शास्त्रोंको ही होती है। फिर भी कितना महा और महावाल बनाने-वाले हैं वे परम-कण और उसका वह परिमल, जिससे नलिन मनको सद्मावनका व्याकार प्राप्त होता है और वह अपनी मस्तीमें झूमने लगता है। पर क्षणमरमें जाने कहोते गुजार करते भ्रमर आते हैं और वे चरणवरको हँसाने-खिलानेवाले फूलोंके परिमलमुक्त मकरन्द विन्दुओंका पान करके तत्काल जिस रस्ते वाये, उसी रस्ते गुंजार

करते हुए ही निकले जा रहे हैं। हम केवल औले मूँद ढोलते ही रहते हैं।

वह साया क्या है ? इससे हमें क्या शिक्षा मिलती है ? कैसा वोध मिलता है ? प्रत्येकके कर्तव्य-कर्म मिल-मिल हैं, प्रत्येक धर्म मिल-मिल ! कारणः धर्म ही हर-एकसे कर्म-कर्तव्य करा लेता है। धर्मके हाथों कर्मकी सार्वभौम सत्ता है। धर्मके कारण ही एक वार नियतकर्म तत्त्वक, जबतक कि वह साकार स्वरूपमें बना हुआ है, बदल नहीं सकता।

माताके उदरसे जन्म ग्रहण करनेवाल प्रत्येक जीव अपने साथ धर्म लेकर ही जन्मता है। जन्म लेना भी एक धर्म ही है। विना ज्योतिके अकाश नहीं। विना अग्निके धूम नहीं। इसी तरह विना धर्मके कर्म नहीं। पहले धर्म और उसके बाद कर्म !

धर्म चराचरकी प्रत्येक वस्तुमें अद्वयरूपमें निवास करता है। धर्मके विना कोई ज्ञानमर भी जी नहीं सकता। जिसमें धर्म नहीं, वह पार्थिव है। जहाँ धर्मका आगत स्थागत नहीं, वह भूमि भी ध्यानवाल है !

ध्यानन सभीके लिये सभिष्ठसे देखनेका एक महान् आदर्श केन्द्र है। वहाँ पहुँचनेपर रक और रावरमें पूर्ण साम्ययोगका दर्शन होता है। वहाँ किसीकी हृतवृद्धि ही नहीं रहती। उस परिवेश भूमिमें सभी जीवोंको अद्वैत-मायनका परिषाठ पढ़ाया जाता है। केवल वह पाठ लुके जीवनपर अन्तिम क्षणके बाद वह भी उतना ही सत्य है ! हॉ, वहाँ जानेके लिये लोग डरते अवश्य हैं और वही मय अधर्मका चोतक है।

किसीकी स्मृता नहीं। किसीसे देप नहीं। न कोई बड़ा है, न कोई लोटा ही है। कहीं आवाज नहीं, कहीं शोरगुल नहीं। कितना रम्य और कितना ग्राणत्व है वह सत्य ! कोई भी आये और अग्नि माताकी पवित्र शोदसे शयनकर धीर-धीरे महानिद्राका अपरिमेय आनन्द लूट ले। किसीको वहाँ रोक नहीं। किसीको वहाँ अटकाय नहीं। इसमा अवश्य है कि आत्मक मायामोहके इस

असार वातावरणमें जीव पञ्चभूतोंको जो पोशाक पहनता है, लो अपने-अपने स्वार्थवद्य धूलि-धूलित हो गयी है, अग्निमाता उसे पसंद नहीं करती। कारण, वह ठहरी अत्यन्त पवित्र, अत्यन्त शुचिभूत ! मायामोहके अनेक संतापोंसे त्यक्तर, प्रत्यक्ष अनुभव लेकर, असार जीवनसे क्षयकर उदाके लिये चिरविश्वासार्थ आये हुए दुखी-जीवोंको क्या वह थों ही अपने पवित्र, विशुद्ध अङ्गपर चिरविश्वासार्थ स्थान देती है ! पहले ही जीवनभर कर्तव्य-कर्म करके यह बेचारा जीव यक जाता है। उस समय निद्रामाता उसका संगोपन करती है। किंतु जब यह जीवनभर अधिक थक जाता है और फिर विश्वासका सुख चाहता है, तब खोजनेपर भी अग्नि-माताकी गोदके सिद्धा वैषा एकान्त, नितान्त स्वल कहीं नहीं मिलता। इसलिये वह उस स्थितिमें निर्जन स्वय धारण करता है, अचेतन थनता है। उसे अग्निमाताके पास जो जाना है। किंतु उस समय उसमें एक कदम चलनेकी भी चक्षि नहीं रहती। ऐसे समय मृत्यु उसे मूर्छित कर देती है। उसके शतिवाचव उसे उठाकर ले जाते हैं और यह पूर्ण विश्वास हो जानेपर कि अब यह होशमें नहीं या तकता और न किसी तरह हल्काल ही कर पायेगा, इमश्वासमें अग्नि-माताके हवाले कर देते और वापस लौट जाते हैं। फिर वह जीवात्मा अग्नि-माताकी गोदमें मर्त्या टेककर विश्वास लेता है। उसे गाढ़ निद्रामें सोया और मृत्युसे पूर्व मूर्छित किया देल। ममतासी अग्नि-माता अपने कुमुम-कोमल करसे उसके ऊपरका वह साधा परिधान निकाल डालती है, जिसे वह लच्चाके संरक्षणार्थ पहने रहता है और जो वासनामय देहके पञ्चभूतसे बने सुन्दर वस्त्र कहे जाते हैं। फिर वह माता उसपर अपनी चाला-छाला कैलाकर इस पार्थिव, असार संसारका सदाके लिये नासा तुड़ाकर उसे ऐसी नशी दुनियामें ले जाती है, जहाँ उसे अद्वैत, शाश्वत, चिर सुख-समाधान और शान्ति मिलती है।

सारांश, यह सब धर्मकी अंगुश्चासे ही हुआ करता है। अङ्गुरकी सर्पणु शुद्धिके लिये मृत्युसिंका, पानी और पवन-रीतेकी सवैथा, सर्वाधिक ध्यान रखना पड़ता है। फिर वीजसे अङ्गुर पूरकर एक महत-शाश्वत—शाकीके रूपमें, महाद्वृक्षके रूपमें रूपान्तरण होता है। उसे वह संख्य पुण्य और फल बाते हैं और पुनः पूर्ववत् वीज-निर्माण होता है। यह सारा चक्रनेमि-क्रमसे धूमनेवाला सुहिचक तमीतक चलता है, जगतक

उसमें धर्म विराजमान हो। उसके बाद तो उसे भी अग्नि-माताकी ही गोद राहनी पड़ती है।

इस कहते ही शास्त्र, पते, फूल, कलोंसे सम्बन्ध उत्पन्न दौँचा सामने लाहा हो जाता है। ये सारे उसके अङ्ग धूक्षका धर्म हैं। कली खिलनेपर उसका सुन्दर फूलमें रूपान्तरण होकर उसके पराग-काणोंका परिमल आसमन्तास् फैलाना पुर्णोंका धर्म है। अर्थात् प्रत्येकके तत्त्व-कर्मानुसार अपने-अपने धर्मकी तरह उसकी अर्थ-नार्थ ज्याल्याएँ की जा सकती हैं। कारण, धर्मका जन्म ही कर्मके उद्दरण होता है। प्रत्येकके कर्तव्य-क्रमसे ही उसका गुण या धर्म निर्वाचित किया जाता है।

वास्तवमें जो सत्य है, उसे भूत्य माननेके लिये हम तैयार ही नहीं होते। आप ही वसायें, निर्गर्भके नियम आजतक कोई बदल सका है ? क्या कभी किसीने पूर्वका सर्व पश्चिमकी और उससे हुए देखा है ? क्या कभी आपने सुना है कि उसमें अपने उदयका समय बदल दिया ? कभी मध्याह्निमें, निशीथमें, तो कभी सायंकाल प्रदोषमें उसे किसीने देखा है ? अपने जन्मसे इस क्षणतक किसने ऐसी अद्भुत घटना देखी है ? चन्द्रकी कलाएँ धारणकर सर्व-सा स्वयं प्रकाशित होते हुए पूर्णिमाके बीतल प्रकाशको विदेहसे हुए, कभी किसीने सूर्योंको प्रदोषमें उद्दित और प्रभालमें झूटते देखा है ? अपनेको लगानेवाले आजके धुद्धिवादी वैज्ञानिक यह कीमिया दिखाते तो चाचिको एकापातका यह अवसर ही न मिल सकता कि वह गरीबोंकी शौपाहियोंमें 'ज्वैक-आउट' कर देती, डिम-टिमाते दीए जलाती और श्रीमानोंके प्राणादोंमें बटन दबाते ही प्रकृष्ट प्रकाश छा देती ! ऐसे करोड़ों प्रश्न हैं, जिनका उत्तर आजतक कोई नहीं दे पाया और भविष्यमें भी न दे सकेगा।

धर्म हमें कहता है कि भले ही आप कितना ही छूट बोलें, बताता करें, आत्मबलवा बढ़ारें कि हमने यह किया, वह किया, पर मूलतः आपने कुछ भी नहीं किया। धर्म हमें पुकार-पुकारकर पूछता है कि क्या आप रक्त बना सके ? मांस बना सके ? अस्ति बना सके ? दूटे हुए और विलग हुए अवश्योंको जोड़कर पुनः उनमें चेतना ला सके ? मिट्टी, पानी, हवा, निर्गर्भकी हर किसी चीजको क्या आप बना पाये ? दूध बना पाये ? मृतकोंको जीवन दे सके ? इतना ही नहीं, जिस पञ्चभूतके रूप प्रासादमें आप जन्मसे गर्भेतक देरा जमाये बैठे हैं, क्या उसे आपने

दमाया । क्या मिथ्या आपने । भैं कौन हूँ—आत्मा या देह, लक्ष्य या विद्यु, ईश्वर या परमेश्वर ॥ इस उत्तरकी शोध करते समय मुझे लगता है कि भैं मैं किया, ताक मैं भैं किया—इस विद्या अहंकृति तिद्यान्तका पछां पकड़कर आप जैवल दास्मिन्दलाभय धर्मद्व दिखते हैं । अकारण अंजातने पकड़कर सत्-चित् शब्दी 'सत्यं दितिं लुनश्चर्व' के परिचय स्वनक्षी और अनेको—उत्तरका यज्ञस्य न पकड़कर चिह्नादं सिरते हैं कि भैं मैं किया, उत्तर मैं भैं किया, असिंह विव नेत्री कर्त्तव्ये चल रहा है—और अन्तर्में जन्म-जन्म कुःखके राहर नहूँहेमें जा गिरते हैं । उठ, इसके निचा और कुछ भी नहीं !

इतना सी रस्त ही है कि उग्री प्रवल्लवदी हो, कारण कर्तव्यकर्त्त त्वयं करनेए मानक रस्ते चिद्र बनता है । इसका यह अर्थ नहीं कि उस कर्त्ता उव छुठ हम ही करते हैं । कुछ हमें पूर्णि कर्त्ती पहती है, की कुछ धर्म अर्धांत् प्रकृति करती है । उदाहरणार्थ, उचित तमकर स्तुत जोतकर वीक वीना नानकका कर्तव्य है । उसके चार मानवीय कर्तव्य पूर्ण हो जाता है । अब फैवल लक्ष्य-करनसे देवत-रेखका काम ही और रहता है । हशा, पानी और मिट्ठी चादमे प्रकृतिके नियमानुसार उस कठोर वीजमे अपने सहवाजसे नहुता या देते हैं । उसे मलीमांति सद तन्द्रते नय देते हैं । तुरंत अकुर झूलता है । किं पौष्टि और पौष्टिए पैद रहता है । किं कली आतो, फूल सिलते हैं । नाम लीजिये, कर्त्तव्यका वीज बोनेए कपल पैदा होता है । अर्थात् वीजको मिट्ठीरपी मशीनमें डालनेके बादसे कली बानेतक और उससे करनास निकलनेतके बग्ने-आप हीमेकाले सारे क्षम रहत है कि निर्भर ही, प्रकृति ही करती है । मानवको जैवल देख-रेख ही रखनी पड़ती है । कवाच पैदा होनेके बाद उसने धारा और धागेए लक्ष्य-तरहके रस-विरेणु कपड़े तंवर करनेका काम नानकका होता है । इसका अर्थ यह हुआ कि उद कुछ निर्वा या प्रकृति ही करती है । इसी निर्वा या प्रकृतिका दूरपर नाम है—धर्म । निर्वाको विचर्य देते ही उठमेंके धर्मका सत्तनिवलर मकड़ होता है । उनसे भरनेहक हमें धर्म ही दिका देजा है, झुयल और निर्मांक दनाता है । भरनेही हमलोग जीते हैं । धर्मके कारण ही हनारे अवश्य इच्छा करते हैं । चित्र दिन धर्म हमारा चाय होइ देता है, वह हनारा अन्तिम दिन है ।

अन्तःकरणमें युध वासनाओंका उद्द देव होना ही चक्रविक आध्यात्मिक सौन्दर्य है । इसी सौन्दर्यमें हमे मन्त्र धर्मका दर्शन मिल सकता है । मैन्यका न्यौत्य निदाकर असिंह विश्व ही जब आत्मलघ दन लाता है, तब वह किंवी सम्भव ऐदान-ता भासने लगता है । उसमें लक्ष्य-पकड़ना पा लैंचा-नीचामन नहीं दीखता । कर्त्त आगमानी नीचे हृद पड़े, चन्द्रमा मिट्टीमें—धूलमें मिल जाय या आकाशमण्डल-के नज़र लुप्त श्री लावैं तो आपके आश्रय लगाने-जैसा कथा है ॥ समझ जर्ज, तारोंका नाम ही नहुता है, पर आपका नाम कर्मा रम्भन नहीं । लाला, सूर्य देव और सर्व कालको एकमन्त्र आधार आपका ही है । यह स्थानमें रखते हुए कि मैं अदिनार्ही व्याप्ता हूँ, किं भी प्रसङ्गमें न बनवाते हुए परंतु तद्व अचल रहे । शारों-चूरुक्तकी किया चालू रहते मनसे उद्भवनेका विचार करते जावै । यदि अन्तर्में आप वह दृढ़ भावना किया करें कि शरू लेते हुए हम असिंह विश्वको भीतर लावै रहे हैं और उच्छृंगात्मके साथ उसे मुनः बाहर निकाल फेंके जा रहे हैं तो निर्गते आपका रादात्म्य होमें लगता । जिस आप और विश्व—यह पृथक्कूभाननहीं रहेगा । तद अपानको एकतान्तर शास होती और इसी अवस्थामें आपको चास्तिक धर्म-का विश्व-दर्शन हुएर यिना नहीं रहेगा । भैं बहु हूँ इस अवसासपर पहुँचनेका यह प्रभम सोनान है ।

‘धर्म’ वालामें विकानेकी बसु नहीं कि उठाया चरण, और दे दी जाय—तौलकर । धर्मको अन्तर्कां अमुभूतिमें पहचानना पड़ता है ।

धर्मका अर्थ है—आत्मानुभूति, आत्मलंभन और आत्म-जात्माकर ! चतुर्विधि मुख्यमें धर्मको ही प्रायान्व दिया गया है । चारों पुरुषायोग्नि भीगयेत्य ही धर्मगे होता है ।

असिंह विश्व-न्यौत्यके एक-एक चरणिका जीवन धर्मकी शक्तिये प्राप्तम होता है । धर्म ही नवक जीवन है आप्ता है । इस धर्मका उत्तरवल्लप पहचानेके लिये प्रश्न चित्र द्विर कर्त्ता पड़ता है । जिस आभन लगाकर सहज उपाधिकी हृद दियति प्राप्त करनी होती है । इसी चमाणि-अवस्थामें द्विर रहते प्रसेकको निलम्देह धर्मके समग्र बाक्का उत्पन्न हुएर यिना नहीं रहेगा ।

धर्म क्या है ?

(लेखक—श्रीधनंजयजी भट्ट 'सरल')

धर्म जितने भी है, सबकी नींव वास्तवमें विश्वासपर है, तकरंग नह। इसलिये धर्मसमन्वी वातोंमें तर्को सर्वथा स्थान न देकर यह वात सदा ध्यानमें रखनी चाहिये कि धर्म सब विवेचनोंके बुद्धितत्त्वका निचोड़ है।

धर्म मनुष्य-जीवनकी आचारसंहिता है, जो हमें कर्तव्य-पालनकी शिक्षा देता है या व्यष्टि-जीवनकी समस्तिमें लिलीन करनेका उपदेश देता है। धर्म वैसा ही है, जिसा आकाश। वैसे वयकाश, मठाकाश कहनेसे आकाश अनेक नहाँ हैं ताः वैसे ही विभिन्न नाम होकरे धर्म अनेक नहाँ हो सकता। जैसे वद्याकाश, मठाकाश आकाशके सिकुड़े हुए रूपोंके नाम हैं वैसे ही धर्मके विभिन्न नाम एक ही धर्मके सिकुड़े हुए रूपोंके नाम हैं।

धर्मकी परिभाषा

धर्म यह वस्तु है जिसको सभी मनुष्य, सभी समाज, सभी मातृ-जीवी सर्वांकुड़े मानते हैं। धर्म यह वस्तु है, जिसे सभी महाभास्तुर सुखकी प्राप्तिका हेतु समझते हैं। धर्म वह वस्तु है, जिसके लिये सभी सम्प्रदायवाले उपदेश देते हैं कि संसारकी अच्छी-नै-अच्छी वस्तुओं द्वाइकर धर्म धारण करो। सभी ज्ञानी महात्मा, ज्ञाहे वे किन्हों धर्मप्रश्नोंको माननेवाले हैं; यही शिक्षा देते हैं कि धर्मसे अच्छी संसारमें कोई वस्तु नहाँ है। कोई-कोई तो यह भी कहते हैं कि धर्म धारण करनेसे मनुष्य देवता बन जाता है। सभी महापुरुषों-संतोंनी धर्मकी महिंसा गायी है और धर्मके लिये ही अपना जीवन बलिदान किया है। गीता, वेद, उपनिषद् आदि अनन्त कालसे हमें धर्मका ही उपदेश दे रहे हैं।

धर्मका सिद्धान्त

धर्मका मिठान्त है—अपनेको स्वाधीन रखना, जोरी न करना, किनी जीवको कदापि हुँस न देना, भूलकर भी हिंसा न करना, दूष न बोलना, दूतरेकी लौ, यहन या देटीको माँके नहान समझना, प्राणीमात्रको अपने समान समझना, क्रोध न करना, व्यालमें हमेशा पूर हटे रहना, सहनशील चरना, दूसरा कोई थदि तुम्हें कुछ कहे भी तो उमे सहन कर लेना, संकट आ जानेपर धीरज धारण किये रहना।

प्राणीमात्रमें किसीसे हृष न करना, अभिशनमें आकर ऐसा कुछ न करना जिससे किसीके हृदयको चौट पहुँचे, सीढ़े-द्वितीकर बचन बोलना, अपनी शोड़ी द्वानि उठानेसे किसीको बहुत बड़ा लाभ होता हो तो उसने मुँह न मोड़ना, इत्यादि। ये ही सब धर्मके सिद्धान्त और वस्तू माने गये हैं जो समाजके जीवनको पुष्ट रखनेवाले और समाजको उसी सरह पोषण करनेवाले हैं, जैसे पेड़की जड़में जल सांचनेसे पेड़ हृषभरा रखकर कञ्जान-कूलता रहता है। जिस समय मनुष्यमें ये युग पूरी तरह विद्यमान थे वही सत्यसुग था। ये-त्यों-त्यों मनुष्यके स्वभाव और व्यवहारमें अन्तर पड़ता गया और वे सब वातें कम होती गयीं, त्यों-त्यों सुगका भी हास देता गया और वह जैता और द्वापरके नामसे कहलाया जाने लगा। इस समय ये उसम युग मनुष्यमें विकृत कम हो गये हैं, इसलिये वर्तमान समयको हम कलियुग कहने लगे हैं।

प्राचीन कालकी धर्म-व्यवस्था

हमारे यहाँ भी उस युगके समय जब हम धर्मके अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करते थे, राम, युधिष्ठिर, द्वादू अर्जुनके समान बीर प्रलापी और महात्मा होते थे और सीता, साधित्री, गार्गकि भगान बुद्धिमती, विदुपी लिङ्गा होती थीं। ऐसे ही गतान्विताके पुष्ट रजनीरीगे बीर पुष्टार्थी पुष्ट उत्तम होते थे, जो इस समयकी तरह बनावटी परलाई देखकर डर लानेवाले न थे। उनका धर्म पुष्टार्थी होना, सत्यपर अद्वल रहना, चन्मभर एकपलीक्रत-धारी होना, आसिंकर्तापर पूर्ण विश्वास रख फर परमात्माकी न भूलना, परोपकारमें तत्पर रहना, अपने कुदृश तथा देव्योंके लोगोंसे भाईके समान व्यवहार करना और दीनोंपर दया रखना था। पर हस समय हमलेग ऐसे हो जले हैं कि हमें सत्य-अरुत्यका कुछ ज्ञान ही नहा रहा और पिंडगावादपर ही सर्वेषा कामर कसे हुए हैं। जहाँ कोई अपना स्वार्थ हा, वहाँ तो कुछका कहना ही क्या। जहाँ कोई मतलब न हो, वहाँ भी चिन्तको प्रसन्न रखने आर मर्यादिक बननेके लिये ही कुछ बोलते हैं।

धर्म एक कार्यान्वित जीवन है

धर्म एक कार्यान्वित जीवन है। जीवनमें जो कुछ है,

जो इच्छा भी सार है, वही धर्म है। धर्म के लिए आत्माप्रमाणात्मका उपलब्ध स्थापित करनेवाला ही नहीं है; वर्तिक हमारे सभी कर्म, सभी व्यक्तिहारु को धर्म करणा, दया, स्वेच्छा लाग्न ता, तितिक्षा आदिका शोधक है और इसीके ही सहारे सभी मानवन्यागत—व्यवहार होते हैं और सभी मानवज्ञानीयाँ अपना कार्य करती हैं। केवल यही एक ऐसा सार्ग है, जहाँ हम सब एक ही जाते हैं और सभी मानवज्ञानिको एक ही रूपमें रूपा हुआ और एक ही सूक्ष्ममें सबको बैंधा हुआ देखते हैं।

धर्म ही संसारकी सर्वश्रेष्ठ वस्तु है। वह मनुष्यके महत्व और कीर्तिको परकारात्मक पहुँचाती है। धर्म करनेवालेको इस जगत्‌में धर्य और सुख तो मिलता ही है तथा ही परलोकमें भी अम्बुदव और इच्छाकी प्राप्ति होती है और अन्तमें मोक्षलाभ होता है। परंतु वास्तविक धर्मका पालन लोहेके चर्चे हैं। इसलिये परिणाम कल्याणस्वरूप होनेपर भी धर्मनिष्ठको धर्मके सार्गरर चलनेके लिये आरम्भमें छुति अवश्य उठानी पड़ती है।

धर्मका अर्थ

जो वस्तु धारणायुक्त अर्थात् भनुष्यको संसुक्ष्म रखनेवाली हो वही धर्म है। जीवके प्रभव अर्थात् कल्याणके लिये धर्मका विधान किया गया है। अतपूर्व जो वस्तु प्रभवसंयुक्त है, जिससे प्रजाका कल्याण हो, उसीको निष्ठव्यपूर्वक धर्म समझना चाहिये और जो मनुष्य नियम संकलन भला चाहता है, मन, बचन, कर्मसे सबके हितमें लगा रहता है वही धर्मका जानेवाला है। धर्मात्मा वही है, जिसकी आत्मा निपाप और जिसका चरित्र विमल है। उसको उत्तरदाता हुआ तेजका कङ्काल भी वहके समान ठंडक पहुँचाता और पापात्मा जिसका अन्तःकरण महिन है, उसे जूँड़ीका हार भी जड़ते हुए अक्षरकीनी व्यापा देता है।

धर्मकी व्याख्या

धर्मकी परिभाषा करते हुए केणदने कहते हैं—

“जिससे इच्छाकर्त्ता अम्बुदव, चर्वाकीय उन्नति हो और मानवजीवनके स्वरूप निःनेत्र न्याय—मोक्षकी प्राप्ति हो,

वही धर्म है।” मनुने धर्मके इस व्यवधान—धृति, ध्रुमा आदि वराथे हैं।

महायात्ममें मानवकी निम्नाङ्कित दल प्रवृत्तियोंको धर्मका मूल मानवाग्य है। तप, त्याग, श्रद्धा, चर्ष, फिला, ध्रुमा, शुद्धमात्र देया, सत्य और संयम।

पुराणमें भी मानवताके इर्हा गुणोंको धर्मका अङ्ग माना गया है। श्रीमद्भागवतके अनुसार निदा, दान, तप और सत्य—धर्मके चार पाद हैं। मगवान् श्रीकृष्णने गीतामें धर्मकी परिभाषा करते हुए देवी सर्पकिंके नामसे अभय आदि २८ खण्डमें बताये हैं। (१६। १-४)

अपने भक्तोंका स्वभावन्युज बताते हुए भगवान् ने धर्मानुष्ठानके नामसे भक्तिके लक्षण कहे हैं, जो धर्मकी वही सार्विक व्याख्या है (देविये गीता १२। १६-२०) ।

वासीकिं-यमाधरणमें तकालीन धर्मचरणका श्रीरामने इस प्रकार उल्लेख किया है—

सत्यं च धर्मं च पराक्रमं च
मूराणुकम्यां प्रियवादितां च ।
द्विजातिदेवातिथिपूजनं च
पूज्यनमाहुतिदिवसं सन्तः ॥

गोकामी तुलसीदासजीने लिखा है—

परहितं सरिस धर्मं नहि महि ।
एव पैका सम नहि अपमाहि ॥

धर्मसे लाभ

धर्मसे बढ़कर संसारमें कोई लाभ नहीं है। और पुनः, मित्र आदि मनुष्यको जुल नहीं देते अपितु इनमें आकृति-ममता होनेके कारण मनुष्य परम सुखसे बचित ही अधर्म करने लगता है।

धर्मकी उपयोगिता बताते हुए मनुने कहा है—

एक एव सुहृद् धर्मो निधनेऽप्यनुयति च ।

अर्थात् संकलरमें सज्जा चारी धर्म है। यातः हमें सदैव सत्य देनेवाले धर्मका ही पालन करना चाहिये। जिन वस्तुओंका हम सदैव विन्दन करते हैं, जिनके प्राप्ति करनेको कठिन परिअम और अनेक प्रकारके कष्ट सहते हैं, वे वस्तुएँ सी अन्तमें हमारा सत्य नहीं देतीं। मूरुके समय कलेशसे तदपते हुए जीवकी रक्षा उपर्युक्त वस्तुएँ नहीं कर सकतीं। जिन भाई-बह्नओं, नौकरों, मित्रों और परिवारवालोंके लिये

हम सर्वस्वत्याग करनेको उचित रहते हैं अन्त समय ते भी असमर्थ ही रहते हैं। यमदूत उनके देस्तते-देशते ही जीवको कष्ट देते हुए ले जाते हैं। मोटर, बँगले, मील, कारबानी, दूकान, आपिस—कोई भी जीवको ऐक नहीं पाते। जिसके लिये हम नाना प्रकारके अन्याय करके घनोपार्जन करते हैं, वह वैभव व्यर्थ पढ़ा रह जाता है। अन्त समयमें केवल धर्म ही साथ देता है और वही साथ जाता है। इसलिये जो सर्वदा हमारा साथ दे, लोकप्रलोक दोनोंमें ही हमारी रक्षा करे; उस धर्मको ही सज्जा साथी बनाना चाहिये और उसके लिये सब कुछ त्याग करना चाहिये। धर्मके लिये भूपुर राजतज होहिं विरापी—राजा विश्वामी बनते हैं।

धर्मकी उपर्योगिताको आचार्य शेषेन्द्रने इस प्रकार व्यक्त किया है—

विद्वेशेषु धर्मं विद्या व्यसनेषु धर्मं मतिः।
परलोके धर्मं धर्मः दोलं सर्वत्र वै धर्मस्॥

धर्म-साधनके उपाय

धर्मका सबसे बड़ा साधन आत्ममर्यादा है। आत्म-मर्यादका सोपान आत्मगौरव है और आत्मगौरवका अवधार सदाचार है। आत्ममर्यादा एक ऐसा धर्म है जो समृद्ध और विपद् दोनोंमें सदा समान बना रहता है। इस प्रेक्षण्ये जो समृद्ध हैं, वे अन्युदयकी मोहन्मदिरासे मतवाले

नहीं होते। जनकनन्दिनी जानकीजी इसका आदर्श स्वरूप हो गयी हैं, जिनका हिमालय-स्त्री अचल हृदय और सागर-सा गम्भीर मन बनवासका दुःख सहते हुए भी आत्ममर्यादासे विमुक्त न हुआ। रावणके अनेक प्रलोभन-पर भी पातिजलकी मर्यादाको उन्होंने न छोड़ा। दमसत्ती, सावित्री आदि कितनी खिलौं हसी आत्ममर्यादाके पालनसे ही ललनाशणमें सर्वश्रेष्ठ हो गयी हैं। पुरुषोंमें श्रीराम और युधिष्ठिर तथा आत्मलवहान्वारी भीम इसी मर्यादा-पालनके कारण सर्वमाल्य हुए। आत्ममर्यादा ही धर्मका प्रधान अङ्ग है और ‘धर्मो रक्षति रक्षितः’ अर्थात् धर्मकी जो रक्षा करता है उसकी धर्म स्थरं रक्षा करता है—इसका तात्पर्य भी आत्ममर्यादकी ही रक्षा है। धर्मका तात्पर्य मनुष्यको ऐसी विधि बताना है, जिससे वह संघारमें रहकर जीवन-के द्वारा संग्राममें अपने भीतर और बाहरके शत्रुओंपर विजय पाते हुए मनुष्यमात्रकी उत्तरितमें दत्तचित्त हो, सब प्रकारके बन्धनोंसे छुटकर पूर्ण स्वतन्त्रता और मोक्षको प्राप्त करे। बालबद्धमें मोष्ट ही मनुष्यकी उत्तरिताली सीढ़ीकी अन्तिम पैद़ी है। परंतु जो लोग यह समझते हैं कि मनुष्यके लिये निर्धारित कर्तव्यकर्मको छोड़कर इस मोक्ष प्राप्त कर लेंगे, वे धर्मकी मर्यादाको नहीं समझते और अन्तमें असफल ही होते हैं।

दम-धर्मकी श्रेष्ठता

क्रोधो धृन्ति हि यद् दातं तसाद् वानास् परं दमः।
अदृश्यानि महाराज खान्ययुतशो दिवि ॥
ऋषीणां सर्वलोकेषु याहीतो यान्ति देवताः।
दमेन यानि चुपते गच्छन्ति परमर्वयः ॥

(महाभारत अनुशासन ७५। १६-१७)

दान करते समय यदि क्रोध आ जाय तो वह दानके पक्की नष्ट कर देता है; इसलिये उस क्रोधको द्वानेवाला जो दम-नामक गुण है, वह दानसे श्रेष्ठ माना गया है। गहाराज। नरेश्वर। सम्पूर्ण लोकोंमें निवास करनेवाले ऋषियोंके सर्वमें सहस्रों अदृश्य स्थान हैं, जिनमें दमके पालनद्वारा महान् लोककी इच्छा रखनेवाले महर्षि और देवता इस लोकसे जाते हैं; अतः ‘दम’ दानसे श्रेष्ठ है।

V. ३३४ धर्मो रक्षति रक्षितः धर्माचरणका प्रभाव

काशीके धर्मनिष्ठ ब्राह्मण धर्मपालक युवा प्राचीनभिक अध्ययन समाप्त करके उच्च शिक्षा प्राप्त करते तद्विदिला था : वहाँ एक समय आचार्य-के युवा पुत्रकी मृत्यु हुई तो वह वोल पढ़ा—‘अरे, यहाँ तो युवक भी मरते हैं।’

उसके सहपाठियोंको उसके घब्बन घट्टत धुरे लगे । जब सब लोग शोकमग्न हों, कोई इस प्रकार-की वाते करे तो बुरा लगता ही था । लोगोंने ध्येय किया—‘नुझारे यहाँ क्या मृत्यु तुमसे सलाह लेकर कुछोंके लिये ही आती है ?’

‘हमारे कुलमें तो सात पीड़ियोंमें कोई युवा मरा नहीं !’ उसने अपनी चात ढुहरा दी ।

वास आचार्यनक पहुँची । उनको भी बुरा लगा । कुछ कार्यवश उन्हें काशी जाना ही था, परीक्षा लेने-का निष्ठय कर लिया । जब वे काशी पहुँचे तो अपने साथ मेरे बकरेकी थेहो हड्डियाँ भी लेते गये । वे हड्डियाँ धर्मपालके सामने डालकर रोनेका अभिन्न करते हुए आचार्यजे कहा—‘हमें यह स्वर्णित करनेमें चहुत दुख हो रहा है कि आपका पुत्र अचानक मर गया ।’

ब्राह्मण धर्मपाल हँसा—‘आप किसी भ्रममें पड़ गये हैं । मरनेवाला निष्ठय कोई दूसरा होगा । इमरेकुलमें सात पांडियोंसे कभी कोई युवा मर्हों मरा ।’

आचार्यने उसी खिल्ल स्थानें कहा—‘अबतक कोई

युवा नहीं मरा तो आगे भी नहीं मरेगा, परसा नियम तो है नहीं । सुन्मुका क्या भरोसा । वह कुद्द, युवा, बालक—किसीका ध्यान नहीं रखती ।’

देखिये । हम साध्यानीसे अपने वर्णाद्यम-धर्म-का पालन करते हैं, अधर्मसे दूर रहते हैं, सत्सङ्ग करते हैं और दुर्जनोंकी निन्दा न करके उनके सङ्गसे बचते हैं । दान देते समय वाणी तथा व्यवहारमें नम्रता रखते हैं । साधु, ब्राह्मण, अन्यानात, धर्मिय, यत्कक पर्व दीनोंकी यथाशक्ति सेवा करते हैं । हमारे घरकी लियाँ पतिव्रता हैं और पुरुष एकपनीचतो तो हैं ही, संयमी हैं । यमराजके लिये भी हमारे यहाँ किसीको अकालमें युधावस्थामें मारना सम्भव कैसे हो सकता है ? ब्राह्मण धर्मपालने वडे विश्वास-से अपनी वातका समर्थन किया ।

‘आप टुक फहते हैं । आपका पुत्र जीवित तथा सुरक्षित है ।’ आचार्यने अपने आचरणका कारण स्पष्ट किया ।

‘धर्म जिसकी रक्षा करता है, उसे सार कौन सकता है ?’ ब्राह्मणने कहा । ‘हम सब धर्मकी रक्षा करते हैं, अतः धर्म हमारी रक्षा करेगा—इसमें हमारे घरके किसी सदस्यको कभी सदैह नहीं होता ।’

—४०

काम-क्रोधादिमें रत लोग भगवान्को नहीं जान सकते

तत् तानि अति प्रबल खल काम क्रोध अह लोम ।
मुनि विद्यान धाम मन करहै निमित महै छोम ॥
लोम के इच्छा दंभ वल काम के केश नारि ।
क्रोध के पश्च चबन वल मुनिवर कहहि विचारि ॥
काम क्रोध मद छोम तत् गृहात्क दुखल्प ।
ते किमि जानहि खुपतिहि मूढ परे भव कूप ॥

(दंहावली)

कलियुगका प्रधान धर्म—दान

[विश्वको भारतीय संस्कृतिकी एक विशिष्ट देन]

(केवल—प० मीमांसकीनाथजी कहा)

गोस्तामी श्रीबृहद्योदासजीने लिखा है—

प्रगट चारि पद धर्म के किं भर्ह एक प्रधान ।

चेन केन विधि दीन्हे दान करइ कल्यान ॥*

वर्षके चार पद—पैर कौन हैं इसपर यद्यपि भागवत (१२।३) आदिमें किंचित् मिल मत मी हैं तथापि सर्वाधिक समर्पितायाँ भनुजीके इस निष्ठलिखित मतकी और ही प्राप्त हैं—

तपः परं कृतयुगे वेतादां ज्ञानमुच्चते ।
द्वापरे यशसेकाङ्गदोमेकं कल्पै युगे ॥

यह इलोक सतु १।८६, पद्मपुराण सुधिष्ठिरण १८।४४०, परश्यारस्मृति १।२३, लिङ्गपुराण १।३१।६, भविष्यपुराण १।२।१११ तथा बृहत्यारशरस्मृति १।२२।२३ आदिमें भी इसी प्रकार वाचा जाता है। शतपथ-त्रावाप्ति तथा बृहदारण्यके अन्तर्गत 'द' की आख्यायिकामें भी भनुष्यका प्रधान धर्म दान बतलाया गया है। शास्त्रोंके अनुसार दानसे बहुकर कोई भी धर्म नहीं—

दानधर्माद् परो द्वारा भूतानी नेह विद्यते ।

राजनीतिभूम्योमे भी यह सामादि चार उपायोंमें एक प्रधान उपाय है और सामके बाद हद्दे ही सान दिया गया है। (कूर्म०) महाभारत, अनुशासन० दानधर्म तथा अग्निपुराण आदिके अनुसार दान परम ऐत्यत्कर है। इससे सभी वशीभूत ही जाते हैं श भी मित्र दन जाते हैं, दानसे सारे मलेश मिट जाते हैं—

दानेन भूतानि द्वयीभवन्ति
दानेन वैराण्यपि वानिन नाशम् ।
परोऽपि बृहद्युत्युपैति दानाद्
दानं हि सर्वध्यसनामि हन्ति ॥

* गोस्तामीजीका यह बच्चन उपनिषद्के प्रस्त्रिद बच्चन 'अद्यम देवन्, अश्रुद्य देवन्, त्रिष्ण देवन्, हिष्ण देवन्, मिष्ण देवन् आदिपर आधृत है, यद्यपि किम्भी उपनिषदोंमें 'अमद्यम अदेवं पाठ भी है।

✓ भर्तुहरिने कहा है कि दान, भोग और नाश—ये ही धनकी त्रीत गतियाँ हैं। इनमें प्रथम गति श्रेष्ठ, द्वितीय नेतृत्वात् नष्ट है—

दानं भोगो नाशलिङ्गो गतयो भवन्ति धनश्च ।

यो व द्वाति न सुख्नके तत्स तुलिया गतिर्भवति ॥

(नीतिशालक)

यद् लादून्योन्यमोगाय लहेव सफले भतम् ।

अन्यथा द्वि विभागोऽस्य भावेवेति सुनिश्चितम् ॥

(शार्क० ४०)

गोस्तामीजी भी यही कहते हैं—

दो धन वन्य प्रथम गति जाकी। धन्य पुन्य रत मति सोहि पाकी ॥

(मानस, उत्तरवाण)

आयासक्षत्वलक्ष्य प्रागेभ्योऽपि गतीयसः ।

गतिरेकैव वित्तस्य दर्शनन्या विपक्षः ॥

(पश्चत्तन्त्र)

सनातन धर्ममें दानधर्मपर असंख्य अन्य हैं। महाभारतके अनुशासनपर्वका दूसरा नाम ही 'दानधर्म' पर्य है। इसके कुम्भकोणम्-संस्करणमें १७४ तथा पूना-संस्करणमें १६८ अन्यथा हैं। इसके अतिरिक्त भी महाभारतके सभी एवोंमें 'दान' पर पर्याप्त विवेचन है। वाल्मीकिके राम तो लेते ही नहीं, सदा दान ही करते हैं—

दद्यान्म भस्तिगृहीयाऽन्न वात् किञ्चिद्भिर्भूम् ।

अपि जीवितहेतोर्धा रामः सत्यपराक्रमः ॥

(वाल्मीकीय दुन्दर० २९)

इसके अतिरिक्त हेमाद्रि, वीरमित्रोदय, कृत्यवान्ददत्त अपराकै—आदिके दानस्त्रिय बहुत प्रसिद्ध हैं। बहुत ऐनका 'दानसागर' एक सतत्व अन्य है। (यह एवियाटिक सोलाइटी, कलकत्तासे प्रकाशित है।) मणिद्योत्तरपुराणका अधिकांश भाग दानधर्म ही है। अपराकैने इसका बहुत अंश ले लिया है। विष्णुधर्मोचरमें भी कहे अन्यथा हैं। पद्म० सूक्ष्म० तथा स्कन्दपुराणमें भी इसपर बहुत-सी गोचक कथाएँ हैं।

स्कन्दपुराणके मही-साग-संगमकी कथामें नारदजीका चरित्र इस सम्बन्धमें अवश्य लेय है। वर्णों दानके २ हैदुर, ६ अधिष्ठान, ६ अङ्ग, ६ फल, ४ प्रकार और ३ नाशक पतलामें गये हैं। अद्या भक्ति—ये हो हैदुर, खर्द, काम, अर्थ, ब्रीही, भय तथा हृष्ट—ये ६ अधिष्ठान तथा दाना, गहीता, देववस्तु, देवा, काल और अद्याको बड़ा बताया गया है। दुष्कल, निष्कल, हीन, हुल्य, विपुल और अशय—ये दानके ३, परिणाम वर्तन्ये गये हैं। ३ अन्त, दधि, मधु, मौ, भूमि, सुवर्ण, अखब, गज और अभय—ये उत्तम दान हैं।

अपने छुँहते कहने, पश्चात्याप करने आदि से भी फल नष्ट होता है । प्रियवस्तुन एवं अद्यासहित ॥
दुर्लभ माला गया है—

दान विष्वाकूसहितं ज्ञानमयवं ह्यमान्वितं शौर्यं
वित्तं व्यायानिदुर्लभं दुर्लभमेतत्त्वद्विष्वाकूसं लेके
(दि० ३ । १६९

विशेष जानकारीके लिये तत्त्विष्वाकूसग्रन्थोंको देखनेप
कृष्ट करें।

धर्म ही जीवनका आधार

(रचयिता—मौमदानीमसादजी कवयाळ)

धर्म है जन-जीवन-नरधार ।
धर्मसे चलता थह संसार ॥
धर्मसे चाहित है प्राणाण्ड ।
धर्मसे प्रक्रित है व्यापाण्ड ॥
धर्म है कीर्तन-प्रधार लक्ष्य ।
धर्म है सद सत्योंका सत्य ॥
धर्म है प्रसुषी पादन सूर्ति ।
धर्म है जीवनकी धति-मूर्ति ॥
धर्म है मुरलीधरकी धान ।
धर्म धरुधरक धर्म-संधान ॥
धर्म है दूरदूर-अद्वार ।
धर्म है तुलसीका विश्वास ॥
धर्म कविराजी जौबड़ चाल ।
धर्म चीराज गिरिष्वरलाल ॥
धर्म जद होता तमसाप्तक ।
प्रसारे प्रसु प्रकाश प्रसर ॥
धर्म हित धरें दैश अवधार ।
धर्मकी चाव लगावे पार ॥
धर्मके लिये चार मिज प्राण ।
किया फरते जन जागती-त्राण ॥

धर्मसे मिट्ठा तन-मन-वाप ।
धर्मसे मिल जाते प्रभु आप ॥
धर्म है होह, साम्ब, सौभरथ ।
धर्मका भार्ग सुगम, सुखाच्य ॥
धर्मसे सद जगती अनुरक्ष ।
धर्ममें शक्ति, मुक्ति औ भक्ति ॥
धर्म है जहाँ, वहाँ भगवान ।
धर्म है जहाँ, वहाँ दत्यान ॥
धर्मसे विश्व, भूक्ति औ वित्त ।
धर्मसे निर्मल होता वित्त ॥
धर्मसे मिट्ठा भव-जाल ।
धर्मसे दरे कालका ध्याल ॥
धर्म यिन सूना सद अवहार ।
धर्म यिन बदसा अत्याचार ॥
धर्मसे मालवताका श्राण ।
धर्मसे जन-जीवका कहवाण ॥
धर्मधर धरता जड-जब देश ।
दर्म होता नवभव उन्मेष ॥
धर्मपत्र धडे नित्य अनुराग ।
धर्मसे पावे सद सुख-भाग ॥

* इस जनवर्षमें कव्यान १८ । १२ में ग्रन्थाधिन इन्द्रादा 'मुमिष्व-निवारण' कोह देखना चाहिये।

† स्कन्दपुराण, गाहेष्वराण्डमें यह बहुत विलापते हैं, अवश्य देखना चाहिये। सं० स्कन्दपुराणाङ्क में भी इसका दिवी-मनुष्याद है।

दान-धर्मके आदर्श

(१)

देवराज विरोचन

देवराज भक्तश्रेष्ठ प्रह्लादके पुत्र थे विरोचन और प्रह्लादके पश्चात् वे ही दैत्योंके अधिपति बने थे। प्रजापति ब्रह्माके समीप दैत्योंके अथर्णील्पमें धर्मकी शिक्षा प्रह्लण करने विरोचन ही गये थे। धर्ममें इनकी अद्दा थी। आचार्य शुक्रके ये दड़े निष्ठावान् भक्त थे और शुक्राचार्य भी इनसे बहुत स्नेह करते थे।

अपने पिता प्रह्लादजीका विरोचनपर बहुत ग्रभाव पड़ा था। इसलिये वे देवताओंसे कोई द्वेष नहीं रखते थे। संतुष्टिचित् विरोचनके मनमें पुरुषपर भी अधिकार करनेकी इच्छा नहीं हुई; सर्वपर अधिकार करना, भला, वे क्यों चाहते। वे तो सुतलके दैत्यराज्यसे ही लंतुष्ट थे।

शत्रुकी थोरसे सावधान रहना चाहिये, यह नीति है और सम्पन्न लोगोंका स्वभाव है अकारण शक्ति रहना। अर्थका यह द्वेष है कि धर्म व्यक्तिजो निष्ठिन्त और निर्भय नहीं रहने देता। असुरों एवं देवताओंकी शत्रुता पुरस्ती है और देवता सत्यगुण-प्रधान। बतः देवराज इन्द्रको सदा यह भय व्याकुल रखता था कि यदि कहीं असुरोंने अमरवतीपर आक्रमण कर दिया तो परम धर्मीत्मा विरोचनका शुद्धमें सामना करना देवताओंकी शक्तिसे बाहर है उस समय पराजय ही हाथ लेगी।

शत्रु भवल हो, शुद्धमें उसका सामना सम्भव न हो, तो उसे नष्ट करनेका प्रबन्ध पहिले करना चाहिये। इन्द्र आक्रमण करके अथवा धोखेसे विरोचनको मार दें तो शुक्राचार्य अपनी संजीवनी विद्याके प्रभावसे उन्हें जीवित कर देंगे और आज्ञके प्रशान्त विरोचन शुद्ध होनेपर देवताओंके हिते विपर्ति वन जायेंगे। अतएव देवगुरु शुद्धस्पतिकी मन्त्रणासे इन्द्रने ब्राह्मणका वेश बनाया और सुतल पहुँचे।

विरोचनने अस्यागत ब्राह्मणका स्वागत किया। उनके चरण धोये, पूजा की। इसके पश्चात् हाथ जोड़कर चोले—‘मेरा आज सौभाग्य उदय हुआ कि मुझ असुरके सदनमें आपके पावन चरण पढ़े। मैं आपकी क्षया सेवा करूँ।’

इन्द्रने बहुत-बहुत प्रशंसन की विरोचनकी दान-शीलताकी और विरोचनके आत्रहपर चोले—‘मुझे आपकी शायु चाहिये।’



दैत्यराजका सिर माँगना व्यर्थ था; क्योंकि गुरु शुक्राचार्यकी संजीवनी कहीं गयी नहीं थी। किंतु विरोचन किंचित् भी हतप्रस नहीं हुए। उन्होंने प्रसन्नतासे कहा—‘मैं धन्य हूँ। मेरा जन्म लेना सफल हो गया। मेरा जीवन स्वीकार करके आपने सुने कृतकृत्य कर दिया।’

विरोचनने अपने हाथमें खड़ चड़ाया और मस्तक काढ़कर दूसरे हाथसे ब्राह्मणकी ओर बढ़ा दिया। वह मस्तक लेकर इन्द्र भवके कारण शीघ्र स्वर्ग चले आये। विरोचनको तो भगवन्ने अपना पाषद शरन लिया। —^{३०}

(२)

महादानी दैत्यराज वलि

आचार्य शुक्र अपने महामनसी शिष्यपर परम सुप्रसन्न थे । उन्होंने सर्वजित् यज्ञ कराया था और उस यज्ञमें अश्विने प्रकट होकर वलिको रथ, अवृत्त, धनुष, अद्यत भोग तथा अमेघ कब्ज्च दिये थे । इत दिव्य उपकरणोंसे संबद्ध वलिने असुर-सेनाके साथ लब खर्गपर आक्रमण किया, तब देवताओंको अपना धर-धार छोड़कर भाग जाना पड़ा । इन्द्र उस समय तेजस्समग्र वलिके सामने पहुँचेका साहस नहीं कर सकते थे ।

शतकतु इन्द्र होता है, यह सुषिकी मर्यादा है । सौ अवृत्तमेघ यह किये विना जो शकिके बलसे अमरादती वधिकृत कर लेगा, सुषिका संचालक उसे वहाँ दिकने नहीं देगा । वलिने खर्गपर अधिकार कर लिया तब शुक्राचार्यको अपने शिष्यका वैभव स्थायी करानेकी चिन्ता हुई । खर्गलोक कर्मलोक नहीं है । अतः वलिको समस्त परिकर्त्तैके साथ लेकर आचार्य नम्रदाके उत्तर वर्णपर आये और उससे अश्वमेघ यज्ञ कराना प्रारम्भ किया । जिन्यानये अश्वमेघ यज्ञ निर्विघ्न पूर्ण हो गये और अन्तम सौबाँ यज्ञ चलाने लगा ।

इसी कालमें देखमता अदितिकी आखदनामें प्रसन्न होकर भगवान्मे उनके वहाँ वामनस्तपसे अवशार अहृण किया । उपनयन सम्पन्न हो जाने पर मौखी मेखला पहिने, छव, वण्ड तथा जलपूर्ण कमण्डलु लिये भगवान् वामन वलिकी यज्ञशालामें पधारे । उन सूर्योपम तेजस्वीको देखकर सब ब्रह्मण तथा असुर उठ खड़े हुए । वलिने उनको शासन देकर चरण घसारे और चरणोदक मस्तकपर चढ़ाया । पूजाके अनन्तर वलिने कहा— ‘विग्रहुमार ! मुझे लगता है कि अप्यियोंकी सम्पूर्ण सपस्या आपके रूपमें सूर्तिमान होकर मुझे सनाथ करने आज मेरे यहाँ आयी है । आप अवृत्त किसी प्रयोजनसे पधारे हैं । अतः जो हङ्गा हो, विना संकोचके माँग ले ।’

वामन वलिके कुल-पुरुषोंके शौर्य-पराक्रम,

दूनशीलताकी प्रत्यंसा करके अन्तमै कहा— ‘विरोचननन्दन ! जिसकी भूमिपर कोई तप साधनादि करता है, उस भूमिके स्वामीको भी उस तप आदिका भाग प्राप्त होता है । इसलिये मैं अपने लिये अपने वैरोंसे तीन पदमें जितनी भूमि माप सकूँ, उसनी भूमि आपसे चाहता हूँ ।’

वलि हूँसे । नल्देखे वामन, नन्हेजन्हेसे सुकुमार चरण । वलिको लगा कि ये, भला, भूमि कितनी माप सकेंगे । वे बोले—‘आप अभी बालक हैं, भले आप खिलने भी विद्धान हों । मैं त्रिलोकीका स्वामी हूँ । मेरे पास अकर आपको भूमि ही माँगती है तो कम से कम इतनी भूमि लीजिये कि उससे आपकी आजीविका भली प्रकार बल सके ।’

वामन बड़ी गम्भीरतासे बोले—‘राजन् ! दृष्णा-का पेट भरा नहीं करता । मैं यदि योही भूमिपर संतोष न करूँ तो सप्तद्वीपवर्ती पृथ्वी तो क्या, त्रिलोकी भी क्या दृष्णाको तुष्ट कर सकेगी ? अतः अपने प्रयोजनसे अधिक मुझे नहीं चाहिये ।’

‘अचला लो ! जितनी चाहते हो, उसनी भूमि हूँगा ।’ वलिने कहा और भूमिकानके लिये संकल्प करनेको कमण्डलु उठाया ।

‘ठहरो !’ शुक्राचार्य इतने समयतक बड़े स्थानसे वामनको देख रहे थे । उनकी हृषिणे श्रीहरिको इस छङ्गरूपमें भी पहिजान लिया । अतः वे बोले—‘वलि ! मुझे तो लगता है कि दैत्य-कुलपर भहान् संकट आ गया है । वे विग्रहुमार नहीं साक्षात् विज्ञु हैं । तुमने दूनका संकल्प किया तो पृथ्वी इनके एक पदको होगी । दूसरा एक अहलोक पहुँचेगा और तीसरे पदको स्थान ही नहीं होगा । अपनी शीविकाका उच्छेद करके वाम नहीं किया जाता । तुम हँहे यह भूमि-दान मत दो ।’

‘आपको यात मिथ्या नहीं हो सकती ।’ हो क्षण सोचकर वलिने कहा । ‘परंतु यशके द्वारा जिन यज्ञपुरुषकी आराधना आप मुक्षसे करा रहे हैं, वे ही मेरे यहाँ भिक्षुक बनकर पधारते तो क्या मैं उन्हें निराश करूँ ? ‘हुँगा’ कहकर प्रह्लादका पैत्र असीकर कर दे, यह नहीं होगा । सत्याच-

के आनेपर उसे अर्थदान न करना। सुन्दरमें प्राण देने से भी कठिन है। ये कोई हौं और कुछ भी करें, मैं इन्हें कृपण घनकर दाससे व्यक्तित नहीं करूँगा।'

'तू अब भी मेरी बात नहीं मानता, इसलिये तत्काल ऐश्वर्यभट्ट होगा।' क्रोधमें आकर शुक्राचार्यने शाप दे दिया। किंतु बलिको उससे दुख नहीं हुआ। उन्होंने प्रसन्न मनसे धामलको भूमिदानका संकल्प किया। संकल्प लेते ही भगवान् वामनने विराटरूप धारण कर लिया।

'तुझे गर्व था कि तू बिलोकीका स्वामी है। पृथ्वी मेरे एक पदसे तेरे सामने शय ली गयी और मेरा दूसरा पद तू देखता है कि ब्रह्मलोक-तक पहुँच गया है।' विराटरूप भगवान्ने कृतिम क्रोध दिखलाते हुए कहा। 'अब मैं तीसरा पद कहाँ रखूँ? तूने मुझे डगा है। जितना तू दे नहीं सकता, उतनेका संकल्प कर दिया तूने। अतः अब तुझे कुछ काल नरकमें रहना होगा।'

'देव! सम्पत्तिसे सम्पत्तिका स्वामी बड़ा होता है। यदि आप समझते हैं कि मैंने आपको डगा है तो यह ठीक नहीं। मैं अपना वचन सत्य करता हूँ। यह मेरा मस्तक है। आप अपना तीसरा पद इसपर रखें।' खश, प्रसन्न, इक्षु खरमें बलिने कहा और मस्तक छुका दिया।



भगवान्ने बलिके मस्तकपर अपना पद रखा। बलि निहाल हो गये। बलिके न चाहते थे। भगवान्ने वामनपर आक्रमण करनेकी चेष्टा की। किंतु भगवान्के पार्षदोंने उन्हें गारकर भगा दिया। भगवान्के संकेतपर बलिको गरबने बांध दिया। प्रह्लादजी पथरे और उन्होंने बलिके पैश्वर्य-धर्मसे होनेको भगवत्कृपा माना; वे बोले—'प्रभो! धन तथा पदके मोहसे विद्वान् भी मोहित हो जाते हैं। आपने इसके धन-वैभवको छीनकर इसका महान् उपकार किया है।'

किंतु सुषिकर्ता ब्रह्माजी ब्याकुल हो गये। उपस्थित होकर, हाथ जोड़कर उन्होंने भगवान्से प्रार्थना की—'प्रभो! बलिको यन्मन प्राप्त होगा तो धर्मकी भर्याद्या नष्ट हो जायगी। आपके श्रीवरणमें श्रद्धापूर्वक झुल्लूभर जल तथा दो झुलसीदल देनेवाला आपका धाम प्राप्त कर लेता है और बलिने तो आपको शाश्वपक्षका जीतकर भी अव्यञ्जित्त-से बिलोकीका राज्य आपके चरणोंमें बढ़ाया है।'

'ब्रह्माजी! प्रह्लादका यह पौज सुन्दे बहुत प्रिय है।' भगवान्ने कहा। 'मैं जिसपर कृपा करता हूँ, उसका धन-वैभव छीन लिया करता हूँ; क्योंकि जब मनुष्य धनके मदसे मतवाला हो जाता है, तब मेरा तथा सब लोगोंका तिरस्कार करने लगता है। जिसको कुलोन्ताः कर्म, अवस्था, रूप, विद्या, पैश्वर्य और धन आदिका घसंड न हो, उसमना चाहिये कि उसपर मेरी बद्धी छपा है। यह बलि मेरा ऐसा ही कृपापत्र है। सुलके श्याप देने, धन छीने जाने और मेरे द्वारा कृतिम रोखसे भी आक्षेप किये जानेपर यह बिचलित नहीं हुआ। धर्मकी यह छढ़ता इसे भेरे अनुग्रहसे प्राप्त है। अब यह सुतलका राज्य करेगा और अगले मन्वन्तरमें मैं इसे इन्द्र बनाऊँगा। तबतक सुतलमें इसके द्वारपर गदा लिये मैं खर्ष द्वारपाल बनकर उपस्थित रहूँगा।'

'प्रभो! वयाधाम! सुन्द अधम असुरपर यह अनुग्रह? बलिका कण्ठ गत्प्रद हो गया। 'सुन्द' से कहाँ आपकी अर्चना हुई? मैंने तो कैवल आपके चरणोंमें प्रणाम करनेका प्रयत्नमात्र किया था।'

‘आपके शिष्योंके बहाँमें जो दोष रह गये, जो त्रुटि है, उसे अब आप दूर करा दें।’ भगवानने शुक्रचार्यको चारेश दिया।

‘जहाँ यशपुरुष स्वर्य संतुष्ट होकर विराजमान हैं, वहाँ त्रुटि कौसी? यद्विय त्रुटि तो आपके नामकौर्तन-मात्रसे दूर हो जाती है। फिर भी मैं आपकी आदाका पालन करूँगा।’ शुक्रचार्यने बड़का अपूर्ण कार्य यह कहकर सम्पूर्ण कराया।

बलि असुरोंके साथ सुतल बले गये। इन्द्र-को स्वर्यका उपर्य मिला। बलिके इस महादानके कारण संसारमें उत्कृष्ट त्यागको उलिशन कहा जाने लगा। —सु-

(२)

महादानी कर्ण

एक बार इन्द्रभूस्थमें पाप्हवर्णोंकी सभामें श्री-कृष्णचन्द्र कर्णकी दानशीलताकी प्रशंसा करने लगे। अर्जुनको यह अच्छा नहीं लगा। उन्होंने कहा—‘हृषीकेश! धर्मपालकी दानशीलतामें कहाँ त्रुटि है जो उनकी उपस्थितिमें आप कर्णकी प्रशंसा कर रहे हैं?’

‘इस सध्यको तुम स्वर्य समयपर समझ लोगो।’ यह कहकर उस समय श्रीकृष्णने बातको दाल दिया।

कुछ समय पश्चास् अर्जुनको साथ लेकर इयामदुन्दर प्राह्लादके बेशमें पाप्हवर्णोंके राजसदनमें आये और बोले—‘राजन्! मैं अपने हाथसे बना भोजन करता हूँ। भोजन मैं केवल चन्द्रकी लकड़ी-से बनाता हूँ और वह फाँड़ तानिक भी भीगा नहीं देना चाहिये।’

उस समय खूब वर्षा हो रही थी। उधिष्ठिरने राजभवनमें पता लगा लिया, किंतु सूखा चन्दन कापु कहाँ मिला नहीं। सेवक नगरमें गये, किंतु संयोग ऐसा कि जिसके पास भी चन्दन मिला, सभी भीगा हुआ मिला। धर्मपालको बहा हुआ हुआ, किंतु उपाय कुछ भी न था।

उसी बेशमें वहाँसे सीधे श्रीकृष्ण और अर्जुन कर्णकी राजधानी पहुँचे और वही बात कर्णसे कही। कर्णके राजसदनमें भी सूखा चन्दन नहीं था और

उत्तरमें भी लहरी मिला। लेकिन कर्णने सेवकोंसे नगरमें चन्दन म मिलनेकी बात सुनते ही धनुष चढ़ाया। राजसदनके भूल्यवान् कलादिव द्वारा चन्दनके थे। अनेक फलंग चन्दनके पायेके थे। कई दूसरे उपकरण चन्दनके बने थे। क्षणभरमें शरणसे कर्णने उन सबको चौरकर पकड़ करका दिया और बोला—‘भगवन्! आप भोजन धनायें।’

वह अतिष्य भ्रेमके भूखे गोपाल कैसे छोड़ देते। वहाँसे तूत सूक्ष्म बोकर जब बाहर आ गये, तब अर्जुनसे बोले—‘पार्थ! तुम्हारे राजसदनमें भी द्वारादि चन्दनके ही हैं। उन्हें क्षेत्रमें पाण्डव कृपण भी नहीं हैं। किंतु धानधर्ममें जिसके प्राण बसते हैं, उसीको समयपर स्वरम आता है कि पदार्थ कहाँसे कैसे लेकर दे दिया जाय।’

* * *

‘धार धानशीलताका स्वर्य अस्ति हो रहा है।’ जिस दिन कर्ण युद्धभूमिमें गिरे, साधकाल शिविर-में लौटकर श्रीकृष्ण खिलासुख कैद गये।

‘अच्युत! आप उदास हैं, इतनी महानता क्या कर्णमें है?’ अर्जुनने पूछा।

‘चलो! उस मध्यप्राणके अन्तिम दर्शन कर, अर्थे। तुम दूरसे ही देखते रहना।’ श्रीकृष्ण उठे। उन्होंने दूर ब्राह्मणका रूप बनाया। उससे कीचड़ चनी, शब्दोंसे पटी, छिङ्ग-भिङ्ग अख-शखोंसे पूर्ण युद्धभूमिमें रात्रिकालमें शृगालादि घूम रहे थे। ऐसी भूमिमें मरणासन्न कर्ण एड़े थे।

‘महादानी कर्ण! पुकारा दूर ब्राह्मणने।

‘मैं यहाँ हूँ, प्रभु! किसी प्रकार पीड़ासे कराहते कर्णने कहा।

‘तुम्हारा सुयश सुनकर बहुत उल्ल द्रुज्यकी आशासे आया था।’ ब्राह्मणने कहा।

‘आप मेरे घर पधारें।’ कर्ण और क्या कहते?

‘मुझे जाने दो। इधर-उधर भटकलेकी इसकि मुहमें नहीं।’ ब्राह्मण रुप हुए।

‘मेरे दाँतोंमें स्वर्ण लगा है। आप इन्हें सेहकर ले लें।’ कर्णने सोचकर कहा।

‘ठिकः! ब्राह्मण धथ यह कूर करेगा।’ ब्राह्मण और रुप हुए।

किली प्रकार कर्ण सिंहके । उन्होंने पास पढ़े एक शख्तपर गुल्ल पटक दिया । शख्तसे दूरे दौलों-का सर्व निकला; किंतु रक्खना सर्व आङ्गण कैसे ले । धनुष भी धड़नेकी शक्ति विअमें नहीं पी । मरणालहर, अत्यन्त आहत कर्णने हाथ तथा धयल मुखसे धनुष लालहर बाहण अलाके द्वारा जल प्रकट कर सर्व धोया और दान किया । श्रीकृष्ण प्रकट हो गये । अन्तिम समय कर्णको दर्शन देफर कृतार्थ करने ही तो पधारे थे लीलामय शपामसुन्दर । उनके देवदुलैभ चरणोपर सिर रखकर कर्णने देहत्याग किया । —सु०

(४)

दानधर्मकी महिमा

मर्दीकापुरुषोत्तम श्रीराम पञ्चवर्षीये निरालसे पूर्व जब प्रथम बार महर्विं अगस्त्यके आश्रमपर पहुँचे तो उनका सत्कारकरके मर्दीविंने विद्वकर्मीका बनाया एक दिव्य आमृषण उन्हें देते हुए कहा—“यह धारण करनेकालेको जिर्भय रखता है, उसे बनेक आपचियाँसे बचाता है ।”

शत्रियके लिये दान लेना उचित नहीं है । श्रीरामने तो बनमें तपस्वी वेषमें रहनेका ब्रत लिया था, किंतु महर्षिके आग्रहपर उनका प्रसाद भानकर वह आमृषण लेकर उन्होंने श्रीजानकीको दे दिया । जामृषण स्त्रीकार करते हुए उन्होंनि पूछा—“यह आपको कैसे प्राप्त हुआ ॥”

अगस्त्यजीने बतलाया—“मैं एक बार वनमें यात्रा कर रहा था । एक विशाल घनमें पहुँचनेपर मुझे एक योजन लंबी झील मिली । सुन्दर स्वच्छ जल या उसका और उसके किनारे एक आश्रम भी था; किंतु आश्रममें कोई नहीं था । उस घनमें मुझे कोई पशु-पक्षी नहीं दीखा । शौध्य अस्तु थी । मैं यात्रासे बदला था । अतः मैं उस आश्रममें एक रात्रि रहा । प्रातःकाल मैं स्नानके लिये उस झीलकी ओर चला तो मार्गमें एक शब बिला । हृष्ट-गुष्ठ देह देखकर मैंने समझा कि यह तपस्वीका शब नहीं है । इतना सुन्दर उपुष्ट व्यक्ति उस घनमें कहाँसे आया; यह मैं सोचने लगा । इतनेमें एक विभान आकाशसे उत्तर । उससे निकलकर एक देवोपम मनुष्यने

झीलमें स्नान किया और फिर उस शबका मांस मुखसे ही काटकर उसने भरपेट लाया । मुझे यह देखकर बड़ी चलानि हुई ।”

‘तुम कौन हो ?’ यह छृणित आहार तुम क्यों करते हो ?’ जब वह स्वक्षिणी विमानमें दैठने लगा, तब मैंने उससे पूछा ।

उस व्यक्तिने कहा—“मैं चिर्दी देशका राजा श्वेत था । राज्यसे वैराग्य होनेपर तप करने मैं इस आश्रममें आया । श्रीर्वकालतक तप करके मैंने देहत्याग किया । तपके प्रभावसे मुझे ब्रह्मलोक मिला । किंतु वहाँ भी मुझे शुद्धा पीड़ित करने लगी ।”

भगवान् ब्रह्मने कहा था—“इतेत ! पुर्वीपर दान किये विना इस लोकमें कोई वस्तु मिलती नहीं। तुमने किसी भिन्नस्तको भिज्ञा तप नहीं दी । केवल अपने देहको बाना प्रकारके भोगोंसे पुष्ट किया । देहको ही सुखाकर तुमने तप किया । तपका फल तो तुम्हारा इस लोकमें आना है । तुम्हार देह पृथ्वी-पर पड़ा है । वह पुष्ट और अक्षय कर दिया गया है । तुम उसीका थांस शाकर शुद्धा मिठाओ । अगस्त्य श्रूपिके मिलनेपर तुम इस छृणित भोजनसे परिव्राण पाओगे ।”



‘तबसे यह देह मेरा आहार है। मेरे प्रतिक्रिया भक्षणसे भी यह घटता नहीं।’ इतने चतुरा।

‘मैं ही अगस्त्य हूँ।’ मैंने उसे चतुरा कहा, तब वह चह लगा प्रसन्न हुआ। उसने चहे आश्रित से यह आमूल्य सुन्ने दिया। सुन्ने इसका क्या करना था, किन्तु उसके उद्धारके लिये मैंने उसका यह कान उद्धार कर लिया।

महर्षि अगस्त्यने आमूल्यकी यह कथा श्रीराम-को सुनायी। —^{श्री}

(५)

दानधर्मके आदर्श राजा हर्षवर्धन

श्रीराज प्रथममें गजा-यमुनाके संगमपर पता नहीं कहसे जब ब्रह्मपति मिथुन राज्यिपर आते हैं (प्रायः वारहवैष्णव) कुम्भ महापर्व होता है। उससे आद्ये कालमें अर्धकुम्भीका पर्व माना जाता है। पर्याप्त कुम्भपर्व भारतमें चार स्थानोंमें पड़ता है, किन्तु अर्ध-कुम्भी प्रथागमें ही मानी जाती है। इस प्रकार प्रति छठे धर्षे प्रथागमें कुम्भ अथवा अर्धकुम्भीका पर्व पड़ जाता है।

भारतसंस्कार शिलादित्य हर्षवर्धन इस कुम्भ या अर्धकुम्भी पर्वके आनेपर प्रथाग अवश्य आते थे। संस्कारकी ओरसे मोक्षसभाका आयोजन होता था। सनातन-धर्मी विद्वान् साधु तो आते ही थे, वेशके सुप्रसिद्ध चौद्ध विद्वान् तथा भिक्षु भी आते थे। संस्कार-सरके उत्तरने और भोजनादिकी व्यवस्था करते थे। एक शहीने निरन्तर धर्मवर्ची बलती थी।

यह स्मरण रखनेकी कात है कि हर्षवर्धनने अपनेको कभी राजा नहीं माना। वे अपनेको अपनी बहिन राज्यश्रीका प्रतिनिधि ही मानते थे। तपसिनी राज्यश्रीका कहना था—‘प्रथागकी यह पावन भूमि तो महादानकी भूमि है। इसमेंसे कुछ भी घर लौटा ले जाना अत्यन्त अनुचित है।’

वह मोक्षसभाका प्रथम आयोजन था। हर्षने सर्वेस-दानकी घोषणा कर दी थी। राज्यश्रीने भी सब दान कर दिया था। थन, इन्होंने आमूल्य, वस्त्र, घासन आदि सब कुछ दान कर दिया था। श्वरी-

पतके पहिनेके बलातक राज्यश्रीने सेवकोंको दे दिये। लेकिन उसे दब दौलता पड़ा जब उसके भाई संस्कार एवं केवल धोती पहिने, बिना उस्तरीय-के अनाभरण उसके सम्मुख आये और थोले—‘वहिन ! हर्ष तुम्हारा राज्य-सेवक है। यह अधोवरज लापितको दे देनेका संकल्प कर द्युका है। अपने इस सेवकको एक बख नहीं देगी।’

राज्यश्रीके नेत्र भर आये। उसके शारीरपर भी एकमात्र साढ़ी बची थी। उसने दूँका तो एक पुराना वस्त्र शिविरमें पड़ा मिल गया। यह इसलिये चब गया था कि फटकार चिथड़ा हो चुका था। किसी-को देनेयोग्य नहीं रहा था। यह चिथड़ा हर्षने के लिया और उसे लपेटकर धोती नापितको दे दी।

इसके पश्चात् तो यह परमपरा ही यह थयी। प्रति छठे धर्षे हर्षवर्धन सर्वेस-दान करते थे और बहिन राज्यश्रीसे गाँगकर यक फटा चिथड़ा लेते थे। कटिभैं धद चिथड़ा लपेटे वह भारतका संस्कार नगदेह कुम्भकी भरी भीड़में पैदल बहिनके साथ जब विदा देता था, उस महादानीकी शोभा फूल सुरोंको भी स्वप्नमें मिलनी शक्य है।

वह चिथड़ा भी हर्षके पास रह नहीं पाता था। प्रथागके उस संगम-सेव्रसे शहर निकलते ही कोई-न-कोई नरेश आते आ जाता—‘संस्कार !’ आपने सर्वेस-दान किया है। आपका यह कटिवल यानेकी कामना लिये आया है यह आपका सेवक !’

राजाभौंके स्नेहपूर्वक मिले उपद्धर तो संस्कार-को स्वीकार करने ही थे। वह कटिवल जिसे मिलता, वह अपनेको कृतार्थ एवं परम सम्मानित मानता। —^{श्री}

(६)

दानशीलता-धर्मके आदर्श—विद्यासागर

श्रीईश्वरचन्द्र विद्यासागर वहुत ही साडे वेशमें रहते थे। एक दिन कलकत्तेमें वे कहीं जा रहे थे। मार्गमें एक व्यक्तिको वहुत विश्व देखकर उस्मेंने उसके दुःखका कारण पूछा। पहले तो उसने चतुराना नहीं धारा। वहुत पूछनेपर उसने

यतलाया—‘मुझे अपनी पुत्रीके विवाहमें नमूण लेना। पहा था। रूपये देनेका प्रचन्ध हो नहीं पा रहा है। और महाजनने दावा कर दिया है। अब तो जेल काटना ही भाग्यमें है।’

विद्यासागरने उसका नाम-पता पूछ लिया। उसके साथ सहानुभूति प्रकट की और चले गये। मुकदमेकी तरीखपर वह अदालतमें गया तो पता लगा कि उसकी ओरसे किसने रूपये जमा कर दिये हैं। मुकदमा समाप्त हो गया है। रूपये किसने

जमा किये, यह सोच पाना उसके लिये सम्भव नहीं था। मर्ममें देहाती-जैसे दीवानेवाले पुरुषका यह काम होगा, पेसा अनुमान वह कैसे कर सकता था।

विद्यासागरका स्वभाव ही था कि वे अभावप्रस्त, दीन-दुखियोंका पता लगा लिया करते थे और उनको ग्राय। इस प्रकार सहायता देते थे कि सहायता पानेवाला यह न जान सके कि उसे किसने सहायता दी है। यही तो सर्वोत्तम दान है। —मु०

हमारा धर्म और शिक्षा

(लेखक—ताहिरमूरण श्रीमद्वानसिंहजी चन्द्रेल, ‘चन्द्र’)

हमारा भारतवर्ष सदैवसे ही धर्मग्राण देश रहा है; क्योंकि ‘धर्म’ ही मानवका संरक्षण और पोषण करता है। धर्मका नाश करनेपर धर्मपरित्यागीका विनाश ही हो जाता है। हमारे आचार्योंका भी इस सम्बन्धमें यही कथन है—

धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।

धर्म क्या है?

“जिससे इस संसारमें उत्तमि हो और परलोकमें कल्याणकी ग्रासि हो सके, वही ‘धर्म’ है।” ये महर्षि कणादके बचन हैं।

धर्मसे लोक और समाजका कल्याण सम्भव होता है। धर्महित समाज उच्छृङ्खल बन जाता है। धर्म ही हमको भगवत्प्रेमकी और ब्रैह्मि करता है। उसीके अनुवर्तनये अनुशासित होकर हम स्वेच्छाचारितासे सुरक्षित रह सकते हैं। इसीलिये हमको ईशोपनिषद् इस प्रकार आदेश प्रदान करता है—

ईशा बास्यमिदं सर्वं यत्कं च जगत्यां जगत्।

सेन त्पक्तेन भुजीया मा गृहः कथस्यिद्वन्म्॥

अर्थात्, इस दृश्य जगत्में जो कुछ भी है, वह सब इश भगवान् परमात्मसे ओतप्रोत है। इस संसारका उपभोग त्याग-भावसे ही करो। कभी किसीका धन मत छीनो।

जीओ और जीने दो

उक्त प्रकारका आदर्श-वाद्य हमारे भारतका एक मुख्य साधनात्मक रहा है। इसी कारण हमारे देशने किन्हीं

विदेशी और विजातीय राष्ट्रोंपर बेना लेकर आक्रमण करनेकी नीतिको स्वीकार नहीं किया, किसी जाति अथवा राष्ट्रको भयाकुल और संत्रस्त करके धन-सम्पत्तिका अपहरण करना उपयुक्त नहीं समझा। इसके विपरीत आजकीरे भौतिकवादी सम्भता, जो स्वेच्छाचारिताको प्रोत्साहन देकर अन्यान्य राष्ट्रोंका स्वल्पापहरण करना धर्म मान रखी है, घोर पाप है। इस प्रकारकी अधर्मनीति संसारके लिये एक महान् अन्यकारी अभिशाप प्रमाणित हो रही है। वर्तमानमें जिसको लोग ‘स्वतन्त्रता’ कहते हैं, वह शास्त्रमें स्वतन्त्रता न होकर स्वच्छन्ता ही है। इस प्रकारकी उच्छृङ्खल स्वतन्त्रतासे न तो व्यक्तिगत उत्तमि हो सकती है और न समाज एवं राष्ट्रका यथार्थ कल्याण ही सम्भव है। इस प्रकारकी उद्धृतापूर्ण दुष्प्रवृत्तिसे भानवताका विनाश अवश्य ही सुनिकट उपलब्ध होगा।

हमारे देशने संसारके कल्याणार्थं विश्वन्धुत्व और विश्व-प्रेमकी कल्पनाके शुभ संदेश मानव-जातिको प्रदान किये हैं। हमारे धर्मने ‘जीओ और जीने दो’—इस सिद्धान्तकी व्यावहारिक रूप देकर संसारके सामने एक भव्य और भव्य संदेश प्रस्तुत किया है। देखिये, वेद—भगवान्, हसीं संदेशका उद्घोष करते हुए कहते हैं—

मानव और वेद

सं गच्छत्वं सं वदत्वं सं दी सन्तासि जानताम्।

देवा भागं थथा पूर्वे संभाजनासुपासते ॥

(अन्वेद १०। १११। २)

अर्थात् तुम सब मिलकर रहो । तुम अपने धर्ममें
निरल हो । एक बात देखो । अपने सबमें उन वातोंकी
एक ही व्याख्या करो । एकचित्त होकर जिस प्रकार देव
तुम्हारे प्रदान किये हुए हृष्टको प्रहण करता है, उसी
प्रकार अपने सभी विरोधीको परित्याग करके उसके समान ही
हृष्टभावका आदर करो ।

समानो मन्त्रः समितिः समानी
समानं मनः सह चित्तनेपाम् ।
समानं भवत्तमिभि मन्त्रये वः
समानेभ्यो हृषिः छुट्टेभिः ॥
(ऋचेद १० । १९१ । ३)

अर्थात् सबका मन्त्र एक हो । उसकी उपलब्धि भी
उसके लिये समान हो । अन्तप्रदेश, विचार-धारा और
ज्ञानावलोकन सभीके लिये समान उल्लम हो । तुम्हारे
हृष्टोंमें दूसरोंका हित-साधन करनेके लिये एक ही प्रकारका
सिद्धान्त निवास करता हो । तुम्हारे मनोंमें इष्टव्याधनार्थ
आहुति-दानकी एक समान मावना निवास करती हो ।

समानी व वाक्षतिः समाना हृदयानि वः ।
समानमस्तु वो सबो चया वः सुसहायति ॥
(ऋचेद १० । १९३ । ५)

अर्थात् तुम सबकी चेष्टा एक समान हो । तुम सबका
निष्ठय एक तमान हो । तुम्हारे हृदय एक हो । तुम
सबका हृदय एक समान ही उदात्ता रक्षना हो । तुम
सबका एक समान रहन-सहन हो ।

आदर्श समाजका पथ

उक्त आदर्श एक ऐसे समाजका है, जो सब प्रकारसे
एकस्मयके आधारपर अपना आचार-विचार बनाता है
और धर्मके महाप्रसादसे ज्ञन-कल्याणकारी पथकी यात्राके
लिये प्रवाण करनेकी सद्मोक्षना रखता है । ऐसे समाजमें
आपाधारीके लिये शक्त-शक्त नहीं होती । पारस्परको कोई
विरोधभाव नहीं होता । एक व्यक्ति दूसरेको नीने गिराकर
मत्स्य-न्यायके दूषित संदेशके सम्बन्धमें कहीं कोई प्रोत्साहन
प्रदान नहीं करता । आजके विधकी संकटापक अवस्थाको
अवलोकन करते हुए वर्तमानकालीन विजितमें मानवीय
सद्गुणोंको सीखने-सिखानेका प्रयत्न किया जाना नितान्त
ही आवश्यक हो रहा है । सबसे पूर्व इमारे भारतवर्षको ही
इस द्वितीये पहल करना है ।

कहनेके लिये हमारा देश स्वाधीन अवश्य है ।
धर्मचरणके दृष्टिकोणसे हम आज भी प्रार्थीत हैं
आद भाषा, वेप-भूगा, आचार-विचार, खान-ना
हत्यादिके विषयमें हमने मानिक्यादी वाक्षाय संसारका अन
भक्तिके साथ अनुसरण करना ही अपना आदर्श—उक्त व
रक्षा है । इस प्रकारकी दृष्टिकोणसे हमें तुरातिर वन
होता । हम जानते हैं कि तंत्रादके अन्यान्य राष्ट्रोंके साथ
हमको भी उद्गीती बनकर लीयित रहना हमारा ए
दायित्वरूप कर्तव्य है । स्वाधीन राष्ट्रोंकी विचार-विवादों
अनुनार हम भी इस रासारमें मानव-कल्याणकारी वि
साधार्यके संचालन और परिवर्णार्थ एक महावृत्तभासा
आभास पा रहे हैं ।

हमें अपने धार्मिक विश्वासके अनुनार ही, किंतु देश
और जातिके प्रति कोई हृष्टां अथवा वृग्याभाव नहीं है ।
हम अपने धर्म, तंस्त्रुति और राष्ट्रकी रक्षा करते हुए
समुद्दित रूपमें अपने जात-समाज और धर्मका आश्रय
प्राप्त करके ही राष्ट्रोधानलों दिशामें प्रगतिशील रहना
चाहते हैं । इस अपनी विश्व शताविद्योंकी दासता-जन्म
आसुरी शिवार्दीधाका दुर्वह भार उत्तर फँकनेके लिये
व्यय बन रहे हैं । हम जाहते हैं कि सत्य, दया, न्याय,
आहिंसा, उदारता, स्वतंत्रमयन, शौर्य, सत्साहस और
सद्विवेक इत्यादि नातनी गुणोंको धारण करके, एक
मर्वानि कान्तिको जन्म प्रदान किया जाय । हमारी वयेष
प्रगतिमें आजकी दूपित शिवा इमारे नार्मका रोदा बनकर
हमें अपगामी पक्की ओर अप्रतर नहीं होने दे रही है ।
अतः इस विकासिमूलक शिवाका शहिष्ठार हमारे देशसे
शीघ्रात्मीय होना ही अनिवार्य है ।

यह धर्महीन शिवा ।

आजकी भौतिकवादी शिवा, मनुष्यको ऐवल सांसारिक
चुक्क-उपभोग करनेका ही साधन प्रदान करती है । इस
शिवाका लक्ष्य धर्म और तंस्त्रुतिये कुछ भी मम्पक्त नहीं
रखता । इस कुशिविशाका वृत्त फेवल वही एक लक्ष्य है—
आवज्जीवे मुखं जोवेद् याणं हृत्वा शृतं पिवेत् ।

भसीभूतल देहस्तु पुमरागमनं कुतः ॥

अर्थात् ज्यवत्क जीओ, दुर्वपूर्वक जीओ; मनसाना
आचार-व्यवहार पालन करो । धर्म-कर्मका कोई भी विवेक
रखनेकी आवश्यकता नहीं है । सुरोफ्मोगके लिये चाहे

जितना क्षणी कर्मों न चेना पड़े, कोई चिन्ता नहीं है; कर्मोंकि कदाचित्, फिर इस प्रकारका सच्चल्लता-पूर्ण व्यवहार कर सकनेका सुअवसर प्राप्त हो अथवा न हो।

आज हमारे देशमें अर्थ-चक्र बहुत द्विरी प्रकारसे परिचलित हो रहा है। इसके दुष्प्रभावों गाँव-बाहर, शिक्षित-विद्युतित, पुरुष-स्त्री शासकीय-शासकीय, लेखक-किसान, श्रमिक, व्यापारी, ब्राह्मण-स्त्रिय, वैद्य और हरिजन हत्यादि, सभी कोई—सभी स्थानवर और सभी समय—छल-छिड़, वैदेशी, भ्रष्टाचार, मिलाइट, चोरी, जुआ, शराब, व्यभिचार और अनेकानेक घृणित कृत्योंद्वारा धमार्जन करनेके लिये कठिनदूर बन रहे हैं। इस प्रकार हमारे देशके इस ओर अधर्मचरणको कुशिशाका ही दूषित परिणाम कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं है। अंग्रेजी शिक्षाने हमारे देशके नवयुवक और युवतियोंके मन-मस्तिष्कोंहीना कुण्ठित बना दिया है कि हम स्वतन्त्रता-प्राप्तिके पश्चात् भी उत्सादित अवस्थामें कालयापन कर रहे हैं? किनते परिताप और पश्चाचामका विषय है कि जिस देशमें लोकमान्य तिळक, महात्मा गांधी और पण्डित जगद्गुरुलाल नेहरू-जैसे त्यागी नेताओंने आजादीके लिये अनेकों कष्ट सहन किये हैं और देशके हजारों व्यक्तियोंने अपने आत्मबलिदानसे भारत-माताके चरणोंमें सर्वस्व समर्पण कर दिया है, आज हम उन सभी वलिदानोंको दुकराकर रोजां-सेटीके दुकड़ोंके लिये भर रहे हैं।

भूतकालीन शिक्षा

हमारी भारतीय शिक्षाका लक्ष्य पूर्णतया सांस्कृक प्रवृत्ति-को प्रथम प्रदान करनेका रहा है। संसारमें जीवित रहनेका अधिकार तो सभीका है, किन्तु यह अधिकार उच्छृङ्खल जीवन व्यतीत करनेके लिये नहीं है। हमारा लक्ष्य यह हो कि हम

मानवीय सत्कर्मोंका पालन करते हुए अपने धार्मिक सिद्धान्तोंका कभी भी विसरण न करें। देखिये भूतकालीन शिक्षा अपना कितना उच्चादरी रखती थी—

विद्या द्वाति विद्यं विद्याद्वाति पात्रताम् । १

पात्रताद्वानपात्रोति धनाद्वार्म ततः सुखम् ॥

अधीत् विद्यासे नम्रता प्राप्त होती है। नम्रताद्वारा पत्रताकी उपलब्धि होती है। पात्रताद्वारा ही धनाद्वारा किया जा सकता है। इस प्रकारके सत्प्रथासे प्राप्त किये गये धन-द्वारा धर्म-समादान होता है और उससे वास्तविक सुखोपलब्धि होती है। २

नवीन शिक्षाद्वारा क्रान्ति

हमारे स्वाधीन देशके अंदर विविध प्रकारके कार्य-क्रम प्रसारित हो रहे हैं। अनेक प्रकारकी राष्ट्रोद्धारक पंचवर्षीय योजनाओंका कार्यान्वयन हो रहा है। मारतके कोने-कोने से हिंदी राष्ट्रभाषा और प्रान्तीय भाषाओंके द्वारा जन-स्मानसका नूतन संरक्षण होनेकी आवाज उठायी जा रही है। हम उस बड़ीकी प्रतीक्षा कर रहे हैं, जब देशमें साम्राज्यविकलाकी सीमासे बाहर रहकर केवल भारत-प्रायोत्त्यानके लक्ष्यसे महाँकी शिक्षा-दीक्षाका पुनर्निर्माण हमारी भारत-सरकार करनेके लिये उदय बनेगी। जबतक भारतीय धर्मके उच्चत सिद्धान्तोंके साथ पाश्चात्य संसारके उपयुक्त इष्टिकोणका पारस्परिक समन्वय होकर शिक्षा-सिद्धान्त निर्धारित नहीं किये जायेंगे, तबतक हमारा राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकेगा। हम पूर्व-पश्चिम-के भेंटरजालमें प्रवित हैं। अतः आइये, हम सब अपनी सरस्वतीदेवीकी पूजा वेदधानिसे करनेके लिये प्रत्युत हों और संतुष्ट राष्ट्रके जीवनको इत नूतन क्रान्तिद्वारा परितोष प्रदान करें।

घोर अविद्या, अविद्या, विद्या

घोर अविद्या जो मानवको कर दे पायेमें संलग्न ।
असुर-साव भर रखे ल्यात्य जो अर्थ-काममें नित्य निमग्न ॥
वह भी नित्यव विपम अविद्या जो मनसे भरकर अज्ञान ।
वैद्यभोगस्त रखे, सुला प्रभुको जो उपजा कर अभिमान ॥
विद्या वह जो हैची-समस्वसे भर दे, कर प्रभुका दास ।
सदा रखे प्रभु-सेवामें जो मिटा दृढ़—सारे अभिलाप ॥

सामान्य-धर्म और विशेष-धर्म

धर्म दो प्रकारके हैं—सामान्य और विशेष। सामान्य धर्म सर्वलोकोपकारी, शास्त्ररम्भतः, सबके लिये यथादोग्य अधिकारात्मक आचरणीय और सर्वथा यैष होता है। वर्ण-धर्म, आश्रम-धर्म, पिता-भाता, पति-पत्नी, पुत्र-सन्ना, गुरु-शिष्य, राजा-प्रजा आदिके विभिन्न आदर्श व्यक्ति-धर्म भी—सब सामान्य धर्मों का जाते हैं। इसमें शास्त्र-विशद् विचार और आचार सर्वथा निभिद् हैं। अपने-अपने क्षेत्र तथा अधिकारात्मक शुभका ग्रहण तथा अशुभका परित्याग सावधानीके साथ किया जाता है। पिता, पति, गुरु राजा अदिकी सेवा पूर्णतये की जाती है, संतानका पालन-पोषण, पत्नीका सुख-हित-साधन, शिष्यका प्रिय-हित-साधन, प्रजाका पालन मी पूर्णतये किया जाता है। पर यह सब होता है शास्त्ररम्भतः। पिताकी, पतिकी, गुरुकी और धर्मात्मा राजकी आशा बहातक स्वीकार की जाती है, बहातक उस आत्मके पालनसे उन आशा देनेवाले पूजनीय जनोंका अहित न हो, भले ही अपने लिये कुछ भी त्याग करना पड़े। पर जो आशा शास्त्रविशद होती है, जिसके अनुसार कार्य करनेसे आशा देनेवालोंका भी अहित होता है, वह आशा नहीं यानी जाती। जैसे पिताकी आशासे पुत्रका घोरी, डकैती, खून करना; पतिकी आशासे पत्नीका पर-पुरुषसे मिलना या पतिके व्यभिचारादि कुक्षमोंमें सहायक होना। इसी प्रकार पिता, पति, गुरु, राजा, मित्र, देश पर्व आतिके लिये भी वहे सेवका त्याग करके वही कार्य किये जाते हैं जो वैष—शास्त्ररम्भतः होते हैं और ऐसा ही करना भी चाहिये। जो शास्त्र-विधिका त्याग करके मनमाना आचरण करते हैं, उनको परिणाममें न सफलता मिलती है, न सुख मिलता है और न परम शति ही प्राप्त होती है (गीता १६। २३) ।

जो निज-सुखके लिये—इन्द्रियोंकी वासना-नृति या काम-क्रोध-लोभश्च अवैषध कर्म—शास्त्र-विशद् आचरण करते हैं, वे

* मनुश्वरिमें कथित शृणु, क्षणा आदिके सदृश भानवमात्रके लिये पालन चरनेयोग्य धर्मोंको 'सामान्य धर्म' और वर्णधर्म, आश्रमधर्म, व्यक्तिधर्म आदिको 'विशेष धर्म' माना जाता है—यह सर्वथा गौक और मानवीय है। यहों इस लेखमें 'सामान्य धर्म' और 'विशेष धर्म' पर दूसरे इष्टिकोपसे विचार किया गया है।

तो प्रसाद पाप करते ही हैं; परंतु जो दूसरोंके लिये भी शास्त्र-विपरीत आचरण करते हैं वे भी पापी हैं। अतएव शास्त्र-विशद् आचरण किसी भी समय किसी भी हेतुसे किसीके भी लिये नहीं करना चाहिये। यद्युपर्याप्त सर्वसाधारणके लिये पालनीय सनातन धर्म है ।

पर एक विशेष धर्म होता है, जिसमें निज स्वार्थका त्याग तो होता ही है, शिष्यसे-प्रिय सम्बन्धियों, वल्लभों और परिवितरियोंका त्याग भी सुखपूर्वक कर दिया जाता है। एक परम धर्मके लिये सभी छोटे-छोटे धर्मोंका त्याग हो जाता है। इसी प्रकार आत्मीय-स्वजनोंका त्याग भी होता है ।

पिता तज्जी ग्रहकाद्, विभीषण वंशु, भरत महतारी ।

वल्लभुत्तज्जी, कंत ब्रज वनितनि, भये जग मंगलकारी ॥

भगवानसे ग्रोह रखनेवाले पिताकी वात प्रह्लादने नहीं मानी, विभीषणने यहे भाई रावणका त्याग कर दिया; भरतमे रामविरोधिनी मातासे सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया, वल्लभे गुरु शुक्राचार्यकी वात न मानकर चामनभगवानको दान किया और शजाङ्गनाओंने अपने-अपने परिवर्योंको छोड़ दिया। पर ये कोई भी पापी नहीं हुए, न परिणाममें इन्होंने दुःख ही भोगा; वरं सारे संकारके लिये इनका चरित्र कल्याणकारी हो गया ।

इनमें प्रह्लाद तथा वल्लभ त्याग तो वहे धर्मके लिये छोटे धर्मोंका त्याग है। विभीषणका त्याग कुछ विशेष धर्मका है; क्योंकि उसमें रावणसे ग्रोह किया गया है। भरतका त्याग उससे भी केवल विशेष धर्मका है; क्योंकि उसमें माताके प्रति भरतका क्रोध है तथा उनके प्रति अपशब्दोंके प्रयोगके साथ ही उनका विद्विकार है। श्रीगोपाङ्गनार्जुनका त्याग सर्वथा विशुद् विशेष धर्मका है। जिसमें स्व-सुख-वाचाद्वारा सहित केवल प्रिपतम-सुखार्थ लोक-बेद-सम्यादाका—शास्त्रका प्रस्तुत उल्लङ्घन है। जहाँ कोई स्व-सुख-कासना है, जहाँ शुभ-अशुभका ज्ञान है और जहाँ कर्तृव्य-अकर्तृव्यका ज्ञोध है, वहाँ शास्त्र-उल्लङ्घनस्य विशेष धर्मका आचरण नहीं हो सकता। वहे धर्मके लिये छोटे धर्मका त्याग शुद्धिमानी है, विशेष लाभका परिचयका है। पर जहाँ धर्म-अधर्म, पुण्य-पाप, कर्तृव्य-अकर्तृव्य, शुभ-अशुभका कोई वोध ही नहीं है, जहाँ केवल विशुद् अनुराग है, वहाँ केवल 'एक'भाज सम्बन्ध

रह जाता है। उसीका अनन्य चिन्तन होता है। उसीकी एकान्त स्मृति रहती है, जीवनका प्रत्येक स्तर और प्रस्तेक कार्य सहज-स्थानाधिक ही उसी धर्म से सम्बन्धित हो जाता है। जहाँ अपना जीवन, अपना कार्य है ही नहीं, वहाँ इस विशेष-धर्म का पूर्ण प्रकाश हुआ करता है और इसका एकमात्र सर्वोच्च उदाहरण है—‘महाभाग्यदती श्रीगोपाङ्गना’।

भगवन्ने स्वयं अपनेको उनका चिर शृणी माना है और उनके लिये कहा है—

सा भन्ननस्य भजाणा मर्दये त्यक्तैदिकाः ।

वे मेरे मनवाली, मेरे प्राणवाली हैं और मेरे लिये उन्होंने अपने सारे दैहिक सम्बन्धों तथा कर्मोंको छोड़ दिया है। अर्थात् वे मेरे ही मनसे मनस्तिनी हैं मेरे ही प्राणोंसे अनुग्राणित हैं और केवल मुझसे ही सम्बन्ध रखकर मेरे ही कर्म किया करती हैं।

इनसे निम्नकोटि के भी बहुत-से उदाहरण हैं। एकमात्र पितृभक्तिके लिये वरद्वारामजीके द्वारा माताका बधः भ्रातृभक्ति लक्षणका पिता दशरथ आदिपर क्रोध, पतिभक्ता शारिष्ठलीका पतिको वेस्यालय ले जाना, पतिस्त्रा घोषतीका पतिके आहानुसार अतिथिको देह समर्पण कर देना आदि। इन सभीमें उनके भर्मकी रक्षा हुई है। वे पापसे बचे ही नहीं, पापकर्म-सम्बादसे भी प्रायः बचर लिये गये हैं। ऐसे ही शुश्रमकिके, आदिष्यके, भ्रातृभक्तिके, देशमक्ति-के बहुत-से उदाहरण मिलते हैं। पर इस विशेष धर्मका आचरण विशेष परिस्थितिमें पहुँचे हुए परस उदाचारी, त्वागी, विशरणी, एकनिष्ठ व्यक्तियोंके द्वारा ही सम्भव है। देखादेखी न तो इसका आचरण करना चाहिये, न उससे लाभ ही है, बरं उससे हानि हो सकती है। पाप तो पल्ले बैध जाते हैं, निष्ठा रहती नहीं, इससे परन ही ही जाता है। यहाँ विशेष-धर्मके चार उदाहरण नीचे दिये जाते हैं।

(१)

प्रेमधर्मकी विशिष्ट सजीव प्रतिमाएँ श्रीगोपाङ्गना

श्रीगोपाङ्गनाएँ श्रीकृष्णप्रेमरूप अनन्य विशेष धर्मकी सजीव मूर्तियाँ थीं। उनका विच्चरण, शुद्धिन्हाँकार—सब कुछ प्रियतम श्रीकृष्णके समर्पित हो कुका था। शारदीय पूर्णिमाकी उच्चल-ध्वनि सुधा-शीतल रात्रिमें प्रकृतिकी अपरिसीम शोभा-मुख्यमात्रे संयुक्त रमणीय अरण्यमें भगवान् श्रीकृष्णने सद्मयी

रासकीड़ा करनेका—दिव्य प्रेमरसाखादनरूप चिजस्वरूपानन्द-वितरणका संकल्प करके मधुर मुरलीकी मधुमस्ती तान छेड़ी, वह ही मधुर स्वरमें श्रीगोपाङ्गनाओंका आवाहन किया। गोपाङ्गनाएँ तो ‘श्रीकृष्णगृहीतमानसा’ थीं ही। मुरलीकी मधुर ध्वनिने उनकी प्रेमलालसाको अद्यरूपसे बढ़ा दिया। वे सब उन्मत्त होकर चल दीं—

मुख्यके मधु स्वरमें सुनकर प्रियतमका सम्मय आहान।
हुँ भभी उन्मत्त, चली तज तजा, धैर्य, शील, कुल, मान॥
पर्ति, शिशु, शृह, घन, धन्य, वसन,

भूषण, गी, कर भोजनका द्याय।
चलीं जहाँ जो जैसे थीं, भर भनमें प्रियतमका अनुराग॥

जो गोपियाँ गाय दुह रही थीं; वे तुहना छोड़कर; जो चूल्हेपर दूध औदा रही थीं; वे उफनता हुआ दूध छोड़कर; जो भोजन बना रही थीं; वे अधूरा ही बना छोड़कर; जो भोजन परस रही थीं; वे परसना छोड़कर; जो छोटे-छोटे बच्चोंको दूध पिला रही थीं, वे दूध पिलाना छोड़कर; जो पतियोंकी सेवा-कुशला कर रही थीं, वे सेवा-कुशला छोड़कर; जो स्वयं भोजन कर रही थीं, वे भोजन छोड़कर प्रियतम श्रीकृष्णके पास चल दीं। जो अपने शरीरमें अज्ञायग, चन्दन और उबद्ध लगा रही थीं और जो ओर्लोंमें अङ्गन आँज रही थीं, वे इन लब कामोंको अधूरा छोड़कर— यहाँतक कि बच्चोंको भी उलटेपलटे (ओढ़नी पहल तथा धावरा ओढ़कर) पहनकर दुरेत चल पड़ीं। किसीने एक दूसरीको न बताया, न कुछ कहा। कहतीं-कहतीं कैसे ? मन-इन्द्रियों तो सब श्रीकृष्णमें तन्मय थीं। वे सब प्रियतम श्रीकृष्णके समीप पहुँच गयीं।

श्रीकृष्णने उनके विशेष धर्म—एकमात्र प्रेम-धर्मकी परीक्षाके लिये अध्यक्ष उनके प्रेमधर्मकी महिमाका विचार करनेके लिये उन्हें भाति-भाँतिके भय दिखलाये, यद्यस्थीके कर्त्तव्य तथा समस्त जनोंके अवश्य पालन करने योग्य सामान्य धर्मकी महत्वपूर्ण बातें समझायीं और उनसे लौट जानेका अनुरोध किया। भगवान् बोले—

भाषाभागाओ ! हुग्हाय सागत है; कहो तुम्हारा कौन-सा प्रिय कार्य करें ? इस समय तुम क्यों आयीं ? यज्ञमें कुशल तो है न ! देखो—शोर चाहि है, भवानक जीव-जन्म धूम रहे हैं; तुम सब लौट जाओ। बोर बंगलमें रत्नके समय रकना ठोक नहीं। तुम्हारे मातापिता, पति-पुत्र, बन्धु-

ब्राह्मन् तुमको न देखन्तर भयभीत हुए टैंड रहे
होंगे । तुमने बनकी शोभा देख ही ली । अब जरा
भी देर न करके तुरंत लैट जाओ । तुम मध्य कुलीन
महिलायें हो, सती हो । जाथो, अपने पतियोंकी नेवा करो ।
देखो, तुम्हारे छोटेस्तोटे वन्दे रो रहे होंगे और गायोंके
बछड़े रोमा रहे होंगे । वचोंको दूध मिलाओ, मौथोंको
दुहो । मेरे प्रेयसे आयी हो सो उचित ही है । मुझमे जभी
जीव प्रेम करते हैं । परन्तु कल्याणी गोपियो ! नियोग
परम धर्म ही है पतियोंकी, उनके भाद्र-वायुओंनी नेवा करना
और संतानका पाठन-पोषण करना । जिन नियोंको
ओषुखोंकी प्राप्ति अभीष्ट हो, वे एक पानकी (भावद्विमुग्ध)
पतिको छोड़कर बुरे स्वभाववाले, भाग्यहीन, धुँठ, मूर्ख,
रोगी और निर्बन्ध पतिका भी लाग न करके उत्तरी नेवा
करे । कुलीन लियोंके लिये उपतिस्त्री नेवा करना सब
तरहसे निन्दनीय, लोकमें धकीर्ति करनेवाला, परम्पराको
चिंगाड़नेवाला और स्वर्गसे बङ्गित करनेवाला है ।
इस अस्यन्त तुच्छ धर्मिक झुक्फुस्मे कष्ट-री-कष्ट है । यदि
सर्वथा परम धर्म—वरक-यातना आदिका न हो है । मेरा
प्रेम तो दूर रहकर जीर्तन-व्यासमे प्राप्त होता है । अतएव
तुम तुरंत लैट जाओ ।

श्रीकृष्णका यह भाषण सुनकर गोपियों एक थार तो
वही चिन्तामें पड़ गयी, पर पवित्र प्रेमका स्वरूप आते
ही उन्होंने कहा—“मिष्टम ! तुम हमारे मनमी गव जानते
हो । हमारे तो एकमात्र धर्म-कर्म सब कुछ तुम ही हो;
तुम्हारे चरणकमलोंको छोड़कर हम कहाँ जायें और फँसी
जाकर भी क्या करें ?” मगजान्ते उनकी एक त्वागमती
तथा अनन्य भावमवी—रसमयी व्रीतिज्ञ धादर हिंदा और
उहें पहलेते ही अपना रक्षा है—इससा प्रतात अनुभव
करा दिया । श्रीगोपालनाएँ हम विशेष धर्मी प्रत्यक्षा
जीवित प्रतिमाएँ हैं । उनका भाव और मनोरथ है—

सर्वे जायें या फँड़ी रहे हम घोर नाकरे आटो बाम ।
यक्ष पायें या कहरावे व्यनिजारिणि-कुला- ही वदनाम ॥
सुख जायें या धिरी रहे हम नित हुँसें ॥ अविराम ।
दैत्य धिना न रह सकहो फँड हम गौदम-मुप-चन्द्र लगाम ॥
पड़े पै-हाथोंमें बैड़े-कही, दैये चन्धन दिलाल ।
पीसा पड़े हलाल विष, किर पड़े लिचानी करो राज ॥
रहे भूली लौकन-उपर नित दीपम हुँसेंको नाज ।
मँझे नहीं मूलकर, फँसमर, हम प्राणक्रियतम नैदलाम ॥

भक्त । वे पिताकी आशाका फादन करना ही अपना एह-
मान् धर्म मानते थे । जमदग्निने परशुरामसे कहा—“पुण !
अपनी हस्त पापिनी माताको तू अभी मार डाल और मनमें
किसी प्रकारका खेद मत कर ।” परशुरामजीने पिताकी आशा
पाते ही उसी क्षण फला लेकर माताका मस्तक
काढ़ दिया ।

रेणुकाके मरते ही जमदग्निका क्रोध सर्वथा घास्त हो
गया और वे ग्रसन्न होकर कहने लगे—“वेठा ! तूने मेरी
वात मानकर वह काम किया है, जिसे करना बहुत कठिन
है । इसलिये तू अपनी मनमानी सब चीजें माँग ले ।”
पिताकी वात सुनकर विचार्यील परशुरामजीने कहा—
“पिताजी ! मेरी माता लीकित हो जायें और उन्हें मेरेहरा
मारे जानेको वात वाद न रहे । उनके मानस पापका सर्वथा
नाश हो जाव । मेरे चारों भाई पूर्ववत् स्वस्य बुद्धिमान् हो
जायें । युद्धमें मेरा सामना करनेवाला कोई न हो और मैं
दीर्घ आशु प्राप्त करूँ ।” जमदग्निजीने बरदान देकर परशु-
रामजीकी सभी कामनाएँ पूर्ण कर दीं । इस प्रकार पिण्ड-
आशा-पालनल्लूप विशेष धर्मके पालनसे परशुरामजी पापसे ही
मुक्त नहीं हुए, वरं उच्च स्थितिको प्राप्त हो गये ।

(३)

आतुरमक्त लक्षण

मगवान् श्रीरामके वनगमनकी वात सुनकर लक्षणजीको
बड़ा क्षोभ हुआ और वे इसे पिता द्वाराथ एवं माता कैफेयी-
का अन्याय मानकर उन्हें दण्ड देनेको तैयार हो गये ।
उन्होंने कहा—“माईजी ! मैं जिताकी और जो आपके
अधिपेक्ष्ये विद्य ढालकर अपने पुत्रको राज्य देनेके लिये
प्रयत्नमें लगी हुई है, उच्च कैफेयीकी सारी आशाको जलाकर
मस्त कर दूँगा—

अहूं तदाशां धक्षयासि पितुस्तस्याथ था तथ ।

अभिपैकृतिष्वासेन पुन्नराज्याय वर्तते ॥

(वा० चा० लब्दोद्धा० २३ । २३)

फिर नव राम बन जाने लगे, तथा तो लक्षण से पढ़े
और श्रीरामजीके पैर पकड़कर लेने—“मैंया ! मैं आपके
विना यहाँ नहीं रह सकता । अद्यत्याका राज्य तो क्या है—
मैं आपके विना ज्वर जाने, अभर होने वा देवतव प्राप्त
करने तथा समस्त लोकोंका ऐश्वर्य ग्रात करनेकी भी इच्छा
नहीं रखता ।”

त देवलोकाक्षमण नामस्त्वमहं वृणे ।

ऐश्वर्यं चापि लोकानां कामये न त्वया विना ॥

(वा० चा० अद्योद्धा० ३१ । ५)

श्रीगोम्बायी तुलसीदासजी उस समयका वर्णन करते हुए
लक्षणजीकी उन्हें साथ ले चलनेके लिये विनीत प्रार्थनाका
स्वरूप इस प्रकार शब्दात्मते हैं—मगवान् राम नव लक्षणको
नीतिका उत्तरदेश करके वर रहनेका अनुरोध करते हैं, तब
लक्षण अत्यन्त व्याकुल हो जाते हैं, ग्रेमवश उत्तर नहीं दे
पाते और अकुलाकर चरण पकड़ लेते हैं तथा कहते हैं—

नाथ दासु मैं स्वामि तुम्ह तज्ज्ञ त फाद बसाइ ॥

दीन्हि मौहि स्त्रिय मीलि योसाइ ॥ कामि अग्न अपनी कदराइ ॥

नत्वर धीर धरन तुर धारी ॥ निगम नीति कहुं ते अधिकारी ॥

मैं सिसु प्रमु द्वंहै प्रतिपाला ॥ मंदरु नेद कि लोहि मरहा ॥

गुर धिनु मातु न वामड़ काहू । कहुं सुमाइ नाथ पर्दिआहू ॥

जहै लगे जनत समेह सगाइ ॥ प्राप्ति प्रत्यति निगम निजु गाइ ॥

मोरे सबइ एक तुम्ह स्वामी ॥ दीनबंधु वर अंतरदामी ॥

वस नीति उत्तेजिय ताही ॥ कीर्ति भूति तुम्हाति प्रिय नाही ॥

नन क्लप बनन अनन्त होइ ॥ कृपासिंहु परिहरिय कि सोइ ॥

इसके पहले जनकपुरमें धनुष्यक्षके अवसरपर मगवान्
श्रीरामके वहाँ समुपलित रहते जब जनकजीने “बसुभराको शीर-
विहीन” वता दिया; तब लक्षणजीने उसे श्रीरामका अपमान
समझा और वे जनकका तिरस्कार कर दैठे । फिर परशुरामजीके
साथ लोकरी-स्त्री चर्चा हुई, उससे भी लाप्त होता है कि
लक्षणजी श्रीरामका किसी प्रकार विशिक-सा भी तिरस्कार
नहीं तह सकते ।

चित्रकूटमें जब मरतजीके सद्भवन आनेकी वात जुनी,
तब राम-श्रीमदा वहाँ भी अप उत्तेजित हो उठे । मगवान्
रामने अद्योद्धायें मीं, यहाँ भी लक्षणको उमड़ाया, सैमाला;
पर लक्षणजी अपने विशेष धर्म भ्रातुप्रेमके लिये उच्च कुछ
करनेको तैयार थे ।

(४)

पतिपरायणा शापिङ्डली

नाम तो था श्रीच्छ्री, किंतु शापिङ्डल गोत्रमें उत्पन्न होनेके
कारण लोग उन्हें शापिङ्डली कहते थे । उनका विचाह

प्रतिष्ठानपुरके कौशिक नामके ब्राह्मणसे हुआ था। विभासा-का विद्याम भी कैसा है—शाणिडली परम सुन्दर, शीलवान् एवं धर्मनिष्ठ थीं और कौशिक अपने हुक्मोंके कारण कोही हो गया था। इतनेपर भी उसकी इन्द्रियलोक्षमता मिथ्यी नहीं थी।

पतिकी सेवा ही नारीका परम धर्म है—यह निश्चय रखनेवाली वे महनीया कोही पतिके घाव धोती, उसके पैरोंमें रेल लगाती, उसे नहलती, घड़ पहिनती और अपने हाथसे मोजन करती। लेकिन ब्राह्मण कौशिक कोधी था। वह अपनी पत्नीको बाँटता-फटकारता रहता था।

एक दिन उस कोही ब्राह्मणने बर बैठे-बैठे मार्गसे जाती वेश्याको देख लिया। उसका चित्त बेचैन हो गया। स्वयं ही कही जा सकता नहीं था, निर्वज्ञतापूर्वक पत्नीही ही उसने अपनेको वेश्याके पास ले चलनेको कहा। पतित्रता पत्नीने चुपचाप पतिकी यात स्वीकार कर ली। कमर कस ली और पर्याप्त हुक्म ले लिया; व्योकि अधिक धन पाये बिना तो वेश्या कोहीको स्वीकार करनेवाली नहीं थी। इसके बाद पतिको कंथेपर बैठाकर वे घरसे छलीं।

संयोगकी यात, उसी दिन माण्डव्य ऋषिको चौरीके संदेहमें राजने शूलीपर चढ़वा दिया था। शूली मार्गमें पढ़ती थी। अन्धकारपूर्ण रात्रि, आकाशमें मेव छाये, नेवल विजली चमकनेसे मार्ग दीखता था। पतिको कंथेपर बैठते शाणिडली जा रही थी। शूली शरीरमें तुम्ही होनेसे माण्डव्य ऋषिको वैसे ही बहुत पीड़ा थी; अन्धकारमें दीखन पढ़नेके कारण कंथेपर बैठे कौशिकके पैर शूलीसे टकर गये। शूली हिली तो शूषिको और पीड़ा हुई। शूषिने क्रोधमें शाप दे दिया—जिसने हस कछकी दज्जामें पहे मुझे शूली हिलकर और कष्ट दिया है, वह पापात्मा, नराधम सूर्योदय होते ही मर जायगा।

बड़ा दासण शाप था। सुनते ही शाणिडलीके पद रुक गये। उसने भी हृद सरमें कहा—अब सूर्योदय ही नहीं होगा।

प्राणका भय यहां कठिन होता है। मृत्यु सम्मुख देख-

कर कौशिक ब्राह्मणकी भोगेच्छा मर गयी। उसके कहनेसे शाणिडली उसे लेकर पर लौट आयी। किंतु समयपर सूर्योदय नहीं हुआ तो सारी दाइमें व्याकुलता कैल मरी। धर्म-कर्म—सबका लोप होनेकी सम्भावना हो गयी। देवता व्याकुल हो गये। अनसूयाजीकी दारण ली देवताओंने। ब्रह्माजीने उन्हें मार्गीय अत्रिकी पत्नी अनसूयाजीके पास भेजा। देवताओंकी प्रार्थनासे अनसूयाजी उस ललीके घर पधारी।

‘देवि। आपने पधारकर मुझे छुताये किया। पतित्रताओंमें आप शिरोमणि हैं। आपके आनेसे मेरी श्रद्धा पति-सेवामें और बढ़ गयी। मैं और मेरे पतिदेव आपकी कथा सेवा करें।’ शाणिडलीने अनसूयाजीको प्रणाम करके उनकी पूजा की और उनसे पूछा।

‘मुझ्हरे बचनसे सूर्योदय नहीं हो रहा है। इससे धर्मकी मर्यादा नष्ट हो रही है। तुम सूर्योदय होने दो; क्योंकि पतित्रता नारीके धन्यनको दालनेकी शक्ति त्रिलोकीमें दूसरु किसीमें नहीं है।’ अनसूयाजीने कहा।

‘देवि। पति ही मेरे परम देवता है। पति ही मेरे परम धर्म हैं। पतिसेवा छोड़कर मैं दूसरा धर्म-कर्म नहीं जानती।’ शाणिडलीने कातर प्रार्थना की।

‘इरो मत! सूर्योदय होनेपर ऋषिके शापसे तुम्हारे परि प्राणहीन तो हो जायेंगे; किंतु मैं उन्हें पुनः जीवित कर दूँगी।’ अनसूयाजीने आश्वासन दिया।

‘अच्छा ऐसा ही हो।’ ब्राह्मणीने कह दिया। तपस्त्री अनसूयाजीने अर्थ उठाया और सर्वका आशाहन किया तो सलाल शितिजपर सर्वविश्व उठ आया। सर्व उत्तरे ही ब्रह्मण कौशिक प्राणहीन होकर गिर पड़ा।

‘यदि मैंने पतिको छोड़कर संसारमें और कोई पुरुष जाना ही न हो तो यह ब्राह्मण जीवित हो जाय। रोगहीन मुवा होकर पत्नीके शाप दीर्घकालिक सुख भोगे।’ अनसूयाजीने यह प्रतिशोध की। ब्राह्मण तुरंत जीवित होकर बैठ गया। उसके शरीरमें रोगके चिह्न भी नहीं थे। वह छुन्दरु संसा चुवा हो गया था।

१७४ सर्वधर्मान् परित्यज्य

(१)

धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रके रणाङ्गणमें अर्जुन मोहमदा होकर जब धनुय-वाण छोड़कर रथके पिछले भागमें दैठ गये, तब भगवान् श्रीकृष्णने उनसे कहा—गैया अर्जुन ! तुम्हे इस असमयमें यह मोह किस हेतुसे हो गया ? यह न तो शेष पुरुषोंके हाथ आचरित है, न स्वर्गदायक है और न कीर्ति ही करनेवाला है । पार्थ ! तू नपुंसकताको मत प्राप्त हो, तुम्हामें यह उचित नहीं जान पहाड़ी । परंतु ! हृदयकी दुच्छु दुर्बलताको त्यागकर तू युद्धके लिये उठ सड़ा हो ।^१

इससे भगवान्नने स्पष्ट शब्दोंमें ही युद्धके लिये आज्ञा दे दी; परंतु अर्जुन तैयार नहीं हुए और उन्होंने अपनी मानविक स्थितिके कारणोंका निर्देश करते हुए कहा कि मेरे लिये जो कल्याणकारक निश्चित साधन हो, वह मुझे बतलाइये । मैं आपका शिष्य हूँ; शरणागत हूँ । मुझ दीनको आप शिक्षा दीजिये ।—शिष्यस्तेज्ज्ञं शाधि मां त्वां प्रपञ्चम् ।

अर्जुन भगवान्के प्रिय तखा थे, आहार-विहारमें साय रहते थे; पर न तो कभी अर्जुनने शरणागत होकर कुछ पूछा; न भयबान्नने ही कुछ कहा । आज कहनेका अवसर उपस्थित हो गया । परंतु भगवान् कुछ कहते, इससे पहले ही अर्जुनने अपना मत प्रकट कर दिया, भैं युद्ध नर्दी करूँगा—‘न योद्ध्ये’ । अर्जुन अदि यह न कहते तो शायद भगवान्नने गीताके अन्तमें जो ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ का स्वरूप गुणतम उपदेश दिया है, अभी दे देते; क्योंकि भगवान् श्रीकृष्णको अर्जुन असन्तु प्रिय थे । उनका सारा भार वे उठा लेना चाहते थे । वे स्वयं साध्य-साधन बनकर अर्जुनको निश्चिन्त कर देना चाहते थे । परंतु भगवान्की कृपा तथा मङ्गल-विधानसे ही अर्जुन बोल उठे—और इससे अर्जुनको शरणागतिके लिये पूर्णस्पसे प्रस्तुत न देखकर भगवान्नने कर्म, भक्ति, ज्ञानकी विविध सुधाधारा बहायी । नहीं तो, शायद जगत् इस भगवान् गीताज्ञानसुधानससे अवित ही रहता ! अस्तु !

भगवान्नने गीतामें गुह्य-से-गुह्य ज्ञानका उपदेश किया । जगत्के विविध क्षेत्रोंके सभी अधिकारियोंके लिये महान् दिव्य शिक्षा प्रस्तुत हो गयी । ज्ञानयोगी, भक्तियोगी, कर्म-योगी ही नहीं, संसारके विविध उल्लक्षनोंमें फैसे हुए तमोग्रस्त

सभी लोगोंके लिये गीता दिव्य प्रकाशस्तम्भ बनकर सभीको उनके अधिकारानुसार पथ-प्रदर्शन करने लगी । हसीसे अरण्यवासी विस्त का गुह्यके हाथमें भी गीता रहती है और कान्तिकारी युद्धके हाथमें भी गीता है । दोनों ही उनसे प्रकाश पाते हैं । गीताके उपदेशमें वीच-वीचमें भगवान्नने अत्यन्त रहस्यमय गुणतम बाते भी कहा—जैसे ‘राजविद्या राजगुह्य’रूप नवम अध्यायमें स्वयं सारे योगदेशका भार उठानेकी प्रतिष्ठा करते हुए अन्तमें स्वष्ट कह दिया—

भन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कृत ।

मामेवैव्यति युक्त्वैषमात्मानं भव्यरागणः ॥

(११३४)

‘तू मुझ (श्रीकृष्ण)में मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको नमस्कार कर । इस प्रकार अपनेको मुक्तमें नियुक्त करके मेरे परामण होकर तू मुझको ही प्राप्त होगा ।’

भगवान्नने अपनेसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध जोड़नेके लिये यह शाजगुह्य—गुणतम आदेश दे दिया । पर अर्जुन कुछ नहीं बोले । तदनन्तर चौदहवें अध्यायके अन्तमें भगवान्नने अपनेको ‘त्रिभक्ती भी प्रतिष्ठा’ बतलाकर अर्जुनका ध्यान खोना, इसके पश्चात् पंद्रहवें अध्यायमें बहुत स्पष्ट शब्दोंमें अपनेको ‘त्तर’ (नाश्वान् जडवर्गी क्षेत्र) से सर्वथा अतीत और अविनाशी ‘अश्वर’—जीवात्मासे या ‘आक्षरं त्राप्तं परमम्’ (गीता ८।३) के अनुसार ब्रह्मसे उत्तम बतलाकर कहा—

ओ मामेवमसम्मूढो जानाति पुरुषोत्तमम् ।

स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत ॥

इति युद्धतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयावध ।

एतद् ब्रह्माण्डमुद्दितमान् स्वान् कृतकृत्यक्षं भारत ॥

(१५।१९-२०)

प्लास्त । जो मूर्ख नहीं है, वह जानी पुरुष मुक्त (श्रीकृष्ण)को ही ‘पुरुषोत्तम’ जानता है और वही सर्वतः है; इसलिये वह सब प्रकारसे निरन्तर मुक्त (श्रीकृष्ण)को ही भजता है । निष्पाप अर्जुन । इस प्रकार यह गुणतम शास्त्र मेरेद्वारा कहा गया । इसको तत्त्वसे जानकर पुरुष ब्रह्मिमान् और कृतकृत्य हो जाता है ।

यहाँ भगवान् का स्पष्ट संकेत है कि 'अर्जुन ! तू मुझ पुस्पोचनमें ही सब प्रकार से दारण हो जा । इससे तू कृत-कृत्य हो जायगा ।' पर अर्जुन कुछ नहीं बोले । वदनन्तर १८वें अध्याय से १८वें अध्याय के ५३वें स्लोकमें विविध शानका वर्णन करके ५४ तथा ५५के वलोंकांमें पराभक्ति की वात कहकर भगवान् ने फिर अपनी ओर छक्ष्य कराया । पर जब अर्जुन फिर भी कुछ नहीं बोले, तब जग डॉक्टर हरदे तरस्य और अपनेको अलगासे हटाते हुए भगवान् ने कहा—

'वदि अहंकारके कारण तू मेरी वात मर्हा तुमेगा तो नष्ट हो जायगा । तू जो अहंकारका आश्रय लेकर वह मान रहा है कि मैं तुझे नहीं करूँगा, तेरा वह निश्चय विद्या है । तेरी प्रकृति ही तुझे तुम्हें लगा देगी । कौन्तेय ! जिस कर्मको तू मोहके कारण नहीं करना चाहता, उसको अपने पूर्वकृत सामान्यके कर्मसे वेधा विवश होकर करेगा ।'

इसके बाद भगवान् ने अपना सम्बन्ध विस्तुकृत हयाकर अन्तर्यामी ईश्वरकी ओर छक्ष्य कराते हुए अर्जुनसे कहा—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृषीऽङ्गुष्ठ लिष्टिः ।
आमवन्सर्वसूतानि यन्त्रासूडानि मायथा ॥
सर्वेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भास्त ।
तत्प्रसादाद्यत्परंशान्तिं स्थानं प्राप्त्यसिद्धाभ्यतया ॥
इति से ज्ञानमात्मात्तं तुष्णाद्युष्णतरं मथा ।
विस्तुप्रैतद्यैषैषं वयेच्छसि तथा कुरु ॥
(खण्ड १८ । ६१-६३)

'अर्जुन ! शरीरहृष यन्त्रपर आरहुं सम्पूर्ण ग्राणियोंको अन्तर्यामी ईश्वर अपनी मायसे उनके कर्मके अनुसार भगवान् तुझा सब प्राणियोंके हृदयमें स्थित है, तू सर्वभावसे उस ईश्वरकी ही दारणमें जा । उसकी कृपाके तू परमशान्ति और शाश्वत ज्ञानको ग्राह करोगा । इस प्रकार नेने तौ शह 'मुद्दाद् गुणतरं' गुह्योंसे भी गुह्य ज्ञान तुझसे कह दिया । अब इसपर भलीभौति विचार करके तू जैसा जो चाहता है सो कर ।'

भगवान् के इन शब्दोंसे स्पष्ट यह ध्वनि निकलती है—मामो वे अर्जुनसे कह रहे हैं कि 'अर्जुन ! तूने कहा आ कि मैं आपके शरण हूँ और मैंने वही समझकर तेरा सारा मार वहन करना भी चाहा, तुझे कई प्रकारसे समझाया, मंकेता किया, स्पष्ट शब्दोंमें भी अपनी भगवान् वत्तिकर तुझे अपनी ओर आकृष्ट करनेका प्रथन किया, पर मैं नहीं कर पाया । मैंने

अपनी भगवान् के अविरिक्त तुझको और जो कुछ कहा है—बताया है, वह भी कम भगवान् का नहीं है । वह भी गोपनीय-सेपोपनीय है । मादम होता है तुझे तेरा अन्तर्यामी भ्रमा रहा है; अतएव अब तू मेरी नहीं, उस अन्तर्यामीकी ही शरणमें जा, वही तुझे शान्ति देगा । मैं तो जो कुछ कह सकता था, कह तुझा अब तेरी जैसी इच्छा हो, वही कर; मेरी कोई जिम्मेदारी नहीं है ।'

अर्जुनने भी समझा कि 'भगवान् जो कुछ कह रहे हैं ठीक है । इतना समझाने-विस्तारे पर भी मैं अवशक नहीं समझा । हनुमी महन्ता जानकर भी मैंने नहीं जानी । इसीसे तो हताक्ष-से होकर मेरे परम आश्रय विवरम प्रभु आज गुह्ये दूसरेका आश्रय लेनेके लिये कह रहे हैं । इसीलिये तो आवान-आदेश न देकर मुझे इच्छानुसार करनेकी (वयेच्छसि तथा कुरु) चाल कह रहे हैं । मैं कितना मूर्ख हूँ !' इस प्रकार समझकर अर्जुन अस्त्वत्व विप्रदयका ही गये और मन-ही-मन पश्चात्तप करते हुए भगवान् की ओर अशुर्कूप नेत्रोंसे देखने लगे । वाणी बंद हो गयी । शरीर अवश-ता होकर गिरने लगा । यह सब इसीसे रुचित होता है कि 'वयेच्छसि तथा कुरु' कहनेके बाद अर्जुनके विज्ञा कुछ कंदे ही भगवान् का रुद बदल गया और वे अत्यन्त स्नेहमये घावोंमें अपनी ओर से पुनः अपनी महान् महसूक्ती वात कहने लगे । मादम होता है अर्जुनकी विप्रदयका मुखाकृति देखकर भगवान् का स्नेह उमड़ आया । भगवान् तो वही परिस्थिति लाना चाहते थे, जिसमें अर्जुन सर्वतोभावसे शरणागत हो जाय, वह ऐसी स्थितिमें आ जाय, जिसमें वह भगवान् को ही एकमात्र साध्य-साधन—सब कुछ मानकर अपनेको पूर्ण रूपसे समर्पण कर दे । मात्रान्ते अर्जुनके हावभाषसे वह निष्प्रित-रूपसे जान लिया कि अब 'धक्का' ग्रहण करनेके लिये विष्व पूर्ण रूपसे प्रस्तुत है और इसीलिये तुरंत शक्तिपात करके उसे शक्तिमान् करना दिया । भगवान् ने कहा—

सर्वगुणतमं भूयः शृणु मे परमं चतुः ।
इषोऽसि मे द्विभिर्तत्त्वे वृद्ध्यामि ते हितम् ॥

पैया ! तू सर्वाङ्गसमें परम श्रेष्ठ वचनको फिर भी सुन । तू मेरा हृद इष्ट है—अतिग्रय धिय है; अतएव तेरे ही हितके लिये वह कह रहा हूँ ।' अभिग्राय यह कि भगवान् अर्जुनको उदास देखकर उन्हे गले लगाकर अब वह वात-

कहना चाहते हैं, जो ‘सर्वगुह्यतम्’ है। गुप्त (गुह्य), गुप्तमें भी गुप्त (गुह्यतर), उसमें भी गुप्त (गुह्यतम), यात हुआ करती है; पर यह तो गुह्यतममें भी सबसे अधिक गुह्यतम—‘सर्वगुह्यतम्’ है, जो अस्त्र अन्तर्द्रव्य हुए निना कही जा सकती ही नहीं। तू मेरा प्रिय ही नहीं, ऐसा प्रिय है कि उसमें कभी अन्तर पड़ नहीं सकता। इसीसे तेरे ही हितके लिये यह यात कह रहा हूँ—और वह ऐसी बात है कि जो सबसे शेष है; पहले भी इसे कह चुका हूँ, तूने धान नहीं दिया। अब तू फिरसे सुन! इस प्रकार कहकर मानो भगवान्नने वे जो कुछ कहना चाहते हैं, उसकी भूमिका बोची है। अथवा अब असले दो श्लोकोंके रूपमें जो महान् दिव्य रूप प्रसादन करता चाहते हैं, उन्हें सुरक्षित रखनेके लिये मञ्जपाके नीचेका हिस्ता दिलाया है। इसमें वे रूप रखकर, फिर उसके ऊपरका ढक्कन देंगे ६७ वें श्लोकके रूपमें। वे अमूल्य परम गोपनीयोंमें गोपनीय रूप क्या हैं—

मन्मना अद्य भजक्तो मद्याली मात्र नमस्कुरु ।
मामेवैष्वसि सत्यं ते प्रतिनामे शिथीडसि मे ॥
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं ध्रज ।
अहं त्वा सर्वापेभ्यो भोक्षयिष्यामि मा कुर्व ॥

(गीता १८ : ६५-६६)

‘तू मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त बन, मेरा पूजन करनेवाला हो और मुझको ही प्रणाम कर। यों करनेसे तू मुझको ही प्राप्त होगा—यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ; क्योंकि तू मेरा अस्त्र प्रिय है। तू सब धर्मोंको छोड़कर केवल एक मुझ परम पुरुषोत्तम श्रीकृष्णकी ही शरणमें आ जा। मैं तुझे समूर्ख पार्थिव मुक्त कर दूँगा। तू थीन्व मत कर।’

भगवान्नने इन शब्दोंके द्वारा अर्जुनसे कहा है कि ‘अबतक जो बात कही, वह तो गुप्तसे मुक्त होनेपर भी प्राप्त: सबको कही जा सकती थी। अब यह ऐसी बात है, जिसका सम्बन्ध तुझसे और मुझसे ही है। तू क्यों किसी व्यक्तिको झगड़ेमें पड़ता है? मन लगाने योग्य, भक्तिसेवा करने योग्य, पूजा करने योग्य और नमस्कार करने योग्य समस्त चराचर विश्वमें और विश्वसे परे भी यदि कोई है तो वह एकमात्र मैं ही हूँ। लोग मुझे न जान-मानकर दूधर-डूधर भड़कते रहते हैं। मैं सत्य प्रतिज्ञा करके कहता हूँ कि जो यों मान लेता है, वह मुझ विश्वकी भी प्रतिष्ठास्वरूप मुहा भगवान्को पाता है। तू मेरा प्रिय

है—अन्तरङ्ग इष्ट है। इसीसे अपना निजका यह महत्वपूर्ण रहस्य तुझे बताया है। तू यही कर। अबतक जो कुछ धर्ममें बताये हैं, उन सबकी तुझे आवश्यकता नहीं; छोड़ उन सबको। सब धर्मोंका परम आश्रय तो मैं हूँ, तू एकमात्र मेरी शरणमें आ जा। धर्मोंके त्यागसे पापका भय हो तो त दूर मत। जरूर भी चिन्ता न कर—तुझे सारे पापोंसे मैं छुड़ा दूँगा। अस्त्र यात तो यह है—जैसे सूर्यके सामने अन्धकार नहीं आ जाता। वैसे ही मेरी शरणमें आओ हुएके समीप पाप-नाप अब ही नहीं सकते। तू निश्चिन्त हो जा।’

अर्जुनने इसकी भूक स्त्रीकृति दी—मुखमण्डलपर विलक्षण अग्नन्दकी छटा लाकर। तब भगवान्नने कहा—देख मैया! यह अस्त्र ही गोपनीय रहस्यकी बात है—

इदं ते नातपस्काय नामत्वाय फदाचन।

न चाशुश्रूपवे बाल्यं न च सां योऽभ्यसूक्ष्मि ॥

(१८। ६७)

‘यह सर्वगुह्यतम तत्त्व किसी भी कालमें जो तपरहित हो—जो उर्वत्यागल्पी कष्ट रहनेको न तैयार हो, जो मेरा धर्म न हो, जो सुनना न चाहता ही और जो मुक्तमें दीप देखता हो—उससे कभी कहना ही मत।’

इस श्लोकके द्वारा मानो भगवान्नने रक्षोक्ती पेटीके ढक्कन लगा दिया। अतपि इस श्लोकमें जो ‘सर्वधर्मस्त्वाप्य’-की आज्ञा है, वह ठीक इसी अर्थमें है। इस प्रकार सर्वधर्मस्त्वाप्य करके शरणागत हो जानेवाला पुष्प सर्वथा निश्चिन्त हो जाता है, किसी भी जहाजोहमें त पड़कर वह अपने शरणके कथनानुसार सहज आचरण करता है। सहज रूपमें ही शरणके अनुकूल आचरण करना उसका एकमात्र धर्म होता है। वह और किसी धर्मको जानता ही नहीं। सब धर्मोंको मुक्ताकर वह इस एक ही धर्मका अनन्य सेवन करता है। यह ‘सर्वधर्मान् परित्यज्य’ इलोक ही भगवद्वीतीका अन्तिम उपदेश है। अब अर्जुन इस तत्त्वको जान-मान गये हैं। उनका मुख-मण्डल एक परम स्निधि उज्ज्वल दीपिसे चमचण उठा है। तब भगवान् पुनः निश्चय करनेके लिये उनसे पूछते हैं, ‘क्यों अर्जुन! मेरे इस सर्वगुह्यतम उपदेशको तूने पूरा मन लगा-कर सुना? और इसे सुनकर तेस मोह दूर हुआ?’ अर्जुन उत्तरमें कहते हैं—

नन्दो मोहः स्तृतिलैवशा त्वयसादानमयाभ्युत ।

स्त्रितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये बचनं तत्वं ॥

(१८। ७३)

‘अच्युत ! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया,
मैंने स्मृति प्राप्त कर ली । अब मैं संशयरहित द्वेकर स्थित
हूँ, अतः आप जौ कहेंगे, वही कहेंगा ।’

इस श्लोकमें अर्जुनके द्वारा शरणागतिकी स्वीकृति
है । अथवा वही शरणागतिका स्वरूप है । अर्जुन कहते
हैं—मेरे मोहका नाश हो गया (नष्टो मोहः) । मैं
अहंकारवश कह रहा था कि युद्ध नहीं करूँगा ! वह मोह
था । अब मुझे सरण हो आया कि मैं तो आप अन्यके
घाथका वन्नमात्र हूँ (स्मृतिर्लभ्य) । पर यह मोहनाश
और स्मृतिकी प्राप्ति भी मेरे पुरुषार्थसे नहीं हुई । यह आपकी
शरणागतवस्तुलाहृषि कृपासे हुई है (व्यवसादात्) और
इस कृपाकी भी मैंने साधनसे उपलब्धि नहीं की,
अच्युत ! आप अपने विदेशे कभी च्युत नहीं होते,
अतः स्वभावसे ही आपने कृपा की है । अब मैं
मन्त्ररूपमें स्थित हो गया (स्थितोऽसि) । मेरे उपरे संशय-
प्रम मिट गये (गतसंदेहः) । अब तो बस, आप जो
कुछ कहेंगे, वही कहेंगा (करिष्ये वचनं तद्) । यहीं
‘शरणागति-धर्म’ है ।

और सचमुच अर्जुन इस शरणागतिके स्थिता और सम
भयोंके ज्ञानको भूल गये । इसका पता लगता है तब, जब
अक्षमेधर्वर्षमें अर्जुन भगवान्से उन धर्मोंको फिरसे सुनना
चाहते हैं और कहते हैं कि ‘मैं उनको भूल गया !’ उस
समय भगवान् उन्हें उलाहना देते हुए कहते हैं कि ‘मैंने
उस समय तुम्हें ‘गुहा’ ज्ञान सुनाया था जो स्वरूपमूल
शाश्वत-धर्म था ।’

आवितस्त्वं मया ‘गुहा’ ज्ञापितश्च सनातनम् ।

धर्मं स्वरूपिणं पार्वतं सर्वलोकांश्च शाश्वताम् ॥

यहों ‘गुहा’ शब्दसे यह धनित होता है कि भगवद्गीतामें
भगवान् श्रीकृष्णने श्रेष्ठ बचन (परमं बचः) के रूपमें
जो ‘स्वर्वर्षमूलाया’ करके अनन्य शरणागतिका ‘पर्वगुहातम्’
उपदेश किया था, उसे अर्जुन नहीं सूले थे । वे तो उसी
‘गुहा’को भूलसे गये थे, जिसका त्याग करनेके लिये भगवान्
ने कहा था । इसीसे यहों ‘गुहा’ शब्द आया है ।

अतएव यही निष्कर्ष निकलता है कि इस श्लोकमें सब
धर्मोंको ल्यागकर अनन्य शरणागतिका ही उपदेश है और
यही गीताका मुख्य तात्पर्य है ।

(२)

(लेखक—श्रीचार्य श्रीविनारात्मजी गहित, परम् प० [इष्ट
स्वर्ण-पटक-प्राप्त, दिप् प० प४०, साहित्याचार्य, साहित्यालंकार])

सर्वधर्मान् परित्यज्य सामेकं शरणं वज ।

उपर्युक्त वाक्य भगवान्से गीताके अन्तमें अर्जुनसे कहा
है । इसमें सभी श्रुतियाँ और सभी शास्त्रोंका सार अन्तिमिहित
है । इस चरम श्लोकमें एक ऐसा संकेत है, जो सभी दुःखों
और पापोंसे मानवताकी बचाकर उसे परमात्माके समीप
पहुँचा देता है । संसार-सागरसे पार होनेके लिये भगवान्से
पहले अर्जुनको कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग व्रतलाभे । इन
मार्गोंकी जटिलता देखकर अर्जुन भयभीत हो गये । कर्म-
योगके लिये अनारक्ष एवं निष्काम तथा निलित द्वेकर कर्म
करना आवश्यक है । यह होगा कैसे ? ज्ञानयोगके लिये स्थित-
प्रक्ष होना आवश्यक है, पर स्थितप्रक्ष हम होंगे कैसे ?
भोग-व्याहारनासे प्रेरित विषय-सुखमें लियर्दी हुई हमारी दुष्कृ
कैसे स्थिर होगी ? चाक्ष-ज्ञानसे, लम्बी-लम्बी वस्तुता देनेवे
और शास्त्रार्थ करनेसे हमारा मन जड़-शरीरके तुल-भोगका
मोह छोड़कर अचक्ष आहमाका अन्वेषण नहीं कर सकता ।
इन्द्रियों वल्यपूर्वक मनको विषय-भोगकी ओर धर्षीश्वरी है,
पर ज्ञानयोगमें हम सफल कैसे होंगे ?

कहत कठिन समुक्षत कठिन साधत कठिन विवेक ।

भक्तियोगमें कर्म और ज्ञान—दोनोंका समन्वय है ।
भगवद्गीतामें कर्म करनेसे कर्म भी अनासुक हो जाता है
और भगवान्सा आधार पाकर दुष्कृ भी स्थिर हो जाती है ।
भक्तियोगमें कर्मयोग और ज्ञानयोग—दोनों सहावक हैं । पर
भक्तियोगकी सफलताके लिये सदैव परमात्माका मनन और
चिन्तन आवश्यक है । तेलधारावद् भगवान्सा व्यान
होना चाहिये ।

मन ते सकल वासना त्यागे । केवल राम चरन रथ लागे ॥
तन ते कर्म कर्गु विधि नाना । मन रमेहु नहै कृष्ण निधाना ॥

यह सत्य है कि भक्ति कर्म और ज्ञान दोनोंसे सुखम्
है; पर भक्तिके लिये भी यह आवश्यक है कि परमात्माका
ध्यान कभी दूरने न पाये । कौन जानता है कि मरनेके
समय जब हम बेहोश हो जायेंगे, हमें परमात्माका ध्यान
ल्या ही रहेगा । जीवन-कालमें भी तो मन भगवान्सकी
ओर नहीं जाता ।

मो तम कौन कुटिल खल कामी ।
जिन तनु दियो ताहि विसरायो, ऐसी उमक हरामी ।
भर्ति-भर्ति बद्र विषय कीं चासौ, जैसे सूकर शामी ॥

इन्हीं कठिनाइयोंको देखकर अर्जुन कर्मयोग, शान्योग तथा भक्तियोगसे भी भयभीत हो गये । वे सभी भार्ग संथम और बदाचारका सम्बल लिये भगवान्की ओर चले जाते हैं; पर विषय-बासनासे पीड़ित मानव विष्ववाधाओंके डरसे इन मार्गोंपर चलनेसे अपनेको असमर्थ पाता है । श्रीयामुनाचार्यने कहा है—

न धर्मनिष्ठोऽस्मि न चात्मकैदी
न भक्तिमांस्त्वच्चरणारविन्दे ।
अकिञ्चनोऽनन्यगतिः शरण्य
त्वत्पादमूलं शरणं प्रपद्ये ॥
(बालकन्दारस्तोवम्)

परा-भक्तिका सबसे सुगम रूप प्रपत्ति है । जब जीव कर्मयोग, शान्योग, भक्तियोग तथा अन्य सभी साधनोंमें अपनेको असमर्थ और नित्यहाय पाता है, तब उसके समक्ष केवल एक ही उपाय रह जाता है—भगवान्के चरणोंपर अपने-आपको ल्पेछावर कर देना । इसीका नाम प्रपत्ति है—हसीका नाम शरणागति है । इसी शरणागतिकी ओर भगवान्ने ऊपरके चरम इलोकमें सकेत किया है ।

'प्रपत्ति' भगवान्से मिलनेका सर्वोत्तम साधन है । प्रपत्तिका अर्थ है—भगवान्के प्रति अनन्य और अकिञ्चन भावसे शरणागत हो जाना तथा भगवान्के चरणोंमें अपने-आपको समर्पित कर देना । 'भक्त' समझता है कि 'भूमैवासौ' अर्थात् भगवान् मेरे हैं तथा भक्ति साधना एवं सेवाके द्वारा मैंने भगवान्को अपना लिया है । 'प्रपद' समझता है कि 'तत्सैवाहम्' अर्थात् मैं भगवान्का हूँ, मैंने भगवान्के चरणोंमें अपने-आपको सौंप दिया है । अब मेरा तन, मन, धन—सब कुछ भगवान्का है । प्रपद आर्त, दीन और अकिञ्चन हो जाता है, वह किसी दूसरेका भरोसा नहीं करता । वह अपना पिता, माता, बन्धु-बान्धव-सभा कुछ एकमात्र भगवान्को ही समझता है—

पिता व्वं भाता व्वं द्युषिततनयस्त्वं प्रियसुहृत्
त्वमेव त्वं मिनं गुरुरपि गतिश्चादि जगत्तर्थ ।

तुम्हीं पिता हो, तुम्हीं माता हो, तुम्हीं धी-युत हो, ।

तुम्हीं प्रिय सुहृद हो, तुम्हीं मित्र हो, तुम्हीं इस जगत्में गुरु हो और तुम्हीं गति हो ।'

प्रपत्त अपनेको भगवान्की ही बस्तु और उन्हींका किंवदं समझता है—'त्वदैव्यस्त्वद्भूत्यः' । भगवान्के अनुबूल कैकर्म करना ही प्रपत्तका धर्म है ।

भक्त और प्रपत्तमें वही अन्तर है, जो व्येषक और 'पलीभूमें पाया जाता है । सेवक भी अपने स्वामीके आशानुसार उभी कैकर्म करता रहता है, पर पलीका तो पति सर्वस्व ही है । मालिकके छोड़ देनेपर भी नौकर अपना निर्वाह कर लेता है । पर पतिके परित्याग करलेपर पत्नी कहाँ जाय ? क्या करे ? पलीको तो पतिके अतिरिक्त और कोई शरण ही नहीं है । पलीने तो अपने आपको पतिके चरणोंमें सौंप दिया है, पति उसे जिस अवस्थामें भी रखें, वह रहनेको तैयार है । पति ही उसका उपाय है पति ही उसका अवलम्ब है । पतिके अतिरिक्त वह अन्य किसीको नहीं जानती । उसको अपनी कोई निजी इच्छा नहीं रहती, पतिकी प्रसन्नता ही पलीका आधार है । इसी प्रकार प्रपत्तका भी आधार, अवलम्ब और उपाय एकमात्र भगवान् ही हैं । भगवान् उसे जिस अवस्थामें रखते, वह उसीमें संतुष्ट रहता है । वह सुखमें रहे या दुःखमें, वह भगवान्को कभी नहीं भूलता । विपत्ति पड़नेपर भी वह भगवान्को नहीं कोरता ।

पली चाहे कितनी ही साध्वी क्यों न हो, वह सदा-सर्वदा अपने दोपियोंको ही देखती रहती है; अपनेको अपराधिनी ही समझती है और पतिके पद-रक्षकी ही कामना करती है । इसी प्रकार प्रपत्त भी भगवान्से कहता है—

अपराधसहस्रभरजनं पतितं भीमभवार्योदरे ।

जगतिं जारणागतं हरे कृप्या केषलमात्मसाकुरे ॥

प्रपत्तके लिये नीचानुसंधान आवश्यक है । जबतक हम अपनेको अनन्त अपराधी, निराधार और आर्त नहीं समझेंगे, तबतक प्रपत्तिकी भावना इमारे अन्तःकरणमें नहीं आ सकेगी । पली कभी यह नहीं सोचती कि मेरा गुजार सैसे होगा । पतिने जब ह्याथ पकड़ ही लिया है, तब पिर सोच क्यों ? और पलीकी प्रतिष्ठाकी रक्षा करना पतिका धर्म है, जो वह स्वर्ग जानता है । प्रपत्त भी अपनी रक्षाका मार भगवान्को देकर स्वयं निवृत्त हो जाता है । 'रक्षिष्यतीति विश्वासः' । पलीकी विश्वास है कि स्वामी

विना कहे भी रखा करेंगे ही; उसी प्रकार प्रपञ्च भी समझता है कि भगवान् विना कहे भी बन्धनसे मुक्त करेंगे ही। पल्ली अपनी रक्षाके नियमित अपने पतिको छोड़कर अन्य किसी उपायका अवलम्बन नहीं करती; उसी प्रकार प्रपञ्च भी अपने मोक्षके लिये भगवान्को छोड़कर अन्य किसी उपायका ग्रहण नहीं करता। प्रपञ्च यदि भगवान्को छोड़कर अपनी रक्षाके लिये धन्व, मन्त्र, ओक्षा, दाइन, भूत-प्रेत तथा देवान्तरकी जरण ग्रहण करता है तो उसकी प्रपत्तिकी भवना ही नष्ट हो जाती है। भगवान्की प्राप्तिमें भगवान् ही उपाय हैं। मनुष्य सहैय भूल करता रहता है। वह तो कमज़ोरीका पुनर्लाभ है। उसके हृदयमें वासनात्मिणी फुफ्फार मार करती है। उसके अन्तःकरणमें तुष्णिका हाहाकार है—भोग-वासनाका विषयमा मधुर नर्तन है। वह स्था करे! वह भी योचता है कि इन्द्रियोंकी जीतना चाहिये, पापसे मनको हटाना चाहिये; पर उसका संकल्प एहुत क्षीण और दुर्बल रहता है। उसकी प्रश्नादि व्यक्तित वर्णोंका रस पीकर बलवती हो गयी है, वह वल्पूर्वक इन्द्रियोंको विषयोंकी ओर ले जाती है। दुर्बल मानव क्या करे! मोगवासना अपने संकेतपर मनुष्यको नचाही रहती है—

इन्हीं द्वार शरोत्ता नाभा । तहैं तहैं सुर वैठे करि भाना ॥
आबृत देहहि विषय वशरी । ते हौठे देहि कपाट उद्धरी ॥

वह किस प्रकार अपने बलपर भगवान्को पानेकी आशा करे! तिमिरमयी रजनीमें संक्रीयं पिच्छल पथपर वह प्रकाशकी और जानेकी चेष्टा करता है, दोनों ओर खाइयों हैं और पैर फिसलनेका ठर है। ऐसी परिस्थितिमें भगवान् ही रक्त है और वे ही पार लगा सकते हैं। अतिहीन मानव पाप करता है, दुःख मोगता है, पछताता है और फिर पाप नहीं करनेकी प्रतिज्ञा भी करता है, किन्तु प्रलोभनके भेंतरमें फँकर वह अपनी प्रतिज्ञा भूल जाता है और फिर उनी पापगत्तमें हूँच जाता है। वह जीवनकी ओलीमें फूल चुनने थाया है, पर चेवल कंकड़-कण्ठक भर लेता है। वह ऊँक ही सोचता है—

चेसा निन्दित कर्म नहीं है,
जिसे न शतशः कर आया है।
जीवनकी ऊँकोंमें प्रभुर ।
कंकड़-कण्ठक भर लाया है॥

जिसे	धूरकण	काम-कोवये
	जीवनकी ऊँकी जलती है।	
जीवन-रस,	मादशमयु	भैकर
	जहरीली नाशन पलती है॥	
तिमिरमयो	नीवद सजनीमें	
	आनन परिकन्सा भटक रहा है।	
कानन-शिलाहस्पर	कमो-	
	की गढ़ी में पटक रहा है॥	
पथ	पिच्छुर है, अन्धकारमें	
	सर्वमें लिंगेज भग है।	
अन्तस्तलमें	लिंगी वासनाका	
	अमिमय माटक मुम्पव है॥	
काष्ठन	आंख जामीनीकी	
	ओङ्कास भक्त व्यवित जीवन है।	
हुवेल,	शक्ति-हीन है—किर भी	
	प्रबल कामनाका नर्तन है॥	
सदा	वासना भरे अन्त-	
	स्तलमें प्रभु ओङ्का करती है।	
माया	शुभ्र वसन धारणकर	
	भेरा मन मन्दन करती है॥	

यदि हम इस भरोते वैठे रहे कि जिन दिन हमारे बारे कर्म परिव्र द्वे जायेंगे, जिस दिन हमारा जीवन अनास्तक और निर्लिप्त हो जायगा, उस दिन अपने-आप मोक्ष पिल जायगा; तो यह हमारी भूल होगी। अरने-आप न हो कभी वासनाका हनन होगा और न कभी भोज ही मिलेगा। वासना सो प्रारब्ध और निवास—दोनों कर्गोंको वांधनेशाली कही है। व्यावके बलपर मोक्षकी आद्या करना दुर्लभ है। वासनाके विराट अन्धकारमें विवेकका टिमटिमाता हुआ प्रकाश ध्यानिक और चक्रवल है। ग्रन्डेभग्नोंके निकट मौग-सामग्रियोंके नीचमें हमारा संकल्प स्थिर नहीं रह पाता। विषयोंके प्रबल संक्षयातमें ज्ञानकी कमज़ोर दीपशिखाय कौपने लगती है और कभी-कभी दुक्ष भी जाती है। हमारा आह्वा रूप से सुन्दर परिव्र और आकर्षक रहता है; पर हमारे अन्तर्जगतमें तृष्णा, स्वार्थ और भोग-स्पस्का ताण्डव नृत्य आरी रहता है, हम हंसके रूपमें कौएका हृदय लिये हुए संसारकी ऊँकों बचाकर दुष्कर्में भी कर लेते हैं और अपने वज्र तथा प्रतिष्ठापर जरा भी ऊँच नहीं आने देते। संसार हमें महात्मा तथा साधु समझ ले, पर भगवान् तो

जन्मत्योगी हैं, वे हमारे सभी छिपे अपशंसोंको देख लेते हैं। इसीलिये श्रीमांमी यामुनाचार्यजीने कहा है—

न निनिर्तं कर्म तदस्ति लोके

सदस्तो अन्म मया व्यधायि ।

प्रपत्तिका आधार भगवत्पृष्ठा है। न्यायके अधिकारसे नहीं, भगवत्पृष्ठाके बलपर हम मोक्षके अधिकारी हो सकते हैं। अपने बलपर निष्काम कर्मके द्वारा हमारा मोक्ष प्राप्त करना अस्यत्तम ही कठिन है; क्योंकि हमारे कर्मोंका सर्वथा निष्काम होना आसान नहीं है। इसलिये जबतक हम अनन्य, अकिञ्चन होकर दीन-हीन-अपराधीकी तरह कौपते हुए भगवान्के चरणोंमें आत्मसमर्पण नहीं कर देंगे और शरणायात्रिके द्वारा भगवान्की प्राप्तिमें भगवान्को ही उपाय नहीं समझ देंगे, तबतक उद्धार होना असम्भवता है।

प्रपत्तिमें अनन्यशोषत्व, अनन्यशारणत्व और अनन्य-भोग्यत्वका होना थावश्वक है। ‘अनन्यशोषत्व’का तात्पर्य है—भगवान्को छोड़कर अन्य किसीका दातत्व स्वीकार नहीं करना। ‘अनन्यशारणत्व’का लक्ष्य है—भगवान्को छोड़कर अन्य किसीकी शरणमें नहीं जाना। ‘अनन्यभोग्यत्व’का अर्थ है—भगवान्को छोड़कर अपनेको अन्य किसीका भोग्य नहीं समझना। पर अनन्यताका यह अर्थ नहीं है कि परमात्माके अतिरिक्त हम किसी अन्य देवताकी आराधना तो नहीं करते, पर कामिनी और काङ्गनके हाथ अस्त्रेको बैच ढालते हैं। अनन्यताका तात्पर्य है कि परमात्माके अतिरिक्त अन्य किसीको भी छोड़त्यमें स्थान नहीं दें; चाहे वह कोई देवता हो या मनुष्य, चाहे कोई रूपवती द्रुती हो या काङ्गनका भंडार। हमारे हृदयमन्त्रमें जब एकमात्र ग्रन्थका ही आधिपत्य रहता है, तब अनन्यता सार्थक होती है। हमारी ममताके एकमात्र विषय वे ही हों।

जननी ननक थें तु मुहु सुत दारा । तनु अनु महन सुहृद परिवारा ॥
सब कै पमता हाम बटोरी । मम पद मनहि बाँध बरि दोरी ॥
समदर्सी इच्छा करु नहीं । हरप सोक मध नहि मन महीं ॥
अस सजन मम डर बस कैसे । लौली हृदर्म बसइ धनु जैसे ॥

शरीरसे हम जो भी कर्म करते हैं, पर मनको भगवान् में लगाये रखते। विश्वा प्रेमके भगवान् नहीं मिलते।

तम ते कर्म करहु विवि भाना । मन राखहु जहु रूपनिधाना ॥
मन ते सकल बासना भानी । केवल राम चरन लव लानी ॥
मिलहि न रघुपति विनु कनुराणा । किंरे जाग जप नेम विराणा ॥

जिस प्रकार पली धतिकी सेत्रा प्रेमसे करती है, भार समझकर नहीं, उसी प्रकार प्रपञ्च मी भगवत्कैर्य वडे प्रेम-से और प्रसन्नताएँ करता है, भार समझकर नहीं। प्रपञ्च भगवान्से कहता है—

कोटिन् मुख कहि जात न ग्रन्थ के एक एक उपकार ।
तदपि नाथ कक्षु और मैगिहीं, दीजे भग्न उदार ॥
विष्व-वारि मन-मौन गिर्व नहिं होत कबहुँ पह एक ।
ताते सैष्वग विप्रति अति दारून, जनमत जैनि अनेक ॥
कृष्ण-होरि, बनसी पद-अंगुसु, परम प्रेम मूढु चरो ।
यहि विधि वेगि हरहु मेरो हुख, कौतुक राम तिहारो ॥

प्रपत्ति भगवान्को प्रसन्न करनेका सबसे युलम साधन है। लङ्घामें विभीषण जब भगवान्की शरणमें आ रहे थे और लोचते थाते थे—

देखिहूँ जाइ चरन जलजाता । अहन मूढुल सेवक सुखदाता ॥
जे पद परसि तरी रिविनारी । देहक कामन पावनकारी ॥
जे पद जनकसुकूँ उर काए । कपट कुरंग संग घर धाए ॥
हर उर सर सरोव पद जैर । अहोभाग्य मैं देखिहूँ जैर ॥

जिन्ह पाथन्ह के धारुकन्ह भरनु रहे मन लाए ।
ते पद आजु भिलेकिहूँ इन नयनन्ह अव जाइ ॥
इस प्रकार मनोरथ करते हुए विभीषण आये। बानरों-ने भगवान्को सूचना दी, भगवान्ने सेनापति सुग्रीवसे याव पूछी। उसी समय सुग्रीवने भगवान्से कहा—
‘जानि न जाइ निसाचर माया । कामहृष कहि कारन आया ॥
मेद हमार लेन सठ आया । रामिय वाँधि मोहि थस माया ॥
किन्तु भगवान् तो शरणागतवत्सल है। उन्हेनि उत्तर दिया—

सहा नीति तुम्ह नोकि विचारी । मम पन सरनभात भयश्चारी ॥
भगवान्की प्रतिज्ञा है—

कोटि विप्र बध लागहि जाहु । आरै सरन तजै नहिं ताहु ॥
सुनमुख होइ जीव मोहि जबहीं । जन्म कोटि अथ नासहि तबहीं ॥

भगवान्का न्रत है—
सङ्गदेव प्रपञ्चाय तवासीति च आचते ।
अभर्यं लर्वभूतेभ्यो इदम्येतद्भर्तं भम ॥
“एक बार भी जो मेरे शरणागत हो जाता है,
और कह उठता है कि ‘नाथ ! मैं आपका ही हूँ,’
उसको मैं सब भूतें अभय कर देता हूँ, वही मैया न्रत है।”

जीव अपने पापको देखकर डर जाता है। कर्मयोग, शानशोग, भक्तियोग—कई मार्गोंको देखकर कुछ उलझनमें भी पड़ जाता है। वह नहीं सोच पाता कि भगवान्‌के पास पहुँचनेका सबसे मुगम राजनय कीनन्या है।

श्रुति पुराण वहु कहें उपाई। सुलभ न अधिक अधिक अहसाई॥

ऐसी ही किरणविषयमुद्द सितिमें भगवान् कहते हैं—
सर्वधर्मान् परिवर्य मामेकं शरणं चल ।
थहं च वा सर्वापेभ्यो मोक्षयिष्यमि मा शुचः ॥

प्रत्यधर्मोंके आश्रयको छोड़कर तुम एक भेरी धारणमें आ जाओ; मैं तुम्हें सब पापोंसे मुक्त कर दूँगा। तुम चिन्ता मत करो।।

प्रपत्ति ही भगवत्प्रादिका सबसे मुल्य साधन है। प्रपत्तिमें जीव अपना भार भगवान्को दे देता है और सबसे निश्चिन्त होकर उनका कैर्कर्य करता है।

कर्मयोगका आदेश है कि हम आसक्ति और फलमिलाया छोड़कर निष्कामयाभयसे कर्म करें। कर्म करनेपर भी हमारे भनमें कोई चिकार, कोई लहर उत्पन्न न हो। हम सिद्धि-असिद्धिमें सभ रहें। वह भी वास्तवमें तभी ही सकता है जब हम अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप दें। जब हमने भगवान्‌के चरणोंपर आत्म-समर्पण कर दिया, तब तो फिर अपने लिये—भोग-ज्ञासदाकी तृप्तिके लिये कोई कर्म ही नहीं करना है; जो कुछ करता है, सब केवल भगवत्प्रियमित्त ही करना है। प्रपत्तके कर्मोंका व्येय भगवान्की प्रसन्नता है। फिर हमारा अपना क्या रहा? शरीर भन, आत्मा—सभी कुछ तो भगवान्को दे दिया; फिर हमें जो कुछ करता है, सब कुछ भगवान्की प्रीति और प्रसन्नताके लिये ही करता है और सब कुछ उन्होंके आद्यानुसार करता है। हम प्रकार वासना अपने-आप भर जाती है, प्रपत्तका साध जीवन ही भगवत्कैर्कर्य ही जाता है। शरीर-रक्षाके निमित्त, परिचारके भरण-योषण, समाज-रक्षा एवं लोक-कल्याणके लिये कर्म करना सभी भगवत्कैर्कर्य है। जब हम भोग-दुदिसे प्रवृत्ति और वासनाएं प्रेरित होकर केवल स्वार्थ-सिद्धिके लिये कर्म करते हैं, तब वही कर्म दब्खन है; और जब हम कर्तव्यसे प्रेरित होकर कैर्कर्य-दुदिसे भगवान्‌की प्रसन्नताके लिये कर्म करते हैं, तब वह कर्म अपने-आप विजाम और निर्लिपि हो जाता है और वन्धनका कारण नहीं बनता।

प्रपत्तके लिये सबसे बड़ा आदेश है—

आनुकूलस्थल संकल्पः प्राप्तिकूलस्थ वर्जनम्।

१—भगवान्‌के अनुकूल कर्म करना—जिस कार्यसे भगवान्की प्रसन्नता हो, उसी कार्यको करनेकी चेष्टा। जिस प्रकार पली अपने पति के इच्छानुसार आना जीवन बना जाती है, उसी प्रकार प्रपत्त भगवान्‌के अनुकूल अपना जीवन बना डालता है।

२—भगवान्‌के प्रतिकूल सभी कर्मोंका सर्वथा त्वाग—जो कर्म दूषित और अपवित्र हैं, जो कर्तव्य और विद्याचारके विवर केवल प्रवृत्ति और भोग-ज्ञासनासे प्रेरित होते हैं, जिनसे अपना या पराया, समाजका और विकास कल्याण नहीं होता, वे कर्म भगवान्की इच्छाके प्रतिकूल हैं और उनका विद्यार्थ होना चाहिये।

प्रपत्तिका मुख्य अङ्ग है—आत्मसमर्पण अर्थात् अपने-आपको भगवान्‌के चरणोंमें सौंप देना। फिर प्रपत्तको वह अधिकार ही नहीं रह जाता कि वह अपने समय, धन तथा चालिका अपव्यय या दुश्प्रयोग करे। वह एक क्षण भी भगवत्कैर्कर्यसे विमुख नहीं रह सकता। शीघ्रानुनान्तर्य स्वामीने कहा है—

न देहं न प्राणाश्च च सुखसदोपभिलपिसं
न चात्मानं नान्यत्किमपि तद शेषस्विभवाद् ।
वहिर्भूतं नाथ क्षणमपि सहे यातु शतधा
विनाशं तत्पुत्रं मधुमध्यं विज्ञापनमिदम् ॥

बचमुच वह शरीर वह प्राण, वह सुख, वह आत्मा, वह चाहे जो कुछ भी ही, यदि ये सभी पदार्थ भगवत्कैर्कर्यके बाहर हों, तो प्रपत्त उन्हें एक क्षणके लिये भी नहीं सह सकता।

समय, शक्ति और धनका दुखप्रयोग प्रपत्तके लिये महान् अपचार है। अपने समयको, अपनी शक्तिको और अपने धनको ऐसे काशोंमें लगाना, जिनसे न तो अपना और न किसी अन्यका उपकार होता हो, इनका अपव्यय है। उसी प्रकार जैसे तात्त्व लेलकर या व्यर्थके गम-शापमें, या अन्य व्यापनोंमें समय लगाना समयका अपव्यय है। समयका अपव्यय न तो लाभप्रद है और न अधिक हानिप्रद; किन्तु ऐसे काशोंमें समय, शक्ति और धनको लगाना, जिनसे अपना या समाजका अनिष्ट होता हो—जैसे निन्दा, हिसा, द्रेष, कपट, चोरी, व्यभिचार, इत्यादि—इनका सर्वेषा

दुरुपयोग है। प्रपञ्चके लिये समय, शक्ति तथा धनका अपव्यय एवं दुरुपयोग—दोनों ही वर्जित हैं। प्रपञ्चका जो उमय है, प्रपञ्चकी जो शक्ति है प्रपञ्चका जो धन है—वह तो अपना नहीं है; वह तो भूव्या भगवान्को समर्पित है। फिर उसको कोई अधिकार नहीं रह जाता कि वह समयके एक वरणका भी, शक्तिके पक्ष क्षणका भी, धनके एक अपुकुप्ता भी दुरुपयोग कर सके। धनका वह व्याय तथा धर्मके अनुकूल उपायोंका करता है भगवान्के निमित्त—भगवत्कैङ्कर्यके लिये। नारीका वह चालोक्त सेवन करता है—भोग-चासनाकी त्रुटिके लिये नहीं, किन्तु भगवान्के आज्ञापालनार्थ संतानोत्पत्तिके लिये। उल्ली तो वस्तुतः जीवन-संरिती तथा कर्त्तव्य-पथकी सहायिका है। बचोका प्यार, परिवारका भरण-पोषण, संसारकी सेवा—उभी तो भगवत्कैङ्कर्य हैं।

प्रपत्ति वस्तुतः भगवद्यात्मिका सबसे छुलभ खात्म है। इसी प्रपत्तिके आधारपर गीतामें कहा गया है—

जियो वैश्यास्तथा शुद्धास्तेऽपि शनिति परां गतिषु ॥

प्रपत्तिका किंतना सुन्दर रूप श्रुतियोंमें वर्णित है—

यो ब्रह्माणं विद्धाति पूर्वं
यो है वेदोक्तं प्रक्षिप्तोऽसि तरसै ।

४८५
वेदाहमेतत् प्रसादं
सुखमुद्भैः शरणमहं प्रपत्ते ॥

(श्वेताम्बरोपनिषत् ६ । १५)

इसी शरणागतिका उद्देश्य भगवान् और कृष्णने गीतामें चरम इलोकमें संवारके कल्याणके निमित्त हमें प्रदान किया है। शुरणामात इनेपर हमें अभ्यक्त वरदान लिल जाता है और उसके बाद इसारा कर्त्तव्य रह जाता है केवल भगवत्कैङ्कर्य—भगवान्के निमित्त जीवनके सारे कर्मोंको भगवद्याता समझकर करते जाना और उक्षियों समर्पित कर देना। पर भगवत्कैङ्कर्य करनेके लिये हमें भगवद्यका सम्पूर्ण जानना आवश्यक है। भगवान् विभूषण है। भीदशम मय सन लग जाने। उत्तरः भगवान्की सेवा संसारकी सेवा है। पौहित व्यथित मानवताकी सेवा भगवान्की सेवा है। राष्ट्रकी, देशकी और मानवसाक्षकी गरीबी, अविक्षा तथा शेषको दूर करना, गिरे हुएको उठानेकी चेष्टा, मानवताको असत्त्वे सत्त्वकी ओर, अन्धकारसे प्रकाशकी ओर एवं मृत्युसे अमरत्वकी ओर लानेका प्रयात भगवत्सेवा ही है।

लव वह सारा संसार ही ईश्वरका रूप है, जब सर्वज्ञ

ही ईश्वरका बास है, तब हम किसके साथ द्वेष और धूमा रखते और कौन-सा ऐसा एकमन्त स्थल है। जहाँ हम लिपकर पाप और दुष्कर्म कर सकें? भगवद्गतु समझकर हमें अपने शरीरकी रक्षा करनी है और शरीर-रक्षाके निमित्त उपर्याएँ भूमिक्योंको भी वयोऽन्ति भोजन देना है। पर ल्यापूर्वक भगवद्याताद समझकर उसकरके खोगमें हम अपना माग ले सकते हैं, किन्तु दुर्लभके अधिकारको एवं जो धन वया भोग अन्यके लिये निर्बोरित हैं, उन्हें हमें अपनी स्वार्थ-विद्धि तथा भोग-वासनाकी त्रुटिके लिये हड्डपना नहीं है। इस प्रकार कर्म करनेद्दे कर्म हममें लिप नहीं होगा।

कुर्वन्नेवेह कर्मणि जिजीविषेच्छतद् समसः ।

धूयं ल्यग्नि नान्यशेतोऽस्मि न कर्म क्लिष्ट्यसे नरे ॥

(ईश्वाम्बोद्यान्तेऽद ३)

भगवान्का जो परब्रह्मरूप है, वह इन्द्रियोंसे अगोचर है। ऐसे परब्रह्मदेवकी सेवा शरीरसे और इन्द्रियोंसे नहीं हो सकती। वह परब्रह्म मात्या-मण्डलसे परे विरजाके पार श्रिपाद्मसूतिमें वर्तमान है—

दाहोऽस्म विद्या भूतानि शिष्याद्यामृते किंवि ।

—क्षेत्रवेद, दशम संष्क

के श्रीमन्नामायण तमके परे हैं।

वेदाहमेतत् पुरुषं सहान्त-

मादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ।

—शुद्धपञ्चवेद, पुरुषसूत्र

इस श्रीमकारायण भगवान्की सेवा उनका ध्यान, चिन्तन और मनन है। शरीरसे तारे कर्मोंको करते हुए भगवान्के अनजलत अनको लगाये रखना, उनके साथ हृदयका एकाकार हो जाना परामर्शका केंकर्य है। परमात्माके हृषि प्रकारके साक्षात्कारसे हुदयकी गोंठेआपसे आप छुल जाती हैं।

भित्तेः हृदयग्रन्थिद्वयन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते वास्त्रं कर्मणि तस्मिन्द्वये परावदे ॥

(मुण्डग्रोपनिषत् २ । २ । ८)

प्रपञ्च बलपूर्वक अपनी इन्द्रियोंका नियंत्रण नहीं करता, परमात्माके ध्यानसे उसके अन्तःकरणसे अपने-आप आत्मकी और कर्मोंका रस मिट जाता है। इसी परब्रह्मका केंकर्य भगवान्की शरणागतिमें और भगवान्के भरणोंमें अपने-आपको अकिञ्चन और निःस्तृह भावसे समर्पित कर देना है।

भगवान्‌का दूषण स्व अन्तर्दीमी श्य है, जो हमारे तथा सभी प्राणीनोके मन्त्रकरणों तथा चर्दम वर्तमान हैं। इनकी सेचा निमालिखित तीन रूपोंसे की जा सकती है—

(१) अन्तर्दीमी भगवान्, हमारे अन्तःकरणमें वर्तमान हैं, अतः अपने अन्तःकरणको परिप्रे रखना, ईर्ष्या, हैष, छल, कपट, कास, क्लोक, लोम इत्यादिकी गंदगीसे अपने मनको स्वच्छ तथा निर्षल रखना अन्तर्दीमी भगवान्‌का कैकर्य है।

(२) अन्तर्दीमी भगवान्, सर्वत्र है, अतः कोई भी ऐसा स्वल नहीं है जहाँ मनुष्य छिपकर पाप वा दुःखमें कर सके।

(३) अन्तर्दीमी भगवान्, सभी प्राणियोंके अन्तःकरणमें वर्तमान हैं, अतः प्रत्येक वरनारीका शरीर परमात्माका मन्दिर हुआ। परमात्मा प्रकाशके समूह हैं और सौशाल्य प्रकाशका एक कण है। अतः सभी प्राणियोंकी सेचा परमात्माके साकार रूप हैं। अतः सभी प्राणियोंकी सेचा रखना, किसीकी हुराई सोचना, समय, बचतरे और कर्मसे किसीको पीड़ा पहुँचाना, किसीकी मिन्दा करना और अमङ्गल चाहना, अन्तर्दीमी भगवान्‌की अवेळना मात्र है। पीड़ितोंकी सेवा, सामनवताका कर्त्याग, पथ-झोंको सच्चे मार्गपर लाना, भूखेकी ओज़, म्यासेकी जल, दीर्घीको औषध और भूखोंको विद्या देना अन्तर्दीमी भगवान्‌का कैकर्य है।

भगवान्‌ने गीतामें प्रप्तोंके लिये दिनचर्यों बना दी है—

यत्करोदि यदृशादि यद्युहोषि ददासि दद।
यत्पञ्चसि त्रौन्देय तद्युरुच्च यद्युर्पदम् ॥

(गीताम् गवदीता ५ । २४)

यहीं केवल मैं दो आदेशोंको लेता हूँ। भगवान् कहते हैं कि 'मुम् जो कुछ करो और जो कुछ खाओ, उन भूमको अर्पित कर हो।' अर्थात्, जिन भगवान्‌को अर्पित किये न हों इस काहे अल जो उकते हैं और न कोई कर्म कर सकते हैं। इसका चालय है कि भगवद्यसादके रूपमें हम वही अच खा सकते हैं, जो भगवान्‌को अर्पित हो सके, अर्थात् जो परिवर्त हो तथा वरीरको उबल और खस्स बना सके। उसी प्रकार हम वही कर्म कर सकते हैं, जो परिवर्त हो और सामन्तकस्याणके नियित किया जाय।

अपवित्र अज्ञ और जपवित्र कर्म हो भगवान्‌को अर्पित नहीं हैं उकते, अतः प्रपद दर्शे मृदू भी नहीं कर सकता। हरे प्रकार इपक्षके जीवमन्त्रे आहार और आचरणकी शुद्धता अपसे आप आ जाती है।

अतः भगवान्‌ने जो अर्जुनको उपदेश दिया—

सर्वधर्मान् परित्यज्य मासेकं ज्ञानं तत् ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो सोक्षयित्वामि मा शुचः ॥

(गीता १८ । ६६)

इहीमें सभी धर्मोंका दार, सभी शास्त्रोंका आशय छिपा हुआ है।

(३)

त्रीतापां चरमं लोकं—एकं व्याप्त्या

(मै०—पूर्वचरण आनन्दी ओराध्वावार्यी नदापुज)

भगवान् श्रीकृष्णने श्रीमद्भगवद्गीताके अदारहवें अध्याय के ६६वें श्लोकमें भगवच्छणागतिमार्गका विवान किया है उनके शब्द हैं—

सर्वधर्मान्तरित्यज्य मासेकं ज्ञानं तत् ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो सोक्षयित्वामि मा शुचः ॥

श्रीवैष्णव चम्पदाममें यह श्लोक 'चरम लोक'के नामसे प्रसिद्ध है। आत्मावे श्रीपराशर भट्टने अष्टश्लोकीके अन्तिम दो श्लोकोंमें हस्तकी व्याख्या की है। पहला श्लोक है—

मध्याप्त्यर्थतमा मध्यस्तनस्तिं लंत्यत्य धर्म पुः-

मानेन्म लद्वकास्ये धारणमित्यातोऽवसार्य षुः ।

द्वासेऽ यजस्तापदुक्तसिद्धशानादिपूणो दाहं

मत्वात्प्रतिपत्तिपूर्वकर्तिरहितं कृत्य शुचं मा शुचाः ॥

इस श्लोकके अनुसार भगवान्‌का कथन यह है कि यदि हम शूषको प्राप्त करना चाहते हों तो मैंने अवतक जो कर्म-योग, शानयोग एवं भक्तियोगके रूपमें धर्मका उपदेश किया है, उसको छोड़ दो। अतःमानसे मुक्त, होकर मुख एकको ही मेरी प्राप्तिके लिये उपायके रूपमें वरण करो। यह निष्ठय कर लो कि मैं (भगवान्) ही तुम्हारे लिये उपाय हूँ। तुम जानते हो कि मैं ज्ञान आदि समस्त कल्याण-गुणोंसे परिपूर्ण हूँ। मुहों उपाय भान लेनेपर मैं उन सारे पापोंसे तुमको मुक्त कर दूँगा, जो मेरी प्राप्तिके विरोधी हैं। तुम किसी प्रकारका शोक मत करो।

दूषण द्वलोक है—

गिरिचत्वं स्वदधीनतां सथि सदा कर्माधृपायान् हरे
करुं स्वसुमयि शपनुमनकं सीदासि हुस्ताकुकः ।
पुत्रभावसुपेयुषो मम उत्सर्वापराधक्षयं
कर्त्तासीति द्वलोकिः दे दुचरमं वादर्य सारन्तारथे ॥

इस द्वलोकमें आचार्य भगवान्को सम्बोधित करते हुए कहते हैं कि हे भगवन् ! मैंने यह निर्धय कर लिया है कि मैं सदा दृष्ट्वा अधीन हूँ, कर्मयोग आदि उपर्योगेसे किसीको अपनाने या छोड़नेमें असमर्थ हूँ । शरणागति करनेमें भी मैं अपने आपको असमर्थ पा रहा हूँ । दुःखसे व्याकुल होकर मैं क्लेश पा रहा हूँ । ऐसी स्थितिमें है पार्यसरथे ! मुझे आपके 'सर्वधर्मान्परित्यज्य'..... द्वलोकका लगण आता है । आप ही मेरे उपाय (साधन) हैं । यह ज्ञान प्राप्त हो जानेमें मुझे विश्वास हो गया है कि आप मेरे सारे पार्योंको नष्ट कर देंगे । अतः मेरा दुःख दूर हो गया है । मैं निर्भय हो गया हूँ ।

(४)

(क्षेत्र—पं० श्रीमुणिकर्त्ता द्विवेदी इन्द्र)

भगवद्गीताके १८ वें अध्यायके ६६ वें श्लोकमें जो 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' पद है, वह शहूनीय है । क्या उसका अर्थ 'सब धर्मोंको त्यागकर' है ? क्या भगवान्ने अर्जुनको यही आदेश दिया था कि हे अर्जुन । तू सब धर्मोंको त्यागकर मेरी शरणमें आ जा । यद्यपि गीताके दीक्षाकारोंने इस श्लोकके गूढ़ार्थपर प्रकाश दाला है, किंतु उस कथनको प्रमाणित नहीं किया ।

भीता-सत्त्वाद्वारा अनुबाद करते समय इन पंक्तियोंके लेखकों इसका प्रामाणिक गूढ़ार्थ उपलब्ध हुआ । पाठकोंकी सेवामें उत्तरका दिग्दर्शन कराया जा रहा है । पूर्य श्लोक निम्नलिखित है । यथा—

सर्वधर्मान्परित्यज्य जासेऽपे शरणे ब्रह्म ।

अहं त्वा सर्वपापेन्द्रो मोक्षयित्वामि मा द्वृचः ॥

इस श्लोकके 'धर्मान्' तथा 'परित्यज्य' हन दो शब्दोंपर ही विचार करना है । प्रथम 'धर्म' हस्तोंको लीलिये । गीताकारने धर्म-शब्दकी परिभाषा अनेकार्थक दी है । गीतामें 'धर्म' शब्दकी व्याख्या मुख्यतः तीन साखतोंके लिये प्रसुक हुई है । उदाहरणके लिये तीन निम्नलिखित श्लोक देखिये—

मेहाभिक्षमनादोऽजि प्रथवत्यो न विद्यते ।

स्वप्नमन्धरस धर्मस्त्र आयते भद्रहो भयात् ॥

अथाद्यानाः पुरुष धर्मस्त्रस्त्र वर्तते ।

अप्राप्य मम निवर्तन्ते सुखुसंसारवस्त्वमि ॥

प्रद्युमी दि प्रतिष्ठाहमन्धरत्वाव्यथस्त्र च ।

पाश्वत्य च धर्मस्त्र शुखस्यैकान्तिकस्त्र च ॥

उपर्युक्त तीनों श्लोकोंमें तीन गूढ़ार्थ हैं । प्रथम श्लोक दूसरे अध्यायका ४० वाँ है, उसमें कर्मयोगका उल्लेख है । द्वितीय श्लोक नवें अध्यायका तीसरा है, उसमें 'ज्ञानयोग' तथा तीसरा श्लोक चौदहवें अध्यायका २७ वाँ है, उसमें 'भक्तियोग' का उल्लेख है । यहाँपर धर्म-शब्दकी विविध परिभाषा है । प्रोक्त तीनों ही श्लोकोंमें 'धर्म' शब्दका प्रयोग किया गया है ।

इतना स्पष्टीकरण द्वानेपर भी श्लोकका भावार्थ संदिग्ध ही है । वस्तुतः इस (१८ । ६६) श्लोकमें परित्यज्य शब्द ही विशेष रहस्यमय है, जिसका रहस्योदावादन किया जा रहा है ।

'परित्यज्य' या त्यागकी परिभाषा गीताके द्वारा ही प्रमाणित है; यथा—

सर्वकल्पफलत्यागं प्राकुल्पत्यागं विचक्षणाः ॥

अर्थात्—सर्वस्त कर्मोंके फलके त्यागको ही बुद्धिमान् लोग 'त्याग' कहते हैं । देखी आपने 'परित्यज्य' या त्यागकी परिभाषा । परित्याग या त्याग फलाशाका त्वाग अर्थात् निष्काम द्वेरा है ।

इस प्रकार 'सर्वधर्मान् परित्यज्य'..... इस संदिग्ध या तिलकी ओट पहाड़वाले पूरे श्लोकका तात्पर्य निम्न दोहोमें अनूदित है—

सर्वं कर्मफल धर्मं लज्जा, ते सम शरण अवात् ।

भुक्त कर्तृं सद धारये, मत कर शोक-विनाश ॥

निष्कर्ष यह है कि सर्ववान् कहते हैं—ऐ अर्जुन ! तू कर्म, ज्ञान तथा मक्षिकाम सभी धर्मोंकी त्यागकर अर्थात् उनकी फलेण्ठा छोड़कर निष्काम बनकर मेरी शरणमें आ जा, मैं तुम्हारो लारे पार्योंसे दुःख दूँगा; तू विन्दा मत कर अर्थात् तो आ ।

'धर्मान्' अर्थात्—धर्मोंका या सारे धर्मोंका परित्याग करनेके लिये नहीं कहा गया कि धर्म-सर्व ही छोड़ दें, प्रसुत उनकी फलाशाका त्यागना ही गीतालक्षणों अमीह है ।

सामान्य-धर्म और विशेष-धर्म तथा इनके आदर्शी

(लेखक—श्रीश्रीकान्तराजनी)

सामान्य-धर्मका परिचय

सामान्य धर्म वह है जिसे सर्वसाधारण लोग भरते हैं, जैसे कि सातोपिता एवं गुबर्गकी आशाओंका पालन पर स्वजनोंके साथ करते हैं तथा उचित प्रतिकार-रूपमें युद्ध करना एवं वितुकर्म आदि गृहसेवेके कर्तव्योंका पालन करना। इस सामान्य धर्मके द्वारा सकामताएं छोकिके सुख परं स्वर्ग आदिकी प्राप्ति तथा निष्कामताएं परम्पराया ब्राह्मोपासनादाय भोक्त-कुरु भी प्राप्त होता है। अतएव इसमें—

धारणाद्भूमित्याकुर्ष्मां भास्यसे प्रज्ञाः ।

(महा० कण० ६९ । ५८)

—इस धर्मके अर्थकी पूर्ण सार्पंतता है। श्रीजनकर्जीने इसी कर्मयोगके द्वारा ज्ञानकी परम अवस्था प्राप्त की है, यथा—

कर्मणैव हि संसिद्धिमाणिता जनकाद्यः ॥

(गीता ३ । २०)

सामान्य धर्मके आदर्श श्रीरामजी

इह सामान्य धर्मका आदर्श-संसापन भगवान् ने अपने श्रीरामावतारसे किया है; यथा—

धर्मसंसापनर्थाण् सन्मवामि युगे युगे ॥

(४ । ८)

‘धर्म-संसापनके लिये मैं युग-युगमें अवतार चेता हूँ।’ तथा—

चारित्रेण च को युक्तः । (भास्तीकि० १ । १ । ३)

कित्तका चरित्र (रावसाधारण) लोगोंके ग्रहण करने योग्य है। श्रीवाल्मीकिजीने इस प्रश्नपर श्रीनारदजीने श्रीरामजीको ही कहा है; तथा—

भर्त्यावतारस्त्वेव मत्येषिक्षणं रक्षोवधायैव न केषलं विभोः ।

(श्रीमद्भागवत ५ । १३ । ५)

भगवान् श्रीरामजीका मनुष्यावतार कैलं रावण आदि राष्ट्रोंका दब उत्तेजके लिये ही नहीं हुआ, प्रत्युत मनुष्योंको धर्मकी शिक्षा देनेके लिये हुआ है।

एकपत्नीवृत्तधरो राजविंचरितः शुचिः ।

स्वधर्मं गृहसेवीयं विश्वन् स्वयमाचरत् ॥

(नोभद्वाप० ९ । १० । ५५)

श्रीरामजी पवित्र और एकपत्नीवृत्तधारी हैकर जिस यहस्य-धर्मका राजविंचरियें आचरण किया था; उसका उपदेश देनेके लिये आचरण करने लगे।

श्रीरामजीने जहाँ-तहाँ अपने सामान्य धर्मकी शिक्षा दी है—

(१) युगु जननी सोहु सुतु यस्माती । जो मित्रु मातु बन्धु अनुरामी ।
बन्धव मातु मित्रु तोषनिहारा । हुर्हम जननि सफक ससारा ॥

(रा० च० मानस, अन० ४२)

(२) धन्य जनमु अग्नीतक तासु । पितृहि प्रमोहु चरित्रं सुनि जासु ॥

चारि फदारथ करतक ताके । श्रिय मित्रु मातु ग्राम लन जाके ॥

(रा० च० मानस, अन० ४३)

(३) मातु पिता युव यस्मि सिद्धं सिरं चरि करहि युमार्ज ।

जहेद जाम तिन्ह बनम कर नदव जन्मु जम जाँड़ ॥

(रा० च० मानस अथोवा० ५०)

(४) निषिचर निकर तकक मुनि जाप । सुनि रथुबीर नदन अक जापा ।

निषिचर हीन रखड़े महि मुज छाह घन घोन्ह ।

(रा० च० मानस, अरण्ड० १)

श्रीकैकेयीजीने श्रीरामजीकी जनयात्रा ‘होत प्रात ग्राम’ ही भोगी थी। सदनुदार शीत जानेका उसने श्रीरामजीसे अनुरोध किया। उसपर श्रीरामजीने माता कौठल्याको और पाणियहीता पलीको समझानेके लिये उसके बहेतु अनुरोध फरके प्रात्यरक्ता समय लिया और चौदह वर्षके बाद जैटने-पर एक प्रहर प्रभात् श्रीअवध आये; इसीलिये श्रीभरतजीके वैरके लिये प्रथम ही शौहनुमान्दे अपने आनेका समाचार दे दिया; ऐसा श्रीवाल्मीकीय रामायणमें है। फिर श्रीसीताजीके आवहन उन्हें साथ ले ही गये; ज्योकि अग्निसाक्षिते पाणियहीता पलीका त्वय सामान्य धर्ममें अनुचित था।

सामान्य-धर्मकी व्यावहारिक आशङ्काओंके समाधान

सामान्य-धर्ममें फल गया है—

यज्ञिन्यथा वर्त्तते यो मनुष्यस्त्वसिक्षया वर्तितन्यं स धर्मः ।
सामाधारो मायथा वादितन्यः सामाधारः साम्भूत्येवः ॥

(महा० शान्ति० १०९ । १०)

लो मनुष्य जिस विधयमें ऐसा व्यवहार करता हो। उससे वैला व्यवहार करना धर्म है। कपटीको कपट अवहरोंसे शावित करना चाहिये और साथु आचरणवालोंके साथ दैसा सदाचरण करना चाहिये। तात्पर्य यह कि यदि कोई लाठीसे प्रहर करता हो तो उसे लाठीसे रोकना सामान्य-धर्ममें उचित ही है। आये ऐसे कुछ उदाहरण दिये जाते हैं—

(१) श्रीरामजीने उद्धार्य आये हुए आकमणकारी राक्षसोंका प्रतिकार-त्तरमें युद्ध करके वध किया ही है।

(२) श्रीरामचरितमानक अरण्ड० १६में विभवा शूर्णगताके तोते अब छिप रहिए रुमारी। ऐसे मिथ्या कथनके प्रत्युचरमें श्रीरामजीने भी दैसा ही अद्द तुआर मोरखु भादा। इहाँ है। अतः दैसा करना दूषित नहीं है।

(३) भीमदगड़ीता १८। ५३-६०में अर्जुनको उनकी प्रकृतिके अनुकूल उनकी धन्त्रिय-धर्मकी धूषि दिखाकर उन्हें सामान्य-धर्मके अनुसार उद्धार्य आये हुए प्रतिपक्षियोंले हिंसात्मक युद्ध ही करवाया है, जो उपयुक्त ही है।

(४) महा० कर्ण० ९१। ४-६ में श्रीकृष्णभगवान्नहीं कणके धर्म दिखाकर अर्जुनसे भूमिमें लौते हुए अपने दद्यको निकालनेका समव माँगनेपर उसके किये हुए पूर्वके अपकार्योंका स्वरण कराकर बदलेमें अर्जुनके द्वाय उसका वध करवाया है।

(५) महा० कर्ण० ६९। ६३-६५ में कहा गया है कि यदि इनी शपथ ज्ञानेसे कोई चोरोंके वन्धनोंसे हूदे तो दोष नहीं, किंतु चोरोंको घन न दें; देनेसे नरक होता है।

(६) महा० शान्ति० १६५। १० तथा कर्ण० ६९। ६२ में कहा गया है कि हास्यरसके प्रत्युचरमें मिथ्या कथनका दोष नहीं होता।

(७) सनु० ८। ३५०-३५१में लिखा है कि आत्माची-का विना विचार किये वध कर डालना चाहिये; उस धर्ममें दोष नहीं होता।

इन दृष्टियोंसे सामान्य धर्मके व्यावहारिक कार्योंमें कठिनाहसीं नहीं रहतीं। हाँ, अपनी ओरसे किसीके प्रति अन्याय एवं मिथ्या कथन कमी नहीं होना चाहिये।

विशेष धर्मका परिचय

अनन्य भावसे ईश्वर-शरणागतिको विशेष धर्म कहते हैं। इसमें मुकुरु माता-पिता आदि समस्त समविद्योंके द्वाय भर जगत्में एवं अचर जगत्में ज्यात एक ईश्वरको ही अपना सब प्रकारसे संरक्षक जानकर उसीको सात्सनमर्पण कर उसकी उपासनाद्वारा अपना सभव-लोकमें कल्याण चाहता है। इस निष्ठामें मुमुक्षु सामान्य-धर्मको पालनीय और विशेष धर्मको अवश्य पालनीय मानता है। जहाँ दोनोंमें विशेष-धर्मको उभय एवं निष्ठा करके विशेष-धर्मको उभय फरता है, किंतु विशेष-धर्ममें ज्यूनता नहीं आने देता। इसके अवशिष्ट उपाय आगे विशेष धर्मके आदर्शके चरित्रीये जात होंगे।

विशेष-धर्मके आदर्श श्रीलक्ष्मणजी

श्रीलक्ष्मणजीने शिक्षापनसे ही श्रीरामजीको तामी मानकर उनमें अपनी अनन्य भक्ति-विश्वा रखी है। यथा—
बारहि देनिजहित पति लाली। लक्ष्मण राम चरण रहि माली॥

(रा० च० मानस शल० १५७)

बद्धपनसे ही श्रीरामजीको अपना हितैषी और स्वामी मानकर श्रीलक्ष्मणजीने उनके चरणोंमें प्रीति माली है। यथा—

“.....राम शरम लक्ष्मणह करम बचन अह मन के।

.....चारक चतुर राम स्वाम धन के॥”

(दिनव-पत्रिका ३७)

अर्थात् यहाँ श्रीगोदामीजीने श्रीलक्ष्मणजीको विशेष-धर्मका पर्यायी ‘राम धर्म रथ’ कहा है और ताथ ही उनकी मन, बचन और कर्मगत निर्मलता भी कही है एवं इनको श्रीरामलीपी स्वामधनके चतुर चातक कहकर इनकी अनन्य भक्ति-विश्वा भी कही है। इसीसे ये श्रीराम-स्वनवाचा-के प्रज्ञगते विष्णो-सम्भावनापर व्याकुल हो उठे, यथा—

सीनु दीन जनु जल ते काढे।

(रा० च० मानस श्लो० ६९)

म च सीता लघा हीता न पाहमपि रामव।

मुहूर्तमपि जीवाचो जलान्मस्याविशेषूद्धतौ॥

(काली० २। ५। ३२)

श्रीलक्ष्मणजीने श्रीरामजीसे कहा है कि मैं और श्रीसीता

जी आपने पृथक् रहकर सुहूरांभर भी नहीं जी सकते उसी प्रकार जैसे जलसे पृथक् कर देनेवर मछलियाँ नहीं जी सकतीं ।

श्रीलक्ष्मणजी अपनी विशेषधर्म-निष्ठाके साथ-साथ सामान्य-धर्मका भी पालन करते थे । जब स्वामी श्रीरामजीने बन-यादगाँव निधय किया और श्रीलक्ष्मणजीने मुनाः तब वे ज्याहुल हो उठे; उनका शरीर काँपने लगा; शरीर पुलकित हो गया और आँख जिरने लगे । तब उन्होंने अशीर होकर स्वामीके चरण पकड़कर साथ चलनेकी चेष्टा प्रकट की ।

इसपर स्वामी श्रीरामजीने अपने सामान्यधर्मकी इष्टिवृत्ति उन्हें माता-पिता एवं स्वामीकी शिक्षा भारणकर धरमरहनेको कहा, तथ श्रीलक्ष्मणजीने अपनी विशेषधर्मकी इष्टिवृत्ति आलोचना करते हुए कहा है—

नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह उज्जु त काह चलाइ ॥
दीन्हि नौहि सिख नौकि नौसाई ॥ हाति अगम अपनी कदराई ॥
नर बन थोर धरम तुर कारी । निनम नौति कहुं त अधिकारी ॥
मैं सिसु प्रमु सनेह प्रतिपाठा । मंदह मेव कि कैहि नराय ॥
तुर पितु मातु न जानठ काह । कहुं सुभाव नाथ भहिअहू ॥
बहुं लभि जगत तनेह सगाई । श्रीति प्रतीकि निनम निजु गाई ॥
मैरे लमह पक्त तुम्ह स्वामी । दीनबुद्ध वर लक्षणानी ॥
धरम नौकि उपदेसिल ताही । कीरति शूदि सुगदि प्रिय जाही ॥
नन कन बदन धर्स रत होई । इफसितु परिहरिज कि सोई ॥

(र ० च ० न ० अ ०० ५२)

नियोग—नाथ दास मैं स्वामि तुम्ह—है नाथ । मैं दास हूँ और आप स्वामी हैं यदि आप मेरा ल्याग ही करेंगे तो फिर मेरा ददा बद्य । अर्थात् मेरा दासत्व और आपका स्वामित्व नियमित है, यह दासत्व नियमित है । यथा—

स्वत्वमात्मनि संजातं स्वामित्वं श्रत्यापि स्तितम् ।

जीवात्मा बहु (धन) का भाव है और प्रस्त्रमें उसके स्वामी (धनी-पोका) का भाव है । अतः जीवात्मका प्रक्षेपे नियत स्व-स्वामी सम्बन्ध है । तथा—

द्वासमूर्ताः स्वतः सर्वे द्यात्मानः परमात्मनः ।
नान्यथा लक्षणं तेऽपि वन्धे सोक्षे तद्यैव च ॥

उसी जीवात्मा परमात्मके तत्त्व-चिद दात हैं; उस जीवों-के बद और मुक्त अवस्थामें अन्य प्रकारके लक्षण नहीं हो सकते । आव यह कि मैं अपने नियत अधिकारात्मका

इन चरणोंकी चेवा ही चाहता हूँ; इसपर परम समर्थ स्वामी आप यदि त्याग ही करेंगे तो मेरा ददा ही क्या ।

इसपर यदि स्वामी कहे कि घैने तो तुम्हें अच्छी ही शिक्षा ही है, मैं लंब उसी सामान्य धर्मपर आस्तू हूँ; तो उठकी महत्ता खोकार करते हुए और अपनी विशेष धर्मकी बुद्धिके उम्रका उम्रजा निराकरण करते हुए कहते हैं—
‘दीन्हि नौहि सिख नौकि……’ सामान्यधर्मकी शिक्षा तो अच्छी ही है; पर मैं अपनी कायरतासे इसे भारका रूप एवं अमसाच्य मानकर डरता हूँ और जगम तमहता हूँ । इस प्रकार उन्होंने स्वामीके स्वामित्व धर्मका समर्थन किया । आगे उठके अधिकारियों-का वर्णन करते हैं—

‘नर वर धीर……’ आव यह कि सामान्य धर्मका निवाह करनेमें आप (श्रीरामजी) के समान समर्थ लोग ही सफल हो उठते हैं । वे ही वेदवर्णित दामान्यधर्म और राजनीतिके अधिकारी हैं, वे सामान्यधर्म-मार्गके बड़े-बड़े कष्ट विषयसे सहन करनेमें समर्थ हो सकते हैं । जैसे सिसु प्रमु सनेह…… जरनेको शिशु कहकर अनन्याश्रय, असमर्थ एवं उपायशूल सूचित किया कि पेरे ही लोग विशेष धर्म (दरणागति) के अधिकारी होते हैं । यहाँ वैदिक धर्म एवं माता-पिताकी देवा आदि सामान्यधर्म तुमेह गिरि और राजनीति मन्दराचल-के तमान हैं, मरण (हंस) के तमान असमर्थ मैं इनको नहीं उठा सकता ।

हृषकी उपमादे यह मीं सुचित किया कि जो हंसवद् विकेती हैं, वे श्रीरामस्तेहमें ही जीवन रखते हैं; तब उन्हें उक्त धर्म और नीति सेवन-मन्दरके समान मार ग्रसीत होते हैं । अतः इन स्ववहारोंसे बे छरते हैं । हंस विकेत-निपुणतामें शोभा पाता है, योसा होनेमें नहीं ।

श्रीलक्ष्मणजी दब्दपनसे ही राम-स्तेह करते हैं, इससे उन्हें पेती चलद्विवेकिनी हुद्दि ग्रास है । अतः वे विशेष धर्मके उच्चम अधिकारी हैं ।

स्वर : ‘नदर तत्र होइहि बह दो०।’

(र ० च ० न ० ७०)

—ऐ श्रीरामजीने सामान्यधर्म (माता-पिताकी देवा आदि)के त्यागपर बड़ा दोष कहा था, उसके प्रति कहते हैं—
‘तुर पितु मातु…… लहुं लभि जाह…… मैरे सचह एक तुम्ह……’—
तुरु, पिता-माता आदि समस्त चर जगत्के द्वारा आपने ही प्रेरणा करके मेरे संरक्षण आदिके वर्ताव कराये हैं । अतः

उन स्त्रोंके द्वारा आयने ही मेरे सभी उपकार किये हैं। अतः मैं अप्यको कुछ न जानकर आपको ही उन कुछ मानता हूँ। मेरी दीनतापर दया-हस्ति करके मेरे हृदयके भाव जान लीजिये। मैं सबके मूलरूप मानकर आपको ही आत्म-समर्पण करता हूँ। अतः आप मेरी इच्छा-विशेष-धर्म-निष्ठाको उपकर करें।

मात्र यह कि यदि मैं गुरु, पिता आदिकी ऐवा न कर सकनेपर इन सबके मूलरूप आपकी ऐवामें आत्म-समर्पण कर हूँगा तो इनके ऐवा-त्यागका दोष मुझे न लगेगा। यथा—

यथा	ततोऽसुलनियेचनेत्
सूर्यनिति	तत्सक्षन्धमूजोपशस्त्राः ।
श्रावोपहाराद्य	यथेन्द्रियाणां
तथैव	सर्वार्थासल्युतेष्या ॥
	(शीमद्भागवत् ४ । ६१ । १४)

‘जिसे लड़के सींचनेसे बूझके सभी अज्ञ एवं आणोंके तूम होनेसे हनिद्रियाँ सचेत होती हैं, वे से ही श्रीहरिका पूजन करनेसे सभीका पूजन हो जाता है (अर्थात् मगवान् सबकी आत्मा हैं, उन्हें आत्म-समर्पण करके तूम करनेपर सबकी कृपा हो जाती है)’—यह श्रीनारदजीने प्रचेताओंसे कहा है।

इसपर यदि स्वामी कहे कि यह सामान्य-धर्म भी त्रुट्ट्वारे समान भेष लोगोंके लिये ही है; तब तूम उनकी दावहेत्ता क्यों करते हो ? हस्तपर सामान्य-धर्मके अधिकारियोंका वर्णन करते हैं—

‘धरम नीति उपदेसित रही ।……—उक सामान्य-धर्म एवं राजनीतिका उपदेश उत्तरे देना चाहिये, जिसे जगत्में कीर्ति-स्थापन, ऐश्वर्य-प्राप्ति एवं परलोकमें सद्गतिकी काङ्क्षा हो; क्योंकि ये उस धर्म और नीतिके फल हैं; यथा—

भातु पिता गुरु स्वामि निदेशु। सलक भरम परस्तीवर सेसु॥
साधक एक सकल सिद्धि देनी। कोरति सुग्रसि भूतिमग देनी॥
(स० च० मानस शोध्या ० १०५)

मात्र यह कि सुरें सामान्य धर्मके फलोंकी आकाङ्का नहीं है। अतः मैं केवल आपके चरणोंका स्नेह ही चाहता हूँ। इससे विशेष धर्मका ही अधिकारी हूँ, यही आणोंकी अद्वितीयसे स्पष्ट करते हैं—

भन क्रम बन्द चरन रह……—जब उक रीतिसे

मैं मन, बच्चन और कस्थे सामान्य धर्मसे बँहूँ मोहकर केवल आपके चरणोंका ही स्नेही हूँ और जिर जाप ‘कृपापिष्ठु’ हैं तो क्या ऐसे अनन्य मरक़ज़ा त्याग किया जाता है ? मात्र यह कि ऐसे मरक़ज़ा तो कोई निष्ठुर भी त्याग नहीं करता। तथा—

भीतिमदानं दरणावतस्य
स्त्रिया दधो ब्राह्मणस्त्वापहारः ।
मित्रद्वैहसानि चत्वारि शक
मरक्तत्यागदैव सगो मतो मे ॥
(मदा० मदाप्रसानिक० १ । १६)

हे इन्द्र ! शरणागतोंको मय देना, स्त्रीवध ब्राह्मण-धर्म और मित्रद्वैहसानि—ये चार पाप हैं; मैं मरक्तत्यागके पापको भी बैता ही मानता हूँ। ऐसा भीतुपिष्ठेरजीने कहा है। यथा—

देवपिष्ठभूतासनृणीं पितॄणै
म किंकरो नायलृणी च राजन् ।
सर्वात्मना यः शरणं शरणं
गतो मुकुलं व परिहस्य कर्तम् ॥
(शीमद्भागवत् ११ । ५ । ४१)

‘जिसने सारे कृत्योंका त्याग करके सर्वात्मना भगवान्की शरणागति कर ली है, वह देव, शूषि, धात्सुपुष्प और पितरोंका न शृणी है और न दास है।’ ऐसे विशेष धर्म-निष्ठाओंके द्वारा उनके शृच्छ-विवरेधी सामान्य-धर्मसे आराध्योंकी उपेक्षा भी देखी जाती है।

विशेष-धर्मपिष्ठ भीलस्त्रियजीने अब देखा कि स्वामी श्रीरामजी नन जा रहे हैं, तब उपर्युक्त विचारके अनुसार इन्होंने गुरु, पिता और माता आदिसे आज्ञातक नहीं भोगी, धर्मपत्नीको भी कुछ न कहा; क्योंकि उनकी अखीकृतिपर इनके विशेष-धर्मसे विशेष पद्धता । भाताके यहाँ तो स्वामी श्रीरामजीकी आकाशे गये; क्योंकि स्वामी श्रीरामजीको उपासना-शक्ति भीमुमित्राजीसे इन्हें विशेष धर्म-निष्ठाकी शिक्षा दिलानी थी, यथा—

गुरु पितु भातु बंधु तुर सारै । सेहन सकल प्रान की नाई ॥
राम प्रान श्रिय जीवन जीके । स्वारम रहित सदा सम ही के ॥
पूजनीय श्रिय भरम जहाँ ते । सब मानिअहि राम के नाते ॥
अस जिय जानि संग बन जाहू । केहु तात जम जीवन राहू ॥

मूरि भगवान् भगवृ नोहि समेत वर्कि लादै ।
वो बुद्धरो भग छलि उठ कठोह दाम भद्र ठादै ॥ ऐ
तुलसी प्रभुदि दिल्लि देह जायसु दीन्दु दुनि आसित दरे । तक ।
(रा० च० मानस ल्लोच्या० ७३-७५)

इसपर इनकी प्रशंसा ही हुई है, जैसा कि भरतजीने कहा है—

(३) ओवन लाहु लखन भक्त पावा । सब तर्जि गम चरन नन लावा ॥
(रा० च० मानस ल्लोच्या० ८८)

(४) अहो लक्षण सिद्धार्थः सतर्तं प्रियवर्दितम् ।
आत्म देवसंवादां वस्त्वं परिचरित्वसि ॥
महस्येषा हि वे तुदिरेष चाम्बुदयो महाम् ।
एष स्वर्गस्य मार्गं अथ यदेत्मनुगच्छसि ॥
(चाल्मीकिं० १ १० । ८५-८६)

श्रीलक्षणजीने अन्ते विशेष भर्तीकी हाइसे अपने इह श्रीरामजीके अपनावपर भार्जन करते हुए सामान्य-धर्मसे सम्माल्योंकी उपेक्षा भी की है। इनपर भी वे प्रत्यंतित ही हुए हैं। यथा—

(१) श्रीरामचरितमानस, बनुप-यश-वसन्तमें श्रीरामजीके प्रति अपनावपर श्रीजनकलीके वचनोंमें उनपर कुछ आकेपात्रक वचन करे थे। सामान्य-धर्तीकी हाइसे एक वडे-बूढ़े राजपिंडके सम्मानकी अवहेलना हुई है, पर वे इसपर प्रत्यंतित ही रहे हैं।

(२) वहांपर श्रीशश्वरामजीने इनके सामी के श्रीरामजी-के सम्मानकी अवहेलना की है, तब हहोने उनसे उचित प्रतिजाद किये हैं—“वेळे रसु भरहि जपनाम ।” पीछे सच्चासन होनेपर परशुरामजीने इनकी प्रशंसा ही की है।

(३) श्रीराम-वनवासिपर रिताके द्वय सामीका चोर अपनान चम्पाकर पिताजीको भी कठोर वचन करे हैं। जब पीछे जाना कि रिताजीने श्रीराम-वाणियकी परवातामें वैषा किया है, अन्यथा श्रीरामजीका ही अकृत्याण होता, तब उसपर पक्षाचाप किया है। यथा—

प्रेम निवि पितु को कहे मैं भव वचन लघाइ ।
पान रहि परिताप तुलसी डचित सहे सिरप ॥
(गीतावली च० ३०)

(४) श्रीमरतजीके दल-बलउपरोक्त चित्रकृष्ण जानेपर हहो श्रीराम-विरोधी जान लक्षणजीने उनके अपमानन्दर भी महुत कठोर वचन करे हैं । जब आकाशवाणीही उनका भाव नाना, तब ये बहुत लजित हुए। उसपर श्रीरामजीने इनसे उक्त नीतिपरक वचनोंपर प्रशंसा ही की है ।

(५) समुद्रतटपर श्रीविमीषणजीके मतपर श्रीलक्षण-जीने श्रीरामजीका अपमान भाना था; कोकि आगे राषणने उसीको लेकर श्रीरामजीके बल-दुर्दिकी निन्दा की है, कब वहाँ स्वामीपर मी उन्हींकी प्रतिष्ठान-रक्षाके लिये कुछ कठोर वचन (महा० शान्ति० १ । १ । ८२-८४ के आधार) करे थे । उसपर श्रीरामजीने चिह्नितकर इन्हे आशासित किया था ।

इसमें गुह रहस्य था । श्रीविमीषणजी ऐश्वर्य जानकर शरण हुए थे। पर समुस्त केऽनेपर वे नाडुवें मुग्ध हो गये । तब श्रीरामजीके कुलशुक सागरके द्वारा वे श्रीराम-बल-पीश्य देखना चाहते थे। कुलशुक सागर भी रावणका पड़ोली होनेसे उसका बल जानता था, उसका भी श्रीरामपर वासुद्य था। हल्ले उसने तीन दिनतक न आकर अवैत्तिना करके यम-यत्नमीरुप देख लुकी है। मार्ग दिया था—

देखि सन दक दौकप मारी । हर्षिप दयोनिधि मयड सुहारी ॥
(रा० च० मानस ल्लोच्या० ५९)

यदि उसका उक्त भाव न होता तो अपमानित होनेपर अह लजित होता । इन्हीं भावोंको लेकर श्रीगोत्तमीजीने इनके यशको रुद्रपति-कौरितिका दद्दानेवाला कहा है—

नंदर्ढं शङ्खिम दद लहजाना । ***
रुद्रपति कोपदि फिर्क भद्रका । ददं सनात भद्र जहाना ।
(च० च० मानस वाल० ११)

श्रीलक्षण-नूर्द्धरपर श्रीरामजीने भी कहा है—
सेवक सका माति मायप तुन चाहत अब जयेहे है ।
निष करलौ करलौ वात तुम्ह सुहती सकड जयेहे है ॥
(गीतावली, ददा ५)

* इन पांचों लक्षणोंके विवेचनसे श्रीलक्षणजीके दूसरम विचार मेरे अन्य व्याप्त्यान-विवरणापार के २७वें निवाच “पित्रेष-भृत्योंका आदर्श श्रीलक्षणजी” में विचारसे लिखे गये हैं। यहाँ विचार-भृत्यों दूसरम ही लिखे गये हैं।

वात्सल्य-धर्म

(केनक—ओन्द्रोप्रसादजी पंचोली, पद्म० ८०, पी-ए० ३००, लाहिटपुरज)

‘धर्म’ शब्दसे ग्राहकिक धर्म, शारीरिक धर्म तथा सामाजिक धर्मकी व्यक्तिया होती है। यह शब्द ‘धूज्—धारणे’, ‘धूङ्—अक्षस्थाने’ अथवा ‘हुधान्—धारणयोशणयोः’ धातुओंसे व्युत्पन्न माना गया है। ऐसा तात होता है कि इन धातुओंसे व्युत्पन्न तीन पृथक्-भूमध्यक् शब्द कभी प्रचलित रहे होंगे, जिनके स्वतर उच्चारण अर्थमें बदलते रहे होंगे। कालान्तरमें स्वरमेदयरसे दृष्टि हठ जानेपर तमाजमें तीनोंके स्थानपर एक विलक्षण रूप प्रचलित हो गया। तब पदार्थकी अवस्थितिमें सहायक तत्त्व, पदार्थके धारक तत्त्व तथा सामाजिक निर्धारित सामाजिक सर्वादा—ये तीनों अर्थ एक ही धर्म शब्दसे व्यक्तित होने लगे।

धर्मशब्दका प्रयोग अनुवेदमें सर्वग्रन्थमें देखनेको मिलता है। एक भवनमें यज्ञके साथ धर्मका उल्लेख हुआ है—

वरेन यज्ञमयजनन देवास्तानि धर्मीणि प्रथमान्यासन् ।

यहाँ दो शब्दोंकी और संकेत है, जिनमेंसे हितीय यज्ञ देवताओंद्वारा प्रयोगित है, जो प्रथम धर्म या धारक तत्त्वोंका कारणभूत है। प्रथम यज्ञ प्रजापतिका कामप्र ^१ या संकल्परूप यज्ञ है, जिसे वह सप्त शूष्मिणाणों द्वारा पितृ-प्रणोक्तीद्वायतासे कियात्मक रूप प्रदान करता है। स्वयम्भू प्रजापति, परमेष्ठी प्रजापति, सूर्यरूप हनु, तो स तथा अग्नि—इन पाँच तत्त्वोंसे वह कामग्र यज्ञका प्रतीक्षन करता है ^२। इस कामग्र यज्ञसे ही त्रिष्ठेष्य—आदिलात्मक एकादश, वायुरूप एकादश तथा अग्निरूप एकादश देवता उपर्युक्त हितीय यज्ञको प्रयोगित करते हैं। प्रथम धर्मका सम्बन्ध इस यज्ञसे है। इस यज्ञका उद्देश्य है—प्रजापतिका स्वर्णको वहुत रूपमें प्रकट करना। नामस्वात्मक जगत्के माध्यमसे ही वह ऐसा कर सकता है। इतिलिये प्रथम धर्म नामस्वात्मक जगत्के मन, प्राण, आकृद्ध, बासु, अग्नि, जल तथा पृथिवी नामक

१. ऋग्वेद १। १६४। ५०, १०। ९०। १६

२. स एतेष्ठी पितृरूप अमकीद् कामप्र या अहं यज्ञदद्ये तेन त्वा यज्ञमानीति—शतम् ११। १। ६। १७

३. ता या एवः एतेष्ठा एतेन कामप्रेण एतेनाम्भृतः ।

—सत्तम् ११। १। ३। २०

तात मूलतत्त्व हैं, जिन्हें प्रजापतिकी असीम उत्तमो छन्दिनि—सीमित कर देनेके कारण छन्द भी कहा गया है। पञ्चभूतोंका पञ्च-ज्ञानेन्द्रियसे विषय-विषयसंबन्ध है। ये सब धारक तत्त्व हैं। पिण्ड और ब्रह्माण्डकी कार्य-प्रणाली उमानान्तर चलती है। ब्रह्माण्डके सूर्यादि सभा पिण्डके हन्दियल्प देवोंका अपने कार्यके माध्यमसे प्रजापति-प्रत्यर्तित यज्ञमें सहायक होना ही अनुवेदके उपर्युक्त मन्त्रके अनुसार धर्मसंज्ञासे अभियेय है।

प्रजापतिके बहु और उसमें योग देवेवाले देवताओंके धर्मों या कर्त्तव्योंका उल्लेख देवदिमें अनेकधा हुआ है। उनके द्वारा मानवसमाजकी विभिन्न संस्थाओं तथा उनके कार्योंका निर्धारण हुआ है। भगवद्गीतामें कहा गया है—

सहयज्ञः प्रज्ञः सद्गु पुरोथाऽप्य प्रजापतिः ।

अनेन प्रसन्निष्वधमेष वोऽस्तिवप्त्कामशुकृ ॥

प्रजापतिने यज्ञके रूपमें इस विश्वको ही उत्तम किया था; जिसमें सूर्यादि देवगण कर्मसंख रहते हुए आहुति दिया करते हैं। यह यज्ञ प्रजापतिके काम या संकल्पका दोहन करनेवाल द्वारा हुआ। इसीलिये प्रजापतिने प्रजाओंसे कहा कि ‘इस ब्रह्माण्ड वे भी ब्रह्मिकोंप्राप्त होंगी’ ^४ यह यज्ञरूप सृष्टि प्रजाओंकी अभिष्ठकामवेतु कही गयी है। अर्थवेद-के अनुसार इसीमें समस्त देवशक्तियोंका निवास है ^५। जब मनुष्य यज्ञमानिसे कर्म करता हुआ स्वयं देवताओं-को इष्टभोग प्रदान करता है, तब वे यज्ञमानित देव भी उसे अभीष्ट प्रदान किया करते हैं ^६। देवशक्तियोंके कामोंके अनुकूलणपर अपने कर्त्तव्योंका निर्वाण करके उनमें लग जाना ही देवोंको इष्टभोग प्रदान करना है। क्षत्रियका ऐन्द्र तथा ब्राह्मणका आभिक कर्म है ^७। अतः इन कामोंसे इन्द्र-

४. शीमस्वावद्यौता ३। १०

५. अर्थवेद-१। ७ त्रुलनीय महाभारत आश्वमेषिपर्व १०३। ४५—५५, पशुपुराण, सुषिष्यपृ ५०। १५५—६४, भविष्यपुराण ३० अ० १५६। १६—२०, लक्ष्मपुराण, रेवाइष्ट २३। १०४—१२

६. शीमद्वावद्यौता ३। १२

७. ऐन्द्रो धर्मः ब्रजिपाण्य ब्राह्मणलानधारिनकः ।

—पद्मभारत, शान्तिपर्व १४। ४४

और अग्नि तुष्ट होते और यशमावित हो जानेसे अभीष्ट फल प्रदान करते हैं।

सृष्टिकर्त्ता में प्रवृत्त होनेवाले देवगण एक ही शक्तिके विविध रूप माने रखे हैं। सूजनको वेदोंमें गतिका पर्याय माना गया है। अतः उसे गो भी कहा गया है १। विविध देवोंके साथ योका सम्बन्ध उल्लिखित है २। है तो यह गो एक ही, परंतु सूजनकी प्रवृत्तिके आधारपर इसके विविध रूप वर्णित हैं। कामवेतुः पृथिवी, वृहत्ती, वशा, ब्रह्मगती, विराज, वासीनी, सोम्या, ऐन्द्री, पारसेपिणी, वाईस्यस्या, स्यावस्मुखी आदि नामोंसे गोके स्वल्पपर चर्येष्ट प्रकाश पड़ता है। इस गोको वृद्धवेदमें देवमाता, देवस्वसा तथा देवदुहिता-के रूपमें उपस्थित किया गया है ३। अदिति नामसे प्रसिद्ध इस देवमाताका वास्तव्य ही इस जगत्के रूपमें प्रकट हो रहा है। देवगण वज्रमें प्रवृत्त होनेवाली प्रेरणा इन महावेतुओंके वास्तव्यसे ही पाते हैं। गीताके उपर्युक्त कथनमें स्पष्ट संकेत मिलता है कि सृष्टिरूपिणी कामदुद्या अभीष्ट सिद्ध करनेवाली है। बल्ला कामवेतुकी यह विचार-परम्परा ऋग्वेदसे आज-तक साहित्यमें व्याप्त है और इसने भारतीय सामाजिक संस्थाओंके विकाश तथा वैवक्तिक साधनाके मार्गको निर्धारित स्वरूप प्रदान करनेमें महत्वपूर्ण योग दिया है। महावेतुका आध्यात्मिक वास्तविक व्यावहारिक क्षेत्रमें मानववर्भका अभिन्न अङ्ग बन गया है और भारतीय साधना और समाजव्यवस्थाके मूलाधारके रूपमें उसको प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है। प्रस्तुत निवन्धमें 'व्यासस्व-धर्म' का इस रूपमें अध्ययन करनेकी चेष्टा की गयी है।

महावेतु

तान्त्रिकोंकी महाविपुरसुन्दरी अथवा महामाया, शास्त्रोंकी महाविद्या, महावाणी, महालक्ष्मी अथवा महाकाली, वैष्णवोंकी उद्गतसिति-संहारकारिणी श्रीदेवी (जिसके सीता, राधा आदि रूप हैं) तथा वैदेवत वशा, वृहत्ती, अदिति, ब्रह्मगती आदि एक ही सूजनशक्तिके विविध रूप हैं, जिसे महावेतु भी कहा जा सकता है। मातृत्वमें धेनुका सर्वोपरि खान है।

१०. देखो लेखकला शोभ-अवधि ऋग्वेदमें गोत्तमः राजा विविद्याकाय, १९६८

११. वही, जो न क्षन्य देवता नामक अनुस्कृत व्रतव्य ।

१२. मात्रा राघवा तुहिता पश्चा रक्षाऽऽनित्यानामृतत्व नामिः १-ग्रन्थेद २ १ १०१ १३५

ऋग्वेदमें तो उसके मातृत्वका उद्देश्य है ही, अथवैदेदमें उसे मातृत्वका आदर्श माना गया है १। यह भी कहा गया है कि जैसे मांसाहारीका मन मांसमें, सुराषेषीका सुरामें, जुआरीका जुआमें तथा समर्थ पुरुषका मन जीमें निरत होता है, इन सबसे अधिक गोका चित्र वस्त्रमें निरत होता है २। महाभारतके अनुसार भौंडे यह भूतोंकी माता और सुखमदा होती है—

मातरः सर्वभृतानां गावः सर्वसुस्पृशः ३।

गोके इस आदर्श मातृत्वको इष्टिमें स्वरूप ही आदि-सूजक-शक्तिकोंगोके प्रतीकके माध्यमसे वैदिक साहित्यमें प्रसुत किया गया जात होता है। इसे ही अन्य सूजक-शक्तियोंकी (गौओंकी) जननी अद्वितीय उत्ता भी कहा गया है, जो स्वयं गोहन है ४। उसका घरस सूर्य है ५। पुराणोंमें भी उत्त गौओंका एकत्व उनकी माता सुरभिमें देखा जाता है ६। ऋग्वेदके अनुसार भूतके सद्गमें वृह एक धेनु अविनकी परिचर्या करती है ७। अपने अन्य धेनुत्तप्तेके साथ वह एक धेनु ही सवता शालन करती है ८। वद्यपि विविध देवदक्षियोंके साथ वह अपने विविध-रूपस्ति ही सहयोग करती है, इस विभिन्नतामें भी एकता विद्यमान है और अन्ततोगत्वा एक धेनु ही ऋषि, धाम, यज्ञ आदि नाला रूपोंमें व्यक्त होती है और उसके बाहर कुछ भी नहीं है ९। वह सूजक-देवकी सामर्थ्य साथ ही नहीं है, वर्त उसके अभिल भी है १०।

११. तैरवं पुन विन्दस सा यस्तेनुका मत १-अथवैद
३ । २३ । ४

१२. अथवैद ६ । ७० । १, मत २ व ३ भी द्वष्ट्वः

१३. महाभारत, अनुसासनमर्द ६५ । ७

१४. गदा अनित्री—ग्रन्थेद १ । १२४ । ५; मता गवाम्,
—ग्रन्थेद ४ । ५३ । २, ६, ७ । ७७ । २

१५. ऋग्वेद ६ । ५८ । १ तथा १ । १ । १२३ । २

१६. सुरीच गत्वा प्रसूः। देवीभागवतपुराण ११। १२४,
१ । ४५ । २

१७. ग्रन्थेद ३ । ७ । २

१८. वही ३ । १८ । ७

१९. वैदिक दर्तान—द्यौः फलशिरः पृष्ठ २४७ पर
अथवैद ८ । १ । २६ के आधारपर निकाला गया निष्ठ्यः ।

२०. 'मा या गावः म जनस इदं।' १-ग्रन्थेद ६ । १८ । ५

महारेतु शब्दका प्रयोग यहाँ ऐतरूप महत्-तत्त्वके लिये हुआ है। जगत्‌की आदि-सृजनावस्थाका नाम महत् है। इस अवस्थामें प्रकृतिकी साम्यावस्थामें प्रथम चार चैतन्यके त्वन्दनके कारण गति उत्पन्न होती है। इसी कारण इसे गो कहा गया है। १०० मधुमहन ओवाके अनुसार गति और स्थिति भाव ही जगत्‌के मूल हैं, जिनमें अचिन गति-तत्त्व है और सोम स्थिति-तत्त्व है। इन दोनोंका योगसूप रजोमाव ही आपस्‌है^{३१}। अधर्यवेदके अनुसार आपस्‌-तत्त्व और अच्या—गो अभिन्न हैं^{३२}। यहाँ गोको बताए भी अभिन्न कहा गया है। ११० पतहसिंहने ब्रह्मको महत्-तत्त्व ही माना है^{३३}। इस प्रकार गो, वरण, आप; आदि लुष्टिकी प्रथम सृजनान स्थितिकी वैदिक संज्ञायें हैं। यह जगत् वरणका साक्रान्ति है गोका वस्तु है और आपोमव है। लुष्टिकी यह प्रथम सृजन-शक्ति ही अनेक रूपोंमें नित्य सृजनमें योग दिया करती है। इसीलिये इसे गदारेतु कहा गया है।

ऋग्वेदके अनुसार महत्-तत्त्व देवोंका असुख है और सभी देवोंमें यह एक ही है^{३४}। इसे परवर्ती साहित्यमें देवीमायाके नामसे जाना गया जात होता है। शतपथ-ब्राह्मणमें कहा गया है कि प्रजापतिके मुखसे वल स्वनित हुआ, जो गो या वृषभ बन गया^{३५}। पद्मपुराणके अनुसार ब्रह्माके मुखसे निकलनेवाला यह तेज महत्-सूर्य था—

पुरा वाहसुखादृतं शूङ्कं तेजोमयं महत्^{३६}।

पद्मपुराणके अनुसार चतुर्मुखी जगत्-जननी प्रकृति ही गो है—

चतुर्मुखी जगद्योनि: प्रकृतिर्गोः प्रकीर्तिः^{३७}।

चतुर्मुख ब्रह्मा महत्-तत्त्वसे अभिन्न है और महारेतुका ही नाम है।

२१. रजोवाद—१०० मधुमहन ओवा, १० ८-९

२२. मध्यवेद छ.१८३२

२३. वैदिक दृश्यम्, १० ८८-८९

२४. मध्यरेतु नाममधुमहनमेकम्—अर्णवेद १५५१-१२

गलत्-महि कृद्दै भानुसे श्वसन द्विनेदे ग्रह या ब्रह्माका पर्वायवस्थी है।

२५. शतपथ १२७।१।१

२६. पद्मपुराण, शतपथबृह. ५०।१।३

२७. नाम्यपुराण २।१५५

महारेतुका वात्सल्य

देवोंमें सूजक शक्तिको चाहूँ भी कहा गया है जो वेनुसे अभिन्न है^{३८}। सारा संसार शाक्-शक्तिका ही विलास है। वह ऐतु है और मन उसका वस्त है। उसके बार ज्ञन है—स्वाहाकार, स्वधाकार वषट्कार तथा हृत्कार जिनसे वह देखें, पितरों तथा मनुष्योंमा पोषण करती है—

शाच धेनुसुपासीत तस्माक्ष्यावः सूता: स्वाहाकारो वपट्कारो हृत्कारः स्वधाकारस्त्वा द्वौ स्वारी देवा उप-जीवन्ति स्वाहाकारं वपट्कारं च हृत्कारं मनुष्याः स्वधाकारं पितरस्त्वाः प्राप्त ध्याप्तमो मनो वस्तः^{३९}।

इस कथनसे स्पष्ट है कि देव, पितर तथा मनुष्योंको जन्म देकर इस महारेतुने अपने वात्सल्यका विषय बनाया है। असुर या प्राणोंका असत् रूप इन तीनोंके पहलेका है। यशस्वि जगत्‌के द्वारा देवोंने असुरोंपर विजय प्राप्त की। असत् प्राणोंका 'सत्' रूप ही जगत् है। सृजनका प्रारम्भ महारेतुके वात्सल्यके प्रदर्शनके रूपमें हुआ।

ऋग्वेदमें गोको देवमाता अदिति कहा गया है^{४०}। यह सभी देवोंकी माता है, परंतु चंद्रों, मरुरों, आदित्यों आदिकी माताके रूपमें उसका विशेषरूपसे उल्लेख मिलता है^{४१}। ये देवता गौओंकी प्रेरणा प्राप्त करके विश्व-कृत्यमें भाग लेते हुए महारेतुके वात्सल्यके अधिकारी बनते हैं।

ऋग्वेदमें यह स्पष्ट किया गया है कि ऋत्की वेनुसे उत्पन्न होते ही इस संसारको दूर—क्षत्रस्य ऐतुः अतुहृत्यायमानः^{४२}। अधर्यवेदमें वशा, विराज, ब्रह्मावी तथा शतौदना नामक गौओंका उल्लेख मिलता है। इनमेंसे वशा ब्रह्मक शक्तिरूप गौओंकी यह अवस्था कही जा सकती है। यह ग्रह प्रलयके समय सूरजमें अलमर्य—वृत्त्या रहती है^{४३}। आगे यह अपने इस वन्ध्या-सूरजको व्यागकर वर्णियी हो जाती है। कर्णीरहस्यमें कहा है कि यह कामवेतु

२८. ऋवेद—१।१०।१।१, ११ तथा १।१०।१।१५-१६

२९. शैदारणकोपनिषद् १।१।१

३०. ऋवेद १।१०।१।१५

३१. ऋग्वेदमें गोदावी—पञ्चम अनुरूपः

३२. ऋवेद १।०।६।१।१

३३. देवो—वृश्च और उसका करुप—हनीपत्तात् एंतोकी, वेदवाणी १।४।२।

गर्भिणी रहनेपर अमृत स्वाध करती है, परंतु प्रसव होनेके उपरान्त दूध नहीं देती^{३५} । यह वशा खेतुका ही परबतीं लम शात होता है । ब्रह्मगति वशाके तुजक रूप वार्हस्वत्या गोका नाम है^{३६} । विरज गो समाज व स्वराज नामक सूलक-शतियोंकी राजमत्ताका नाम है । शतौदना प्रकृतिरूपी गोकी उठ अवस्थाका नाम है, चब वह विविध रूपोंसे तृष्णिमें अस्तल्यमें व्याप्त हो जाती है । पुण्योंमें इसे यतस्या कशा मदा ज्ञात होता है । ढाँ फलदीर्घने अदिति, पुथियी, धार्देवी और प्रकृतिको अभिन्न माना है और अदितिके भक्तक और फैषक लोगोंका उल्लेख भी किया है^{३७} ।

साष्ट है कि गो नामकी एक ही शक्ति—गति अपने सूजन, पालन और प्रलय रूपोंसे विभिन्न नामोंसे जानी जाती है । उसका दूजक रूप समाज विश्वको वात्सल्य प्रदान करता है—अपने पोपक रूपसे । सोम्या गोके नामसे सुजात वह शक्ति ही परम वस्तु होनेसे सबका पोषण करनेवाली कामेनु कही गयी है । ढाँ वासुदेवदरण अव्यालके अनुसार वह विश्वायस् वैतु है, जिसका काम ही दूध है और विश्व ही उससे सूध होनेवाला वत्त है^{३८} ।

वात्सल्यकी समाजमें प्रतिष्ठा

भारतीय जीवनमें व्याप्त विचारों एवं विश्वासोंके आधार वेद हैं । ढाँ वासुदेवदरण अव्यालके अनुसार उत्ती मधुमय उत्साहे भारतीय अव्यास-वालके निर्झर प्रवाहित हुए हैं^{३९} । वेदोंमें प्रतीकाओंके इयलीके द्वारा साइके गूह तह्योंको व्यक्त किया गया है । गोके प्रतीकद्वारा वहाँ साइरूपी वत्सकी माता अनन्त प्रकृतिकी ओर संकेत किया गया है । परवर्ती कालमें इस गो प्रतीककी समाजमें दो तरहसे प्रतिष्ठा हुई । प्रथमरूप वात्सल्य-प्रातिके हेतु सोतल्यकी उपासनाका समारम्भ हुआ । द्वितीयतः गो एवं वस्तु का समन्वय लामाजिक जीवनकी एक विशिष्ट परम्पराका वाचक

३४. कवीर-द्यन्माकली—पदावली एवं ३५= ।

३५. देवो अद्यागती—वदीपलद पंचोली, वैदिकभर्म (पार्की) लगता ११६५ ।

३६. वैदिक दर्शन १० १०१। कठोलि अदिति: तथा अपरे शति अदिति:—इन विवेचनोंसे अदितिके इन रूपोंकी ओर संकेत मिलता है ।

३७. वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति—भूमिका, प० ११,

३८. अस्त्वप्रति: भूमिका, प० ११

३९. अस्त्वेदमें गोत्राद—गो प्रतीकके रूप—नामक अनुष्ठोट ३१४ ।

नन गया और उसके अनुकरणपर विशिष्ट समाजसन्वकार विकास हुआ । अग्नवेदमें राखारणतः गो-शब्द प्रतीकके रूपमें प्रयुक्त हुआ है, परंतु कहीं-कहीं उसे वस्तु-प्रतीक भी माना जा सकता है^{४१} । कालान्तरमें शब्दकी प्रतीकात्मकता नीण हो गयी और दिल्ली अर्थोद्धारा ऐसे स्वानोभर काम चलाया जावे लगा । ऐसे समझमें गो-पशु भी उमाजमें मालूच और प्रजनसका प्रतीक बनकर शूजाका अधिकारी नन गया । पुराणोंकी कतिनय निम्न उक्तियोंमें पश्चानोंके विषयमें भारतीय जनताके विचार दृष्टव्य हैं—

१—गावः प्रतिष्ठा भूतान्या गावः स्वस्त्यवर्नं परम् ।

अन्तमेव दरं गावो देवानां हविरहतमस्मृ० ॥

२—गावः पवित्रं परमं गावी भूफल्पमुत्तमस्मृ० ।

गावः स्वर्वेत्य सोपानं गावो धन्वाः स्वातानाः^{४२} ॥

३—गावः पवित्रा भाद्राल्प्या गोपु लोकाः प्रतिष्ठिताः^{४३} ॥

४—पुमित्युता: सदा लोकाः प्रतिष्ठन्ति स्वभावतः^{४४} ।

५—सर्वदेवमयः साक्षात्सदासत्त्वागुकम्यकः^{४५} ।

६—देवी गौरेजुका देवाद्यपादिदेवी द्विरात्किता ।

प्रसादाद्यप्य यज्ञानां गम्भो द्वि विनिक्षितः^{४६} ।

७—गावासग्रेतु तिष्ठन्ति भूद्वन्येकविश्वातः^{४७} ।

८—नमोऽत्मु विष्वसूतिंभ्यो विज्ञानात्मव्य एव च^{४८} ।

महाभास्तरमें भी गौके विषयमें ऐसे ही विचार गिलते हैं—

१—यथा सर्वमिदं व्याप्तं जगत्स्वाभरज्ञानमस्मृ० ।

तो धेनुं गिरसा बन्दे भूतभव्यत्वं नातरमस्मृ० ॥

२—देवात्मासुपुरिष्ठाय गायः प्रतिवसन्ति वै^{४९} ।

३—गावः प्रतिष्ठा भूतान्या सशा गावः परायणमस्मृ० ।

गावः पुष्पाः पवित्राश्च गोधनं पावनं तथा^{५०} ।

४—यज्ञाङ्गनविता गावी च एव च वासवः^{५१} ।

५०. अनिष्टुराण (मन्दुरात्मय मोर वर्णकरण), २५.२१३ ।

५१. अनिष्टुराण २९२।१३ ।

५२. अनिष्टुराण २९२।१४ ।

५३. प्रसुपुराण, साहित्यग ५०। १३०

५४. वदी ५०। १३३

५५. वदी ५०। १३५

५६. मत्स्यपुराण २४४। १२

५७. वदी २७७। १२

५८. नदीमारत, अनुशासनसंग्रह ८०। १२५

५९. वदी ८१। १४

६०. वदी ८१। १२

६१. वदी ८१। १५

इन विचारोंते लक्ष्य है कि पशुओंमें गौको पूजनीय स्त्रीकार किया गया और आध्यात्मिक साधनामें उसे प्रतीकके रूपमें विशिष्ट रूपान प्राप्त हो गया। भारतकी बौद्ध, जैन और वैदिक परम्परामें गौको इसी रूपमें स्त्रीकार किया गया है।

वैदिक परम्परामें वात्सल्य

वैदिक परम्परामें समस्त शेष कर्म यह कहे जाते हैं— यज्ञो वै शेषतमं जर्म ॥२॥ आचरणपूर्वक विशिष्ट मेधाका विकास यशका सुख्य उद्देश्य है। यज्ञको येष कहनेका यही कारण ज्ञात होता है। 'यज्' और 'मीथृ' धातुओंका मेल करना अर्थ है। अतः इन धातुओंसे व्युत्पन्न 'यज्' और 'मीथृ' शब्दोंको पर्यायवाची भानना सर्वथा उपशुक्त है।

अवधेष्ठ, गोमेष और पुरुषमेघका वैदिक धर्ममें विशिष्ट रूपान है। वे तीनों समाजकी विशिष्ट संरचनाके परिचायक हैं। अश, गो तथा पुरुष समाजसंगठनकी विशिष्ट परम्पराओंके लिये प्रयुक्त पारिभाषिक संशार्थ हैं। पुरुष-भृकी समाजशास्त्रीय व्याख्या डा० फ्राइसिन्हे 'वैदिक समाजशास्त्र—मूलाधार' तथा 'वैदिक समाजशास्त्रमें यशकी कल्यना' नामक ग्रन्थोंमें की है। गोमेधपर इन पक्षियोंके क्लेशकर्ते अपने कई लेखोंमें विचार प्रकट किये हैं। इन सभी यज्ञोंका उद्देश्य—मेधाप्राप्ति आचरणद्वारा सिद्ध होता है। इस प्रकार यशका आधार आचरण भाना जा सकता है। वात्मीकिन्नामायणमें अक्षमेधयाजी समरको अभ्यन्तर्यामें लीन कहा गया है ॥३॥ श्रीमद्भागवतपुराणमें गोचर्योंका वर्णन भी मिलता है ॥४॥ अभ्यन्तरी तथा गोचरी वृत्तिके लोगोंके ही कदाचित् बौद्ध-ग्रन्थ 'चूलनिहेसमें अक्षमेधिक व गोवितिक कहा गया है। अभ्यन्तरी वृत्ति केवल विजेता क्षत्रियोद्धारा ही अपनायी गयी, परंतु गोचरी वृत्ति उर्द्ध-साधारणमें ही विशेषरूपसे प्रचारित छुई। यही कारण है कि यह वृत्ति अब सी भारतमें जीवित है। इस वृत्तिका आदर्श वात्सल्य है और प्राप्तव्य गौका परमपद। परवर्ती संहितामें इस वृत्तिका जो रूप मिलता है, उसकी वैदिकाओंते बुढ़ि हो जाती है।

ऋग्वेदमें जादिवाचिका गौको रूपमें वर्णन मिलता है—

५३. शतपथाभ्याग २। ५। ४। ६

५३. दद्मायग, चार्चाण्ड ३९। ५

५४. शीमद्भागवतपुराण ११। १८। १२९

५५. ऋषेद २। १२४। २५

५६. ऋषेद ३। ३२। १

हिंडुरवन्ती वसुपञ्चो वदनो
वस्त्रमित्यशनती मनसाभ्यामाद ।
हुषाश्यम्यो यदो वज्ज्वोर्य

स वर्षतां भृत्ये सौभग्नाम ॥ ५६ ॥

इस सन्दर्भमें वस्तके प्रति गमन करनेवाली वासनीगौका वर्णन है तथा वस्तका मनसे सम्बन्ध भी व्यनित होता है। कुछ लोगोंने इस मन्त्रके प्रथम एवं तृतीय चरणोंके ग्रायमाकारोंके संयोगसे हिंडु-शन्ति की विषयता मानी है। इस प्रकार हिंडु-शब्दका अर्थ गौ (प्राणीति) का दोहन करनेवाला होता। अर्थवेद तथा पुराणोंमें स्पष्ट ही ग्रहतिर्सी योके दोहनका वर्णन मिलता है। शुग्वेदमें इसी वस्तला गौको सहवत्सा ॥५॥ वसिनी ॥६॥ नित्यवत्सा ॥७॥ आदि विशेषणोंसे विस्तृत किया गया है। शुग्वेदमें वस्त तथा पुनर्वर्त्स शृंखियोंका उल्लेख भी मिलता है। पुनर्वर्त्स-शन्ति का अर्थ है—जो पुनः वस्त बन जाय—'A weaned calf begins to suck its udder'। व्रस्तवर्त्स-ग्रहस्त-वानप्रस इस क्रमसे संन्यासके रूपमें व्रस्तवर्त्सको अपना लेना ही पुनर्वर्त्सकी कल्यनका भूल है। पुनर्वर्त्स शृंखियोंद्वारा उपर्युक्त मन्त्रमें इस व्यवस्थाका प्रतिनिधि तीन सरोवरोंके दोहनके रूपमें उल्लेख मिलता है ॥८॥ समाजकी इस व्याख्याको आश्रम-च्यवस्था कहा गया है। आश्रम-च्यवस्था का अर्थ है—जिसमें अम व्याप्त हो (आश्रमस्ताव श्रावः वस्मिन्)। वस्त कदाचित् संवत्स है, जिसका अर्थ है—पूरी वस्त। एक मन्त्रमें संवत्सका उपमानके रूपमें ग्रामोग मिलता है ॥९॥ सम्पूर्ण जीवनको वस्तके रूपमें विवाता हुआ संन्यासी या वाल्ग्रहसन्तारी ही संवत्स कहा जा सकता है। वस्त-हृष्ट सूक्ष्मे अनुषार पर्वतोंके मात्रमें, नदियोंके संगम-सुलभर कर्म-सामर्थ्यसे विग्रह उसका होता है ॥१॥ और वह प्रशांतान् (चिंतित्यान्) ऐकर कर्ल्यांकर्मे गमन करता है, ॥१॥ जहाँ वे प्रथम शक्तिदाता हृष्टनी विवासप्रद व्योतिको देखते हैं ॥१॥ सर्वं ग्रामी रूप मेदमें इत्यका ही वरण करते हैं ॥१॥ इन्द्र योधे अभिन्न है—सुमा या व्याप्ति ल

५७. ऋषेद ३। १०३। २

५८. ऋषेद ३। १०५। १

५९. ऋषेद ८। ७। १० इस मन्त्रमें सरोवरोंके नाम दर्शकर्मभार्ति है।

६०. संवत्स इव मातृनिः—व्याप संवत्स उपनी यक्षादे गिर्वार १,
ऋषेद ३। १०५। २

६१. ऋषेद ८। ७। २८

६२. ऋषेद ८। ८। २९

६३. ऋषेद ८। ९। ३०

६४. ऋषेद ८। ९। ४४

इन्द्रः १५ । हसे मन और हृदयसे प्राप्त किया जा सकता है । मन और हृदयसे इन्द्रको प्राप्त करना ही वहाँ भोध कहा गया है । यह तन्द्र परमाणु गाहित्यमें भी इसी अधिग्रंथसे प्रयुक्त दुआ है ।

वहाँ समृद्ध हो जाना है कि बल्लदशेन वैयक्तिक साधना-द्वारा वात्सल्य-आतिपर तथा पुनर्वैत्सच्छान्त रामगजिन साधनाद्वारा वात्सल्य-प्राप्तिपर बन देता है । वात्सल्य-प्रदात्री गति गो है । हजारि उर्ती लुभक्षक्तिके पुनर्स्वरूप है । आश्रमव्यवखानके अनुकूल थम करता हुआ साधक शमर्ग वा शमर्मीमें स्थित होता है जिसमें गो जन्म प्रदण करती है—शमर्मा गौर्जगर १६ । डा० फतहीरहके अनुसार सूक्ष्मनम शरीरकी शक्ति शमर्मी सूक्ष्म शरीरकी शक्ति तथा सूक्ष्म शरीरकी शक्ति अमके रूपमें अभिवृक्ष होनेवाली है । शक्ति इन्द्र-पत्नी है और प्राणमय कोशकी शक्ति है । मनोगम और उसका सूक्ष्मरूप शमर्मीके रूपमें हृदयरूप गौको जन्म दिया करता है । उसका वात्सल्य पाना ही साधकका अभीष्ट होता है ।

इस संक्षिप्त विवेचनके आधारपर हम यह खोचनेके लिये खत्तन्त्र हैं कि शूख्येदमें शशीरस्थित चैतन्य-सत्ताको भलीप्रसे ससीम बनाने और इस प्रकार भित्त करनेवाली सूजन-प्रकृतिको भाला कहा गया है और नह सरीय सत्ता—जीव संहारमें खूबें बेंथा हुआ बत्ता है । प्रलयरनिसे ही वह अपनी मातासे अलग रखा है । जब चृणनावस्त्राके उद्घाकालमें विशिष्ट प्रक्रियाएं वह इस गोका वात्सल्य प्राप्त करता है, तब उसका परिचय रोके माध्यमसे उसकी गतिके प्रेरक असीम चैतन्यतत्त्वसे भी ही जाता है । वह प्रेरक-दत्त गतिरूप ब्रह्माण्डकी नाभि है, जिसे प्राप्त करके साधक नामनेदिष्ठ (नामिके निकटतम) हो जाता है ।^{१७}

गोका सम्बन्ध ज्योतिरे भाना गया है । अदितिकी अक्षय-ज्योतिका उल्लेख निलंता है^{१८}; उसज्योति^{१९}, अमूर्त ज्योति^{२०}; महि ज्योति^{२१}, पूर्ण ज्योति^{२२} आदिका

१५. ऋषिद ६ । २८ । ५

१६. ऋषिद १० । ११ । १०

१७. विदिक सामाजिक-व्यापारमें व्यापकी कार्यपाल—१५ । २

१८. ऋषिद ७ । १२ । १०; ८३ । १०

१९. ऋषिद ७ । ६ । ६; १० । ८

२०. ऋषिद ७ । ७६ । ५

२१. ऋषिद ३ । ३६ । ८

२२. ऋषिद ७ । ७८ । ५

समन्वय भी योसे जाता होता है । निष्करके अनुसार गो रविमवाचक भी है और उम्मदतः वह नीतन्य पुरुषकी ज्योतिको बहुत करनेवाली है । उपर्युक्तिवित नामिं और अमूर्तज्योति अभिज्ञ हैं । इस गोके माध्यमसे अमूर्तज्योति ग्राम गरलेनेवाले साधकको ही सम्भवतः परवर्ती वाहित्यमें पुरुष या भूरप्रग विशेषण दिया गया है, जो वादमें श्रेष्ठता-वाचक बन गया । पुरुषप्रम, मुनिपुड्डव, पुरुषपुड्डव, त्रिदश-पुड्डव, मरपुड्डव आदि शब्दोंमें इन विशेषणोंको देखा जा सकता है । रामावणमें वसिष्ठको अनेकथा मुनिपुड्डव कहा गया है । मद्भूतिने उन्हें उत्तररामचरितमें ‘आविर्भूतस्योतिः’ कहा है^{२३}, । दिव्यशक्तिको पाठनाद्वारा प्राप्त करनेवाले दूसरेक दाति गमल ज्ञानमें समर्थ है । मरपुड्डव राम भावुकल^{२४}, रिपुवत्सल^{२५} और निवृत्तल^{२६} तक कहे गये हैं । परिवर्णाम दशरथ पुत्रवस्तल है^{२७} तथा जनक धर्मवत्सल^{२८} । सवाजमें वात्सल्य-धर्मकी प्रतिष्ठा सर्वसाधारणके वात्सदत् आचरण तथा सिद्ध पुरुषोंके गोवत् आचरणके कारण होती है । सिद्ध पुरुष रामाजमें गोचरी-वृत्ति अपनाकर वल्लवत् आचरण करनेवाले सामाजिक-व्यापक मर्योदार्थोंके प्रतिष्ठापक बनते हैं ।

विवक्तिक चानना एवं सामाजिक-व्यापारमें वात्सल्यका उद्भव एवं वात्सलके समिक्षनसे होता है । आध्यात्मिक जगत्में विश्वामय कोशकी परावर्ति ही वात्सल्य गो है, जो विविधस्त्रपसे गनोभयकोश, प्राणमयकोश तथा अन्नमयकोशमें इस्त्रा, शान और क्रियाके रूपमें व्याप रहती है । उगाजमें गोचरी-वृत्तिमें लीन सिद्ध पुरुष ही साधारण व्यक्तियोंके प्रति वात्सल्य प्रकट करनेमें समर्थ है ।

वात्सको वात्सल्यका अधिकारी बननेके लिये अपने स्वरमें अभावकी संकेतिक अनुभूति, मातृ-विवेगकी भीड़, पुनर्लिङ्गकी उल्लङ्घा, आशा, विश्वास और काशणिकताकी समुचित अभिव्यक्तिको समाचिष्ट करना होता है । संगीतमें शृंचभस्तर गोद्वार अभ्यवा चातकस्वरके समान माना गया

२३. उत्तररामचरित ४ । १८

२४. रामायण, अ० ज्ञा० ५ । १२

२५. वर्षी २३ । ६

२६. वर्षी १२ । १२

२७. वर्षी, वात्सल्य ७३ । १४, अषोका ११८ । २२ । २२

२८. वर्षी, वात्सल्य ७० । १

है^३। चातकके समान काशणिकता वस्तके स्वरमें ही प्राप्त होती है। इसलिये सम्भवतः प्रश्नभवर वस्तके समान काशण जगन्नाथाला माना गया होगा। गोमें वात्सल्य वस्तके स्वरसे ही जागता है। डा० वासुदेवशरण अग्रवालके अनुसार गोके यारीमें ओह ऐसी रसायनशाला है, जो जलको दूधमें बदल देती है। परंतु वस्तके बिना ऐसा होना सम्भव नहीं है^४, वस्तवत् आश्वरण करनेवाला व्यक्ति श्रम-साधनाद्वारा अपने मनको संयत करके स्वयंको वात्सल्यका अधिकारी बना लेता है। एक मन्त्रके अनुसार मगरूप वस्त संयत होकर परम स्थानसे अग्रणी अस्तिको बाणीद्वारा ग्राप करनेकी इच्छा करता है^५।

वस्त तथा वस्तल्यके सम्मिलनके लिये की जानेवाली शारीरिक तथा मानसिक दाधना ही 'गोध' कही जाती है। गोमेष-शब्दका प्रयोग अनुन्दमें नहीं दिलता।

ब्रह्मण-ग्रन्थोंमें वर्णित गोमेष

गोमेषको गवालगम भी कहा गया है; क्योंकि इसमें गोको प्रतीकस्तरमें ग्रहण किया जाता है। ब्रह्मण-ग्रन्थोंमें गोचर तथा गवालगमनके रूपमें गोमेषका वर्णन मिलता है। इन दोनोंका उद्देश भी चही है, जिसकी ओर ऊपर लंकेत किया जा सुना है।

गोसव-शब्द 'गु-प्रसवैश्वर्ययोः'—अथवा 'कुम्-अभिषेव' वाकुसे व्युत्पत्ति है। इसलिये इसका अर्थ है—गौओंका प्रयोग, गौओंके देश्वर्षी सुक होना; गौओंका दोहन करना। गोमेषको स्वाराच्य-शृणु कहा गया है—अर्थात् गोसवः स्वाराच्यो वा पृष्ठ शृणु^६। परमेष्टी प्रजापतिका नाम स्वाराच्य है^७ और उन्हेंका यह शब्द है। गोसवमें प्रतिष्ठातत्त्व वा दिक्ष-तत्त्वको उपासनाका विषय बनाया जाता है।

७९. व्यष्टिकल्पद्वयः प्र० लण्ड प० २८७

८०. वैदिक विश्वास और भारतीय संस्कृति भूषिका प० १९

८१. कल्पेद ८। ११। ७ इस सन्दर्भमें सायंकले वस्तको वर्णिकियोंका नाम माना, जो विनिके मनको अपनी ओर ढौंकते हैं, परंतु शृदर्शणकोपनियद्में मनको 'वस्त' कहा गया है। अतः अहैं कस्त और मनको विशेषण-विशेषको रूपमें खीलार करना सर्वथा संगत है। यदृते इसी वस्तः विशेषको भी मन्त्रमें प्रचुक्त गिर-शब्दसे तमर्यन ग्राप होता है।

८२. वाप्त्य-महामात्राण १९। १३। १

८३. वही १९। १३। १

प्रतिष्ठाका आधार पोषण है। समस्त पोषकतत्वोंका सूख रूप वेदोमि आपसत्त्व माना गया है। आपोमाङ्गलके अधिष्ठाता शूतदेव विष्णु हैं। इस वशमें विष्णुकी उपासना की जाती है^८। शूतदेवके अनुसार विष्णुके परमपद अर्थात् परमेष्टी-मण्डलमें भूरिश्वास गौणैऽ निवास करती है^९। यज्ञमें इस मन्त्रके भावोंके अनुसार समृद्धिके लिये अमृत—दृश्य सहस्र गौणैऽ एकवन की जाती है और वाधना-समाप्तिके उपरान्त उनको दान कर दिया जाता है^{१०}। ये गौणैऽ सम्भद्रतः प्रतिष्ठकि एकके हिसाबमें ३०००० यज्ञमें भाग लेनेवाले विद्वानोंको हुग्धादि प्रदान करनेके लिये होती थीं। इन आगमन्तुकोंकी उंगतिमें यज्ञाद्य स्वर्ग-सुखका अनुभव करके अपने सामाजिक गौणैश तथा प्रशासनिक-पदादिको भुलाकर आत्म-दक्षिण हो जाता है। इस निरभिमानताके फलस्वरूप वह विद्वत्समाजका वात्सल्य पा लेता है। इस प्रकार विष्णुकी उपासना करते हुए समाजके ग्राहन्यवर्गका वात्सल्य पाकर उस्कुष्ठ सामाजिकलंगठनमें बैध जाना ही 'पोसद' का उद्देश्य है।

गवामयनमें काल-ब्रह्मकी उपासना की जाती है जो संवत्सर पर्यन्त चलती है अथवा संवत्सरके प्रतीकके रूपमें स्वीकृत नव दिनोंतक चलती है। इनमेंसे आठ दिन आठ दिशाओंके प्रतीक हैं तथा नवम स्वर्गलोकका प्रतीक है। वे दिन हैं—विश्वित, ज्योति, गो, आयु, विष्णुवत्, आयु, गो, ज्योति तथा अभिजित्। गवामयनमें शरीरगत अन, प्राण और चाकुके द्वारा चलनेवाले चेतनाके यशको काल-ब्रह्मके ताथ संयुक्त किया जाता है, जिससे आयु, गो तथा ज्योति नामक तत्त्व, जिन्हें निकट्कृत कहा जाता है, परमप्योतिकी उपलिंगमें सहायक बन जायें। काल-ब्रह्मकी उपासनाका यह नववासीय क्रम ही शिवके प्रलयकर महाकाल रूपकी उपासनाका प्रारूप प्रतीत होता है जो नवरात्रमें शिविन्द्रयुक्त अथवा अकेले शिवकी ही की जाती है। शिवको शूष्मभवाशन माना जाता है। वे त्वयं शूष्मभवरूप हैं और पुण्ड्रव होनेके कारण वात्सल्य प्रदान करनेमें समर्थ हैं। अर्द्धनरीशरविवर्में वस्तला-शक्ति भी समाविष्ट है।

उपर्युक्त विवेचनसे यह स्पष्ट है कि गोसव एवं गवामयनमें प्रतिष्ठान्त्रज्ञ एवं काल-न्रज्ञकी उपासना करते हुए साधकको

८४. देखो—'गोसव' लेख—पंचोली, दंकर-पदिवाया ८। ८

८५. कल्पेद १। १५४। १

८६. वाप्त्य-महामात्राण १९। १३। १

वत्तचतु जीवन चयतीत करते हुए स्वर्णमें वत्तल-दक्षिण्योंके स्नेहका पाद चनाना होता था ।

जैन और बौद्ध परम्परामें वात्सल्य

जैन दर्शन बौद्ध परम्पराओंको समान्वयतः वेद-विरोधी माना जाता है, परंतु इन दोनों परम्पराओंने भी वैदिकजीवन-दृष्टि तथा वैदिकमानको अपनाया है । दोनोंमें ही वरका आव्यासिक रूप ग्राह्य माना गया है, जिसका वर्णन उपनिषद् और आरण्यकोंमें मिलता है । हुदने गौओंको माता-पिता के सनान या अन्य जाति-भाइयोंके समान परम गिरि, अनुदानी, वलदानी, वर्णदानी तथा त्रुखदानी माना है^{१०} । वे पाद या विरापणे किसीकी हिंका नहीं करतीं और वहा मरकर हुआ घटान किया करती है^{११} । हुदने वात्सल्यका एक दर्शनकाची 'मूषक' भी प्रचलित रहा है^{१२} । हुदने आईप्रेविश्व शर्मी और उकेत किया है^{१३} । सम्बन्धतः ऐसे स्वल्पोंपर उनका संकेत वैदिकवर्षमींको और ही रहा है । इत प्रकार हुदका शूष्ममल गोचरीशृण्वित ही लिख होना अनमन है । आयोंके गोचरमें लीन होनेकी वातका हुदने स्वर्व उल्लेख किया है^{१४} । अमद्वारा यह सब सार्व है । अतः यह मार्ग अमण्ड-भार्गी कहा गया है ।

जैनपरम्परामें वात्सल्यको सम्बक्षीयवानके आठ अङ्गोंमें व्युत्प साम ग्राह्य है । ये आठ अङ्ग हैं—निर्विकित, निर्विकृति, निर्विकित्या, अमूदहाति, उपगृहन, स्थिति-करण, वात्सल्य और प्रमाणना^{१५} । इनमें प्रमाणना, पूर्ण सिद्ध-वस्त्रका नाम है और वात्सल्य उसका साधन है । इसे सम्बक्ष-वारिक्षणे अभिन्न माना जा सकता है^{१६} । उपर्युक्त आठमेंपरम्परा चार सिद्धेवात्सल्य हैं । पञ्चम अङ्ग इन्द्रियोंकी वैष्णविक्षयोंवे खोचकर अन्तर्मुखी दनानेमें सम्भद है । स्थिति-करण सम्बक्ष-दर्शनसे तथा प्रमाणना सम्बक्ष-शानसे अभिन्न है । अतः साष्ट है कि वात्सल्यका जैनधर्मके रत्नत्रयमें प्रमुख स्थान

है । वात्सल्यका दैनन्दिनीं कही स्थान है जो बीड़सत्तमें करणाको, इस्तामें भ्रातृभावनाको, वैदिकपरम्परामें विश्व-वग्नुल तथा सर्वभूतहितकामनाको, ईसाई-सत्तमें दिवाङ्काको, पारसी-सत्तमें परोपकारको तथा दानिक-सत्तमें अल्पवलिको है^{१७} ।

वात्सल्यकी परिभाषा देते हुए स्वामीकृनाराजे कहा है—

जो धर्मिष्ठसु भक्तो व्युत्पन्नं कुण्ठि परमस्त्वात् ।

पितृवयं लंघन्तो वच्छुल तत्त्वं भवस्त् ॥

त्रहाँ भक्ति, प्रियवचन, श्रद्धा तथा तदनुकूल भावरण—ये चार शब्दें वात्सल्यके अधिकारी वननेके लिये आवश्यक मानी गयी हैं । अत्यार्थ अमूदचन्द्रके अनुसार निरन्तर अदिसामें, विष्व-सूख-लक्ष्मीकी प्राप्तिके कारणभूत वर्षमें एवं उषर्मा वर्षुओंमें वात्सल्यका अवलम्बन लिया जाना चाहिये—

अनवरतमहिसायां शिवसुखलक्ष्मीनिवन्धने धर्मे ।

सर्वेष्वपि च सधिर्मित्यपि परमं वात्सल्यमालम्भस् ।

जैन-साधक अपने इष्टदेवके वत्तल स्वका आहान करते रहे हैं—

त्वं नाथ हुःस्त्रिजनवत्सल हे शरण्य

काश्यप्यमुष्यमूलते विद्यानां वरेण्य ।

भद्रथा न ते मर्य महेशा द्यर्यो विधाद

हुःशाहुरोद्दलनत्परतो विधेति ॥

जैनधर्ममें परमेष्ठी शूष्मपादि माने गये हैं परंतु इस वात्सको शुला नहीं दिया गया है कि वात्सल्य मातृवक्त्से ही पूर्णता पाता है । इसीलिये तीर्थकरोंकी भी आराध्या देवियोंकी उत्ता मानी गयी है । ऐसी देवियोंमें चक्रेश्वरी सबसे प्रधान है । वह भूलतः वैष्णवीद्वाति है । अस्य देवियाँ चक्रेश्वरीकी ही विभूतियाँ हैं । जैनसाधक वस्त्र बनकर इन्हीं मातृवक्त्सीयोंका वात्सल्य ग्राह करते हैं । जैन याहु गोचरी-वृत्तिका पालन करते हुए अपनी तपोल्योसिको समाजमें निर्जीर्ण किया करते हैं^{१८} ।

पुराणोंमें वात्सल्य

विष्णुपुराणके अनुसार वात्सल्यसे सम्बूर्ण मंसारकी अर्चना

१४. 'गोचरी-वृत्ति' फ्लोली, श्रीष्ठोदेवत जैन विग्रहन
प्रथमें मुद्रणमाण (जवापुर) ।

१५. कानिकेयत्तुप्रेष्ठ ४२० ।

१६. पुरुषार्थस्त्रियुपाय २१ ।

१७. कस्याणप्रगिर्दत्तोऽ, ३६ ।

१८. 'गोचरी-वृत्ति' नामक देव दत्तात्रे

८४. सूत्रनिपात, नूलवगा, आद्यग-भूमिक भूत २३०१४

१००. कही २३ ।

१०१. धृतिनिपात, चूलवगा, किंत्रौपूर्व ५

१०२. 'प्रार्थणी' गोचरेत्ता?—भूमपद ३ । *

१०३. चारित्रपट्टि (मात्रभिं कुन्दकन) ५

१०४. 'जैनधर्ममें वात्सल्य' पंचोपी, भग्नोपासक, शोकादेवं

नीयमनी (२०२८) सभ्यमें प्रकाशम ।

हो जाती है—वात्सल्येनापिलं जगत्^{१०१}। वहाँ वात्सल्य पृहस्त-धर्मके रूपमें उल्लिखित है। मुनि-जीवन अपना लेनेपर गोचरी वृत्ति अपनानेकी ओर भी संकेत मिलता है। श्रीमद्भागवत-पुराणमें वैदिकोंके गोचरीमें विचरण करनेका वर्णन मिलता है—गोचर्या वैगमश्चरेत्^{१०२}। पुराणमें ज्ञानकी तीखी तत्त्वारणे विषयवन्धनोंको काटकर भूमिपर विचरण करते हुए गोचरी वृत्ति अपनानेका उपदेश मुनियोंको दिया गया है,^{१०३} तो अनेक ग्रन्थोंके माध्यमसे सामान्य जनोंको वत्स जीवन अपनानेकी प्रेरणा भी दी गयी है। गोपद्वापत,^{१०४} गोवत्तद्वादशीवत,^{१०५} गोवर्धन-पूजा,^{१०६} गो-श्रियनवत^{१०७}, गोपाष्ठी^{१०८}, पयोवत^{१०९} आदिका उच्छेस पुराणमें मिलता है। कई कथाओंद्वारा लोगोंकी इस और प्रवृत्ति जगानेका प्रबल भी दिखायी पड़ता है।

तान्त्रिक तथा भृत्य-सम्प्रदायोंमें वात्सल्य

अनेक दृष्टिकोणोंसे देखी हुई चलुके सत्यको आत्म-साधनाके द्वारा नवीन और अपने ही दृष्टिकोणसे देखना तन्त्र-साधनाका उद्देश्य है। कुछ लोग तन्त्रभार्गोंको अदैविक मानते हैं। चलुक: दार्शनिकोंके अद्वैतवादका साधनागत रूप ही तन्त्रके नामसे जाना जाता है। तान्त्रिकोंके अनुसार स्वतन्त्रता जीवनका साधनामय स्वरूप है और उसका उद्देश्य है—स्वराज्य। स्वतन्त्रताका मार्ग योगसाधनाका मार्ग है। योगसाधनमें जीव अपने पशुभावको पराजित करके दिव्यत्व-की प्राप्तिके लिये संचेष्ट होता है। इस कार्यमें वह परमपुरुष—शिवकी अद्वैतिनी—उमाकी सहायता चाहता है और इसके लिये वह शारीरस्य चैतन्य-केन्द्रोंको कुण्डलिनी जगाकर प्रमाणित करता है। शिवकी इस शक्तिको महावाणी, महाविद्या आदि कई नामोंसे जाना जाता है—

महाविद्या महावाणी भारती वाक् स्वरूपती।

शारीरी कामवैनुवेदगार्भ च धीश्वरी^{१०१}॥

महाशक्तिके विधिय नामोंसहित पराक्रमोंका वर्णन (देवीमागवत पुराण) आदिमें देखा जा सकता है। ये

१०१. विष्णुपुराण ३। ९। १०।

१०२. मागदपुराण ११। १८। २९।

१०३. मागदपुराण १२। २८। १७।

१०४. भविष्योत्तरपुराण

१०५. वही।

१०६. हेमाद्रि

१०७. कृष्णपुराण

१०८. श्रीमद्भागवतपुराण

१०९. श्रीमद्भागवतपुराण

११०. मार्कण्डेयपुराण, देवीमाहात्म्य, ग्राधानिक-रहस्य १६

देखिवाँ एक ही दृष्टिके विविध रूप हैं और इनका वात्सल्य प्राप्त हुए विना योगसिद्धि मिलना सम्भव नहीं है।

सान्त्रिक मार्गमें बामाचार बढ़ जानेपर सात्त्विक उपासनाको भक्तिके रूपमें पृथक् स्थान मिला। सभी भक्तोंने अपने हृष्टदेवीके भक्तवत्सल रूपोंको ही उपासनाका विषय बनाया। इसीलिये सूरदास-जैसे भक्तशिरोमणिद्वारा श्रीकृष्णके चरितका लोकरक्षक पक्ष उपेक्षित रह गया। तुलसीदासने व्यापक दृष्टिकोणको सामने रखकर रामको भक्तवत्सल,—लोकवत्सल और धर्मवत्सलके रूपमें काजवका विषय बनाया। तुलसीने भी रामभक्तिको अपर्याप्त मानकर रामके साथ उनकी उद्धव-स्थिति-संहारक-स्थिरिणी बङ्गमा सीताको अपनी उपासनाकर लक्ष्य बना लिया है। वसहि रामस्ति भानस मेरि—उनकी भक्तिसाधनाका यही उद्देश्य रहा है। सूरके श्रीकृष्ण भी राधाके विना अध्यूरे जात हीरे हैं। इन सारे भक्त कवियोंने अपने हृष्टदेव परं इहृष्टदेव सदैव व्यात्सल्यकी आकाङ्क्षा की है।

लोक-जीवनमें वात्सल्यकी प्रतिष्ठा

समाजके विधास और विचारोंका प्रभाव लोक-जीवनपर भी पड़ा। समाजका प्राश्वर्ग गोचरी वृत्तिका आचरण करने वाला और सामान्यजन बत्सवत् व्याचरण करके वात्सल्यके पात्र बननेका प्रयत्न करने लगे। समाजकी वैचारिक एकताको इससे बढ़ा बढ़ा मिला। समाजके प्रशावल तथा कर्मवत्सलका समायोजन राज्य-तन्त्रके समानान्तर, गणतन्त्रके विकासमें सहायक हुआ। भारतमें इन दोनों व्यवस्थाओंका चिना किसी प्रतिस्पर्धाके साथ-साथ विकास हुआ^{१०१}। बुद्ध और महावीरने तो आध्यात्मिक गणतन्त्रोंकी स्थापनाका अपूर्व स्वप्न देखा^{१०२}। जैन साधुओंको शावक अव भी नित्य योगीरीके लिये आनन्दित करता है। पिता, माता, गुरु, धर्मोपदेशक, समाजसेवी, संत्यासी आदि समाजमें बत्सल हैं और पुत्र, शिष्य, रोगी, सामान्य गृहस्थ आदि बत्स। इस प्रकार समाजके संघटनका आधार ही वात्सल्य बना हुआ है।

राष्ट्रीयता और वात्सल्य

राष्ट्रीयताका सम्बन्ध राजमान जनसमाजकी अपनी भूमिसे

१०१. 'प्राचीन मार्तमेण गणतान्त्रिक शासनव्यवस्था'—पंचोली, शोधपत्रिका, उद्धरण १५। १

१०२. 'बुद्धमान महावीरस्त्रय प्रचारित आध्यात्मिक गणतन्त्र और उसकी परम्परा'—पंचोली, मुनि हजारीमल स्मृति-अन्थ, व्यावर।

होता है। इस भूमि के साथ आत्मीयताका सम्बन्ध स्थापित करके जब सारे भूमियासी एकत्रिके सूचये बैंधकर अपने प्राणोंके पुण्य समर्पित करनेके लिये कुलतंकल हो जाते हैं, तभी उनमें सब्दी राष्ट्रीयताका आधिर्भव होता है। भूमिसे आत्मीयताका भाव स्थापित करनेके लिये भारतीयोंने उसके साथ मानुष्की भाग्यानको संयुक्त किया है—जात भूमि: पुणोऽहं पृथिव्या^{११३}। इस भूमिको भारतीय राष्ट्रीयताका शूलदूषोंव या मैनकार्यों भाग्य जा सकता है। भारतमें पूर्वी भौतिक सत्त्वामात्र नहीं मानी गयी है। वर्त गो, अदिति, पूरा, इला, मही आदि^{११४} नामोंसे अभिषेव दिव्य-सत्त्वाके रूपमें स्वीकार की गयी है। यह भौतिक समृद्धि, आर्थिक सान्ति और दिव्य वर्चस्व प्रदात करनेमें समर्थ कामदुखा है^{११५}। इसीलिये कहा गया है—‘उपसर्व मातरं भूमिम् वर्थात् मानु-भावते भूमिको प्राप्त होयो’^{११६}। साथ है कि भूमिका वात्सल्य प्राप्त करनेके लिये भी भारतीय सचेष रहे हैं और दिव्य राष्ट्र-की कल्याना भारतीयोंकी द्वचिका विषय रहा है।

वात्सल्य-धर्म

अपर हम यह देख चुके हैं कि आदि-सूजकशक्ति गो^{११७} है और इस सूषिके समस्त पदार्थ उचीसे प्रादुर्भूत हुए हैं। उन पद्योंमें भी अनेक रूप धारण करके वह सूजक-शक्ति व्याप होती है तथा इस प्रकार नित्य सूजन चला करता है। इस

प्रकार वह सूषिकी प्रतिष्ठाका मूल कारण तो है ही, पदार्थोंके धारक तत्त्वोंके स्थानें भी वही शक्तिमान है। अन्तर्गत ब्रतकर वही प्राणियोंकी प्राणिका वसती है। सारा संसार उसीके वात्सल्यका विस्तार है। अपवैद तथा पुराणोंमें उसके दोहनका वर्णन मिलता है, जिससे उसके वात्सल्यका भी परिचय मिल जाता है। सूजक-शक्तिके धारण, पौराण एवं प्रतिष्ठा आदि फायरेंका मूल वात्सल्य है। अतः उसे धर्म कहना उचित है। आधिर्वेदिक सूषिका यह वात्सल्य मानव-समाजके विकासमें बहुत ही प्रेरणादायक मिठ दुआ है। वह सामाजिक मर्यादाका आदर्श बन गया है और इस प्रकार उसे मानव-धर्मके एक महत्वपूर्ण गुणके रूपमें आचरणका विषय बना लिया गया है। मनवी वस्त्रको संयत करके प्राणहसी वृष्ट्रम तथा चाकूली गोके वात्सल्यका पात्र घनाकार परम-तत्त्वको पा लेना एवं परमपदमें, जिसे अहना वा आयोंका गोचर भी कहा जाता है, रमण करना वैदिक हठिकोणसे वैयक्तिक साधनाका विषय है। इनी तरह समाजमें गोचरी वृचिमें लीन लोगोंका, जो समाजके प्रवायलके प्रतीक हैं, वस्त्रवत् आचरण करते हुए सामान्यवर्त्तनों—जो समाजकी क्रियाशक्तिके प्रतीक हैं—के साथ वात्सल्यकी हास्तेसे संरग्म करना भारतीय सामाजिक साधनाका उद्देश्य रहा है। भारतीय बीघन-साधनाकी यह विशेषता वैदिक तथा जैनादि अवैदिक परमराओंपे समानलूपसे ग्राप्त है।

जासुर-मानव और उसकी गति

सबसा कर्मणा वाचा ग्रतिष्ठला भवन्ति ये। तात्त्वाजासुराद् विद्धि भर्त्यस्ते नरकालयः ॥
हिंसाश्चीरात्र चूर्तीश्च परशारणिमर्शकः । नीचर्मरता ये च शौचमङ्गलविर्जिताः ॥
कुर्विविहृविणः पाप लोकचरित्रदूपकाः । एवंसुक्षमाचारा वीवन्तो नरकालयः ॥
क्षेकोद्वेगरकराशास्ये पशवश्च सर्वास्पाः । वृक्षाः कण्ठकिनो रुक्षास्ताद्यान् विद्धि चासुरान् ॥

जो मनुष्य भन, वाणी और कियाद्वाय सदा सबके प्रतिकूल ही आचरण करते हैं, उनसी असुर समझो ! उन्हें पवित्रतासे द्वेष रखनेवाले, याणी और लोगोंके चरित्रपर कलंक लगानेवाले हैं—ऐसे आचरणवाले अर्थात् असुरी-स्वमावचाले कँटीले वृक्ष हैं वे सब पहले असुर समावके मनुष्य ही हैं—ऐसा समझो !

११३. अपवैद २२ । १ । १३ । ११२. विष्णु । १ मै शृष्टिके नाम दण्ड । ११३. अपवैद १२ । १ । ६१ ।
११४. अपवैद १८ । ३ । ४३ ।

श्रीधर्म-तत्त्व-भीमांसा

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

धर्मकी व्युत्पत्ति और अर्थ

‘धृष्ण—धारणे’ धारुसे ‘अदित्यदृष्टा’ ‘भूर्’ इस उणादि सूर्यद्वारा ‘मन्’ प्रव्यय होने पर ‘धर्म’ बन्द बना है । (माधवीया वाचुद्वाचि० १ । ८८४ तिदात्त च० पृ० २७१ दशपादी उणादि पृ० १४ ।) मत्स्युराण १३४ । १७, महाभारत, कर्णवर्ष ६९ । ५७-५८, शान्तिर्वर्ष १०९ । १८-१९ आदिमें मी यही कहा गया है—

धर्मेति धारणे धारुमाहात्म्ये चैव पठयते ।
धारणात्त भृत्येत धर्म पृष्ठ निरचयते ॥
यः स्वात् प्रभजसंस्युक्तः स धर्म इति निश्चयः ।
यः स्वाद्वारगसंस्युक्तः स धर्म इति निश्चयः ॥

कोशकारोने धर्मपुण्य, न्याय और आचारादिको पर्याय माना है—

धर्मः पुण्ये चमे न्याये स्वभावाचारयोः कुतौ ।
(मेदिनी २५ । २६ विश्व-प्रकाश, अमर-कोश आदि)

धर्मका स्वरूप, परिभाषा और लक्षण

‘विश्वमित्र-स्मृति’ कहती है—

यमायाः क्रियमाणं तु शंखन्यागमवेदिः ।
स धर्मो च विगर्हन्ते तमधर्मं प्रचक्षते ॥
अर्थात् आगमवेत्ता आर्योगण लिपि कार्यकी प्रशंसा करते हैं, वह तो धर्म तथा जिसकी निन्दा करते हैं, वह अर्थ है।

मनु (२ । १ में) कहते हैं—

विद्विदिः सेवितः सन्निर्नित्यमद्वेषरागिभिः ।
हृदयेनाम्यनुशातो यो धर्मस्तं निशोधत ॥

मीमांसाकी ‘हलाम’ दीक्षामें गाणगभट्टाका कथन है—
अलौकिकश्रेयः साधनत्वेन विहितकिवात्मं हि धर्मव्यन् ।
भूलभीमांसा १ । १ । २ में वेदोक्त प्रेणाको धर्म माना गया है । वेशेषिकदर्शनके प्रशालागदभाष्यमें ईश्वर्स्तोदनाको धर्म कहा है—सूचैश्वरचोदनाभिन्यकाद् धर्मोदेः (श्रव्य-प्रयोजन-प्रकरण २) । हस्तके भाष्यविवरणमें दुष्टिराजने लिखा है—ईश्वर-चोदना ईश्वरेन्द्राविशेषः । ३ उदयनाचार्य ईश्वरचोदनाका

* राम राजा मेट भन माहीः । देखा भुला क्लाँ कोउ नाही ॥

अर्थ वेद करते हैं । वैशेषिकसूत्रबृत्तिमें भरद्वाज महर्षिने ‘अभ्युदय’का अर्थ सुन्न किया है । पर इसकी उपस्कारव्याख्यामें शंकरमिश्रने ‘अभ्युदय’का अर्थ तच्चशान किया है । शीताभाष्यके आरम्भमें आचार्य शंकरने प्रवृत्तिनिवृत्ति लक्षणोंसे धर्मको हितिव भाना है । वैशेषिकव्याख्यादिमें भी इसका समर्थन है ॥ ‘लक्षणकोश’ तथा लिद्वात्त-लक्षण-संग्रहमें धर्मके अनेक लक्षण प्रमाकरादिके मतानुसार दिये गये हैं; पर लोगाधिकारास्तरादि अधिकाराने वेदोक्त योगादिको ही धर्म भाना है । (द्रष्टव्य पृष्ठ १०४)

धर्मके स्रोत तथा प्रमापक

मनु तथा याहव्यके अनुसार वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, उभय मीमांसा तथा वेदविद् संतोंके शील एवं सदाचार धर्मके स्रोत तथा प्रमापक हैं—

पुराणन्यायसीमांसाधर्मशास्त्राहायितिः ।

वेदः स्थानानि विद्यानी धर्मस्य च चतुर्दशः ॥

(यथा० १ । २)

वेदोऽखिलो धर्ममूलं समुत्तीले च तद्विद्यम् ।

आचारद्वैत साधूमामात्ममस्तुष्टिरेव च ॥

(मनु० २ । ६)

विधि तथा श्रद्धार्थक वेद-पुराणोंके अधिगत्ता विद्वान् को मनुने शिष्ट कहा है और उनके आचारको शिष्टाचार कहकर प्रमाण माना है—

धर्मेणाधिगतो चैस्तु वेदः सपरिवृहणः ।

ते शिष्टा श्राहणा शैयाः शुक्तिप्रस्त्रक्षेत्रतः ॥

(मनु० १२ । १०९)

सम्प्रदाय, कुलाचार एवं देशाचार

मनु आदिके अनुसार सम्प्रदाय-क्रमावत तथा कुल-क्रमागत धर्म आचरणीय हैं । यथा—

येनास्य पितृरो याता येन याताः पितामहाः ।

तेन यात्यात् सत्ता मार्गं तेन गच्छत् न रिष्यते ॥

(मनु० ४ । १७८)

* द्र० वैशेषिकसूत्रभाष्यादि० १ । १ । २, यतोऽस्युदयनिः अयससिद्धः स धर्मः ।

देवलके अनुसार देशाचार भी मान्य है। यथा—
येषु देशेषु च देवा येषु देशेषु चे हिजाः ।
येषु देशेषु यच्छौर्वं धर्माचारस्त्र याइवाः ।
तथा तान् नावमन्येत धर्मस्त्रैष्य लाद्वाः ॥
असिन् देशे युरे ग्रामे चैविचनगरेऽपि च ।
यो वत्र विहितो धर्मस्तु धर्मं न विचालयेत् ॥

(सूत्रिचन्द्रिका, संस्कारकाण्ड, पृ० २५५८ देवल-वचन)

युगानुरूप धर्म

मनु० अध्याय १ । ८६, पञ्चपुराण १ । १८ । ४४०,
परमारस्त्रृति १ । २३, लिङ्गपुराण १ । ३९ । ७
भविष्यपुराण १ । २ । १११ आदिमें युगानुरूप धर्म इस
प्रकार वर्तलया गया है—

तपः परं कृतयुगे त्रैतायां ज्ञानमुच्यते ।
द्वापरे यजुमेवाहुर्दीनसेकं कलौ युगे ॥
अर्थात् सत्ययुगमें सप्तकी, त्रैतायां ज्ञानकी, द्वापरमें यज्ञकी
और कलियुगमें दान-धर्मकी प्रधानता होती है। इसी प्रकार
कलियुगमें सत्यानुशासनसे ही विशेष धर्मकी प्राप्ति कही गयी
है। (देखिये ३९८ें वर्पके विशेषाङ्कमें हमारा—‘और
युगन वै कमलनयन कलियुग अधिक कृषा करी’ शीर्षक लेख)
यथा—

यस्तुते यश्चभिर्वैत्रेयाणां हायवेष अत् ।
द्वापरे तत्र भासेन खाहोरात्रेण तत्र कल्यै ॥
(पृष्ठा० ८०, प्रथमपुराण, विष्णुपुराण, स्वन्दपुराणादि)

युगानुरूप तीर्थ

कलियुगमें गङ्गाकी विशेष महिमा कही गयी है। यथा—
पुर्वक तृतीये सेव्यं त्रैतायां वैसिर्वं तथा ।
द्वापरे तृतीये कलौ गङ्गां समाश्रयेत् ॥
(सूत्रिचन्द्रिका पृ० २८ पर विष्णुपुराण-चरम वचन)

योनियोंके अनुरूप धर्म

वामनपुराणके ११६ें अध्यावमें श्रुतियोंने सुकेत्तासे

धर्मका तत्त्व कहा है। तदनुसार यज्ञ और स्वाध्याय देवताओंके धर्म हैं। दैत्योंका धर्म युद्ध शिवभक्ति तथा विष्णुमत्ति है। ब्रह्मविज्ञान, योगसिद्धि आदि सिद्धोंके धर्म हैं। मृत्यु, गौतम, सूर्यभक्ति—ये गणधर्मोंके धर्म हैं। ब्रह्मचर्य, योगाभ्यासादि पितरोंके धर्म हैं। जप, तप, ज्ञान, ध्यान और ब्रह्मचर्य ऋषियोंके धर्म हैं। इसी प्रकार दान, यज्ञ, दद्या, अहिंसा, शौच, स्वाध्याय, भक्ति आदि मानव-धर्म हैं—

स्वाध्यायो ब्रह्मचर्यं च दामं धज्जमेव च ।
ब्रह्मपूर्वमनुशास्त्रे दद्या हिंसाद्वामादयः ॥
जितेन्द्रियत्वं शौचं च माङ्गल्यं भक्तिरच्युते ।
शंकरे भासको देव्यां धर्मोऽथं मानवः स्मृतः ॥४४
(वामनपुराण ११ । २४-२४)

इसी प्रकार वहाँ गुह्यक, ग्रामस, पिशाचादिके भी
धर्म वर्तलये गये हैं। † पुनः मानवधर्मोंको विस्तारसे
वर्तलया गया है और अधर्मोंसे होनेवाले नरकोंको भी
वर्तलया गया है। (अ० १२) †

धर्म-सर्वस्य-सार

सहामारतादि अनेक ख्यलोंमें धर्म-सर्वस्य-सार इस प्रकार
वर्तलया गया है—

श्रूतों धर्मसर्वस्य श्रुत्या चाप्यवधार्यताम् ।
आत्मनः प्रतिकूलानि पौरवां न समाचरेत् ॥

(यह श्लोक श्रीविष्णुधर्म० ३ । २५३ । ४४, पञ्चपुराण,
सुषिलाण्ड १३ । ३५५-६ पूनासं०, सहामारत, शान्तिगर्व २५९,
अनुशासनपर्व ११३ । ८ तथा पञ्चतन्त्र ३ । १८२ आदि
अनेकानेक ख्यलोंपर बहुत-से दूसरे ऐसे ही श्लोकोंके साथ
प्राप्त होता है।)

अर्थात् धर्मका सार सुनिये और सुनकर उसे हृदयमें
धारण भी कर लीजिये। वह है वह कि अपने आपको जो
चुरा लें, उसे दूसरेके लिये भी न करें। (जो अपनेको
भला लो, उसे ही करें ।)

* मनु० ६ । ९३ के धर्म-प्रकरणानुसार तथा अस्ति, वामनपुराण, नारदपरि० ३४०, यादवलक्ष्मसुति आदिके अनुसार,
मानव नहीं संन्यासीका धर्म दीक्षिता है।

† भट्टकाल्प १ में भी राम-नारायणादि संबादमें विभिन्न योनियोंके धर्मकी कुछ चर्चा है।

‡ इसी प्रकार धर्मधर्म, आश्रमधर्म, धर्मधर्म आदिपर वहाँ बहुत-सी बातें हैं, जो उन्हें निष्पत्तिमें मिल सकती हैं।

आतिथ्य-धर्मके आदर्श

(१)

महर्षि मुद्रल

एक बात स्पष्ट समझ लेने चाहिये है कि अधिकांश ऋषि-सुनि शुद्धता प्राप्त होता था। वे दोतीरण, तपस्वी तथा भजन-निष्ठु होनेके कारण प्रायः जनपद-से दूर होपड़ियोंमें रहते थे। अध्ययन-अव्यापन करते थे।

महर्षि मुद्रलने शिलोच्छवृत्ति अपना रखली थी। कुप्रक अब खेतसे अज काटकर ले जा लुके तो जो अज खेतमें गिरा रह गया, उसे 'शिल' कहते हैं और अजके बाजारमें दूकानें धंद हो जानेपर जो कुछ चाने चिरेपहुँ रह गये, उन्हें 'उच्छु' कहते हैं। मुद्रलजी तथा उनके परिवारके लोग समयके अनुसार ये 'शिल', अथवा 'उच्छु'के दाने चुन लाते थे और इसीसे उनकी आजीविका चलती थी। इसमें भी उन्होंने नियम कर रखा था कि ३४ सेरसे अधिक अज कभी नहीं रख सकेंगे।

चिपथी पुरुष भोगप्रिय होते हैं। ऋषि एवं पूर्णि-परिवार से तपस्वी था। जीवनका एक-एक क्षण मूल्यवान् है, उसे प्रयत्नाके समरण-भजनमें लगाना चाहिये। अतः भोजन तो महर्षि मुद्रलके परिवारमें केवल अमावस्या और पूर्णिमाको होता था। उस समय भी चूल्हा-चौकाकी खटपटमें समय व्यर्थ न जाय, इसके लिये एकत्र अचका सबूत-भूत-पीसकर रख लिया जाता था। अमावस्या पूर्णिमाको सबूत खा लिया और भजनमें लगे रहे। शरीर-धारणके लिये इतना आहार पर्याप्त था।

'भगवन् ! इस कंगालका आतिथ्य ब्रह्मण करके इसे कुतार्थ करें !' एक अमावस्याको महर्षि दुर्योगा मुद्रलजीकी शोपड़ीपर पधारे तो मुद्रलने उनके ब्रह्मण धोये, वासन छिया, पूजा की और आहार-ग्रहणकी प्रार्थना की।



'मैं क्षुधापीड़ित ही आया हूँ !' दुर्योगाने प्रार्थना स्वीकार कर ली। इतना क्षुद्र सत्त्विक आहार इतने ल्येह-अद्वासे ग्रास हो तो क्षुधा तो नित्य-हस सर्वलोकमहेश्वर तकको लग आती है। दुर्योगा-जी भोजन करने वैठे और जितना सत्त् था, सब साफ कर गये। सुप्रसन्न चिन्ह हुए। सुदूरजीको तो भजनकी सूख थी, अब अज एकत्र करनेके लिये स्वरूप कौत करता ? भोजन ठाल दिया गया अगले पर्वके लिये और सब लोग भजनमें लग गये। लेकिन दुर्योगाजीको यह सत्त् इतना स्वादिष्ट लगा कि वे अगले पर्वपर भी ज्ञा पहुँचे। इस प्रकार वे ६ पर्व—अमावस्या एवं पूर्णिमाके आगे रहे। महर्षि मुद्रल उनका उसी उत्साह तथा अद्वासे आतिथ्य करते रहे। पूरे तीन महीने उसके परिवारने अनाहार किया।

'महामार ! आप विमानमें वैठें। सर्व आपको पाकर अपनेको धन्य मानेंगे !' देवदूत विमान

लेकर मुद्रलज्जीको सशारीर स्वर्ग के जनेके लिये आये। किंतु धन्य न्यूपिका विवेक परं स्थान। उन्होंने देवदूतों से सर्वका विवरण विस्तारपूर्वक पूछा और अन्तमें कह दिया—‘मैं नहीं जाता वहाँ। वहाँ भी अहूसि, असंतोष, अपनेसे अधिक भोग परं पद-प्राप्तके प्रति ईर्ष्या, अस्थानि है तो वहाँ जनेसे लाभ ? वहाँ तो हुँख, अभाव साथ ही छो है।’

ऐसे त्यारीको तो परमपद प्राप्त होना ही था।

—३०

(२)

महाराज मयूरध्वज

महाभारतका महायुद्ध समाप्त हो चुका था। शशार्द्र युधिष्ठिरने अव्यमेध-यज्ञ करनेके लिये अव्य छोड़ा था। उसी समय राजपुरके नरेश परम धर्मिक परं भगवद्भक्त राजा मयूरध्वजने भी अव्यमेध-यज्ञ प्रारम्भ किया था और उस यज्ञका अव्य भी छोड़ा था। उस अव्यकी रक्षा राजकुमार ताम्रध्वज कर रहे थे। युधिष्ठिरके यशीय अव्यकी रक्षा करते हुए अर्जुन मणिपुर पहुँचे तो राजपुरका यशीय अव्य भी वहाँ पहुँचा। कलहसलय दोनों दलोंमें युद्ध छिड़ गया।

अर्जुन समझते थे कि ‘मुह-सा धीर कोई नहीं है और मेरी भक्ति इतनी प्रबल है कि श्रीकृष्ण उसके बढ़ाये हैं। मेरे-जैसा भक्त भला कौन होगा।’

भगवान् तो गर्वहारी है। अपने भक्तोंके चिन्तमें वे गर्व रहने नहीं देते। मणिपुरके इस युद्धमें गाण्डीवधन्वा अर्जुन पराजित हो गये। श्रीकृष्ण और अर्जुन दोनों युद्धमें सूर्णित हो गये। राजकुमार ताम्रध्वज दोनों अव्योंको पिताके समीप ले गये। मन्त्रीने वे उत्साहसे इस विजयका समाचार दिया।

‘तु मेरा पुत्र नहीं, शत्रु है।’ प्रस्तु गोपेके स्थानपर मयूरध्वज अत्यन्त श्रुत्य तथा छुट्टी छुप। ‘साक्षात् भक्तयहारी श्रीहरिके दर्शन प्राप्त करके भी तु उनकी सेवामें नहीं गया और धोड़ा ले आया। उन भक्तवत्सलके अनुग्रहभाजन

युधिष्ठिरके घबराएं तूने गाया थी। तू इतना भी नहीं समझता कि यह पूर्ण कर लेना मेरा लड़वाय नहीं है। मैं तो इन यज्ञोंके द्वारा उन्होंकी पूजा करता हूँ। उनकी प्रसन्नता ही मुझे इद्य है।’

उधर युद्धभूमिमें मूर्ढी टूटनेपर अर्जुन बहुत डुखी हुए। अव्यके बिना धर्मराजका यज्ञ अपूर्ण रहेगा, यह चिन्ता उनको झाँकुल किये थे। उनके चलका गर्व तो नष्ट हो चुका था। किंतु भक्तिका गर्व अभी नष्ट होना शेष था। श्रीकृष्णने उन्हें आश्वासन दिया। सर्व ब्राह्मणका देश बनाया और धनञ्जयको विद्य बनाकर साथ लिया। यक साय-सिंह भी साथ ले लिया और रत्नपुर पहुँचे।

‘स्वस्ति यज्ञः।’ पहुँचते ही आशीर्वाद दिया मयूरध्वजको।

‘धर्मवन्।’ वह आप अनुचित आचरण करते हैं। ब्राह्मणको प्रणाम करनेपर ही आशीर्वाद देना चाहिये। मैं तो आपका सेवक हूँ। आज्ञा करें।’ मयूरध्वजने अद्वापूर्वक प्रणाम करके निवेदन किया।

‘यज्ञः।’ हम आपके अविद्यि हैं और वही महात्माजांशा लेफर आये हैं। ब्राह्मणवेदाधारी श्रीकृष्णने कहा। ‘धर्म मैं आपने पुत्रके साथ ला रहा था। यह भूखा सिंह उसे खा ही लेता। किंतु मेरे बहुत अलूनय करनेपर यह मान मत्ता कि थवि आपकी पक्षी तथा पुत्र आपके शरीर-को अरेसे धीरकर देहका दाहिना भाग दै तो उसे स्वाकर यह उस हो लेगा।’

‘मेरा परम सौभाग्य कि नाशकान् देह ब्राह्मण-के काम आ सकेगा।’ मयूरध्वजने तुरंत सीकार कर लिया।

‘मैं महाराजकी अर्धाहिनी हूँ।’ राजीने कहा। ‘सिंह। मुझे खा ले तो नरेशका आधा अङ्ग उसे मिला माना जायगा।’

‘वेदि। आप सत्य कहती हैं। किंतु ब्राह्मणने आपसे शकट की। ‘रात्रि पुरुषका धमाह है और सिंह-को नरेशका दक्षिणाङ्क चाहिये।’

'पुत्र पिताका ही स्वरूप होता है। मैं महाराज-
स्वरूप हूँ और दक्षिणाङ्ग भी।' राजकुमारने
हो। 'सिंह मेरा भक्षण करे। महाराज जीवित
है।'

'भद्र ! तुमने छुआ है कि तुम और तुम्हारी
गता आरेसे चौरे तो वह अक्षर्ध सिंहका भोज्य
होगा।' ब्राह्मणने कहा। 'तुम पिताके प्रतीक हो;
किंतु अपना अङ्ग तुम स्वयं चीर तो नहीं सकते।'

राजाके मत्तियों, सभासदों आदिने बहुत
अपराधी की; किंतु नरेशने उन्हें यह कहकर सुप
रहनेपर विचक्षा कर दिया कि—'जो मेरे हितैषी हैं,
जो मेरा कल्याण चाहते हैं, उन्हें हस्तक्षेप नहीं
करना चाहिये।'



'आरा लगाया गया। 'मध्य, गोविन्द,
मुकुन्द' कहते महाराज मयूरध्वज आरेके नीचे
शान्त, स्थिर घैठ गये। उन्होंने मुकुट उठार
दिया था। रानी तथा राजकुमारने अपन पकड़ा।
राजा मयूरध्वजका मस्तक निरने लगा। रक्की
धारा चल पड़ी। साथ ही उनके वाम-नेत्रसे दो
विन्दु अशु छुलक पड़े।

'मैं दुखपूर्वक दिया गया था ताकार नहीं
करता।' ब्राह्मण रुष हुए।

'भगवन् ! मेरे वाम नेत्रसे अशु आये हैं।'

मयूरध्वजने कहा। 'इस वाम भागको यह दुःख
है कि वह अभागा रह गया। शरीरका दक्षिण
भाग आपकी सेवामें लगकर सार्थक हो रहा है
और वाम भाग उससे चक्षित रह जाता है।'

'तुम धन्य हो !' सहस्र राहु, चक्र, गदा,
पद्मधारी नवजलधर सुन्दर श्रीकृष्णका रूप अकट
हो गया। आरा उठाकर उन्होंने फैक दिया।
उनका कर-स्पर्श होते ही मयूरध्वजका शरीर
स्वस्थ हो गया। अर्जुन अपने वेशमें दीखने लगे
और सिंह अष्टश्य हो गया। भगवन्नने बरदान
माँगनेको कहा।

'आपके चरणोंमें मेरी अचिचल भक्ति हो !'
मयूरध्वज प्रभुके चरणोंपरसे उठते हुए बोले।
'एक प्रार्थना है और द्यासागर। आप भक्तोंकी
इतनी कठिन परीक्षा फिर न लें।'

'एवमस्तु !' श्रीकृष्णसे दूसरा छुछ सुननेकी
सम्भावना ही कैसे की जा सकती है ?

'मेरे अपराध क्षमा करें देव !' पार्थ चरण
एकझौने छुके तो राजाने उन्हें उठाकर हृदयसे
लगा लिया। अर्जुनका गर्व नष्ट हो चुका था।

'आप अपना यहिय अश्व ले जायें !' मयूरध्वज-
ने खता कहा। 'धर्मराजसे इस राजकुमारकी
धूपताके लिये क्षमा चाहता हूँ मैं। सम्राट्-पदके
बही अधिकारी हैं। उन धीकृष्णके जनका अनुगत
होनेमें मेरा गौरव ही है।'

सत्कृत होकर अपने नित्य सारथिके साथ
धनञ्जय अश्व लेकर रत्नपुरसे विदा हुए। —२०
(३)

श्रीकृष्णका अतुलनीय अतिथि-सत्कार

महर्जि दुर्वासा एक बार यह कहते थे—
'मुझे निवासके लिये स्थान चाहिये। मुझे कोई अपने
यहाँ उहरायेगा ? किंतु तनिकसे भी अपराधपर
मुझे क्रोध आता है, यह चात पहले सोच-समझ
लेनी चाहिये !'

वड़ी-वड़ी जटायें, हाथमें विलववण और
चीरबसनधारी क्षीणकाय, प्रसिद्ध तपसी होनेके

साथ सुप्रसिद्ध कोवी भर्ती भर्ती दुर्वासाको कौन अपने यहाँ ढहरये ? किसे अकारण निपत्ति बुलानेकी चुन चढ़ी है ? तीनों लोकोंमें किसीने दुर्वासाजीको अपने यहाँ रखनेकी इच्छा नहीं की । धूमते हुए महर्यि द्वारका पहुँचे । जो निमोंके परमाश्रय हैं, पापो-पुण्यात्मा, क्रमाशील-कोवी सब जिनके चरणोंमें आश्रय पाते हैं, उनके हारसे एक आश्रय ढूँकता आपि निराश लौट जाय, वह कैसे सम्भव था ? श्रीकृष्णने दुर्वासाजीको आदरपूर्वक बुलाया और अपने निज सदनमें निवास दिया ।

दुर्वासाजीका दंग संसारसे पृथक् था । वे कभी कहीं लहज मनुष्योंका भोजन अकेले खा लेते और कभी छोटे शिशु जिन्हा खाते । कभी धरते निकल जाते तो छोटते ही नहीं, अथवा यजिमें आकर भोजन माँगते । लेकिन विश्वकी उत्पत्ति, स्थिति, संहार जिनकी सामान्य कीड़ा है, वे योगमाया जिनकी सेवामें करबद्ध उपस्थित रहती हैं, उनके लिये दुर्वासाजी कोई असुविधा कैसे उत्पन्न कर सकते थे ? ऐसी क्षय व्यवस्था है जो इच्छा होते ही उपस्थित न मिले ।

एक दिन महर्यिने अपने ढहरनेके स्थानपर सब सामग्रियोंमें आग लगा दी । वहाँ जो कुछ ग्राणी-पदार्थ थे, सर्वज्ञलकर भस्त हो गये और वे दीड़-झैड़ आकर बोले—‘वासुकेव ! मैं अभी खीर खाना चाहता हूँ ।’

‘आप आसन ग्रहण करें !’ श्रीकृष्णनन्द सहसा उठ खड़े हुए । उन्होंने आदरपूर्वक दुर्वासाजी-के चरण धोये । उन्हें आसन दिया । महाराजी खिमणीने खण्डपात्रमें खीर परेत दी ।

‘अब इस लूटी खीरको तुरंत अपने अङ्गोंपर पोत लो !’ दुर्वासाजीने फेर-सी खीर लूटी छोड़ दी और आज्ञा दी ।

‘जैसी आज्ञा !’ श्रीकृष्णने खीर पुरे शरीरमें लगा ली । खिमणीजी खड़ी-खड़ी देख रही थीं । दुर्वासाने आज्ञा देकर उनके शरीरमें भी खीर पुरता दी ।

सबे शरीरमें खीर लिपटी हुई थी ऐसी

खिमणीसे कहा—‘तुम रथमें जुतो, मैं चलपर यैदूँगा ।’ महर्यिने आज्ञा दी । खिमणीको मुनिने रथमें जोत दिया । उसी रथशर वे बैठे और चतुरुक फट्टकारने लगे । राजसदनसे बाहर खुले राजपथपर महाराजी रथमें जुती रथ खाँच रही थीं । यादवोंको बड़ा झेल छुआ; किनु कोई बोलनेका साहस कैसे करे ?

दक्षिणीजी जब अत्यन्त श्रमित होकर बास्थार लड़ाइने लगी तब सहसा दुर्वासा रथसे कूद पड़े और दक्षिण दिशाकी ओर पैदूल भागने लगे । श्रीकृष्ण भी यिन रास्तेके दौड़ते हुए दुर्वासाजीके पीछे-पीछे उसी तरह सारे शरीरमें खीर लिपटे हुए ही दौड़ने लगे और बोले—‘भगवन् ! प्रसन्न होइये ।’ तब दुर्वासा लड़े हो गये और बोले—‘महावाहो शासुदेव ! तुमने कोधको जीत लिया है । तुम सम्पूर्ण विश्वको विय होगे । तुमने पूरे शरीरमें खीर लगायी, बतः तुम्हारा शरीर लमस्त अस्त-शर्कोंसे अमेव रहेगा; किन्तु तुमने पैरके तलवेमें खीर खींच नहीं लगायी ? ये तुम्हारे पाण्ठतले निर्भय नहीं बन सके ।’

‘कल्याणी ! तुमको रोग तथा जरा स्पर्श नहीं करेगी । तुम्हारी अज्ञानान्ति कभी म्लान नहीं होगी । तुम्हारा अश असुविनको पवित्र करेजा ।’ महर्यिने खिमणीजीको आशीर्वाद दिया और उहाँ अबद्य हो गये ।

—सु०

(४)

दुर्गादास

यदशाह औरंजेबने जोधपुर-चाल्को हस्तगत करनेकी धूत चेष्टा की; किन्तु वह अपने प्रश्नोंमें सफल नहीं हुआ । महाराज जलवन्धनसिंहके उपकार वह भूल चुका था । किसीके उपकार और सम्बन्ध स्मरण रखना जसके सम्भाव्यमें ही नहीं था । राजनोत्तिमें वह निष्कुर था और अपने धर्ममें अत्यन्त संकोष—उत्प्रही । किन्तु जलवन्धनसिंहके पालक पुत्र अजीतसिंहका स्वत्व-रक्षक बनकर जो राजौर वीर दुर्गादास जोधपुरमें तलशार

निकाल चुका था, उससे बादशाहकी चल नहीं पाती थी।

बादशाहने अपने पुत्रको सेनाके साथ दुर्गादासका दमन करने भेजा। वह लगभग विर चुका था; किंतु उससे जब मित्रताकी अर्थता की, दुर्गादासने उसे अखीकार नहीं किया। वह समचार बादशाहको मिला तो उसने पुत्रके विरुद्ध सेना भेज दी। पितासे शत्रुता करना भी पुत्रको अच्छा नहीं लगा। घह ईरान बला गया। शाही सेनाको दुर्गादासके हाथों पराजय प्राप्त हुई।

शाहजादा ईरान जाते समय अपने पुत्र तुलस्य अख्तर तथा पुत्री सफायतुचिशको जोधपुर ही छोड़ गया था। यात्रामें वच्चोंको लेकर वह कहाँ भटकता। बादशाहको यह समचार भी मिला। शाही सेना हारकर लौट चुकी थी। बादशाहने अपना प्रतिनिधि बनाकर ईश्वरदास नागरको जोधपुर भेजा।

दुर्गादासने अपना मन्तव्य स्पष्ट किया—“शाही वच्चोंको मैं स्वयं सुरक्षित दिल्ली पहुँचा दूँगा; किंतु बादशाहको अर्जीतासिंहको जोधपुरन्तरेश सौकर करना चाहिये।”

बादशाहके पास दूसरा उपाय नहीं रहा था। उन्होंने शर्त स्वीकार कर ली। दुर्गादास जितने चाहे, उतने ही नीति-कुशल थे। औरंगजेब-की बात विश्वास करने योग्य नहीं है, यह वे जानते थे। वे अकेली पुत्रोंको लेकर दिल्ली गये; किंतु पुत्रको उन्होंने जोधपुर रहने दिया। बादशाहके लिये वह चेतावनी थी कि ‘यदि तुमने धोखा किया तो तुम्हारा पौत्र हस्ते सरदारोंके हाथमें है।’

उस समय औरंगजेब दिल्लीसे दूर ब्रह्मपुरी-में था। पौत्रोंने पहुँचकर उसके कदमोंमें सिर छुकाया तो प्यारसे उसे पास बैठाकर वह बोला—‘वेटो। तुम सोलह वर्षकी हो गयी। अबतक तुम्हें अपने मजहबका पता नहीं है। काफिरोंके साथ तुम्हें रहना पड़ा। अब कुरान पढ़नेमें मन लगाओ।’

पौत्रोंने कहा—‘बादजान, मैंने को कुरान पढ़ा

है। चाचा दुर्गादासजीने मुझे पढ़ानेके लिये एक मुसलमान औरत लगा दी थी। आप पूछ देखिये, सुझे कुरानकी पूरी आयतें याद हैं।’

‘ओह। हिंदुओंकी बहुत-सी बातें ऐसी हैं कि उनमें उनका सुकायला शायद फरिदते ही कर सकें।’ बादशाह पौत्रोंकी थात छुनकर प्रसन्न हो गया।

‘यह हमारा कर्तव्य था जहाँपनाह।’ यह कहते हुए उसी समय दुर्गादासने आकर प्रणाम किया। वे कह रहे थे—‘हमारा किसी धर्मसे द्वेष नहीं। अपने सामीकी रक्षाके लिये हम तलबार उठाते हैं, किंतु दिल्लीके अन्यायी बादशाहसे हमारी दुश्मनी है, किसी धर्मसे अथवा आपके वच्चोंसे नहीं है।’

बादशाह बोला—‘दुर्गादास! तुम फरिदते हो।’ उसने राठोड़ शूलमाको सम्मानपूर्वक बैठाया। अजीतसिंहको जोधपुर-महाराज मरनेका फरमान लिख दिया। —सु०

(५)

आतिथ्यरूप धर्मका फल

आतिथ्यपुरुके राजा सातवाहन आखेटके लिये घनमें जाकर अपने सैनिकोंसे पृथक् होकर मार्ग भूल गये। घनमें भटकते समय उन्हें एक भीलकी छोपड़ी दीखी। भूखे-प्यासे राजा उस छोपड़ीपर पहुँचे। घनवासी भील राजाको बता पाइचाने; किंतु उसने अतिथिका स्वागत किया। दूसरा कुछ तो उसके पास था नहीं, उसने जल तथा सत्त् विद्युत। वह सत्त् खाकर राजाने भूख मिथ्यायी।

भीलकी छोपड़ी छोटी थी। शीतकालकी रात्रि थी। संयोगवश वर्षों भी प्रारम्भ हो गयी। भील-ने अतिथिको छोपड़ीमें सुलाया और स्वयं बाहर वर्षोंमें भीगता रहा। उसे सद्दों लगी और वह रात्रिमें ही मर गया।

आतिथ्यकाल सैनिक अपने नरेशको ढूँढ़ते पहुँच गये। वहै समानसे भीलकी अन्तिम किया राजाने करायी। भीलकी पत्नीका पता लगाकर उसे बहुत धन दिया। यह सब करके राजा नगर छैट तो आये;

किंतु चिन्तको शान्ति नहीं मिली। उनको यह चिन्ता रात-दिन सताने लगी—‘मेरे कारण उस भीलकी मृत्यु हुई।’



राजा को चिन्तासे दुर्घट होते देखकर महापण्डित ज्योतिर्विद् बरस्ति उनको लेकर नगरसेठी के घर गये। नगरसेठी का नवजात पुत्र राजा के सामने लाया गया तो पण्डितजी के आदेशपर चोल उड़ा—‘राजन्! मैं आपका बहुत कृतश्च हूँ। आपको सर्व देशके कारण मैं यहाँ नगरसेठी का पुत्र बना और उसी पुत्र्यके प्रभावसे मुझे पूर्वजन्मका स्मरण है।’ —सु०

(६)

महाराणा प्रताप और उनकी कल्पना

हिंदुकुल-सूर्य महाराणा प्रतापने चिन्तौद्वाकात्याग कर दिया था और महाराणी, नन्हे राजकुमार तथा राजकुमारीके साथ अपवालीके बनमें शरण ली थी। अकबरकी दासिशाली सेना पीछे पड़ी थी। शुक्रमें, बाल्मीमें, बनमें—कभी कहाँ और कभी कहाँ राजि

ब्यतीत करनी पड़ती थी। बनमें ज कल्प थे और न फल। खाये जा सकें, ऐसे पचे भी नहीं मिलते थे। धासके धीज पथराँपर पीसकर रोटी सेंकती थीं खबं महाराणा और वह भी कई-कई दिनपर मिलती थी। पूर्य परिवार सूखकर कंकाल हो गया था।

इन्हीं चिपत्तिके दिनोंकी बात है। कई दिनोंतक लगातार उपचासके पश्चात् धासके थोड़े धीज पक्ष पड़े। उन्हें पीसकर एक रोटी बनायी जा सकी। महाराणा और महाराणीको उपचास करना ही था। दोनों बच्चोंको आधी-आधी रोटी दी गयी। राजकुमार बहुत अवोध था। उसने अपनी आधी रोटी उस समय खा ली। राजकुमारी भी बच्ची ही थी; किंतु परिस्थिति समझती थी। उसने अपने भागकी रोटी पथरके नीचे दबाकर रख दी। छोटे भाईको फिर भूख लगे तो उसे देना बाबूक था।

बहाँ बनमें भी एक अतिथि महाराणा के पास था गये। शुणने उन्हें पत्ते बिछाकर शिलापर आसन दिया। पैर धोनेको जल दिया। अब वे इधर-उधर देखने लगे। मेवाइके सामीके पास बाज अतिथियों जल पीनेके लिये देनेको ल्वारके दो दाने भी बहाँ थे। लेकिन उनकी पुत्रीने पिता-का भाव समझ लिया। वह अपने भागका रोटीका बह आधा टुकड़ा पत्तेपर रखकर लायी और अतिथियों सामने रखकर बोली—‘हमारे पास आपका सत्कार करने योग्य बाज कुछ नहीं है। आप इसको स्वीकार करें।’

अतिथिने वह रोटी खायी, जल पीया, विदा हो गये। उनके जानेके थोड़ी ही देर पीछे वह बालिका मूर्छित होकर गिर पड़ी। निरन्तर उपचाससे वह छुर्चल हो चुकी थी। वह उसकी अन्तिम मूर्छा थी। वह आधी रोटी उसका जीवन थी, जिसे उसने छोटे भाईको देना चाहा था और अतिथियों अर्पित किया। उसके भ्रातृ-प्रेम पवं आतिथ्य-धर्मको धन्व है। —सु०

(७)

आतिथ्यधर्म कथोत

गोदावरी-उद्धमके समीप एक च्याध आखेटके लिये ल्लागिरिके चत्तोंमें गया था। दिनभरमें उसने

बहुत-से पशु-पक्षी मरे। अनेक पक्षियोंको जीवित पकड़कर पिजड़ेमें उसने बंद किया। आखेटके लोम्भमें उसे बनमें ही देर हो गयी। संचर हो चुकी थी, आकाशमें घटा घिर गयी। इतना अन्धकार हो गया कि बनसे निकल जाना सम्भव नहीं रहा। वहे केगसे बर्पा होने लगी, ओले पहने लगे, बायुका हो तीव्र हो गया। व्याध शीतसे काँपने लगा। उसके बल भी गये थे। सर्दीसे डिनुरला वह एक छने बृशके नीचे पहुँचा। वहाँ उसने रात्रि-विश्राम करना निश्चित किया।

उस बृशपर एक कपोत-कपोतीका तीड़ था। कपोती उस दिन चारा चुगने गयी और शामको लौटी नहीं थी। कपोत बर्पा, ओले आदिके कारण उसे हूँडने नहीं जा सका था। अब अन्धकार होनेपर वह उसके लिये बहुत चिन्तित था। कपोती लौटती कहाँसे, वह व्याधके जालमें पड़ गयी थी और अब उसके पिजड़ेमें बंद थी।

बृशके नीचे पहुँचकर व्याधने जाल और पिजड़ा रख दिया था। पिजड़ेमें बंद कपोतीने बृशपर नीड़में बैठे अपने लिये कपोतको रोते सुना। वह बोली—‘आप सुझसे इतना प्रेम करते हैं, यह जानकर मैं बहुत प्रसन्न हो रही हूँ; किंतु धर्मज! आप मेरी एक प्रार्थना सुनें। यह व्याध आज अचानक हमारा अतिथि हो गया है। सर्दीसे यह काए पा रहा है। आप कहाँसे शृण तथा अग्नि लाकर इसका कष्ट दूर करें।’

कपोतने कपोतीकी घात सुनी। अपनी प्रियाको पिजड़ेमें पढ़ी देखकर उसे दुःख तो बहुत हुआ; किंतु वह धैर्य धारण करके उड़ा। उसने एक-एक करके तिनके लाकर बहाँ गिराये। अपना घोंसला भी उसने गिरा दिया। पिर उड़कर दूर गया और लुहारोंके यहाँ जलती अग्निमें एक जलती पतली ठहनी उठा लाया। उसे उसने तिवकोंमें ढाल दिया। अग्नि प्रज्वलित हो गयी। व्याधने हाथ-पैर सेंके और अपने कपड़े सुखाये। उसका जड़ेका कष्ट दूर हुआ।

कपोती बोली—‘व्याध! तुम मुझे अग्निमें भूनकर अपनी झुधा मिटा लो।’

यह भूनकर कपोतने कहा—‘ऐसा करना उचित नहीं है। तुम तो अब इस व्याधका आहार बन चुकी हो। घर आया अतिथि अपना उपार्जित आहार करें। यह हमारे लिये धर्मजी थात नहीं होगी। इसके आहारकी व्यवस्था मैं करता हूँ।’

यह कहकर कपोत उड़ा। उसने तीन बार अग्निकी परिक्रमा की और उसमें कूद पड़ा। कवृतर-को देसा करते देखकर व्याधको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह अपनेको धिक्कारने लगा। उसने धनुष, जाल आदि फैक दिये तथा पिजड़ा खोलकर सब पक्षियोंको स्वतन्त्र कर दिया। उसके मतमें वैराग्य हो गया।

कपोती स्वतन्त्र हो गयी; किंतु उसने सोचा—‘पतिके बिना मेरा जीवन व्यर्थ है।’ वह भी उसी अग्निमें गिर गयी।

अतिथि-सत्कारके इस महान् पुण्यसे कपोत-कपोती दोनों मरकर भगवान्के धामको गये। ऐसे धर्मात्मा पक्षियोंके सङ्गसे व्याधकी भी हिंसाकृति मिट गयी थी। तप करके वह शुद्ध हो गया और सुख होनेपर वह भी स्वर्गको गया।

—५०

भूम्य कपोत-कपोती दृष्टिः।

रहो अतिथि-सेवाहित जिन कै दावन त्यग-सुरूपा संपति ॥
देख दुखित हिम पीढ़ित व्याधा पिजरे परी कपोती सन्मति ॥
बोली—‘नेकु न करौ दुःख तुम मोहूँ बद देस—मेरे पसि ! ॥
परी पीजरे पूर्व कमंसस, व्याधा नन्दी निमित्त मूँडमति ॥
सीत-कुधा तें च्यथित अतिथि यह परथौ आय दरपै दैवी गति ॥
करौ अतिथि-सेवा याकी अब लखि यह मैं पूर्ण अग-जग-यति ॥
सुखत कपोत चौंच भरि ल्यायौ अगिनि लुहार भवत तें द्रुतगति ॥
पालब राजि जराई अगिनी ताप हैं भई सीतकी निरुति ॥
चिह्नंग महात्मा लखि व्याधा झौँ कुधा व्यथित सुनि भयो दुखित अति
परथौ दुरंत अगिनिमें जलभुन बनन आहार व्याध कौ सुक्रिति ॥
व्याध हुखी हो लोल्यौ पिजरे, डड़ी कपोती पडिप्राना सति ॥
परी तुरंत अगिनि, पति सैंग भद्र भसम, मिली सुरहुलैभ सदगति ॥
आयौ देव-विमान सुसज्जित, चड़े दिव्य भर देख पक्षि-पति ॥

दया-धर्मका स्वरूप

परे वा चन्द्रुवर्गे वा मिश्रे द्वेषे रिपौ सथा ।
आपने रक्षितव्यं हि दैयैषा परिकीर्तिः ॥
(भविस्त्वति ४१)

दूसरोंमें हो, बन्धु-बन्ध्योंमें, मिश्रोंमें या द्वेष रखनेवालोंमें
अथवा चाहे वैरियोंमें हो—किसीको भी विपुलिग्रस्त देखकर
उसकी रक्षा करना 'दया' कहलाता है ।
नहि प्राणे विश्वतमं लोके किञ्चन विद्यते ।
समात् प्राणिदणा कार्या वथाऽऽस्मनि तथा परे ॥
(महाभारत, अनुशासन ० ४५)

संसारमें प्राणोंके समान भियतम दूसरी कोई चस्तु नहीं
है । अतः समस्त प्राणियोंपर दया करनी चाहिये । जैसे अपने
जगर दया अभीष्ट होती है, वैसे ही दूसरोंपर भी होनी
चाहिये ।

असित्रमपि चेद् दीनं शारणैषिणागतम् ।
प्लरने योऽनुगृह्णाति ल वै पुरुषसत्तमः ॥
कृत्वा छृत्विद्याय वृत्तिक्षिणाय सीरते ।
अपहन्यात् शुधां चर्षु न तेन पुरुषः समः ॥
(महाभारत, अनुशासन ० ५९ । १०-११)

शानु भी यदि दीन होकर शरण पानेकी हच्छासे घरपर
आ जाय तो संकटके समय जो उसपर दया करता है वही
मनुष्योंमें श्रेष्ठ है ।

विद्वान् द्वेषेषर भी जिसकी महान् आजीविका क्षीण हो
गयी है तथा जो दीन, दुर्बल और दुखी है, ऐसे मनुष्यकी
जो भूख मिथा देता है, उस पुरुषके समान पुण्यात्मा कोई
नहीं है ।

दया देखती नहीं जाति, कुल, मनुज, पश्चि, पशु, मित्र, असित्र ।
देश, धर्म, निज, पर, वान्धव, धर्म, उच्च, नीच, अनवान, दरिद्र ॥
बुध, जड़, बल, बृद्ध, नारी, नर, मेद-भाव विरहित सर्वत्र ।
अपना दुःख बना देती पर-दुःख, जगती माद पवित्र ॥
जग जाता फिर मानव उस निज-दुःख मिथानेमें तरकार ।
करता पूर्ण प्रथल, शक्तिभर, स्त्रामात्रिक, न जगता गाल ॥
खड़ा निरमिमान वह, प्रसुकी इसे मानता कृपा विदार ।
अपना दुःख मिथाकर, अपने ही हो जाता परम निहाल ॥

ममता ही मृत्यु है

द्वयक्षरस्तु भवेन्द्रच्छुद्यक्षरं धत्ता शाश्वतम् । ममेति च भवेन्द्रच्छुने ममेति च शाश्वतम् ॥
लक्ष्मा हि पृथ्वीं कृत्वा सहस्रावरजग्नमास् । ममत्वं यस्य नैव सात् किं तथा स करिष्यति ॥
अथवा वसतेः पायै धने वन्येन जीवतः । ममता यस्य द्वच्येषु मृत्योरास्ये स धर्तते ॥

(महाभारत आद ० १३ । ६, ६-७)

'मम' (मेरा)—ये दो अक्षर ही मृत्युरूप हैं और 'न मम' (मेरा न)—इन दीन धक्षयोंका पद सनातन
ब्रह्मकी प्राप्तिका कारण है । 'ममता' मृत्यु है और 'ममता न होना' सनातन अमृतत्व है ।

चराचर प्राणियोंसदित्, सारी पृथ्वीको पाकर भी जिसकी उसमें ममता नहीं होती, वह उसको लेकर क्या करेगा ?
(उसका उस सम्पत्तिसे कोई अनिष्ट नहीं हो सकता) किन्तु हे कुल्लीनन्दन ! जो धनमें रहकर लंगली फलमूलोंसे ही जीवन
निर्वाह करता है; पर यदि उसकी भी द्रव्योंमें ममता है तो वह मृत्युके मुखमें ही विद्यमान है ।

—३३४—

दया-धर्मके आदर्श

(१)

दयामूर्ति परोपकारी राजा*

एक पुण्यतमा राजाको किसी कारणसे देवदूत नरकके मर्मसे ले जाने लगे तो राजाके शरीरको छूकर आये हुए बायुके स्पर्शसे नरकोंकी भयानक अन्तर्णाला भोगते हुए दीन-दुखी आर्त प्राणियोंकी ब्रथा दूर होने लगी और उन्होंने पुकार-पुकारकर राजासे ठहर जानेको कहा । तब राजा वहीं ठहर गये और देवदूतोंसे बोले—‘भार्त ! मेरे शरीरको स्पर्श करनेवाले बायुसे यदि इन प्राणियोंको सुख पहुँचा हो तो मुझे वहीं ले चलो जहाँ ये आर्त प्राणी हैं । संसारमें वे ही सुखती पुरुष हैं जो परहितके लिये पीड़ित रहते हैं । वे ही संत हैं जो दूसरोंके कुख दूर करते हैं और दुखीजनोंके पीड़ि-विनाशके लिये अपने प्राणोंको तृणके समान समझते हैं । ऐसे परहित-निरत संतोंसे ही इस पृथ्वीका धरण हो रहा है, केवल अपने मनका सुख तो नरकके समान है । इस संसारमें आर्त प्राणियोंका दुःख-नाश किये बिना यदि सुखकी प्राप्ति होती हो तो उसकी अपेक्षा मर जाना—नरकमें गिरना अच्छा है । जिसका मन संकटमें पड़े हुए प्राणियोंकी रक्षा करनेमें नहीं लगता—उसके बहु, दान और तप इहलोक तथा परलोकमें भी कल्याणके साधक नहीं होते ।’

इसपर देवदूतोंने कहा—‘महाराज ! आप वडे पुण्यतमा हैं । अभी आपको लेनेके लिये खर्च धर्मराज और इन्द्र आ रहे हैं, आप इनके साथ चले चलिये ।’

धर्मराजने आकर कहा—‘राजन् । अब आप इस विमानपर शीघ्र चलिये ।’ राजा बोले—‘यहाँ नरकमें हजारों प्राणी कष्ट भोग रहे हैं और मुझे लक्ष्य करके आर्तभावसे चाहि-चाहि पुकार रहे हैं, इन्हें छोड़कर मैं नहीं जाऊँगा । आप मुहमें यदि वहुत पुण्य मानते हैं तो मेरा जो कुछ पुण्य है,

उसके द्वारा ये यातनामें पड़े हुए सब पातकी प्राणी नरकसे छुटकारा पा जायें—

तस्माद् यत् चुक्तं किञ्चिन्मासिति विदशायिप ।

तेन मुष्यन्तु नरकात् पपिनो यातनां गताः ॥

(मार्कण्डेयपुराण १५ । ७६)

इन्द्रने कहा—‘राजन् । आपके इस पुण्यदान-रूप उदार कर्मसे आपका पुण्य और बढ़ गया तथा आपने और भी उँचा स्थान प्राप्त कर लिया । देखो, ये पापी जीव नरकसे मुक्त हो गये ।’

इसी समय राजापर पुण्यवृष्टि होने लगी और सर्व भगवान् विष्णु उन्हें विमानमें वैदाकर दिव्य-धाममें ले गये—विमानं चाधिरोप्यैनं सलोक-मनयद्विरिः ।’

और जितने भी पापी जीव थे, वे सब नरक-अन्तर्णालसे छुटकार छले गये ।

न दयासद्वशो धर्मो न दयासद्वर्ता तपः ।

न दयासद्वर्ता दानं न दयासद्वर्ता सदा ॥

दुःखितानां हि भूतानां दुःखोद्वर्ता हि यो नरः ।

स एव सुहृतिलोके द्वेषो नारायणाशङः ॥

न स्वर्गे नापर्गेऽपि तत्सुखं लभते नरः ।

यदार्तजन्तुनिर्विद्वानोत्पमिति नो मतिः ॥

(पद्मपुराण, पाताललङ्घ १८ । १५, १७, २३)

दयाके समान न धर्म है, न दयाके समान शप है, न दयाके समान दून है और न दयाके समान कोई सखा है । जो मनुष्य दुखी जीवोंका उद्धार करता है, वही संसारमें सुखती—पुण्यतमा है, उसको नारायणके अंशसे उत्पन्न समझना चाहिये । हम लोगोंकी पेसी धरणा है कि मनुष्य आर्त प्राणियोंके दुःख दूर करनेपर वह सुख प्राप्त करता है, जिसके सामने खर्च तथा मोहसम्बलथी सुख भी कुछ नहीं है ।

(२)

दया-धर्मकी मूर्ति महामना मालवीयजी

सर्वाय महामना पण्डित मदनमोहनजी मालवीय

* पद्मपुराण, पाताललङ्घ तथा मार्कण्डेयपुराण—दोनोंमें ही मिलती-जुलती कथा आती है ।

बदलसे ही इवालुमाकी मूर्ति थे। एक बार प्रयगमें उनके उहलेके एक कुत्तेके कानके पास दाव हो गया। पीड़ा तथा सम्भिर्योंके तंग करने से हुत्ता इधरसे उधर भगता फिरता था। उसके द्वासे दुर्बिध आती थी। अतः वह कहीं बैठने जाता तो लोग उसे भगत देते थे।

मालवीयजीकी दृष्टि कुरुपर पहुँची। उन्होंने अपना कान छोड़ा और भगते जैशयद्वय गये। बैद्यतोंके द्वारा ऐकर चेतावनी ही—‘अह! ऐसे कुत्ते शायः पागल हो जाते हैं। पास जानेपर काट लेते हैं। तुम यह स्वरूप भव उड़ाओ।’



वहाँ ऐसी चलनीपर कैले द्यात देने चला था। मालवीयजीने एक चौतांदे कपड़ा लेपेंदः उसने द्वारा लगायी और कुत्तेको हँड़ेले दग्धे। हुत्ता एक गलीमें दैड़ा था। मालवीयजी द्वारा लगाने लगे तो वह गुरुआया। उसने दाँत दिखाये, काटने-झपटनेका भी दंग किया। किन्तु मालवीयजी भली प्रकार द्वारा लगाये दिया हटानेवाले नहीं थे। अपेक्ष तभी जानेपर कुत्तेकी पीड़ा कम हुई। वह शान्त दैड़ा गया। उद सालवीयजोका चित्त शान्त हुआ।

—४०६—

(३)

राजा भोजके राजकीय

उसमें दिन थे: प्रदद्युष सूर्य अद्वितीय कर रहा था। पृथ्वी तबेके समान उल रही थी। राजा भोजके राजकीय ऐसी दैपदरीमें किसी वावद्यक कार्यसे पैदल ही निकल पड़े थे। धारा नगरीके राजपथपर धरकी ओर ढौड़ते समय उन्होंने एक हुत्तल व्यक्तिको लहसुनाकर चढ़ते देखा। उसके पैरोंमें छाले पहुँचे थे। उन्होंने ऐसे चढ़ाने की वजह से उन्हें दूर कर दिया। वास्त्रार हैडनेका प्रयत्न कर रहा था।

कोनलहृषि कविसे वह देखा नहीं गया। वे उसके समीप नदे और अपने पैरोंका चूता उन्होंने उसे देखे दिया। राजकीयका सुकुमार शरीर चौमल चरणः किन्तु अपने कष्टका उन्हें व्याप ही नहीं आया।

उधरसे सहायता चाहके हाथीको ला रहा था। महाकविको उसने देखा तो हाथीपर चढ़ा लिया। संयोगसे राजा भोज भी रथपर बैठे मार्गमें मिल गये। उन्होंने हँसीमें पूछा—‘आपको वह हाथी कैसे मिल गया?’ कविने उत्तर दिया—

उदामहं नव दर्चं दीर्घं कर्मनिवर्जितम्।
करुणेन वन्दनदो द दर्चं वै हि दद्यन्तम्॥

“राजम् ! मैंने अपना पुराना फटा चूता दून कर दिया। उस पुष्पसे हाथीपर बैठा हूँ। जो धन दान वहीं किया गया; उसे व्यर्थ समझो।”

राजाने वह हाथी उन्हें दें दिया।

—४०७—

नोग महादेव

श्रीचिमुकुण्ड परमहंसके अनुगतोंमें श्रीदुर्गावरण चागका नाम ‘नाग नहाशय’ प्रसिद्ध है। उनका सेवा-भाव बहुत था। एक बार उन्होंने एक गरीबको भपती शोपड़ीमें भूमिपर सोते देखा। अपने घर

जाकर विछौला उठा लाये और उसपर उसे सुलाया।

एक धार शीतकालमें एक रोगी ढंडसे सिकुड़ा दीख गया। नाम महाशयने अपनी उनी चढ़र उसपर डाल दी। स्वयं रातभर उसके पास बैठे उसकी सेवा करते रहे।

कलकरेमें प्लेग पड़ा तो निर्धनोंकी झोपड़ियोंमें आकर उनकी सेवा करनेवाले केवल नाम महाशय थे। एक झोपड़ीमें पहुँचे तो एक मरणासन्न रोगी गड़ाकिनारे पहुँचानेके लिये दे रहा था। नाम महाशयने अकेले उसे कंधेपर उठाया और गड़ा-तटपर ले गये। अबतक उसका दाहिर हूठ नहीं गया, उसे गोदमें लिये बैठे रहे। प्लेग हूठका जानेपर उसका संस्कार करके तब लौटे। प्लेग हूठका दोग है; किंतु अपने प्राणोंका मोह नाम महाशयकी सेवामें कभी बाधक नहीं था।

एक दिन घरपर एक अतिथि आ गये। जाड़ेके दिन थे और जोरोंसे वर्षा हो रही थी। घरमें चार कमरे थे, जिनमें तीन इतने छूते थे कि बैठनेका भी स्थान नहीं था। एक कोठरी सुखी थी। रात्रिमें अतिथिको उसमें शयन करा दिया। खर्ब पत्नीसे खोले—आज अपने बड़े सौभाग्यका दिन है। भगवान्‌का स्वरण करनेमें आजकी रात्रि व्यतीत की जाय।

पूरी रात पति-पत्नीने बैठकर भजन करते चिता दी।

नाम महाशयके गाँवमें घरका छप्पर छाका जा रहा था। मजदूर ऊपर काम कर रहे थे। गरमीके दिन थे। दुपहरका समय था। नाम महाशयने मजदूरोंको धूपमें जलते देखा, उनसे रहा नहीं गया। वे छाता लेकर ऊपर पहुँचे और उन मजदूरोंपर छाता तानकर खड़े हो गये। मजदूर येचारे खड़े



संकोचमें पड़कर बार-बार मना करने लगे, पर वे मने ही नहीं। दया जो उमड़ पड़ी थी।

(५)

अब्राहम लिंकन

श्रीअब्राहम लिंकन उस समय अमेरिकाके प्रेसिडेंट चुने जा चुके थे। वे एक दिन अपनी मोटर खर्ब चलाते हुए राज्य-सभाके अधिवेशनमें सम्मिलित होने आ रहे थे। रास्तेमें एक सूखर एक कीचड़ीभरे गहरमें फँसा दीखा। वह कीचड़ीसे निकलना चाहता था; किंतु दलदलमें फँसता जा रहा था। लिंकनने गाड़ी रोक दी और कीचड़ीमें उतर गये। सुअरको निकालकर ही वे गाढ़ीमें बैठे।

राज्य-सभाकी बैठकका समय हो चुका था। प्रेसिडेंट उन कीचड़ीसे लथपथ बछोंमें ही पहुँचे। उनकी इस वशाका कारण जानकर जब लोग उनकी प्रशंसना करने लगे तो बोले—‘इसमें प्रशंसनाकी क्या बात है? कीचड़ीमें फँसे सुअरको बेखफर मुझे जो दुख हुआ, उसे दूर करनेको मैंने यह किया। भलाई तो मैंने अपनी की; क्योंकि उसे बाहर निकालते ही मेरा दुख दूर हो गया।’

प्राणिमात्रके दुखमें दुखी होकर, उनको दुखसे छुटनेकी बात करनकी जो अन्तःप्रेणा है, उसीका नाम दया है।

मानवका परम धर्म—परोपकार

(लेखक—श्रीभगवन्नद्वी नाहदा)

जगत्‌में अनन्त माणी हैं, उनमें मानव ही सबसे छोछ है। महर्यि व्यासने भी यही कहा है कि मनुष्यसे बदलकर और कोई प्राणी नहीं है। धर्म और अधर्म, पाप और पुण्यके सम्बन्धमें जिसना विचार मनुष्यने किया है, उतना देवोंने भी नहीं किया है। पशु-पक्षियोंका जीवन प्राकृतिक-सा है, उनमें मानव-जैसी कोई विशेषता नहीं होती। देवोंका जीवन विलासमय है, उन्हें भी आत्मचिन्तनका अवसर नहीं मिलता। नरकमें रहनेवाले नारकी तो प्रतिसंमय दुःखसे व्याप रहते हैं। उन्हें धर्मार्थनका अवकाश ही नहीं है। केवल भनुष्य ही ऐसा वच जाता है जो धर्म और अधर्मके सम्बन्धमें गम्भीरतासे विचार करता है और पापको छोड़कर एवं पुण्य तथा धर्मको अपनाकर परमात्मा तक बन सकता है।

भारतीय धर्म एवं संस्कृतिके महान् उन्नायकोंमें महर्यि व्यासका नाम सर्वव प्रसिद्ध है। पाप और पुण्यकी जैसी दंडित और तल-स्पर्शी व्याहरण उन्होंने एक इलोकमें की है, वैसी अन्यत्र कहीं नहीं मिलती। वे कहते हैं—

अद्यदशपुराणेषु ल्यासस्य वचनहस्यम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परीक्षनम् ॥

पाप और पुण्यकी ऐसी संवित और सुगम परिमाण अन्य कोई नहीं मिलेगी। दो दृक् वात कह दी गयी है कि पुण्य चाहते हो तो परोपकार करो और परपीड़न करोगे तो पापका फल भोगनेके लिये तैयार हो जाओ।

सभी व्यक्ति चाहते हैं कि उन्हें सब तरहका सुख मिले। धन, कुटुम्ब, नीरोग शरीर, दीर्घियु आदि सुख पुण्यसे ही प्राप्त होते हैं। पापका परिणाम कष्टदायक है। इत्तिये पाप करनेवाले व्यक्ति भी पापोंके परिणामसे बचनेकी चेतने हैं पर यह मानी हुई वात है कि 'जैसा करोगे, वैसा भरोगे'। जैसा वीज लोया जायगा, उसका फल भी वैसा ही मिलेगा। आक और धूरेको बोकर कोई व्यक्ति आमके फल और शुलावके फूल प्राप्त करना चाहेगा तो उसे मिल नहीं सकते। इसीलिये 'महाभास्त'में कहा है कि यह बड़े आश्वर्यकी वात है कि लोग पापोंके परिणामसे बचना चाहते हैं पर पाप-प्रवृत्तियोंको छोड़नेके लिये तैयार नहीं होते। पुण्यके परिणामस्वरूप तुल्यको सभी चाहते हैं पर

परोपकार आदि पुण्य-कार्योंमें प्रवृत्त नहीं होते। चाहते कुछ और हैं और प्रवृत्ति करते हैं उसके विपरीत। वही महान् आश्र्य है।

परोपकार चाहदृष्टिके दूसरोंके उपकारको कहा जाता है; पर वास्तवमें तो उससे अपना ही उपकार अधिक होता है; क्योंकि परोपकारसे पुण्यकी प्राप्ति होती है और पुण्यसे सभी प्रकारके सुख मिलते हैं। जिसका उपकार किया जाता है उसे तो शोडा और ताकालिक अराम मिलता है पर करनेवालोंको तो बहुत अधिक और लम्हे कालतक सुख मिलता रहता है।

पाप क्या है और पुण्य क्या है। मनुष्यके अच्छे और दुरे किये हुए काम ही तो हैं। अच्छेका कल अच्छा और धूरेका कल धूर्य मिलेगा ही। इसमें दो भत नहीं हो सकते। अब प्रदन यही है कि कीन-से काम अच्छे हैं और कीन-से दुरे हैं। इसकी व्याख्या ध्यासजीने कर ही दी है कि धूरेको कष्ट पहुँचाना पाप है। कष्ट अनेक प्रकारसे पहुँचाया जा सकता है। इसलिये किन-किन कार्योंद्वारा शोडा या अधिक कष्ट दूसरोंको मिलता है—इतनर ध्यान देना होगा। जैन-धर्ममें मन, वचन, कायाद्वाय करने, करने और अनुमोदन करने—इस प्रकार नन्दिभक्ती प्रवृत्तियोंसे पाप और पुण्यका वन्ध होता है—वत्सलया गया है।

जैन धर्ममें १८ प्रकारके पाप-स्थानक बतलाये गये हैं।
(१) हिंसा, (२) क्षुद्र, (३) चोरी, (४) मैथुन, (५) परियह, (६) कोध, (७) मान, (८) माथा, (९) लोभ, (१०) राग, (११) द्वेष, (१२) कलह, (१३) अभ्याल्बास (धूड़ा कलह देना), (१४) पैदृन्य (दुग्धी करना), (१५) रति-अरति (अच्छे और धूरेकी भावना राग और धूआ), (१६) परिवाद (मिन्दा), (१७) माया-मृष्णावाद (कपर्द्यूर्वक धूड़ चौलना—धूड़को छिपानेका प्रयत्न) और (१८) मिथ्यात्य दत्य (चरु जिस रूपमें है उससे अन्यथा समझना भिड़ा मानवता)। इन सब पापोंमें इम कीन-सा पाप, किस समय कर दर्दे हैं, इसका ध्यान रखना आवश्यक है। मन, वचन और शरीरद्वारा कोई भी पाप-प्रवृत्ति हो रही हो तो उसे रोकना चाहिये।

आज नहीं तो कल, हर भव्यमें नहीं तो अगले जन्ममें पापका परिणाम—दुःख भोगना ही पड़ेगा, यह न भूलें।

पुण्य किसी भी प्राणीको दुःख और कष्टसे बचाने, उसकी सुख-सुविधाका उपाय करनेसे हीता है। जिस व्यक्तिको जिस तरहकी सहायताकी आवश्यकता हो उसे अन्न, पानी, बल, स्थान, औपध आदि देना, सत्त्विक्षा, सत्त्वरामर्दी देकर उसे उन्नत बनाना—ये सब पुण्यके कारण हैं। जितनी भी शुभ प्रवृत्तियाँ हैं—पुण्य हैं और अशुभ प्रवृत्तियाँ पाप हैं। हम शुभमें प्रवृत्त हों और अशुभमें बचें, वही व्यास-बचनका सारांश है।

परोपकार, इस विश्वकी व्यवस्था ठीकसे चले इसके लिये भी बहुत आवश्यक है; क्योंकि प्राणियोंका जीवन एक दूसरेके सहयोगपर ही आधित है। यदि याता अपने पुनर्भवा पालन न करे, तो बच्चेकी क्या स्थित हो ! हम जब दूसरोंका सहयोग या उपकार पाते ही रहते हैं तो दूसरोंका उपकार करना भी हमारा कर्तव्य हो जाता है। वैसे प्रकृति और पशु-वशी आदि प्राणियोंका भी हमपर बहुत कुछ उपकार हो रहा है। इसीलिये कहा गया है कि इस शरीरका धारण अपने पोषण एवं संरक्षण तक ही सीमित न रखकर दूसरोंके लिये भी यह कुछ काममें आये, इसका लक्ष्य रहना चाहिये। किसी कविने कहा है—

निर्मुणस्य शरीरस्य प्रतिकृणविनाशिनः ।

गुणोऽस्ति छुमदानेकः परोपकरणभिन्नः ॥

अर्थात् यह शरीर तो प्रतिकृण नाश हो रहा है और जीवात्मा निकल जानेके बाद इस शरीरको जला दिया जायगा। अतः यह गुणरहित है। इससे जो भी कुछ दूसरोंकी भलाई हो जाय, वही अच्छा है। इस शरीरसे परोपकारद्वारा महान् गुण प्राप्त कर लेना ही शरीरधारण करनेकी सार्थकता है।

किसी राजस्थानी कविने भी कहा है—

सरदर तरबर संत जन, चोयो घरसण मेह ।
परोपकार के कारण, इण चामै छारी देह ॥

शरीरकी तरह अपनी दुष्कृति आदि अन्य शक्तियोंका उपयोग भी दूसरोंके सुख और उत्थानमें होना चाहिये। अपने लिये तो सभी जीते हैं पर जो दूसरोंके लिये जीता है उसका जीवन सार्थक है। कहा भी है—

शात्मार्थं जीवलोकेऽस्मिन् को न जीवति मानवः ।
परं परोपकारार्थं यो जीवति स जीवति ॥

लत्-पुरुष वही है जो यिना किसी सार्थके सदा परहितमें लगे रहते हैं। एक संस्कृत श्लोकमें कहा गया है कि सर्वं किसकी आज्ञासे प्रजाका अन्वकार दूर कर रहा है ? वृक्ष पश्चिमोंको खेड़ी छाया दे रहे हैं ? मेघों वर्षी करनेकी किसने प्रार्थना की ? अर्थात् लवमासे ही इनके द्वाया परोपकार हो रहा है। इसी तरह सत्-पुरुष भी अपनी आत्म-प्रेरणा या स्वभावसे ही दूसरोंके हितमें लगे रहते हैं। उनमें बदि यह गुण न हो तो अन्य जनोंसे उनकी विशेषता ही क्या—

कस्यादेशात् धृपत्यति तसः सप्तसिः प्रजानां
छायाहेतोः पथि विदपिनामङ्गलिः केन चद्धः ।
ज्ञायन्तेन नवजलसुचः केन या वृद्धिहेतो-
जीत्यैवते परहितविधौ साधवो चद्धक्षाः ॥

नदियाँ स्वयं पानी नहीं पीतीं, वृक्ष स्वयं फल नहीं खाते,

मेव अन्न नहीं उत्तेः दूसरोंके लिये ही इनका जीवन जैते ।
इसी तरह सत्-पुरुषोंकी सम्पत्ति परोपकारके लिये ही होती है। वृक्ष परोपकारके लिये ही फलते हैं, नदियों परोपकारके लिये वहती हैं, गायें परोपकारके लिये ही दूध देती हैं। यह शरीर परोपकारके लिये ही है।

पिवन्ति चद्धः स्वयमेव तासः

स्वर्यं न खाद्यन्ति फलानि वृक्षाः ।

शाद्यन्ति सर्वं च च धारिवाहाः

परोपकारार्थ सत्तो विनृताथः ॥

परोपकारार्थ फलन्ति वृक्षाः

परोपकारार्थ वहन्ति चद्धः ।

परोपकारार्थ दुहन्ति गावः

परोपकारार्थमिदं शरीरम् ॥

शालोंमें कहा है परोपकाररहित मनुष्योंका जीवन चिक्कारका पात्र है; क्योंकि पशु कहलानेवाले प्राणियोंका भी चमड़ी मनुष्यका उपकार करता है—

परोपकारशूल्यस्य धिङ् मनुष्यस्य जीवितम् ।

यावन्तः पशवस्तेषां चर्माष्पुष्करिष्यति ॥

अर्थात् परोपकार न करनेवाले मनुष्योंका जीवन पशुओंसे भी गाया-चीता है। अन्यत्र कहा गया है कि परोपकारसे जो शुण उत्थान होता है वह सैकड़ों यज्ञोंसे भी उत्थान नहीं होता—

परोपकारः कर्तव्यः प्राप्तैरपि धनैरपि ।
परोपकारं पुण्यं त सात् क्लृप्तासैरपि ॥

जिनके हृदयमें उदा परोपकारकी भावना जाग्रत् रहती है, उसकी आपदाएँ नाश हो जाती हैं और उन्हें पग-पगापर सम्पत्ति मिलती रहती है—

परोपकारणं चैषां जागर्ति हृदये सताम् ।
नश्चन्ति विपद्वल्पेषां सम्बवः सुः पदे पदे ॥

क्षेमेन्द्र कविने तो यहाँतक कहा है कि सब गुणोंसे परोपकार महान् पुण्य है और उसके जैसा पुण्यका कोई भी कार्य दिखायी नहीं देता—

शोलं शोलपतां तुकं कल्पतां सदावधम्यस्ततां
व्यवत्तं वन्यतां गुणं गणयतां धर्मं धिवं व्यक्तताम् ।
शान्तिं चिन्तयतां तमः शमयतां सत्वशुति शृण्वतां
संसारे न परोपकारसद्वं पश्यामि पुण्यं सताम् ॥

जैसा कि पहले कहा गया है वास्तवमें परोपकार करने पर उपकार तो स्वयंका ही होता है; क्योंकि दुःख और सुख जैसा हम दूसरोंके देते हैं, वैसा ही सुख-दुःख उसीके परिणामस्वरूप इसे भी प्राप्त होता है। रक्षसमृतमें यही बात कही गयी है—

सुखं वा ददि वा दुःखं यत्किञ्चिद् कियते परे ।
यकृतं च भुनः पश्यात् सर्वभास्मि तद्वेच ॥

तुष्टी-रामायणमें भी कहा गया है कि परहितके समान कोई धर्म नहीं है। परोपकारके सम्बन्धमें कुछ अन्य अनुभवी सत्पुरुषोंके वचन नीचे उद्धृत किये जा रहे हैं—

अगर दूः किसी एक आदमीकी भी तकलीफको दूर करे तो यह ज्यादा अच्छा काम है क्याय इसके कि दूःखजको जाय और यस्तेकी हर मंजिलपर एक-एक हजार रक्षात नम्रता पढ़ता जाय। —साही

मैंने अगर जीवन और प्रेमको वास्तविक पाया और यह कि मनुष्य निरन्तर सुखी बना रहना चाहता है तो उसे परोपकारके लिये ही जीवित रहना चाहिये। —रवीन्द्रनाथ

किसी वचेको खतोंसे बचा लेनेपर हमें कितना आनन्द

आता है। परोपकार हसी अनिर्वचनीय आनन्द-प्राप्तिके लिये किया जाता है।

परोपकार करनेकी एक खुशीसे हुवियाकी सारी खुशियाँ होती हैं। —हरवर्ट

परोपकारी लोग हमें आ प्रसन्ननिधि सहते हैं।

—फ्रांस टेलर

बहु वृथा नहीं जीता जो अपना धन, अपना तेज, अपना मन, अपना वचन दूसरोंकी भलाईमें लगाता है।

—हिंदू-सिद्धान्त

संस लोग परोपकार करते वक्त प्रत्युपकारकी आशा नहीं रखते।

परोपकारी अपने कष्टों नहीं देखता; क्योंकि वह पर-दुःखजनित कर्त्ता से ओतप्रोत होता है। —तुकाराम

अगर आदमी परोपकारी नहीं है तो उसमें और दीवार-पर लिखे हुए चित्रमें क्या कर्क है? —सादी

अपने हितके लिये दूसरोंका हित करना जरूरी है। —श्रीकृष्णचैतन्य

आज परोपकारकी भावना छुस-सी होती जा रही है। लोगोंने अपने स्वार्थको हतनी प्रधानता दे दी है कि दूसरोंके तुकसानकी बात वै सोचते ही नहीं। यह स्थिति धर्म और अध्यात्मप्रधान भास्तके लिये बहुत ही शोचनीय और लज्जाजनक है। इसलिये परोपकारकी भावनाको पुनः जीवित-जाग्रत् करना अत्यन्त आवश्यक है।

तक्षेपमें कहा जाय तो परोपकार मानवका धर्म है। ध्यान रहे किसीका उपकार करके हमें अभिमान न आये तथा प्रतिफलकी इच्छा नहीं रहे।

प्रेम और करुणाका जो सोत अभी चंद व्यक्तियोंतक सीमित है, उसका दायरा बढ़ते चले जायें। जिन्हें व्यक्ति अपना मान लेता है—उन कुदुम्प-परिवारवालोंका यह जितना ध्यान रखता है, उसना अन्योंका भी रखने लगे तो संसारके दुःख-दर्द-अशानितमें बहुत कमी हो जाय। आत्मीयताका विस्तार करते हुए वसुदेव कुदुम्पकम् तक पहुँचा जाय। सेवा-कार्योंश बढ़ते चले जायें—यही गणव-जन्मकी सफलता है।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई

(लेखक—नीमुरेनद्रकुमारजी 'शिष्य' पृष्ठ० ५०, एम० ५०, एम० ५०, साहित्यरत्न)

एक क्षणके लिये महाये दधीचि स्वव्व रह गये, देवोंने उनके समक्ष चिकट भाँग जो पेश की थी। भला अवतक निर्णये कभी अपनी अस्थियोंका दान भी किया है। अस्थिदानकी कल्पना ही मानवकी नसनसको कैंपा देनेवाली है। अपनी अस्थियाँ भी भला रुपये, पैसे, बल, अब्र, हाथी, घोड़े, गौ-सहन बख्त हैं क्या? जिन्हें कोई दानवीर हाथ ऊँचा करके याचको उर्ध्व दान कर दे! यह तो साक्षात् मृत्युका आवाहन है। मौतकी कल्पनामात्र ही कौन जीवधारी भयभीत नहीं हो जाता?

दूसरे ही क्षण एक उदाच भावनासे महार्पिका हृदय देवीप्यमान हो रहा था। मेरी अस्थियोंसे देवोंकी सुरक्षा सम्पन्न हो, इससे चढ़कर मी इन अस्थियोंका कोई उपशोग हो सकता है नभा! सामान्यरूपसे भलेपर जिन अस्थियोंको कोई छूना भी पर्यंत न करेगा; वही वृणित अस्थियों देवराजके करकमलमें सदा सुशोभित रहेंगी। मेरी इन अस्थियोंसे देवकल्प्याण होता रहेगा। मैं मरकर भी देवसमाजका हित-साधन कर सकूँगा। मैं जीवित म रहूँगा, न सही, पर मेरी अस्थियाँ तो समाजमें सुव्वव्वस्थाकी स्थापनामें सहायक होती रहेंगी। स्वर्य-साधन न सही, परमार्थ-साधन तो होगा। अस्तु, भले ही मौत जन-जनको भयभीत करनेवाली हो, पर मैं तो परोपकारके लिये मृत्युका वरण करनेको सहर्ष प्रस्तुत हूँ।

यह उदाच भावना कौन-सी थी, जिसने दधीचिके हृदय से प्राणोंका सोह बूर किया? जिसने उन्हें प्राणोंका बलिदान करनेकी प्रेरणा दी? जिसने उन्हें सामान्य सानवकी कोटिसे उठाकर महामानवके उचालनपर सुशोभित कर दिया? जिसने उन्हें त्वार्थकी संकीर्ण परिधिसे निकालकर परमार्थकी ओर अग्रसर किया? सभा यही धर्मका कास्तायिक स्वरूप है? क्या यही मानवमात्रका परम धर्म है? क्या यह भावना आज दिनप्रमित चित्तको कोई दिव्य संदेश सुना सकती है? प्रश्न विचारणीय है। इसके निराकरण-द्वेषु हमें धर्मके शुद्ध स्वरूप को समझना होगा।

चैसे तो धर्मकी गति गहन है। विविध भर्त, सम्प्रदाय, पंथादिके सम्मेलनमें सर्वमान्य धार्मिक सिद्धान्तका निरूपण हुरुह हो जाता है। अवश्य ही सभी धर्मोंका चरम लक्ष्य एक

ही है। किंतु जहाँ उस लक्ष्यतक पहुँचनेवाले मार्गोंका प्रकल्प आता है, वहाँ हस्तनी विभिन्नता देखी जाती है कि सामान्य नागरिक धार्मिक वित्तपावादोंकी भूलभुलैवामें दिनप्रमित हो जाता है।

इस दबामें इस वैशानिक युगमें एक सर्वमान्य धार्मिक सिद्धान्तकी आवश्यकता ज्वलत्त प्रश्न बनकर संखी होती है, जो न केवल सभी धर्म, सम्प्रदाय, मत-मतान्तरके अनुशासियोंको निर्विरोध स्पष्ट साच्च हो, वर याथ ही वैशानिक कसौटीपर भी स्वरा उत्तरेसे विचारशील व्यक्तियोंको तकसङ्गत प्रतीत हो एवं युगानुरूप जीवनदर्शनके अनुकूल हो।

एक सामान्य कसौटी, जिसपर सब लोग सहमत हो सकें, सम्भवतः यह हो सकती है कि हमें मानव-कल्याण करना है। सभी लोग अपने-अपने तरीकेमें मानव-कल्याणके लिये संचेष्ट भी हैं। कहा जा सकता है कि सभी मत-मतान्तर किसी-न-किसी रूपमें मानव-कल्याणके लिये ही ग्रस्तत्त्वील हैं। केवल मानव-कल्याण ही नहीं, अपने उदाररूपमें उनके लक्ष्यका विस्तार जीवमात्रकी कल्याण-कामनापर आधारित रहता है।

महार्पि दधीचि हस्ती प्राणिमात्रके कल्याणकी मावनासे ही तो अनुश्रापित हुए थे। इसी दिव्य भावनाके लिये ही तो उन्होंने अपने 'स्व' का बलिदान विराटके लिये किया था। इस उल्कुष भावनाकी संज्ञा है परोपकार। प्राणिमात्रके हितकी कामना, मन, वाणी, शरीरसे वथाशक्ति दूसरे जीवोंकी सेवा-सहायता करना, किसीका अहित-चिन्तन न करना एवं भन, वचन-कर्मसे किसीको पीड़ा न पहुँचाना आदि कार्योंको परोपकार शब्दसे व्यक्त किया जाता है। दूसरे शब्दोंमें विश्व-कल्याणमें रत होनेका पर्यायवाची शब्द ही परोपकार है।

वस्तुतः परोपकार व्यापक शब्द है। सेवा, त्याग, ग्रेम, सहदृप्ता, कष्टसहिण्यता आदि इसके अङ्ग हैं। इन सम्पूर्ण गुणोंके समवायकी संशा ही परोपकार है। शुद्धरूपमें ईश्वर-प्रेमकी अभिव्यक्ति भी परोपकारद्वारा ही होती है। जगत्के प्राणिमात्रमें ईश्वरके दर्शन करके उनकी सेवामें तत्पर होनेको ही तो भगवान् रामने अपनी अनन्य भक्तिकी संशा ची है।

सो अनन्य जाके असि महि न टरइ हमुरंत।

मैं सेवक सचराचर रूप समि भगवंत॥

श्रुति पिरचल्लुर मी जहते हैं—इन्द्रशस्त्रज्ञिका अर्थ है—प्राणिमात्रके प्रति प्रेमभावनेका शब्दल्लम् । यद्य आत्माओंमें समये हुए इन्द्रसे प्रेम करनेका एकमात्र मात्रम् दर्शी हो सकता है कि प्राणिमात्रके दुर्भजको कूद करते और उन्हें दुर्भी बतानेन्द्रे लिये अपनेसे लो कुछ ही सके उनको अधिकारिक उत्तराके लाभ करते रहा जाय ।

ईन्द्रस्त्रज्ञिकी यह परिभाषा इतनी तर्कवद्वात् एवं चर्वनाम्य प्रतीत होती है कि न केवल विविध धर्मानुयायी आवने चिदुन्नत्वानें परिदर्शन किये विद्या भाग्यनावकी देवताके इन व्रतको ग्रहण कर उकते हैं अप्रत्युत् ईन्द्रसे अप्तित्वाचे उत्तमत न होनेवाले व्यक्ति भी मानवकल्याणके नाते इन परोक्षरक्ष-कर्त्त्वों ब्रती बन रहते हैं । इन प्रकार उनीं मतानुयायी दिना किसी हितकिदावटके परोक्षरक्षों परन धर्मके लक्ष्यमें स्वीकार कर सकते हैं ।

यह एक नमोनैवानिक तथ्य है कि परोक्षरक्षे अपनको असीन शूषितका अनुनाद होता है । दैर्घ्यनिक विकेन्द्रिये यह सिद्ध होता है कि दृच्छे प्राणिकों कठमें देखकर हमारे हृदयको पीड़ा पहुँचती है एवं हम अपने हृदयकी उस पीड़ाको कूद करनेके लिये उस कठमें यह प्राणीकी देवाद्वृत्त चर्चेष्ट हुआ करते हैं । इस प्रकार बहुतां लिखी गयीकों संकटरे दबा लेंगे ऐरोकी चेता-शूष्या करने वा भूखेको भोजन करने आदि कामोंसे बहुतां आपनावी ही अत्यधिक पीड़ा कूद होनेवाले अन्तान्तरण-की शास्त्रि प्रात् हुआ करती है ।

बताएव याहे हम ईन्द्रको नामें या न मानें परोक्षरक्षो व्याप्तमात्रा स्वयं स्वनाम भाज लेना हुदिवादके अनुदृढ़ ही ढहरता है । भले ही हम अपनी अत्यधिक व्यक्तिताके दबाने अहंकार अत्ति अपने हृदयकी दुर्बलताओंसे पराख होकर या अपेक्षकट्ठी ढुक्काई देकर लोकसेवा-कर्त्त्वको दालते रहे; किन्तु यिर् भी हम परोक्षरक्षों सहचाली उपेक्षा करके यह नहीं कह सकते कि परोक्षरक्षी भावना मिथ्ये कुपकी चौक थी; वैते जननेत्री शात् थी; अपको त्रुदिनीकी चाववरणके अनुदृढ़ नहीं है; आदि-आदि ।

प्रकृति नीं भालो अपनी निःस्वार्थ देवद्वारा नानवजातिको परोक्षरक्षा शाठ पद्धनेसे उल्लम है । सर्व अपनी ऊपनाम्या लीजन्यसुको लीजन्यद्वारा देनेमें दिक्षतर रह रहता है । उन्हीं प्राणियोंके उत्तात चहन करके भी उन्हें अपनी गोदमें जाभग देती है । चन्द्रमा वासु वाद्यम् हज़े नहिंये आदि

प्रकृतिके नाना उपादान किसीन-किसी स्वरमें संसारके कल्पायमें सुनेप्र है । किनीने अपनी देवताके यद्वले जीवोंसे कोई सौंग देव नहीं की है । गाव, बैल, बीड़, कुच्चे आदि मानवेतर प्राणी भी नाना प्रकारते नानव जातिकी देवा उपन्न कर रहे हैं । इसीलिये नीतिकार इहें परोक्षरक्षी विशृति मानकर इनकी गणना परोक्षरक्षी लंतोंके स्वरमें करता है ।

परोक्षरक्षी प्राणीको ही संत वहा जाताहै क्योंकि संतका यह सहज स्वनाम होता है कि वह परोक्षरक्ष किये विना नहीं रह सकता । दाढ़ वेशमूर्ग नहीं; प्रसुत् हृदयकी परोक्षरक्ष-नदी निर्भल भावना ही यत् कहे जनेकर अपिकार प्रदान करती है । ऐसे परोक्षरक्षी दीक चारे दिशकमाला धारण करें या न करें, वे अपने उदार स्वभावके फलसे भूत संशोके अधिकारी हैं । नहाना गर्वी हीनी भ्रेगोंके नन्हे संत ये ।

सदानें दहोनेवाले विद्युत्की दबानेवाले संतका दृष्टित तो नुचिदित ही है जो विद्युत्की दाढ़नेतर भी वही कहकर यह-दाढ़ उठे दबाता रहा कि विद्युत्का स्वभाव उक्त मात्रा है एवं नेता स्वनाम जीवरका करता है । अलू, इस अनुसन्धाने लगनेवाले कार्यव्यापकमें कोई विदेशी नहीं प्रसुत् हम अपना-अपना कार्य ही उपन्न कर रहे हैं । गोत्तानी दुलर्त-दालजे अन्दराने—

पर उपरां दहन नम यापा । तं दुःख सुखाय दमगला ॥
संह निष्प शरिता मिति धन्मी । पर्वित् रुमु नवन् कै नवनी ॥
परहित दामि नव ये देह । उत्तम गंत प्रहसन्दि कैही ॥

यह उद्धरण स्वप्र प्रकाढ़ करता है कि परोक्षराद्ये प्राणी केवल संत नहीं जानेका ही अधिकारी नहीं, प्रसुत् नवो-द्वाय व्यक्तिकन्दनात् दब जाता है । यह लिखी भी जाति, वगो उन्पदापका क्यों न हो, वही व्याप्तिमें नहानाम है । यह नहानामप भरकर भी अमर हो जाता है । परोक्षरक्षे लिये सुखुमा दरम उरनेवाला द्वीपिन्येता नदूननव क्या कमी भय करता है? कदाति नहीं । यदि देसा नहानामप भर गया होता तो आज उसकी नीरवगाया हम क्यों गर्त होते?

परहितने लिये प्राणोंका दलिदान कर देनेवाला प्राणी क्या धारेमें रहता है? कदापि नहीं । भारतकी राजलक्ष्मी नीताको आतवायी चरणके द्वारा अपहृत होते देखकर उस जगदिजयी लंकाधितसे नीर्चा लेनेवाल बढ़ायु जानता था कि इस दुकामलमें निश्चितलमें मेरी मृत्यु है; किन्तु मृत्यु-

भयने उसे परमार्थ-पथसे विचलित नहीं किया। परोपकारार्थ स्वयं आहुत इस मुखकी बल्लेदीपर जटायुको अपने ग्राणोंकी आहुति देनी पड़ी। पर क्या वह घाटेमें रहा? उसे तो वह देव-दुर्लभ सद्गति प्राप्त हुई, जो सुकृती, ज्ञानी, योगियोंको भी नहीं प्राप्त हुआ करती। यह सद्गति देकर भी भगवान् राम यही कह रहे थे कि मैंने कुछ कुण्ड करके वह गति तुम्हें प्रदान नहीं की है, प्रत्युत हुग्हरे परोपकार-कर्मसे यह शुभ गति हुम्हारा सहज स्वल्प नन यशी है। परोपकारी जीवको भी भला कोई वस्तु दुर्लभ रह जाती है क्या?

जल भरि नपन कहहि रघुगाहि । तात कर्म निज ते गति पाहि ॥
परहित बस जिन्ह के मन माहि । तिन्ह कहहि जग हुर्षम कलु नाहि ॥

परोपकारके लिये आत्मवलिदान करनेवाले ऐसे महामानयोंकी गौरव-नाथसे 'भारतका इतिहास देवीप्रसान है। नागोंकी प्राणरक्षाके लिये अपने जीवनका दान करनेवाले जीमूतवाहन, कवृतरकी प्राणरक्षाके लिये अपने शरीरका भासि देनेवाले नरेश दिवि, चाचकके लिये अपने शरीरका कवच-कुण्डल दान करनेवाले उदार कर्ता, गौरक्षके लिये अपना वरीर तमर्पित करनेवाले नरेश दिलीप, स्वयं भूखबी ज्वालासे तड़पते हुए भी भूखी आत्माओंको देखकर अपने अब्जलका दान करनेवाले उन महारोज रम्तिदेवके नाम क्या कभी मानवताके इतिहासे भुलाये जा सकते? जो भगवान् द्वारा वर-नाचनाकी आशा पानेपर भी यही माँगते हैं कि मैं अप्सिद्धियाँ, सर्व, मोक्षादि कुछ नहीं चाहता। मेरी यही कामना है कि मैं समर्पण-प्राणियोंकि अन्तःकरणमें स्थित होकर उमका दुःख स्वयं भोगा करूँ।

न कामयेहि गतिसीधरात् परासप्तिंशुक्तमपुनर्मैव वा ।
शार्ति प्रपद्येऽस्तिलदेहभाजामन्त्वस्थितो वेन भवन्त्यदुःखः ॥

(श्रीमद्भगवत् ५। २२। १२)

आशुनिक युगमें भी ऐसे परोपकारी महापुरुषोंसे भारत-भूमि खाली नहीं रही है। ईश्वरचन्द्र विद्यासागरद्वारा धनाथ रोगीकी सेवा, महामना मदनमोहन मालवीयद्वारा रस्तेमें कराहते चिनौने रोगी कुत्तेकी मरहमपड़ी, महात्मा गांधीद्वारा फर्जुरे शाळी आदि कुछरोगियोंकी सेवा, आनाथ चिनोयामानेद्वारा परकल्पायार्थ गाँव-नांव पैदल जाकर भूदानकार्य आदि परोपकार-त्रतके ऐसे ज्वलन्त उदाहरण हैं, जो हमें परसेवा-व्रती बननेकी जीवत प्रेरणा प्रदान करते हैं। परोपकारकत किसी देवाविशेषकी ही व्यपौती नहीं है। वेनिड लिंगिंगस्टनका

अपने देश इंग्लैंडसे हजारों मील दूर अफ्रीकाकी नरमक्षी नींगो जातियोंके बीच बसकर उनमें मानवताका प्रशार करना क्या हमें परमार्थ-व्रती बननेका पाठ नहीं पढ़ाता?

हममें हर व्यक्ति समाजका भूगी भी ती है। क्या हमारा यह कर्तव्य नहीं कि हम समाजके उस श्रृणुको चुकानेके लिये प्रबलदील बनें? अपने इस सहज कर्तव्यके नाते भी परोपकार मानवके लिये वरणीय है; क्योंकि मानव ही एक ऐसा प्राणी है, जो अपने जीवनके पालन-पोषण, शिक्षा-दीक्षा, विकास, मुख-साधनादिके लिये न केवल अपने पूर्वपुरुषोंके परिमाम एवं अध्यवसायका शृणी है, प्रत्युत मानवेतर प्राणियोंसे भी वह नाना रूपोंमें सुख-सुविधाएँ ग्रहण करता है। अतः प्रत्येक मानवका यह प्रसुख कर्तव्य है कि कम-से-कम अपने शृणुसे उश्रृण होनेके लिये ही परोपकारकी परम्पराको कायम रखें।

यदि परोपकारकी सद्गुरुति मानवके अन्तःकरणको अल्पीकृत नहीं करती तो उसके अनेक कर्मकापद, पूजा-प्रक्रियाएँ निरर्थक रहेंगी। उसे ईश्वरभक्त कहना तो बहुत दूर है, परहित-व्रतीकी भावनासे रहित वह स्वार्थी मानव गीताके शब्दोंमें चौरकी संज्ञासे पुकारा जायगा।

इष्टान्भोगान् हि दो देवा दास्यन्ते पश्चभाविताः ।
तैदैत्तानप्रदायैभ्यो यो भुद्भै स्तेन एव सः ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता ३। १२)

मनुष्यके चरित्रकी परीक्षा उसके परोपकारी कृत्योंके आधारपर ही होती है; न कि व्यक्तिगत वैभूष-अर्जुनपर। जो मनुष्य सबके दुःख दूर करनेमें जितना प्रसन्नशील होता है वह उतना ही स्थ, सुसंस्कृत एवं उच्च विचारावाला माना जाता है; क्योंकि परोपकारका विशद भाव ही मानवकी अन्तरात्माकी महानताकी कसीटी है।

भर्तृश्वरि उन्हें धन्य भानते हैं जो परोपकारके यशमें अपने जीवनको समिधा बनाकर आहुति कर देते हैं। ऐसे महामानव अपनी हानि उठाते हुए भी परोपकारमें रत रहा करते हैं। भले ही उनकी कोठरीमें एक ही व्यक्तिके सीनेका स्थान है, पर स्थान भौमनेवालेकी पुकारपर वे कभी भी लैटे न रहेंगे, प्रत्युत वैठकर दोनोंके लिये स्थान कर लेंगे। फिर तीसरे वासके आनेपर वे खड़े होकर उसके लिये भी अवकाश निकाल लेंगे। इन महापुरुषोंके हृदय इतने विशाल होते हैं कि उनकी परिधिसे किसीको बाहर नहीं

देते कि 'हमें परोपकारसे कोई मनव नहीं, हम तो घोर स्वार्थी व्यक्ति हैं'।

किंतु हम इस कहु सत्यको स्वीकार नहीं करना चाहते; उचित भी है। हम पशुदेह-धारी नहीं, मानवदेह-धारी हैं। स्वार्थी मानव तो पशुसे भी गदाधीता मना जाता है। हमें पशु-धेयीमें गिना जाना लेशमात्र भी बसेंद नहीं है। फिर तो हमरे सामने एक ही विकल्प रह जाता है: वह वही है

कि हम परोपकारके लिये कुछ-न-कुछ समय अवश्य निकालें।

यदि हमें सच्चे अशोमें मानव कहे जानेका अधिकारी बनना है एवं मानवताको चिनायासे बचाना है तो आइये इसी द्वाण परोपकार-नतके ब्रह्मी अनेका संकल्प ग्रहण कर लें। गोस्वामी तुलसीदासजीके हस आनंद मन्त्रको हम आजसे ही अपना पथ-ग्रन्थर्थक बना लें—

पर हित सरिस धर्म नहिं भई। पर ऐडा सम नहिं अचभई ॥

—१—४६५—२—

सर्वं आत्म-दर्शन ही सत्य धर्म है

(लेखक—श्रीजगदाय शुद्ध पुरुषोत्तम बुद्ध सहाराज)

सर्वशक्तिमन् परमह सरमेश्वरने सभी देवताओंके द्वीच सर्वप्रथम संकल्पमात्रसे ब्रह्मदेवकी सूषित की और उसके बाद वह चर्याचर दृष्टिमें ग्रहृत्य हुआ। इस प्रकार सूषिती उत्पत्ति-के नूलमें जो परमह परमात्मा वा चैतन्य तत्त्व है, उसीको एक 'उत्तम' कहा गया है। वह 'उत्तम' वा परमह तत्त्व निराकार और अव्यक्त है। ज्ञानेन्द्रियों या कर्मेन्द्रियोंके द्वारा उसे कोई जान नहीं जकता। वह सर्वोपाधिराहित, वर्ण-मेदरहित, अत्मन्त्र सहस्र, अक्षयः अनादिसिद्ध होकर भी सभी प्राणियोंके द्वीच अन्तर्यामाके दृश्यमें व्याप्त है। वह तत्त्वमंग्रामाद्यरूप होकर मनुष्यकी हृदयगुफामें अङ्गुष्ठमाद्य-प्रवाण छोतिस्तत्त्वपर्याप्तसे स्थित हो भूत, मनिष्य और दर्तमानपर जातन करनेवाला तत्त्वज्ञ जातक है—हस प्रकार कठोरनिपद्ध-में वर्णन आता है। वह आत्मा वा परमात्मा तर्जकर्ता होते हुए भी अकर्ता है। उसे सर्वथा प्रकटरूपमें जानना सामान्य बुद्धिकी सामर्थ्यसे परे है। परमेश्वरकी कृपासे किंद्र्य अपलग्नन् प्राप्त हो, वे महात्मा ही ज्ञान-दृष्टिसे उसे जान सकते हैं।) निशुद्ध अन्तःकरण मानव सर्व-भौगोलिके विरुद्ध होकर निर्मल चित्तसे निरन्तर परमेश्वरका व्याप्त कर उकता और उसीके स्वरूपमें लौन हो जकता है।

वह परमहत्त्व सूषिते समर्पण चेतनः अचेतन बहु-मात्रमें चैतन्यरूपसे वा प्रकटरूपसे व्याप्त है। सूषिती सभी वस्तुएँ नित् और जड़के मिश्रणसे उत्तर्व हैं, फिर भी कुछमें जड़ाद्य अधिक तो कुछमें चेतनाद्य अधिक दिखायी पड़ता है। मानव-प्राणीमें जितना चिदंश दीक्षता है, पशु-पक्षीमें

उससे कम, उससे भी कम ब्रह्मसति-कोटिमें और भिट्ठी-पत्थर आदिने उससे कम चिदंश दिलायी देता है। मानवमें भी वह चिदंश जानी आत्मतत्त्व व्यूनाधिक मात्रामें दीखता ही है। किंतु यह भेद आत्माका न होकर सात्त्विक, शान्त, तामस प्रकृतिके मेदसे है। सर्वत्र व्यापक आत्मतत्त्व स्वच्छ दर्पणमें सूर्य-प्रतिविम्बकी तरह चात्यिक-प्रकृतिके अन्तःकरण-में स्वष्ट प्रतिफलित होता है। लंग ल्लो लोहमें स्वर्वक प्रति-विम्ब प्रतिफलित नहीं होता, वह लैसे सुर्यका दोष नहीं; इसी प्रकार राजस-तामस थेत्रमें आत्म-च्योतिका प्रकाश कम दीखता है।

गुद्धारा उपदिष्ट ज्ञान प्रशान्नन् शिष्म ही ग्रहण कर पाता है; जब कि दूद चित्प रीता ही रह जाता है। वह गुद्धका दोष नहीं। इसी तरह आत्मतत्त्वके प्रतिविम्बको यथाद्वित रूपमें वा तरन्त्रम-भावमें ग्रहण करना मानवकी प्रकृतिपर ही निर्मर होता है।

इससे स्वद्व हो जाता है कि 'परमेश्वर वा व्याप्त-तत्त्व सर्वस्वापक है—वह ज्ञान होना ही वास्तविक आत्मज्ञान वा ब्रह्मज्ञान है। सर्वभौमें सम भावना ही...ग्रेशका राष्ट्र है।' पर यह समझदाद हो कैठे? चाहोंमें बताया गया है कि सूषिती उत्पत्ति परमेश्वरकी अव्यक्ततापर ही निर्मर है, इसलिये परमेश्वर सब प्राणियोंमें निरपवादरूपमें व्याप्त है और आत्मा परमात्माका ही अंश है।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।

सर्वभूतोंमें परमेश्वरका, आत्मारामका अधिष्ठान समान ही है। भूतप्रणीतिमात्रका सामान्य मृत्युसे वा प्रलयसे विनाश दीज पड़ता है। परंतु तदन्तर्गत आत्मतत्त्वका कभी विनाश नहीं होता। जिसे वह ज्ञान हो जाय, कहना होगा कि उसे ही वास्तविक ज्ञान हुआ। ऐसे समवृद्धि नानवको सब भूतोंमें सदैव ईश्वर दीखने लगता है; अतएव वह मौजूद-धर्मों पहुँच जाता है। सर्वधर्म आत्माका दर्शन होनेसे वह सबको अपनी ही तरह समझता है। फलतः उससे किसीकी क्लायिक, चार्चिक या मानविक दिला नहीं हो पाती। दूसरेका दुर्लभ ही अपना दुःख और दूसरेकी दिला ही अपनी हिस्सा है। इतनी एकता राखनामें ज्ञात हो जानेपर भाव जैसे अपने दुःख और हिसाको घब्बता है, वह समदद्यां आत्मज्ञ भी वैसे ही पर-दुःख और पर-हिस्सासे सदैव वचता है। ऐसे समदद्यांके लिये तत्त्वमुच्च मोक्ष दूरकी बहु दूरी ही कैसे सकती है। मोक्ष से उसके लिये करमलक्षणतः हो जाता है।

मेरी, पड़ोसीकी या अन्य किसी प्राणीकी देह भिन्न होनेपर भी उनमें निवास करनेवाला आत्मा तो एक ही है। ऐसे एक ही सूर्यका भिन्न-भिन्न विकाशात् पदार्थोंमें प्रति-विन्द पड़नेपर भी वल्लुतः सूर्य एक ही देखता है। एक ही सूर्यके भिन्न-भिन्न अलंकार दलानेपर भी वल्लुतः सूर्य एक ही होता है। ठीक इसी प्रकार कार्यकारणः जल-ज्वरियाँ, वज्र-ज्वरु और ऋषि-ऋषाण्डका समन्वय समझना चाहिये। इसी तरह प्रत्येक देहका आत्मा एक ही परमात्माका अंश है। भिन्न-भिन्न शरीरोंमें इषाधिभेदने भिन्न दीलनेवाला वह आत्मा मूलतः एक ही है। एक ही विश्वलम परमात्माके सब अवश्य हैं। इन रहस्यको ठीकठीक समझकर सबके प्रति आत्मभाव रखना ही उच्चा आत्मज्ञान है।

वह आत्मा परमात्माका ही अंश होनेते देहके सभ नहीं मरता। वह अनादि है। परमात्माके गुणोंका वर्णन कैसे असम्भव है, वैसे ही आत्माका भी गुण-वर्णन कठिन है। अचाक्षर वह निरुण है, ज्ञेय और ग्राह्य नहोनेसे अविकारी

है। उसमें उत्तरिति, ल्यादि पञ्चमविवार नहीं। वह अवश्य अमर है। इस प्रकार गुणोंवाले आत्माको परमात्मद्वयम ही कहना पड़ेगा। इसीलिये तद्दुरुच महाराज कहते हैं—

संसारमें ईश्वरकी पूजाका यदि कोई साधन है तो वह है—‘आत्मपूजा’। आत्माकी साधेकता करनी हो तो मृदिले प्रणिमाक्रममें समझौते रखिये। ‘आत्मैरम्भ सुदृश’ में उनके साथ व्यवहार कीजिये। अपने मनका गारा भैल, कपट तमूल नष्ट कर और सदैव यह दुष्टि रक्षकर कि ‘हम सभी एक ही परमात्माकी संनान हैं’, प्रत्येक प्राणीकी सेवा कीजिये। वही सदा धर्म है। केवल जीवोंको, पशु-पश्चिमोंको मारनेसे ही उनकी हिता नहीं होती। प्रत्युत प्राणोंको उनका जी दृख्यानेपर भी जीव-हिता होती है। यनसे किसीकी अश्वितात्मनासे भी हिता होती है। उससे वैतिक अथवात्म तो होता ही है और तब जीवात्मा परमात्माके साम्राज्यारम्भे परमात्मा भी हो जाता है। भावनको वाणी दीलनेवें लिये दी है वह सच है। पर वह दुरु, कटोर, असल वचन बोलनेके लिये रुमी नहीं है। सब, नज़ और मुद्दुनामुद्दु हित-भाग्यके लिये ही परमात्माने हमें वाणी दी है। उसे हम सत्यः मृदु, नज़ और दिक्षासेवाका रूप देकर ही सच्च अर्थमें ‘चारा’ ज्ञा सहते हैं।

इसलिये सष्ठ तो आता है कि किसी भी प्राणीको तनः वचनः मनसे किसी प्रकार कष्ट न पड़ूँचाना धर्मका आद्यतत्त्व है। इसी आद्यतत्त्व उत्त्पत्त्वके वधावत् अनुष्ठानके भिन्ने प्रत्येक व्यक्ति आचरण कर लें। ऐसे नियम भी ५८८८ माने जाते हैं, जिनमें कतिहय ये हैं—जनने एक ही आत्मा है—यह समझकर सूक्ष्मार्थमें प्रत्येककी सदृशताके लिये तैयार रहना, यिना किसी देशुके विकाम भावसे पीड़ितोंकी सेवा करना, सभीके कल्याणकी निराकार कामता करना, जनता-जनादेशकी सेवामें सदैव तत्त्वर रहना, परोपकार करना।—ऐ दी महत्तम कार्य है। इन आत्म-धर्मका पालन करते समय कोई आत्मको कितना ही कष्ट, मुळ दे, तो भी उपर खान न देकर आपको अपना कर्तव्य करते रहना चाहिये। वही हम मानवोंका सदा धर्म है।

परोपकार-धर्मके ज्ञानज्ञ

(६)

महर्षि दधीचि

‘सुवासुरके निधनका एक ही उपाय है।’ देवताओंकी आर्थनापर भगवान् नारायण प्रकट मुख भी तो उन्होंने एक अटपदा मार्ग बताया—“महर्षि दधीचिको अस्तियोंसे विश्वसर्मा बज्ज बनायें तो उस बद्धसे वह जल्लुर भारा जा सकता है।”

हुमासुरने खर्षपर अधिकार कर लिया था। इन्द्रादि देवता युद्ध करने गये तो उनके सब अस्त्र-बद्ध उत्तरे निगल लिये। यज्ञ देवता ले विर्वासित जीवन व्यतीत कर रहे थे और चुश्के संरक्षणमें हृत्योंने अमरावतीको अपना निषाद बना रखा था। निलोकी असुरोंके अत्याखारसे संतुत थी। देवता ब्रह्मलोक गये ब्रह्माजीके सभीप और सुषिकर्ताओंको साथ लेकर भगवान् नारायणकी स्तुति करने लगे।

‘दधीचिकी अस्ति।’ देवताओंका मुख लटक गया। उन महातापसकी तपस्यासे भवभीत इन्हने पहिले तपोभक्तके लिये अप्सराएँ तेजी थीं, कामदेवको मेजा था और हस उद्योगके असफल होनेपर दधीचिको भार देने तकका उद्योग किया था। इन्हुंने घरुण, यम आदि सबने अपने वापात किये थे और किसी प्रकारका ग्रहिकार किये तिना दधीचि अविचल बने रहे। उनके तेजसे ही लोकपालोंके विद्याका वर्ण हो गये थे। अब उन्होंने महर्षि दधीचिकी अस्ति बाहिये—भला, उनकी अस्ति कैसे मिलेगी? उन्हें भारजा सम्भव होता तो द्यन्या कस उद्योग किया था इन्हने पहिले उन्हें भार देनेका।

‘ऐ परम धर्मोत्तमा हैं। उनसे यादना करनेपर अपना होइ वे प्रसन्नतापूर्वक हैंगे।’ भगवान् नारायणने देवताओंका नैदास्य देखकर उन्हें अवधारणा दीर्घ वे अद्यत्य छो गये।

‘हाव ! एस एस विषयमें कह गये हैं। आपके समीप यादना करने आये हैं। हमको आपके शरीरकी अस्तियाँ चाहिये।’ देवता गये महर्षि दधीचिके आश्रममें और उन्होंने महर्षिसे आर्थना की।

वे ही इन्द्र, वे ही देवता, जिन्होंने दधीचिकी तपस्या अंथ करने तथा उनको भार देनेका कोई उद्घोष ऐला नहीं जो अपने वश भर न किया हो और आज भी अहर्विंसे उनकी अस्ति माँगने आये थे। किन्तु प्रश्निके ललाटपर एक सूखम संकुचन भी नहीं आया। उनके अस्तरने कहा—“तुम्हाँसे लास्तिकताली विजय होनी चाहिये। संसारके ग्रामियोंको असुरोंके उत्तीड़नसे परिश्राण सिलगा चाहिये। सखका जो निश्चित बन सके—चही धार्य है।”



‘वह शरीर तो नश्वर है। पक दिन जब वह सुने छोड़ देगा, तब मैं हसे क्यों पकड़े रहनेका आग्रह करूँ? महर्षिने कहा। हससे आप सचकी सेवा हो सके तो हसकी सार्थकता स्तुतः सिद्ध है। मेरे प्रसुकी कृपा कि उन्होंने सुने यह सुधारसर हिया।’

महर्षि समाधि लगाकर बैठ गये। योगके द्वारा उन्होंने आणोत्तरगी किया। जंगली गायोंने उनके शरीरका सेह-भाल चाढ़ दिया। अस्तियोंके

विन्दकमने वह चाहता और वह वहसे हम्होंने
हुशाल्लूरको दाता। —३०

(२)

तीदराज उड़ा

धीराम नायासे लग्नभूर बने मारीदने पहले
पत्तुय चढ़ाये बले और वह उन्हें दूर बनामें ले गया।
वहाँ आप लगानेपर भी उन्होंने 'हा लक्षण !' की
उच्छार की। पह आर्हर उड़ान धीरामेहीन धैर्य
स्थिर नहीं रहा। उन्होंने आपसे इच्छा न होनेहर
भी छुमार लक्षणने दडे अटके पाल जाना पड़ा।
छुरामा राघव हो इस अवसरपरी प्रतीक्षामें ही था।
वह साढ़ुपेहले भीरामनी पर्जुदीपर आया, किन्तु
पीछे लगना उप प्रकट करने से लग्नपूर्वक उसने
बैदेहीके उड़ाकर रथमें दैदा लिया। अपने लगानु-
पासी रथसे वह शीक्षणपूर्वक धृतीसे भागा।

भीजनपत्निनी राहस्यके द्वायसे पूर्वकर धार्मि-
कन्दन करनी जा रही थीं। वह करण दीक्षार
कर्पमें पहुँच प्रक्षिराज जडायुके। वे दृष्ट दृष्ट हो
चुके थे। लक्ष्युग्रवे प्रारम्भमें उनका हान्म हुआ
था। लैकिन उड़ाउद्धारण शारीरी निस्तीको विपरितमें
देखकर अपनी इच्छा, अपने लालदाम विनाकर करने
को नहीं हैठने।

धावा प्रोक्षन्त था जिसे। हूँ एवं पर्वत नहीं लैये॥
पूरे वेगसे हूँटे वे जिरंग निजयी रादमके ऊपर
और उनका वह प्रक्षणह वेग सुरासुरजयी दशशीव
भी एक धार संभाल नहीं सका।

धरि फट विद छीद भरि लिया।

केवा पक्षुकर रथसे चावणको तोडे फैक दिया
उन्होंने और श्रीजानकीको इपड लिया। उन छिवैह-
तनयाको सुरक्षित रखकर उन्होंने फिर धाक्षमज
किया राक्षसपर। चावणका रथ हूँट दुका था। घोड़े
मार दिये गये थे। जडायुके पंजे तथा चौक्दंड
आगतने उसे ज्ञानविश्वत कर डाला था। 'हैरन
ताके दर्जादाक !' वह राघव च्याकुल-संब्रह्म हो
गया। किन्तु जडायु हृदय थे। राघवने अन्तमें उफ़-
के चक्के पंख काढ हिये और वे भूमिपर गिर पड़े।

वह समय भी उन्होंने उपराम्भे सौत-हरणका
लघेश देनेके लिये आपांको रोक रखा किन्तु नकार।

सारीदको मारकर धार्मिके साथ श्रीगुनाय
लौटे। जमकननिन्दी छुटीमें नहीं मिली तो उनके
वियोगमें बिठल उनका अन्वेषण बत्ते जाने थे।
इसी अवधारेन जडायु मिने उन्हें। जडायुना आग
उनका पराक्रम पेसा था वि नवीना पुरावेशम नर-
वाद्य भूल गये। वे रथमें बोले—'तात ! आप
शरीरके रहड़े। तै लापतो दानी लख कर देता हूँ।'

जडायु इसे कैसे उपीकार कर लें। जमकन
अन्वेषणसाकृत नहीं हैं। जमकने लिये ऐसा मूल-
पूर्व उका पुनः आना ग्रा। वे हिव-निविचनिन्द-
रण, सर्वादर रक्षसे लघवपर जडायुने गोदमें
लेकर रहे दे। उनके बोगांडे असुधारा गिर रही
थीं। 'जडायु एं खूरि रथमें हाती' अतिरिक्ते और
सौजार दिया कि सर्वत्तर्मर्य उपराम्भ भी एक्षिश्रेष्ठको
कुछ देनेमें दे समर्थ नहीं।

हन अं नित ते ननि इँ।

रात्रि रस लिन् देस्व भनी। निन नैर रात्रा दुर्भ ज्यु लाही॥

एसोर त्यागकर जडायु भगवद्गम गये दिव्य
देवसे और श्रीनामने दिना रात्रकर उन्हें शरीरकी
उत्तरुकिया समर्पण की। दिनाहा सरमान दिया
उन्हें। —३०

(३)

दैर्घ्यी हन्ती

दातुभद्रमें पाष्ठवांको जला देनेका पह्यन्त्र
हुवैधनने किया था। किन्तु यत्ताना चिरुक्की
सहायुभूनि तथा पूर्वसाद्यानीके आरज पापडव
दर गये। माना हुन्नीजे साथ दे एवं तुर्खं-
डारा चुपचाप बनमें निकल गये। यद्य राजा
हृष्णरायु उपने पुद्देहि एवमें वे और उनके पुत्र
दौरव पाण्डवोंको नहु उत्तर नुले थे। पाण्डवों-
के लिये दिना विशेष सहायक प्राप्त किये प्रकट
होना उचित नहीं था। वे उनके मार्गसे एक-
चक्का लगायी पहुँच द्वारा बद्दी अपने काम आदि
हियाकर रहने लगे।

एकचक्रका नगरीके समीप बनमें वह नामका एक अत्यन्त बल्लान् राक्षस रहता था । नगरवासियोंने राक्षसके भय तथा अत्याचारसे धबराकर उससे संघि- कर ली थी । संघिके नियमानुसार नगरके प्रत्येक घरसे शारी-शारीसे एक-एक मनुष्य उस राक्षसके लिये भोजन लेकर प्रतिदिन जाता था । दुष्ट राक्षस उस भोजन-सामग्रीके साथ लानेवालेको भी खा छेता था । यही एकचक्र नगरी थी, जहाँ पाप्हव एक ब्राह्मणके घर टिके थे ।

नगरके प्रत्येक घरकी जब शारी आती थी राक्षसको भोजन सेजनेकी तो इस ब्राह्मण-परिवारकी भी शारी आती ही थी । इस घरकी शारी आयी तो घरमें रोना-पीड़ा मच गया । परिवारमें ब्राह्मण, उसकी पह्नी, पुत्र तथा कन्या थी । उनमेंसे प्रत्येक अपनेको राक्षसका भोजन बनाकर दुखरोक्ते प्राय यचाना चाहता था । रुदनके साथ यह विवाद चल रहा था । प्रत्येक चाहता था उसे राक्षसके पास जाने दिया जाय ।

युधिष्ठिर भाइयोंके साथ भिक्षा करने थाहर गये थे । केवल भीमसेन तथा कुम्तीदेवी घरपर थीं । ब्राह्मण-परिवारकी बातें सुनकर उनका हृदय भर आया । उन्होंने जाकर ब्राह्मणसे कहा—“आप सब क्यों रोते हैं ? हम सब आपके आश्रय-में रहते हैं । आपकी विपत्तियाँ सहायता करना हमारा कर्तव्य है । आप चिन्ता न करें । मैं अपने एक पुत्रको राक्षसका भोजन लेकर भेज दूँगी ।”

‘ऐसा कैसे हो सकता है ? आप सब हमारे अतिथि हैं । अपने प्राण चचानेके लिये अतिथिका प्राण लेने-ऐसा अधर्म हम लहों करेंगे ।’ ब्राह्मणने प्रस्ताव अस्वीकार किया ।

कुन्तीदेवीने समझाया कि उनके अत्यन्त बलबाच, पुत्र भीमसेन राक्षसको मार देंगे । ब्राह्मण किसी प्रकार मारते न थे । अन्तमें

कुन्तीने कहा—“आप मेरी बात नहीं मानेंगे, तो भी मेरी आशासे येरा पुत्र तो आज राक्षसके पास जायेगा ही । आप उसे रोक नहीं सकते ।”



ब्राह्मण विकल्प ही गया । माताकी आशासे भीमसेन बनमें जानेको उद्यत ही गये । युधिष्ठिर भाइयोंके साथ लौटे तो अन्तमें उन्होंने भी माताकी बातका समर्थन किया । बेलगामीमें भोजन-सामग्री भरकर भीम लिखित स्थानपर गये । वहाँ उन्होंने पैल खोल दिये । यद्यन भोजनकी पूरी सामग्री खा ली । युद्धमें उन्होंने राक्षसको मारकर रक्षाकां नगरी-को छद्दाके लिये निर्भय जर दिया ।

भीमसेनको मैजते समय कुन्तीदेवीने फहा था—‘ब्राह्मण, क्षनिय, वैद्य और शद्र—किसीपर भी विपत्ति अर्हे तो अपने प्राणोंको संकटमें लालकर उसकी रक्षा करना बलबाच लक्षियका धर्म है । ये लोग धारण हैं, विषेश हैं और हमारे आश्रयदाता हैं । इनकी रक्षामें कदाचित् प्राण जर्य भी तो कुम्हारा क्षनिय-कुलमें जल्म लेना सार्थक ही होगा । क्षनियी ऐसे ही अबलर-के लिये पुनर्को जन्म देती है ।’ —३०

(४)

कोसलराज

काशीनरेशने कोसलपर आक्रमण कर दिया था । कोसलके राजाकी चारों ओर फैली कीर्ति उन्हें असहा हो गयी थी । तुम्हें उनकी विजय हुई । पराजित नरेश घनमें भाग नये थे; किन्तु प्रजा उनके विद्योगमें ज्याकुल थी और विजयीको अपना सहयोग नहीं दे रही थी । विजयके गर्वसे मत्त काशीनरेश प्रजाके असहयोगसे कुद्द हुए । शत्रुको सर्वथा समाप्त करनेके लिये उन्होंने शोपण करा दी—‘जो कोसलराजको हूँ लायेगा, उसे लौ सर्ण-सुदार्पं पुरस्कारं मैं मिलेंगी ।’

इस शोपणका कोई प्रभाव नहीं हुआ । घनके लोधर्में अपने धर्मिक राजाको शत्रुके हाथयें देनेवाला अधम वहीं कोई नहीं था ।

कोसलराज घनमें भटकते छूपने लगे । उदार्पं बहु गर्ये । शरीर कुश हो गया । वे पक घनबासी दीखने लगे । पक दिन उन्हें देखकर एक पथिकने पूछा—‘यह बन कितना धड़ा है ? घनसे निकलने वाला कोसल पहुँचनेका मार्ग कौन-सा है ?’

नरेश चौंके । उन्होंने पूछा—‘आप कोसल क्यों जा रहे हैं ?’

पथिकने कहा—‘विपत्तिमें पड़ा ज्यापारी हूँ । धालसे लक्षी नौका नदीमें झूँच लुकी । अब द्वार-द्वार कहाँ पिक्का भाँगता भटकता ढोलूँ । सुना है कि कोसलके राजा बहुत उदार हैं । अतपच उनके पास था रहा हूँ ।’

तुम दूसे आये हो । घनका भारी होइचु है । बढ़ो । तुम्हें वहाँतक पहुँचा आऊँ ।’ कुछ देर सोचकर पथिकने राजाने कहा ।

पथिकके साथ वे काशिराजकी सभामें आये । अब उग जड़ाधारीको कोई पहचानता न था । काशिराजने पूछा—‘आप कैसे पश्चारे ?’

उन महत्तमने कहा—‘मैं कोसलका राजा हूँ । मुझे पकड़नेके लिये हुमने पुरस्कार घोषित किया है । अब पुरस्कारकी वे सौ सर्ण-सुदार्पं इस पथिक-को दे दो ।’



सभामें सज्जाटा ला गया । लच वार्ते सुनकर काशिराज अपने सिहासनसे उठे और बोले—‘महाराज ! आप-जौसे धर्मात्मा, परोपकार-निष्ठको पराजित करनेकी अपेक्षा उसके वरणाभित होनेका गोरव कहीं अधिक है । यह सिहासन अब आपका है । मुझे अपना अनुचर स्त्रीकार करनेकी कृपा कीजिये ।’

ज्यापारीको सुँहामौग घन आत हुआ । कोसल और काशी उसी दिन मिश्रराज्य बन गये । —तु—

(५)

महाराज मेघबाहन

महाराज मेघबाहन दिग्बिजय करने लियले थे । समुद्रतटीय घनसे वे जा रहे थे कि उनको जानामें पक धीत्कार पट्टी—‘मेरी रक्षा करो ! कोई सेरे प्राण यचावो ?’

महाराजका रथ लेनासे आगे निकल आया था । अतः वे ऊँझ लेकर रथसे कूद पड़े । सारथिको रथ

बहीं रोके रहनेके लिये काहकर घनमें प्रवेश किया उन्होंने। सघन खनके भीतर एक चण्डकामण्डप मिला। देवीकी पूजा हो चुकी थी और एक शवर-सेनापति पुरुष-चले देनेको उद्यत था। जितकी शिलि थी जा रही थी, वही व्यक्ति चीकार कर रहा था। उसने महाराजको देखते ही कातर रखतसे उकार की—‘भद्रपुरुष ! मेरी रक्षा करो !’

‘उरे सत ! उरासित हो तुम !’
महाराजने उसे धावात्तन दिया।
और शवर-सेनापतिकी ओर मुड़े—
‘सेनापति को राज्यमें दूसरेपर
अत्यधार करनेका साहस करनेवाला
दू कौन है ? तुम्हें प्राणोंका भय नहीं है ?’

शवर-सेनापति देखते ही समझ गया था कि ये स्वयं सम्राट् मेयवाहन न भी हों तो उनके कोई बहुत बड़े अधिकारी अवश्य होगे। उसने नम्रता-पूर्वक उत्तर दिया—‘मेरा तुम रुण है। मरणासन्द हो गया है वह। देवताओंने उसके रोगमुक्त होनेका उपाय नर-चलि बतलाया है। मैं पुत्रकी प्राणरक्षाके लिये यह देवाशाका पालन कर रहा हूँ। मेरे पुष्यकार्यमें आपको चालक नहीं धमना चाहिये।’

‘असहाय प्राणीका धध महापाप है। मोदान्ध होकर तुम इस पापमें प्रवृत्त हुए हो !’ सहायतने कहा।

‘आपके लिये जैसा यह अपरिचित है, मेरा पुम भी है। मैं पुनर्मोहनमें ग्रस्त साधारण प्राणी हूँ; किन्तु आप इसकी रक्षाके लिये मेरे पुत्रको मृत्युके मुखमें फेंक रहे हैं, यह कौन-सा धृष्ट है ? उस बालकने आपका कंया त्रिग्रादा है।’ शवर-सेनापतिने अभीतक बलि देनेका शब्द नीचे नहीं रद्द करा था। बदू कर रहा था—‘मैं और मेरे परिवारके कई व्यक्तियोंका जीवन उस बालककी रक्षापर निर्भर है। आप एकको बचानेके प्रयत्नमें अनेककी हत्या अपने सिर ले रहे हैं।’

ब्रह्मपुरुष बहूती हीनता-याचनाभरी दृष्टिसे देख रहा था महाराजकी ओर। कई क्षण मौन रहकर महाराजने विचार किया। सोचकर वे बोले—‘तुम्हें को किसीकी भी बलि देनी है। मेरा कर्तव्य इस पुरुष तथा तुम्हारे पुत्र—दोनोंके प्राणोंकी रक्षा है। तुम इसे छोड़ दो और मेरी बलि देकर देवताको लंहुष करो !’



महाराजने हाथका खड़ा फेंक दिया। वे मुकुद चतारकर शिलस्थलपर पहुँच गये। बलिके लिये वैष्णवपुरुषको उन्होंने खोल दिया और स्वयं वहाँ लटे देवर मस्तक तुका दिया।

‘चलू ! आपके प्राण पूरी भजाकी रक्षाके लिये आवश्यक हैं। जाए यह क्षया कर दें हैं ! यजाको प्रजा, धन, परिवारकी विन्ता त्यागकर अपनी प्राणरक्षा करनी चाहिये—यह नीति है।’ शवर-सेनापतिने समझानेका प्रयत्न किया।

‘तुम नीतिकी जात थीक लहूते हो किन्तु कर्म नीतिसे बहुत लेघ है। तैं प्राणक्षयसे धर्म वहीं स्थग लकड़ा। तुम दाख लकड़ो !’ बेवजाहनने फिर लिए हुए कहा।

‘महाराज मेयवाहनकी जय हो ! आप धन्य हैं। शवर-सेनापति तो कोई धा ही नहीं। वहाँ तो

दोकपल बहय उड़ दे साशीवांद देते हूः ।
सहायता की धर्म-परिक्षके लिये उन्होंने ही यह
भाटक रखा था ।

—२०

(६)

शिवाजी और ब्राह्मण

बाहुदाह और अजेन्द्रने शिवाजीको दिल्ली दूलधारा
भेंड करनेके लिये और इहाँ पहुँचनेपर उन्हें उनको
बर्खी दता दिया । ऐसे किंवालदूरी दहुके साथ
कांति अपनाये दिता निस्तार नहीं था । शिवाजीने
बीमारीका बहाना किया । इहाँमें निडाईके दंपत्रे
दूत करने लगे । एक दिन सदय दिया
दतके पुढ़ लगाजी निडाईके दंपत्रोंने
दिग्गज दैड़े और बीमारोंके ढांडों
निछले गये ।

मार्गमें शिवाजी बीमार हो गये ।
उनके साथ उनके दो विभिन्न सेवक
थे—जानाजी और येताजी । तीव्र दूरमें
बाजा करना नियपद नहीं था ।
तुर्की दूधारमें दहुआ प्रवाल करतेपर इस
गुत्तेश-धारियोंको विनायकदेव नामक
एक बाह्यणने अपने यहाँ आथथ देना
खानार किया । शिवाजीको लगा कि
सच्च होकर बाजा करने योग्य होनेमें
पर्याप्त समय लगता, अतः उन्होंने
साथियोंसे आग्रह किया—‘आप दोनों सम्भालीदो
लेकर महायात्रा बढ़े जायें, राजवारी दुरशा एवं शीक
प्रदानमें आवश्यक है । मैं सच्च होकर आकूंगा ।’

साथियोंको विवश होकर यह आदेश साबिता
एहा । लेकिन सामनोंने हुठ दूर दूर दूर देलाजिसे
हहा—‘आप सावधानीसे सम्भालीको ले जायें ।
मैं यहाँ गुत्तहपत्ते लायीको देख रख रखूँगा ।’

छपराले शिवाजीने अपना बेश बदल रखा था ।
श्रावण विनायकदेव उन्हें गोलामी जानता था ।
वह अन्यन विश्वक समाजका था । मानके साथ
रहता था । उस विद्वान् ब्राह्मणने विवाह किया ही
न था । भिजा ही लालीविकास सावन थी ।

परिजहरी प्रदूषि उसे हूँ नहीं बर्खी थी । जिन्हें से
एक दिनका जाम चले, उन्होंने ही भिजा प्रानीदिन लावा
था । एक दिन भिजा बस भिजा । उहाँने खोजत
दूनाकर साता तथा शिवाजीको भिजा दिन जौर
खर्खे भूला रख नया ।

छपराले शिवाजीके लिये अपने अध्रदक्षातारी
यह उत्तिजा इत्तह हो गयी । उन्होंने सोचा—
‘दक्षिण जाहर इन सेशूनाः निनु दसका क्या
विनायक नि वृद्ध दहुआ गुरुदिन पहुँच ही जायगा ।
किंतु यह अब प्रमुख होनेपर इहत बादशाह देवदते
इहपत्ती द्वा जीतिन रहते होगा ।’



उन्होंने उत्तरनिये श्रावणसे कलम-दावात,
कलम लेकर एक एक लिहा और उसे शहीके
सूवेशरको दे जानेके दिया । पत्रमें लिखा था—
‘शिवाजी इस व्राजपत्तक घर ठिका है । इसके साथ
आकर पकड़ हैं । लेकिन इस सूवताके लिये श्रावण-
की दे हजार अर्थात्तीर्यों दे दूँ । ऐसा नहीं करतेपर
शिवाजी द्वारा आनेवाला नहीं है ।’

सुदेहर जानता था कि शिवाजी बातके धनी
हैं और उनकी हजारोंके विद्वद् उन्हें पकड़ लेना हँसी-
खेल नहीं है । शिवाजीको दिल्ली-दरवारमें उपस्थित
करनेपर बादशाहसे भुरस्तकामें एक सूतकक मिठ
सकता समझ था । इसलिये ये चहने अशाकेंद्री

लेकर वह आहुणके घर गया और वह थैली बहौं हेकर शिवाजीको अपने साथ ले चला ।

आहुणको अवलक छुड़ पता नहीं था । अब खुदेश्वार उसके अतिथि गोखामीको अपने साथ लेकर चला तो आहुण बहुत खुड़ी हुआ । अचानक उसे गोखामीके साथी तानाजी दीखे । वह उनके पास गया । उनसे उसने गोखामीके सूदेदारद्वारा पकड़ा कर के जानेकी धात सुनायी । तानाजीने बताया—‘वे गो-आशुण-भतिपालक छन्नपति शिवाजी थे । मैं उनका लेकर हूँ ।’

आहुण तो वह सुनते ही मूर्छित हो गया । खेतभा लौटनेपर सिर फीड-फीटकर रोने लगा—‘मैं ऐसे अतिथि थे । सुह अधमकी दरिद्रता दूर करनेके लिये उन्होंने अपने-आपको सूखुके सुखमें दे दिया । सुह पापीके द्वारा ही वे शकुके हाथों दिये गये ।’

आहुण बार-बार दृढ़ करने लगा कि दो सहज अशकियाँ तानाजी के लिए और उससे किसी प्रकार छन्नपतिको छुड़ायें । तानाजी पहले ही पता लगा कर आये थे कि सूदेश्वार कल किस समय, किस भारीसे शिवाजीको दिल्ली ले जायगा । आहुणको उन्होंने आश्वासन दिया । खुदेश्वार जब छन्नपतिको लेकर सिरपाहियोंके साथ राजिमें चला, घनमें पहुँचते ही तानाजीने अचानक आकरण कर दिया । उनके साथ पचास लैविंग थे । शिवाजीको उन्होंने सूदेश्वारके हाथसे छुपा दिया । —इ०

(७)

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर

बंगलमें बदल एड़ा था । लोग झुज्जुमे व्याकुल होकर भाग ले ले थे । ऐसे बदलसरपर भिक्षा भाँगता अनुच्छेदे लिये लाभाविक हो जाता है । यद्यक्षणमें ईश्वरचन्द्र विद्यासागरके दर्शीप एक अस्यन्त दुर्दृश, फटे चिथड़े लेपेषे वालक आया । उसने आर्थिता की—‘महाशय ! कृपा करके एक पैसा दीजिये । मैं और मेरी माता भूखी हैं ।’

विद्यासागरने पूछा—‘यदि मैं तुम्हें चार पैसा हूँ तो क्या करोगे ?’

‘दो पैसेसे भोजन लूँगा । दो पैसे भाताको हूँगा ।’
उच्चारे कहा ।

‘यदि तुम्हें वे आमे दिये जायें ।’
विद्यासागर बोले ।

लड़केको लवा कि उससे परिहास मिया जा रहा है । वह विश्वास ही नहीं कर सकता या कि कोई दो आने उसे देगा । उसने लौटनेका उपकरण करते कहा—‘मुझ दरिद्रसे परिहास करना आपको उचित नहीं है । पैसा नहीं देना हो तो भत दीजिये ।’

‘मैं परिहास नहीं करता ।’ विद्यासागरने लड़केका हाथ पकड़ लिया और बोले—‘सचमुच तुम्हें मैं चार आने हूँ तो उसका द्वारा करोगे ?’

‘चार आने ?’ लड़केने आश्चर्यसे बोला—‘तब तो मेरी विपत्ति ही कड़ जायगी । दो आनेका भोजन लूँगा अपने और मांकी लिये । दो आनेके आप लेकर बैठूँगा । उससे मेरी जीविका चल निकलेगी ।’

विद्यासागरने उसे पक्क रूपया दिया । लड़का प्रसन्न होकर चला गया । विद्यासागरजीको यह धृतना, भला, स्वा स्वरूप रहती; किन्तु वे घर्ष पीछे थे फिर बर्देश्वार गये । उन्हें देखते ही एक दूकानसे दूकानसे उत्कर ध्राम किया और अपनी दूकानमें बालनेकी प्रार्थना की । विद्यासागरने जब कहा कि वे उसे नहीं पहचानते, तब उसके नेंबोंमें आँसू उमड़ पड़े । उसने विद्यासागरसे रूपया पानेकी धृतना सुनायी । रूपया पालक वह केपीवाला बन गया था । धीरे-धीरे उसने इस फरके अब दूकान खोल ली थी । विद्यासागर उसे उत्साहित करनेके लिये उसकी दूकानमें पाये और देवतक थैके रहे ।

* * *

उन दिनों ईश्वरचन्द्र विद्यासागर खर्च दूष्टमें रहते थे । एक दिन उन्हें शुभकाला एक व्यक्ति आया और बोला—‘मैं कई दिनोंसे आपसे मिलनेके प्रयत्नमें था । कलकासोतक भटक आया हूँ ।’

विद्यासागर बोले—‘देखिये, भोजन तैयार है । चलिये, पदले भोजन कर लीजिये । फिर हम दोनों जाते हर्ते हैं ।’

यह बात छुटते ही उसके देखोंसे दृष्टि चाँद
गिरजे गये । विधासभावने देखेका फारब पूछा तो
बोला—‘मुझे तो आपकी क्यालुटाले देखा थाया ।
गरीबको कौन पूछता है । फैर दिनबोरे भ्रमक रहा है ।
पानी पीनेकी बात कूर फिसने दैडोतफको नहीं
कहा और आप हैं कि...’ ।

‘इसमें हो क्या गया ?’ विधासभावने उसे
चीरमें ही रोक दिया । ‘अपने घर आये अस्तिथिका
सत्कार उनको फरजा ही द्याइये । अपने ग्रन्थपठ
बलकर भोजन खरें ।’

उड़े सत्कारसे उन्होंने उसे भोजन कराया ।
पीछे पूछा कि वह उनके पास फिस जामखे
थाया है । —सु०

(८)

कवरह कुण्ड नाथ

नारायण नाथर नावणकोर राज्यके तोल्दर
शासमें एक अधिकारीके हाथीके महावत थे । एक
दिन हाथी पागल हो गया । उसने अपने महावत-
की लड़कर युगिष्ठर पहल दिया और अपने बाँध-
से उनकी पीठमें चोट की । संयोग अच्छा था,
हाथीको दूसरे लोगोंने धूममें ढार लिया । नारायण
नाथर मूर्छित हो गये थे । उन्हें अस्पताल
पहुँचाया गया ।

हाथीका दूँह पीठमें भीतरतक मुस्त गया
था । आब बहा था । डाक्टरने कहा—‘इसमें
टाँके लगाना कठिन है । फिसी जीवित मनुष्यका
डेंड्र पॉड लगाना मांस मिले तो उसे आपमें भर-
कर ठाँका लगाया जा सकता है ।’

परिचारु परिचित, जिन—सोई नहीं निकला,
जो अपने देहका लगभग तीन पाँच मांस देखा
थाहै । लेकिन समाचार फैला तो एक समझ
युक्त क्षेत्र अस्पताल थाया । उसने डाक्टरसे
कहा—‘मेरा मांस लेकर देगिके प्राण बचाइये ।’

जिन किसी सत्कारके दूसरोंके लिये मांस-
दूत जर्जेवाले ये अहानुभाव थे—कान्हड़ कुण्ड
नाथर । उनकी बाँधसे मांस लेकर डाक्टरने
रोगीरा आए भरा । नारायण नाथरके प्राण बचा-

ये । कान्हड़ कुण्डको भी जाँघका बाब भरने-
तक अस्पतालमें रहना पड़ा । —सु०

(९)

बाँध

बर्माके इवेलू गाँधको पाल एक बड़ा बाँध
आख-पालके किसानोंने बनाया था । वर्षा समाप्त
होनेपर उस बाँधके पानीसे खेत सौंचे जायेगे,
यह आशा उचित ही थी । लेकिन उस दर्ब वर्षा
एक दिन बहुत अधिक हुई, जहाँ उमड़ गई ।
यदि नदीका सल किनारा तोड़कर बाँधमें खला
जाय तो बाँध टूट जायगा । यांसके द्वारसे धने
वरचाले बाँधमें प्रलय ही आ जायेगी । इस
दारोरसे साधारण फरजेके लिये दौकीदारने हवामें
गोली लडायी । गाँधके लोग बाँधकी रक्षामें जुट
गये । मिट्टी, परथर, देत, लकड़ी, धौंस बाँधके
किनारे डालकर उसे सुइड़ किया जाने लगा ।

माँगको बाँधके निरीक्षणका फाम दिया गया ।
वह बूँदा देख रहा था । एक स्थानपर
लंबा यतला छेद उसे दीखा, जिससे नदीका
जल भीतर बाँधमें आ रहा था । योहे सूण भी
दो तो उगड़ती नदी बहाँ बाँध तोड़ देगी—
यह बह लमझ गया । किलीको चुकारनेका समय
नहीं था । वह स्वयं छेदको अपने शरीरसे द्वा-
रा छड़ा दो गया ।

माँगको जलमें छेद होना पड़ा था । वर्षा
दो रही थी और इवा पूरे वेगपर थी । उसका
शरीर अकड़ने लगा । भयंकर दृढ़ होने लगा
हस्तियोंमें । धेवनासे मूर्छित हो गया, किंतु शरीर
अलगके वेगके कारण बाँधसे लटा रहा ।

‘भाँग कहाँ गया ?’ गाँधके लोगोंने थोड़ी देरमें
उसकी खोज की । उसे बाँध देखकर उन लोगोंको
सुषमा देनी थी । लोग स्वयं बाँध देखने चल
पड़े । उन्हें बाँधसे सटा भाँग दीखा, किंतु वह
मूर्छित था । उसके शरीर हडाते ही नदीका जल
बाँधमें जाने लगा । दूसरा मनुष्य वह छेद द्वा-
रा खड़ा पुआ । लोगोंने बहाँ बाँधको सुइड़
लिया । गाँगकी उड़ाकर गाँव पहुँचाया गया । —सु०

(१०)

मैडम ब्लैबट्टस्की

मैडम ब्लैबट्टस्कीका जन्म रस्तके दक्षिण भागमें
इकट्ठरीनसलो स्थानमें सन् १८३१ई०में एक समृद्ध
परिवारमें हुआ था। उन्होंने धियाँसफी समाजकी
स्थापनामें अमित योग दिया था और लोगोंमें भिर्सल
अध्यात्मशालिके प्रति अद्वा जगायी।

उनके जीवनका एक मार्मिक ग्रसङ्ग है, जिससे
उनके परद्वित-विन्तनवर प्रकाश पड़ता है। अपनी
धिचारथारके प्रधारके लिये वे अमेरिकाके न्यूयार्क
वारामें जा रही थीं। उन्होंने प्रथम श्रेणीका टिकट
दिया था और हावरमें जहाजपर चढ़ने ही जा रही थीं
कि देखा, एक छोटी अपने दो बच्चोंको साथ लिये सिसक-
कर रो रही है। ब्लैबट्टस्कीने रोनेका कारण पूछा।

‘धहिन ! मेरे पतिने मुझे अमेरिका चुलानेके
लिये रुपये मेजे थे। जहाजके एक धोनेवाल एजेंट-
ने मुझे नकली टिकट देकर मेरे दैसे रात लिये।

मैंने उसको बहुत खोजा, पर वह दीखता ही नहीं।
मेरे टिकट साधारण श्रेणीके थे ।’ लीने अपनी
विवशता प्रकट की। ब्लैबट्टस्कीका कोमल हृदय
उसकी वेकनासे द्रवित हो उठा।

‘धहिन ! वह इतनी ही बात है ? इसके लिये
रोनेधोनेसे लाभ ही क्या है ?’ कहणामधी
ब्लैबट्टस्कीने मुखकराकर कहा। लीको अपने धर्मचौ-
सहित धीछे-धीछे आनेका संकेत किया। वह
ब्लैबट्टस्कीकी सद्भावनासे आशान्वित हो उठी।

ब्लैबट्टस्की जहाजके एजेंटके पास गयीं, उन्होंने
अपना प्रथम श्रेणीका टिकट बदल दिया, उसके
स्थानपर साधारण श्रेणीके चार टिकट ले लिये।

‘धाओ, धहिन ! जहाज खुलना ही चाहता है।
हम शीघ्रतासे अपने स्थानपर चले चलें ।’
ब्लैबट्टस्कीके धीछे-धीछे छी अपने दोनों बच्चे लेकर
जहाजपर चढ़ गयीं। ब्लैबट्टस्कीने साधारण स्थान-
पर खड़ी होकर न्यूयार्ककी यात्रा पूरी की। —८०

परोपकार धर्म और परापकार अधर्म है

परम श्रेष्ठ जन समुद्र हानि सह अपनी, करते पर-उपकार ।

श्रेष्ठ मनुज, जो निज हितकी रक्षा कर, करते पर-उपकार ॥

मध्यम जन, जो निज हित करते, पर-हितका करते न विचार ।

अधम मनुज, जो स्व-हित समझकर, पर-हितका करते संहार ॥

नीच मनुज, जो स्व-हित-विना भी करते संतत पर-उपकार ।

महानीच जन, अहित स्वर्यका भी कर, करते पर-उपकार ॥

* * * * *

धर्म वही है, होता जिससे सदा-सर्वदा पर-उपकार ।

उससे ही होता निश्चय अपना भी सहज सत्यउपकार ॥

वह अधर्म है, जिससे होता तनिक दूसरोंका अपकार ।

उससे अपना भी निश्चय ही होता सहज अमित अपकार ॥

शुद्धिमान-जन इसीलिये नित करते रहते पर-उपकार ।

क्योंकि उसीसे ही होता है उनका भी अपना उपकार ॥

संत अहित-कर्त्ता का भी हैं कभी नहीं करते अपकार ।

अपना भूल हितहित, करते सामाजिक संघका उपकार ॥

संत न कभी जानते कहते—‘मैं करता हूँ पर-उपकार’ ।

रविके सहज प्रकाश-दान सम सवको नित देते उपकार ॥

सेवक-धर्मके आदर्श

(१)

भक्त हनुमानजी

सुनु कपि तोहि उरिन मैं नहीं ।

—मर्यादापुरुषोत्तमको यह स्त्रीकार करना पढ़ा । सेवाकी भावो साकार प्रतिमा हैं—श्रीपवनन्दुमार । सीता-शोधके लिये समुद्र-पार करते समय जब जलमग्न मैताक पर्वत कपर उठा और उसने विश्राम कर लेनेकी प्रार्थना की, तब हनुमानजीने उसे उच्चर विद्या—

राम काज कीन्हे चिनु मोहि कहाँ विश्राम ।

उनका एक-एक प्रवास, उनका जीवन ही जैसे 'रामकाज'के लिये है । एक कथा संत-स्तम्भजयमें कही जाती है—अयोध्यामैं जब मर्यादापुरुषोत्तमका राज्याभिषेक हो गया, हनुमानजी वहाँ रहने लगे । उन्हें तो श्रीरामकी सेवाका व्यसन ठहरा । रघुनाथजीको कोई बस्तु चाहिये तो हनुमानजी पहिलेसे लिये उपस्थित । रामजीको कुछ प्रिय है तो ये उसे अक्षयकाल करने लग गये । किसी कार्य, किसी पश्चायके लिये संकेततक करनेकी आवश्यकता नहीं होती । सच्चे सेवकका लक्षण ही है कि वह सेव्यके लितकी बात जान लिया करता है । वह समझता है कि मेरे साम्राज्यका कब क्या चाहिये और क्या क्या जिय लगेगा ।

हनुमानजीकी तत्परताका परिणाम यह हुआ कि भरतादि भावयोंको भी प्रभुकी कोई सेवा प्राप्त होना कठिन हो गया । सब उत्सुक रहते थे कि उन्हें कुछ तो सेवाका अवसर मिले; किन्तु हनुमान् जब दिघिल हों, तब तो । अतः सभने मिलकर गुप्त मन्त्रणा की, एक योजना बनायी और श्रीजानकीजी-को अपनी ओर मिलाकर उनके माध्यमसे उस योजनापर श्रीरामजीकी स्त्रीकृति ले ली ।

हनुमानजीको कुछ पता नहीं था । वे सरखू-सात करके प्रभुके समीप जाने लगे तो ऐक दिये गये—‘मुनो हनुमन् ! महाराजाधिराजकी सेवा मुल्यवस्थित होनी चाहिये । आजसे सेवाका प्रत्येक

कार्य विभाजित कर दिया गया है । प्रभुने इस व्यवस्थाको स्त्रीकृति दे दी है । जिसके लिये जब जो सेवा निष्ठित है, वही वह सेवा करेगा ।’

‘प्रभुने स्त्रीकृति दे दी है तो उसमें कहना क्या है ।’ हनुमानजी बोले । ‘यह व्यवस्था बता दीजिये । अपने भागकी सेवा मैं करता रहूँगा ।’

सेवाकी सूखी सुना दी गयी । उसमें हनुमानजी-का कहीं नाम नहीं था । उनको कोई सेवा दी नहीं गयी थी; क्योंकि कोई सेवा ऐसी बची ही नहीं थी, जो हनुमानको दी जाय । सूखी सुनकर योले—‘इससे जो सेवा बच गयी, वह मेरी ।’

‘हाँ, वह आपकी ।’ सब सोचते थे कि सेवा तो अब कोई बची ही नहीं है ।

‘प्रभुकी स्त्रीकृति मिलनी चाहिये ।’ पूरी सूखीपर स्त्रीकृति मिली तो इस व्यवस्थापर भी तो स्त्रीकृति चाहिये । हनुमानजीने थात प्रभुकी स्त्रीकृति लेकर पक्की करा ली ।

प्रभुको जब जम्हाई आयेगी, तब उनके सामने चुटकी बजानेकी सेवा मेरी ।’ हनुमानने जब कहा, सब चौंक गये । इस सेवापर तो किसीका ध्यान न रखा ही नहीं था । लेकिन अब तो स्त्रीकृति मिल सुकी प्रभुकी । राजसमाजमें प्रभुके चरणोंके समीप उनके श्रीमुखकी ओर नेत्र लगाये हनुमानजी दिनभर बैठे रहे । रात्रि हुई, प्रभु अन्तःपुरमें पथरे और हनुमानजी पीछे-पीछे चले । द्वारपर रोक दिये गये तो हट आये ।

यह क्या हुआ ? श्रीरामजीका तो सुख ही छुला रह गया । वे न बोलते हैं न संकेत करते हैं, सुख खोले बैठे हैं । जानकीजी व्याकुल हुई । माताबूंदोंको, भावयोंको समाचार मिला । सब व्याकुल, किसीको कुछ सद्घाता नहीं । अन्तमें गुरु वसिष्ठ छुलाये गये । महर्षिने आकर इथर-उधर देखा और पूछा—‘हनुमान् कहाँ है ।’

दृঁढ़ा गया तो राजसदनके एक कंगूरेपर बैठे दोनों दाशोंसे चुटकी बाजाये जा रहे हैं और नेत्रोंसे

बशु हार रहे हैं, शरीरका दोम-नोम खड़ा है।
सुखसे गद्दद लरमें कीर्तन चल रहा है—‘श्रीराम
जय राम जय राम !’

‘आपको गुरुदेव बुला रहे हैं !’ शत्रुघ्निमारने
कहा तो उठ खड़े हुए। चुटकी बजाते हुए ही
नीचे पहुँचे।

‘आप यह क्या कर रहे हैं ?’ महर्षि शृंगा।

‘प्रभुको जम्हाई आये तो चुटकी बजानेकी भेटी
सेवा है।’ हनुमानजीने कहा। ‘मुहे अन्तःपुरमें आने-
से रोक दिया गया। अब जम्हाईका क्या ठिकाना,
क्या आ जाय। इसलिये मैं चुटकी बराबर बजा रहा
हूँ, जिससे अपनी सेवासे विद्धित न रह जाऊँ।’

‘तुम चुटकी बराबर बजा रहे हो; इसलिये
श्रीरामको तुम्हारी यह सेवा स्वीकार करनेके लिये
बराबर जन्मण-सुद्धामें रहना पड़ रहा है।’ महर्षि ने
रोका ‘निदान कर दिया। अब हृषि करके
इसे धंद कर दो।’

हनुमानजीने चुटकी धंद की तो प्रभुने सुख
धंद कर लिया। अब पथनकुमारने कहा—‘सो मैं
यहाँ प्रभुके सामने धैरूँ ? और सबा सर्वत्र प्रभुके
सामने ही जब-जब प्रभु जायें तब उनके श्रीमुखको
देखता हुआ साथ बना रहूँ। क्योंकि प्रभुको जम्हाई
कब आयेगी, इसका तो कोई लिखित समय है नहीं।’

प्रभुने धौरेसे श्रीजानकीजीकी ओर देखा।
तात्पर्य यह था कि ‘ओर करो सेवाका निभाजन।
हनुमानको सेवा-विद्धित करनेकी चेष्टाका सुफल
देख लिया ?’

‘यह सब रहने दो !’ महर्षि वशिष्ठने व्यवस्था
दे दी। ‘तुम कैसे पहिले सेवा करते थे, कैसे ही
करते रहो।’

अब भला गुरुदेवकी व्यवस्थाके विचङ्ग कोई
क्या कह सकता था। उनका आदेश तो सर्वोपरि है।

—सु-

(२)

आदर्श सेवाके मूर्तिमान् खस्प श्रीहनुमानजी

(लेखक—श्रीहनुमानजी ‘पाण्डा’)

हनुमान सम नहि वक्षभागी। नहि कोठ राम चरन अनुरागी।
मिरिजा खानु प्रीति सेवकाहै। बार बार प्रभु निज मुख गाहै।

आइये, अब हम कुछ क्षणके लिये भगवान्के
आनन्द चरणानुरागी, सेवक-श्रेष्ठ श्रीहनुमानजीके
आदर्शमय पावन चरित्रका अवलोकन करें। प्रस्तुत
हृदय उस समयका है, जब अगवान् श्रीरामचन्द्रजी
अपने भाइयों तथा प्रिय सेवक श्रीहनुमानजीके सङ्ग
अमररूपमें विद्यमके हेतु पधारे हैं। उपवनमें
पहुँचकर श्रीभरतलालने अपना पीताम्भर जमीनपर
विछा दिया, प्रभु उसपर विराजे और सभी भाई
उनकी सेवामें निरत हो गये। सभीने प्रभुकी
एकाकी सेवाका कार्य-सम्बादन प्रारम्भ किया, जिसु
पवनसुत तो एक असामान्य सेवक ढहरे न। अतः
इन्होंने पेसे कार्यका चयन किया, जिसमें भक्त तथा
भगवान् दोनोंकी सेवाका सुयोग सुलभ होता रहे।
यही है इनके चरित्रकी विशेषता। औरेकी सेवासे
अकेले प्रभु सुख पा रहे हैं, पर इनकी सेवा समस्त
व्यक्तियोंको अनुप्राणित कर रही है। निम्न
चैपियाँ उक्त कथनकी प्रामाणिकताके लिये पर्याप्त
हैं—

हन लक्ष श्रम प्रभु श्रम पाहूँ। नए जहाँ सीतल अर्हराहूँ।
भरत दीन्ह निज कलन ददाहूँ। भैंडे प्रभु सेवाहैं सब भाहूँ।
मालतसुत तथ भालत करहूँ। खुलक घुप्त लोचन जल भरहूँ।

इन्होंने भगवान्को पंखा झालनेका कार्य कुना,
जिससे इनकी सेवा सबको मिलती रहे।

भानसप्तम चार पात्र श्रीलक्ष्मलाल, श्रीभरतलाल,
श्रीहनुमतलाल और भगवान् श्रीरामके सहानु-
सेवकोंमें यिने जाते हैं। इसका निर्णय स्वयं भगवान्
हांकरने ही किया है। वे औनोंको भक्त तो अवश्य
मानते हैं, पर हनुमानके समान ‘भास्यवान् भक्त’
और किसीको नहीं बताते। इसका प्रधान कारण
है कि स्वयं प्रभु तथा जगज्जननी माँ जानकीने
श्रीहनुमानजीको जितना स्वेद दिया और हृदयके

जिस भागमें बैठा था, वहाँ तक शायद और कोई पहुँच ही न सका। बाटिकामें रखी सीताको खोजते हुए जब हनुमानजी अशोक-बाटिकामें मौके समक्ष उपस्थित होते हैं और प्रभु-कथाके माध्यमसे अपना परिचय देकर अपनेको प्रसुका दास अवशिष्ट कर देते हैं, तब देव-दुर्लभ मौके उस दुर्लभ अनुग्रहको प्राप्त करते हैं, जिसको प्राप्त कर लेनेके पश्चात् सुधिमें कोई चीज ऐसी रह नहीं जाती, जीव जिसकी कामना करे। यो तो सारी सुषिटि ही उनकी संतान है, साधपर उनका ममत्व और स्नेह समरूपमें ही रहता है किंतु उनका विशेष आशिष्प-पूर्ण चर्चन पवनपुत्रके प्रति उनके अतिशय स्नेह की प्रगाढ़ता और असीमताका परिचय देता है।

आशिष दीनिह रामप्रिय जाना। हेहु तत्त्व बल सील निधाना॥
अजर अमर गुरुनिधि सुत हेहु। करहु बहुत रघुनाथक छोहु ब
करहु हृषप्रभु अस सुनि काना। निर्भैर प्रेम मगन हनुमाना॥
बार बार नाएसि पद सोसा। बोझ बचन जोरि कर कौसा॥
अय कुरहत्य भयड़ मैं माता। आशिष तद अभोद विद्याता॥

इस प्रकार एक ही साथ प्रभु-प्रेम, शीढ़ तथा शुणनिधान एवं अजर-अमर होनेकी दिल्य अमोघ आसीससे विभूषितकर ग्राने मानो स्नेहवश सभी कुछ दे दिया। मौका वास्तविक यहीं उमड़ा हुआ विळायी पड़ता है और उस उमड़े हुए स्नेह-समुद्र-की इतनी निकटता ग्राप करनेवालेके समान वास्तविक कोई पुण्यवान् और महान् हो ही नहीं सकता।

उनकी महानताके परिचयका दूसरा स्थल है जब वे प्रभुके समक्ष मौं जानकीकी खोजका संघाद, उनकी वात्सविक स्थितिका परिचय और चूद्धामणि भेट करते हैं। प्रभु लौकिक दृष्टिसे सीताका संघाद पानेके लिये अति विहळ हो रहे हैं और सीताकी स्मृतिमें व्याकुल, मौन होकर बैठे निर्ममेष भावसे पूर्णीको देख रहे हैं। उसी समय श्रीहनुमानजीका आगमन होता है। श्रीज्ञामृष्टजीसे सीता-खोजकी खबर लग जाती है। अब प्रभु हनुमानजीको देखते ही छुद्यसे लगा लेते हैं। कपिनाथक उनको सारे समाचार सुनाते हैं। उस समय प्रेम-विहळ होकर प्रभु श्रीहनुमानजीको वह प्रेमपूर्ण व्यवहारका दून

करते हैं, जो शायद अन्यज किसीको ग्राप नहीं होता। भगवान् कहते हैं—

सुनु कपि तोहि समान उपकारी। नहिं कोउ सुर भर मुनि तनुपारी॥
प्रति उपकार करौं का तोहा। सन्मुख होइ न सफल मन मोरा॥
सुनु सुत तोहि उरिन मैं नहीं। देखेहुँ करि चिचार मन मही॥
पुनिसुनि किएहि चित्त चुरलाता। लोधन नीर पुलक धति गाता॥

श्रीहनुमानजी प्रेम-न्याकुल हो प्रभुके चरणोंपर गिर जाते हैं और फिर कितनी सतकैता धरते हैं, यह दर्शनीय है।

दो०—सुनि प्रभु बधन विलोकि सुख गत हरवि हनुमंत।

चरन परेह प्रेमाकुल आहि आहि भगवंत॥

बार बार प्रभु चहु डावा। प्रेम मगन तेहि उठव म भावा॥
प्रभु कर पंकज कपि के रीसा। सुनिरिसी दसा मगन गौरीसा॥
साधान मन करि पुनि संकर। लागे कहन कथा अति सुंदर॥

भक्त हनुमान् भगवान्के चरणोंपर प्रेमविहळ अवस्थामें पड़े हैं और उसी हालतमें पड़े रहना पसंद करते हैं; क्योंकि प्रभुके उठानेपर भी वे उठते नहीं हैं। उठे भी तो कैसे ? जीवके लिये सचमुच ही वह घड़ी अन्यन्त महत्वकी होती है, जब उसके गिरनेपर कोई उसे उठानेवाला होता है। साधारण सहायकको पाकर भी हम उसको अदि उपकारी मानते हैं; किंतु जिसे भगवान् स्वयं अपने हाथ फैलाकर उठानेको प्रसुत हैं, उससे बड़ा भान्यवान् न्यकि और हो ही कौन सकता है ? हनुमानजीका मस्तक भगवान्के धरणोंपर है और प्रभुका कल्याण-मय कर-कमल उनके सौभाग्यशाली शीर्षपर। भक्त तथा भगवान्के इस अनन्यविलक्षण प्रेम-व्यवहारको देखकर जगद्गुरु, शुद्धिविशारद, भूतभावन भगवान् ज्ञानकर,—जो प्रभुके अनन्य प्रेमी हैं और निरन्तर उन्हींके शुणगानमें रत रहते हैं, मग्न हो जाते हैं। उन्हें आत्मविस्मृति-सी हो जाती है और कथाका प्रवाह रुक जाता है। मौं पार्वती देखती है कि इस विभोर अवस्थासे इनका अपने-आप अगना असम्भव है, तब वे जगती हैं। व्यान-मुद्रा दूउनेपर उन्हें रुपाल आता है और वे साधान होकर पुनः कथा आरम्भ करते हैं। अस्तु । गिरनेके बाद फिर प्रभु

हनुमन्तके मस्तकपर हाथ रखकर जब कहते हैं—पुष्ट ! उठ जाओ, तब प्रभुका उद्दारतापूर्ण वरदहस्तका आश्रय प्राप्तकर वे उठ बैठते हैं। तुलसीदासजीकी भाषामें हनुमान्जी सोचते हैं—
दो—तुलसी तून जल कृष्णो निरव निपट निवाज।
कै राजे कै लैग चले बाहौ गहेकी लाज।

सेवक हनुमान् श्रभुके इस पावन शीतल आश्रयको पाफर पूर्ण आश्रय हो गये और उन्हें असीम तोप प्राप्त हुआ। यह है उनके चामत्कारिक सेवकभावकी विशेषता।

(३)

सुप्रिया

‘मृतप्राय धालक विहारके दरवाजेपर कुधासे पीड़ित होकर अन्तिम साँस ले रहा है, भन्ते।’ मिथु आनन्दने जेतवन विहारमें धर्मप्रवचन करते हुए भगवन् शुद्धका ध्यान आकृष्ट किया। आनन्दका हृदय करणसे परिपूर्ण था। उन्होंने निवेदन किया कि समस्त आवस्ती नगरी अकालप्रस्त है। लेग भूखसे तड़प-तड़पकर राजपथपर अनन्दनकी याचना कर रहे हैं, लोगोंके शरीरमें मांस और रक नामकी घस्तुका अभाव हो चला है। केवल अस्थिमान शेष है। चारों ओर भुखमरीका नंगा नाच हो रहा है। अनेक प्रकारके रोग फैलते जा रहे हैं। कठोर हृदय अध्य-व्यवस्थायियोंने अन्त गोदाममें भर लिया है, उन्हें भय है कि जनता अन्त लूट लेगी। आनन्दने अकालसे बचनेका उपाय पूछा।

‘उपाय है’ तथागतने आनन्दका समाधान किया। धर्मप्रवचनमें समिलित व्यवसायियोंकी मण्डलीने वहाना बनाना आरम्भ किया। किसीने कहा कि हमारे खलिहान और गोदाममें अन नहीं है; किसीने बत बनावी कि आवस्ती-ऐसी विशाल नगरीमें घर-घर अन्तकी पूर्ति करना असम्भव है।

‘पदा इस भयंकर दुर्भिक्षसे जननाशन करनेवाला आवस्तीमें कोई प्राणी नहीं रह गया ?’ शास्त्रने चिन्ता ग्रकट की।

‘है—बहु प्राणी मैं हूँ। मैं आपकी आकासे जन-

सेवावत ग्रहणकर लोगोंको अकालसे मुक्त करूँगी।’ भगवान् तथागतके शिष्य सेठ अनाथपिण्डदकी कल्या सुप्रियाके कण्ठमें कहणरसका संचार हो उठा।

‘इतने बड़े जनसमूहकी भूख-ज्वाला शान्त किस तरह कर सकती तुम ?’ तथागतने सुप्रियाकी एरीक्षा ली।

‘मैं आवस्तीके राजपथपर अपना भिक्षा-पात्र लेकर अन्नदानके लिये निकल पड़ूँगी। आपकी सहज करणसे सिङ्गित यह भिक्षा-पात्र कभी खाली नहीं रह सकता।’ सुप्रियाके उद्धारसे भिक्षु आनन्दका हृदय गद्दद हो उठा। भगवान् तथागतने उसको अपने करणपूर्ण आशीर्वादसे प्रोत्साहन दिया।

आवस्तीके सबसे बड़े धनी सेठ अनाथपिण्डदकी कल्या सुप्रिया भिक्षा-पात्र लेकर राजपथपर निकल पड़ी। नगर-निवासियोंका हृदय द्रवित हो उठा। उसका भिक्षा-पात्र क्षणभरके लिये भी खाली नहीं रह सका। पात्रको अन्नसे परिपूर्ण रखनेके लिये लोग उसके पीछे-पीछे जन-सेवा-भावनासे प्रेरित होकर चलने लगे। सुप्रियाने अकालग्रस्त ग्रामियोंको मृत्युके सुखमें जानेसे ध्या लिया। रोग और महामारीने आवस्तीकी सीमा छोड़ दी। उसने दीन-दुखियोंकी सेवा और ऐगियोंकी परिचर्या तथा शुश्पूर्ण अपने जीवनका सदुपयोग किया। आदर्श लोकसेविका थी सुप्रिया। उसने निष्काम जनसेवा-प्रतकी आजीवन साधन की। —४०

(४)

महात्मा सेरापियो

सेरापियोकी सेवा-धृति उच्च कोटिकी थी। उन्होंने ईसाकी धौथी शताब्दीमें मिश्र देशको अपनी उपस्थितिसे गैरवान्वित किया था। वे बड़े सरल और उदार थे। संत सेरापियो सदा मोटे कपड़ेका ढोगा पहनते थे और समय-समयपर दीन-दुखियोंकी सहायताके लिये उसे बेच दिया करते थे। कभी-कभी वे आवश्यकता पड़नेपर अपने-जापको भी कुछ समयके लिये बेचकर गरीबोंकी सहायता करते थे।

एक समयकी चात है। उन्हें फटे-हाल देख कर उनके मित्रको बड़ा आश्वर्य हुआ।

‘भाई ! आपको मंगा और भूला रहनेके लिये कौन विवश कर दिया करता है ? आपने यह कैसा चेश बना रक्खा है ?’ उनके मित्रकी विज्ञासा थी।

‘यह चात पूछनेकी नहीं, समझनेकी है। दोनों दुखी असहाय प्राणियोंकी विपक्षिसे रक्षा करना बहुत थड़ी मरनवता है। मानवके प्रति मरनवका पवित्र धर्म है यह ! मैं यिन उनको सहायता किये रह दी नहीं पाता। जबतक मैं उन्हें सुखी और संतुष्ट नहीं देख लेता, तबतक मेरा मन अत्यन्त अशानत रहता है ! मेरे धर्म-अन्यथका सुझे यह आदेश है कि अपना सब कुछ बेचकर भी गरीब और असहायोंकी सेवा करनी चाहिये। सुझे ऐसा करनेमें वहाँ शान्ति मिलती है।’ महात्मा सेरापियोंने मित्रका समाधान किया।

‘मैं आपके विचारोंकी सराहना करता हूँ। मैं आपका वह धर्म-अन्य देखना चाहता हूँ, जिसने आपको निष्क्रम सेवाका परमोक्तुष्ट भाव प्रदान किया है।’ मित्रकी उत्सुकता थी।

‘भाई ! असहायों और गरीबोंकी सेवा तथा सहायताके लिये मैंने उसको भी बेच दिया है। जो अन्य सेवाके लिये सारी बस्तु बेच देनेका आदेश देता है; पासमें कुछ न रहनेपर समय आनेपर उसे बेच देनेमें आपन्ति ही क्षमा हो सकती है। उसकी सबसे बड़ी उपयोगिता यह है कि वह दूसरोंके जाम वा जाय और सबसे बड़े लाभ-की चात तो यह है कि जिसके पास वह अन्य रहेगा, उसे भी परोपकार और सेवाका पवित्र ज्ञान मिलेगा, उसके जीवनमें सद्गुणोंका विज्ञास होगा।’ संत सेरापियोंने मित्रको सेवाका पवित्र आदर्श बताया।

—४०

(५)

निष्काम सेवाके पवित्र आदर्श—दैन्यमूर्ति संत फ्रान्सिस

संत फ्रान्सिस भध्यकालीन यूरोपमें सत्यविद्वा, दैन्यप्रियता, निष्कामसेवा, त्याग और ध्यानके

मूर्तिमान् सजीव उदाहरण थे। उन्होंने इटलीके असिसाई नगरमें सन् ११८२ ई०में जन्म लिया था। उनका परिवार बड़ा सुखी और समृद्ध था, पर उन्हें इस वासावरणमें वास्तविक आत्मशान्तिका दर्शन नहीं हुआ। दीनताका जीवन अपनाकर सत्यपर चलना उन्होंने अपना कर्तव्य समझा। उन्हें असिसाई नगरमें भिक्षा माँगते देख लोग उनको अपसानित करते थे, कुसेकी तरह डुर्दुरते थे। कहा करते थे कि यह नहीं आती, बड़े घरके होकर माँगते हो ! एर फ्रान्सिसने किसी भी कीमतपर अपनी जीवनसङ्गीनी—दीनता-रमणीका परित्याग नहीं किया !

निस्संदेह दीनता उनकी जन्मजात सम्पत्ति थी। अपने लिये कुछ भी शेष न रखकर परमात्मापर पूर्ण निर्भर हो जाना दैन्यका उच्चतम रूप है। दण्ड-नारायणकी सेवासे आत्मगत दैन्य पुष्ट होता है। फ्रान्सिसके विरक जीवनके पहलेकी एक घटना है। उस समय भी वे उदारता और दानशीलतामें सबसे आगे थे। कोई भिखारी उनके सामनेसे खाली हाथ नहीं जा पाता था। एक समय वे अपनी रेखामी कपड़ेकी दूकानपर बैठे हुए थे। उनके पिता दूकानके भीतर थे। फ्रान्सिस एक धनी ग्राहकसे बातें कर रहे थे कि अचानक दूकानके सामने एक भिखारी दीख पड़ा। बातमें उलझे रहनेके कारण फ्रान्सिसको उसका स्वाल नहीं रह गया, वह चला गया।

‘कितना भयानक पाप हो गया सुहसे !’ वे दूकान छोड़कर भिखारीकी खोजमें निकल पड़े। दूकानपर लाखोंकी सम्पत्ति थी, खुली पड़ी रह गयी। चिन्ता तो थी भिखारीकी।

आखिर भिखारीको कुँदूदकर धड़ी नम्र भाषामें उससे कहा—‘भैया ! सुहसे वहाँ भूल हो गयी। कपये-नैसेका लौदा ही ऐसा है कि आदमी उसमें उलझकर अंधा हो जाता है। आपने सुझे सेवाका अवसर दिया और मैं चूक गया।’ फ्रान्सिसने अपने पासके सारे रूपये उसे दे दिये और कोट पहना दिया।

फ्रान्सिसने संतोषकी सौंस ली, दण्ड-नारायणकी निष्काम सेवासे वे धन्य हो उठे।

संत फ्रान्सिसकी एक उपाधि है—‘कोहियोंके भाई’। एक समय वे घोड़ेपर सवार होकर अपनी गुफामें जा रहे थे। घोड़ी दूरपर सड़कपर उन्हें एक कोहियोंकी दीख पड़ा। उन्हें पहचाननेमें देर न लगी। क्योंकि कोहियोंको उन दिनों विशिष्ट कपड़ा पहनना पड़ता था, जिससे लोग उन्हें दूरसे ही पहचानकर कूसरा रास्ता पकड़ ले। संत फ्रान्सिसने घोड़ेको मोड़ना चाहा, पर उसका इशारा कोमल हृदय हाहाकार कर उड़ा कि ऐसा करना पाए है। कोहियोंकी अपना ही भाई है। भाई तो भाई ही है, फिर उससे छूणा करना, उसकी सेवासे विमुख होना अधर्म है। फ्रान्सिस चल एड़े कोहियोंकी ओर। निकट आनेका साहस नहीं होता था; कोहियोंका चेहरा विश्वस्त था, अङ्ग-प्रत्यङ्ग फूट गये थे, कहाँसे सड़ा रक्षा निकल रहा था तो कहाँसे पीछा नू रहा था। मवादसे भयानक दुर्गति आ रही थी। संत फ्रान्सिस उसके सामने खड़े थे, देख रहे थे। मनने समझाया कि वह सहायता चाहिये। संतने अपने सारे पैसे कोड़ोंके सामने डाल दिये। चलनेवाले ही थे, घोड़ा मुड़ ही चुका था कि हृदयने धिक्कार—भाईके प्रति ऐसा व्यवहार उचित नहीं कहा जा सकता। इसे पैसेकी आवश्यकता नहीं है। यह सेवाका भूला है—अङ्ग-प्रत्यङ्गमें भयानक पीड़ा है, कोमल अङ्गुलियोंका स्पर्श चाहता है यह।

फ्रान्सिस अपने आपको नहीं रोक सके। घोड़ेसे उतर पड़े।

‘भैया ! आपने मुझे अपने सेवाव्रतका ज्ञान करा दिया। मैं भूल गया था। आपने कितना बड़ा उपकार किया मेरा !’ फ्रान्सिसने कोहियोंका हाथ पकड़कर चूम लिया। उसके अङ्ग-प्रत्यङ्ग सद्गुराकर अपनी कोमल अङ्गुलियोंको पवित्र कर लिया। कोहियोंके घाव उनकी सेवासे ऐसे दीख पड़े मानो वे अमृतसे सौंचे गये हॉं। संत फ्रान्सिसकी निष्काम सेवा-भावना कितनी पवित्र थी ! ‘कोहियोंके भाई’ नाम उनके लिये कितना सार्थक है।

—८०

(६)

राठौरशूर दुर्गादास

जोधपुररेश महाराज असवन्तसिंहने सुगल-

यादगाहोंकी सत्ता छुरक्षित रखनेमें कितना योग दिया, इसे इतिहासकार जानते हैं; किंतु उन्हीं परमहितषीका जब स्वर्गवास हो गया, तब बादशाह औरंगजेबने उनके बघोध पुत्र अजीतसिंहका उत्तराधिकार अस्वीकार कर दिया।

औरंगजेबने जसवन्तसिंहके दीवान आशकरण के बीर पुत्र दुर्गादासको अठ हजार सर्वमुद्राओं का उत्कोश इसलिये देना चाहा कि वे विधवा महारानी तथा नन्हे राजकुमारजी रक्षासे हड़ जायें। दुर्गादासकी तलवारने बादशाहकी सैनिक ऊरताको ब्यर्थ कर दिया था और उस राठौर-शूरकी सामिसकिको लम्बुख यह कूट प्रयत्न भी ब्यर्थ रहा।

‘राजकुमार अजीतसिंह दिल्ली आ जायें। शाही इन्तजाममें उनकी शिक्षा और पालन होगा।’ औरंगजेब अपने भाईयों तथा पितातकसे जो व्यवहार कर चुका था, उसे देखते हुए उसकी इस घोषणापर राजपूत सरदार कैसे विश्वास करते ? कुमार अजीतसिंह दुर्गादासकी देख-रेख-में सुरक्षित रहे, पले और बड़े हुए। दुर्गादासने उन्हें अपने पराक्रमसे मेवाहूका अधिपति बनाया।

दुर्गादास घड़े कठोर संरक्षक थे। बालक अजीतसिंह परिअमी, न्यायपरायण हों। और उनमें विलासिता, प्रभाद-जैसे कोई दुर्गुण न आये—इस विषयमें वे बहुत सावधान रहते थे। सिंहासन प्राप्त करनेके पश्चात् एक दिन राजसभामें अजीतसिंहने उनसे कहा—‘आपने मेरा अभिभावक बनकर मुझे इतने दुःख दिये, मेरी इतनी लाड़ना की कि उसे सोचकर मुझे अब भी कष्ट होता है। उस कठोर व्यवहारके लिये मैं आपको दण्ड दूँगा। मिट्टीका करचा लेकर जोधपुरकी गलियोंमें भिक्षा माँगिये।’

‘जो आज्ञा !’ पूरी राजसभामें सज्जाटा चा गया था। जिस शूरके नामसे दिल्लीका बादशाह काँपता है, जिसने ग्राणपर खोलकर अजीतसिंहकी ग्राणरक्षा की और उन्हें इस योग्य बनाया, उसे यह दण्ड ? लेकिन दुर्गादासकी मौहोपर बल नहीं

पढ़ा। उन्होंने सिर हुकाकर राजाज्ञा स्वीकार कर ली।

थोड़े ही दिन बीते थे कि महाराज अजीत-सिंह घोड़ेपर बैठकर नगर घूमने लिए। साथमें अनेक सरदार थे, सैनिक थे। उन्होंने देखा कि एक धनीके हारपर हाथमें पूँछ करवा लिये हुर्गादास खड़े हैं। उनके शरीरपर फटे चखा हैं। महाराजने घोड़ा रोककर पूछा—‘आप प्रसन्न हैं?’

हुर्गादासने हाथ झोड़कर कहा—‘चहुत प्रसन्न हूँ। राजधानीमें प्रजा समृद्ध है। लोग उत्तम बल्कि पहचते हैं, अच्छे पात्रोंमें उत्तम भोजन करते हैं। मेरे लिये इससे बहुत प्रसन्नताका कारण दूसरा क्या हो सकता है? इससे क्या होता है कि मेरे शरीरपर चिठ्ठे हैं, मेरे पास पूँछ करवा है? मुझे कभी भोजन मिलता है और कभी नहीं मिलता! यदि मैंने आपको वचनमें कठोर नियन्त्रणमें न रखा होता तो आज मैं इस सम्मुखके भवनके स्वामीकी अपेक्षा अधिक सम्पन्न होता; किंतु उस दशामें राजधानीकी यह प्रजा उस अवस्थामें होती, जिसमें आज मैं हूँ।’

‘आप मेरे पिताके समान हैं। मुझे क्षमा करें।’ महाराज अजीतसिंह घोड़ेपरसे कूद पड़े। अपने अभिभावकका हाथ एकहृकर उनके साथ चेरैकूल ही राजभवन गये। —४०

(७)

संयमराय

स्वतन्त्र भारतके अन्तिम हिंदूनरेश पृथ्वीराज खौलान युद्धभूमिमें सूर्चित पड़े थे। उनका शरीर धावोंसे क्षतनविकृत हो रहा था। चारों ओर शब्द, कटेन्फटे अक्ष तथा धायल सैनिकोंका क्रहन्दन गूँज रहा था। युद्ध करती सेना पीछे हट चुकी थी। सैकड़ों गीध युद्धभूमिमें उत्तर आये थे और अपना पेड़ भरनेमें लग गये थे। उनके लिये मेरे और मरलेको पड़े, वर्धजीवित बराकर थे। इन गीधोंका एक मुँड पृथ्वीराजकी ओर बढ़ रहा था।

पृथ्वीराजके अक्षरद्धक संयमराय उनसे थोड़ी ही दूरपर पड़े थे। वे सूर्चित नहीं थे, किंतु इन्हे धायल थे कि उनके लिये खिसकना भी वसम्भव था। गीधोंको पृथ्वीराजकी ओर बढ़ते देखकर उनके मनमें आया—‘मैं अक्षरक्षक हूँ, जीवित हूँ और मेरे देखते उस अङ्गको गीध नोचें तो मुझे धिकार है।’

तलबार पास पड़ी थी। संयमरायने उड़ा लिया उसे और अपने हाथसे अपने शरीरका मांस टुकड़े-टुकड़े काटकर गीधोंकी ओर फेंकने लगे। गीध इन मांसके टुकड़ोंको खानेमें लग गये।

पृथ्वीराजके सैनिक राजाको न पाकर दूँझने लिए। पृथ्वीराज मिल गये, चचा लिये गये। संयमराय भी मिल गये, किंतु तबतक सूखुके पास पहुँच चुके थे। उनका शरीर भले चचाया न जा सका, उनकी उज्ज्वल कीर्ति तो अमर है।

—४०

(८)

सेवकधर्मीका यह आदर्श

समर्थ स्वामी रामदासजी बुद्ध हो गये थे। उनके सुखमें एक भी दाँत नहीं रहा था। लेकिन ग्रसाद लेनेके पश्चात् पान खानेका उनको पुराना अभ्यास था। अब उन्हें पनवड्हेमें कूटकर पान दिया जाता था। एक दिन पानमें चूना अधिक हो गया। उसे खानेसे श्रीसमर्थके सुखमें छाले हो गये। वे परम सहिष्णु कुछ खोले नहीं; किंतु जिसकी पान देनेकी सेवा थी, वह बहुत दुखी हुआ।

‘गुरुदेवको ऐसा कष्ट फिर नहीं होना चाहिये।’ यह वह सोचने लगा। उसे एक उपाय सूझ गया। सेवा चलती रही, लेकिन एक दिन किसीने उसे देख लिया। देखनेवालेको वही गलानि हुई कि वह सेवक स्वयं ताम्बूल सुखमें चबाकर तब उसे श्रीसमर्थको देता है। उसने छवपति शिवाजीको समाचार दिया।

कोधमें भरे शिवाजी समर्थके समीप आये। उन्होंने गुरुदेवको साम्बूल देनेवाले सेवककी अशिष्टता बतायी तो श्रीसमर्थ ऐसे बन गये, जैसे

कुछ जानते न हैं। उन्होंने सेवको बुलवाया। छत्रपति शिवाजी ही उससे योगे—“गुरुदेवको जिस पवबहुमें कृदकर तुम ताम्भूल देते हो, उसे ले आओ।”

सेवक चला गया। लौटा तो उसके हाथमें रक्षसे सना थल था। वह स्वयं रक्षसे लघायथ था। थालमें काढकर अपना पूरा जबड़ा उसने रक्खा था। थाल रखकर वह गुरुके चरणोंमें गिर पड़ा। उसके प्राण प्रयाण कर गये। शिवाजी सिर छुकाये थे। उनके नेत्रोंसे अशु उपक रहे थे।—मु०

(९)

पन्ना धाय

राणा संग्रामसिंह श्रीरागति प्राप्त कर चुके थे। चित्तौड़के सिंहासनपर उनके बड़े पुत्र विक्रमादित्य वैठे; किंतु उनकी अयोग्यताके कारण राजपूत सरदारोंने उन्हें गहीसे हटा दिया। राणा सौभाग्य को छोड़े पुत्र उद्यसिंह राज्यके उत्तराधिकारी घोषित किये गये, किंतु वे अभी छुः वर्षके बालक थे। अतएव दासीपुत्र बनवीरको उनका संरक्षक तथा उनकी ओरसे राज्यशासनका संचालनकर्ता घोषया गया; क्योंकि महारानी कस्तुरीका भी सर्ववास हो चुका था।

राज्यका लोभ मनुष्यको मनुष्य नहीं रहने देता। बनवीर भी इस लोभसे पिशाच बन गया। उसने सोचा कि थदि राणा सौभाग्यके दोनों पुत्र मार दिये जायें तो चित्तौड़का सिंहासन उसके हिते निष्कण्टक हो जायगा। एक रातको नंगी तलवार लिये वह अपने भक्षनसे उड़ा। उसने विक्रमादित्यकी हत्या कर दी।

राजकुमार उद्यसिंह सार्थकालका भोजन करके सो चुके थे। उनका पालन-पोषण करनेवाली, पन्ना धायको बनवीरके बुरे अभिग्राह्यका कुछ पता नहीं था। परंतु रातमें जूँडे पतल हठने वारिन आयी, तब उसने पन्ना को बनवीरद्वारा विक्रमादित्यकी हत्याका समाचार दिया। वह उस समय बहीं थी और बहाँका यह कुकुल्य देखकर किसी प्रकार भागी हुई पन्ना के पास आयी थी। उसने कहा—“वह यहाँ अता ही होगा।”

पन्ना चौंकी और उसे अपना कर्तव्य स्थिर करने में क्षणभर भी नहीं लगा। उसने बालक राणा उद्यसिंहको उक्तकर वारिनको दिया। ‘इन्हें लेकर उपचाप निकल जाओ। मैं तुम्हें धीरा नदीके तटपर मिलूँगी।’

उद्यसिंह सो रहे थे। उन्हें टोकरेमें लिटकर, उपरसे पतलें ढककर वारिन राजभवनसे निकल गयी। इधर पन्ना अपने पुत्र उन्होंनको कपड़ा उड़ाकर उद्यसिंहके पलंगपर सुला दिया। दोनों बालक लगभग एक ही अवस्थाके थे। अपने बालक स्वामीकी रक्षाके लिये उस धर्मनिष्ठा धायने अपने कलेजेके डुकड़ेका बलिदान देना निश्चय कर लिया था।

नंगी रक्षसनी तलवार लिये बनवीर कुछ क्षणोंके बाद ही आ धमका। उसने पूछा—‘उद्य कहाँ है?’

धायने अंगुलीसे अपने सोते पुत्रकी ओर संकेत कर दिया। तलवार उठी और उस अवोध बालकका सिर धड़से पुथक् हो गया। बनवीर चला गया। लेकिन कर्तव्यनिष्ठ पन्ना धायके मुखसे न चीख निकली, न उस समय नेत्रोंसे आँख निरे। उसे तो अभी अपना धर्म निभाता था। उसका हृत्य फटा जाता था। पुत्रका शव लेकर वह राजभवनसे निकली।

बनवीरके तटपर उसने पुत्रका अन्तिम संस्कार किया और मेवाड़के नम्हे निद्रित अधीश्वर को लेकर राजिमें ही मेवाड़से बाहर निकल गयी। बनवीरी धाय। कोई उसे आश्रय देकर बनवीरसे शकुन नहीं लेना चाहता था। वह एकसे दूसरे ठिकानोंमें भटकती फिरी। अन्तमें देयराके आश्रमाहने आश्रय दिया उसे।

बनवीरको उसके कर्मका दण्ड मिलता था, मिला। राणा उद्यसिंह जब सिंहासनपर वैठे, पन्ना धायकी चरणधूलि भस्तकपर उड़ाकर उन्होंने अपनेको धन्य माना। पन्ना चित्तौड़की सज्जी धात्री सिद्ध हुई।

—४०

मानसमें धर्मकी परिभाषा

(लेखक—दाक्तर श्रीतरिहरनापनी द्वारा, पृष्ठ ५०, दी० लिट०)

श्रीरामचरितमानवमें शंकर भगवानका वचन है—
जन जन होइ धरण कै हानी । चाहिं असुर अधम अभिनानी ॥
करहि अनीति जाह नहि बनी । सीढहि बिप्र वेनु सुर धरनी ॥
तव तव प्रभु घरि विविध संसार । हरहि कुपनिधि सबन पील ॥

इस स्थानपर यह प्रश्न हीता है कि यदि कौनसा धर्म है जिसकी हानि होनेपर कृपानिधान पृथ्वीपर अवतारित होनेका कष्ट स्वीकार करते हैं ? क्या प्रभु किसी धर्मविरोपकी हानिपर अवतार धारण करते हैं ? यदि ऐसा मानें तो करुणानिधानमें पक्षपातका दोषारोपण हो जाता है । प्रभु किसी जाति या देशविरोपके हितार्थ अवतार नहीं धारण करते—ऐस जनमु जन मंशल हेतु । करुणामय जगतपिता हैं । अतएव उनकी कोई जात भापा, जाति, देश अथवा अन्य किसी भेदसे सीमित नहीं है । जो असीम है उनकी सीमा कैसी ?

हमरे वैद तथा उपनिषद् किसी एक सम्प्रदायकी अपनी निधि नहीं हैं । वे हिंदू इसलिये कहलाते हैं कि उनका प्रादुर्भाव उस संस्कृतिमें हुआ, जिसकी परम्परा हिंदू-संस्कृतिमें सुरक्षित है । वे भारतीय इसलिये कहलाते हैं कि उनका यह इष्टिकोण कि वसुधारपर सब ग्राणी एक ही कुङ्कमके हैं विशेष प्रकारसे भारतीय इष्टिकोण है । अन्यथा हमारे अलौकिक वैद तथा उपनिषद् न हिंदू हैं न भारतीय । वे मानवताकी निधि हैं, वे मानव-जगत्के कल्पणके पक्षमें हैं, उनका ध्येय जीवसाक्षात् परम हित है । इस अलौकिक परमरामें श्रीरामचरित-मानवका सूजन हुआ । इस कारण जित धर्मकी हानिको अवतारका हेतु मानसमें बतलाया है, वह धर्म एकजातीय या एकपक्षीय नहीं ही सकता । हस्तक मानवका हृदय अयोध्या है, अतएव मानसकी कथा ऐसे राम-सीताकी कथा है, जिनकी अयोध्या मारी प्रत्येक मनुष्यके हृदयस्थ है । इसलिये मानस एक अर्क छाँसनिटी है—मानवताका महाकाट्य है—अनुपम है एक है, अद्वितीय है ।

धर्मको हमरे जीवनमें कहा ऊँचा स्थान दिया गया है । ऋषियोंमें कहा है कि धर्म वह है जो जगत्को धारण करता है । यहाँ यह प्रश्न उठता है कि जगत्को कौनसा

धर्म धारण करता है ? क्या शीढ़ोंका धर्म धारण करता है ? या यहूदियोंका ? या ईसाइयोंका ? या अन्य कोई ? निश्चय ही वह और कोई धर्म है, जो जगत्की स्थितिका आधार है; क्योंकि यह धर्म सर्वव्यापक होगा, सर्वभौमिक होगा । उन सब धर्मोंसे पुराना होगा, जिनके मनुष्यने बनाया है । जो धर्म जगत्का आधार है, उसका जन्म जगत्की सृष्टिके समकालीन रहा होगा, अनादि होगा ।

जगत्के जीवन-स्रोत सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, जल, पृथ्वी, आकाशादि हैं । यदि सूर्य अपना कार्य न करें, या वायु या आकाशादि अपना धर्म छोड़ दें तो जगत्की स्थिति ढँगाड़ोल हो जाय । जगत्का आधार वह धर्म है, जिसका अनुसरण ये सब करते हैं । 'स्वलक्षणाधारणाद् धर्मः' । अपने-अपने लक्षणके अनुसार, अपने-अपने गुणके अनुसार कार्य करना स्वधर्म है । स्वलक्षणोत्पन्न स्वधर्म श्रेष्ठ धर्म है । ऐसे स्वलक्षणानुकूल धर्मका पालन भगवानके आदेशका प्रतीक है; क्योंकि यह धर्म उन गुणोंके अनुकूल है, जो प्रभुने हमें जन्मके साथ प्रदान किये हैं ।

इस सम्बन्धमें यह भी विचारणीय है कि जगत्में हमारा स्थान क्या है और हमार स्वलक्षणानुसार क्या धर्म है । जिसमें थोड़ी अंग्रेजी पढ़ी है उसने रोनिसन कूजोका नाम सुना होगा । इस उपन्यासमें रोनिसन कूजोका जहाज समुद्र-में टक्कर लाकर एक निर्जन टापूके पास हृद जाता है और कूजो उस टापूर कुछ दिन एकदम अकेला रहता है । यदि ईश्वर चाहते तो इस पृथ्वीको और वही बनाकर प्रत्येक व्यक्तिको एक-एक टापूपर जन्म दे देते, जिसमें वह निर्जन स्थानमें रहकर जीवन काट लेता; परंतु ईश्वरने ऐसा नहीं किया । उन्होंने हमारा समूहोंसे नाता बनाया, परिवारु कुल, जाति, बेत्रीके सम्बन्धोंसे हमें बँधा, मनुष्य-को एक सामाजिक प्राणी बनाया । इस संसारमें अकेले नहीं रहते । इस अनेक पारस्परिक सम्बन्धोंसे बँधे हैं, जिनके हितकी रक्षा हमारा धर्म है । आह्वार, निद्रा, मैत्रुनवाले जीवनसे उच्च स्तरके जीवन-यापनकी क्षमता रखनेके कारण मनुष्य पशुओंकी श्रेणीमें उठकर मानवकी श्रेणीमें आता है और हसी कारण वह प्रश्न सामाजिक पशुसे मानवीय समाजका अङ्ग बन

जाता है। मनुष्यका जीवन केवल भौतिक जीवन नहीं है। उसका वैतिक जीवन भी है, आध्यात्मिक जीवन भी है। मनुष्यकी प्रकृति—जिसको मनन करनेकी शक्ति प्रभुने प्रदान की है—स्वमावतः नैतिक है, इसलिये इसका स्वलक्षण नैतिक है और मनुष्यका जीवन मुख्यतः सामाजिक है। यदि मनुष्यके स्वलक्षण और जीवनके विशिष्ट गुणोंका हम एकीकरण करें तो हम इस निर्णयपर पहुँचते हैं कि नैतिक मनुष्यको अपने सामाजिक जीवनमें स्वार्थका ध्यान कम और परअर्थका ध्यान अधिक रखना चाहिये। मुखी, कल्याणप्रद जीवनका रहस्य परहित है; क्योंकि परहित हमारे स्वलक्षणानुकूल है और परशिद्धारा ही हम अपने विविध सम्बन्धमें जीवनको सफल कर सकते हैं।

भीरामचरितमानसमें कस्तानिधान प्रभुने अपने प्राण-समान प्रिय भावयों और प्रिय पवनकुमारको धर्मका तत्त्व समझानेके लिये धर्मकी व्यापी परिमाणा की है—

पर हित सरिस चरम नहिं भावि ।

सूर्य, चन्द्र, वायु, पृथ्वी आदि, जो जगजीवनके आधार हैं, निरन्तर परहितनिरत हैं। सूर्य अपने लिये नहीं तपते, चन्द्रमा अपने लिये अमृत-वर्षा नहीं करते, जलद अपने लिये पानी नहीं बरसाते, पृथ्वी अपने लिये फल-अज्ञ, पुष्ट-पश नहीं उत्पन्न करती, जल और वायु अपने प्राणकी रक्षाके लिये नहीं बढ़ते—ये सब परहितमें संलग्न हैं। इनके जीवनमें अथक, अवाक्यगतिसे परहित व्याप्त है। ये स्वलक्षणानुसार परहित करके धर्म-पालन करते हैं और जगत्-वारणके कारण बने हुए हैं। स्वलक्षणानुकूल स्वधर्मद्वारा परहितपालन वह धर्म है, जो सुषिका आधार है। यह धर्म आजका नहीं, वर्ष, दो-वर्ष पुराना नहीं, कुछ शताब्दियों पहलेका नहीं है। यह धर्म सुषिके जन्म-समयसे है। सुषिके आदिमें इसका आरम्भ हुआ था। यह धर्म पुराना है, जाति-देश-कालके परे है—सनातन है।

इस धर्मकी जब हानि होती है, तब पृथ्वी भी अपना दैर्घ्य लो देती है; क्योंकि असुर बद जाते हैं और वे सर्वत्र फैलकर अपना साम्राज्य स्थापित कर देते हैं। आत्मुरी राज्यमें हिंसाका अन्त नहीं रहता, सब स्वार्थरत होकर परदोही हो जाते हैं। प्राणियोंके जीवनको अकथ हुश्व-निमग्न देखकर धरणी अकुला पड़ती है। मानसमें दो स्वालोंपर राक्षसोंके लक्षण स्पष्ट किये गये हैं—बालकाण्डमें और उत्तरकाण्डमें। बालकाण्डमें लिखा है—

जेहि जेहि देस भेनु हिज पावहि । नगर गाँड़ पुरआगि हमावहि ॥
सुभ आवरम कतहु नहिं होहि । देव विष युर मान न कोहि ॥

X X X

वरमि न जाइ अनीहि धोर निसाचर जो करहि ।
हिंसा पर अति प्रीति तिन्ह के पापहि कवनि मिति ॥

बादे खल बहु चोर लुआरा । जे लंघट पर धन पर दारा ॥
मानहि मातु पिता नहिं देवा । सामुन्ह सन करदावहि सेवा ॥
जिन्ह षे यह आचरन मतानी । ते जानेहु निसिन्द्र सद प्रानी ॥

उत्तरकाण्डमें कहते हैं—

सुनहु असंतन्ह केर सुमाझ । मूलहुं संगति करिन काझ ॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाहि । जिमि कपिलि हालइ हरदाहि ॥
खलन्ह दृदयं अति तप जिसेही । जरहि सदा पर संपति देही ॥
जहं कहु निंदा सुनहि पराहि । हरचहि मनहुं परी जिवि पाई ॥
काम क्रोध मद लोम परामन । निरदय कपटी कुटिल मतामन ॥
क्षयस अकारन सद काहू सो । जो कर हित अनहित राहू सो ॥

X X X

पर द्वेषी पर दार रत पर धन पर अपचाद ।
ते नर पाँचर पापमय देह परे मनुजाद ॥

मानसमें जिल प्रकार साधु, संत, विग्र और उज्जन पर्यायवाची शब्द हैं। उसी प्रकार संठ, असंत, असुर और निशाचर एकार्थी हैं। उपरके उद्धृत उंडोंका सार यही है कि असुर राक्षस, मनुजाद अस्वत्त स्वार्थपरायण हैं। अपने छोटे-से अथके साधनके निमित्त या स्वार्थ-साधन न भी हो तो केवल दूसरेका दुख देखनेके लिये ही वे क्षुरतम हिंसा करनेमें संकोच नहीं करते। 'परहित'-धर्मके विनाशमें वे हर समय संलग्न रहते हैं।

परहित कृत जिन्ह के मून माली ।

इसलिये कस्तानिधान प्रभुके लिये कहा गया है—

मायातीरं भुरेशं स्वलवधनिरतं ब्रह्मशून्दैकदेवम् ।

मसु खल-वध-निरत हैं; क्योंकि खलोंके कारण, रक्षाओं-के कारण उस 'परहित'-धर्मकी हानि होती है, जिसके द्वारा जगत् धारण किया जाता है। अतएव जगत्की रक्षाके हेतु असुर-वध बाज़नीय है। ऐसा ही करनेसे अनादिकालसे प्रचलित धर्मकी रक्षा सम्भव है।

* देखिये 'भीरामचरितमें नामाचारी परिमाण'—कल्याण, वर्ष ३०, अप्र० ३१।

कर्णानिधानके अवतरण-फलका निशाचर-वध नकारात्मक पक्ष है। हसका दूसरा पक्ष है—संतोषी, साधुओं-की, विग्रोकी, सज्जनोंकी रक्षा। शंकरभगवान्‌का बचन है—तब तब प्रमुख वरि विविध सरोरा। हरहि कृष्णनिधि सज्जन पीरा॥

‘सज्जन’ अर्थात् परहित-रत व्यक्ति, जो परहितके लिये सहृदय कष्ट सहन करें।

साचु चरितं सुम चरितं कथासु। निस्त विसद गुनमय फल जासु॥
जो सहि दुःख परिद्रुत तुराता।

और फिर आगे मानसकार कहते हैं—

संत सख्य चित जगत हित।

इसलिये संतोषी, सज्जनोंकी रक्षा करनेसे परहितधर्मकी पुष्टि होती है, अभिवृद्धि होती है।

श्रीरसुनाथजीने श्रीमुखसे अपने प्रिय भ्राताओं और पवन-कुसारको शिक्षा दी कि—

परहित सरिस धरम नहि भाइ।

—जिसका अर्थ यह है कि ‘परहित’-विचारसे जैसी जग-मङ्गलकी रक्षा होती है, वह और किसी प्रकार नहीं होती। ‘परहित’की प्रवृत्तिसे ही हम मानव-पशुसे उठकर मानव-प्राणीके सारंगर पहुँचते हैं। पूजा, पाठ, जप, तप, दान, कथा-अवधादि सब गौण हैं। प्रधान है—परहितकी हृति। परहितकी भूमिकामें हमको अपने सब पुण्य-कर्म करने अपेक्षित हैं। जगत्को यही धारण करता है। परहित परम धर्म है।

परहित-धर्म त्याग देनेसे महान् तपस्त्री दशकीया राक्षस हो गया, लोगोंको रुलानेवाला हो गया, रावण हो गया। ‘परहित’ ही बासुदामें सब धर्मोंके जपरु सब धर्मोंके अंदर और सब धर्मोंका आधार है। यह प्रकृतिका धर्म है, यही मनुष्यका धर्म है, यही सार्वभौमिक धर्म है, यही सनातन धर्म है।

श्रीरामचरितमानसमें धर्म-तत्त्व-निरूपण

(केवल—वैद प० व्यापकली रामायणी, मानसतत्त्वान्वेषी)

धर्मेश्वर वृद्ध धारणे धारुसे ‘अर्तिसुसुहुसृष्टिभुभाया-वापविद्यक्षिनीस्यो मन्।’—हस पाणिनीय व्याकरणके उणादि सूत्रसे ‘मन्’ प्रत्यय लगानेपर सिद्ध होता है। इसी वाल्यर्थको लक्ष्यमें रखकर—‘धारणाद्धर्ममित्याहुधर्मो धारयते प्रजाः।’ (महाभारत कर्णा ८९। ५८), ‘यतोऽस्मद्दृढ़यनिःश्रेयस-स्थितिः स धर्मः तथा ‘चोदनालक्षणयोः धर्मः’ कहकर दार्शनिकोंने ‘धर्मः शब्दका महत्त्व प्रदर्शित किया है। भाव यह है कि जो कंसारकी स्थितिका कारण है तथा प्राणियोंको लौकिक उत्तरति और मोक्षका हेतु है और वर्णान्म-धर्मावलम्बियोंद्वारा जिलका अनुष्ठान किया जाता है, उसे चर्म कहते हैं।

मनुजीने भी अपनी सूतिमें कहा है—

वैदः सूतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।

एतचतुर्विधं ग्राहुः साक्षात्कर्मस्य लक्षणम्॥

(२। १२)

वैद-सम्मत सूति और सदाचारमें वर्णित तथा अपनी आत्माको भी जो प्रिय हो, वह धर्मका साक्षात् लक्षण है। मुनः छन्दोऽय श्रुतिका भी कथन है—

त्रयो धर्मस्त्वं चक्रोऽस्यवन् दामिति।

(३। २३। ३)

अर्थात् यह, पठन-पठन और दान—ये धर्मके तीन आधार (स्तम्भ) हैं। महर्षि यादववल्लभ मी कहते हैं—

अथं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्॥

(वाचाराचार १। ८)

अर्थात् जिस योगक्रियाद्वारा आत्माका साक्षात्कार किया जाता है, वही परमधर्म है। मुनः मनुजीने धर्मके दृष्ट लक्षण कहे हैं—

कृतिः क्षमा दमोऽस्त्वेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

शीर्विद्या सत्यमकौधी दक्षकं धर्मलक्षणम्॥

महाभारत, उद्योगपर्वमें कहा गया है कि यह, अथवन, दान, तप और सत्य, वृत्ति, क्षमा, अलोभ—यह धर्मका अष्टविध मार्ग है। इनमें प्रथम वृत्ति तो दक्षके लिये भी किये जा सकते हैं; किन्तु दूसरे सत्यादि तो महात्माओंके अतिरिक्त अन्य पुरुषोंमें नहीं ठहर सकते। (३५। ५६। ७)। मल्यपुराणमें धर्मराजके प्रति सती सावित्रीने वह, तप, दान,

दम, ध्रुमा, ब्रह्मचर्य, सत्य, तीर्थानुसरण (तीर्थवात्रासेवन), रुनान, स्वाव्याय, चेवा, साधु-वज्ञ, देवपूजन, शुश्रेष्ठा, ग्राहणघूला, इन्द्रिय-निश्रह, धृति, संतोष, आजौव आदि धर्मके १९ लक्षण और माणवत-महापुराणमें धर्मके तीस लक्षणतक वर्तये गये हैं । (दै० माग० ७ । ११ । ८-१२ तक)

‘नानापुराणनिगमागमसम्मत’ ग्रन्थचिह्नगमनसमें हन सभी प्रकारके धर्म-लक्षणोंकी बड़ी ही हृदयग्राही विशद व्याख्या की गयी है ।

मीमांसकोंका कथन है—**विश्वोऽस्मिलो धर्मसूलम् अर्थात् अस्विल धर्मका मूल वेद है । वेदप्रतिपादित कर्म ही धर्म है ।**

नम तप ब्रत जग नियम अपाग । जे श्रुति कह सुभधर्म अचारा ॥

वेदकी आज्ञा दो प्रकारकी है—१-विधिपरक और २-निषेधपरक । विधिका ग्रहण और निषेधके साम करनेका विधान है । धर्मसे ही धन और सुखकी प्राप्ति होती है । वथा—
तिथि सुख संपर्के विनहि तुक्तार्थ । धर्मसौल फहि जाहि सुमार्थ ॥

जया धर्मसौलह के दिन सुख संकुट जाहि ॥

वेद सर्वेश्वर भगवान्‌की श्रीमुख-नामी हैं । यथा—
माषत स्वास नियम निज चानी ॥ श्रुतिस्वती गमेवाचे ॥

अतः चाल्यसम्मत धर्मचरण करना । ईश्वरकी आशा मानना मनुष्यमात्रका परम कर्त्तव्य है । भगवान् श्रीरामजीने कहा है—

सोइ सेषक त्रिष्टुपम धर्म सोई । मम अनुसासन मानै जोई ॥

धर्म-पालनके लिये हमारे पूर्वजोंने महान् संकट सहकर अपने शरीर और प्राण देकर भी अनुपम आश्र्य उपस्थित किया है—

सिवि दशीचि हरिचंद नरेसा । सहे धर्म हित कोटि कलेसा ॥
रत्नदेव नक्षि भूमि सुजाना । धर्म धरेठ सहि संकट नाना ॥

सत्यसे बदकर दूसरा धर्म नहीं है—**‘नास्ति सत्यात्परो धर्मः’**
कर्म न दूसर सत्य समाना । आगम नियम पुरान कहाना ॥

सत्य ही सब धर्मोंका मूल है—

सत्य मूल सब सुकृत सुहाए । वेद मुरान विदित मूल गण ॥

अहिंसाको परम धर्म माना गया है—**‘अहिंसा परमो धर्मः’**
‘परम धर्म श्रुतिविदित अहिंसा । ... सत्य और अहिंसा मनुष्य-मात्रके अनुकरणीय धर्म हैं, जिनमें किसी भी वर्ण एवं आश्रमकी स्कान्द नहीं है ।

वेद-शास्त्रोंने मानवजीवनको दो परिधियोंके बीच आवद कर रखा है—धर्म और आश्रम । सुराल्पमें इनकी पूर्ण रक्षा (प्रतिष्ठा) की जाती है ।

वर्णश्रम निज निज धरम निरत वेद पथ लोग ॥

महर्षि श्रीवशिष्ठजीने धर्माभ्यासधर्म पालन न करनेवालोंको शोचनीय कहा है—

(देविये अयोध्या० दो० १७१ । ३-१७२,४४ तक)

इस प्रकार विहितका अनुकान करनेकी बात कहकर फिर निषेधका परिचर्जन कहा है—

जे अथ मातु णिता सुत मारे । गाइ गोठ महिसुर मुर जारे ॥

जे अथ तिय बालक बद कीनहे । मीत महीपति नाष्ठुर दीनहे ॥

तथि श्रुति पंथ बाम पथ चलही । बंचक विरचि भेद जग छलही ॥

जे परिहरि हरि हर चरन मजहि भूत गन घोर ।

तिन्ह के गति मोहि देहु विधि लौ जननी भद्र घोर ॥

इम सबका निषेध कहा गया है—**मूलि न देहि कुमारा पाळ ।**
निम्न दोहोंमें याज्ञ-प्राजाका धर्म कहा है—

मुखिया भुल सो चाहिए खान पान कहुँ एक ।

पालह पैषह सकल अंग तुलसी सहित चिकेक ॥

(३ । ३१५)

राज धर्म सखस द्वनोहै । जिमि मन माहि मनोरथ गोहै ॥

सेवक कर पद नयन सो मुख सो चाहिए होइ ।

तुलसी श्रीति कि रीति सुनि सुकालि सराहहि सोइ ॥

(३ । ३०६)

निम्न पंक्तियोंमें मिश्र-धर्म कहा है—

जे न मिश्र द्वुष होहि दुखारी । तिन्हहि निलोकत पातक भारी ॥

मिश्रद्वुष मिश्रि सम रज करि जाना । मिश्रक द्वुष रज मेह समाना ॥

देत हेत मन संक न धर्दै । चल अनुमान सदा हित करहै ॥

त्रिपति कहा कर सतगुन नेहा । श्रुति कह संत मित्र गुन पहा ॥

निम्न पंक्तियोंमें साधन-धर्मका निरूपण हुआ है—

तीर्थान्त साधन समुदाई । जोग विराम ध्यान निमुनाई ॥

नाना कर्म धर्म ब्रह्म नाना । संज्ञम दम जप तप माह नाना ॥

मूल दशा द्विज गुरु सेवकाई । विद्या विजय विजेक बहाई ॥

जहाँ लगि साधन वेद बलानी । सब कर फल हरि भणति भवानी ॥

...

जप तप नियम जोग निज धरमा । श्रुति संसद नाना सुभ करमा ॥

गणन दशा दम तीरथ मन्त्रम । जहाँ लगि धरम कहत श्रुति सधम ॥

आगम निष्पम सुनाव अनेक। पढ़े सुने कर फल प्रसु पका॥
तब फद फंकज प्रीति निरंतर। सब साधन कर यह फल सुंदर॥

अनमूलान्तीतासंवाद (अरण्य ४३५) में नारिधर्मका विस्तृत विस्तृपण हुआ है ।

धर्मके जितने भी अझोपाङ्ग (स्थूल-सूक्ष्म मेद) हैं, उन सभीका रामचरितमानसमें यथास्थान निरूपण किया गया है। प्रामके देवी-देवताओंका पूजन वाद-धर्म है। तथ बल विज्ञ सदा बरिआए। करहि जाह तथ सैंक कुमारी। मे देवधर्मका वर्णन है। ‘राम नाम खिलु पिरा न सोहा’ में इन्द्रिय-धर्मका—

तथा—

मनहुँ च अनिन अमरपति रघुवर मगत अकाज॥

तथा—

अस संसम आनत डर माझो। ग्यान विराग सकल गुन जाझो॥

—मे अन्तःकरणधर्मका निरूपण किया गया है।

व्यक्तिगत धर्म, कुल-धर्म, समाज-धर्म, लोक-धर्म तथा विश्व-धर्मके निरूपणसे रामचरितमानव औतप्रोत है। अन्तमें विभीषणजीके प्रति भगवान् श्रीरामचन्द्रजीने विश्वविजयी २४ लक्षणात्मक धर्मका इस प्रकार निरूपण किया है—

मुनहु सक्ष कह कृपा निधान। जेहि जम होइ सौ स्पंदन आना॥

सैरज भीरज तेहि रथ चाका। सत्य सैल छड़ धना पताका॥

मह त्रिमेत दम र्हरहित घोरे। लमा कृपा समता खु जेरे॥

ईस भवन दारयी कुजाना। विरहि चर्म संतोष छपाना॥

दान फसु नुधि सकि प्रचंडा। नर विग्यान कठिन कोदंडा॥

अस्तु अवरो मन बोन समाना। सम जय नियम सिलीमुख नाना॥

कवच भेद विप्र गुरु पूजा। यहि सम विजय वधाय ध दूजा॥

सक्ष धर्मम अस रथ जाको जीतन्ह कह न करहुँ रिपु ताको॥
महा अजय संतार रिपु औति सकै सो बीर।
जाके लस रथ द्वेष दद सुनहु सक्ष मति बीर॥

(लंका० ५९ । ५-८० के तक)

वह निर्विवाद सत्य है कि हमारा हिंदू-(मात्रका) धर्म, आचार-विचार एवं रीति-विवाज—सभी कुछ वेदोंके आधारपर ही स्थित है। पर वेदोंको हमारे-जैसे अल्पह कलियुगी कितने लोग समझ सकते हैं। और विशेष उल्लेखनीय बत वह भी है कि वेदोंके अधिकांश अंश इस समय उपलब्ध भी नहीं हैं, लोप हो चुके हैं। इस कठिनाईको बहुत काल पूर्व ही हमारे पूर्वजो (शूष्टियो) ने जान लिया था, इससे वेदोंके सार-तत्त्वको लेकर इतिहास, पुराण तथा धर्म-शास्त्रोंकी रचना कर दी थी, जिनके साम्बद्धसे वेदोंका वास्तविक ज्ञान हमारे अंदर सदा बना रहे, कभी हिरोहित होने न पाये। किन्तु समयके केरसे कल्पना-भाषणका लोप होता चला गया और इतिहास-पुराणोंकी भाषण भी हमलोग समझनेमें असर्व हो गये, जिससे धर्मका ज्ञान लोप होने लगा। गोस्वामी तुलसीदासजी महाराजकी हमारी दीन-दवापर दया आयी और कृपा करके ‘नानापुराण-जिग्यामास-सम्पत्ति’ असूतपूर्व अलौकिक रामचरितमानसकी मातृभाष्यमें रचना की, जिससे धर्म-कर्मके सभी गुप्त-प्रकट तत्त्वोंको भगवान् धर्मदूती श्रीरामचन्द्रजीके चरित्रके भाव्यमध्ये संबोधात्मण व्यक्ति (मनुष्यमात्र) के लिये भी प्रुलभ कर दिया।

राम भात व अग्नि अवाहु।

कीनहु सुख सुधा बहुधाहु॥

धर्मका नाथ हो। धर्मकी जय हो। प्राणियोंमें सञ्चावना

हो। विश्वका कल्पण हो। हर हर महादेव शम्भो।

शुभकर्मका शुभ और अशुभका अशुभ फल मिलता है

यदृ करोति यदसति शुभं वा यदि वाशुभम् । नाहर्वं सुज्यते कर्म न कृतं नश्यते फलम् ॥

शुभकर्मसमाचारः शुभमेवाप्नुते फलम् । तथा शुभसमाचारो शाशुभं समकाप्नुते ॥

(महारात अनुशासन० १६)

मनुष्य जो शुभ वा अशुभ कर्म करता है, उसका वैसा ही फल भोगता है। यिन विषे हुए कर्मका फल किसीको नहीं भोगता पड़ता है तथा किये हुए कर्मका फल भोगके बिना नष्ट नहीं होता है।

जो शुभ कर्मका आत्मरण करता है, उसे शुभ फलकी ही प्राप्ति होती है और जो अशुभ कर्म करता है, वह अशुभ फलकी ही भागी होता है।

धर्म और परलोक

(लेखक—व्याकरणाचार्य चं० श्रीदुर्गा॒र चिन्हन्नाचार्य)

न किलिवर्षमन्त्र नाधारोऽस्ति
भ चन्द्रिम्बैः समयमान् पूर्ति ।
अनुन् पात्रं निर्वितं न पूर्त्व
पवहारं पववः पुनरादिशास्ति ॥
(अथर्वा॑ ६२ । ३ । ४८)

गौतममुनिप्रणीत व्यायदर्शनम् । भाष्य करते हुए
बात्त्यायन मुनिने लिखा है—

येन प्रमुखतः प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् । चर्मयैसमीप्सन्,
चिह्नासन् वा कर्मारभते । तेऽनेन सर्वे प्राणिनः सर्वींगि कर्माणि
सर्वांश्च विद्या न्याप्ताः । तदाश्रयश्च न्यायः प्रवर्तते । समीह-
सान्त्वामर्थमीप्सन्, चिह्नासन् वा तमयैसमान्वीति जहांति वा ।

भाव यह है कि सभी प्रणीति, सभी कर्म तथा सभी विद्याएँ
प्रयोजनसे परिषूर्ण हैं । प्रयोजन होनेपर ही नमुन्य किसी
कर्त्तुको छोड़ता या ग्रहण करता है ।

प्रयोजनका इतना महत्व होनेपर निश्चित है कि धर्मका
भी कुछ न-कुछ प्रयोजन अवश्य ही होगा; तभी सो हमारे
शास्त्रोंने आदेश दिया है—

‘युवैव धर्महीनः स्यात्’—युवावस्थामें ही धर्मकार्म कर
जालने चाहिये; पता नहीं फिर ही रक्षे या नहीं । भर्तुहरिने
तो यहाँतक कह दिया—‘धर्मेण हीनाः पशुसिः समाचाः’
अर्थात् धर्महीन पुरुष पशुओंके सदृश ही है ।

हमें देखना चाहिये कि जिस धर्मका इतना महत्व
वत्तलाया गया है कि पर्याप्त वर्णोत्तम सूफ़की मट्टीमें हपे हुए
जलसारीको सी स्नातक होनेपर आचार्य यही कहता है—
‘धर्मं धर । सत्ये वद ।’ धर्मका आचरण करु सत्य बोल ।
अतः विचारना चाहिये कि धर्मका प्रयोजन क्या है । सीमांसा-
दर्शनकारसे धर्मकी परिभासामें ही धर्मका प्रयोजन भी वत्तला
दिया है । मुनिने लिखा है—

यतोऽभ्युद्यज्ञश्चेयससिद्धिः स धर्मः ।

यज्ञके द्वारा धर्मका प्रयोजन स्पष्ट है कि धर्मसे इस लोकमें
भी बुद्ध मिलता है तथा मोक्षप्राप्ति भी होती है । अर्थात्
धर्मका परलोकसे अद्वा समन्वय है । हम जिस प्रकारका भी
धर्म या पाप, दुःख या अशुभ कर्म करेंगे, वही हमारे साथ

परलोकमें जायगा । अन्य कुछ भी साथ चलनेवाला नहीं है ।
महाभारतके उद्योगपर्व (४० । १६) में इसी तत्त्वको इस
प्रकार समझाया गया है—

चन्द्रो धर्मं प्रेतगच्छ भुञ्जते
चर्यांसि चप्तिं शरीरधातुर् ।
हाम्यामयं सह गच्छत्यमुत्र
पुण्येन पापेन च वैत्यमानः ॥

मात्र यह है कि ‘मरनेके बाद भन किसी दूसरेके काम
आता है, शरीर अस्त्रमें भस्त ही जाता है; इसके साथ न धर्म
जाता है न शरीर । साथ जाते हैं केवल पाप तथा पुण्य—
धर्म तथा अधर्म ।’

समझतः कोई समझे कि परलोकमें धर्मकी क्या
आवश्यकता है; क्योंकि सभी कर्मोंका लेखा-जोखा परमात्माके
पास नहीं रहता । अतः धर्मका क्या प्रयोजन ? इस
प्रकारके लोगोंको सावधान करता हुआ वेद कहता है—
‘म किलिवर्षमवः’—इस कर्मफलमें कोई ब्रुठि नहीं हो सकती ।
कर्म जरनेमें जीव स्वतन्त्र है किंतु फल भोगनेमें तो सर्वैषा
परदत्त बनना ही पड़ेगा । ‘अनशजन्योऽभिचाकशीति’ के
अनुसार परमात्मा प्रलेक कार्यका दृष्टा है । नमुन्य चाहे
कितना भी छिपकर कार्य करे, किंतु ‘राजा तं वेद वस्त्र-
स्तृतीयः’ के अनुसार वह वस्त्र भगवान् सवका भैरव जानता
है । अतः कर्मफलमें ब्रुठि समझ नहीं ।

ब्रुठि ही भी किस प्रकार उकती है ? सिफारिश या रिक्षत
देकर ही घटावदी करावी जा सकती है । किंतु सिफारिश
कर्यालये किससे ? क्या कोई हुए या यैगम्भर हमारी सहायता
कर सकेगा ? नहीं । कदापि नहीं । वेद कहता है—
‘वाधारोऽस्ति’—कर्मफलमें घटावदी करानेका कोई भी सहारा
नहीं है । पोपकी तरह भूमिपर ही सर्व तथा भरकके टिकट
देकर कोई भी किसीके कर्मफलको नहीं हृषा सकता ।

जाने दीजिये, सिफारिश न चही, मिश्रोंके साथ तो हम
सर्व जा सकते हैं । माता-पिताओंकी कमाईपर चर्चे मौक उड़ाते
हैं । इसी प्रकार पुण्यात्मा भिन्नोंकी सहायतासे हम सर्व
पा लेंगे । किंतु इस प्रकारके आशावादियोंके वेद सावधान
करता है—

'न बन्धिष्ठः समवदाय दुष्टः'

यह भी सम्भव नहीं है कि हम मिथ्रोके साथ स्वर्ण जा
लके । अपने कमोंसे ही स्वर्ण एवं नरक लाना होगा । दूसरा
धर्माधर्क कोई भी नहीं है । कर्मफलों वारेमें आशे लिखा है—

अनुनं परमं शिदितं न पत्व ।

यह हमारा कर्मफललभी पाप भरा हुआ है । दूसरे कुछ
भी न्यूनता नहीं थायी । यह तो उसी पके हुए पदार्थके
समान है जो—

प्रकारं पद्मः पुनराविज्ञापि ।

जिस प्रकार पकानेवालेको पकाया पदार्थ पिर आ
मिलता है, उसी प्रकार हमारा कर्मफल भी हमें प्राप्त हो जाता

है । कर्मफलकी उणमा गो-वत्यारे द्वारा हुए महाभारतमें
लिखा है—

यथा वेदुतादेषु वलो विनावि गातरद् ।

यथा वर्वकुलं कर्मं कर्त्तरसुगच्छति ॥

‘जित प्रकार इजारे गौवीर्येषु वडाणा अपनी माताको जा
पकड़ता है, उसी प्रकार पूर्वकृत कर्म कर्ताको ही भास होता है ।’

इस प्रकार साष्ट है कि यदि यहोपर हम धर्मगत्य करेंगे तो
परलोकमें भी धर्म हमारे साथ चलेगा । अन्यथा भी हमी
पापको कहा गया है—‘धर्मस्तमसुगच्छति’ (गरनेकालेके
साथ सर्व ही जाता है) । भासी ही निःशेषकी शिदि होती
है । अतः यदि हमें लौकिक अभ्युदयके साथ निःशेषकी शिदि
भी करनी है तो अवश्य ही धर्म कगाना पड़ेगा ।

जब धर्म-संकट आता है

‘मुखिष्ठि ! बहीना सर्व अस्त होमे जा रहा है । तुम्हें जो
कुछ जानना हो, हर समय पितामहे जान लो ।’ वे शब्द
हैं शर-वृत्त्यापर पढ़े भीमपितामहके लिये श्रीहृष्णके ।

‘मुखिष्ठि ! धर्मका ठीक-ठीक तत्त्व श्रीहृष्णके अतिरिक्त
विलोकनीय और ज्ञोई नहीं जानता ।’ वे शब्द शर-वृत्त्यापर
पढ़े भीमपितामहके हैं ।

धर्मस्त तत्त्वं निदितं गुहायाम् ।

धर्मका तत्त्व बहुत गहूँ है । सत्य, वर्दिषा, अत्येय,
अपरिग्रह आदि धर्म हैं और असत्य, हिंसा, चोरी आदि पाप
हैं—यह बात उभी धर्म-समादाय मानते हैं । इन्हें साधारण
जन भी समझते हैं, भले हइका पालन वे न करते अथवा
न कर पाते हैं । किंतु हतना साह होते हुए भी धर्मका
रहस्य बहुत दुर्घिगम्य है ।

जीवनमें ऐसे प्रत्यक्ष बहुत कार जाते हैं—धर्मात्मा पुण्य-
के जीवनमें ऐसे अपराह आते हैं । जब निर्णय करना पड़ता
हो जाता है कि धर्म क्या है । बाज जन लोकोंका जीवन
स्वेच्छाचार-प्रभाव दो गया है, जीवनमें धर्मकी महत्त्व ही
नहीं रही है, यह बात बहुत साधारण जान पड़ती है । किंतु
जीवनमें जब धर्मान्वय होता है, जब मन अधमसे डरता है
तब यह बात समझमें आती है कि प्रत्येक समय धर्मको ठीक
पहचान देना फिरवा रहता है ।

धर्मात्मा मुखिष्ठि ज्ञात्रो अपना धर्मूर्ण राज्य द्वारा सम्में

उन्होंने क्रम-क्रमसे अपने भाइयोंको दावपर लगाया और स्वयं
को भी लगाया । प्रत्येक यार वे लगते गये । अन्यसे द्वौपदीपकी
उन्होंने दावपर लगाया और उस दावको भी हार गये ।
तुम्हें द्वनके लादेश्वरे हुआसन द्वौपदीपके भर्ती उभासे केवल
पद्मपात्र धरीड लगत । पिंडुर भीष्म, शुभाचार्य-जैसे धर्मक
उष्ण रुभासे थे । द्रैष्टव्यने रो-रोकर दूध—स्वप्न लप धर्मका
निर्णय करके बताये मैं हारी गयी था नहीं ।

पति अनन्तो पातीका नित्य स्वामी है, अतः द्वौपदीपक
धर्मराजकी स्वत्व प्राप्त है । वे उसे दावपर लगा रकते थे ।
इस हाथिसे विचार करनेवाल एक हुयोंधनका पक्ष या और
उसे सर्वथा भान्त पक्ष हम्हीं कह रकते । किंतु एक दूसरा पक्ष
भी था । मुखिष्ठि पहले स्वयंको दावपर लगाकर हार चुके थे ।
जब वे स्वयंको दूर चुके, उनको कहीं कोई करु नहीं रह गयी ।
उनमें द्वौपदीपकी दावपर लगानेका अधिकार ही रही हुए रह गया
था । अनाधिकार उन्होंने जोर्दं द्वारा हार लगाया था वह उभित कीरे
द्वारा । इननाविकाट प्रस्तुत था कि उस सभामें कोई इसका लिंगम
सर्वस्व कर सका । द्वौपदीपकी पुकारका उच्चर जितीने नहीं दिया ।

‘जहाँ सत्य योलना अनर्थकारी होता हो, वहाँ तुम्हे
रहना चाहिये ।’ यह बात मायः दूसी जाती है । कहीं एक
दृष्टान्त पढ़ा है । बटना सत्य हो या न हो, उसीं तथ्य है ।
एक गाय बचिलोंके हृथये स्वस्त्री द्वाकर किंवि प्रकार भागी ।
वह वक्तमें एक पर्वतीय द्रुत्तमें दृश्य गयी । जहाँ गुफाके

रमीप कोई सुनि लालन लगाये देठे थे । यायका पीछा करते वधिक पहुँचे और उन्होंने पूछा—‘अपने इधर भागकर आती गय देखी है ? वह कहाँ गयी ?’

सुनिने गायकी गुफामें जाते देखा था । इस तथ्यको देता देनेसे को अनर्थ होता । वे कुछ बोले नहीं । कोई चैत्र भी उन्होंने भहीं किया । वधिकोंने समझा कि वे भौमज्जत लिये हैं; अतः उन्होंने गुफामें देखा और गायको पकड़ के गये । उन सुनिको कुछ सिद्धियों प्राप्त थीं । वे तलाश नहीं हुए गयीं । अपने गुच्छे समीप वे गये तो उन्होंने कहा—‘मूले गोवधमें सहायक होनेका पाप लगा है । इड बोलकर वे गौके प्राण बचा सकता था । वह तूने नहीं किया । अब तुम्हे प्रायश्चित्त करना चाहिये ।’

प्रदागके अवधे घारह वर्ष पूर्ख पहुँचेवाले कुम्हकी बात है । इस सबने दर्द जानेवा लिश्य किया था । सरकारने नियम घसाया था कि हैजेगा टीका लगाये दिना कोई मेल-धेजमें न जाय । लान-स्थानपर मार्यादि टीका लगानेवाले लियुक्त थे और टीकीं जाँच करनेवाले भी । उनको धोखा देकर ही भेजे कोई मेलमें अल्प जाय, वेडे जाना कठिन ही था । पीछे तो सरकारने भी इह प्रतिक्रिया इटा दिया ।

एक अद्वेद है इस सबके । कोई दहा, कोई हन्तेकरन किसी भी रोगमें न देनेका उनका नियम है । भोलनमें जलके सुखन्तरमें, बलमें वे शुद्धानुदङ्गा बहुत आम रखते थे । जो हैजा धैनेपर भी दहाके नामपर त्रुल्लीदङ्ग तक स्वीकार न करे वह हैजेका अपविन टीका लेगा, वह कल्पना कीते की जा सकती है । परिस्थिति ऐसी बन गयी थी कि उनका मेलमें आना भी दहा नहीं जा सकता था ।

हैजेके टीकेका बुद्धा सर्विकेट किसी ढाकदर्से लेकर बहुत लोग मेलमें जाते हैं ।^{१२} ऐसे एक परिचितने देताया । इस बातका गुज़े पता न हो, ऐसा नहीं था; किंतु यह प्रकाश रखना मुझे किसी प्रकार उचित नहीं लग रहा था ।

‘यह स्थूल शरीर नाजायान् है । इसमें कोई अपविनता प्रवेद्य करती है तो वह देहके साथ नहीं हो जायगी ।’ यह चलनेपर उन अद्वेदने कहा । पहुँच ग्लानि रहेगी मनमें और सम्बन्धः जीवनभर रहेगी । इसकी जीवा तो है लेकिन मन तो सूक्ष्मदरीरमें है । मनमें आये होए तो मरनेके बाद भी साथ जाते हैं । इसका मिल्या उर्विक्षित लेकर या निरीक्षकोंके वक्तिके समयमें जो असत्यका दोष असेगा,

वह तो मरनेसे भी नहीं दूर होगा । बुद्धा सर्विकेट लेनेकी अपेक्षा वो टीका लगावाना ही अच्छा है । फिर वह किसना भी अच्छाद नहीं न हो ।

दो दुराहक्योंसे एकको तुनना अनिवार्य हो जानेपर किसे तुना जाय—यह निर्णय करनेके लिये किसी सूखम कथा वस्तर्फ विचारदृष्टि अपेक्षित है, यह बढ़ना बदलाती है ।

‘अहवाधामा हस्ते नरो वा कुञ्जरो वा’

—समर्याज्युषिष्ठिने यह कहाथा और जान-बूझकर कहा था । जब उन्होंने ‘असत्यमा हस्तः’ कहा, लोगोंने शाह वजाना प्राप्तम कर दिया । युधिष्ठिरके आगे कान्द शङ्खधनिमें छन्न गये । द्रोणाचार्यने उन्हें सुना ही नहीं । इस असत्य-भाषणके फलस्वरूप युधिष्ठिरको सदागीर स्वर्ग जानेपर भी नरक-दर्शन करना पड़ा ।

युधिष्ठिरको यह छलवाक्य क्यों बोलना यहा । इसलिये पि द्रोणाचार्य धूर्ण-सर्मका उछालन करते ही जा रहे थे । वे उनपर भी दिव्याक्षका जुला उपयोग कर रहे थे, जो दिव्याक्षके जाता नहीं थे । वह विद्यायोंको भासेके समान जात थी । अथवा लाटी लिदे लोगोंपर तोपके गोले दरसानेकी उपमा हुए दी जा सकती है । द्रोणाचार्यके शरणमें जान रहे, तब तक वे भारे नहीं जा सकते थे और अपने एकमात्र पुत्र अश्वत्थामाङ्की मृत्युका समाचार ही उन्हें शख्त्याग करा सकता था । द्रोणको अधर्मीरोकने और उनके द्वारा अधर्मपूर्वक होनेवाले संहारको रोकनेके लिये युधिष्ठिरको श्रीकृष्णने वह छलवाक्य कहनेपर विवश किया ।

अब इस बढ़नापर तनिक गम्भीरतासे विचार करें । युधिष्ठिर वह छलवाक्य न कहते तो क्या होता । वे नरक-दर्शनसे बच जाते, यह आप कह तकरते हैं । किंतु श्रीकृष्णके अदेश-मङ्गका दोष करते हैं । अपने पलके, अपने आक्रित दिव्याक्ष-जानवरहृषि लोगोंके विनाशको रोकनेका दायित्व उनपर या । इस दायित्वका निर्वाह न करनेके कारण उन सब लोगोंकी मृत्युमें जो पाप हो रहा था, आंशिकरूपसे उसके भागी होते । द्रोणाचार्यको उनका ब्रत—उनकी गर्भादा कि अवत्तन हाथमें शहर रखेगा, वे भारे न जायें—हरे मङ्ग फरके मासमा पहता । आचार्य भारे तो जाते ही, असम्मानित होजर भारे जाते । नरकदर्दनका योद्धा भय उठाकर भी इन दूष अवधीसे युधिष्ठिर बच गये, यद्योतक इमारी हाहि जाव,

तब भीषणपितामहकी वह बात समझमें आ रहती है कि धर्मके वयार्थ रहस्यको केवल श्रीकृष्ण ही जानते हैं।

हमलोगोंके अपने जीवनमें भी ऐसे अनेक अवधर आते हैं। जब ठीक-ठीक कर्तव्य न सूझे, दो धर्मोंसे कौन-सा अपनाया जाय—यह निर्णय अपनी बुद्धि न कर सके, तब क्या किया जाय?

अपनेसे अधिक बुद्धिमान्, सद्गुरारी, धर्मात्मा पुरुषकी सम्मति ली जाय और उनके आदेशका पालन किया जाय। केवल विद्वान्-बुद्धिमान्, इस समन्वयमें सम्मति देनेका अधिकारी नहीं है।

अनेक बार तत्काल निर्णय करना पड़ता है। सम्मति

देनेका लक्ष्य नहीं होता और च-भूति ली जाय, ऐसे फोइ पुरुष भी समीप नहीं होते। यदि ऐसी अवस्था था जब तो मुझे एक महात्माने एक उपाय बतलाया था। वही उपाय मैं यहाँ बतला रहा हूँ—

कार्याद्यदोषोनहतत्वभावः

शृङ्खलामि त्वां धर्मसमूद्देशोऽ।

पच्छेवः लालितिवत्तं षूदि तन्मे

शिव्यस्तेऽहं शाष्टि मां त्वां प्रपत्तम् ॥

जीवाके इस शोकको नेत्र दंद झरदे, एकाग्रचिन्तसे पार्श्वचार्य श्रीकृष्णको समूल मानकर खांख खार पाठ कर्मिये। आपको द्या करना चाहिये, वह बात सूझ जावगी। भगवान् आपको प्रकाश देंगे। —४०

लक्ष्योन्मुखता ही परम धर्म

(लेखक—नीरापेदकामली रंगा एवं ए०)

सबसे पहले 'काव्ये उपेक्षिता' की आवाज कबीन्द्र रवीन्द्रने उठायी और वही आवाज प्रतिष्ठनित हुई हिंदी-साहित्यमें आचार्य महात्माप्रसादजी द्विवेदीके द्वारा। द्विवेदीजीने कहा कि रामताहित्यके प्रणेता सीताजीका भूरि-भूरि गुण-गान करते हैं। साथी जीवने पवित्रा साथ देनेके लिये अवशका भोग-विलास त्याग और अपने प्राणशाम रामके साथ उनके त्रुत्तन्तुत्वोंको समान त्पदे सहन किया। उन पतिपरायणा सीताका गुण-गान होना भी चाहिये, पर उमिलाको लोग क्यों भूल जाते हैं? उमिला काव्य-जगत्से क्यों उपेक्षित है? क्या उमिलाका तप और त्याग सीतासे कम है? पतिपरायणा उमिलाने अपने पतिके मनकी इच्छा रखनेके लिये उनमें ताथ रहनेका द्वारा भी त्याग दिया। अवश्यके राजमहलमें रहकर भी 'चन-वाखिनी' ही रही। अनेक दृष्टियोंसे उमिलाजी जीवन चीतापी उपेक्षा अधिक आदर्श है, अधिक अनुकरणीय है; परंतु आदर्श और अनुकरणीय होकर भी उमिला कवियोंसे उपेक्षित रही है, भले वे रामशरितमानसके रचयिता गोस्वामी प्रलभीदासजी ही क्यों न हों। काव्यजी उपेक्षिताओंकी आवाज एहुले बढ़ी बँगला शाहित्यमें और फिर उठी हिंदी शाहित्यमें और यह आवाज असर कर गयी हिंदी शाहित्यके राष्ट्रकवि भीमैथिलीश्वरसन्जी गुप्तके हृदयपर। काव्यकी उपेक्षिताओंसे

प्रकाशमें लाना ही मानो उनके जीवनका लक्ष्य हो गया। गुप्तजीने अपने जीवनका एक सुनहला सपना बना लिया—जो-जो उपेक्षिताएँ हैं, उन-उनपर महाकाव्य या लण्ड-काव्य लिखना। गुप्तजीके महाकाव्य 'साकेत'की नायिका उमिला है। वैद्यवर्मीके प्रवर्तक महात्मा गौतम बुद्धके पूर्वांशकी पत्नी यशोधरा न केवल पतिपरित्यका थी, अरिषु काव्यकी उपेक्षिता भी थी। उस यशोधरकी जीवन-साधनापर गुप्तजीकी काव्य-साधना चली और उसका फल या 'यशोधरा' लण्डकाव्य। गुप्तजीने गोस्वामी त्रुलभीदास-जीकी पत्नी रत्नावलीपर 'रत्नावली'की रचना की, जैतन्य महाप्रभुकी पत्नी विष्णुग्रियापर 'विष्णुग्रिया' लिखी। गुप्तजीकी दृष्टि अपने लोकनके लक्ष्यपर टिकी थी—काव्यकी उपेक्षिताओंको प्रकाशमें लाना। गुप्तजीकी काव्यशिला, मात्रशिला और विद्यरथशिला, उसी कुछ अपने उपनेको साकार करनेमें लगी थी और आज गुप्तजीकी हिंदी शाहित्यको सदसे बड़ी देन है—उन्होंने काव्यकी उपेक्षिताओंको कुरार उठाया।

इह उद्याहरण या उपेक्षित उपेक्षा; दूर्घ उद्याहरण हैं साध्यालिक उपेक्षा। गीताप्रेष जहाँसे यह 'कल्पयाण' पञ्चिका प्रकाशित होती है, उस गीताप्रेषके मूल-संतापक हैं दिवंगत सेठ श्रीलयदगालजी गोयलजा। प्रायः लोग आपको

ऐठजीके सामसे पुकारा करते हैं। उसनमें हृ संतोष साथ मिल और सर्वोंके साथसे गीताके अध्ययन एवं मननका अवधार मुलभूत हुआ। संत-सद्गुराने और गीता-स्वाभ्यासाने एक बात कियोर जयदग्धल गोदान्दकाके मनमें बैठा दी। जीवन कहीं श्रेष्ठ है, जो गीताके अनुसार ढूला है। अब गीतोके सिद्धान्तोंके अनुसार जप-न्यान-पूजन-संयम चलने लगा। जीविकोपार्जनके लिये किस जानेवाला व्यापार भी उन्हीं सिद्धान्तोंपर आधारित था। आजके तथाकथित नेताओंके समान है यह नहीं मानते थे कि 'आइटेट लाइफ' और 'पल्लिक लाइफ' अलग-अलग हैं। उनकी करनी-करनीमें पूर्णतः एकाल्पता थी। साधनसम्पद जीवनको ईश्वर-साक्षात्कार होनेमें क्या ऐर लगी? ईश्वरका साक्षात्कार होनेपर भीसेठजीको येसा लगा कि भगवान् गीता-प्रचारकर आदेश दे रहे हैं। बहु, गीता-प्रचार ही उनके जीवनका कल्प हो गया। हर उद्देश्यको गीताके दो इलोकोंने और भी परिपूर्ण कर दिया—

य इमं परमं शुद्धं नदूरस्त्वेनमिष्यादति ।
सर्वं लभ्य एवं कृत्वा मात्येवात्मसंसद्यः ॥
न च तस्मान्मुच्येतु कश्चिन्मे प्रियहृत्तसः ।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियदर्शो भुवि ॥

(१८। ६८-६९)

‘जो पुरुष मुक्तमें परम प्रेम करके हर परम रहस्यमुक्त गीताशास्त्रको मेरे भक्तोंमें कहेगा, वह मुक्तको प्राप्त होगा—इसमें कोई संदेह नहीं है। उससे बदकर मेरा प्रिय कार्य करनेवाला मनुष्योंमें कोई भी नहीं है तथा पृथ्वीभूमें उससे बदकर मेरा प्रिय दूसरा कोई होगा भी नहीं।’

भीसेठजी क्षयं प्रतिदिन गीताखीका पाठ करते। वे अपने शिष्योंके प्रेरणा देते कि सभीके जीवनके केन्द्रमें गीता प्रतिष्ठित हो। साधकोंको शुद्ध और सही पाठकी गीता नहीं मिलती थी। अतः हर प्राधकके पाठ शुद्ध पाठ और सही अर्थकी गीता पर्दुर्जानेके लिये गीता हारपमेंका संख्य सिद्ध किया और इसके लिये गौरखपुरमें गीताप्रेषकी स्थापना की। गीताके अनुसार लाभना करनेवालोंकी साधना तीक्ष्णर यत्तानेहै लिये खगाणम, शूष्मिकेत्यमें माँ गङ्गाके फिनारे गीता-न्यान किरण दिला, जहाँ पर्वमें गद्यकी धार मास प्रवन्नन-मवनकी मुखिया है। कलकत्तेमें गोविन्दभवनकी स्थापना की, जहाँपर गीताके प्रवन्ननकी व्यवस्था है। गीताके पर्मकर सर्व भाषामें उद्घाटन करनेके लिये गीता-न्यान-

विद्येनी लिखी, जो गीताप्रेषये उद्घासित है। उनके शास्त्री, जिन गीताएं उनका जीवन समृद्धि द्वारा, जिन गीताएं उन्होंने ईश्वर-साक्षात्कार लिया, जिन गीताके प्रचारके लिये गीताप्रेषये मिली और जिन गीताके प्रचारके लिये ईश्वरदेव गिल, उस गोताका प्रचार ही उनके जीवनका सप्तना बन गया और गीताप्रेषसे अवतक पौच करोड़से भी अधिक गीता प्रकाशित हो चुकी है। गीताका इतना प्रचार इसीलिये वे कर सके कि उनको एक शुभ थी। रात-दिन इसीके लिये सोचना, हठीके लिये करना।

भीगुहजीका और भीऐठजीका उदाहरण साहित्यिक और आध्यात्मिक क्षेत्रका है और वे ऐसे उदाहरण हैं कि जिन्हें अपने द्वेषमें सफूलता मिली, सराहना मिली। ऐसे अनेक उदाहरण अन्य-अन्य द्वेषोंके मी दिये जा सकते हैं। परंतु सभी लक्ष्योंमें प्रयत्नशील व्यक्तिको सफलता मिले, यह अवश्यक नहीं।

भाद्रके प्रदिव्य शत्रियकारी सरदार भगतसिंहका एक सप्तना या—भारतकी अंग्रेजोंकी द्वाष्टासे मुक्त करना है। सुवक्षोंमें क्रान्तिका जोना भरता, अंग्रेजी शालनको उटट केनेकी प्रेरणा देना, देवा-भक्तिकी मावनाका प्रधार करनेवाले साहित्यको गिर्वांमें बोटना—यही उनका काम था। वे हर मारतीयोंके कहते थे, ‘क्षाटे शाश्वतं समाचरेत्’—हृष्टका जवाब हृष्टके, पर्यटका जवाब पर्यटके और लठीका जवाब लठीके थे। जिन अंग्रेजोंने भारतीय भूमिपर भारतीयोंके रक्तको यहांया और अब भी भारतीयोंके रक्तको चूस रहे हैं हीं उन अंग्रेजोंसे लक्ष्यका बदला खोसे लेना है। अंग्रेजोंका और अँगरेजियतका भारतमें नामोनिशान न रहे। इस ‘ज्ञात्र’ देजको भला अंग्रेजी शासन कैसे सह पाता? और भगतसिंह फैसीके तस्वीरपर लटकत दिये गये। भगतसिंहके जीवन-कालमें उनके जीवनका सप्तना पूरा नहीं हो सका, भगतसिंहके जीदें-ली मारलाको स्वतन्त्रता नहीं मिल सकी; पर उनकी लक्ष्योंमें सत्त्वता और लक्ष्यके प्रति उनकी सत्त्व जागरूकता भगतसिंहके द्वानेके बाद अनेक ‘भगतसिंह’ उत्पन्न कर गयी और उनका सप्तना पूरा होकर रहा।

बहु लक्ष्यकी पूर्ति नहीं हो सकी तो कोई बात नहीं। लक्ष्यके पीछे कोई या रहा है, जो सप्तने के उपनेहों द्वारा चढ़ देगा। महामना पं० महामोहनजी गालडीयोंके जीवन-कालमें काशी हिंदू-धर्मविद्यालयका उद्घाटन दिखार नहीं हो सका, जितना न्यापकल्प उसका आज्ञा है। काशी हिंदू-

विश्वविद्यालयका तो अभी और री विज्ञान-विद्यालय होता । इसे, आपके लक्ष्यमें इसना बजब जहर हो कि दूधरोंको आकर्षित कर सके । महान् लक्ष्य अवश्य महान् आत्माओंको आकर्षित कर लेना और लक्ष्य महान् तभी होगा, जष वह ईश्वरीय उत्तरके अनुरूप हो । भगवान् भीकृष्णने कहा है कि 'जब धर्मकी गतिं होती है और अधर्मका विकार होता है, तब धर्मकी स्थापनाके लिये और संलोकी रक्षाके लिये मैं अवतार लेता हूँ ।' रामायणमें भगवान् रामके अवतारका ऐसा वस्ताव्य गता है—

विष धेनु सुर संत द्वितीन् मनुज अवतार ।

उत्तरकी रक्षा, धर्मकी स्थापना, विभिन्नों सुविचार, गायत्रा पौरण, देवाराधन आदि—ये सब भगवान्के अवतारके प्रयोजन हैं । जब ये दी सब हमारे जीवनके प्रयोजन होंगे, हन्तीके लिये जब हमारे जीवनका अस्त्रेक कार्य होगा, अवश्यक है कि उक्तता न मिले । महान् प्रयोजनके लिये

ईश्वर वी उक्तता होता है । हमारा महान् प्रयोजन ईश्वरीय प्रयोजन है । यदि उक्तता नहीं मिलती तो विवेकण करना चाहिये कि ईश्वरीय प्रयोजनसे हमारा प्रयोजन, हमारा लक्ष्य कहीं विपरीत तो नहीं है । यदि ईश्वरीय प्रयोजनको पूर्ण करनेके लिये हमारा सम्मूर्ण प्रयास है तो उक्तता सुनिश्चित है । यदि कार्य अघूरा रह गया तो को बात हो सकती है । हो सकता है कि हमारा पुनर्जन्म हो और हम अपने अगले जन्ममें अपना सुपना साकार करें । अथवा ईश्वरीय विषानटे हमारा महान् प्रयोजन भगवान्-आत्माओंको आकर्षित करे और वे 'पीछे आनेवाले' महान् लक्ष्यको पूरा करें । लक्ष्य पूरा होता है या नहीं, वह कार्य हमारा नहीं । वह कार्य तो भगवान्का है । हमारा कार्य तो हचना ही है कि हमारी ईश्वरीयता पर्याप्त हो । लक्ष्यकी ओर हम सवता उन्मुख हैं । यही हमारे लिये परम धर्म है । शेष तो भगवान् सत्ता केंमाल लेंगे ।

आयुर्वेद और धर्मशास्त्र

(देखक—प० श्रीहरिकृष्णजी जीवी तीर्थंवय)

जनसाधारणकी दृष्टिमें आयुर्वेद और धर्मशास्त्र पृथक्-पृथक् विषयके प्रतिपादन करनेवाले दो भिन्न-भिन्न शास्त्र हैं, परंतु जरा गम्भीर अध्ययन करनेवाले इस बातसे पूर्ण परिचित हैं कि ये दोनों शास्त्र एक ही उद्देश्यके प्रतिपादक हैं दोनोंजा उद्देश्य ही मानव-जीवनको इस लोकमें सुखी, समृद्ध, नीरोग बनाकर पूर्ण श्रतवर्षकी आयु प्राप्त करना एवं अन्तमें जन्म-परणके सफरसे छुटकारा दिल्लकर मुक्त कर देना ।

आयुर्वेद, संसारमें प्रचलित और अव्यक्त उक्तत मानी जानेवाली चिकित्सापद्धतियोंके सहज, केवल पाश्चमैतिक स्तूलवरीयकी भौतिक स्थूल घन्षोंसे परीक्षा करके उसके विकासको औषधों या यन्त्रोंली सहायतासे हठा देनेकी चेताओं अधूरी चिकित्सा-पद्धति मानता है ।

क्योंकि आयुर्वेद शरीर और मन तथा जीवात्मा—हम तीनोंके संयोगको जीवन मानता है—

संज्ञायामादा लक्षीरं परं प्रयत्नेत्तदेवण्डवर ।

कोकिलाङ्गि संयोगात्मा सर्वं प्रतिष्ठितम् ॥

(च० स० ६ । १८)

सत्त्व (मन), आत्मा, शरीर—ये तीनोंएक दूसरेके सहारेले चिदण्डके सहज संयुक्त होकर रहते हैं तभीतक यह लोक है । इसीका नाम जीवन या आयु है ।

स पुरांक्षेत्रं तत्त्वं तत्त्वाधिकरणं स्वरूपम् ।

वेदस्यास्य तदर्थं हि वेदोऽयं सम्बाधितः ॥

(च० स० ८ । १९)

सत्त्व-आत्मा-शरीरकी संयुक्तताको ही पुरुष कहते हैं, यह संयुक्त पुरुष ही चिकित्सक अधिकरण है—समस्त आयुर्वेद इसके हितके लिये ही प्रकाशित हुआ है ।

इन तीनों अर्थात् शरीर, 'मन' अस्तामी संयुक्तावस्थाके रहते हुए भी आस्ता निर्विकार होनेसे सुख-दुःख और रोग-आसरोग्यका आशय नहीं हो सकता । इथोंकि—

निर्विकारः परस्त्वामा……सूक्ष्म पद्धतिः हि किंतः ।

(च० स० ८ । २८)

आस्ता निर्विकार, पर और प्रश्न है, एसके गुण-दोषोंवे द्रष्टा कमी लिह नहीं होता ।

सुख-दुःख, रोग और आरोग्यका ज्ञात्वार शरीर और मन ही है ।

शरीरं सत्त्वसंज्ञं च व्याधीनामाश्रयो मतः ।
तथा सुखानां ओगस्तु सुखानां कारणं समः ॥
(च० स० १ १ १५)

शरीर और मन-ये दोनों ही व्याधियोंके आश्रय माने गये हैं तथा सुख (आरोग्य) के आश्रय भी ये ही हैं ।

आहार आचार-विचार-व्यवहारका सम उपचित् प्रयोग ही मुख्योंका कारण है । वास्तवमें सब्जा सुख आरोग्य है । रोग ही दुःख है—

सुखसंशकमारोग्यं विकारो दुःखमेव च ॥

ऐसको इतने या उत्पन्न न होने देनेकी विधि बदलाना आयुर्वेद और धर्मशास्त्र दोनोंका समान उद्देश्य है ।

रोग या दुःखके कारण

अविकृत वात, पित्त, कफ शरीरको भारण करते हैं और जब ये मिथ्या आहार-विहारसे विकृत हो जाते हैं, तब शरीरका नाश कर देते हैं । इसी प्रकार रजोगुण और तमोगुण मनके दोष हैं । ये जब विकृत होते हैं, तब मनको दण्ड बना देते हैं । शारीरिक और सानसिक दोषोंकी सम अवस्था ही आरोग्य या सुख है । इन दोषोंकी विषयमें ही रोग या दुःख है—

रोगस्तु दोषवैषम्यं दोषसम्यमरोगता ।

वायुः पित्तं कफतोऽकः शारीरो दोषलोभः ॥

मानसः पुनरुचिष्ठो रजश्च तम एव च ।

(च० स० १ १ १६)

विकृत हुए शारीरिक दोषोंको और मानस दोषोंको समान अवस्थामें सापित कर देना ही आयुर्वेद और धर्मशास्त्रका लक्ष्य है । चरकने शारीरिक और मानसिक रोगोंकी निवृत्तिका उपाय इस प्रकार बतलाया है—

प्रकारम्यौषधैः पूर्वे दैवयुक्तिव्यपाशयैः ।

मानसो ज्ञानविक्षानपैर्यंस्तृतिसमाधिभिः ॥

(च० स० १ १ १७)

शारीरिक रोग दैव और युक्तिके अधित् औषध-प्रयोगोंसे शान्त होते हैं और मानस रोग शान, विकान, वैर्य, स्पृति, समाधि आदि मानस उपायोंसे शान्त होते हैं ।

जिसका मन और शरीर दोनों प्रसन्न हैं, वही स्वस्थ है ।

समदोषः समाप्तिश्च समधातुमलक्षियः ।

प्रसन्नत्वेन्द्रियमनः स्वस्थ हृत्यग्निशीघ्रते ॥

‘जिसके शारीरिक दोष सम हों, अधिवल सम हो, शादुओं और मलोंकी किया समान हो, आत्मा, इन्द्रिय और मन प्रसन्न रहता हो; वह पुरुष ही स्वस्थ है ।’ यह विषय है कि स्वस्थ शरीरमें ही मन स्वस्थ रहता है और जिसका मन स्वस्थ है, उसकी शरीर स्वस्थ रहता है ।

मन अस्वस्थ और शरीर स्वस्थ या शरीर स्वस्थ और मन अस्वस्थ कभी नहीं रह सकते; दोनों अन्योन्याधित हैं । अतः दोनोंका उपचार बतलाना आयुर्वेदका लक्ष्य है । यही कारण है कि—

आहार आचार-विचार व्यवहार-दिनचर्यामें आयुर्वेद और धर्मशास्त्र एकमत हो जाते हैं । दोनोंका लक्ष्य है— सानवको सुख प्राप्त कराना ।

सुखाधारोः सर्वभूतानां भ्रतः सर्वाः प्रदूषकाः ।

सुखं च म विना धर्मात् उत्तादूषयेत् भवेत् ॥

(च० स० २ १ २)

‘तब प्रकारके प्राणियोंकी प्रत्युत्ति सुखके लिये ही होती है, सुख धर्मपालन किये विना नहीं मिलता । अतः सुख चाहने-वालेको धर्मपरायण रहना चाहिये ।’

अधार्मिक पुरुष सुखी नहीं रह सकता ।

अधार्मिकों जरो यो हि यस्य चार्यन्तं धनम् ।

हिंसरत्तम्य यो नित्यं नैत्यसौ सुखमेधते ॥

(मनु० ४ । १७०)

‘जो पुरुष अधार्मिक है, जिसका इह वौषटा ही धनागमका साधन है, जो मन-चाणी-शरीरसे दूसरोंकी हिंसा करता है या प्राणवियोग करता है, वह इस लोकमें कभी सुखी नहीं रह सकता ।’

धर्माचरणमें कष उठाना पढ़े, तो यी उठाओ । अधार्मिक पुरुषोंकी अपातंरमणीय उत्तरि देखकर अधर्ममें मन मत लगाओ; क्योंकि अधार्मिकोंकी उन्नति अचिरस्यायी है, पतन शीघ्र और अवस्थम्भावी है—

न सीदन्तपि धर्मेण सनोऽधर्ममें लिखेश्वरेत् ।

अधार्मिकाणां परपानां पश्यन्ताम् विपर्यम् ॥

(मनु० ४ । १८१)

अधार्मिक पुरुषोंका धन, मान, सुख, भोग-विलास शीघ्र ही नष्ट हो जाता है, अधर्मका दृश्य समय आनेपर अवस्थ अनिष्ट फल देता है ।

नदधर्मस्तिरो लोके सद्यः फलं गौरितः ।
आवैरावर्तमानस्तु कर्तुर्मूलानि कृत्तिः ॥

(मनु० ४ । १७२)

पृथ्वीमें वेये हुए बीज सद्यः फल नहीं देते; पर समय आनेपर धीरे-धीरे बढ़ते हुए जब वृक्षके रूपमें विकासित होते हैं तब ही उनके फल लगते हैं। देखे ही अधर्मके वृक्षका समाव है, वह तत्काल फल नहीं देता; जब बढ़कर फलता है तब कर्ताके मूलका ही छेदन कर देता है ।

अधर्मसे मनुष्य एक बार बढ़ता है, अत्तमें समूल नष्ट हो जाता है—

अधर्मैव वृत्ते तावद् ततो भद्राणि पद्यति ।
ततः सप्तान्नयति समूलं च विनश्यति ॥

(मनु० ४ । १७४)

‘अधर्मसे मनुष्य पहले तो एक बार बढ़ता है, पिर मौज-दौक-आनन्द मी करता है और अपने छोटेसोंटे शनुओंपर धनके बलसे विजय भी प्राप्त करलेता है, किंतु अत्तमें वह देह, धन और सेतानादिसहित समूल नष्ट हो जाता है।’ इसीलिये मनुजी कहते हैं—

परिव्यजेऽर्थकामौ यो स्यातां धर्मवर्जितौ ॥

(मनु०)

‘जो धन धर्मविरुद्ध कर्माणि मिलता हो, जो भीम धर्म-रहित हो—उन दोनोंका स्याम कर दें; क्योंकि उनका परिणाम हुया होगा ।’

दुरचारी पुरुष दीर्घजीवी नहीं होता
दुरचारो हि पुरुषो लोके भवति निन्दितः ।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेव च ॥

(मनु० ४ । १५७)

‘दुरचारी पुरुष लोकमें निन्दित माना जाता है, निरन्तर दुःख भोगता है, व्याधिग्रस्त रहता है और अस्यायु होता है।’

सदाचारी पुरुष ही शतायु होता है
सर्वलक्षणहर्षोऽपि यः सदाचारवाचः ।
शद्व्यक्तस्यपुरुष शर्वं वर्याणि जीवति ॥

(मनु० ४ । १५८)

‘सद शुभ लक्षणोंसे हीत पुरुष भी यदि सदाचारी हो, ईश्वर तथा धर्मशास्त्रपर अद्वा रखनेवाला हो, परदोष देखने-कहनेवाला न हो, तो वह सौ वर्षतक जीता है।’

ये वर्ष जोना मानव-जीवनकी पूर्ण सफलता है !

पूर्वां मनुष्यस्य अनुत्तरं यत् सर्वमायुरेतिवसी-
धारू भवति ॥ (ताप्तय० मा०)

य एवं शतं वर्षाणि जीवति यो धा मूर्यांसि जीवति
सह एतदमृतं प्राप्नोति । (शतपथ ना०)

यार यह है कि वेदों और ब्राह्मणग्रन्थोंमें १०० वर्ष और इससे अधिक नीरोग और समृद्ध होकर जीनेके मनुष्यकी पूर्णता और मोक्षका ऐतु कहा है, ‘जीवेष शरदः शतमासीः स्यास शरदः शतम् ।’ इन दो प्रार्थनाओंमें ही मानव-जीवनकी सफलताका बोज अन्वनिहित है ।

सदाचारके अनुपालनसे आगन्तुक रोग नहीं होते

इत्यांशोकभयक्रोधमानदेशादयश ये ।

मनोविकाशस्तेऽप्युक्तः सर्वे प्रज्ञापराधजाः ॥

त्यागः प्रज्ञापराधानामिनिद्र्योपशमः स्मृतिः ।

देशाकालस्मिन्निहानं सद्वृत्तस्यात्मुवर्तनम् ॥

आगन्त्यामनुवत्तवेष मार्गो निश्चीतः ।

प्राज्ञः प्रागेव तत्कृद्याद्वितं विद्याच्छदात्मनः ॥

(च० स० ७ । २५-२६)

ईर्ष्या, शोक, भय, क्रोध, मान, द्वेष आदि तत्र भनके रोग हैं, जो प्रशापराधसे उत्पन्न होते हैं। प्रज्ञापराधोंका त्याग, इनिद्र्योंका उपशम, धर्मशास्त्रोंके तथा आयुर्वेदके उपदेशोंको याद रखना; देश-काल-आत्माका विशान, सद्वृत्तका अनुवर्तन—ये सत्र आगन्तुक व्यधियोंसे बचनेके उपाय हैं। सुद्धिमान, पुरुषको चाहिये कि रोग उत्पन्न होनेके पहिले ही अत्यवित्त-के इन उपायोंका पालन करें जिससे आगन्तुक रोग हों ही नहीं ।

आयुर्वेदसे आयुकी रक्षाके उपाय

हिंतं जलपदानं च शिवामासुपसेवनम् ।

सेवनं अहुचर्यस्य सर्वैव अहुचारिणाम् ॥

संकृत्य धर्मशास्त्राणां भद्र्योणां जितात्मनाम् ।

धार्मिकैः सात्त्विकैनर्थं सहास्या त्रृद्वसम्भतैः ॥

इत्येतद्योपर्जं प्रोक्तमस्युपः परिपालनम् ॥

(च० वि० ३, ८, ९, १०)

भद्रलमय स्वास्थ्यप्रद शान्त देशोंमें निवास करना, ब्रह्मचर्यका पालन, ऋक्षचारियोंकी सेवा, धर्मशास्त्रोंकी कथाओं-का अवलोकन, जितात्मा महर्षियोंके चरित्रोंका श्वरण-पठन-

मनन दर्शन, जिन वास्तिक चार्योंकी दानदृष्ट दर्शनेष्ट चार्यक पुरुष प्रशंसा करें, उनके साथ निरन्तर रहनेज्ञ देश—
आयुके पश्चिमानके दे एव उत्तम मेवज हैं ।'

महापारी और युद्धसे होनेवाले लनपदोद्बृंशसक्त कारण भी अधर्म ही है

महापारीके सम्बद्ध, काल, जल और वायु दूषित होकर सामूहिक रूपसे नरतंदीर हो जाता है तथा देशके देश उज्ज्वल जाते हैं । देश, काल, जल और वायुने एक साथ विकृति उत्पन्न होनेका कारण सामूहिक अधर्मचरण ही है ।

सर्वेषाभ्यप्तिवेश ! वायवादीनः वदैगुण्यसुत्पत्ते यद् तत्त्व मूलमवर्मः, तत्त्वूकं चासत्कर्त्त्वं पूर्वकृतस्य, तथोर्योगिः प्रज्ञापराध एव ; उद्दू चया—यदा वै देशनगरनिगमजन-पद्मधाना धर्मसुखकम्याकर्त्त्वं प्रजाः प्रवर्तत्वन्ति, तद्विकृतो-प्रशिक्षात्य पौरक्षमप्य व्यक्तुरोपजीवित्वा तत्त्वसंप्रसिद्ध्य-यन्ति । ततः सोऽर्थः प्रसर्वं धर्मस्तर्वत्ते सत्त्वेऽन्तर्हितधर्माणो देवताभिरपि व्यव्यन्ते । तेषां तथाविभान्त्वाहितधर्माणामधर्मशक्तानामाभपक्षान्तदेवतानामृतत्वो व्याप्त्यन्ते । तेन तापो वयक्तालं देवो वर्तति न च च वर्तति, दिव्यतं च वर्तति, वाता न स्तुत्यनिदित्तं, द्वितिष्ठापद्धतिः, स्तुतिष्ठान्युपाप्यविनिष्ठितः, तोषवद्यत्य एवाचं परिहालापयन्ते विकृतिश्च, तत्र उद्धर्वेदसन्ते जनपदः राशीच्छवहर्वदोषाद् ॥

‘अग्निवेश ।’ इन वायु आदिका सदका एक साथ ही दूषित होनेका नूल कारण अधर्म है । अधर्मका नूल असरकर्म है । अधर्म और असरकर्मका मूल प्रश्नापद्माद्य है । सब देश-नगरनिगमके प्रधान अविकारी पुरुष भर्मका उत्पन्नन करके अधर्ममें प्रजाके साथ बर्ताव करते हैं, तब उनके अधिकृत-उपाधिकारी नीचेके कर्मचारी और पुर तथा जनपदके निवासी एवं व्यापारी उल अधर्मकी शृणि करते हैं । वह अधर्म धर्मको बलभूक अन्तर्हित कर देता है । जद धर्माणोऽन्त धर्म अन्तर्हित हो जाता है और उनमें अधर्मकी प्रवृत्तता हो जाती है, तब उनके रक्तक अधिकृतिकालाभासित देवता उहैं त्याग देते हैं । शृद्धव्योमका स्वयाव चहल जाता है । मैष वयक्तालं नहीं वरसता अथवा वरसदा ही नहीं, या विहृत वर्षों करके चलशावन कर देता है, वायु विहृत होकर रहता है; पृथ्वी व्याप्तन हो जाती है, जल सूख जाते हैं, ओप्रियों अपने स्वभावको दोषकर विकृत गुणवाली हो जाती है विहृत वायु आदिके संसर्व एवं विहृत जाग्रपदाधर्मोंके

व्यवहारे देशके दैभ एक साथ नहासारीके फैलनेरे उज्ज्वल जाते हैं ।

युद्धजन्य नरसंहारका हेतु भी अधर्म ही है

वर्जनस्ववस्थापि जलपदोद्बृंशसाधर्म एव देश-रक्षणि । येऽतिप्रतुद्धलोभदोषसोऽग्नानात्ते शुर्वालानवमत्यात्म-स्वजनपरीपतात्त्वाय व्याकेण परत्यर्थभिक्षमादित्य ।

(च० पि० ३ । १३)

‘शुद्धप्रनव अर्थात् युद्धसे होनेवाले तादृष्टिन नरसंहारसे भी देश उज्ज्वल जाते हैं । उसका हेतु भी अधर्म ही है । जब सूखाओंमें भर्यादातीत अत्यन्त लोभ, रोष, मोह, नान वद्य जाते हैं, तब प्रबल व्यक्तिवाली व्यक्तिके भनके वल्ले दुर्वल और दीन पुरुषोंका तिरस्कार करते हैं, जिन द्वे अपने-परामे सब पुरुषोंका नाश करनेके लिये शाजाज्ञोंते व्याकमण करते हैं । इस प्रकार युद्धसे होनेवाले लनपदोद्बृंशका भूल कारण भी व्यवहर्म ही है ।’

अभिशापसे होनेवाले नरसंहारका हेतु भी अधर्म ही है

अभिशापसभद्रपद्मधान्यवर्म एव देशरक्षणि । ये शुर्वालभर्माणो अभ्याप्तेवात्मते गुरुद्वृष्टिद्वयिंश्चप्रत्यनवसाधितान्पार्श्विति । उत्तरतः शज्ज्वर्वादिभिर्भिरुद्धाभस्तत्त्वाङ्गपद्मिति ॥ (च० पि० ३ । १४)

‘अभिशापसे भी होनेवाले लनपदोद्बृंशका कारण भी अधर्म ही है । जब मनुष्योंकी खार्यिक भावना छूट हो जाती है, जब ज्ञान और शक्तिका मद वद्य जाता है तब वे पूर्व युक्त युद्ध, विद्ध, शृविक्षणोंका तिरस्कार करते हैं और उनके अभिशापसे वादवीकी तरह एक साथ समूल नष्ट हो जाते हैं ।’

वह निश्चित सिद्धान्त है कि रोम, दुःख और अकाल-मृत्यु आदि असदाचार वा पापका फल है । समाजमें इह अब अदृष्टिक रूपसे वद्य जाता है तब वह सान्तुष्टिक विनाश करता है, ज्यकिंगत पाप व्यक्तिको ही नष्ट करता है, दीर्घकालीन असाध्य जीवरियोंके द्वारा, भन्नान-गिनाशके द्वारा कह पहुँचता है । नगुण्यकी व्याप्ति चाशारपदः ३०० वर्षकी मानी गयी है, असुकी समाप्तिपर निवन निश्चित है, पर इससे पहले मरना उसके अपने अपनाओंका फल है ।

अपुर्वोदका सिद्धान्त है कि १०१ मूर्ख हैं जिनमें ननुभक्ती पहल मूर्ख तो निश्चित है, वह किसी उपायसे द्वाली नहीं वा यक्ती । शोष १०० मूर्खोंको अकालमूर्ख कहा

चाता है, वे आयुर्वेदोक्त एवं धर्मशास्त्रोक्त सद्बृत्तके अनुष्ठानसे टल जाती हैं।

एकोचरं सत्युतमथर्षणः प्रथक्षते ।

तत्रैकः कालसंज्ञश्च शेषास्त्वागान्तवः स्वृताः ॥१८॥

सार यह है कि आगन्तुक मुस्तुपैं हितोपचारसे हठाती जा सकती हैं। 'हितोपचारमूलं जीवितमतो विपर्यानमूलम्'—चरकका सिद्धान्त है कि जीवनका मूल हितोपचार है, अहितोपचार ही मृतुका कारण है। इस पर्याप्तकोक्त हितोपचारोंका शोषण-सा निर्दर्शन करा देते हैं। शोष स्वयं पाउक चरक भू० स्थानके ८ वें अध्यायमें बोलते हैं।

तत्र सद्बृत्तमस्तिलेनोपदेश्यासोऽग्निवेश । (च० द० ८)

अब हम सम्पूर्ण सद्बृत्त—सदाचारका उपदेश करेंगे। देव, गौ, ग्रामण, सिद्ध, आचार्यकी अर्चना करना; प्रतिदिन अग्निहोत्र करना; प्रश्नस्त्रौषधका लेखन और रस धारण करना, दोनों समय त्वान-संध्या करना, प्रसन्न रहना; मिलने वालोंसे प्रथम स्वयं कुशल-भ्रम करना, पितरोंका रिङ्डान-श्राद्ध-तर्पण करना; हित-मित-मधुर भाषण और हित-मित-मधुर आहारथयात्मय करना; निश्चिन्त, निर्भीक, क्षमाचार, धर्मिक, आस्तिक होकर रहना—इत्यादि अनेक सद्बृत्त हैं। जिनका संक्षेपमें वाग्भृतने एक ही श्लोकमें लार्यन कर दिया है—

नित्य हिताहारमिहारसेवी

समीक्ष्यकारी विषयेचसकः ।

दाता समः सत्यपरः क्षमाचा-
नासोपसेवी च भवत्यरोगः ॥ १ ॥

'प्रतिदिन हित आहार-विहार करनेवाला, सोन-समदक्त कार्य करनेवाला, विषयोंमें अनासक्त, दान देनेवाला, हनि-स्वामयमें सम रहनेवाला, सत्यपरायण, क्षमाचार, आप सुर्योक्ती सेवा करनेवाला, उनकी दिक्षाके अनुसार चलनेवाला पुरुष ही नीरेग और शताब्दी हीता है।'

सार यह है कि आयुर्वेदोंने जिन आहार-विहार-आचारोंको दीर्घीतादक बतलाया है, धर्मशास्त्रोंने उन्हें पापजनक कहा है। यही आयुर्वेदका स्वस्य-द्वृत्त है।

सद्बृत्तं यथोहिष्टं यः सम्प्रसुलिङ्गिति ।

स समाशतस्त्वयाधिरात्रुषा न चिकुञ्जते ॥

(च० द० ८ । १०)

शूलोकमाप्यरते यहासा साधुसम्भलः ।

धर्मार्थोदिति शूलाशो चन्द्रुसामुण्डगच्छति ॥ १५॥

परान् सुहृदिनो लोकान् पुण्यकर्मां प्रपदते ।

तस्माद् वृत्तमनुष्ठेयमिदं सर्वेण सर्वदा ॥ १६॥

'जो हस आयुर्वेदोक्त सद्बृत्तका सम्बूद्ध पालन करता है, वह १०० वर्षतक नीरेग रहकर जीता है, नरलोककी यदसे पूरित करता है सुकृतियोंके पुण्य स्वर्गादि लोकोंको मास करता है, धर्म और अर्थको व्याप होता है और सब प्राणियोंकी बन्धुताको ग्रास होता है। अतः इसका सब भनुष्योंको पालन करना चाहिये।'

अपनेको सदा धर्मकी कसौटीपर कसता रहे

हित-मित-सत्य-मधुर नित बोले, हित-मित-मधुर करे आहार ।
 नित्य रहे निर्भीक, मान-मदरहित, ऐसे मन शुद्ध विचार ॥
 नियमित हों जीवन, इन्द्रिय-मन हों संयत, हो शुद्धाचार ।
 विषयासक्ति-रहित, समतायुत, क्षमाचार हो सहज उचार ॥
 सेवा-भाव-समवित जीवन हो, सबका चाहे कल्याण ।
 रहे अडिग नित धर्म-शोलसे, हो शरीर चाहे द्विथमाण ॥
 विपद्यत्तको आश्रय दे, कर दे उसका विपत्तिसे ज्ञान ।
 मधु-शरणाभत रहे, स्वयंको कसता रहे धर्मकी ज्ञान ॥

जन्माङ्गसे धर्मविचार

(केषुक—ज्योतिषाचार्य श्रीवल्लभामणी शास्त्री, एम्० ए०, साहित्यराज)



भारतकी संरक्षित और सम्प्रताका मूल 'धर्म' ही है। धर्म विना कोई जीवन नहीं। जहाँ 'धर्म' नहीं, वहाँ सब व्यर्थ है। 'धर्मनिरपेक्षता' की बात करना केवल भ्रम है। मानवके अन्तर्गत यदि धर्म नहीं तो वह मानव नहीं; दानव है। जिसमें भी महामानव हुए, सभी धार्मिक प्रवृत्तिके थे। यहौपर धर्मकी व्याख्या नहीं करती है। किंतु मानवजीवके आवश्यक पोषक तत्त्वोंमें धार्मिक भावना भी एक तत्त्व है, जिसे भारतके सभी आचार्योंने माना है; उसे ही यहाँ उपस्थित करना है। ज्योतिषविज्ञानमें फलितज्योतिष प्रधान अङ्ग भाना गया है। फलितज्योतिषमें जन्माङ्गसे फलांकलविचार एक बहुत और वैज्ञानिक परम्परा है। जन्माङ्गमें वारह स्थान होते हैं। उन वारह स्थानोंमें धर्म भी अपना एक स्थान रखता है। शरीरके पोषणके लिये 'कर्म'की प्रधानता मानी गयी है। शरीरके पालनमें 'धन' सहायक होता है। 'भाई' का स्थान भी अत्यन्त महत्वदायक होता है। 'सहेदर' बहुत भाग्यसे मिलते हैं। इसे दुलसीदालजीने भी स्वीकार किया है। 'सुख'की चाहना 'मानव' ही नहीं, पशु-पक्षी भी करते हैं। समस्त देशके मानव 'पुत्र'के जन्मके लिये लालायित रहते हैं। 'प्रोग' और 'पुश्मनों'से किसीका छुटकारा नहीं। महाराज युधिष्ठिर जो 'अजातशत्रु' थे, उनके भी रक्तका प्यासा हुए हुयोंधन था। 'स्त्री' तो जीवनके संचालनमें अद्विक्ष मानी गयी है। जीवनका एक दिन 'अन्त' होता ही है। 'मृत्यु' एक दिन सबका बरण करती है। अपनी 'व्याय' घड़नेके लिये मानव जीवनपर्यन्त उत्सुक रहता है। 'व्यव' भी जीवन-संचालनके लिये अनिवार्य है। यह सब कुछ होते हुए भी 'धर्म' विना जीवन 'जीवन' नहीं। जन्माङ्गमें तन, धन, भाई, सुख, पुत्र, अरि, स्त्री, मृत्यु, धर्म, कर्म, आय और व्यव—वारह स्थान होते

हैं। ये वारह स्थान वारह राशियोंके आधारपर प्रचलित हुए हैं। वारह राशियाँ समूर्ण द्वशाणडमें व्याप्त हैं।

यह निश्चित है कि धर्मका स्थान जन्माङ्गमें नहीं है। जन्माङ्गसे जीवके धर्म और अधर्म दोनोंका विचार किया जाता है। धर्मकी प्रधानता नवम स्थानमें निश्चित करके आचार्योंने नवम स्थानसे धर्मके आधारपर यज्ञ, तप, शुभकर्म, पुण्यार्चन, भाषण, प्रसन्नता आदिका भी विचार किया है। इन सबका आधार केवल 'धर्म' ही है। जन्माङ्गसे फलविचार करनेमें कई आवश्यक जातेंको स्थानमें रखना पड़ता है। फलविचारकी हठिसे तूर्थ, चन्द्र, मङ्गल, वृष, गुरु आदि नवग्रह और येष, वृष, मिथुन आदि वारह राशियोंका परस्पर सम्बन्ध भी देखा जाता है। इसके बाद 'स्थानवल' में तन, धन आदि वारह-स्थानोंका बल भी देखा जाता है। विचारकोंने यह सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि अहोंका स्वमाव मानवोंकी भाँति ही उपयोगी होता है। इसी आधारपर ग्रहोंका 'चेष्टाशल' और 'दृष्टिशल' भी माना गया है। मानवको 'स्त्री' अत्यन्त प्यासी मानी गयी है। 'स्त्री'का स्थान सप्तम स्थान है। सप्तम स्थानमें हठिवलकी प्रधानता होती है। इसी प्रकार पञ्चम स्थान पुत्र और विद्या दोनोंका है। 'विद्या' तो 'बुद्धि'की सहायिका होती है। विद्या और बुद्धिसे हीन मानव धार्मिक विचारोंसे रहित होता है। इसी आधारपर पञ्चम स्थानसे भी 'धर्म' सम्बन्धी विचार होता है। धर्मके संचालनके लिये पञ्चम भावकी शतिविधिसे सहायता मिलती है। पञ्चमभावसे ईश्वरमें भक्ति और नवम भावसे धर्मका विचार होता है। पञ्चम और नवमके अधिगतियोंके अन्योन्याश्रय-सम्बन्धसे 'धर्म'में हृदया और आत्मा प्रवर्तता है या खाली होती है। दोनों भावशोंके बलांकल एवं शुभ गुणादिके तारतम्यसे धार्मिक विचारोंमें स्थिता या अस्थिरता आती है। धार्मिक विचारके अन्तर्गत 'उपासना' भी है। कौन जातक किसकी उपासना करेगा या उपासनामें उसकी प्रवृत्ति होती या नहीं—यह सब विचार भी होता है। उपासक देवी या देवकी उपासना करेगा; इसका भी ज्ञान ग्रहोंके बलांकलसे ही जाता है।

उपासनाकी प्रधृति

-(१) ग्रहोंके विचारमें धानि नवम स्थानमें रहकर

विचित्र स्थिति उत्पन्न करते हैं। शनि नवम स्थानमें रहकर जातको सर्वदर्गनविमुक्त बनता है, जातक राजा होकर भी धार्मिक विचारमें अग्रसर होता है, सच्चा उपासक बनता है।

(२) यदि पञ्चम स्थानमें पुरुष-ग्रह वैदा हो और किसी पुरुष-ग्रहकी दृष्टि उत्सपर पड़ रही हो तो जातक पुरुष-देवताका उपासक बनता है।

(३) यदि पञ्चम भावकी यथि सम (वृष्टि कर्त्ता वादि) राशि हो, उसमें चन्द्रमा या शुक्र वैदा हो तो जातक किसी देवीका उपासक होता है।

(४) सर्व पञ्चमस्थ हो या पञ्चम भावपर सूर्यकी पूर्ण दृष्टि हो तो जातक सूर्यकी उपासनामें अग्रसर होता है। चन्द्रमाका ऐज योग मात्रा पार्वतीका उपासक बनता है। पञ्चममें मङ्गलकी स्थिति और वलयिक्षय कुमार कार्तिकेयकी उपासनाकी ओर अग्रसर करता है। युधका योग या पञ्चमपर बुधकी दृष्टिका नल जातको भगवान् विष्णुकी उपासनामें प्रवृत्त करता है। युरुका योग शंकरभावान्तीकी उपासनामें हड़ बनता है। इस प्रकार पञ्चममें शनि या राहु या केनु विश्वामान हैं, या इनमें किसी एककी पूर्ण दृष्टि पञ्चम भावपर हो तो जातक धन्य देवीमें किसीकी उपासना करता है। पूर्वमें लिखा जा सुका है कि नशमस्थ शनि एक विचित्र धार्मिक प्रवृत्तिका परिचायक बनता है। कही ज्ञानि पञ्चम भावमें भी रहकर विचित्र भावनावाली धार्मिक प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। उदाहरणके लिये धर्मपरिवर्तन करना; अवधूत बन जाना हस्तादि स्थितियाँ हैं।

(५) नवम स्थानका स्वामी बली होकर लग्न या चतुर्थ या चौथी या कर्मस्थानमें विश्वामान हो और लग्नेशकी दृष्टि लग्नपर पड़ती हो या दशमेश, गुरुकी नवांश या विशांश या द्रेष्काणका हो तो ऐसा जातक महाधनी होकर भी कहुर धार्मिक होता है।

(६) यदि नवम स्थानका स्वामी उच्च राशिमें हो और उत्सपर शुभ ग्रहकी दृष्टि पड़ती हो तथा नवम स्थानमें भी शुभ ग्रह विश्वामान हो तो जातक धार्मिक जगतमें अग्रसर बनता है।

(७) नवमेश पूर्ण बली हो और नवमेशपर गुरुकी पूर्णदृष्टि हो और लग्नेशपर भी गुरुका दृष्टिन्द्र पहुँचता हो, ऐसी स्थितिमें जातक महान् धार्मिक होता है।

(८) लग्नके स्वामीपर या लग्नपर नवमेशकी पूर्ण दृष्टि हो तथा नवमेश केन्द्र या त्रिकोणगत हो तो जातक धार्मिक और दानी होता है।

(९) नवमाधिष्ठिति यदि सिंहांशका हो और उत्सपर लग्नेशकी अथवा दशमेशकी दृष्टि हो तो जातक पूर्णलूपसे धर्मात्मा और दानी होता है।

(१०) नवमेश चतुर्थ-भावगत हो, दशमेश केन्द्रगत हो और द्वादशोश गुरुके साथ हो तो जातक धर्मशील और दानशील दोनों होता है।

(११) कठपर लिखे योगके साथ ही तुध यदि उच्चका हो और नवमाधिष्ठितिकी उत्सपर पूर्ण दृष्टि हो तो जातक धर्मात्मा और उपकारी होता है।

(१२) जन्माङ्गमें गुरु तुध या मङ्गलके साथ हो तो ऐसा जातक धर्मपूर्ण कामोंमें अग्रसर रहता है।

(१३) दशमेश यदि दशमभावमें ही हो, या दशमेश चार शुभद वर्गोंका हो, या दशमेश केन्द्र या त्रिकोणस्थित हो तो जातक धर्मी में दृढ़ रहता है।

(१४) यदि दशमेश तुध हो और जातकके गुरु भी बली हों या चन्द्रमा तृतीय-भावगत हों तो जातक धर्मशील होकर वश प्राप करता है।

(१५) नवमेश यदि तुहस्तिके साथ हों और एड़गर्मोंमें बली हों, या लग्नेशपर गुरुकी पूर्ण दृष्टि हो तो जातक धर्मपरायण होता है।

(१६) तुध दशमस्थ होकर गुरुके साथ हो तो जातक धर्मात्मा होकर यथा प्राप करता है।

(१७) दशमेशके साथ तुध भी दशम-भावगत हो तो जातक धर्ममें तत्पर हो जाता है।

परोपकार भी धर्म है

महर्षि व्याघ्ने लिखा है कि परोपकार ही पुण्य है और पुण्यकर्त्ता ही धर्मार्चन है। परोपकारी जनोंके आचरणका विचार जन्माङ्गके नवम, द्वितीय, चतुर्थ और दशम भावसे होता है। आप महान् व्यक्तियोंके जन्माङ्गोंकी यदि तुलना करें तो महात्मा गांधी, महात्मा मालवीय, महात्मा रामकृष्ण परमहंस, महर्षि विवेकानन्द आदिके जन्माङ्गमें परोपकारी योग पड़ा है। यहाँ यह भी स्पष्ट हो जायगा कि ये महात्मा

महान् धर्मात्मा भी थे। पृथक् पुरुषक् उनके जन्माङ्ग से कहाँ विचार-विनियोग तो नहीं हो सकता, किंतु धर्माचरणका प्रत्येक लक्षण कुछन-कुछ अपर उल्लिखित महान् पुरुषोंके जन्माङ्गमें अवश्य विद्यत होता है। परोपकारी लक्षणोंके कुछ उद्धरण निम्न प्रकारसे हैं—

(१) यदि लग्नेश और द्वितीयेश उच्च राशिमें स्थित हों, उसपर शुभ ग्रहोंकी हाथि पहती हो तो जातक परोपकारी और धर्मशील होता है।

(२) दशम स्थानसे कीर्तिका भी ज्ञान किया जाता है। दशम स्थान कर्मका भी स्थान है। सुकर्म करनेवाला सुधारा भी प्रात करता है। यदि दशमेश द्वितीय भावमें स्थित हों तो वह जातक महान् वशका अवृत्त करता है।

(३) गुरु यदि द्वितीयेश होकर द्वितीय भावमें ही विराजमान हो, या द्वितीय स्थानका स्थामी हुआ हो या शुक्र हो, शुक्र उच्चस्थ, या अपने मित्रके शरमें हो या चतुर्थ भावमें हो तो ऐसा जातक अपने उच्चम आचरणोंसे जनताकी रक्षा करता है।

(४) यदि दशमके स्थामी द्वितीय भावके स्थामी होकर उच्चस्थ हों या उत्तमवर्गोंके हों तो जातक परोपकारी और धर्मात्मा होता है।

(५) दशमाधिपति शुभ हो और उसपर शुभग्रहकी हाथि पड़ती हो तो जातक अपने उत्तमोत्तम आचरणोंसे जनवर्गका कल्याण करता है।

(६) द्वितीयाधिपति यदि उच्चका हो या मित्रग्रहमें स्थित हो, या अपने घरका हो, और द्वितीयेश लिप्त स्थानमें हो, उस स्थानके स्थामीको पांच वर्गोंका बल हो और उसपर शुल्की पूर्ण हाथि हो तो ऐसा जातक अपने उच्चम कर्मोंके बलपर यश प्राप्त करता है।

धार्मिक अनुष्ठानोंके कर्ता

किसी भी धर्मके अनुयायियोंमें धार्मिक भावनाके साथ ही धार्मिक अनुष्ठानोंके प्रतिपादनकी भी बात निहित रहती है। अनुष्ठान कर्मकाण्डका एक विकसित रूप है। कर्म-काण्डका तात्त्व कर्ममें इदंता दिखाना है। जो कर्ममें विश्वास नहीं कर सकता, उसे इश्वरकी प्राप्ति होनी कठिन है। जन्माङ्गसे कर्मनिष्ठता ही नहीं, धार्मिक अनुष्ठानोंके प्रतिपादनका भी विचार होता है।

(१) यदि दशम (कर्म) के स्थामी कोई शुभग्रह हो और वह चन्द्रस्थाके साथ हों और राहु-केतुसे पृथक् हों तो जातक धार्मिक अनुष्ठानोंका कर्ता होता है।

(२) शुभ यदि नक्षमें हो, या उच्चमें हो और राहु और केतुसे पृथक् हो, दशमाधिपति नक्षम भावमें हो तो जातक धार्मिक अनुष्ठानोंका विधायक होता है।

(३) दशमाधिपति उच्चस्थ हो, शुभके साथ हो तो जातक धार्मिक अनुष्ठानोंमें अश्रणी बनता है।

(४) लग्नाधिपति यदि दशमभावस्थ हो, दशमाधिपति नक्षमभावस्थ हो और ये दोनों पापग्रह (रवि, मङ्गल, शनि, राहु और केतु) न हों तथा पापग्रहोंकी हाथिसे विश्रित हों और शुभ ग्रहोंकी हाथि हो तो जातक उत्तम तथा धार्मिक अनुष्ठानोंका सम्पादन करता है। इसी प्रसङ्गमें यह भी विचारणीय है कि यदि कर्मेश पष्ट, अद्यम या द्वादशभावमें स्थित हो, या शुभके स्थानमें राहु दशम भावमें स्थित हो और दशम-भावगत हो, (यह तब होगा, जब शुभ लग्नस्थ हो) तो शुभ एवं धार्मिक अनुष्ठानोंमें सद्यः वाधा भी उपस्थित हो जाती है।

(५) जन्माङ्गमें दशमाधिपति और लग्नाधिपति एक साथ हों, या दशम और लग्नके एक ही पत्ति हों (यह तब सम्भव है जब लग्न कन्या या मीनकी हो) तो जातक अपने वाहुवर्लसे धन उपार्जित करके धार्मिक अनुष्ठानको सम्पन्न करता है।

धार्मिक अनुष्ठानोंमें धनकी उपादेयता

इस प्रसङ्गमें यह विचार करना है कि अनुष्ठान या धार्मिक कृत्योंमें धनका सर्वं तो निश्चित ही है, इस महर्घताके सुगमे तो धन ही सब कुछ बना हुआ है। यशादि कर्म सो दूसरी बात है, साधारण शुभ कृत्योंसे भी जनवर्ग दूर होता जा रहा है। हाँ, कोई-कोई धर्मात्मा अवश्य हैं, जो अपने बलपर या अन्यान्य उपायोंसे धार्मिक अनुष्ठानोंको करते हैं या कराते हैं और प्रेरणा देते हैं। जन्माङ्गद्वारा इन सदका विचार होता रहता है।

(६) जन्माङ्गमें यदि शानि दशमेशके साथ हो तो यशकर्ता शुद्धोंसे धन लेकर यशादि अनुष्ठान सम्पन्न करता है।

(२) यदि दशमेश राहु या केतुके साथ हो तो जातक अपने श्रिष्ट्योंसे धन लेकर धार्मिक कृत्योंको सम्भादित करता है।

(३) यदि दशमेश गुरुके साथ हो तो जातक राजा से धन लेकर धार्मिक कार्य सम्पन्न करता है या करता है।

(४) यदि दशमाधिपति सूर्य हो तो फिताकी अर्जित सम्पत्तिसे पुन धार्मिक अनुशान करता है।

(५) यदि दशमाधिपति चन्द्रमा हो तो मातकी सम्पत्तिसे धर्मकार्य सम्पादित होता है।

(६) यदि दशमेश मङ्गल हो तो माईकी सम्पत्तिसे धर्मकृत्य पूरा किया जाता है।

(७) यदि शुभ दशमेश होता है तो चचेरे भ्राताकी सम्पत्तिसे धर्मके कार्योंमें सहायता मिलती है।

(८) जब नवमेश और पञ्चमेश दोनोंका परस्पर उत्तम सम्बन्ध हो तो जातकके लिये प्रेरणादात्यक होता है। ऐसा जातक यज्ञादि कर्मोंमें ख्याति प्राप्त करता है।

धार्मिक जीवनका प्रारम्भ और त्याग

भास्त्रीय संस्कृत-सम्बन्धितामें मानवताका प्रधान मुण्ड सब और त्याग भी है। यिना त्वारके जीवनमें निखार नहीं थाता। किना त्वारके धर्मका स्थान भी सारहीन है। साधारणतया यह देखा जाता है कि जन्माङ्कमें पाँच, छः या सात ग्रह एक ही स्थानमें हों तो वह जातक धार्मिक भावनासे ओतप्रोत रहकर पवित्र जीवन व्यतीत करता है। इन ग्रहोंमें इतना अवश्य देखना पड़ता है कि कोई ग्रह बली या शुभ-दृष्टि है या नहीं, उन ग्रहोंमें कोई दशमाधिपति है या नहीं। यदि उनमें कोई बली ग्रह होता है तो वह जातक त्यागी होता है। यहाँ यह भी सरण रखना चाहिये कि प्रत्येक ग्रह बली होकर धार्मिक जीवनमें विभिन्न प्रकारसे प्रभाव दिखलाता है। यहाँ प्रत्येक ग्रहोंके सम्बन्धमें संक्षिप्तमें विचार उपस्थित किया जा रहा है।

(१) पाँच या पाँचसे अधिक ग्रह एक साथ नदम स्थानमें हों और उनमें ये बलचान् हों तो जातक ईश्वरमें लीन रहकर धार्मिक जीवन व्यतीत करता है और वह सूर्य, गणेश या शक्तिकी उपालना करता है।

(२) तथाकथित शिक्षितमें यदि चन्द्रमा बली हो तो जातक शैवमतावलम्बी बनकर धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(३) मङ्गलके प्रभावसे जातक धार्मिक विचारोंसे प्रभावित होकर भिक्षावृति अपनाकर संन्यस्त जीवन व्यतीत करता है।

(४) शुक्रके प्रभावसे जातक मतान्तरसे विष्णुभक्त होता है, तात्त्विक होता है।

(५) गुरुके प्रभावसे जातक धर्मशालका जाता बनता है।

(६) शुक्रके प्रभावसे जातक महान् यशस्वी धर्मात्मा बन जाता है। इस प्रकार यदि पाँच, छः या सात ग्रह नदम (धर्म) तथा पञ्चम (भक्ति) और दशममें बैठ जाते हैं तो जातक अपनी धर्मभावना और धार्मिक कृत्योंसे पूज्य बन जाता है।

(७) चानि यदि ऐसे अवसरपर बलचान् रहता है तो जातक पात्रण्ड-जलको माननेवाला बनता है। इस विचारसे अस्ति ग्रह प्रभावहीन होते हैं। ग्रहसुदूरमें पराजित ग्रह अपना प्रभाव नहीं दिलाया पाते। बली ग्रहोंका उष्णिशल भी इसमें बहुत सहायक बनता है।

धार्मिक चेतनाका प्रादुर्भाव

जीवनके किसी भी मागमें धार्मिक चेतनाका प्रादुर्भाव हो जाता है। अधिकतर देखा जाता है कि कोई त्वचयनसे ही धार्मिक प्रवृत्तिका होता है। कोई शुद्धकालमें किसी घटनासे प्रभावित होकर धर्मकी ओर आकृष्ट हो जाता है। कोई-कोई युद्धावस्था बीत जानेपर धर्मकी ओर अप्रसर होते हैं। इन सबमें ग्रहोंका प्रभाव अपना महत्व रखता है। ग्रह अपनी महादशामें, अन्तर्दशामें अपना बल प्राप्त होनेपर विशेष फल दिखलाने लगता है। यह क्षिति 'प्रज्ञयोग', 'राजभज्जयोग' एवं अन्यान्य योगोंके लिये भी मात्र है।

(१) यदि लग्नेशपर अन्य किसी ग्रहकी दृष्टि न पड़ती हो और लग्नवतिकी दृष्टि लग्नेशपर पूर्णरूपेण पढ़ रही हो तो जातक धार्मिक भावनासे प्रभावित होकर शृंग त्याग देता है।

(२) यदि शनिपर किसी ग्रहकी दृष्टि न पड़ती हो और शनिकी दृष्टि लग्नेशपर पूर्णरूपेण पढ़ रही हो तो जातक धार्मिक भावनासे प्रभावित होकर शृंगद्वारा छोड़ देता है।

(३) शनिकी दृष्टि यदि निर्वल लग्नपर भी पढ़े तो वह जातक शृंगद्वारकी मोहमाया छोड़कर धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(४) चन्द्रमा किसी राशिका होकर शनि या मङ्गलके द्रेष्काणमें हो और चन्द्रमापर किसी अन्य ग्रहकी दृष्टि न होकर शनिकी दृष्टि हो तो जातकका जीवन धर्मप्रधान होता है।

गृहसम्बन्धी काव्यादे जातक सम्बन्ध छोड़ देता है और धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगता है।

(५) जन्मेश यदि बलहीन हो; उसपर शनि अपनी पूर्ण छुट्टिये अबलोकन कर रहा ही तो जातक धार्मिक भावनाके कारण सायंकामोहके बन्धनको तोड़कर धार्मिक एवं पश्चिम जीवन व्यतीत करता है।

(६) जन्माङ्गमे चन्द्रमा जिस राशिमें हो और उसके पति (जन्म-राशाधिपति) पर यदि किसी ग्रहकी दृष्टि न हो किंतु जन्मराशाधिपतिकी दृष्टि शनिपर पड़ती हो तो ऐसे जातकके उपर वली शनि अथवा जन्मराशीशका प्रभाव विहेत्तुसे पड़ता है और इन वली अहोके द्वानन्तरमें जातक एह-प्रपञ्चोंसे दुष्कारा प्राप्त करके धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(७) जन्माङ्गमे चन्द्रमा शनि अथवा मङ्गलके नवाद्यमें हो और उसपर शनिकी दृष्टि हो तो जातकके मनमें सहसा धार्मिक भावनाका उत्थान होता है और वह माया-मोहके जालसे दुष्कार धार्मिक जीवन व्यतीत करने लगता है।

(८) चन्द्रमा जन्माङ्गमे यदि शनिके द्रेष्काणमें हो और उसपर शनिकी दृष्टि हो तो जातक धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(९) जन्माङ्गमें शनि नवमस्थान (धर्मावान) में हो, उसपर किसी भी ग्रहकी दृष्टि न हो और ऐसा जातक चाहे राजवंश-परम्परामें भी क्यों न जन्मा हो, उसे धर्मयजीवन विताना ही पड़ता है।

(१०) चन्द्रमा धर्मशानमें स्थित हो और वह किसी भी ग्रहद्वारा दृष्टि न हो तो जातक राजा-के घरमें उत्थन होकर भी धर्मात्मा बन जाता है।

(११) जन्माङ्गमें शनि अथवा लग्नाधिपतिकी दृष्टि चन्द्रमपर पड़ती हो तो जातक धार्मिक जीवन वितानेके लिये अग्रसर होता है। उदाहरणके लिये आदिगुरु शंकराचार्यका जन्माङ्ग देखा जा सकता है।

(१२) जन्माङ्गमें चन्द्रमा और मङ्गल एकराजित हो, चन्द्रमा शनिके द्रेष्काणमें हो और उस चन्द्रपर शनिकी दृष्टि पड़ती हो तो जातक धार्मिक जीवन व्यतीत करनेके लिये बाध्य होता है।

(१३) यदि जन्माङ्गमें लग्नेश वृहस्पति या मङ्गल या

शनि हो; उस लग्नके स्वामीपर शनिकी दृष्टि पड़ती हो और गुरु नवम भावमें हो तो जातक धर्मात्मा बन जाता है।

(१४) लग्नेशपर यदि कहीं ग्रहोंकी दृष्टि पड़ती हो और उन ग्रहोंमें किसी भी ग्रहकी राशिमें दृष्टि डालनेवाले ग्रह स्थित हों तो जातक धर्मात्मा होता है।

(१५) जन्माङ्गमें कर्मेश अप्य चार ग्रहोंके साथ हो और वे केवल या त्रिकोणमें विराजमान हों तो जातक महान् धर्मात्मा होकर जीवन्मुक्त हो जाता है।

(१६) जन्माङ्गमें सूर्य शुम ग्रहके नवाद्यमें होकर धर्म-भावप्रद ग्रहोंपर दृष्टि छालता हो और वह उच्च या परमोक्तका हो तो जातक जन्मपर ही धर्मात्मा हो जाता है। (आदिगुरु शंकराचार्यके जन्माङ्गको देखो।)

(१७) जन्माङ्गके कर्मावर्षमें तीन वली ग्रह हों और सभी उच्चके हो या स्वगृही हों और दशमेश भी चलत्रान् हो तो जातक धार्मिक जीवन व्यतीत करता है।

अध्यात्म-योग

जन्माङ्गसे अध्यात्म-योगका भी विचार होता है। अध्यात्मवादी धर्मात्मा ही होते हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभु, श्रीरामानुजाचार्य आदि इसी कोषिमें आते हैं।

(१) जन्माङ्गमें यदि कर्मेश शुम ग्रह हो, उच्चके हो या स्वगृही हो अथवा मिश्रशी हो तो ऐसा जातक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है। स्वामी रामतीर्थके जन्माङ्गमें यह योग पड़ा था।

(२) यदि जन्माङ्गमें कर्मेश शुम ग्रह हो या धर्मेश और एकादशोद्य शुम ग्रह हों या दशमेश शुम ग्रहके नवाद्यमें हो तो जातक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(३) यदि जन्माङ्गमें दशमेश पाँच शुम वर्गोंका हो या सात उच्चम वर्गोंका हो तो और लग्नेश वली हो तो जातक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(४) जन्माङ्गमें लग्नेश-चन्द्रमा केल्द्रस्य हो, उसपर किसी भी शुम ग्रहकी दृष्टि हो तो जातक इस संसारमें आध्यात्मिक जीवन विताता है। (देखें, श्रीचैतन्य महाप्रभुकी जन्मकुण्डली।)

(५) दशमभावमें भीनराशिमें स्थित कुध हो या मङ्गल विराजमान हो तो ऐसे जन्माङ्गका जातक आध्यात्म-योगका उपदेशक होता है।

(६) जन्माङ्गमे धर्मेश्वर बलवान् हो, साथ ही शुभ अह हो; उसपर गुरु या शुक्रकी शुभ दृष्टि हो या धर्मेश्वर गुरु या शुक्रके साथ हो तो जातक धार्मिक चीज़नसे संसारमें प्रसिद्ध हो जाता है।

(७) दद्मेश्वर धर्मभावस्थ हो और धर्मेश्वर बलवान् हो या वृहस्पति या शुक्रसे दृष्टि हो तो जातक आध्यात्मिक जीवन व्यतीत करता है।

(८) यदि लग्नाधिगति न वर्तमानमें और कर्मेश्वर धर्मभावमें हों और दद्मेश्वर पाप-ऋणोंकी दृष्टि न पड़ती हो और शुभ ऋणोंकी दृष्टि पड़ती हो और दद्मेश्वर शुभ ग्रहके नवांशमें हों तो जातक धर्मचेता होता है।

(९) जन्माङ्गमें यदि दद्मेश्वर सात शुभ वर्गोंका हों

और दद्मेश्वर चन्द्रमा हों, सूर्य पौँच शुभ त्रिगोका हों तो जातक महान् आत्मानाल्पा होता है।

(१०) यदि योपके अन्तिम नवांशमें जन्म हो अर्थात् जन्म मेयराशिमें हो, जन्म-लग्नका नवांश धनका हो; लग्नमें गुरु और शुक्र हों; चन्द्रमा धनस्यानमें हो, मङ्गल पौँच शुभ वर्गोंका हों तो जातक महान् धर्मात्मा होता है।

(११) कर्क लग्नमें जन्म हो, वृहस्पति उसमें दैता हो, शनि सिंहराशिका हो, चन्द्रमा वृश्चराशिमें हो, शुक्र मिथुन राशिका हो और सूर्य एवं शुभ स्तिरराशिमें हों तो जातक अध्यात्मवादी थौर धर्मात्मा होता है।

इस प्रकार फलित ज्योतिषके धर्मोंमें धार्मिक जनों और जन्माङ्गके आधारपर धार्मिक तत्त्वोंका विचार किया जाता है।

धर्म और विज्ञान

(लेखक—प्राध्यापक श्रीदिनांशुशेषराजा, एम.० ए०)

(१)

धर्म और विज्ञानमें कोई मौलिक विरोध नहीं है। दोनों की प्रक्रियाओंमें अन्तर इतना ही है कि जहाँ विज्ञान व्याघ्र जगतकी आधार-शिलापर स्थित जिज्ञासाके प्राप्तादमें बैठकर सत्यकी खोज करता है, वहाँ धर्म अन्तर्जगतमें प्रतिक्रिया होकर सत्यका साधात्कार करता है।

जड़बादियोंके एक बहुत बड़े समूदायने समूचे संसारमें यह भ्रम कैला रखा है कि विज्ञान धर्मका विरोधी है। किंतु वास्तविकता यह है कि धर्मकी निन्दा करनेवाले और विज्ञानकी प्रशंसाके पुल बाँधनेवाले हन जड़बादियोंको न तो विज्ञानका ज्ञान है और न धर्मका ही परिचय। वे भले ही धार्मिक चेतनाका अर्थ समझते हैं और न वैज्ञानिक प्रक्रियाओंका। यही कारण है कि धर्म और विज्ञानकी गलत व्याख्या करके वे सामान्य लोगोंके बीच भ्रम कैलाते रहते हैं।

अब तो संसारके श्रेष्ठ वैज्ञानिक भी यह स्वीकार करने लगे हैं कि विज्ञान और धर्ममें कोई रागड़ा नहीं है प्रत्युत वे एक दूसरेके पूरक हैं। आधुनिक युगके सबसे बड़े वैज्ञानिक अलबर्ट आइन्स्टीनको धर्ममें पूरी विश्वास या और वे धर्म और विज्ञान दोनोंको एक दूसरेके लिये

आवश्यक समझते थे। उन्होंके शब्दोंमें—‘धर्मके विना विज्ञान लौंगड़ा है और विज्ञानके विना धर्म अंधा’¹।

विज्ञान धर्मका विरोध नहीं करता और यदि वह ऐसा करना चाहे भी तो उसे कोई आधार नहीं मिलेगा। वैज्ञानिक खोज और धार्मिक जिज्ञासा दोनों एक ही सत्यको उद्धारित करनेकी चेष्टाएँ हैं। साध्यमगत विभिन्नताओंके आधारपर दोनोंकी मौलिक एकरूपतापर प्रयत्न-चिह्न नहीं लगाये जा सकते। चाहे धर्म हो अथवा विज्ञान—दोनों सत्य-पर ही आधारित हैं। यह दूसरी बात है कि उनके विकासके शिक्षित यिन्हें भिज्जिज्ज हैं और उनके आधारोंमें अन्तर है। किंतु इससे उनकी मौलिक एकरूपतापर कोई आधार नहीं पहुँचता। एक ही पेड़में दो शाखाएँ भिज्ज-भिज्ज दिखाऊंचे रह सकती हैं और उनके बाहरी रूपमें भी काफी अन्तर ही सकता है, परंतु दोनोंके फलोंमें कोई अन्तर नहीं रहता। उसी तरह धर्म और विज्ञान जिज्ञासाल्पी पेड़की दो शाखाएँ हैं और दोनोंका फल एक ही है और वह है—‘सत्यकी उपलब्धिः’।

पूर्वांग्रहीसि आकान्त जड़बादियोंका मत है कि इंचर

1. Science without religion is lame and religion without science is blind. — Einstein.

और विश्वामी दोनोंका एक साथ अवस्थान असम्भव है। किंतु यह बात निलकुट निरायार और व्यर्थ है। सच तो यह है कि विज्ञान ईश्वरीय सत्ताका सबसे बड़ा प्रमाण है। जिन लोगोंको विज्ञान और धर्म दोनोंमें किसीका ज्ञान नहीं है, वे ही यह मिथ्या प्रचार करते हैं कि विज्ञान ईश्वर की सत्ताको नहीं भावता। ऐसे जड़बादियोंको चाहिये कि वे सर्वप्रथम विज्ञान और धर्मका गहराईसे अध्ययन करें और उसके बाद अपने विचार लोगोंके समने रखतें। यह ध्रुव है कि एक बार यदि उन्हें पूर्ण ज्ञान हो गया तो उनके हृदयमें किसी प्रकारकी जङ्घा नहीं रहेगी और वे धर्म तथा विज्ञानको एक समझते लगेंगे।

भिवते हृषयत्विद्युत्त्वे सर्वसंशयाः ।

क्षीवन्ते चात्य कर्मणि संसिद्धद्वे परापरे ॥

(उपाख ३० २ । २ । ८)

अर्थात् व्रक्षका पूर्ण ज्ञान हो जानेपर हृदयकी गाँठ छढ़ जाती है, सभी शङ्खाएँ दूर हो जाती हैं और कर्मोंका भी ध्रुव हो जाता है।

जड़बादियोंको चाहिये कि वे पहले धर्म अथवा विज्ञान-के सहरे ब्रह्मको समझनेका प्रयास करें। जब उन्हें ब्रह्मका योधूहो जायगा, तब वे यह मान लेंगे कि वैज्ञानिक और धार्मिक विज्ञासाथोंका मूल छोत एक ही है और उनके परिणामोंमें भी कोई अन्तर नहीं है।

हमारे धर्मग्रन्थोंमें विभिन्न लोकोंकी बात आती है और ग्रन्थोंको अण्डाकार माना गया है। हन दोनों तथ्योंको संसारके समने पहलेमहल हमारे धर्मियोंने ही रखता। आज वैज्ञानिक बन्धु भी मानने लगे हैं कि धर्मोंके अलावा अनन्त ब्रह्मावहमें अन्यान्य छोक है और उनमें प्राणियोंके रहनेकी भी समावना है। वैज्ञानिकोंने हमारे धर्मग्रन्थोंमें प्रसुत 'ब्रह्माण्ड' शब्दको भी स्वीकार कर लिया है। इस तरहके और भी कई भैद्र भौतिक ज्ञानों जो ज्ञानके बाहरी विकास करते हैं, वे धर्मग्रन्थोंमें अन्तिम अवस्था में अवश्य उपस्थित होते हैं। जब धार्मिक सिद्धान्तोंकी सत्यताको वैज्ञानिक-ज्ञान भूरी तरह स्वीकार कर लेगा, तब धर्मग्रन्थोंमें विच्छिन्न नहीं है, प्रसुत उसीका एक अनिवार्य अङ्ग है। विज्ञान अपनी अतिरिक्तसित अवस्थामें धर्मसे एकाकार हो जायगा—इसमें तभी भी संदेह नहीं। ब्रह्माण्डके सम्बन्धमें जो नयी-नयी लोकों आज हो रही हैं, उनके बारेमें हमारे विकल्प-

दर्शी मनीषियोंने हृजाते साल पहले ही संकेत कर दिये थे। आज आवश्यकता इस बातकी है कि हम पूर्ण धार्मिक निष्ठा और वैज्ञानिक स्फुरितसे सम्बन्ध होकर उन संकेतोंको समझ सकतेकी योग्यता प्राप्त कर लें। अगर हमने ऐसा कर लिया तो हम संसारको खर्च बना लेनेमें देर भर्ही लगेगी। विज्ञान और धर्मके सम्बन्धसे ही यह अनुष्ठान पूर्ण हो सकता है।

जड़बादियोंके द्वारा उसमें संशयकी समझ शृङ्खलाओंको तोड़नेमें आजका मानव सक्षम होता जा रहा है। विज्ञानने उसे हस दिशामें सहायता ही पहुँचायी है। संशयवादकी लौह दीवारें वैज्ञानिक मान्यताकी जिस आधार-भूमिपर खड़ी हैं, वह अब नीचेसे खिसकने लगी है। जड़बादके विशाल प्राप्तादकी प्रत्येक ईटमें कम्पन शुरू हो गया है; जोकि उसे आधार प्रदान करनेवाले भौतिक उपलब्धियोंके समझ विल-खण्ड दूड़कर दिखानेकी स्थितिसे बा रहे हैं।

ऐसी दशामें जड़बादी चिन्तकके लिये वह आवश्यक हो गया है कि वह अपने भूत्योंमें परिवर्तन लाये और धर्म तथा विज्ञानको एक दूसरेके लिये आवश्यक समझे। सम्भवतः जड़बादियोंकी धर्मके प्रति अश्वद्वाका सबसे बड़ा कारण धर्ममें निहित कोई मौलिक दोष नहीं, प्रसुत धर्मके बारेमें उनकी जानकारीका अभाव है। अश्वलेखप और पारवण्डी धर्मयाजकों और स्वार्थी सम्पदयोंके द्वारा धर्मके नामपर किये जानेवाले अत्याचारोंको ही धर्मका धर्थार्थ रूप मान-समझ लेनेके कारण जड़बादियोंको ईश्वरकी सत्तामें अश्वद्वाकी अनुभूति हुई। किंतु उन्हें यह समझना चाहिये कि धर्मके नामपर होनेवाला कुछत्या धर्म नहीं है। धर्म क्या है, इस सम्बन्धमें 'महाभारत' में कहा गया है—

धर्मं यो वाधते धर्मो न स धर्मः कुवर्मं तद् ।

अविरोधानु धी धर्मः स धर्मः सत्यविक्रमः ॥

(बनपर्द १२१ । ११)

अर्थात् जो धर्म दूसरे धर्मों वाधा पहुँचाये, दूसरे धर्मसे लड़नेके लिये प्रेरित करे, वह धर्म नहीं, कह तो कुमार्ग है। सबा धर्म तो वह है, जो धर्मविरोधी नहीं होता।

विज्ञानके साथ भी यही चात है। वैज्ञानिक आविष्कारोंके मूलमें लुहिको जानने और उसकी शक्तियोंको हूँड निकालनेकी प्रवृत्ति रहती है। लेकिन सांसारिकतामें इच्छे द्वारा अवश्य व्यक्ति और सत्ताएँ विज्ञानका दुरुपयोग करते हैं और समजको ज्ञान पहुँचाते हैं। इसमें विज्ञानका क्या दोष है।

इसलिये वह आवश्यक है कि विज्ञान और धर्मका सुन्दर समन्वय हो। भौतिकवादी चिन्तकोंको धर्मिक निष्ठाके महत्वको समझना होगा और धर्मिक चेतनासे सम्बन्ध व्यक्तियोंको वैज्ञानिक उपलब्धिकी आवश्यकताका अनुभव करना होगा। विज्ञान और धर्मके समन्वय और समुपयोगसे ही संसारका कल्याण हो सकता है।

समन्वय हिंदू-धर्म और भारतीय संस्कृतिका प्राण है। अब तो संसारके प्रसिद्ध वैज्ञानिक भी समन्वयकी आवश्यकतापर जोर देते हैं। कई लन्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिकोंने यह स्वीकार किया है कि मानव-समाजके कल्याणके लिये विज्ञानके साथ-साथ धर्मकी भी आवश्यकता है।

धर्म और विज्ञानका समन्वय मानव-समाजके लिये एक आवश्यकता ही नहीं, बल्कि एक अनिवार्यता भी है। विज्ञान स्वयं आगे बढ़कर धर्मके साथ एकाकार हो जायगा। क्योंकि दोनोंका उद्देश्य मानव-कल्याण ही है और दोनों सत्यपर आधारित हैं। जड़वादी दर्जानकी भ्रमपूलक व्याख्याएँ इस विग्रह समन्वयको नहीं रोक सकतीं। कारण यह है कि स्वयं विज्ञान अपनी अतिविकसित अवस्थामें जड़वादी संशयका समूल नाश कर देगा और धर्मिक चेतनासे संयुक्त होकर पृथ्वीकी स्वर्ग बनानेमें भा जायगा। अमेरिकाके प्रख्यात वैज्ञानिक हॉ० अलेक्सिस कैरेलोने भी इस सत्यकी उद्दीपणा की है कि विज्ञान जड़वादके मूलको नष्ट कर देगा। व्याख्यानिक वैशानिक विकासने जड़वादके गढ़ोंपर मौकण प्रहार किये हैं और अब वह धर्म तथा विज्ञानके बीच दीवार बनकर खड़ा नहीं रह सकता।

हमें उत्तर समयकी धैर्यपूर्वक प्रतीक्षा करनी चाहिये, जब विज्ञान और धर्म एक साथ मिलकर मानव-कल्याणका मार्ग आलोकित करेंगे।

(२)

(लेखक—श्रीनृपतंडमाराणी लोड निर्मल)

Science and religion are not opposed, they are not enemies, they are not neutral but they are allies.

Dr. T. A. Flewing, F. R. S.

'धर्म और विज्ञान'—ये दोनों जीवनकी अस्तित्व महत्व-पूर्ण और प्रधान सम्बन्ध हैं। इन्हीं पर्देलियोंको मुलझाते-सुलझाते मानवता बौखला-सी गयी है। अतः इन दोनों

प्रश्नोंके तारतम्यको समझते समय वहि हमें विरोधाभास दिखायी दें तो इसमें आश्वर्यकी घात नहीं है। इसपर कानिका यह कहना अक्षरतः ठीक है—

// हजार साइंस रंग लाये, हजार कानून हम बनाये;
कुदाची कुदरत यही रहेगी, हमारी हरत यही रहेगी।

अर्थात् यह स्वप्न होता है कि धर्म और विज्ञानके बीच कोई विरोध नहीं है। एक दूसरेको पूर्ण और समीचीन बनाता है। विज्ञान हमारी धार्मिक कल्पनाओं और विश्वासोंको शुद्ध, परिमार्जित और संस्कृत बनाता है तथा धर्म विज्ञानको सदा अज्ञानकी याद दिलाते रहकर उसे नम्र बनाये रखता है और उसके लिपर कविता और आदर्शवादका रंग चढ़ाता रहता है। विज्ञान धर्मको रङ्गित और संस्कृत करता है और धर्म विज्ञानको। धर्म और विज्ञान दोनों प्रकृति-की एकत्रीकी पुष्टि करते हैं। विज्ञानकी यह आधारभूत वाणी है कि प्रकृति वोधगम्य है, धर्मका अन्तर्शान भी यही है। दोनोंको एक दूसरेकी आवश्यकता है और विश्वमें दोनों समानलूपसे आवश्यक हैं। विज्ञान और धर्मका विरोध उपरी और दिलाल है, यथार्थ और आनन्दरिक नहीं। धर्म और विज्ञान दोनोंकी उत्तर्ति 'कः', 'किम्' और 'का' से होती है। अन्तर केवल यही है कि धर्म-तत्वके प्रकाशक आचार्योंका प्रश्नवाचक अंगुलिनिर्देश अन्तररक्ती और रहता है और विज्ञानतत्वके आचार्योंका प्रश्न-चिह्न दृष्टिगतके हृष्यमान पदार्थोंपर खुदा हुआ होता है। लेकिन दोनोंका उद्देश्य एक ही है। सत्य-तत्त्वकी खोजका लक्ष्य विज्ञान और धर्म दोनोंके सामने है। सर ऑलीवर लॉज (Sir Oliver Lodge) ने ठीक ही लिखा है—

'The region of religion and the region of a completed science are one.' अर्थात् धर्मका क्षेत्र और पूर्ण विज्ञानका क्षेत्र एक ही है।

यदि मन बहिर्जातकी गुलियोंके मुख्यान्में अटक गया तो वह विज्ञानके प्रासाद-प्राङ्गणमें ध्यान बढ़ाने लगता है और यदि वह अन्तर्जातके तच्चनिरीक्षणमें रम गया तो वह धर्मकी कुदीरमें प्रविष्ट हो जाता है। वास्तवमें धर्म और विज्ञानकी प्रेरणाशक्ति एक प्रकारकी है। विज्ञान और धर्मका उदय आश्वर्यमूलक जिज्ञासाते होता है। विना विज्ञानके धर्म नहीं ठहर सकता और विना धर्मके विज्ञान अधूरा है।

विरोध—उसका कारण

अब प्रश्न उठता है कि यदि धर्म और विज्ञानका सम्बन्ध एक ही है तो फिर विरोधाभास कैसा ? शुरूमें जब लोग कोई धर्मको और कोई विज्ञानको जीवनकी महत्वपूर्ण और प्रधान समस्या मानते हुए चले हैं तब फिर जीवनसम्बन्धी समस्याओंमें विरोध और वैपरीत्यका आभास हाइगोचर होना अनिवार्य है। कारण यह है कि मनुष्य अपूर्ण है और सत्य पथका पथिक होकर मी वह सत्यकी नित्यताके सर्वाङ्ग स्वरूपको नहीं, केवल आंशिक रूपको देख पाता है। इसलिये अपने-अपने सत्यके अधूरे माफदण्डको लेकर सत्यान्वेषणके पथिक एक दूसरे से मिछ जाता करते हैं। विज्ञानी लोग भौतिक जगत् की परिसीमाके बाहर नहीं निकलते। हमारे ज्ञानकी पूर्णता, हमारे सत्य-शोधनका अधूरापन, हमारी अनुदारता और प्रचारका हमारा उत्त्वाह हमें अंधा बना देता है। इसीलिये आजतक हम विज्ञान और धर्मका एकीकरण नहीं कर पाये हैं।

धर्म और विज्ञानके इस विरोधका नहींजा यह निकलता है कि विज्ञानी धर्मके नामसे और धार्मिक विज्ञानके नामसे छनकते हैं। यह तो प्रकट ही है कि विज्ञान बुद्धिप्रधान और धर्म आवश्यक है, और जब बुद्धिप्रधान सिद्धान्त भावरहित हो जाता है, तब उसका रूप महानाशकारी हो जाता है। दूसरी ओर वैज्ञानिक विचारों और शोधित सत्य तर्तोंसे विरहित धर्मका हाल यह है कि वह अपनी प्रतिकर्तव्यतासे परहड़मुख हो गया है। धर्म आजकल उकठ कुकाठ हो रहा है। परंतु यह धर्मका असली रूप नहीं है।

रूसके प्रसिद्ध विद्वान् और चप्सी कौण्ट लियो टाल्स्टॉय (Count Leo Tolstoy) ने अपनी पुस्तक 'What is Religion ?' (धर्म क्या है ?) में लिखा है—

'धर्मका युग चला गया। विज्ञानके अतिरिक्त अन्य किसी बातपर विज्ञान करना मूर्खता है। जिस किसी वस्तुकी हमको आवश्यकता है, वह सब विज्ञानसे प्राप्त हो जाती है। मनुष्यके जीवनका प्रदर्शक केवल विज्ञान ही होना चाहिये।' यह विचार या कथन उन वैज्ञानिकों या उन साधारण मनुष्योंका है, जिनको विज्ञानकी तो गम्भीरी नहीं लगी, परंतु विनका वैज्ञानिकोंपर विश्वास है और जो वैज्ञानिकोंके स्वरमें लंब मिलाकर कहते हैं कि धर्म एक अनाकर्यक दोग है और हमारे जीवनका प्रदर्शक केवल विज्ञानको ही होना चाहिये।

इसका अर्थ यह है कि हमारे जीवनका प्रदर्शक किसीको भी न होना चाहिये; क्योंकि विज्ञानका स्वर्य हतना ही उद्देश्य है कि उन सब वस्तुओंका अध्ययन करें जो वर्तमान हैं। इसलिये विज्ञान कभी जीवनका पथ-प्रदर्शक हो ही नहीं सकता।

टाल्स्टॉय महाशयने अपनी पुस्तक 'धर्म क्या है ?' में एक विचित्र बात और दिलायी है। वह यह कि जब कभी वैज्ञानिकों अथवा उसके अन्धविद्यारी अनुयायियोंने धर्मको बहिष्कृत करनेका धूल किया तब वे धर्मको बहिष्कृत न करसके किंतु एक नीच कोटिके धर्मके उपासक हो गये। इससे यह बात सिद्ध होती है कि वर्तमान कालमें पाश्चात्य देशोंमें धर्मको बहिष्कृत करनेका बहुत कुछ उच्चोग होता रहा है।

फ्लिंट (Flint) ने अपनी 'आस्तिकता' नामकी पुस्तकमें लिखा है—

'वस्तुतः धर्म एक विशाल शक्ति है। सचमुच यह मानवी जीवन और मानवी इतिहासके समानान्तर चलता है।'..... कला-कौशल, साहित्य, विज्ञान, दर्शनशास्त्र—सभीपर उनकी प्रत्येक अवस्थामें धर्मका प्रभाव देखा गया है।

लंदनके Browning Hall में सन् १९१४ में Science Week के अन्तर्गत 'धर्म और विज्ञानका सम्बन्ध' विषयका अवलोकन करके आजसे वर्षों पूर्व Sir Francis Bacon ने अपने निष्कर्ष 'Atheism' में इन शब्दोंमें निर्दिष्ट किया है—

'A little philosophy (or science) inclineth man's mind to Atheism, but depth in philosophy (or science) bringeth man's mind about to religion.' वेकनके इन शब्दोंमें एक सचाई है, जिसका समर्थन वहै जोरदार वब्दोंमें कर सकते हैं। उपर्युक्त पंक्तियोंको दृष्टिगत रखते हुए हम इसी परिणामपर पहुँचते हैं कि वास्तवमें धर्म और विज्ञानका कोई विरोध नहीं। हों, मानवीय ज्ञानकी अपरिपक्वतामें धर्म और विज्ञानके बीच ३६ के ३ और ६ का सम्बन्ध दिखायी देता है। परंतु वास्तवमें दोनोंके एक दूसरे पूरक हैं।

किसी वस्तुको देखकर मनुष्यके हृदयमें स्वामानिक रीतिसे दो प्रश्न उठते हैं— एक 'How?' और दूसरा 'Why?' अर्थात् यह वस्तु कैसे बनी और क्यों बनी ? इन्हीं दोनों प्रश्नोंके उत्तरमें धर्म और विज्ञानकी सीमा समाप्त हो जाती है और कहना पड़ता है—

Science deals with the How, not with the Why of things.

आधुनिक विद्यानोंके अनुसार तीन शब्दोंकी व्याख्या की गयी है—

1. Science is Systematized Knowledge.
2. Realized Science is Philosophy.
3. Realized Philosophy is Religion.

यही विज्ञान अपनी चरम स्थितिपर पहुँचकर धर्मके आगे सिर पक्काता है। अर्थात् जहाँ विज्ञान और दृष्टिनकी सीमा समाप्त हो जाती है, वहाँ धर्मका प्रारम्भ होता है और वह धर्म इस विज्ञानका विरोधी या नाशक नहीं, वल्कि वह है—

Crowning Stone of Science.

(३)

(लेखिका—कुमारी श्रीदधावती विद्यालङ्घना, गांधी, साहित्यरत्न)

आजकल युग हृदयशूल्य तक प्रधान बुद्धिवादका वैशानिक युग है। इसमें सभी कुछ कोरे तर्ककी ही कसौटीपर कसा जाता है, जिस कारण हम सत्यसे बहुत दूर भटक जाते हैं। व्याकरणकी रीतिसे वर्ण-व्यव्यय करनेपर तर्कसे कर्त शब्द बनता है, जिसका अर्थ काठना है। इसने मानवकी तरल-सरल सरस-सुखद सर्वभूतहित-भावनापर वीन कुठाराधारी करके उसे मसल दिया है, जिसके परिणामस्वरूप मानव द्यनवसे भी बदतर हो गया है। नित्यगति होनेवाले यह युद्ध, राष्ट्र-विप्लव, राज्य-विकास-लोकुपचार, स्वावरज्ञगम जगतमें विक्षेप इत्यादि विभीषिकाएँ इसके प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। अब इस बातकी नितान्त आवश्यकता है कि हम स्वस्य हृदय और मस्तिष्कसे विज्ञान और धर्मपर सर्वांगीण विचार करके तदनुसार आचरण करें और यह रक्तर्मा वसुधा स्वर्ग बन जाय।

शरीर और आत्माके सम्बन्धके सदृश ही धर्म और विज्ञानका पारस्परिक सम्बन्ध है। मानवताका अभ्यन्तर अर्थात् आत्मा धर्म है, और शाह्व अर्थात् शरीर विज्ञान है। ये दोनों एक दूसरेके पूर्ण सहयोगी हैं। आत्मवान् शरीर श्रेय और प्रेयका साधक बनकर मानवको उसके श्रेष्ठ लक्ष्यपर पहुँचा देता है और आत्मारहित वही शरीर सङ्गलकर पृथग्मादको ग्रास हुआ असंख्य रोगोंका जनक व्यक्तर नरके लिये नारकीय यन्त्रणाका ही हेतु बनता है। सचित् अशरीरी विश्वास आत्मा साधन (शरीर)-विहीन होकर पंशुवत् गतिहीन हुआ अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें असमर्थ

हो जाता है। मानवताकी शरीर-यात्राके लिये धर्म नेत्रोंका और विज्ञान चरणोंका कार्य करता है। दोनों मिलकर ही इसे अन्तव्यतक पहुँचानेमें समर्थ हो सकते हैं। इस प्रकार धर्म और विज्ञानके इस मङ्गलमय समन्वयमें ही विश्वका परम हित निहित है।

धर्मसे आत्मशक्तिका विकास होता है; बन्धन दूर होते हैं, अखण्ड आनन्द और अमृतत्व प्राप्त होता है और विज्ञानसे उपयोगके साधनोंकी तो प्राप्ति होती है परं शान्ति नहीं उपलब्ध होती। विकट यात्राको सरल बनानेके लिये धर्म, और विज्ञान दोनों ही इमारे लिये परमावश्यक हैं।

सीमांता करनेपर यही तथ्य प्रत्यक्ष होता है कि धर्म और विज्ञान प्रभुके अपर मङ्गलमय वरदान हैं अतः ये किसीकी वपैती और किसी सीमामें भी सीमित नहीं हैं। ये दोनों ही अपरिच्छिन्न स्वरूपवाले, विश्वमात्रके हितकारी हैं। दोनों दो बनिष्ठ मित्रोंके सदृश दो तन और एक ग्राण हैं। अतः इनमें विरोधिताका दर्शन हमारी दूषित बुद्धिका ही परिणाम है।

इस प्रकार यह विद्ध होता है कि धर्म और विज्ञान एक दूसरेसे पृथक् रह ही नहीं सकते; क्योंकि सार्थक—विज्ञान सुशृशुस्तिके नियमोंका शापक है और धर्म उन नियमोंका नियन्ताके साथ सम्बन्ध दर्शाता है। अतः उनका सम्बन्धविच्छेद करना जान-बूझकर मूल्यका ही आलिङ्गन करना है।

सारांश यह है—

धर्म

१—मानवताकी आत्मा है।

२—मानवताका अनुभूतिप्रधान हृदय है।

३—आध्यात्मिक अवस्थाओंका परीक्षक और निरीक्षक है।

४—सुष्टिउत्पत्तिका कारण बतलाता है।

५—सुष्टि-नियमोंका नियन्ताके साथ सम्बन्ध दिलाता है।

६—आत्मसाक्षात्कारपरक है।

७—संस्कृति है।

८—विद्या है।

९—श्रेय है; निःश्रेयस है।

१०—अमृतत्वका प्रदाता है।

विज्ञान

- १—मानवताका शरीर है।
 २—तर्फपर अवलम्बित मानवताका मस्तिष्क है।
 ३—वास्तव पदार्थोंका परीक्षक और नियंत्रक है।
 ४—सुष्ठु-उत्पत्तिकी प्रिविका वोधक है।
 ५—सुष्ठु-नियमोंका लगापक है।
 ६—प्रत्यक्ष प्रमाणपर आधारित है।
 ७—सम्यता है।
 ८—अविद्या है।
 ९—प्रैय है, अभ्युदय है।
 १०—शारीर-स्थानाके लिये भोग्यसामग्रीका दाता है,
 अभ्युदयका देनेवाला है।

दोनोंका उद्देश्य विश्वमें सौम्यता तथा चान्तिका साप्राप्य स्थापित करना है, अनेकताको एकतामें सोजना और विश्वमें एकताको प्रकट करना है, आस्तिकतामें समा जाना है और अन्तर्में मानवताको निर्दैन्दू सत्य-सुन्दर-शिवकी निवेदीके अपृत्-समें सीचकर पूर्ण मङ्गलमयी जगामाताके मधुर कोड़का परमानन्द लाभ करना है।

पूर्णमित्रः पूर्णमित्रं पूर्णात्मौपूर्णत्वते ।
 पूर्णस्वः पूर्णमात्रत्वं पूर्णमेवाविश्वते ॥

(४)

(लेखक—शीरुण की० पद्म० जादिंदा)

विज्ञान प्रकृतिके रहस्योंका वह सुसंगठित एवं व्यवसित शान है, जिसे हम प्रयोगोंके आधारपर प्राप्त करते हैं। वह है विज्ञानकी परिभाषा, जो वैज्ञानिकोंद्वारा दी गयी है। शाब्दिकके अधिकांश नागरिक विज्ञानके भक्त हैं; पर उनका मन वैशानिक हो, ऐसी चात नहीं है। कुछ योद्धेष्य ही विज्ञानके सम्बन्ध सेवी कहे जा सकते हैं; शेषको सत्यप्राप्तिकी कोई आकाहा नहीं है।

वे विज्ञानके द्वारा केवल भौतिक सुख असीमित मात्रामें चाहते हैं। उनकी हस्तिये धर्म और आधारितवताका कोई मूल्य नहीं है। फिर जो अधीरिति है, उनकी नजरमें वह मङ्गलकारी प्रेरक शक्ति है। वे सोचते हैं उसके पासमें संसारमें

वह लेख युक्त विस्तृत भा। सामाजिकसे लेखका कुछ ही अंश प्रकाशित किया जा रहा है। वहाँसे लेखोंमें यहाँ ही बतना पड़ा है: लेखकाण्य कृपया क्षमा करें।

—सनादक

सुख-शान्तिका व्याप रहेगा। एक ओर जहाँ कुछ लोग पुराने कुसंस्कारोंको ही धारण किये रहता चाहते हैं, वहाँ दूसरी ओर ये आधुनिक भारतीय, जिनकी हस्तिये धर्म, अध्यात्म, नैतिकता कुछ नहीं है, जिनके हृदयमें इनको कोई स्थान नहीं है, वेरोकटोक वाचनामय तुख्यभोग चाहते हैं और हो सके तो आध्यात्मिक और सामाजिक प्रतिष्ठानोंको भी नष्ट कर देना चाहते हैं। उनकी हस्तिये संयम-नियम आदि पिछड़े लोगोंकी लहियाँ हैं। अमेरिकी तथा रूसी सम्पत्ता ही उनका आदर्श है। उनका कहना है कि वह ईश्वरका अस्तित्व होता दो विज्ञान उसे कभीका दिद्ध कर देता। पर मैं उनसे पूछता हूँ कि क्या वैज्ञानिक सर्वशः ही गये हैं? अतः ज्ञातक वे सर्वशः नहीं हो जाते, तबक्त उनके अनुयायियोंको यह कहनेका अधिकार नहीं है कि ईश्वर नहीं है। हाँ, वे वह अवश्य कह सकते हैं, हमें नहीं मालूम वह है या नहीं।

विज्ञान ईश्वरका अद्वितीय सिद्ध कर सके या न कर सके इससे ईश्वरके अतित्वमें कोई अन्तर नहीं पड़ सकता। म पाश्चात्य सम्यता ही हमारा कदापि आदर्श है। हाँ, उनसे हमें खिर्फ विज्ञान ही लेना है और उसके भी उस भाषका उपयोग करना है, जो हमारे लिये लाभदायक सिद्ध हो। हमें अपनेको पूर्णतः मशीनके गुलाम नहीं बना देना होगा। फिर अगर आधुनिक वैज्ञानिकी हस्तिये भी कोई देखते तो भी भनोविज्ञानके आधारपर यह कहा जा सकता है कि उनकी सामाजिक व्यवस्थामें बहुत सी श्रुटियाँ हैं। हाँ, उनमें कुछ अच्छी यातें अवश्य हैं, जो हमसे, हमारी सम्यतामें पहलेसी थीं; उनको हमें फिर अपना लेना होगा।

विज्ञान ही या धर्म, दोनोंका छह सत्य-दर्शन, सत्य-आति और उसको धारण करना है। आधुनिक कुव्यवस्थाका कारण हमारा धर्मशब्द और दर्शनका अध्यवन छोड़ देना है, जो मानवीन कालमें ग्राहण किया करते थे; क्योंकि विज्ञान धर्मके दर्शन भास्तिकामें और विना दर्शनके धर्म अन्व-विश्वासमें बदल जाता है। वेदोंमें यही वार-वार पूछा गया है कि किसके जान लेनेपर सब जाता जाता है। इसका उत्तर भी उन्होंने दिया है—हमें हमसे समान बनना चाहिये; क्योंकि इसना समय हमारे पास कहाँ है कि हम जगत्की एक-एक वस्तुका विश्लेषण करके सर्वशः हो सकें; अतः सामाजी-करणकी आवश्यकता है। मौतिक विज्ञान अभी सामाजीकरण (Generalization) में लगा है, पर हमारे शृंखिगण

बहुत पहले ही यह कर रखे हैं। भौतिक विज्ञानमें कोई सिद्धान्त 'आज' प्रतिपादित और समर्पित होता है और 'काल' फेल हो जाता है। पहले आइन्स्टीन और न्यूटनने अस्त् आदि पिछले पश्चात्य दर्शनिकों और वैज्ञानिकोंके सिद्धान्त गलत सिद्धकर नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये थे। अब डा० नारलीकरन उनके सिद्धान्तोंकी भी कत्र खोद दी है और गुरुत्वाकरण और सुष्ठिके सम्बन्धमें नये सिद्धान्त प्रतिपादित किये हैं। उन्होंने यह सिद्ध कर दिया है कि पदार्थ सूक्ष्मते कैसे उत्तर द्युआ है। (How matter is created out of nothing) (यहाँ शून्यका मतलब ऐसे पदार्थसे है, जिसके गुण दृश्यमान पदार्थोंके गुणके समान नहीं हैं।) उनका यह निर्णय सत्यके सिक्कटम है और भारतीय दर्शनका समर्थन करता है।

धर्म वही है, जो हम सबको धारण किये हैं और उसे जान लेना या धारण कर लेना ही हमारा धर्म है। फिर धर्म या ईश्वर-प्राप्तिकी साधना भी साधारण अवस्थामें हमारे लिये धर्म होगी। क्योंकि वह ईश्वरके प्रति आकर्षण या प्रेमके कारण ईश्वरके लिये को जाती है। उस समय जो आकर्षण या प्रेम कार्य करता है या व्यक्त होता है, वह भी स्वयं ईश्वरत्वरूप है। इस तरह ईश्वर हमें कृपापूर्वक अपनी ओर ले जाता है। जब इस आत्ममें ऐसा कोई सामन या पुरुष है, जो हमें सब हुँदींसे भुक्त कर सके, जिसे हमें विरकाल-तक शान्ति मिले। विज्ञान फौरन 'नहीं' कर देता; पर धर्म इसका समाधान करेगा, वही हमें ज्योति देगा और हमें नयी दिशामें के जाकर शाश्वत सुखकी ओर अग्रसर करायेगा। विज्ञान तर्कवितर्कपर आधारित है, पर वह प्रत्यक्ष अनुभूतिपर। विज्ञानके सिद्धान्त करबड़ बदल सकते हैं पर धर्मके सिद्धान्त सुष्ठिके आदिसे स्थिर हैं।

धर्म ही हमारे जीवनकी परिभाषा दे सकता है। अतः वही हमारा आदर्श होगा। पर जो भौतिक विज्ञानको अद्वैत मानते हैं, उन्हें सब रीतिरिवाज साग देने और अनन्त भौतिक सुखके लिये प्राणपाणसे प्रबल करना होगा; क्योंकि जितने भारतीय संस्कृतिके रीतिरिवाज हैं, उनकी व्याख्या अभीतक विज्ञानमें नहीं की है। फिर अगर

मेरे भाईका गला काटनेसे ऐसी स्वार्थसिद्धि होती है जो मैं बैसा क्यों न करूँ? फिर त्याग, प्रेम और निःस्वार्थ परताकी क्या आवश्यकता है, इसका आधुनिक उपयोगिता-बादी और शान्तिबादी क्या उत्तर देंगे! वे कहेंगे ये अच्छी वास्ते हैं; पर इसके आगे वे कुछ न कह पायेंगे। पर हमारे पास इसका उत्तर है कि मैं ऐसे कुछ सुन्दर ही नहीं; सत्यपर आधारित है। हम अगर एक पत्थर कपर सेंक लो वह कुछ दूरसक लमर जाका और फिर वापिस पृथिवीपर लौट आयेंगे; इसी तरह हम भगवान्के वहोंसे आये हैं और फिर हमें उन्होंमें जाकर मिल जाना है। अन्यथा यदि ऐसा न हो तो फिर आवक्षीन सुख जीवेद् शरणं कृष्णं शुर्वं पितैव... ही हमें अपने जीवनमें चरितार्थ करना होगा।

वह कहना कि बैरोकटोक सुखभोग ही धर्म है। निसंदेह ईश्वर एवं मनुष्य-प्रकृतिके प्रति अपराध है। फिर भी भी जातिके ग्राण कहींनकहीं अवश्य सुरक्षित रहते हैं और तथतक वह जाति अजेव रहती है। भारतका प्राण 'धर्म' ही रहा है और जबतक धर्म भारतका प्राण रहेगा, तबतक कोई उसे नष्ट नहीं कर सकता। सामी रमकृष्ण परमहंसने दिला दिया था कि धर्म प्रत्यक्ष अनुभूतिपर आधारित है, तर्कवितर्कपर नहीं।

हमारी शिक्षा अमाधात्मक है, करीब-करीब बेजान है। हमारी शिक्षा और जीवनमें विज्ञानकी आवश्यकता है। हमें अभी भौतिक सत्यपर भी भारतको समुद्दिश्याली बनाना है पर उसके उपयोगकी नीति हमारी होगी। हमें अपनी शिक्षा-स्वत्वस्थामें परिवर्तन करना होगा। शिक्षा ऐसे व्यक्तियों-द्वारा दिलानी होगी, जो स्वयं आदर्शस्वरूप हैं। इसके साथ ही हमें आश्रम-धर्मसे कम से कम ऋहाचर्य-आश्रमकी पुनःप्रतिष्ठा करनी होगी, अपनी बुराइयोंको निकाल देना होगा और नयी कुरीतियोंके लिये हमारी सभ्यतामें कोई लाभ न होगा। हमारी शिक्षा भी वैदान्तस्युक्त विज्ञानकी होगी और फिर इसके जानी सुखक भारतको समृद्ध बना, स्वर्णयुग लायेंगे एवं भारत फिर अपनी खोशी हुई महिमाको प्राप्त कर लेगा।

निर्लोभता-धर्मके आदर्श

(१)

तुलाधार

चोटा-सा गाँव था और उसकी एक ज्ञोपढ़ी-में एक शूद्र-परिवार रहता था। वे दम्यति भगवद्भक्त, सत्यवाही, वैराग्यवान् तथा लोभीन थे। पत्नीको अपने अभाव, अपने कष्टकी चिन्ता भले न हो, वहिको भी वे सुहृदी अन्न डिकानेसे न दे सके—इसका दुःख अद्वितीय था; किंतु वह साधी कुछ कहती न थी। उसके पति तुलाधार परम संतोषी थे। अब कट जाने-पर खेतमें निरे दाने छुन लाना और उसीसे निर्वाह करना उन्होंने अपनी वृत्ति करायी थी।

तुलाधारके पास बख्के नामपर फटी धोती और गमडेके स्थानपर एक फटा चिठ्ठा था। वे जहाँ प्रतिदिन रुक्ष करते थे, वहाँ दो नवीन उत्तम धन एक दिन उन्हें रक्षे दिखायी दिये। दूसरेका बख्का भला, वे कहाँ होवे लगे थे।

दूसरे दिन स्वान करने पहुँचे तो वहाँ एक डलिया रक्खी थी। उसमें गूलर-जौसे घोड़े-चड़े स्वर्णके ढले भरे थे। वहाँ कोई था नहीं। तुलाधारने सोचा—“धन तो अनवौंकी जह है। उससे अहंकार, भय, चिन्ता और संशय आदि दोष मनमें आ जाते हैं। लोभीको शान्ति मिल नहीं सकती। धन पापमें प्रवृत्ति उत्पन्न करता है। भनुण्यका पतन करनेवाले धनसे विचारकान्को दूर रहना चाहिये।”

दूसरी ओर, तुलाधारकी परीक्षाके बत्तन करनेवाले ये प्रसु ज्योतिषी बनकर उसके आमर्में पहुँच गये। दूसरोंका सूक्ष्म-भवित्व बतलाते देख तुलाधारकी पत्नी पहुँची तो बोले—“तेरा पति तो भूर्भु है। असाधास आप लक्ष्मीका तिरस्कार करता है। तब दरिद्रताके अतिरिक्त तुझे कथा मिलनेवाला है।”

पत्नी घर आयी। परिसे पूछा—“उन्होंने स्वर्ण दीक्षनेकी वात बता दी। पत्नी उन्हें लेकर ज्योतिषी पण्डितके पास गयी। ज्योतिषीजीने

धनकी प्रशंसा प्राप्ति की—“धनसे लोकमें सुख-सम्मान मिलता है। योग-विपत्तिमें धन सहायक होता है। धनसे यज्ञ, पूजन, दान होता है। दुखी-दरिद्रोंकी सहायता धनसे होती है। अतः धन परलोकको भी बनानेवाला है।”



‘हाथमें कीचड़ लगाकर फिर उसे धोता क्या बुद्धिमानी है?’ तुलाधारने कहा। ‘अब जिन्हें भाग्यसे मिला है, उनके लिये भी उसे दान, सेवा, त्यागमें ही लगाना उत्तम है। धनमें स्पर्धा, वैर, अविवास, भय आदि अलेक दोष हैं। मायका प्रकटरूप धन है। वह आता है तो मन मतवाला हो जाता है। छूठ, छल, कपट, अनाचार, दर्प, हिंसा आदि अनेक दुर्गुण दृष्टने लगते हैं। यह तो दुर्गतिका हेतु है। मेरे लिये परखी माताके समान है और परद्रव्य विपके समान है। मैं अब नहीं लूँगा।’

तुलाधार परीक्षामें ठीक उत्तर। भगवान् तो उसे दर्शन देने आये ही थे। जो उनके द्वारा प्रदत्त सुख-दुःखमें संतुष्ट रहकर उनके भजनमें लगा है, वह तो उनका विज-जन है। तुलाधार-को उन्होंने अपने स्वरूपका दर्शन कराके मृतार्थ किया।

—४०—

(२)

राँका-बाँका

वहे विरक्त, अत्यन्त अपरिग्रही, भगवान्‌पर दृढ़ विश्वास करनेवाले भक्त थे राँकाजी। जैसे वे, वैसी उनकी पत्नी बाँका। वोनों प्रतिदिन जंगल में जाकर खुली लकड़ियाँ काटकर ले जाते थे। उन्हें वेन्नेपर जो कुछ भिलता, उसके हारा अतिथि-सत्कार भी करते और अपना जीवन-निर्वाह भी। लीलामय प्रभु कभी-कभी अपने लाड्ढे भक्तोंकी परीक्षा उनकी कीर्तिका विस्तार करनेके लिये करता करते हैं। उन सर्वसमर्थने स्वर्ण-मुहरोंसे भरी थैली बनके उस मर्गसे डाल दी, जिधर ये भक्त-नमस्ति लकड़ी काटने जा रहे थे।

राँकाजी पत्नीसे कुछ आगे चल रहे थे। मत भगवान्‌के निन्तनमें लगा था। पैरको छोकर लगी तो देखा कि एक थैली स्वर्ण-मुहरोंसे भरी खुली पड़ी है। जहाँ-जहाँ उसे धूलिसे फूकने लगे। इतनेमें बाँकाजी पास आ गयी। उन्होंने पूछा—‘आप यह क्या कर रहे हैं?’

राँकाजीने उच्चर टाल देना चाहा, किन्तु पत्नी-के आश्रह करनेपर बोले—‘मुहरोंसे भरी थैली पड़ी है। स्वर्ण देखकर तुम्हारा मन इन्हें लेनेको न करे, इसलिये इन्हें छक रहा था।’



बाँकाजी दूस पड़ी—‘चाह, धूलिपर धूलि

डालनेसे क्या लाभ। सर्ण और धूलिमें मेद दी क्या है। आप अक्षरण यह भ्रम मत कीजिये।’
—तुं०

(३)

नामदेव

परिसा भागवतको पारस मिल गया था। उनकी पत्नी नामदेवजीकी पत्नी राजाईकी सहेली थी। नामदेव तो निष्परिग्रह भक्त थे। अपनी सहेलीकी निर्धनता देखकर परिसा भागवतकी पत्नी एक दिन राजाईको अपने घर ले गयी। उसने उसे पारसका मद्दत्य वतलाकर कहा—‘निलौंसे कहना मत, मैंने बहुत स्वर्ण बना लिया है। तुम इसे घर ले जाकर लोहेको स्पर्श कराओ, पर्यास स्वर्ण बनाकर मणि शीघ्र लौटा देना।’

राजाई मणि ले आयी। उसने थोड़ा-सा लोहा पारससे स्पर्श करके स्वर्ण बनाया और उसे वेलकर भोजनका सामान ले आयी। नामदेव घर आये तो उससे व्यञ्जन बनते देखकर उन्होंने पत्नीसे पूछा—‘ये पदार्थ कहाँसे आये?’ पत्नीने सब बातें बता दी। उनकर जोले—‘मणि मुझे दी। यह भोजन अपने कामका नहीं है। इसे भूखे लोगोंको दे देना।’

मणि लेकर नामदेव घले गये। उसे उन्होंने चन्द्रभागामें फेंक दिया। स्नान करके भोजन करने वैठ गये। मणि लौटनेमें देर हुई तो परिसा भागवतकी पत्नी राजाईके पास आयी। राजाई चन्द्रभाग-तटपर पहुँची तो नामदेव बोले—‘मैंने उसे चन्द्रभागको दे दिया।’

राजाईसे समाचार पाकर परिसा भागवतकी पत्नी छाँटी गयी। उससे मणिकी बात सुनकर परिसा भागवत त्रोधमें भरे नामदेवके पास पहुँचे। नामदेवजीने उनकी डौँट छुकर कहा—‘आप भगवद्भक्त हैं। पारस तो लोभकी मूर्ति है, यह समशक्त भूमें उसे चन्द्रभागमें फेंक दिया। भक्तको स्वर्णसे दूर रहना चाहिये। स्वर्णमें कलिका निशास है। इतनेपर भी आपको मणि लेनेका आश्रह है तो मणि लीजिये।’

जलमें उतरकर नामदेवने अङ्गलि भर कंकड़ लिकाले । लोहेका स्पर्श करके परिसा भागवतने देख लिया कि वे सब पारस हैं । वे नामदेवके चरणों पर गिर पड़े । नामदेवने सब कंकड़ चब्दभागमें फैक दिये ।

—३०

(४)

श्रीसनातन गोखामी

‘तुम बृन्दावनमें श्रीसनातन गोखामीके पास जाओ । उनके सभीप पारस हैं और वे तुम्हें देंगे ।’ स्वन्में भगवान् शंकरने दर्शन देकर यह आदेश किया ।

गौड़ देशके वर्द्धवानका वह ग्राहण निर्धन था, दरिद्रताने दुखी किया था उसे । जहाँ हाथ फैलाये, वहाँ तिरस्कार मिले । शास्त्र, सामिनी ग्राहण—उसने संकल्प किया कि जिस थोड़े से स्वर्णपर संसारके धनी पूले फिरते हैं, उस स्वर्णके वह मूल्यहीन करके धर देगा । देनियाँ लगा देना स्वर्णकी । पारस प्राप्त करेगा वह ।

पारस कहाँ मिलेगा ? हूँढ़नेसे तो वह मिलनेसे रहा । देगा कौन उसे ? लक्ष्मीके किंकर देवता क्या पारस दे सकते ? ग्राहणने भगवान् आशुतोषकी दारण ग्रहण की । जो विश्वको विभूति देकर स्वयं भस्माङ्करण लगाते हैं, वे कपाली ही कृपा करें तो पारस प्राप्त हो । कठिन ब्रत, तिरन्तर पञ्चास्तर जप, हृष्ट रुद्रर्चन-निष्ठा—भगवान् शिलोचन कवत्क संतुष्ट नहीं होते । ग्राहणकी वारह वर्षकी उत्कट तपश्चा सफल हुई । भगवान् शिवने स्वप्नमें दर्शन दिया ।

‘सनातन गोखामीके पास पारस है ? वे दे देंगे उस महान् रत्नको ?’ ग्राहणको मार्गका कष्ट मरीत ही नहीं हो रहा था । ‘भगवान्ने कहा है तो अवश्य दे देंगे ।’ वही विश्वास उसे लिये जा रहा था ।

‘आपके पास पारस है ?’ बृन्दावनमें पूँछनेपर घृतके नीचे रहनेवाले कुशकाय कर्त्ता-कौपीनधारी, गुद्धी रखनेवाले एक साहुके पास जानेको लोगोंने

कहा तो वह बहुत नियश हुआ । ‘थे कंगाल सनातन गोखामी !’ पेरे व्यक्तिके पास पारस होनेकी किसे आशा होगी । लेकिन यहाँतक आया था तो पूछ लेना लचित लगा ।

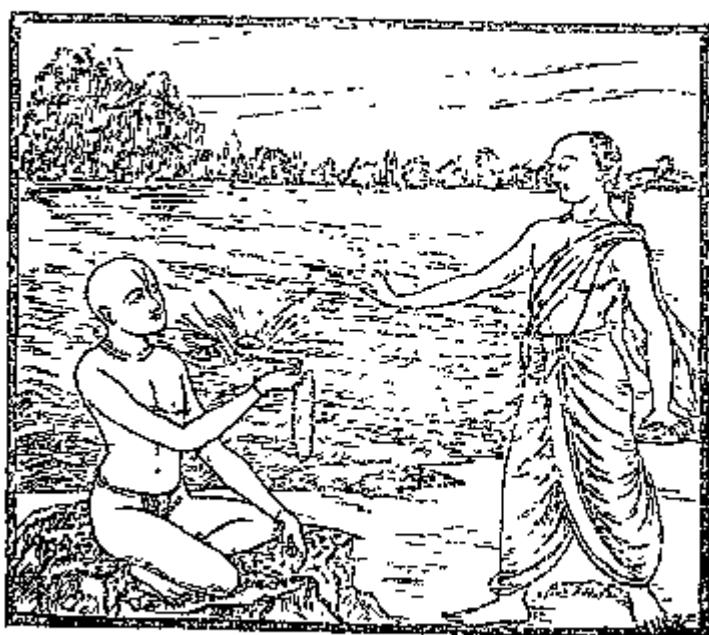
‘मेरे पास तो नहीं है । मैं उसका क्या करता ।’ सनातनजीने कह दिया । ‘एक दिन श्रीयमुना-स्नानको जा रहा था तो पैरेंसे टकरा गया । मैंने उसे बहाँ रेतसे ढक दिया, जिससे किसी दिन स्नान करके लौटे छू न जाय । उसे छूकर तो मिर ज्ञान करना पड़ता । तुम्हें चाहिये तो वहाँसे निकाल लो ।’

स्नान बता दिया गया था । रेत हड्डानेपर पारस मिल भी गया । परीक्षा करनेके लिये लोहेका तुकड़ा पहलेसे साथ लाया था ग्राहण ! वह पारससे स्पर्श करनेपर स्वर्ण हो गया । पारस ठीक मिल गया । ग्राहण लौट पड़ा; फिरु शीघ्र चित्तने कहा—‘उन संतकों तो यह प्राप्त ही था । वे कहते हैं कि यह छू जाय तो उन्हें स्नान करना पड़े ।’

‘आपको अवश्य इस पारससे अधिक मूल्यवान् वस्तु प्राप्त है !’ ग्राहण लौट आया सनातनजी-के पास ।

‘प्राप्त हो है ।’ सनातन अस्तीकार कैसे कर देते ।

‘मुझे वही प्रदान करनेकी कृपा करें !’ ग्राहणने प्रार्थना की ।



‘उसकी प्राप्तिसे पूर्व पारसको यमुनामें फेंकना पड़ेगा।’ सनातनजीने कहा।

‘यह गया पारस।’ ब्राह्मणने पूरी शक्तिसे उसे यमुनाके ग्रवाहमें फेंक दिया। भगवान् शिवकी दीर्घकालीन उपासनाने उसका चित्त शुद्ध हो चुका था। संतके दर्शनने हृष्यको निर्मल कर दिया था। अधिकारी बन गया था वह। सनातन बोखामीने उसे श्रीछृष्ण-नामकी दीक्षा दी—यह श्रीछृष्ण-नाम, जिसकी कृपाका करण कोटि-कोटि पारसका चुनन करता है।

—४०

(५)

संत तुकाराम

संत तुकारामजीकी भक्ति, वैराग्य तथा धर्म-परायणताकी कीर्ति सुनकर छन्नपति शिवाजीने उन्हें लानेके लिये अपने सेवक भेजे। साथमें हाथी, घोड़े, पालकी आदि भेजे कि संत जिस सवारीको पसंद करें, उसीपर बैठकर पधारें। सेवकोंने तुकारामजीके यहाँ जाकर प्रार्थना की—‘महाराज छन्नपति आपके दर्शनोंको उत्सुक हैं। चलनेकी कृपा करें।’

तुकारामजी बोले—‘मुझे चलना होना तो ईश्वरके लिये दो पैर मेरे पास हैं। इन पशुओं अथवा पालकी-चाहकोंका भर क्यों बनूँगा मैं। लेकिन छन्नपतिको मेरी ओरसे निवेदन करना कि मैं उनकी मङ्गल-शामना करता हूँ। मैं यहाँ श्रीबिठुलकी सेवायें लगा हूँ। वे मुझे यहीं रहने दें, यह मुझपर उनकी बड़ी कृपा होगी।’

राजसेवक लौट गये। जिसने सुना, उसने कहा—‘तुका किनना गवाँर है। घर आये राज-वैभवको इसने हुकरा दिया। कोई भला, घर आयी छहमीको धक्का देता है?’

छन्नपति महाराज शिवाजीको सेवकोंसे जब संदेश मिला, उब वे सब्यं तुकारामजीके दर्शन करने आये। संतके दर्शन करके छन्नपतिने उनको प्रणामके अनन्तर सर्वमुद्राओंसे भरी एक थैली निवेदन की। तुकारामजी बोले—‘आप धर्मके रक्षक, गो-ब्राह्मणके प्रतिपालक होकर मुझे इस मायाके वन्धनमें क्यों

डालते हैं? यह तो भक्तिमें वाधा देनेवाली है। कृपा करके इस धनको लौटा ले जायें।’

भस्यन्त दरिद्र धरथा तुकारामजीका। धंहरपुरमें उनकी श्योपहीमें वर्षके नामपर चिंथाएँ थे और भिक्षाद्वारापर उनका निर्वाह होता था। लेकिन धनके प्रति उनकी ऐसी निःस्पृहता तथा भगवान्में डढ़ भक्ति देखकर छन्नपति भावधिभोर हो गये। फिर तो शिवाजी प्रायः तुकारामजीसे खत्सङ्क करने आया करते थे। —सु०

(६)

अलोभ-धर्मका आदर्श श्रावस्ती-नरेश और ब्राह्मणकुमार

कौशाम्बीके राजपुरोहितका पुत्र था अभिरूप कपिल। आचार्य इन्द्रदद्धुके पास शश्यन करने आवस्ती आया था। आचर्यने उसके भोजन करनेकी व्यवस्था नगरसेठके यहाँ कर की थी। लेकिन वहाँ वह भोजन परोलनेवाली सेविकाके रूपपर मुग्ध हो गया। दोनोंमें परिचय हुआ। वसन्तोत्सव आनेपर सेविकाले उससे उत्तम वर्षा तथा आमूषण माँगे।

अभिरूप कपिलके पास तो वहाँ कुछ था नहीं। सेविकाने ही बतलाया—‘यहाँके नरेशका नियम है कि प्रातःकाल उन्हें जो सर्वप्रथम अभिवादन करता है, उसे दो मात्रों सर्वप्रदान करते हैं।’

महाराजको सर्वप्रथम प्रातःकालीन अभिवादन तो राजसदनमें रहनेवाले सेवक ही कर सकते हैं। अभिरूप कपिलने एक युक्ति सोची। वह राजसदनमें रात्रिमें ही प्रविष्ट हो गया, किंतु नरेशके शश्यन-कक्षमें प्रविष्ट होनेकी चेष्टा करते सबय प्रहरियोंने एकहृ लिया उसे। चोर समझा गया वह। प्रातःकाल राजसदनमें महाराजके सम्मुख उपस्थित किया गया।

महाराजके पूछनेपर सब चाँते उसने सच-सच कह दीं। उस ब्राह्मणकुमारके सत्य तथा भोलेपतपर संतुष्ट होकर राजने कहा—‘तुम जो चाहो सो माँगो। जो माँगोगे, तुम्हें मिलेगा।’

‘मैं सोचकर कल माँगूँगा।’ अभिरूप कपिलने

कह दिया । उसे एक दिनका समय मिल गया । घर लौटकर वह सोचने लगा—“दो माझे सर्व तो बहुत कम हैं—सौ सर्वसुद्राएँ ? लेकिन वे कितने चिन चलेंगी ? सहस्र सुद्राएँ ? नहीं, लक्ष सुद्राएँ ?”

वह सोचता रहा, किंतु तुष्णा कहीं संतुष्ट नहीं जान पड़ा । दूसरे दिन महाराजके सम्मुख उपस्थित होनेपर उसने कहा—“आप अपना पूरा राज्य मुझे दे दें ।”

आवस्तीनरेश निःसंतान थे । किसी योग्य व्यक्तिको राज्य देकर वे धनमें तप करने जानेका विचार पिछले कई महीनोंसे कर रहे थे । वह विष्णुमार उन्हें योग्य प्रतीत हुआ । अतः उसकी माँग सुनकर वे प्रसन्न होकर बोले—“हिंजपुत्र ! तुमने मेरा उद्धार कर दिया । तुष्णारूपी सर्विणीके पाशासे मैं सहज कूट गया । कामनाओंका

अथाह कूप भरते-भरते मेरा, तो जीवन ही समाप्त हो चला था । विष्णोंकी तुष्णारूपी दलदलसे ग्राणी निकल सके, वही उसका सौभाग्य है । तुमने मुझे ऐसा अवसर दिया, इसका मैं आभार मानता हूँ । यह सिंहासन तुम स्वीकार करो ।”



अभिरुप कपिल चौंक गया । उसने उसी समय निश्चय करके कहा—“महाराज ! कृपा तो आपने सुझापर की । तुष्णा-सर्विणीने तो मुझे बाँध ही लिया था । विष्णु-तुष्णाके दलदलमें अब मैं नहीं पहुँचा । मुझे न राज्य चाहिये, न दो माशा सर्व और न हो ।”

वह चहाँसे चला तो बहुत प्रसन्न, बहुत निर्द्दिन्द्र था ।

—तुम्

धन अनर्थ तथा दुःखका मूल

अर्थवन्तं नरं निवं यज्ञाभिवन्ति शत्रवः । राजा चोरश दधादा मूलानि क्षय एष च ।

वर्धमेष्वमनवर्त्स सूक्ष्मित्यवधारय ।

अर्थानामर्जने दुःखमर्जितानां तु रक्षये । तातो दुःखं व्यये दुःखं विगर्थं दुःखभाजनम् ॥

(भवाभारत अनुशासन० १५५)

धनवान् मनुष्यापर सदा पौर्व शत्रु चोर करते हैं—राजा, चोर, उत्तराधिकारी भाई-बन्धु, अन्यान्य ग्राणी तथा व्यय । प्रिये ! इस प्रकार तुम अर्थको अनर्थका मूल समझो ।

धनके उपार्जनमें दुःख होता है, उपार्जन किये हुए धनकी रथामें दुःख होता है, धनके नाशमें और व्ययमें भी दुःख होता है, इस प्रकार दुःखके भाजन वने हुए धनको विकार है ।

गौका धार्मिक और आर्थिक महत्त्व

(लेखक—२० श्रीशूलनारायणजी मालवीय)

जिस प्रकार भारतवर्ष धर्मप्राण देश है, उसी तरह यह कृषिग्राहक भी है। यहों केवल गौ ही एक देश प्राणी है, जिसके द्वारा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—सभी प्राप्त होते हैं। हिंदुओंके जन्मसे लेकर मरणपर्वत जितने भी संस्कार हैं, सब धर्मों ओसेप्रोत हैं। गौका समवय हमारे सभी कार्योंसे जु़ङा हुआ है। हिंदूके धार्मिक ग्रन्थोंमें जहाँ गौको 'सर्वदेवमयोऽदेवि' कहा गया है, वहीं आर्थिक दृष्टिये में हरे 'अज्ञमेवपरं पाचः' माना जाता है। जिस अवसरपर धार्मिक हिंदू अपने पितरोंका थार्ड करता है, उस अवसरपर गोग्रास देनेके समय वह अवश्य करके उचारण करता है—

सौरभेष्यः सर्वैहिताः पवित्राः पुण्यवराणः।
प्रतिगृह्णन्तु मे आसं ग्रामस्त्रैलोक्यमातरः ॥

ऊपरकी इन दोनों पंक्तियोंमें जितने विशेषण गौके लिये आये हैं, उसने किसीके लिये नहीं कहे गये हैं।

गौकी पवित्रता सो इसीसे जानी जाती है कि जितनी भी भारतीय पुनीत नदियाँ हैं, सब इसके मूलमें निवास करती हैं। 'मूले गङ्गाद्यो नदः' आर्थिक पहलूसे देश जात तो गोमूत्र उदरु सुख नेत्र और कर्ण आदि रोगोंकी एक मुख्य औषध है। सबसे बिलक्षणता इसमें यह है कि कैसा भी विष क्यों न हो। इसमें तीन दिनोंतक पढ़े रहनेसे शुद्ध हो जाता है।

गोमूत्रे त्रिदिनं स्थाप्य विषं तेज विशुद्धति ।

हिंदुओंके यहाँ जितने भी कार्य होते हैं, उनमें सबसे पहले गृहकी शुद्धि गोमयके लेपनसे होती है। गोवरमें लक्ष्मीका निवास होता है। प्रसाग मिलता है—

लक्ष्मीश्च गोमये नित्यं पवित्रा सर्वमङ्गला ।

गोमयालेपनं तस्मात् कर्तव्यं पाण्डुनन्दन ॥

गोवरमें अनेकों प्रकारके गुण हैं। आज शोरोपीय विश्वानवत्ता भी सानते हैं कि गोवरमें प्लेग और इंजेके कुमि मारनेकी विचित्र दृक्षिति है। भूमिकी उर्वराशक्तिकी शुद्धिके लिये गोवर एक बहुत उपयोगी वत्तु है। इससे बढ़कर दूसरी खाद नहीं होती। खलिहानमें जिस समय अनन्की

यादि रखती जाती है, आज भी गोवरका गोला बनाकर किसान उसमें रखते हैं। कितने ऐसे जन हैं, जिनमें गोमूत्र और गोवरका प्राप्तन किया जाता है। कर्तव्यक्रमों तो गोशर्वन बनाते ही हैं। गणेशाजीकी गोवरका गोला बनाकर उसमें उपासना की जाती है।

स्पष्टरूपसे पढ़नेको यह गिलता है कि जिस समय नदिग्राममें भगवान् श्रीरामजीके बनामनसे लौट आनेकी प्रत्याशामें श्रीभरतजी थे, उस समयका इनका आहार गोमूत्रमें पके हुए यक्का दलिया था। मुझे इस बातका भी पता है कि गोवरसे निकले हुए गैरूँ और जौके आडेकी रोटी खानेसे बॉक्स ली भी गर्भवती हो जाती है।

श्रीमद्भागवतपुराणके पढ़नेवाले जाते हैं कि जिस समय पूतना अपने स्तनोंमें विष लगाकर भगवान् बालकृष्णको अपना दुष्प्रिय पिलानेकी चेष्टामें थी, उस समय भगवान्ने उसके स्तनमें सुख लगाकर पूतनाका प्राण हरण कर लिया। पूतना प्राणपीड़ासे पीड़ित होकर गोकुलके गोद्वारे जा गिरी। राक्षसीका चीत्कार सुन वजाफ्फनारें वहाँ दौड़कर आयीं और पूतनाके वक्षःस्थलपर खेलते हुए बालकृष्णको गोदमें उठा लिया। मात्रा वशोदाने इनके चारों ओर गोपुच्छ दुमाया और गोमूत्रसे स्तान कराया, गोरजका चर अङ्गोंमें मर्दन किया तथा समसा शरीरमें गोवर लगाकर भगवान् केशव अरदिके द्वादश नामोंसे इनकी रक्षा की—

गोमूत्रेण स्नापयित्वा पुनर्गोरजसाभैकम् ।

क्षां चकुञ्च शकुला द्वादशाहेषु नामभिः ॥

(क्षीमद्भागवत १०। ६। २०)

भारतीयोंमें सदासे यज्ञ करनेकी परम्परा रही। शृणियों-द्वारा यज्ञका सम्पादन तो होता ही था, क्षवित्र राजा भी अपनी-अपनी कासनाथोंकी पूर्तिके लिये यज्ञ करते थे। ब्राह्मण और गौ एक कुलके माने जाते हैं। ब्राह्मण मन्त्र धारण करता है और गौ दूधि। यज्ञमें जो बृत छोड़ा जाता है, वह गौका ही होता है।

ब्राह्मणश्वेत गोवरं लुलमेंके द्विषाकृतम् ।

एकत्र सन्त्रासिष्ठमिति हविरन्यन्ति तिष्ठति ॥

परलोक चली गयीं । उत्तरप्रदेश तथा गोजस्थानमें तो कई सतियाँ विना अनिके ही अपने शपीरसे दिव्याग्नि प्रकट करके संक्षी हुई हैं । चिन्तौरगढ़की पश्चिमी आदिके देविहासिक सतीत्वसे कोई समझदार व्यक्ति ओँख नहीं मैंद सकता । नारिक जडवादी तिवा अनगील प्रलापके इन बातोंका क्या उत्तर दे सकते हैं ? सप्त है कि जिन्हें धर्म, सम्भाता, संस्कृति और पातिव्रत्य मान्य हैं, ऐसे छी-पुण्योंके लिये आज-कलके प्रेमोत्तरविवाह (लव मेरेज) इत्यादि ये मुधार तथा जडवादियोंकी नास्तिकता धर्म पर्व मानवताके शत्रु ही हैं ।

जी सर्वदा ही लजाबील होती है, वह कभी अमियोगिनी नहीं होती । पुरुष ही स्वैरी होकर जीको स्वैरिणी बनाता है । जहाँ पुरुष स्वैरी न होगा, वहाँ जी भी स्वैरिणी नहीं हो सकती । जी पुरुषकी हृदयेश्वरी है, प्राणेश्वरी है आत्मा है, सब कुछ है । उसके हिस्से एवं अधिकारकी बात जडवादी नास्तिकोंके द्वया ही उठायी गयी है, उठायी जाती है । जीको पुरुषके वरावर बनानेका प्रयत्न करना उसका अथमान करना है, उसको हजारसुना नीचे उतारना है । विवाह करके परिवास-पालन करनेके उद्दात फर्तव्यको क्षणिका या क्षमट समझनेकी प्रवृत्ति जडवादी उच्छृङ्खल-पथियोंकी ही प्रेरणा है । जी और पुरुष—सभी यदि नौकर-

नौकरानी बनेंगे, तो उनकी संतानें भी अवस्थ ही नौकर-मनोवृत्तिकी ही बनेंगी । माताका दूध न पाकर जननीका लाड-प्याजु लालन-पालन न पाकर, दिनोंके दूध पीनेवाले बच्चे तिम श्रेणीके ही होंगे । माता-विताका भी बन्नोंमें कोई प्रेम न होगा, बच्चोंका भी माँ-बापके प्रति कुछ आकर्षण-अनुराग न होगा । पति-पत्नीका भी परस्पर स्थायी प्रेम न होनेसे किसी मी सम्बन्धकी स्थिरता न होगी । सभी सम्बन्ध बासना-नृति श्रीर पैसेके कारण होंगे । विवाह और तलाककी घटाघ परम्परा चलती ही रहेगी । इसको आज-कलकी सुधारणा कहें था कुधारणा; यह नहीं समझमें आता ।

हमलोगोंका सुख और कल्याण हमारे कर्मोंपर निर्भर है । हमारी भारतीय वैदिक संस्कृतिका उद्देश्य भी लोक-कल्याण और परोपकार ही है । अतएव धर्मतः गृहस्थाश्रमका मुख्य कर्त्तव्य है—

एक्षुत्वान्यमाप्नोति देवात् पित्याच मातुपात् ।

—देवश्रूण, पितृश्रूण, तथा मनुष्यश्रूण—इन तीनों ही श्रूणोंसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करना । इन्हरेसे हमलोगोंकी यही हार्दिक प्रार्थना है कि वे हमको सद्बुद्धि दें, जिससे हम अच्छे कामोंमें लगें; क्योंकि विना सत्कर्मके हमारी कोई भी उत्तिन नहीं हो सकती । भगवान् सन्मति दें ।

भगवत्कृपाप्राप्त गृहस्थ

अत-उपवास-नियम-तप-तप्त्वर, दान शक्तिभर, धत्सुल-भूत्य ।
दया, विनय, परनारी-धर्जन, स्व-छी-रति, सब सुंदर हृत्य ॥
सदाचार-शुचि-शील-परायण, सरल, सत्यचाली, मतिमान ।
मालू-पितृ-सेवक अद्वायुत शुद्ध-धर्मरत गत-अभिमान ॥
अर्थे न्यायसे अर्जन करता, रखता नित प्रभुमें विभास ।
यथासाक्ष्य सुख देता सद्वको, देता नहीं किसीको नास ॥
आदर करता सब कुदुम्बका पालन, सबका करता मान ।
उस गृहस्थपर कृपा-सुधा वरसाते संतत श्रीभगवान् ॥

भारतीय गृहस्थीमें धर्मपालन

(सेहुक—आचार्य श्रीबलरामजी शास्त्री पम्० ८०, साहित्यरत्न)

भारतीय संस्कृति और सम्यताका आधार यहाँका पवित्र और मंगलमय जीवन ही है। भारतीय आचार्योंने जीवन-संचालकके लिये उसे चार आश्रमोंमें विभाजित कर दिया था—(१) ब्रह्मण् (२) गृहस्थाश्रम (३) वानप्रस्थ, (४) वन्याश्रम। चार आश्रमोंमें उससे श्रेष्ठ और उपर्योगी आश्रम गृहस्थाश्रम ही माना जाता है। आश्रमोंके पालन-पोषणका मार गृहस्थों (दूसरे आश्रम) के ऊपर ही विर्भर रहता है। मनुजीने कहा है—जैसे समस्त जीव वायुका सहारा लेकर जीते हैं, उसी प्रकार समस्त आश्रमोंके लेय गृहस्थाश्रमके सहारे अपना जीवन चलाते हैं। आधुनिक युगमें जिस तरह किसान-दर्गा अन्न उत्पादन करके समस्त बगोंके जीवनको चला रहा है, उसी प्रकार धार्मिक क्षेत्रोंमें भी गृहस्थ समस्त जीवोंका पालन-पोषण करता है। मनुजे पुनः कहा है—स्तीर्णों आश्रमचाले गृहस्थोंके द्वाया नित्य ज्ञान और अन्न आतिदिले प्रतिगालित होते हैं। एतदर्थं 'गृहस्थाश्रम' ही सबसे बड़ा आश्रम है।

वसाऽऽप्योऽप्याश्रमिणो ज्ञानेत्तम्भेत् चान्वहम् ।
गृहस्थेनैव धार्यन्ते वसाऽऽप्येषाश्रमो गृही ॥

(पम्० ९। ४८)

मनुजे गृहस्थोंके लिये अनेकों धर्मों एवं कर्मोंका विश्लेषण किया है। आधुनिक युगमें उब कर्मोंकी सूची देख एवं मुनकर कुछ लोग नाक-भौंह सिक्कोड़ सकते हैं। कर्तव्यका पालन कठोर हो सकता है। किंतु जो अपना कर्तव्य-पालन नहीं कर सकता, उसका जन्म भी व्यर्थ ही है। गृहस्थाश्रमकी जो रूपरेखा पाश्चात्य देशोंमें है, उसपर यहाँ कुछ नहीं लिखा जा सकता। माता-पिता जीवित हैं, लड़का बिबाह हेते ही अपनी लौकी लेकर पृथक् अपनी हुनिया बसा लेता है। यह प्रथा अब भारतमें भी जोरीते फैलती जा रही है। हमारे पांहों तो निल बैद्यपाटसे श्रूपियोंके, होमसे देवोंके, धार्दोंके पितरोंके, अज्ञते मानवोंके और बल्कमसे भूतोंके विशिष्यूर्वक पूजनका विधान है। क्या पाश्चात्य देशोंका अनुकरण करनेवाले, नयी सम्यतामें बहनेवाले, माता-पिताको छोड़कर अपनी हीके साथ अलग संसार बसानेवालोंके लिये यह सम्भव है? कदाचि नहीं। भारतके एक सुन्दर मुख्यवस्थित गृहस्थाश्रमकी रूपरेखा देखिये—

सानन्दं सद्वनं सुताश्र सुधिः कर्त्ता न दुर्भाषिणी
सन्मित्रं सुधने स्त्रियोऽपि रतिशाङ्कापरा: सैवकाः ।

जातिव्यं शिवशूरं प्रसिद्धिनं मिष्टान्वपानं युद्धे
साधोः सङ्गमुपासते हि सततं धन्यो गृहस्थाश्रमः ॥
धर्मे नित्य आनन्दमङ्गल होता रहे, वच्चे सभी पढ़े-
लिखे एवं सम्य हों; लौ मीठी बोली बोलनेवाली हों; सन्चे मित्र हों, उचम कमावदे आया हुआ धन हो और अपनीही मायसि मैम हो; नौकर सब आशापालक हों और प्रतिदिन मगावाल शंकर और अतिथियोंका पूजन तथा सत्कार होता हो तो ऐसा गृहस्थाश्रम स्वर्गके समान है। इसके विपरीत, जिस घरके बच्चे सदा रोते रहते हों, घरमें सर्वदा पानी भरा रहता हो; आँगनमें सर्वदा कीचड़ भरा रहता हो; खाटोंमें सटमल मरे हों और भोजन खला मिलता हो; घरमें धुआँ भरा रहता हो; लौ कर्कशा हो; घरका सामी सर्वदा क्रोधावेशमें रहता हो तथा जाड़ोंमें ठंडे जलसे ही लान करना पड़ता हो, तो ऐसा गृहस्थाश्रम नरकके समान है। गृहस्थाश्रममें गृहस्थाश्रमका तभी विधिवत् पालन हो सकता है, जब—

न्यायार्थितधनलत्वज्ञाननिष्ठोऽतिपित्रिः ।
कास्त्रवित्सत्यवादी च गृहस्थोऽपि विमुद्धते ॥

न्यायसे उपार्जित धन हो और सर्वदा तत्त्वशानकी चर्चा होती हो तथा अतिथिदेवका सम्मान होता हो, शालकी चर्चा होती हो और घरके सब लोग सल्लवादी हों, तो ऐसे गृहस्थाश्रमके लोग मुक्ति प्राप्त करते हैं।

एक कदिमे लिखा है—

जिस घरमें दधिमन्थनका शब्द न सुन पड़े और जिस गृहस्थके घरमें छोटे बच्चोंका अभाव हो और जिस गृहस्थके घरमें गुरुजनोंकी पूजा न होती हो, वह घर बनके समान है—

अन्न नास्ति दधिमन्थस्योद्दी
यत्र जो लघुविशृणि कुलाचि ।
अन्न नास्ति गुल्मौरवरूपा
सानि कि वत गृहणि बनानि ॥

जिस गृहस्थके घर ब्राह्मणोंके भोजनेसे कीचड़ नहीं हुआ, अर्थात् जिस गृहस्थके घरमें निमन्त्रित ब्राह्मणोंको बुलाकर उनके पाँव नहीं धोये गये और जिस घरमें देवों और शास्त्रोंका उच्चारण नहीं हुआ, जिस गृहस्थके घरमें खाहा (इवन), स्वधा (तर्पण) आदि पवित्र कार्य-

न हुए, वह घर घर नहीं, इमान है।' इसके समर्थनमें पुनः लिखा गया है कि 'वह यहस्यका घर स्वर्गके द्वाल्य है, जिसमें ब्राह्मणोंके चरण-धोकनसे कीचड़ हो गया है, जिस यहस्यके घरमें वेदों और शास्त्रोंका अन्द मूँजता रहता है और हवन तथा तपषिसे, साहा और सधाके मन्त्र मूँजते रहते हैं।' भारतीय यहस्याश्रमसे पश्चात्य यहस्याश्रममें सबसे बड़ा अन्तर यही है कि भारतीय यहस्याश्रममें धर्मकी प्रधानता रहती है। ईश्वरकी पूजा, अतिथियोंकी पूजाकी प्रधानतासे भारतीय यहस्य-आश्रमकी प्रधानता सर्वमान्य है। भारतीय यहस्य-आश्रममें १३ वसुओंकी प्रधानता और अवश्यकता मानी गयी है—
१ मानवदाता, २ श्रेष्ठ वंशमें जन्म, ३ विभव, ४ दीर्घायु, ५ आरोग्य, ६ सच्चे मिश्र, ७ सुन्दर पुत्र, ८ साक्षी स्त्री, ९ ईश्वरमें अग्राय भक्ति, १० विद्वत्ता, ११ सुखनता, १२ इन्द्रियोंपर नियन्त्रण, १३ सत्प्राचको दान—ये तेह वसुएं जिस यहस्यके पास हैं वह सफल यहस्य है। समस्त

धर्मविद्यायोंके बहाँ यहस्याश्रम है। उनके नियम-अनुष्ठान विनायिन हैं। हिंदुओंके यहस्याश्रम-धर्मके फालनमें पाँच स्थानोंके पापोंसे मुक्त होनेके लिये पाँच प्रकारकी पूजाएँ होती हैं—१ चूल्हा, २ चक्री, ३ ज्ञाहू, ४ ओखली और ५ जलके घड़ोंसे हिंसाकी सम्भाचना रहती है, अतः ऋषि, पितर, देव, सूर और अतिथियोंकी पूजा करके इनसे कुट्टकारा कराया जाता है। धारतीमें यह कई यहस्याश्रमको सर्व बनानेके लिये ही निर्धारित हुए और यही यहस्य-धर्म है। वैद-पाठद्वारा शृणियोंकी, होमसे देवोंकी, शाद्वसे पितरोंकी, अन्नसे अतिथियोंकी और बहिकर्मसे शूलोंकी विधिवत् पूजा करें। यहस्य अपने धर्मका वालन करके अन्तमें स्वर्गका अधिकारी बनता है। भारतीय संस्कृतिमें अतिथियोंकी पूजाका बहुत महत्व है। जिसके पास से अतिथि बिना सल्कार वापस चला जाता है, उसका सल्कर्म दुरेत नहीं हो जाता है। यह है भारतीय संस्कृति-सम्पत्तिका प्रतीक भारतीय यहस्याश्रम-धर्म।

धर्मो रक्षति रक्षितः

(रक्षिता—१० श्रीनन्दकिशोरजी जा)

'धर्म हृत नरको करता निहत, सुरक्षित रक्षा करता वही।'
सुषिके आदि कालमें सत्य वात यह मनुने है झुव कही॥
विदित गीतामें भी भगवान् कृष्णके प्रणमय हैं उद्गार—
'धर्मकी रक्षाके ही लिये सदा मैं लेता हूँ अवतार।'
कनाकर वसु-भू (१८) विपुल पुराण, शक्तिभर करके प्रवल प्रयास।
उद्गाकर अपने दोनों हाथ निरन्तर चिह्नाते वर ज्यास॥
'धर्मसे ही होता है पूर्ण अर्थ अथवा जगके सब काम।
खेद है, तब भी जन-समुदाय न होता उसमें निरत निकाम॥'
अशन, निद्रा, भय, मैथुन आदि सभी जीवोंके एक समान।
नरोंमें है विशेषता यही—इन्हें है तारक धर्म-ज्ञान॥
धर्मके बलपर ही संसार बस्तुतः टिका हुआ है नित्य।
अतः संस्कृतिमें सज्जन सभी धर्ममय ही करते नित कृत्य॥
अजतक आदिकालसे कहाँ हुए हैं जो विशिष्ट वर व्यक्ति।
निरन्तर रही धर्ममें सत्तः प्राणपणसे उनकी अनुरक्ति॥
भूल भय-सुख-दुःख-विभव सदैव उन्होंने किया धर्मका आश।
नहीं कर सके विवश हैं जमीं, तभी सुखसे त्यागे जिज माण॥
भरा है इसी विश्वसे विशद सकल साहित्य, विश्व-हतिहास।
अपढ़ भी समझ सकेंगे इसे तनिक भी करके दुखिनिकास॥

वस्तुतः वही चातुरी सही, यतः हो उभय लोककी सिद्धि ।
 न कथमपि सन्मानवको कास्य विनश्वर जगकी सिर्फ समृद्धि ॥
 स्वर्ग भी हमें नहीं है इष्ट किसीका भी कर कुछ आयात ।
 अन्यके लेकर प्राण खलौख्य-साधना, कैसी कुत्सित चात ॥
 भले कैसा भी हो दुर्भिक्ष विनाशी, निकले चाहे प्राण ।
 किंतु जीतेजी नित हम करें कीढ़-कुजर प्राणीके आण ॥
 हमारे लिये ही न वे रहें, जगत्में हम भी रहें तर्थ ।
 ब्रह्मय जीव न यदि लख सकें, मरुज-जीवन तो यह है व्यर्थ ॥
 यही है आर्य-धर्म-चैशिष्ठ्य, दूसरी जगह न जिसका नाम ।
 खहित परमार्थ, परार्थ सदैव सोचना सर्वशेषु नर-काम ॥

* * *

राज्यसत्ता भी वनी कदमपि धर्ममय जन-रक्षाके लिये ।
 नृपतियोंने भी पूर्ण प्रमाण यहाँ इसके सदैव हैं दिये ॥
 सुधीं सम्पूर्णानन्द-सामान आज भी यत्ताते यह मर्म—
 'न समुचित हितकर है यह कभी किसीके लिये त्यागना धर्म' ॥
 एक जन तज दे चाहे धर्म, दुख भोगेगा उसका वही ।
 राज्यसत्ता यदि तजे स्वधर्म, कहाँकी, वह कैसी फिर रही ?
 देशके कोटि-कोटि सब व्यक्ति सहेंगे इससे तुख दुर्बन्त ।
 'धर्म हत करता सबका नाश'—यही सब शास्त्रोंका सिद्धान्त ॥
 योम-साम्राज्य कहाँ वह गथ । जार भी स्वयं हुआ जल छार ।
 उम्र गजाननी और हैमूरलंगका हुआ शीघ्र संहार ॥
 बीर हिटलर भी हुआ विनष्ट ! लगी क्या उसमें कुछ भी देर ?
 नहीं सह सकते कभी समर्थ स्वयं प्रभु जन-गीड़क-अंधेर ॥
 विजेताओंसे पीड़ित-दलित धर्मका करता आया आण ।
 स्वयमसनमें वह भारतवर्ष 'धर्मनिरपेक्ष हुआ निष्पाण' ।
 किसीके धर्मापर आवात कभी करना है नहीं अभीष्ट ।
 किंहु निज धर्मभावसे विरत स्वयं रहना है महा अनिष्ट ॥
 कहा था राम-पिताने स्पष्ट—'इमाय तन हो सकता खण्ड ।
 किंतु कथमपि वह सम्बव नहीं कि भारतके होवें वो खण्ड ॥'
 धर्मके कारण ढी हो गया अन्ततः वह प्रत्यक्ष विभक ।
 तद्वपि हम अहह ! बने हैं आज 'धर्म-निरपेक्ष' सतन्त्र अशक्त ॥
 करोंमें जिनके शासन-सूत्र, सर्वथा वे सुयोग्य विद्वान् ।
 उच्चादा देकर समुचित ध्यान धर्ममय सोर्वं जन-कल्याण ॥
 धर्मके विना न अष्टाचार, वूस, चोरी हो सकती नए ।
 तथा इनके रहते न समाज कभी सुधरेगा । है यह स्पष्ट ॥

चारों वर्णोंके धर्म

(लेखक—जगद्गुरु न परनहंस परित्रिकाचार्य श्रीकी १००८ श्रीखाली योगेश्वरानन्दजी तरखानी)

[लेखक—जीवरामसरली रंगराज]

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—इन चारों वर्णोंके उत्तम, मध्यम, कमिष्ठ—चीन-तीन विभाग हैं। वहाँ तकेपर्यंते उनका दिव्यदर्शन करना जाता है।

ब्राह्मण-धर्म

ब्राह्मणोंमें उत्तम वे हैं, जो ब्रह्मार्थि, ब्रह्मवेत्ता हैं—जैसे याज्ञवल्क्य, वर्णिष्ठ इत्यादि।

मध्यम वे हैं, जो सदाचारी हैं पर ब्रह्मज्ञानसे रहित हैं; केवल वेदशास्त्रोंके पारिष्ठत्त्वसे सम्पन्न हैं।

कमिष्ठ वे हैं, जो अपने मुख्य विशेष कर्तव्यका त्याग करके केवल ब्राह्मणका बहिरङ्ग विह्वमात्र धारणकर उदर-पोषणके लिये ही अहर्निश सेवा-परायण रहते हैं।

क्षत्रिय-धर्म

क्षत्रियवर्णमें उत्तम वे हैं, जो ईश्वरभावसे सम्पन्न होकर जगत् के कल्याणकारी सकल गुणोंसे लुक, समर-कला-कौशलमें परिषोषि, अपनी प्रजाका परिपालन करनेमें परम दयालु और वेद-शास्त्रादिके वास्तविक रहस्यको सम्पूर्ण ज्ञानेन्वाले पूर्ण नीतिज्ञ हैं। भगवान् श्रीकृष्णने ऐसे ही ब्रह्मणविद्विष्ठ रार्द्धपौम राजाओं कहा है—

नराणां च नराधिपम् ।

क्षत्रियोंमें मध्यम वे हैं, जो उपर्युक्त गुणह सर्वदैर्यमें व्याप्तिशील रहकर अपनी मर्यादाका वर्णोचित पालन करते हैं।

कमिष्ठ वे हैं, जो केवल नामधारी क्षत्रियमात्र हैं।

वैश्य-धर्म

वैश्योंमें उत्तम वे हैं, जो कृष्ण-गोरक्षा-वाणिज्य-धर्मोंका, केवल ईश्वरकी आशा समझकर पालन करते हैं और फलकी कामना किञ्चिदपि नहीं रखते। अर्थात् जो ईश्वरार्पण-जुदिते और अपने स्वधर्मका केवल कर्तव्यताकी निष्कामबुद्धिसे परिपालन करते हैं।

मध्यम वे हैं, जो धर्मधर्मजीके अभिमानपूर्वक, पूर्वोक्त अपने वर्णधर्मका अपनी रक्षाति और माननी इच्छा रखकर पालन करते हैं। ये लौकिक-पारलौकिक उभय कामनासे संयुक्त हैं।

कमिष्ठ वे हैं, जो केवल इनके उपर्यान्तर्यां अपनी जाति-नीति, समस्त वर्णोंअमें विशेष धर्मोंको त्यागकर शूद्र और छल करके अस्यायपूर्वक निरुत्तर इच्छोपार्चनमें ही तत्त्व रहते हैं।

शूद्र-धर्म

शूद्रोंमें उत्तम वे हैं, जो विदुरादिके सहश शूद्र शैक्षर अस्तिकात्मामें तत्त्वर रहकर, अपनेसे कैची जातिशालोंकी वयोन्नित मान-प्रतिष्ठासेवा करनेमें वर्यवर श्रद्धा, भक्ति और उत्साह रखते हैं।

मध्यम वे हैं, जो स्वार्थके लिये ही अपनेसे कैची श्रेणी-वालोंसे प्रयोजन रखते हैं।

कमिष्ठ वे हैं, जो मर्यादा-तिरस्कारपूर्वक अपने प्रतापके अभिमानसे नीतिमार्गका उल्लङ्घन करके स्वैच्छाचारी हो रहते हैं और अपने वर्णधर्मधर्मसे सर्वदा-सर्वथा विमुक्त—मन्मुक्ती रहते हैं।

चारों वर्णोंका समान महत्व

सुख, आहु, जंघा, चरण जपने जनसे स्थान। एक देहके अंग हैं, निज निव कर्त्त्व प्रधान॥
क्षेत्र-कार्य सबके पृथक्, किन्तु महत्व समान। सबकी आवश्यकता सदा, सबके कार्य भहान्॥
त्वां ही एक समाजके चार अंग सुख-खान। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र धर्म-सतिसान॥
शानार्जन कर विष नित चिह्नण करता ज्ञान। इत्रिय रक्षा-रत सतत शूद्रीर यत्वान॥
वैश्य न्यायसे धन कमा, देता सबको दान। शूद्र निय शमद्वान कर, करता भृति कल्याण॥
एक समाज-दारी-हित चारों हैं वरदत्त। श्रमुदे चारों ही बने, चारोंमें भगवान्॥

ब्राह्मणधर्म एवं उसके आदर्श

(लेखक—८० श्रीश्रीभरजी दिवेदी, न्याकरणाचार्य, दाहित्पशार्दी 'विश्वारद')

सुष्टिरचना-चतुर सृष्टिकर्ता ब्रह्माने पुरुषोंको जन्म देकर ब्राह्मणधर्मका उपदेश दिया—‘ब्राह्मणधर्मको अपने जीवनमें उत्तराकर आदर्श खापित करो, इस आदर्शको अपनाकर मनव सुखी होगा और प्राणिभावका कल्याण होगा।’ भगु और विशिष्टने पिताके उस आदेशका पालन किया। ब्राह्मणधर्मकी स्वापना विषयके कल्याणके लिये की गयी। विशिष्टका जीवनवृत्त योगवाचिष्ठासे साध हो जाता है। स्वै-विशिष्टका आचार्यत्व अग्निकर मर्यादापुरुषोंतम श्रीरामके जीवन-तक महर्षि विशिष्टका योगदान संसारके लिये हितकारी रहा है और भविष्यके लिये अनुकरणीय है। महर्षि विशिष्टके पुनर शक्ति, शक्तिके पुनर पराशर और पराशके पुनर महर्षि वेदव्यास हुए, जिन्होंने वेदका विमाजन किया और अध्यादश युगण और अष्टादश उपपुराणोंकी रचना की। इन रचनाओंसे तृती न पाकर श्रीमद्भगवतका प्रणयन भागवत-धर्मके लिये किया। भागवत-धर्मका आदर्श अपने पुनर शुकदेवको बनाया। शुकदेव परम भागवत हुए। उसके बाद संततिपरम्य समाप्त हो गयी। आज इस उन्हीं महर्षियोंसे ब्राह्मण-धर्मको समझनेका प्रयत्न करते हैं। बास्तवमें ब्राह्मण-धर्म ही सामन-धर्म है। ब्राह्मणधर्म इतना विशाल और व्यापक है कि उसकी कुक्षिमें सब धर्म अन्तर्गृहीत हो जाते हैं। महाभाष्यकार पतञ्जलि ब्राह्मणधर्मका लक्षण—
ब्राह्मणस्य निष्कारणो धर्मः षड्घण्ये वेदो भ्येयो गेयश्च।

—कहकर शान्त हो गये। तात्पर्य यह है कि छः अङ्गों सहित वेदका अध्ययन करके उसका ध्यान करनेपर अवशेष रह ही स्था जाता है। व्यानागम्य विषयका विषयके हितार्थ गायन करके लोकको प्रश्नत करना ही ब्राह्मणधर्म है। इससे ‘सर्वभूतहिते स्वाः’की भावना स्वतः पुष्ट हो जाती है। हरीलिये ब्राह्मण ‘सर्व खलु हृदं वसु भेद नानात्मिति शिव्वन्’ की भावनापर आलंड़ हो जाता है; विश्वको ब्रह्ममय देखने लग जाता है। पिर राग-धैर्यकी भावना कहाँ रह जाती है। षट्घण्कारश्चन्य वह स्वतः हो जाता है। ‘ब्रह्मणिद् ब्रह्मैव भवति’—ब्रह्मको जाननेयाला ब्रह्म ही हो जाता है। आत्म-तत्त्वनिष्ठ ब्राह्मण संसारके जीवमध्ये स्तोत्र नास्ता है; यहाँतक कि चर-अचरसे भी स्लेहिल हो जाता है।

स्मृतिकार्याने ब्राह्मणधर्मका लक्षण ‘पट्टकर्म’ निरूपित किया है। यजन-यजन, अज्ञयन-अस्थापन, दान-प्रतिग्रह—वेस्त्रमें यह कर्मका निरूपण है। भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे ब्राह्मणकर्मका प्रतिपादन किया—

क्षमो दमस्तपः शौचं क्षतिस्तराजीवमेव च ।

ज्ञात्वचिक्षनमास्तिवर्यं ब्रह्मकर्म स्त्रभावजम् ॥

(गीता १८।४२)

आधुनिक समयमें ब्राह्मणधर्मका हास दिनोंदिन होता आ रहा है। ‘जात्या ब्राह्मणोऽसि’—कभी यशोनुष्ठानके समय रोपवश कहा जाता था। आज कर्महीन ब्राह्मण अग्निरहित यससे हो रहे हैं, अतः तमाजमें स्थान-स्थानवर तिरस्कृत हो रहे हैं। आधुनिक समाजमें ब्राह्मणके लिये कोई नियत स्थान और कोई नियत वृत्ति नहीं रह गयी है।

ब्राह्मणका जीवन कितना पवित्र होना चाहिये और था। एक प्रसङ्गवश उद्धवने श्रीकृष्णसे प्रश्न किया कि ‘आप जहाँ कहाँ, जब कभी ब्राह्मणोंका पक्षपात क्यों करते रहते हैं?’ सखा उद्धवके मुखसे ऐसा विचित्र प्रश्न सुनकर वै रो पड़े और बोले—‘तुम मेरे सखा होकर ऐसा कहते हो यही मुझे कष्ट है। देखो, ब्राह्मणका सम्पूर्ण जीवन जन्मसे लेकर मृत्यु-पर्यन्त संसारके हितमें लगा रहता है। एक श्रण मी ऐसा नहीं होता जो निष्क्रिय, निष्प्रथोजनहो। ऐसे ‘सर्वसूतहिते रत्’ विषयके उत्कार्यका यदि मैं वर्णन करूँ तो हुम उसे पक्षपात कहते हैं।’ ब्राह्मण मेरा अङ्ग है। उसीसे मैं संसारका संरक्षण करनेमें समर्थ हूँ, अन्यथा संसारकी रक्षा असम्भव हो जाय।

ब्राह्मणस्य तु देहोऽयं षुष्टकामाय नेत्यसे ।

कृच्छ्रव तपसे वैव ग्रेत्यानन्तसुखाय च ॥

ब्राह्मणका इतीर निम्न कायोंके लिये नहीं बनाया गया है—किंतु जन्मसे लेकर धोड़न-संस्कारद्वारा पवित्र होकर ब्रिद्धाका अध्ययन करके, सारत्तत्वको तपके द्वारा तपाकरु संसारके मानवोंको तपश्चूत शम देकरु अनन्त सुख शातकर परमात्मलोग होनेके लिये बना है। ऐसा पवित्र जीवन ब्राह्मणका होता या और होना चाहिये। शरद्वाय्यापर पड़े हुए भीष्म-

पितामहने भी युधिष्ठिरसे सब धर्मोंकी व्याख्या करके सब नीतियोंका वर्णन करते हुए संवारकी रक्षाका भार ब्राह्मणोंके ऊपर ही छोड़ा है। आजके अमांगमें भी हमें पुनीत ब्राह्मणोंके आचरण आलोक प्रदर्शित करते हैं, जिनका अनुसरण करके हम आगे बढ़ सकते हैं। चन्द्रगुप्त-भौदेकालमें परम त्यागी चाणक्यका जीवन आश्रद्धा है। शिवाजीके समय सर्वर्थ समदास हुए; जिनकी कृपासे हिंदुनवकी रक्षा हो सकी। स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है। हस मन्त्रको जन-जनमें फैँकनेवाले लोकमान्य घालगङ्गाधर तिळक; महामना परिषद्वत् मदनसोहन मालवीयवी—इन पुनीत ब्राह्मणोंके कार्य आज भी अनुसरणीय और आचरणीय हैं।

आधुनिक समयमें ब्राह्मणधर्मका पालन तत्त्वारके धारपर चलना है। अब परम-पगापर नवविभित्ति समाजसे प्रताड़ित-उपेष्ठित होकर ब्राह्मण अपने धर्मके आचरणपर बदलपरिवर्त होकर चलेगा, तभी वह अपनिमें तराये हुए स्वर्णके समान प्रदीप होकर आलोक प्रदान कर सकेगा। आज ब्राह्मणोंकी परीक्षाका समय है। वीरुद्धी दत्तात्रीमें जन विश्वामें द्वारा आशा एवं श्रद्धाको नष्टप्राप्त करके आणविक शत्रूके द्वारा मानवताका विनाश किया जा रहा है; तथ ब्राह्मणोंको अपने धर्मके आचरण-द्वारा जन-जनमें वास्त्वा घब्र श्रद्धाको पुनः प्रदीपकर विश्वको विनाशसे बचानेके लिये कठिनद्व द्वे जाना चाहिये।

ब्राह्मण-धर्मके आदर्श

(१)

महापण्डित कैयट

— महाभाष्यके कुप्रसिद्ध तिळकके कर्ता संकृतके उद्भव विद्वान् कैयटजी नगरसे दूर शोणीमें निवास करते थे। घरमें सम्पत्तिके नामपर एक कम्पण्डलु तथा दूटी चटाई थी। वे ब्रह्मचारी या संन्यासी नहीं, गृहस्थ थे; किंतु प्राचीन युगके शृणियोंके समान एहसी, संध्या-पूजा, अध्ययन-अध्यापन तथा ग्रन्थ-लेखनसे उन्हें अचकाश नहीं था।

उनकी पल्ली बनसे मैंज काटकर के आतों, रसी बट्टों और उसे बेचकर जो कुछ मिलता, उससे धरका काम चलाती थी। किसीसे कुछ भी दान न लेनेकी आशा उन्हें उनके परिदेवने दे रखी थी।

काशीके कैयटजीकी प्रशंसा सुनकर कुछ विदार करमीर आये। उन्होंने उनके दर्शन किये। कशमीरेश्वरीले मिलकर उन्होंने कैयटजीके निर्बाहकी व्यवस्थाके लिये कहा तो नरेश बोले—“मैं साहस नहीं कर पाता। आप सब आश्रमन दें कि वे रुद्र होकर राज्यका लाग नहीं करते तो कुछ कर सकता हूँ।”

काशीके ब्राह्मणोंने आश्रमन दिया। राजाने एकोह सूमिका दानपत्र कैयटजीके नाम लिखकर उन ब्राह्मणोंको ही दे दिया। स्वयं छिपकर पीछे गये। जिसकी आशक्षा थी, वही हुआ। दानपत्र देखते ही कैयटजीने उसके इकहै

कर दिये। कम्पण्डलु उठाया; चटाई रमेटकर बगलमें दबायी और पल्लीसे बोले—“यहाँका नरेश अब ब्राह्मणको धरने लोभमें ढालना चाहता है। यह राज्य रहने योग्य नहीं। मेरी पुस्तकें उठा लो और चलो।”



काशीके ब्राह्मणोंने क्षमा माँगी। नरेश आकर चरणोंपर गिर पड़े। हाथ जोड़कर बोले—“प्रत्येके रहनेवाले निदान, तपसी, ब्राह्मण कष्ट न पायें—यह देसना राजा का

कर्तव्य है। मैं यही समझकर कुछ सेवा करना चाहता था।'

कैष्ठजीने चटाई-कमण्डल रख दिया। राजसे बोले—
‘मेरी सबसे बड़ी सेवा यह है कि तुम फिर यहाँ मत आओ।
कोई कर्मचारी यहाँ मत आओ। धन या भूमिका प्रलोभन
मत दो। मेरे अध्ययनमें विज्ञ न पढ़े—वह, इतना
ध्यान रखो।’

—४०

(२)

श्रीरामनाथ तर्क-सिद्धान्त

यह बात ईस्टर्नडिया कग्नीके शासनकालकी है।
अध्ययन समाप्त करके श्रीरामनाथ तर्कसिद्धान्तने नवदीप
नगरके बाहर कुटिया बना ली थी। पलीके साथ वे बृहि-
जीवन व्यतीत करते थे। उनके यहाँ अध्ययन करने आते कि
वहाँ समुद्राय टिका ही रहता था। किसीसे कोई वृत्ति
उन्होंने नहीं ली थी। एक दिन वे विद्यार्थियोंको पढ़ाने जा
रहे थे तो पलीने कहा—‘धरमें केवल मुद्दीभर चाबल है।
भोजन क्या बनेगा?’

पण्डितजी दिना उत्तर दिये चले गये। दोपहरको
भोजन करने आये तो जो भोजन सामने आया, उसे देखकर
पलीसे उन्होंने पूछा—‘भद्रे! यह स्वादिष्ट शाक कित
वस्तुका है?’

पलीने कहा—‘मेरे प्रातः पूछनेपर आपकी हृषि
इमलीके बृक्षकी ओर लठी थी। मैंने उसीके पत्तोंका शाक
बनाया है।’

पण्डितजी निश्चिन्त होकर बोले—‘हमलीके पत्तोंका
इतना स्वादिष्ट शाक होता है तो हम दोनोंके लिये भोजनकी
क्या चिन्ता रही?’

कृष्णनगरके राजा शिवचन्द्र थे। उनकी रानीके पिता
श्रीरामनाथ तर्कसिद्धान्तके पिताके यजमान रहे थे। शिव-
चन्द्रजीको कथनीने जब राजाकी उपाधि दी, तर्कसिद्धान्तकी
पली उनके घर गयी थी। रानीने पूछा उस अत्यन्त सरल
आमीण-जैसी छोकी देखकर—‘तुम किस प्रयोजनसे आयी हो?’

ब्राह्मणीने कहा—‘केवल अनुग्रह करनेके ध्योजनसे;
तुम्हें आदीर्वद देने आयी हूँ।’ आदीर्वद देकर दिना कुछ
लिये वे चली गयी। रानीकी प्रेरणासे राजा शिवचन्द्र हाथीपर
बैठकर तर्कसिद्धान्तजीके यहाँ गये। उन्होंने पूछा—‘आपकी
कोई रमस्या हो, किसी विषयमें अनुप्रति हो तो मैं दूर
करने आया हूँ।’

तर्कसिद्धान्तजी बोले—‘मैंने चाह-चिन्तामणि ग्रन्थ
अमी पूरा किया है। एक समस्या थी अवश्य, किंतु उसको
समाधान लिख दिया गया। अब उसमें कोई अनुपराति
मुझे जान नहीं पढ़ती। आपको कहाँ कोई अनुपराति मिली
सकती?’

यजने कहा—‘मैं तर्कसाम्ब नहीं, गह-निर्वाहके
विषयमें पूछ रहा हूँ।’ पण्डितजी बोले—‘गहकी चात
गहिणी जाने।’

पण्डितजीकी अनुमतिसे राजा कुटियामें गये। वहाँ
उन्होंने पूछा—‘माताजी! कोई अभाव हो तो पूर्तिकी
आज्ञा करें।’ उस निःस्मृत ब्राह्मणीका उत्तर था—‘यहाँ तो कोई
अभाव नहीं है। मेरा वस्त्र फटा नहीं, जलका मटका योद्धा
भी नहीं कूटा, चटाई भी ढीक है।’ किंतु मेरे हाथमें ये
चूड़ियाँ जवतक बनी हैं, तन्त्रक मुझे अभाव कैसा?’

राजा शिवचन्द्रने भूमिपर मस्तक रखकर प्रणाम किया।
वहाँसे लैटे लम्ब दूसरक दै पैदल आये। हाथीपर बैठनेका
साहस उस कुटियाके दर्शन हैं, वहाँतक नहीं हुआ। —५०

ब्राह्मण-धर्म

सत्य वचन हितकर मधुर परिमित, नित स्वाध्याय।
विद्या विनय विचेक-युत शास्त्र-हृदय रत्न-न्याय ॥
शम दम अद्वा त्याग शुचि निरत नित्य शुभ कर्म।
अध्ययन-व्यापन यज्ञन-याजन ब्राह्मण-धर्म ॥

क्षत्रिय-धर्म

(छेषक—पं० श्रीगौरीश्वरजी महानार्थ)

भाजकल साधारण उनमें प्राचीन भारतीय आचारोंके विचारोंके विषयमें एक ऐसा भ्रम कैला हुआ है कि वे विचार सर्वथा परलोकपरम ही हैं—उनमें उपत्यका-पूजा-पाठके अतिरिक्त दूसरे प्रकारकी सामग्रियोंका सर्वथा अभाव-सा है। इहलौकिक विषयोंके साथ उनका कोई विशेष सम्बन्ध है ही नहीं। कोई-स्कोई यह भी कहते हैं कि पूर्णचार्योंके विचार मुख्यतः ब्राह्मणसर्वत्र ही हैं, ब्राह्मणेतर वर्णोंका कोई विशेष स्थान उनमें नहीं है। यह भी देखा जाता है कि प्राचीन भारतीय विचारपद्धतिके साथ जिसका वितान परिचय कम है वही उतनी अधिक टीकानिष्ठायियों भी करता है। वस्तुतः उनकी तदविषयक अज्ञता ही उन्हें वैषा करनेके लिये बाल्य करती है। यदि वे उम विचारोंसे सक्षत् परिचय प्राप्त करें, तो निश्चय ही उनकी जिहा आर्थिकारोंकी निन्दाके खानपर प्रहर्षामें सुखर हो जाती। वर्तमान लेखमें इम क्षत्रियोंके पूर्णचार्योंशेष वर्णविहित कर्म और धर्मके विषयमें संक्षिप्त चर्चा करेंगे जो कि ब्राह्मणेतर वर्णमें ही आते हैं और जिनका कर्म या धर्म पूर्णतया हठलोकपरम ही है या यों कहिये कि सांसारिक हिताहितके साथ ही जो पूर्णतया सम्बन्ध रखता है।

पहले हमें देखना यह है कि आचार्योंने क्षात्रधर्मोंवलभियोंके लिये कौन-कौनसे वर्णविहित कर्म निर्दिष्ट किये हैं ? गीताकारने कहा है—

शौर्यं तेजो धृतिर्दीक्षयं शुद्धे वाप्यपलायनम् ।
दानसीध्रभावश्च क्षत्रयं कर्म स्वभवजम् ॥

(१८ । ४४)

शौर्य, तेज, धृति, दात्य, शुद्धसे अपलायन, दान और प्रभुता—ये सात क्षत्रियोंके स्वभावज कर्म हैं ।

गीताकारकी इस उकिमें ध्यान देनेका विषय यह है कि इन सात कर्मोंमें शौर्य, तेज और शुद्धसे अपलायन—ये तीन प्रायः एकार्थवाचक हैं; क्योंकि जित पुरुषमें शौर्य होगा, उसमें सेजस्तिता भी अवश्यसेव होगी और जिस पुरुषमें शौर्य और तेजस्तिता दोनों वर्तमान हैं, वह कमी भी तुच्छ प्राणोंके भयसे शुद्धसिमुल क्यों होगा ? अतः प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि प्रायः एकार्थवाचक दोन शब्दोंके प्रयोग

करनेकी सार्थकता क्या है, जब कि एकमें ही शब्दोंका अस्तमय हो जा रहा है ! इसक एकमात्र उद्देश्य वही प्रतीत होता है कि वह प्रायः जिसको कि साधारण मानव अपना प्रियवस्तु समझता है, क्षात्रधर्मवलभी स्वदेशके लिये, शब्द-निपातके लिये, शरणागतकी रक्षाके लिये, अधर्मके नाश एवं धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये उसका तृणवत् उत्सर्ग कर दे । वस्तुतः क्षात्रधर्मवलभीका प्राण स्वार्थके लिये नहीं, प्रस्तुत परायनके लिये ही है । यद्यपि इस दृष्टिकी कल्पना भी तो कीजिये कि कहाँ साधारण मानव शरीरसे यदि एक चूंद शोणित अनिच्छासे भी निकल जाव तो उसके लिये इस चूंद ओंसू वहा देता है और कहाँ वह योद्धा जो अपने शरीरसे शधिरकी निर्झरिणी बहाता हुआ भी हँसते-हँसते रणागिनमें अपने प्राणोंकी आहुति चढ़ा देता है ।

शतसाह्लीसंहिता महामारतमें इम धर्मराज युधिष्ठिरको प्रायः यद्य सेद प्रकट करते हुए पाते हैं कि क्षत्रियोंके लिये इससे बहुकर और स्या हुमायं होगा कि प्राणियोंको उनके प्रियवस्तु प्राणोंसे विशिष्ट करना ही उनका वर्णविहित कर्म या धर्म है । इसी हाइकोणसे प्रेरित होकर उन्होंने कहा वार राज्यका त्याग फरवानप्रस्त-जीवन वित्तानेका संकल्प भी ब्लक किया था । वस्तुतः आपात-दृष्टिकोणसे क्षत्रंधर्मकी ऐसी वृत्तिकी सार्थकता समझमें नहीं आती । क्षात्रधर्मके विषयमें इस प्रकारकी सांख्यिकियताका नियकरण करते हुए पितामह भीमजीने महामारसके शान्तिपर्वमें कहा है—

लोहितोद्वां केशशूणां गग्नशैलां ध्वजद्वभासम् ।

महीं करोति शुद्धेषु क्षत्रियो थः स धर्मवित् ॥

(५५ । १८)

जो क्षत्रिय शुद्धके समय शोणितस्त्री जल्से, निहत योद्धाओंके केशस्त्री दृप्तसे, मृत भजाल्पी पर्वतसे तथा भग्न रथोंके ध्वजाल्पी तृक्षोंसे भरतीको परिच्याप्त कर देता है, वही यथार्थमें क्षात्रधर्मवित् या क्षात्रधर्मवलभी है ।

वर्तमान शुगके जो जनगण प्राचीन भारतके आचार्योंको परलोकपरायण और ब्राह्मणसर्वत्रके विशेषणसे विशेषित करते हैं, वे जय सोचें कि वे ही आचार्य पूर्णोंक शोकमें ब्राह्मणोंके लिये नहीं, प्रस्तुत क्षत्रियोंके लिये और परलोककी

महां, अग्रिम हहलोककी समझूमिको ही शब्दुओंगितसे रक्षवर्ण करनेके लिये अनुचालन कर रहे हैं। पूर्वोक्त लोकका भाव-नाममीर्च भी मनन करने चाहय है। कहाँ वर्तमान भारतके राजनीतिक नेतृत्वन्द उच्च मर्जोंसे उच्चतर स्तरमें 'शान्ति, शान्ति' कहकर चीकार कर रहे हैं और कहाँ प्राचीन मारतके 'स्थान-धारणा-प्राणायाम-प्रस्तावाहार-पद्यावण' आचार्य शब्दुओंगितसे भरतीको सीचनेके लिये कम्बुकण्ठसे लिहानाद कर रहे हैं। पता नहाँ, इन हहलोकप्रयाण नेताओंकी हाइ परलोकप्रयाण नेताओंकी उन उक्तियोंके प्रति क्यों नहीं आकृष्ट होती, जिनमें हहलोकके कल्याण-साधनके लिये ही उन्होंने अपनी मनन-चिन्तन-शक्तिका निचोड़ रख दिया है।

महाभारतके वस्त्रवके अन्तमें प्रशोतरीके रूपमें एक बहुत ही चेचक प्रसङ्ग आया है, जिसका नाम है—'श्व-युधिष्ठिर-संवाद'। इसमें मानवजीवनके समस्याजटिल अनेकानेक प्रश्नोंके बहुत ही मुसम्बद्ध और भर्मिक उत्तर दिये गये हैं। इसी प्रसङ्गपर बलने युधिष्ठिरसे प्रश्न किया है कि 'क्षात्रधर्मावलम्बियोंथे देवभाव क्या है और मानुषभाव क्या है?' धर्मराज (कथ) के इस प्रश्नके उत्तरमें धर्मपुत्र युधिष्ठिरने कहा—'इष्टव्यमेषो देवत्वम्' और 'भयं वै मालुचो भावः' अर्थात् क्षात्रधर्मावलम्बीके लिये अश्व-शब्द-विषयक प्राचीय ही देवभाव है और शब्द या सुदूरे भय अर्थात् उनसे पराहमुख होना ही उनका मानुषभाव है।

महाराज युधिष्ठिरका प्रथम उत्तर—'अस्त्रशब्दमें ही क्षात्रधर्मावलम्बीका देवत्व निहित है।—यथार्थतः मननका दावा करता है। जिस एविव देवभावका नाम सुनते ही, हमलोग अद्वारे नतमस्तुक हो जाते हैं, क्षात्रधर्मावलम्बीका वही देवभाव क्या तीरु भनुव, अस्ति गदा, चक्र आदिमें ही निहित है, जिनका काम केवल प्राणियोंको उनके प्रियतम प्राणीये विद्युक करना ही है। अपातदृष्टिये इस तथाकथित देवत्वमें पशुलकी ही गन्ध आती है। वस्तुतः इस तथाकथित देवत्वका रहस्य सम्बवतः यही है कि क्षात्रधर्मावलम्बीको चाहिये कि वह इन अस्त्रशब्दोंका उपयोग अधर्मके विरुद्ध संग्राम कर धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये करें अन्यायके विरुद्ध संग्राम कर अन्यायकी प्रतिष्ठाके लिये करें—हस्तीमें शब्दाल्लिङ्ग देवत्वकी सार्थकता निहित है। उन शब्दाल्लिङ्ग प्रयोग दुष्टोंका निग्रह कर विष्टर अनुग्रह करनेके लिये होना चाहिये। उन शब्दाल्लिङ्गका प्रयोग परियोंको पापते निष्पत्त करनेके

लिये होना चाहिये—उन शब्दाल्लिङ्गका प्रयोग अपराधियोंके उनकी अपराधप्रवृत्तिसे विमुक्त करनेके लिये होना चाहिये। उन शब्दाल्लिङ्गका प्रयोग पृथ्वीको असुर-ताक्षसरहित बनाकर उसके पापभार-हरणके लिये, न कि निरीह प्राणियोंके प्रियतम प्रणोंसे सेव उनके लिये होना चाहिये। वस्तुतः देवत्वमें जो महत्वकी भावना सुम है, उसकी सार्थकता शब्दाल्लिङ्गके समुचित प्रयोगमें ही निहित है।

भारतीय लोकमानसम्पर जिन प्राचीन मारतीय ग्रन्थोंने व्यापकरूपसे प्रभाव डाला है, उनमें निश्चयतः 'श्रीगीताका नाम सर्वाग्रण्य है। गीता अपने आदिकालसे ही भारतीय आर्यततानोंकी पथप्रदर्शिका बनी हुई है। इसका प्रवचन भी क्षात्रधर्मसिमुख अर्जुनको क्षात्रधर्मामुख करनेके लिये ही हुआ थ। अतः क्षात्रधर्मका तत्त्व इसमें पर्याप्त मात्रामें विद्यमान है। हमें देखना यह है कि क्षात्रधर्मके सम्बन्धमें श्रीगीताका मतवाद क्या है। गीताके द्वितीय अध्यायमें निम्न वचन आया है—

धर्म्याद्वि युद्धाच्छेषोऽस्त्रशब्दश्च च विद्यते ॥ (२।३।१)

सुखिनः क्षमित्राः पार्थं लभन्ते युद्धमीदाशम् ॥ (२।३।२)

‘हे अर्जुन ! क्षात्रधर्मावलम्बीके लिये धर्मयुद्धे बढ़कर श्रेष्ठस्तर कोई दूसरी वस्तु नहीं है। धर्मतः और त्यायतः प्राप्य पैतृक राज्याशके लिये यह जो धर्मयुद्ध त्रुम कर रहे हो, भाष्यवान् क्षात्रधर्मावलम्बीगण ही ऐसे युद्धका सुअंवंसर पाते हैं।’

इस वचनमें हम देखते हैं कि ‘युद्ध-शब्दके साथ ‘धर्म’ शब्दका भी प्रयोग किया गया है। प्रश्न वह उत्पन्न होता है कि धर्मयुद्ध है क्या ? इसका संक्षिप्ततम उत्तर यही है कि ‘धर्मके विरुद्ध धर्मकी प्रतिष्ठाके लिये जो युद्ध किया जाता है, उसका नाम ‘धर्मयुद्ध’ है।’ वस्तुतः युद्धका लक्ष्य केवल युद्ध करना या अश्व-शब्दसे करना नहीं है, पूर्वोक्त लक्ष्य ही उसका आदर्श है। दूसरी बात यह कही गयी कि क्षात्रधर्मावलम्बीके लिये युद्धसे बढ़कर श्रेष्ठस्तर और कुछ भी नहीं है। वहाँ भी ‘युद्ध’ शब्दके साथ ‘धर्म-शब्दका’ प्रयोग किया गया है। चूँकि ‘धर्मयुद्ध’ मानव-धर्मका ही एक अक्ष है और धर्मतत्त्वसे बढ़कर मानवजातिकर श्रेष्ठस्तर अन्य कुछ भी नहीं हो सकता, अतः क्षात्रधर्मावलम्बीके लिये धर्मयुद्धसे भी बढ़कर श्रेष्ठस्तर और क्षा हो सकता है। इस वक्तेमान भारतके जो महानुभाव युद्धामात्रकी नीतिका

क्षत्रियोंसे प्रचार कर रहे हैं, उसके विपरीत कहना यह है कि जहाँसक सुद केवल युद्ध करनेके लिये ही किया जाता है, प्राणियोंके प्राणोंका वियोग करनेके लिये ही किया जाता है, अपने अवैध स्वार्थकी पूर्तिके लिये ही किया जाता है; वहाँतक तो सुद सर्वथा तात्पर्य ही है। किन्तु जो सुद अर्थमें और अन्याशके विद्वद् धर्म और स्वार्थकी प्रतिष्ठाके लिये किया जाता है, वह सर्वथा करणीय हो है। वहाँ शान्तिनीतिके साथाकथित उच्चादर्गकी आड़में रहना अज्ञानिको ही कठूल्हा देना है और वह शास्त्रमें अहिंसा नहीं, कायरता है।

जैसे क्षात्रधर्मवलभियोंको लक्ष्यकर आचार्योंने पुनः पुनः यह कहा है कि वे अस्त्र-शाकादिको ही अपने जीवनका सबैस्त समझें, सुदादिसे कदापि परालूसुख न हों, शीर्ष-वीर्यको ही अपना भूषण समझें; ठीक इसके विपरीत जो क्षात्रधर्मवलभी सुदपरालूसुख या शीर्षविभुत हैं, उनकी मिन्दा करनेमें—उन्हें हैर प्रतिपञ्च करनेमें भी आचार्योंकी लेखनी चूकी नहीं। शुक्रनीतिकारने यहे ही कठुनीका शब्दोंसे क्षात्रधर्मविमुख क्षत्रियोंका तिरस्कार किया है—

अधर्मः क्षत्रियस्यैष यच्छत्यामरणं भवेत् ।
विसूचन्दलेभमूत्राणि कृपयं परिदेवयत् ॥
न चृहे सर्वं शस्त्रं क्षत्रियाणां विना रणात् ।
शाखास्त्रे सुनिनिभिन्नः क्षत्रियो धर्मद्विति ॥
अविक्षतेन देहेन प्रलयं धोऽधिगच्छति ।
क्षत्रियो नास्य तत्कर्मं प्रकासन्ति पुराविदः ॥

(४२ अ०)

क्षत्रियके लिये यह एक बहुत बड़ा अधर्म ही है कि वह रोपशब्दापर लेटकर क्लेष्य-मूत्रादिका त्याग करता हुआ और करुण स्वरूप रोता हुआ प्राणोंका त्याग करे। सच कहा जाय तो सुदसूमिके विना धरण पढ़े-पढ़े मना क्षत्रियोंके लिये अपमानजनक है। क्षात्रधर्मवलभीको चाहिये कि वह समराङ्गमें शत्रुवर्गके शास्त्रालोरे छिन्न-मिन्न होता हुआ प्राणोंका उत्तर्य करे। जो क्षात्रधर्मवलभी अक्रत-

शरीर रखकर ही प्राणोंका त्याग करता है, शाश्वतास्त्रण कदापि उसकी प्रशंसा नहीं करते।

सच कहा जाय तो क्षत्रियका जन्म ही समराङ्गमें शौर्य-वीर्य-धर्मदर्शनके लिये हुआ है। क्षत्रियके लिये धर्मके स्वार्थ, मातृभूमिके स्वार्थ, राष्ट्रके स्वार्थ, जातिके स्वार्थके लासने अपना शरीर हुच्छते भी हुच्छ है। सोचनेकी बात यह है कि साधारण मानव जिस शरीरके सुखके लिये आजीवन क्षयाक्षय नहीं करता—न्याय-अन्याय, पाप-पुण्य—धर्म-अधर्ममें भी मेदहस्तिका त्याग कर शरीरको सुख पहुँचानेकी चेष्टा करता है, आखिर उस शरीरकी अन्तिम परिणति क्या होती है। वह शरीर एकनाशक दिन भस्त्रका ढेर बनकर रह जाता है। अर्थात् हमलोग दिन-भ्रतिदिन जीवनकी अन्तिम परिणति एक भस्त्रतूकी ओर आगे बढ़ रहे हैं। अतः जीवनका अन्तिम सत्य यदि भस्त्रमात्र हो, तो कौन न हमलोग स्वार्थके स्थानपर परार्थके लिये—राष्ट्रहस्तिके लिये स्व-स्व पात्रमौतिक शरीरका सूख देकर सूखकी गोदमें घरण लेकर यदा-शरीरसे मृत्युजाग्र बन जायें।

लेखकी समाप्तिके पूर्व यह कह देना हम अपना पवित्र कर्तव्य समझते हैं कि धर्मके लिये, देशके लिये, राष्ट्रके लिये, जातिके लिये, न्यायके लिये, मातृभूमिके लिये जो पुरुष अपने प्राणोंकी अर्पण करता है, उससे बढ़कर महाप्राण और कोई नहीं है। महाप्राण क्षात्रधर्मवलभीवाण प्राणोंकी बाजी लगाकर समराङ्गमें भूसुसे आलिङ्गनकर 'मृत्युज्ञय' कर बातें हैं—सुमधुरतः कृतानके गौरवका अन्त इन्हीं क्षत्रियोंसे टक्काकर हो जाता है। आज भारतवर्षकी वर्तमान संकटपूर्ण परिस्थितिमें देशके प्रत्येक नागरिकके लिये—विदेशकर सवायुक्तोंके लिये—आत्रहुतिका अनुकरण करना अपरिहार्य हो गया है। हमारा चित्त न्यायके प्रति, धर्मके प्रति, भूदूदूर्वागके प्रति, अमहायके प्रति, अरक्षितके प्रति, पीड़ितके प्रति कुतुबत् कोमल होना चाहिये; परंतु इसके विपरीत अन्यायके प्रति, अधर्म आदिके प्रति चड़से भी कठोर कूर और निर्मम होना चाहिये।

क्षत्रियधर्मके आदर्श

भीष्म पितामह

“मुयोधन ! सुद्धमें भागते हुए, शब्दीन, भयाहुरु दूसरेते सुद्धमें लगे, प्राण-नक्षाको प्रार्थना करनेवालेपर भीष्म आश्रित नहीं करेगा ।” कौरवसेनाके प्रथम सेनापति भीष्म बनाये गये थे और उन्होंने सुद्धके प्रारम्भसे पूर्व ही सचित कर दिया—“जी, बल्कि, नपुंसक, मूर्च्छित तथा गौके सम्मुख होनेपर मैं धनुष रख दिया करता हूँ । यह देवन्तका न्र है ।”

संसार जानता था कि देवन्तका न्र टला नहीं करता । इसलिये दुर्योधनके पास त्रुपचाप सुन लेनेके अतिरिक्त कोई उपाय नहीं था । इतना ही नहीं, दूसरे भी अनेक नियम थे भीष्मको लैसे—“जो दिव्यास्त्र नहीं जानते, उनपर दिव्यास्त्रका प्रशोग नहीं किया जायगा ।”

सुद्धमें अर्जुनने पाञ्चालराजके पुत्र शिखण्डीको अपने रथके आगे कर दिया । शिखण्डी पहिले कन्या होकर उत्सम हुआ था, पीछे पुरुष बना था । अतः उसे देखते ही भीष्मने धनुष नीचा कर लिया । शिखण्डीको सामने करके अर्जुन वाण मारते रहे । पितामहका अङ्ग-अङ्ग उन वाणोंसे विद्ध हो गया; किंतु उन्होंने धनुष नहीं उठाया । अन्तमें वे रथसे गिर पड़े । उनका शरीर इस प्रकार वाणोंसे भरा था कि पूरा देह वाणोंपर ही अङ्गका रह गया । वही भीष्मकी शर-च्छ्वा थी ।

सुद्धका वह दशम दिन था । सावंकाल सुद्ध कंद हुआ तो दुर्योधन शब्द-चिकित्सको लेकर पितामहके समीप आया । भीष्मने पूछा—“यह क्यों आया है ?”

“आपकी चिकित्सा करने ।” दुर्योधनने उत्साहपूर्वक कहा । “आपका शरीर इनकी चिकित्सासे पुनः स्वस हो जायगा ।”

“हहें लौडा दो । धनुषसे ढूटा या हाथसे गिरा वाण क्षत्रिय दुत्रारा उठाकर धनुषपर नहीं चढ़ाता ।” पितामहने कहा । क्षत्रीर एक साधन है वाणके समान । क्षत्रिय स्वेच्छासे उत्सपर कोई शल्यक्रिया किसीको नहीं करने देता । उसके देहका स्वर्ण सुद्धमें प्रतिपक्षीका शाख ही कर सकता है ।”

“मुझे तकिया दो ।” शब्द-चिकित्सकने लौटाकर भीष्मने दुर्योधनसे कहा । वहुत कोमल रेतमका तकिया लेकर जब वह आया तो पितामहने उसे फिर शिहक दिया—“मुझे तुम्हें उद्दि कव आयेगी ? यह तकिया क्षत्रिय लगायेगा और इस शश्वापर ? अर्जुन कहाँ है ?”

अर्जुन हुलाये गये । आकर उन्होंने प्रणाम किया । पितामहने कहा—“तकिया चाहिये मुझे ।”

भीष्म पितामहका सम्पूर्ण शरीर वाणोपर पड़ा था । किंतु सिर लटक रहा था; क्योंकि सुद्धमें अर्जुनने उन पूजनीयके मस्तकमें वाण नहीं मारे थे । अब धनुजायने धनुष चढ़ाया और तीन वाण इस प्रकार भीष्मके ललटमें मारे कि वे सिरके दूसरी ओर निकलकर भूमिमें टिक गये । मस्तक उन वाणोंपर उठ गया ।

“पाली !” स्वमान्तः शरीरका रक्त निकलनेपर व्याय लगती है । दुर्योधन स्वर्णपात्र भर लाया; किंतु पितामहके नेत्र अर्जुनकी ओर उठे । शरदाव्यापर रक्त शूर क्षत्रिय-मुकुदयणि न्यय स्वाटपर पड़े रोगीके रमान जल सियेगा ! गाण्डीवधन्वाका धनुष उठा और वाणने भूमिको फोड़ दिया । पूर्णीसे फूटती जलधारा सीधे सुखमें गिरी भीष्मके । उन सुद्धने आशीर्वाद दिया—“त्वकलक्षम हो पुत्र ! तुम ठीक क्षत्रिय हो ।”

क्षत्रिय ही तो क्षत्रियका उचित स्वकार कर सकता था ।

वैश्य-धर्म

[व्यापारमें ईमानदारी]

(लेखक—श्रीअङ्गाकाशगन्धी व्यास)

भारतीय आर्यसंस्कृतिमें चातुर्वर्ष्य-विभागमें वैश्या वृत्तीय वर्ण है। यह समाज-संस्थाके अर्थविभागका अध्यक्ष है। न्यायपूर्वक सभ्यको सबकी आजीचिका देते हुए व्यापार कृषि और पशुपालन आदिके द्वारा अर्थका उपार्जन करना और उसे तीव्रों वर्णोंके भरण-पोषणमें ट्रस्टीकी माँति यथाविधान करके अपने लिये पारिश्रमिकलरूप जीविका-निर्वाहोपयोगी अर्थ ग्रहण करना इसका धर्म है। 'कृषिगोरक्षवृत्ताणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्'। वैश्यवर्ण ही समाजका प्राण है—आत्मा है। वैश्य व्यापारीका बहीखातामें सारा हिसाब-किताब ठीक रहता है और कियादक्षता, व्यापारकुशलता, ईमानदारी द्वारा सत्यका पालन उसके व्यवहारका प्रधान स्वरूप होता है।

'वाणिज्ये वसति लक्ष्मीः' धनप्राप्ति व्यापारसे ही होती है। पास्त्रात्य वाणिज्य-शास्त्रोंके अनुसार व्यापारीमें आठ गुण होने चाहिये। वे गुण इस प्रकार हैं, एन्जी—क्रार्यक्षमता, एकानामी—मित्रव्यविधाता, इन्डीओटी—व्यापारिक एकता, रिस्ट्रम—दंड, सिर्पेयी—सहानुभूति एवं सहमतीलता, चिन्मीयरटी—विश्वासप्राप्तता, ईम्पार्सियलिटी—निष्पक्षता और सेल्फ रिलाइन्स—आत्मविश्वास।

इन सिद्धान्तोंपर आधारित व्यापार इतना सुदृढ़ दर्शा कामग्रद होता है, जिसे कोई हानि नहीं पहुँचा सकता। उसमें कोई विज्ञ नहीं डाल सकता और उसका अस्तित्व सदा यन्मा रहेगा तथ। उसकी सफलता अविरल गतिसे अपने लक्ष्यको प्राप्त करती जायगी। पाश्चात्य वाणिज्यवद्वितीमें कई प्रकारकी खाता-पद्धतें हैं, जैसे जर्नल, लेजर फैशबुक आदि, परंतु पाश्चात्य वाणिज्यवद्विती हमारी भारतीय खाता-पद्धतिके समझ अपूर्णसी छाती है। हमारे ग्राचीन वाणिज्य-विज्ञानके अनुसार भारतीय वाणिज्य सात खातोंमें रखला जाता था। वे खाते इस प्रकार हैं—भू, शुद्ध, ख, मह, जन, तप, सत्य। 'भू' खातेको हम रोजनामचा कहते हैं, 'शुद्ध'-छोटी वही कहलाती है, 'ख'का अर्थ पक्षी रोकड़ है, 'मह'का अर्थ खाता-बही है, 'तप'का अर्थ परिवोचन किया हुआ खाता थानी तल्पट द्रौपद वैलन्स है। 'सत्य' खातेका अर्थ है चिढ़ा, जो लाभमूलि अद्वित करता

है। ग्रन्थीन भारतमें असारी सत्य खाता रखकर सत्यतापूर्ण अपने लापका दूज प्रबिशत बिना राज्यके माँगे राज्यमें जमा करा देता था; क्योंकि वह यह जानता था कि यह विश्व-भूषणानुवन्ध है। जिस प्रकार वे सत्य भारतीय सात-पद्धति हैं, उसी प्रकार विक्षमें सत्य खण्ड हैं, जो भू, शुद्ध, ख, मह, जन, तप और सत्य-लोक कहलते हैं। मनुष्य अपने-अपने कर्मोंके अनुसार हन लोकोंमें पहुँचता है। यमराजका मुनीम चिन्नगुप्त सत्यके साते अपने पास रखता है। इसलिये हमारा व्यापार ईमानदारी और सत्यतापर आधारित रहा है। ईमानदारी ही सर्वशेष नीति है। बिदेशी विद्वान् ईमर्सनका कथन है कि पथार्थता और ईमानदारी दोनों सगी बहनें हैं। पोपका मत है कि 'ईमानदार मनुष्य ईश्वरकी सर्वोत्तम कृति है।' वस्तुतः ईमानदारी मोतीके सहश निर्भल है जो मानवको सुशोभित करती है तथा बैईमानी व्यापारीको कर्ज़क्षित करती है। हम दैनिक जीवनमें यह बेख्ते भी हैं कि जो व्यापारी ईमानदारीसे व्यापार करता है, चीजोंके भाव ठीक रखता है और उसकी दूकानपर बाहे बचा जाय या बढ़ा, उमीको समान कीमतपर सामान देता है, इससे उसकी बिक्री व्यधिक होती है और जो व्यापारी चीजोंके भाव ठीक नहीं रखता अथवा बाजारमालसे भी चीजें मँहगी बेचता है, उसका विश्वास आहकोंके हृदयसे उठ जाता है और उस व्यापारीका व्यापार बंद हो जाता है। एक कद्दावत है कि 'आहक भगवान् है।' वस्तुतः यह सत्य है। आहकको भगवान् मानकर उसके हितकी इच्छाके साथ ईमानदारीसे व्यापार करनेके कारण तुलाधार इतना। ऊँचा महात्मा ब्रह्म गता कि अच्छे-अच्छे योगी उसने सत्सङ्घ करने आते थे और अपने शिष्योंको उस व्यापारीके पास शान प्राप्त करनेके लिये भेजते थे। ईमानदारीसे व्यापार करना ही तुलाधारके मोक्षका कारण बन गया। ईमानदारीके लाभ व्यापार करने, आहकके प्रति आदर-भूषणानुभूति एवं अद्वा रखनेको ही हमारे शास्त्रोंमें भक्ति-मिश्रित कर्मसोग-साधन कहा है।

हमारे विचार व्यवहार और व्यापारमें ईमानदारी हीना व्यक्तिगत गुण होनेके साथ ही यद्यपी गुण भी है। श्री टी०

द्रावुनका बहाना है कि भन्दा ल्यागर ज्ञापीको उमूदियाँ नहीं देनाहा है। वेर्मानी लालों उत्तर करती है कि विषयवाका में यह कहती चलती है। इसके पूर्व कि इन आरको लोभी बनाये जान जानी का कहाये।^३ श्री शीर श्रावनका यह सत् अव्याप्ति कुम्भर है; क्योंकि हमारे देशमें ज्ञापीको देख कहाये हैं जो ऐडुक जन्मका असरदेह है। जिसका अर्थ न्यजन्म याकी उत्तर पुरुष है। नजाबत लोप जैरा आन्दरमा कहते हैं; न्यजन्म भी उन्हें पदचिह्नहर बाजा है। अदोः यह व्यावहारक है कि न्यजन्मको द्वारा ज्ञापारमें इन्मानदारी उत्तरा देय एवं उत्तरको उत्तरार्थेतु न्यजन्मका है। प्रकृतिके प्रतिकूल चलनेवालेको पुरुष कहते हैं। देशमें उकड़कालीन प्रकृतिके प्रतिकूल दौदि न्यजन्म व्यावहार बलेंगे तो क्या के पुरुष कहलानेके अस्तित्वी हैं। क्योंकि देशः काल द्वारा उत्तर न्यजन्मकी प्रकृतिके अनुकूल चलनेवाला पुरुष वही अधोमें प्रमुख बनता है। उपर्युक्त उत्तर न देना; न्यजन्म न्यजन्मकी चौकियोंकी दुःखी न देना; कीनते बहाना; भव तिनां निचबद करना—ये सब काम न्यजन्मको प्रतिकूल ही तो हैं जिससे सर्व-ज्ञानिकाओंमें भयचार असंतुष्ट होते हैं। लेने तिता दिक्षा चलना भी हमारी ज्ञापारमें वेर्मानी है। एवंकाय ज्ञानियोंका कान भी उज्जोप बाजार है। वाहूके इसीमें अविस्तर बहा जाता है। यदि वाहू चरक्षीय कालास्यके उत्तरने जान ठीक नहीं जरूर अधका गम्भे लहाना है तो वह भी राजकीय ज्ञापारमें इन्मानदारी नहीं बता। बद कि इनारी नेतृत्वादि है 'थेगः कर्त्तुं कौशलम्'। कोरी वही है कि अरने कर्त्ता कुछलागेपाजन करता है। उत्तर अधका अविक्षा करन्मन रुपानित है। इन्मानदारीपे ज्ञानर परं काल करनेसे आत्मअभ्युपार्थन आत्मनिनाय तथा आनन्दिष्टकी जायेगी होती है। उत्तरानन्दनें निचकर्ता हुसियोंका कल्पनित मानवायोंका और अद्विकार्योंका निरेष होता है। यही कारण है कि हमारे देशका न्यजन्म 'सल्लनेत जपते' है। यद्युक्तानामें भी एक देश नियता है—

तद च त्रै त्रै त्रै सद त्रै त्रै त्रै त्रै त्रै ।
तद त्रै त्रै त्रै त्रै त्रै त्रै त्रै त्रै त्रै ॥

अस्त्रका लाग करनेगर लस्त्री वही जाती और अस्त्रका निधार सन्तरे उठ जाता है। उस रहता है तो लस्त्री रहती

है। एक उत्तरार्थ है इचका। एक उत्तर देन्ह देवगार्की कि देंहे। चलने उक शूद लग्नावी जन और उकने सदि किरीचानामेंका भाल नहीं निकेन तो उम्मनो मैं उसे लग्नाद देंगा।^४ एक दिन उक अमरी एक दैनेश्वरकी नुस्ति बन जाया। उने किरीने नहीं उत्तीर्ण तो जामको उकने उने न्यर्यद दिन। न्यन्दिनी भव दिन कि इसे आज न न्यर्यदें; क्योंकि दैनेश्वर वही रहता है; वहीं उठ नहीं हो जाता है। यह यहाँ नहीं जाते। वे नोजन करके हो गये। उकने लग्ने जायी और उकने बोली—'यहू! देहे सही दैनेश्वर या यहा है इचके दें जो नहीं है।' यहाँने उने भी जानेकी अज्ञा दे दी। अन्तमे लग उठ और उकने दोबा—तोरे वहीं जाने या यहा है इचकीमें यहीं तहीं यह उकदा। नि भी या यहा है।^५ यद यह उकने उठने उकने उकदा के पैद एडु लिये और कह दिये भवनेकी उत्तराको दिनमेंके लिये ही ही यानेकी उत्तीर्ण तदीं तो मेरी उत्तरा चली जाती। अब आज ही उठे जायेंगे तो नेहा कौन है? उत्तरे उठ सोचा कि पर्याय अनुच उत्तररहै तो वह नहीं गया। उठ उत्तर नहीं गया तब उसकी और उसको मैं उत्तर आना चाहा। अदोः स्वयंदिन है जि उत्तरानामें ही उत्तरी न्यिवाल बहती है।

संक्षेपकी कोई वस्तु हमारे सम्ब नहीं बहेगी। सुष्ठु उत्तरानामें नहीं है वह को मानवके अंदर तो सम निरिह है; उठके सम संग करनेमें है। यही उत्तराना कहलाया है। हमारे उत्तरमें ही हमें सुकि प्रदान करते हैं के जिस हम उत्तरका समाप्त नियन्त्रके लिये करें उठ कि—

नाम निया तुष्ठ ब्रत यमी चाल देड न जाल ।
उठ उक-कुरी मानके कोई न हाथ उठाल ॥

इत्यन्वेष्य उत्तर कीनमी उत्तराना उत्तरी रहा बद्ध नामिने ही है। प्रत्युत्तरानें देशकी राजका शायेल प्रत्येक चालाकीनर होता है। नियोनाः ज्ञानरायंस्य ज्ञानेकी उत्तरा पूर्वक उत्तरापे उत्तरान्त्र धन ही उत्तरी दाक्षि है। अन्तम दुष्टप्रयोग करना, उत्तरतटे ज्ञान सर्व करना छान्नादेही पैदा करता है। उत्तरा देश इनानदारीमें ज्ञानर करो और उत्तरान्त्र धनको उत्तरकल्पागके उत्तरके उत्तरमें कापें उत्तरान्त्रपूर्वक स्वयं करो। इसीमें वैश्वधर्मों गार्यकरता है।

वैश्य-धर्मके आदर्श

तुलाधार

‘मेरे समान तपस्वी तथा ज्ञानी वूगण कोई नहीं है ।’
योगी जाजिलिके मनमें इस गर्वके उद्दमका कारण था ।
इच्छा करते ही समस्त भूगोल, खगोलिका ज्ञान उन्हें
प्रत्यक्षके समान हो रहा था । उन्होंने समुद्र-निवारे स्थिर
लड़े होकर दीर्घकाल तक तप किया था । सर्वी,
गरमी, वर्षी सहन करते, बैबल जायु पीते । वे इस प्रकार
स्थिर, खड़े रहे थे कि पश्चियोंने उन्हें टूट समझकर
उनकी जयमें घोषणा बना लिया और अड़े दे दिये ।
उन अंडोंके भूटनेपर लो शावक निकले, वे वहां पहुँचे और
और उड़ गये ।

‘जाजिल ! तुम्हारा गर्व उचित नहीं है । ऐसा गर्व तो
काशीमें रहनेवाले महात्मा तुलाधार भी नहीं कर सकते ।’
आकाशवाणीने जाजिलिको सावधान किया ।

‘तो तुलाधार मुझसे अधिक बड़े ज्ञानी एवं तपस्वी
हैं ।’ जाजिलिके चित्तमें उन महात्माका दर्शन करनेकी
इच्छा जापत् हुई । वे समुद्र-तटसे चल पड़े ।

‘थाहये ! आपका स्वायत् ।’ तुलाधार अपनी दृकानन्दर
देखे व्यापारमें लगे थे । योगी ब्राह्मण जाजिलिको देखकर
वे उठे, ब्राह्मणको प्रणाम किया, आसन देकर अतिथि-
सत्कार किया । इसके बाद जाजिलिने कितना तप किया
और कैसे उन्हें गर्व हुआ, यह भी यतना दिया । अन्तमें

वोले—‘मैं आपको क्या सेवा करूँ ?’

‘आपको वह ज्ञान कैसे हुआ ? आप क्या साधन
करते हैं ?’ जाजिलिने पूछा ।

‘मैंने केवल अपने वर्णाश्रिमतिहित धर्मका पालन
किया है ।’ तुलाधार वोले—‘अपने वर्ण और आश्रमके
अनुसार अपने कर्तव्यका पालन करते हुए किसीका अहंता
न करना, सभमें भगवान्को देखना, मेरे पास ग्राहकों
सभमें स्वत्र भगवान् प्रधारते हैं, यह सुमत्तम् त्रुपांति
सुविधाका पूरा ज्ञान रखना, उनको ईमानदारोंसे न्याय-
पूर्वक उचित मूल्यपर उनकी उपयोगी बद्ध देना—यह भेद-
नियम है । सबका हित चाहना, अपनी शक्तिके अनुसार
दान करना तथा योगी एवं दुर्जियोंकी सेवा-सहायता
करना—यही मैं धर्म जनता हूँ ।’

स्वपूर्ण जगत् भगवान्का स्वरूप है । मिट्ठी और-
स्वर्णमें बल्हुतः कोई अन्तर नहीं है । इच्छा, देष्ट और
मष्टका स्वाग करके जो अपने कर्तव्यका पालन करता
है, दूसरोंको भयमोत नहीं करता; कष्ट नहीं देता, वही
शानका अधिकारी होता है ।’ तुलाधारने जाजिलिके पूछने-
पर बताया ।

तुलाधारके उपदेशसे जाजिलिका गर्व तथा अशान नहीं
हो गया । वे अपने कर्तव्यके पालनम लग गये । शुभ—

आदर्श वैश्य

देवता लो न्याय-धर्म-समग्र । प्रभुर उपजाता कृषिसे अन्न ॥
पालता पशु उपजाता अर्य । कर्मी करता न प्रमाद-अनर्य ॥
सदृ करता चिचुद्द व्यापार । सत्यका करता नित सत्कार ॥
न लेता एस्थन कर्मी अशुद्द । बहु-ज्ञाता रखता सब छुद्द ॥
ओइता कर्मी नहीं हृसान । विप्र-गो-हित करता नित दून ॥
कर्थपर मान ननिज अधिकार । याँटता बनकर सदा उधार ॥
हिष्पकर नहीं लाभका अंश । राज्यको देता कर दशमांश ॥
राज्य भी करता उसका मान । लूटता कर्मी न बन बैमान ॥
चतुर अमशील कर्ममें दक्ष । लाभ करता पद जर्याच्यक्ष ॥
ब्रह्म-आदर्शन ग्रन्थकी भक्ति । सदा करता जितनी है शक्ति ॥

शूद्र-धर्म

(हेषुक—गोस्यामी पं० अवधनाप्रयत्नमी 'भारती')

आजकल शूद्र नाम लेने मानसे ही यह मान लिया जाता है कि यह धर्म निकृष्ट है। पर यह वास्तवमें लोगोंकी महान् भूल है। जिन लोगोंने वैद-शास्त्रका अध्ययन नहीं किया है, वे ही ऐसा सोचा करते हैं और उन शूद्रजनोंसे धृणा करते हैं। वर्चपि ऐसा करना सर्वदा त्याज्य है।

हमारे शास्त्रोंमें शूद्रोंका धर्म सबोंपरि बतलाया गया है; क्योंकि इनका परम धर्म ही सेवा-कार्य है और सेवा-कार्य ही भगवान्को प्रसन्न करनेका सर्वोन्नतम साधन है। सेवासे प्रत्येक प्राणी इस संसार-वन्धनसे पार हो सकता है।

धर्मराज शुद्धिहिंसके पात्रसूक्ष्यहरमें विभिन्न कार्योंका भार विभिन्न लोगोंको दे दिया गया। उस समय एक कार्य सेवा था आये हुए अतिथियोंका चरण पखारना। श्रीकृष्णने झटसे उठकर कहा—‘यह कार्य मेरे लिये छोड़िये।’ लोगोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। परंतु इसमें आश्चर्यकी कोई वात नहीं; क्योंकि ऐसा करनेवाला शिष्य ही एक दिन गुरु-के पदपर परिलक्षित होता है।

ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैद्य आदि वर्णोंके लिये भी सेवाका विधान है। भगवान् श्रीकृष्णने हसी उद्देश्यको लेकर गीताके १८ वें अध्यायके ४२-४३ तथा ४४ वें श्लोकोंमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैद्य एवं शूद्रोंके लिये पृथक्-पृथक् स्वधर्म-रूप सेवा-कार्योंका प्रतिपादन किया है। पर शूद्र तो चतुर्वर्ण-प्रासादका मूलधार पाशा है। उसके बिना यह इमारत खड़ी ही नहीं रह सकती।

आजकल ग्राम्य यह कहा जाता है कि ब्राह्मण सर्वदा ही शूद्रोंको नीचे गिरानेके प्रयत्नमें रहे, जिससे कि वे अपनी उन्नति न कर सकें। पर ऐसा समझना सर्वथा भ्रम है; क्योंकि शास्त्रोंके अध्ययनसे शत होता है कि स्वधर्म-पालन करना सबसे बढ़कर है। स्वधर्म-पालन करना ही उत्तम गतिका साधन है। यह साधन ब्राह्मणके तप आदि साधनोंकी अपेक्षा शूद्रोंके लिये मुगम है।

चारों सुर्योंमें सुनिधोंने कलियुगको ही सर्वश्रेष्ठ माना है; क्योंकि इस सुर्यमें भगवान्म-कीर्तन करनेमात्रसे ही संसार-सागरसे मुक्ति मिल जाती है। श्रीतुलसीदासजी कहते हैं—

कलियुग सम तुग आन चर्हि जो नर कर निसनास ।

गह शम गुन नन विमल भव तर चिनहि प्रयास ॥

एक बार कुछ सुनि—प्रिंस समयमें योद्धा-ना पुष्प महान् फल देता है और कौन उसका सुगमतादे सुखपूर्वक अनुष्ठान कर सकते हैं? इस प्रश्नको लेकर श्रीव्यासजीके पात्र पहुँचे। व्यासजीने गङ्गाजीमें शोता लगाकर फिर कहा—कलियुग श्रेष्ठ है। शूद्र हम ही श्रेष्ठ हो, हम ही धन्य हो। लियों ही साधु हैं वे ही धन्य हैं।

तदनन्तर व्यासजीने बाहर निकलकर नित्यकर्म किया। फिर सुनिधोंका अभियादन करके उनसे आनेका कारण पूछा। सुनिधोंने कहा, ‘इम एक प्रश्नको लेकर आये थे; परंतु पहले आप वह बतलाइये कि आपने जो कलियुगको, शूद्रों और लियोंको श्रेष्ठ, साधु और धन्य कहा—इसका क्या रहस्य है?’

व्यासजीने हँसते हुए कहा—जो धर्म सत्ययुग, त्रेता-द्वापरमें बहुत समयसे तभा तर, व्यास, पूजनसे प्राप्त होता था, वह कलियुगमें श्रीकृष्णके नाम-कीर्तन मात्र शोड़े-से प्रयत्नसे ही प्राप्त हो जाता है, इसलिये मैं कलियुगसे अति प्रसन्न हूँ। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैद्यको वडे संयमसे रहकर परतन्त्रापूर्वक साधन करनेपर जिन पुष्पलोकोंकी प्राप्ति होती है, वह सहस्रि शूद्रोंको केवल सेवा करनेसे ही प्राप्त हो जाती है। इसलिये वह अन्य जातियोंकी अपेक्षा धन्यतर है और लियों केवल तन-सन-बचनसे परिकी सेवा करके ही ज्ञान गतिको प्राप्त हो जाती है, इसलिये वे साधु हैं। मैंने इसी अभिप्रायसे कलियुग, शूद्र और लियोंको श्रेष्ठ तथा धन्य बतलाया है।

श्रुतियोंने कहा—महामुने। हमें जो कुछ पूछना था, उसका यथार्थ उत्तर तो आपने हमारे इसी प्रश्नके उत्तरमें दे दिया है।

इस प्रकार महर्षि व्यासने शूद्रोंकी महिमा रायी है। अनः शूद्र माझ्योंसे सादर प्रार्थना है कि वे इस स्वर्ण-अवसर-को प्राप्तकर विशेष लाभान्वित हों। क्योंकि स्वधर्म-पालन करनेवाले प्रणियोंके लिये मुक्तिका द्वार सर्वथा मुला है।

गृहलक्ष्मीगृहे गृहे !

(श्रेष्ठ—श्रीश्रीरामनाथजी उपनिषद्)

(१)

प्राचीन एवं अबाचीन—सभी विचारक इस विषयमें एकमत हैं कि लौटमाज सम्भवा एवं संस्कृतिका मेचुदण्ड है। हमारे देशकी कल्पनामें उसको कुछ और भी विशेषता प्राप्त हुई है। भोगके बीच त्याग, तपस्या, समर्पण एवं अचैनाकी प्रतिष्ठाने उसे एक अद्भुत शक्ति एवं भव्यता प्रदान की है। उसे जगदमाका ही स्वरूप माना गया है। दुग्गण-समश्वरीमें कहा गया है कि 'हे जगद्गिविके! जगतमें जितनी भी स्त्रियों हैं—तेरा ही मेह द्वारा ही तेरा ही अंश हैं।' लक्ष्मीके एक सोनामें कवि कहता है—'मैं लक्ष्मी ! दुम घर-नरमें गृहलक्ष्मी-रूपमें प्रतिष्ठित हो।'

यह ठीक है कि हमने बीचके दुमामें शताणियोंके खिलेके प्रति हीन भावना रखी और तदनुकूल आचरण किया है। उसका परिणाम भी भोग है—हमारा सर्वाङ्गीण पतन हुआ है। परंतु हमारी विचारधारामें, हमारे धर्ममें, हमारे ऐष्ट वाहित्यमें सदैव नारी पूज्या, आदरणीया और प्रेमात्मदा रही है। श्रुति-स्मृति-पुराण सेथा गृहसदृशोंमें सर्वत्र हमें उठके प्रति विशेष स्वेह तथा आदरका व्यवहार करनेके आदेश मिलते हैं।

शतपथब्राह्मण (५। २। १। १०) में लौको मनुष्यकी वास्त्राका अद्वैत बताया गया है—

अर्थो ह वा एष वारसनो यज्ञाद्य तस्माद्यवज्ञाद्य न विन्दते नैव तावत् ग्रन्तयते अस्त्रो हि तावद् भवति । अथ यदेव जायरं विन्दते इथ प्रजायते तर्हि हि स्वर्वो भवति ।

'महामारता' कहता है—

छियो यज्ञ च पूज्यन्ते स्मन्ते तत्र वेततः ॥
अद्वैताश्च यत्रैताः सर्वासामाप्ताः ज्ञियाः ।
तदा चैतत् कुर्व नात्मि यदा शोचन्ति ज्ञामयः ॥
ज्ञामयासुनि गैहुनि निकृतानीव कृत्यया ।
तैव भान्ति न वर्वन्ते ज्ञिया हीनानि पार्थिव ॥

(अनु० ४६। ५-६-५)

'जहाँ जियोंका आदर-सम्भार होता है, कहाँ देवता-लोग प्रसन्नतापूर्वक निवास करते हैं तथा जहाँ हमका अनादर होता है, वहाँकी सारी कियाएँ निष्फल हो-

गती हैं। जब कुलकी बहू-बेटियों हुरुत मिलनेके कारण शोकसम्भ होती हैं, तब उसे कुलका नाश हो जाता है। वे खिल होकर जिन घरोंको शाप दे देती हैं, वे कृत्यके द्वारा नष्ट हुएके समान उजाड़ हो जाते हैं। वे श्रीहीन गृह न तो ज्ञेया पाते हैं और न उनकी वृद्धि ही होती है।'

सिर ऊपर देकर कहा गया है—

'स्त्रीप्रत्ययो हि वै धर्मः' (अनु० ४६। १०)
लौ धर्मकी सिद्धिका मूल कारण है। त्यष्ट आदेश है—
जिय पुत्रः छियो नाम सत्कार्यो भूत्विमित्तता ।
परिलिता निगृहीता च श्रीः स्त्री भवति भारत ॥

(अनु० ४६। १५)

भरतनन्दन ! छियाँ ही घरकी लक्ष्मी हैं। उन्नति चाहनेयाले पुरुषको उनका भलीभोति सन्कार करना चाहिये। अपने वशमें रखकर उनका पालन करते से लौ (लक्ष्मी)-स्वरूप बन जाती है।

किंतु भारतीय गृहधर्मके इस परिवेशके अतिरिक्त उसकी महती कल्पनाके पीछे एक और विशिष्टता है। कल्पने से लेकर मातातक सब जीवनके श्रेय-पथपर अग्रसर होती साधनाभूमियाँ हैं, देहमें जो प्राण है और वह प्राण-सत्त्व जिस आत्मात्मिक सत्यको लेकर ठहरा हुआ है, उसे लौ-लौरे पानेकी साधना है। पुरुष इस साधनामें लौका केवल साथी नहीं है—वह और नारी दोनों मिलकर एक नवीन पूर्णताकी सूषित करते हैं। दोनों मिलकर एक हैं—एकत्रिमा हैं। दोनों अविभक्त और अविभाव्य हैं। यह साधनमें जन्म-जन्मनान्तरोंकी साधना है। इसने जीवनके हितिजके उठ पार वहुत दूरतक देखा है और दृश्यके पीछे जो अदृश्य है, मूर्तिके पीछे जो अमूर्त है, उसे देखने और पानेकी चेष्टा की है।

इसीलिये मैं मानता और कहता आया हूँ कि नारी ही हमारी संस्कृतिकी कुंजी है। जवतक वह अभिवास रहेगी, जवतक वह अपने धर्म और कर्तव्यको ठीक-ठीक ग्रहण नहीं करेगी, कोई वारुचिक प्रगति रामव न होगी। वही है हमारी आशा, वही है हमारा सम्बल, वही है

हमारे व्योति । वर-वरमें उसी देवीकीं भाताकीं, समर्पणकीं मूर्ति, व्याघ्रकीं देवीं, ब्रेमास्तदा, करुणामयी, हृदयसे लो चननी है—उसकी प्रतिष्ठा करनी होगी ।

कैसे होगी वह प्रतिष्ठा ? होगी, जब जन्मा सच्ची कन्या, नारी सच्ची नारी तथा माता सच्ची माता बनेगी, स्वरूपका दर्शन करेगी ।

(२)

कल्याण

कल्या है नारी-जीवनका आदि । वह कली है; जिसमें समस्त भविष्य सुकृति है । इस कलीको कल पूर्ण बनना होगा । कली पूर्णका अद्वितीय है; जो वह है, वही फल होता । जीवनमें उसीकी सुप्रसन्नि कैलेगी । इसलिये उसीकी विमर्शपर सब कुछ निर्भर है । यहौंका भविष्य, परिवारेका, चुदा, चमाजकी शान्ति उसीकी मुहीमें है ।

बहुत दिनोंसे कन्या समाजमें उपेतित रही है । पहिले उसकी उपेक्षके कारण सामाजिक परम्पराएँ थीं, जहाँ उसे 'पराशी' चीज़ोंके स्पर्मे ग्रहण किया जाता था । आज बाल दृष्टिसे तो उपेक्षा नहीं है—उनको सामाजिक प्रतिष्ठा प्राप्त हुई है; लड़कियों वार-दुलारके साथ पाली जाती है, शिक्षा भी दी जा रही है; जीवनके अनेक क्षेत्रोंमें वे प्रब्रेश कर रही हैं, कहीं उनके लिये विधि-नियम नहीं हैं । सब सर्व खुल गये हैं और मानव-वित्त चिंगाद हो गया है ।

परंतु वह सब शिक्षा सुखपतः ऐहिक है । इसलिये समाजने जहाँ ऐहिक सुख-सुविधाकी शक्ति उसे प्रदान की है और बाह्यतः उसे विकसित किया है, वहीं अन्तरसे संकुचित किया है । उसमें अपने दुखकी वृत्ति अधिकाधिक बढ़ती गयी है; इसलिये एक भोगवादी, बाहरसे वृद्धिशील परंतु प्राणके उत्तरको सुख देनेवाले परिवेशमें वह सिमट गयी है । आभासिक छात्र-मात्र उसके लिये सब है; किन्तु जिस विन्दुपर प्राणका रस बने एवं निवेदित होनेसे बढ़ता है, अमृत एवं अविनश्वर होता है, वह विन्दु दृष्टिसे छम होता जा रहा है ।

हमने बालकों-चालिकाओंकी शिक्षामें एकखमताकी स्थापना करके गर्वका अनुभव किया, किन्तु निर्गम्भीत सत्योंको हम भूल गये । पुरुष और लौकी मनोरचना, अन्तःप्रवृत्तियों और जीवनके निर्माणमें उनके योग तथा कार्यमें जो अन्तर

है, उसीके अनुषार उनकी शिक्षा-दीड़ा, तीयारी और कार्य-विभाग होने चाहिये । बहुतसे कार्योंमें समानता होगी, कुछमें सहयोग होगा और कुछमें एकल्पता भी होगी; किन्तु दोनोंकी प्रेरणाएँ अलग-अलग स्रोतोंसे उद्भूत होती हैं । इसका ध्यान न रखनेसे कठिनाइर्हों पैदा होती है । लौकी पुरुष बनाना और पुरुषको स्त्री बनाना एक प्राकृतिक अभिकल्पको निरर्थक बना देनेकी चेष्टा है । इसमें शक्तिका अवश्य है, विनियोग नहीं ।

इसलिये एक सीमातक ही लड़कियों-लड़कोंके पाल्यकम एक होने चाहिये । सामाज्य शिक्षणके बाद कन्याको इस प्रकारकी शिक्षा मिलती चाहिये, जिससे उच्चकी प्रचुल्ल प्राकृतिक शक्तियोंका विकास हो; उनसे वो आदा और अपेक्षा है, उसकी पूर्ति है ।

व्यायाहारिक जीवनमें पुरुष सुखपतः जीविका सभा सत्समन्वयी कार्योंका एवं कुरुम्ब, परिवार समाजके गठनका भार उठानेवाला होता है । तो इस जीवनविभ्रहमें ग्राम-प्रतिष्ठा करती है । पुरुष जीवनका उनिक है; नारी उसकी श्री है, सुगमा और सीन्दर्भ है । पुरुष सम्मता है तो नारी संस्कृत है; पुरुष महिला है तो स्त्री हृदय है; पुरुष शान है तो ती भक्तिकी निष्ठा है । नित यह भी एक सामाजिक सत्य है कि कर्तित्य अर्थादेको लोड सुखपतः नारी एक संयुक्त विवाहित जीवन व्यतीत करती है या करना चाहती है । सुखी, विवाहित एवं गृहजीवनकी प्रेरणा और सन्तुष्टि मारीमें और सुखपते कर्ही अधिक होती है । पुरुष बैधना नहीं चाहता; लौ बौधती भी है और बैधती भी है । इसलिये स्वभावतः उसे ऐसी शिक्षाकी भी आवश्यकता है, जो उनके निवेदन और समर्पणकी वृत्तिको विकृति करे, सुमंस्कृत करे—उसे परिवारको खण्डित करनेवाली नहीं, जोड़नेवाली बनाये । वह मालके मनकोंको पिरोनेवाले सज्जके रूपमें हो ।

इसलिये कन्याको एसारी सम्मता एवं संस्कृतिके मूल्य तत्त्वोंसे परिचित करना आवश्यक है । उसे थोड़में दमार दर्शन, शृतिहास तथा धर्म-मूलका ज्ञान दिया जाना चाहिये । उसे उन ग्रामीण महादेवियोंके चरितसे परिचित होना चाहिये, जिन्हें पातिव्रत-धर्मका विकास करके एक नृन आदर्शकी अवतारणा की थी और अपनी साधनासे सामाज्य मानवको मिट्टीसे उठाकर आकाशपर पहुँचा दिया था ।

उसे गृहको सुखवहित और सजाकर रखनेसे, विविध गृह-कलाओं, संगीत तथा प्रकविद्याका अच्छा ज्ञान होना

चाहिये । हस शिक्षाके बाद भी स्वभावकी रचना प्रमुख समस्या है । समूर्ण शोनके होते हुए भी स्वभावकी कट्टता मानव-जीवन तथा गुहजीवनका नाश कर देती है । जो लड़की जिहाकी मिठासमें कट्टताके दंशको पिघला सकती है और मुस्कानकी चाँदनी तोखेपनके अन्वकासपर फैला सकती है, वह जीवनमें अवश्य सफल होती है ।

कन्याका धर्म है कि वह अपने माता-पिता, गुरुजनों-का आज्ञा-पालन एवं सेवा करना सीखे; माई-जहानोंके प्रति प्रेम-स्नेहसे भरी हो । नैकर्नौकरियोंसे, घरकी, पढ़ेसकी समवयस्का लड़कियोंसे नप्रताखुक मधुर व्यवहार करे, सबसे भीठा बोले, किसीका अपमान-तिरस्कार न करे, नित्य प्रातः उठकर बड़ोंको प्रणाम करे छोटोंको आशीर्वचन करे, नित्यकियाओंसे निपटकर गृहदेवता या भगवानका पूजा, अर्चन, अर्पणदि करे और पिर अपने अध्ययन तथा गृहके अन्य कामोंमें लग जाय ।

(३)

नारी-धर्म

यही कन्या कल वही होकर विवाहित होगी, दाम्पत्य-वधनमें बैठेगी, चृष्टलक्ष्मी होगी । एक धरके क्षण, पीदियोंके संस्कार एवं सुख उसपर निर्भर करेगे । नृग्येदमें रुहुरालकी सामाजिके रूपमें उसकी कल्पना की गयी है—‘सत्राङ्गी शक्तुरे भव ।’ अथवैद उसकी महिमाका गान करते हुए कहता है—

यथा सिन्धुर्मन्त्रीनां साम्राज्यं सुषुवे वृषा ।
एवा त्वं सम्मान्येभि भल्युस्तं परेत्य च ॥

(१४ । १ । ४९)

जैसे नदियोंमें सिन्धु, वैसे ही उसके कशशका सम्मान होता था और उसकी आशाका सभी फालन करते थे ।

दाम्पत्यका आरम्भ ही जीवनव्यापी सहकर्मकी प्रतिशक्ति वाद होता है । पारत्कर-गृहसूत्र (१ । ६ । ३) में विवाह-संस्कारके समय पति कहता है—

‘सामाइमस्मि वृक्त्वं शौरहं पृथिवी त्वं ल्वावेहि
विवहावहै, सह रेतौ द्वधवहै, प्रजा ग्रजमयवहै,
मुञ्चन्विन्दावहै बहुद, ते सन्तु जरदृश्यः संप्रियौ,
रोचिष्य, सुसनस्यानौ पश्येम शरदः पालं वीदेम शरदः
शतं शश्याम शशः पालम् ।’

॥ अथोत् मैं साम हूँ, द्वाम अृक्ष हो; मैं आकाश हूँ,
द्वाम पृथिवी हो; हसलोग विवाह करें;
साथ तेजको धारण करें, पुन उत्पत्त और प्राप्त करें;
द्वाम बहुत वर्णोंका जीती रहो; हसलोग व्रेमते आनन्द-
पूर्वक सौ शरद देखें, सौ शरद जियें, सौ शरद भुनें ।

आज श्री-पुरुषका मानस विभक्त होता जा रहा है; जिससे शान्तिके स्वर्ग-स्वरूप यह अभिशप्त हो रहे हैं; उनमें अमृत-हास्यकी जगह कहाह और आह है । परंतु एक दिन ‘व्याप्तिम-धर्मसूत्र’ (२ । ६ । १३ । १६-१७) ने वोषणा की थी—

जायापत्योने विभागे विद्यते ।

‘श्री-पुरुषका विभाग नहो हो सकता ।’

श्री-पुरुषका साहधर्म्य, साहचर्य—यहाँतक कि देकात्म्य-साधना भास्त्रीय दाम्पत्यका आदर्श है । स्वर्ग एवं नरक श्री-की अपनी सहि है । कहा गया है—

आनुकूल्यं हि दृश्यत्योऽस्त्रिवर्द्धयेत्वे ।

अनुकूलं कलन्त्रं चेद् विदिवेन हि कि ततः ॥

प्रतिकूलं कलन्त्रं चेद् नरकेता हि कि ततः ॥

गृहाश्चयः सुखायां य पश्येमूलं हि तस्मुखम् ॥

(१० पृ० २२६ । ३६-३७)

यदि श्री अनुकूल है तो स्वर्गप्राप्तिसे क्षा लाभ है और यदि श्री प्रतिकूल अर्थात् स्वेच्छान्वारिणी है तो नरक खोजनेकी आवश्यकता ही क्षा ।

जहाँतक नारी-धर्मके निलेणकी बात है, हमारे धर्म-मत्थ उससे परिषुर्ण हैं । परंतु महाभास्त्रमें रक्षिष्यां-लक्ष्मी-संवादमें तथा पुनः महेश्वर-पार्वती-संवादमें इसका सुन्दर विवेचन किया गया है । रक्षिष्यांके पूछनेपर लक्ष्मीजी कहती हैं—

प्रकीर्णभाण्डामनवेद्यकरिणी

सदा च भूमैः प्रतिकूलवादिनीम् ।

परत्वं वेदमाभिरतामलक्ष्मा-

मेवंविधां तां परिचर्जयामि ॥

पापामाचेष्टामवलेहिनीं च

स्वपेतरधैर्यां कलद्विष्यां च ।

निवाभिसूतां सततं शापना-

मेवंविधां तां परिचर्जयामि ॥

सत्यासु नित्यं प्रियदशांनासु
सौभाग्ययुक्तासु गुणान्वितासु ।
दसामि तारीषु पतित्रतासु
कल्याणसीलासु विभूषितासु ॥
(महाभारत, अनुशासन १३। ११—१३)

अर्थात् जो वरके वर्तन सुव्यवसित न रख इवरुद्धर
विस्तेरे रहती हैं, सोच-समझकर काम नहीं करतीं चदा
पतिके प्रतिकूल बोलती हैं, दूसरोंके घरोंमें धूमने-फिरनेमें
आसत रहती हैं और लज्जा छोड़ देती हैं उनका मैं त्याग
कर देती हूँ । जो क्लियों निष्ठुरात्पूर्वक पापनाशमें सहय
रहती हैं, अपनिच, चोटोरु धैर्यहीन, कल्पहित्य और नीदमें
बेमुख होकर चदा खाटपर पही रहनेवाली होती हैं, ऐसी
नारीसे मैं चदा दूर रहती हूँ । जो क्लियों सत्यवादिनी और
अपनी सौभाग्य-धूम-धूपाके काणे देखनेमें प्रिय होती हैं, जो
सौभाग्यशालिनी, गुणवती, पतित्रता एवं कल्याणमय आच्चास-
विचासदाली होती हैं वथा जो चदा वज्ञाभूषणोंसे विभूषित
रहती हैं ऐसी क्लियोंमें मैं चदा निचाह करती हूँ ।^१

इसी प्रकार महाभारत, दानधर्मयत्व, अध्याय १४४ में
पर्वतीजी नारी-धर्मका विशद विवेचन करती है—

सुखभावा सुखवाचा सुखसुखा सुखदृश्यना ।
धनव्यचिचा सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी ॥
सा भवेद् धर्मपरमा सा भवेद् धर्मभागिनी ।
देववरु सततं साध्वी या भक्तिं प्रपश्यति ॥
छुश्यां परिचारं च देववद् या करोति च ।
नात्यभावा द्विविमनः सुखता सुखदृश्यना ॥
पुत्रवर्णग्रामिणीभौद्धीं भर्तुवैद्यनसीकरते ।
या साध्वी निशताहारा सा भवेद् धर्मचारिणी ॥
श्रुता इन्पतिधर्मं वै सहधर्मं कृतं श्रुतम् ।
या भवेद् धर्मपरमा नारी भर्तुसमदत्ता ॥
देववरु सततं साध्वी भर्तीरमनुष्ट्रियति ।
दम्भव्योरैष वै धर्मः सहधर्महृतः श्रुतः ॥
(३५—४०)

अर्थात् जिसके स्वप्रवाद, आत्मीत और आचरण उत्तम हों, जिसको देखनेसे पतिको सुख मिलता हो, जो अपने पतिके सिवा दूसरे किसी युरुषमें मन नहीं लगती हो और स्वामीके समझ चदा प्रदत्तमुखी रहती हो, वह जोी धर्मचरण करनेवाली मानी गयी है । जो साध्वी जोी अपने स्वामीको सदा देवतुत्य समझती है, वही धर्यपरायणा देवेद-वही धर्मके फलकी मागिनी होती है । जो पतिकी देवताके समान सेवा

और परिचर्वी करती है, पतिके सिवा दूसरे किसीले हार्दिक प्रेम नहीं करती, कभी नाराज नहीं होती तथा उत्तम त्रिवका पालन करती है; जिसका दर्शन पतिको सुखद जान पहुँता है; जो पुरुषके मुखकी भाँति स्वामीके मुखकी ओर सदा निहारती रहती है तथा जो साध्वी और नियमित आहारका देवन करनेवाली है, वह धर्मचारिणी कही गयी है । पति और पत्नीको एक साथ रहकर धर्मचरण करना चाहिये । इस मङ्गलमय दात्यत्य-धर्मको सुनकर जो ली धर्मपरायण हो जाती है, वह पतिके समान धर्मका पालन करनेवाली (पतित्रता) है । साध्वी जोी सदा अपने पतिकी देवताके समान समझती है । पति और पक्षीका यह सहधर्म परम मङ्गलमय है ।^२

पार्वतीजी आगे और कहती है—

सुश्रूसा परिचारं च देवसुखं धकुर्वती ।
वद्या भावेन सुमनः सुव्रता सुखदृश्यना ।
अनन्यविचित्रा सुमुखी भर्तुः सा धर्मचारिणी ॥
पश्यत्यग्यपि चोक्ता या इष्ट कुर्वेन चकुर्वा ।
सुखसद्भुत्ता भर्तुयां नारी सा पतित्रता ॥
दिर्जं ध्यायितं दीनमध्यता परिकर्षितम् ।
पर्वि पुत्रमिवोपासते सा नारी धर्मभागिनी ॥
या नारी प्रयता दक्षा या नारी पुत्रिणी भवेत् ।
पतिप्रिया पतिप्राणा सा नारी धर्मभागिनी ॥
छुश्यां परिचर्यां च करोत्यदिभवाः सदा ।
सुप्रतीक्षा विनीता च सा नारी धर्मभागिनी ॥
न कामेतु न भोगेतु नैवर्ये न सुखे तथा ।
सृष्टा चत्या यथा पत्न्यै सा नारी धर्मभागिनी ॥
वश्ववश्वर्योः पादौ जोपयन्ती गुणान्विता ।
मताविवृप्ता निर्व्य या नारी सा सपोधना ॥
अल्पान् दुर्बलतायान् दीनान्धकृपणांस्तथा ।
शिर्भृत्यन्नेन या नारी सा पतित्रतमागिनी ॥

(४१-४२, ४४-४७, ५१-५२)

अर्थात् जो अपने हृदयके अनुरागके कारण स्वामीके अधीन रहती है, अपना विच प्रसन्न रखती है, देवताके समान पतिकी सेवा और पार्वती करती है, उत्तम त्रिवका आश्रय लेती है और पतिके लिये सुखदायक सुन्दर वैश धारण किये रहती है; जिसका विच पतिके सिवा और किसी भी और नहीं जाता, पतिके समझ प्रसन्नवदन रहनेवाली वह जोी धर्मचारिणी मानी गयी है । जो स्वामीके कढ़ेर

वचन कहने का दोषपूर्ण हिते देखनेपर मौ प्रत्यक्षताते दुखरती रहती है, वही ली परिक्रमा है। जो नारी अपने दर्शि रोगी, दीन अथवा रातोंकी धक्कावटसे लिज हुए परिकी पुत्रके समान लेवा करती है, वह धर्मक्षलकी भासीनी होती है। ३३ जो स्त्री अपने हृदयको दृढ़ रखती, धृद्यार्थ करनेमें कुशल और पुब्वती हो, परिके प्रेम करती और परिकी ही अनन्द माण तमशती है, वही धर्मक्षल पानेकी अधिकारियी होती है। जो सदा प्रत्यक्षिते परिकी लेवा-शृणुपामें लगी रहती है, परिके लाग पूर्ण विशाल रखती और उठके साथ विनयपूर्ण व्यवहार करती है, वही नारी धनके ऐष फलकी भासीनी होती है। जिसके हृदयमें परिके लिये लेवी चाह होती है, वैसी कामभोग, ऐश्वर्य एवं दुखों के लिये भी नहीं होती; वही ली नारी-धर्मकी भासीनी होती है। जो उचने दुर्योगोंसे दुख होकर उदास सास-सादुरके चरणोंकी सेवामें संतुलन रखती है और मातृसिताके प्रति निष्ठा रखती है, वही तपत्विनी मानी गयी है। जो नारी श्राद्धार्थी, दुर्वाली, अनाथी, दीर्घी, अन्धों और कृपणोंका अवज्ञाता भृण-पोषण करती है, वह पातिव्रत-धर्मके पालनका फल पाती है।

इस उनान्देश्वर-संचाइमें परमाद्य जगन्माताने ली-धर्मकी जो विवेचना की है, उसके बाद कहनेको न्या रह जाता है। आज इष विकासी अवहेलना करतेके कारण ही लक्ष्यका यह निरानन्द अभिशत और विजयित हो रहे हैं। उचन नारी वरका प्राण है। महाभास्त्रमें कहा गया है—

पुत्रपौत्रवृद्ध्युत्त्वैः संकीर्णमिष्टे सर्वतः।

मत्त्वादेवत्वगृहस्थस्य शून्यमेव यहं भवेत्।

अर्थात् परमें पुत्र, पुत्रवृद्ध, पौत्र तथा भृत्य भले ही हों, परंतु लीके विना भर चला मालूम पड़ता है।

फिर (महाभास्त्र ३ । ६१ । २९) में कहते हैं—

न च भार्यासमं किञ्चिद् विवरते भिषजो मत्स्।

क्षौरवर्धं सर्वदुर्लेपु सत्यमेतद् वर्षीसि ते ॥

दुखमें पड़े हुए परिके लिये ली सदते थड़ी और अस्थ है।

इन उच दूजोंमें नारीको परिके प्रेम एवं सेवाने तन्मय होनेका जो आदेश है, उसका अर्थ यह नहीं कि हर हालतमें परि उठते अधिक दुर्योग होता ही है; न इसका अर्थ लीकी हीनता है। इसमें परि एक उच धर्म-साधनाका भाष्यत तथा प्रतीक है। नारीने अपनी तरखाता, निष्ठा एवं सेवासे उसमें

एक महानीय मुष्मानी छुट्ठि की है। भारतीय दामदबकत भाष्याभिक्षक दस्य दो जीवोंके व्यक्तित्व-निमज्जनद्वारा एक अलंजव आत्माका निर्माण है। उसका ऐहिक लक्ष धर्म-अर्थ, कामकी तुष्टि एवं संस्काराद्वारा जानन्दकी प्राप्ति है।

(४)

मातृत्व

मातृत्व नारी-धर्मकी परिणति है। मैंने लघुर कहा है कि भारतीय समाज-नाटनमें प्रत्येक इकाई योग्ये लागको और प्रयाण करती है। नारीमें मातृत्व उसी उपकरणकी पूर्ति है। नारीमें कामनाका नर्तन है, मातृत्व उस कामनाको तमर्पणमें निःशेष कर देनेका आदर्श है। नारीमें ग्रहण है, मातामें लाग है—अपने लिये नहीं, सम्पूर्णतः दूसरोंके लिये जीनेकी चाचना है और किर वह दूसरोंके लिये जीना ही अपने लिये जीना भी है।

मातृत्व एक अवस्था ही नहीं, एक भाव भी है। ल्यों-स्वों नारी अपने अश्वलकी हायतत्त्वे अधिकाधिक प्राणियोंको जीवन तथा शक्ति देती है, ल्यों-स्वों उसमें प्रस्तुत लाकृत्वका विकास होता है। वह निष्ठ मङ्गलमयी, नित्य अज्ञाणी है। वह सतत दानवयी है—रिक्ता होकर भी देखते पूर्ण, जिसकी करणका कोश कभी रिक्त नहीं होता।

यों भी उसरर नवीन जीवनको रचना एवं संबद्धनका भार है। एक असमर्य जीवनको अपनी लातीके दूध, अपनी निष्ठा, तेवासे जगद्दूद्दूषोंके बीच शक्तिका सुलिङ्ग बनाकर उपस्थित कर देनेवे बड़ा और कौन धर्म है।

इसीलिये प्रत्येक यह, प्रत्येक समाज और प्रत्येक जाति-का भविष्य सुनाता औंगर निर्मार करता है। यदि मौ नहीं तो संतति कैसी? ग्रेमसे उत्तेजी-उम्मी, अन्तर्निष्टासे तजनम और उर्बल देकर प्राणीका निर्माण करनेकी अदम्य आकाश—हे उद्घासित माताएं आज इमारी सज्जे बड़ी आवश्यकता हैं, इनारी लिखि भी हैं और इनारी प्रेरणा भी।

आज दूहोंमें अनेकविध कर्तव्योंसे अनुप्रेरित कन्याओं, अनेकानेधि विवेदोंसे परिपूर्ण हितों—दृहिणियोंतथा लम्पूणकों, समर्पित चक्रिलिपियी माताभौकी आवश्यकता है। आज चहन्द्रहमें गहलसिमयोंका आवाहन है; आज चहन्द्रहमें भातृत्वका स्वर रौजनेकी आवश्यकता है। आओ मौ! अनेक ल्योंमें आओ, प्राणरस बनकर आओ, सार्ग बनकर आओ, आदर्श और ग्रेणा बनकर आओ।

सतीधर्म

(लेखिका—रानी श्रीसच्चिन्द्रिकुमारीदीपि दिवदती)

जैसे पुरुषसे रहित प्रकृतिका कोई अहितव श्री नहीं है; इसी प्रकार धर्मपत्नी भी पतिकी छायासात्र है। माता दुर्गाकी स्तुतिमें प्रार्थना है—

पत्नीं मनोरमां दैहि भवोदृत्तादुसारिणीम् ।
तारिणीं दुर्गमसंसारसागरस तुलोद्धवाम् ॥

जिस धर्में पतिपत्नी प्रकृतिसे है, वहाँ सभी सम्बद्धाएँ नित्य रमण करती हैं। इसी देतु हमारी संस्कृतिमें वाहक, बीबी आदि न होकर 'पत्नी'शब्दके पूर्व 'धर्म' शब्द छुड़ा रहता है; उसे धर्मपत्नी कहते हैं। धर्म साथ लग जानेसे पत्नी धासनापूर्तिका साधन न होकर 'तारिणी' दुर्गाईसारसागरस्य' के नाते पतलोकमें भी साथ नहीं छोड़ती। वह लाग तथा विशुद्ध प्रेमकी पराकाष्ठा है।

मात्तमें चूड़ाला, बैवेची, मदालसा, तारा, दुर्गाबती आदि—जैसी अगणित ज्ञानी, ध्यानी, भक्त नारियों तथा बीयाङ्गनाएँ ही यादी हैं, जिन्होंने विषयगामी स्वामियोंको खत्यका मार्ग दिखाया था तथा अपने पवित्र नारी-जीवनको सार्थक किया था।

आर्यरमणियोंने पतिमें पृथक् अपने शरीर आदिके मुख-स्वार्थकी बात कमी नहीं सोची। उनका सर्वत्थ सदा अस्वप्नइसपसे पतिमें समर्पित रहा। ऐसे भी उदाहरण हैं कि चतुपदीके सात पद भी पूर्ण नहीं हो पाये थे कि गौ-मुकिके हैतु श्रीगण्डूजी विकाह-संस्कार अघूण छोड़कर शुद्धके लिये निकल पड़ते हैं तथा वहाँ खेत रह जाते हैं और पत्नी पीछेसे उनकी अनुगमिनी होती है। सगाई हुई कन्याएँ भी भावी पतिके युद्धमें मरण प्राप्त होनेपर उनके साथ सती हो जाती हैं। चित्तौद्धू-में तीन विकाल साके हुए गदक्षमण, विक्रमादित्य तथा उदयसिंहके समयमें। जब क्षमिय बीरोंने ऐसा कि लाखों यज्ञनसेना दुर्गाको चतुर्दिन् घेरे लड़ी हैं, रसद-प्राप्तिका कोई मार्ग नहीं बचा है, तब वे मुझीभर शूर केरुरिया वस्त्र पहिन (येत्यरिया वस्त्र परम दृष्टिके अवसरका घोसक है) बढ़े

बानन्द तथा उल्लासके साथ शकुनेनामें कूद पड़े और बहस्तोकी संख्यामें हिंदू-रमणियों गीत गाती हुई जलती चित्तामें प्रवेश कर गयी। उनके मनमें जरा भी दुःख नहीं था, विनाह भी नहीं; क्योंकि विनाह तो वद ही जब पतिसे विछुड़े। यहाँ तो उनके साथ तब, मनके साथ मन और पतिलोक-प्राप्तिका सत्य संकल्प है। सती अनुसूद्धाके बचन हैं—

पक्ष धर्म एक जल नेपा। काय बचन मन पक्ष पद भेना ॥
उत्तम के धर्म बहु मन माही। सप्तनेहुं आन मुरुप जग नहीं ॥
विनु श्रम नारि परमात्मा लहर । पक्षिनात धर्म छाड़ि दल गहर ॥

अनुसूद्धा कहती है—‘विनु श्रम परमात्मा’ थोड़े अशर्मोंमें कितना रहस्य भरा है। भाव यह है कि पुरुषमें तो कर्तृत्वका अभिमान होता है; उसे मिटानेके लिये उसे अनेकों नपत्ताएं, ब्रह्म-उपवास, तीर्थ-दान-पुण्य आदि कठिन परिश्रम करने पड़ते हैं तब कहाँ सद्गति मिलती है। परंतु लियोंको तो कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता; उन्हें तो केवल इश्वर-स्वरूप पतिके प्रति आत्मसमर्पण, सर्वत्थ निघावर कर देना है। जो कुछ भी स्वाये-पिये, पहने—शट्टार करे, लंदान-गालन करे—सब कार्य केवल पतिके सुखके लिये करे। युद्धको तो इश्वरके साक्षात्कारके पूर्व आस्था कनानी पड़ती है और हम लियोंके भगवान् तो भ्रातृभत्ते ही साक्षात् दिन-नात अपने अरसपरस रहते हैं, उनके अस्तित्वमें संदेहके लिये रचभर भी स्थान नहीं है। न वन सुखाना, न कुछ खोना; यहाँ तो केवल मिलन-ही-मिलन है। विरहमें भी मिलनकी अनुभूति है। बस, उनकी ही जायो। इसीकी सौ भगवान् भी भक्तोंसे अपेक्षा करते हैं। सामीकी सेवामें श्रम कहाँ, वहाँ तो नित्य नव उल्लास है—नित्य नव उत्साह है। नारीके लिये परम गतिकी प्राप्तिका शमरहित साधन कैसा अमोत है। वह कुम दिव कब होगा, जब कोइ विलसे लाभ उठानेकी भावना छोड़ मेरी वहिने अपने स्वरूपको समझेंगी।



युग-धर्मके अनुसार नारी-धर्म

(लेखक—श्रीहरिमोहनद्वालजी श्रीवास्तव, पम्० ५०, पल्-एल० १०, यजू० ३०)

समाजरूपी शरीर

समाजरूपी शरीरका गठन छी और पुरुष दोनोंको लेकर हुआ है और समाजरूपी विराट् शरीरके लिये हाथ-पैर बनकर उत्तम संतोषको उत्पन्न करना उनका अपना लक्ष्य रहा है। परमेश्वरने छी और पुरुषकी सुष्ठि दो स्वतन्त्र प्राणियोंके रूपमें की, जिनका महत्व एक समान है; किंतु सुष्ठिका चक्र चलानेके लिये दोनोंका सामर्ज्जस्य अनिवार्य है। जीव-शास्त्रके अनुसार नर और नारी समूर्ण-रूपसे कभी पृथक् नहीं रह सकते; क्योंकि हनके पृथक् रहनेका तात्पर्य रचनाक्रममें सामर्ज्जस्यका अभाव है और इस अभावसे सुष्ठिका अदित्त भी तो सम्बद्ध नहीं।

नारीके दो रूप

आजकी नारी दो रूपोंमें देखी जा सकती है—
(१) परिवारिक जीवनकी अधिकारीके रूपमें वह अपनी ही सीमाओंमें संथम और संतोषको अपनाकर उत्कर्षकी कामना करती है तथा (२) सुधार और जागरणकी संदेशायाहिकाके रूपमें वह परिवारसे विरक्त रहकर उस कृतियोंताकी आराधना करती है। जो नारी-जीवनके लिये वस्तुतः अभियाप है। हम यह तो स्वीकार करेंगे ही कि नारीने जीवनकी आहुति देकर भी अपने नारीत्व और सामाजिक मर्यादाकी रक्षा की है। वह कथ्य है कि पिछले सब नियमोंने पुरुषको अनेक प्रकारकी छूट देते हुए नारीको जकड़ दिया है; किंतु आज मी पुरुषके हृदयमें नारीके प्रति कोमलताका एक माव है, नियम-वालनमें उसकी क्षमताके लिये अपनेसे भी अधिक अद्भुत है। कुछ अनुच्छासन स्मृतियोग्यारा भले ही लादा गया हो, परंतु भारतीय संस्कृतिका मूल मन्त्र है—

यत्र वार्यसु पूर्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः।

दाम्पत्य-प्रेमकी सफलता

दम्पतिका प्रेम, जो पहलेसे ही इतना कोमल रहा है

कि सनिक शरका उग जानेपर पेसा ढूढ़ जाता है, जिसके छुड़नेकी सम्भावना नहीं रहती, आज कुछ विस्ते ही भाग्यवानोंको अपने समूर्ण रूपमें प्राप्त होता है। बात भी यह है कि आजके मरम्बन ज्ञानावास्तवमें गृहस्तीकी परिस्थितियोंका सामना कर सकना प्रयोक्तका काम नहीं रहा। गृहस्तीमें ऐसी स्थिति आ ही जाता है, जिसके दाम्पत्य-प्रेमकी शृङ्खलामें अवधान उपस्थित हो जाता है। जीवनकी जटिलताके साथ ऐसे अवधानके अवसर भी बहुत हो गये और इसलिये पति-स्त्रीका उचरदायित्व मी विशेष हो गया है। दाम्पत्य-जीवनकी सफलता तो परस्पर विचारमें सामर्ज्जस्य स्थापित करनेकी जेष्ठा और उसमें असफल रहनेपर मी एक दूसरेको निवाह लेनेकी सुविधिमें है। मानव और उसकी परिस्थितियोंको उनके यथार्थ रूपमें समझकर उद्दुसार आचरणका व्यावहारिक ज्ञान जीवनके सभी क्षेत्रोंमें उपयोगी है—फिर गार्हस्थ्य-धर्मके सुखमय सफल निवाहके लिये तो उसका महत्व असंदिग्ध है। जब विवाहका उद्देश्य पारस्परिक सहयोगद्वारा छी-पुरुषकी निजी कमजारियोंको दूर करना है तब वे एक दूसरेकी कमजारियोंको समर्पते हुए उनसे निवाह करने तथा प्रेम, धैर्य, शान्ति और कौशलद्वारा उनका निवारण करनेकी ओर कर्मों न अग्रसर हों।

छी और पुरुष दोनोंके लिये कुछ सच्चे सुखका यह प्रश्न है। अतः दोनोंका ही सम्मिलित प्रयत्न इधर कुछ कर सकता है, परंतु उग्रता अपनावेवाले पुरुषकी अपेक्षा धीरलाके विशेष निकट नारीसे हमें विशेष आशाएँ हैं। भारतीय नारी, जिसका विकास परिवारमें होता है, थोड़ी चतुराईसे ही अपने परिवारका विश्वास जीतनेमें समर्प्य होगी।

प्रेम और विवाह

प्रेम और विवाह—दो ऐसी वस्तुएँ हैं, जो अपने ऊपर आप एक कठोर शासन और सब प्रकारके स्वार्थका आप ही विश्वाल त्याग चाहती हैं; किंतु कुछ भोली लड़कियाँ उल व्यक्तिये, जो उनपर विजय पानेका बड़ा

सौभाग्य प्राप्त कर सका है, अपनी बहुत अधिक पूजाकी आशा रखती हैं और उनकी यह मूर्खता उनके जीवनमें सुखदायी और निराशापूर्ण बना देती है। संसार कैसा हो, इसकी विना बहुत कुछ अपने चेहे-बहोंके लागर छोड़कर उन्हें चाहिये कि वे यह समझें कि रसार क्या है।

आजकी पढ़ी-लिखी स्त्रीकी अधिकतर यह धारणा होती है कि विवाहके उपयन्त उसे अपना स्वतन्त्र अस्तित्व भुलाकर अपने तन और मनका उपयोग भी परिके हच्छानुसार करना पड़ेगा। कुछ प्रगतिशील भारियाँ जी-जातियें स्वभावतः पाये जानेवाले 'मातृत्व'के प्रबल भावका विरोध करती हुई प्रक्रिया और परमात्मासे भी छँटनेको तैयार हो जाती हैं। कुछ तो माता बननेमें अपने जीवन और सौन्दर्यका हासि समझती हैं और कुछकी वह धारणा होती है कि किंतुकी माता बनकर वे असमयमें ही अपनी सुख-शान्ति स्वीकृत हो देंगी।

नौकरीके लिये दौड़

इत मनोवृत्तिको अपनानेवाली अधिकांश लियाँ स्वच्छन्द रहकर स्वयं अपनी जीविका उपार्जित करना श्रेयस्तर समझती हैं और चाहती हैं कि वे अपने स्वास्थ्य और सौन्दर्यको निरसायी बनाये रखें। ये देखनेमें किसी दूसरेरके हाथ अपनी स्वतन्त्रता बेचना उन्हें इष्ट नहीं; पर उनकी यह कामना सदैव रहती है कि वे दूसरोंपर शासन करनेमें समर्थ हों। किंतु संघर्षकी शक्तिके बिना वह सब एक भ्रमजाल ही सिद्ध होता है। विलासिताके वर्तमान बातावरणमें लभावसे दुर्बल वह नारी, जो आजीवन अधिवाहित रहनेका संकल्प करती है, जीवनमें सब समय, सब लियांदियोंमें आचरणकी पक्की नहीं रहती, अथवा रहने नहीं पाती।

धर्मविहित उत्तरदायित्व

ज्यो-ज्यों लियाँ नौकरीकी ओर दौड़ रही हैं, भारतीय सामाजिक जीवनमें उच्छृङ्खला विशेष दिखायी दे रही है। सभी भारियाँ यदा न पैदा करनेकी दृढ़ प्रतिश्वास कर छें, तो संसारकी दिशाति भवनातीव होगी। यथार्थमें लियाँ समाजका अपेक्षाकृत दुर्बल अङ्ग है—वे नितान्य स्वतन्त्र होकर मुरक्कित नहीं रह सकतीं। लोमें यदि कोमलता है, तो पुरुष कठोरताका प्रतीक है। स्त्री और मुख्यका एक दृष्टि है और ऐसा कि दोनोंके साथ रहनेपर ही एक दूसरेकी शोभा है। पति-नली एक दूसरेके पूरक हैं, दोनोंके मिलनेपर एक सम्पूर्ण महालभव

सौन्दर्यका विकास होता है। दोनोंका शारीर परत्वर सुख-प्राप्तिके देख है और यह सुख-प्राप्ति कुछ विशिष्ट निवारणमें वैधकर विशेष अमन्ददायक होती है। अतएव सुवक और सुविधाएँ का जीवन तभी सफल होगा जब वे 'विवाह'का उद्देश्य केवल 'प्रनोविनोद' न समझकर उसके साथके धर्मविहित उत्तरदायित्वके समुचित नियोगके लिये प्रसन्नतापूर्वक अपनी गर्दन छुकायेंगे। दैर्घ्यसे श्रहण किये हुए उत्तरदायित्वके सम्बन्धके निर्वाहिते जो आत्महुमि सम्भव है, वह अन्यथ कहाँ?

ब्रह्मचर्य ही जीवन है

'ब्रह्मचर्य ही जीवन है' का सिद्धान्त उगते हुए शालक-बालिकाओंमें बहुत गहरी नीव देकर प्रतिष्ठित करना सामाजिक कर्तव्यका आहान है। वह एक अकाल्य उक्ति है कि ब्रह्मचारीका जन्म गृहस्थोंके ही श्रमे हुआ करता है। जिस समाजका जीवन जितना उन्नत और पवित्र है, उसमें ब्रह्मचारीके सुन्दर निर्माणकी भी उतनी ही सम्भावना है। कुमार्गंजी और ऐ जानेवाले कुरुचिपूर्ण चाहित्य और अश्वील दृश्योपर कैवल कहने भरका निवाचण न रखकर धार्मिक अथवा नैतिक ग्रन्थोंके पाठ तथा तदनुकूल आचरणको प्रोत्त्वाहन देना समाजका प्रमुख कर्तव्य है।

सौन्दर्य-प्रतियोगिताएँ

जी-जातिके स्वास्थ्य और सौन्दर्यकी रक्काके नामनर भी एक समस्या आ खड़ी हुई है। आश्वर्य सो यह है कि वह पुरुषवर्ग, जो अपना ही स्वास्थ्य ठीक नहीं रख पाता, इस ओर जितेपर उत्तराह रहता हुआ दिज्जाती देता है। जी-जातिका सुन्दर और सुट्टद होना सम्भवताका परमावद्यक अङ्ग है। सिथितिके अनुसार सुन्दरताका आदर्श बदलता रहता है; किंतु उसका सुखल रूप एक है और वह है भनुष्य-जातिकी आकर्षित करनेकी शक्ति। इसी पुरातन रूपको व्यापनमें रखते हुए आधुनिक दुग्धमें संसारके उन्नत देशोंकी लियाँ व्यापास और शृङ्खारहार शरीरके सुगठनके लिये अधिक परिश्रम कर रही हैं। किंतु शृङ्खारकी बीहड़ता तथा सौन्दर्यका अव्याचित प्रदर्शन बहुत जीशोंमें हसे छो-गुरुओंकी विलासिताकी दौड़के रूपमें ही शक्ति करता है और आजकी सम्य कहलानेवाली दुनिया जी-सौन्दर्य-प्रदर्शनकी होइमें लगी है, जो पतनकी निवित सूचना है।

सतीत्व एक उच्च आदर्श

भारतका गौरव वो भारत बने रहनेमें ही है। सतीत्वके

अपने उच्च आदर्शों को व्यानमें रखते हुए नियम और संयमके बन्धनमें बँधे रहकर स्वास्थ्य और सौन्दर्यका चिन्तन करना ही भारतीय महिलाओंके लिये अभीष्ट है। इस प्रकारके शारीरिक व्यायाम और आवश्यक शृङ्खारके द्वारा शरीरके स्वाभाविक सौन्दर्यकी रक्षा और हृदि करते हुए परियों परियोंपर अपना बच्चा अधिकार रखती है; जिससे जीवनवात्रा अधिक सुखमयी होगी।

निष्पर्श

जीवनके प्रत्येक क्षेत्रमें संयमशीलता और नियमबद्धता, सरलता और पवित्रता, कर्मशीलता और चेतनशीलता के उनके

योग्य महत्व देनेसे ही देशकी संतान आरोग्य एवं उच्चता प्राप्त करेगी। तभी मातृत्व और पितृत्वका पूर्ण विकास देखने-को मिलेगा। अपने शरीरके प्रति कर्तव्यका निर्वाह अपने देश और समाजके प्रति कर्तव्यग्रहण है।

X X X

नारी एक जटिल पश्चात् है और उसे चहुत व्यापक। साथ ही युगकी विचारधाराएँ अनेक और अटपटी हैं। तथापि प्राचीन और नवीन संस्कारोंके समुचित सम्बन्धसे युग-धर्मके अनुसार नारी-धर्मका किञ्चित् आभास देना ही इस लेखका विषय है।

भारतीय नर-नारीका सुखमय गृहस्थ

भारतीय नर-नारी दोनोंका घरमें समान अधिकार।
एक दूसरेके पूरक बन फरते विपुल शक्ति-संचार ॥
जैसे ही पहिये गाड़ीके चला रहे गाड़ी अनिष्टार।
त्यों दोनों मिल सदा चलाते ये शृङ्खलका कारोधार ॥
रहते पहिये सक्रिय दोनों जब गाड़ीके दोनों ओर।
चलती तभी सुचारू रूपसे गाड़ी सतत लक्ष्यकी ओर ॥
आगर आँढ़े दें कोई दोनों पहिये कभी एक ही ओर।
चलना रुक जायेगा, गाड़ी पड़ी रहेगी उस ही ऊर ॥
बैले ही नारी सँभालती-करती घरका सार काम।
पुरुष देखता है थाहरका, अर्थार्जनका कार्य तभाम ॥
नारी है, घरकी संश्रान्ति पुरुष वाहरी कार्याधीश।
सेवक-सखा परस्पर दोनों, दोनों ही दोनोंके ईश ॥
है घर एक, तथापि सदा है कर्मक्षेत्र दोनोंके भिन्न।
हैं थदि कर्म विभिन्न न, तो वस, हो जायेग घर उच्छिन्न ॥
खुब निखरता यों दोनोंके मिलनेसे शृङ्खलका रूप।
प्रीति परस्पर बढ़ती, बढ़ता पल-पल सुख सौभाग्य अनूप ॥
दोनों दोनोंको सुख देते, रहते स्व-सुख-कामना-हीन।
स्थार्थ न होनेसे दोनोंका विच न होता कभी मलीन ॥
दोनों दोनोंका ही आदर करते, करते सदृशवहार।
प्रेरित करते दोनों प्रभुकी ओर परस्पर धारंधार ॥

* * * *

जहाँ त्याग है, वहाँ प्रेम है; प्रेम सब ही है सुखधार।
त्याग-प्रेम-सुखमय भारत-नर-नारीका गृहस्थ अभिराम ॥

नारीधर्म और उसके आदर्श

(लेखक—कीरोदत्तलालको चौके, श्री० ८०, की० ८० पट्ट०, साहित्यपर्क)

व्यष्टिका आदित्योत है भरी । नारी सुषिद्धजन्मने पुरुषकी पूरक है । आदिपुरुष एवं नहात्तकी विश्व-उत्तापनके स्रोत हैं । इन्होंने तंसारका आरम्भ कुशा । व्यष्टिजन्मने वरि पुरुषका अंश वीजलयमें रहा तो नारी उर्वरा श्वामला भूके रूपमें रही है । दूजन एवं वृद्धि नारीके प्रभूरुगुण हैं । सम्प्रवतः नारीके हसी गुणसे वह जननी कहलाकर विश्वदन्धु दुर्ब । भास्तीव इतिहासके पृष्ठ नारी-महिमाकी त्वरिण्य प्रदातित्ये अद्वितीय हैं । हमारा चाल कहता है: 'जहाँ नारीकी पूजा—उम्मान होता है; वहाँ देवता रमण करते हैं ।'

देव-सम्मानित यह नारी-रत्न विधिकी अनुपम कृति है । नारी गृहका रत्न है । इसीलिये उसकी तुलना साक्षात् लक्ष्मीसे की शयी है और उसे 'पृथुलक्ष्मी' संशासे विभूषित किया गया है । लक्ष्मीजी धनको देती हैं । सदाचरण करनेवाली वह मिठुरी अरने आदर्श आचारोंसे विद्यादेवी तत्त्वत्वीको भी प्रलून कर देती है । अतः यह आन्तिसदृश बन जाती है । जहाँ सुमति है; वहाँ समर्पित है । जहाँ कुमति है; वहाँ विपति । यथा—

जहाँ सुमति तहैं संपत्ति नाना ।
जहाँ कुमति तहैं विपति निदाना ॥

वीणावादिनीकी अनुकूलतासे लक्ष्मी भी 'सुमति' हैं-दृढ़ते-दृढ़वे उस परिवर्में आ विराजती है । जहाँ उसे 'कलहृष्टी'की जगह 'शालित' मिलती है । अतः ऐसे यहमें सदृशिहिणीके प्रभावसे सरवती और लक्ष्मी—दोनों निदान करती हैं । वही शुणवती 'पृथुलक्ष्मी' नामसे पुकारी जाती है ।

नारीका दूसरा रूप 'पृथिवी' है । यहकार्यको पति-खुतार्थ चतुरतापूर्वक संसारन करना ही यहैंगीत्व है । यहकार्यको उचित रूपमें चला ले जानेवाली चक्रज नारी ही उद्घटिती है ।

नारीका महत्त्वपूर्ण स्वरूप 'जननी' है । नारीका वह रूप अत्यन्त आदर्शीय, व्यापक एवं महान् है । जननकी महत् कियाके कारण ही वह जननी कहलायी । ममता इंसका प्राण है । दूजनकी वह चर्कि 'मातृ', 'माता' या 'माँ'-नामोंसे सम्बोधित है । ममता नारीका कोगल भूषण है ।

नारीका द्वितीय महत्त्वपूर्ण रूप 'पत्नी' है । अपने

स्वामीकी अनुगमिनी, यहस्तीके उत्तरदायित्वको बैटानेवाली यह नारी अद्वितीयी कहलती है । अपनी सेषासे पतिके आवे अङ्गपर अधिकार कर लेनेवाली ही अद्वितीयी है । पत्नीरूपमें नारी विलास-कीड़ा-सहचरी न रहकर विशुद्ध प्रेम-की प्रतीक है । पति ही उसका उर्वस्त्र है । ऐसी पति-परवणा नारी ही प्रतिब्रिद्धि कहलाती है । भूषुर मात्रमें यही कान्ता है । नारीका यह विशुद्ध रूप ही उसका नारीत है ।

भगिनी नारी-धर्मकी दूतीय धारा है । मार्दके साथ लहोद्रवा (सह + उद्र=एक ही कोखसे जन्म लेनेवाली) होनेके कारण स्नेह नारीका महत् गुण है । भाईके प्रति स्नेहकी चरिता वहानेवाली नानी ही है । कन्या इसकी दैशवास्त्व है एवं तरणी इसकी परिपत्ति, प्रौढ़ा सत्त्व एवं वृद्धा अन्त अवस्था है । कौद्वित्रिका हाटिते और भी उपमेद किये जा सकते हैं, किन्तु वे अधिक नहस्तपूर्ण सर्वी । विभिन्न दृष्टियोंसे नारीके भेदोंभेदोंकी किंचित् चर्चाके पश्चात् अब नारीके धर्म एवं उसके आश्वारोंकी चर्चा कर ली जाय ।

नारीका सर्व-प्रचलित रूप पत्नी है । अतः सर्वग्रथम इसीपर विचार करें । सास्तीव इतिहास प्रतिव्रत्यकी अनुनीत धर्मवज्ञा धारण करनेवाली नारियोंकी प्रदातित्यें परिपूर्ण हैं । सीता, अनसूया एवं काविनी ऐसी ही देवियाँ हैं, जिन्होंने अपने नारी-धर्मके कारण अमर रूपात्मि प्राप्त की ।

प्रतिव्रत्य-धर्म पत्नीरूपमें स्थित नारीका प्राण—आत्मा है । अतः नारीका सबसे बड़ा धर्म प्रतिव्रत्य ही है । इसके पठन एवं निर्वहनके पश्चात् ही वह अपना आदर्श विश्वमें उपर्युक्त कर सकती है ।

प्रतिव्रत्य-धर्म क्या है और जगत्से पतिव्रताएँ किन्तु श्रुकर्त्तकी होती हैं—इसका वर्णन स्वयं अनसूयाजीमें सुनिषें, जो उन्होंने भगवती सीताजीके माध्यमसे संसारकी नारियोंको उपदेश देनेके हेतु सुनाया—

५४४
जग पतिव्रता चारि विधि अहर्ही ।
केव पुरान संत रुच कहर्ही ॥

(१) उत्तम के अनु वस नन मही ।

सम्पन्दु आन पुरु वर नाही ॥

- (२) मध्यम पर पति देख छैसे ।
आता पिता पुत्र निज जैसे ॥
- (३) धर्म विचारि सुनिश्च कुछ रहई ।
सो निष्ठा विष क्षुति अस कहई ॥
- (४) जिनु अवसर भय ते रह जौई ।
जानेहु अधम नपि जग सोई ॥

उत्तम, मध्यम, निकृष्ट एवं अधम—ये चार प्रकारकी नारियाँ चतायी गयी हैं। उत्तम स्त्रियों भी परपुरुषकी कल्पना नहीं करती। मध्यम, अपने पतिके अतिरिक्त अन्य सभी पुरुषोंको—शङ्कोंको पितामुख्य, सम-वयस्तोंको माई-तुल्य एवं छोटोंको पुत्र-तुल्य—देखती है। निकृष्ट प्रकारकी पतिव्रता धर्मका विचार करके ही कुल-मर्यादा नहीं तोडती। अधम प्रकारकी लड़ी सो भयवशात् ही अपने धर्मपर चलती है। यीता, अस्त्रया एवं सावित्री प्रथम कोटिकी पतिव्रताएँ हैं, जिन्होंने अपने प्रबल सतोत्सके कारण जगत्में ख्याति प्राप्त की। सावित्रीने अपने मृतपति सत्यवानको अपने पाति-ब्रह्म-धर्मके प्रतापसे ही पुनर्जीवितकर ज्ञापद पाया। यह है नारीधर्मकी महत्ता, जिसके सामने यमराज भी झुक गये। महात्मी अनसूया के प्रतापके कारण ही त्रिवि, ब्रह्मा एवं विष्णु विश्वलयमें परिणत है शये और वे अपने धर्मकी रक्षा करते हुए उन्हें दुर्घटन करए सकीं तथा भारतीय लक्ष्मी एवं ब्रह्मणीके समक्ष अपनी परीक्षा दे सकीं। अतः नारी-धर्मकी परीक्षा कम कठोर नहीं। धर्मसे कभी न दिग्नेद्याली नारी ही सच्ची पतिव्रता है।

नारीका उत्तम आदर्श रसमेद्याली 'स्त्रीता' है, जिन्होंने अपने पतिके साथ चौदह वर्षोंका घेर संकट लहनेके बाद भी कभी आहतक न की। उनका परम मुख्य उत्सीमें था, जिसमें पतिका सुख हो। अतः नारीका धर्म पतिका अनुगमन करना है। यह है हमारा उनात्म धर्म और हमारे पूज्य नारीस्त्रियोंकी गैरेवमयी गाथा, जिसने विश्वकी समस्त नारियोंको प्रकाश दिया।

इन महान् नारी-आदर्शोंकी संस्कृत व्याख्याके पश्चात् नारीधर्मकी मीमांसा कर लेना युक्ति-संगत होगा। सामनेके कान्तिपथ स्थल नारीधर्मके वारुणानेंके परिपूर्ण हैं। अतः मानससे उद्याहरण लेना श्रेष्ठकर होगा।

नारीका परम धर्म क्या है?

नारी जन्म-जाग अपवित्र मानी गयी है। इतना ही नहीं,

कुछ महापुरुषोंने तो नारीको नरकफा ध्वात्तक यताया है। पर वह एक संन्यासीके लिये उचित हो सकता है, साधारण सोवारिको लिये वह अत्युक्ति होगी। धार्मिक ग्रन्थोंमें भी नारीको अपादन अवश्य माना गया है—

नारि सुभाऊ सत्य करि कहही। अमरुन आठ सदा उठ रहही। सहस अनृत चक्षता भाग। भय अविवेक असैच अदामा॥

—ये आठ अवगुण नारीमें जन्मजात हैं। तो कब होगी यह अपादन नारी पवित्र ॥ जब कि वह पतिकी ऐवा करनेका सुखत करे—

सहज अपादन नारि, पति सेवत सुम गति लहू।
जसु गावत खुति जारि, अनहुं तुलसिका हरिहि रिय ॥

पति कौसा भी हो, नारीके लिये सेव्य है—

बूढ़ ऐग बस जह चन हीना। अंब बौंचर कोडी अतिरीना ॥
नारीका सर्वतोमुखी धर्म तो केवल एक ही है—

एक ह धर्म एक ब्रत नेमा । कर्म चक्षन मन चति फू ब्रेमा ॥

सास और ससुरके प्रति वधुका धर्म

एहि ते अधिक चरमु नहि दूजा। सादर सालु ससुर फू फूजा ॥

सास-ससुरकी चरणसेव करना—वधूलयमें नारीका थही भेड़ धर्म है। सास-ससुरके प्रति वधुका आदरभाव होना चाहिये। देखिये सीताजीके पवित्र विनयपूर्ण भाव—

सास ससुर सन मोरि हृति विनय करवि परि पाँ ।
मोर सोच जानि करिश कङ्ग मैं बन सुखौ सुखाँ ॥

गुरुजनोंके सामने पतिसे सीधे बात न करनेकी मर्यादा तीताके चरित्रमें देखिये—श्रीराम पत्नीको जहाँ सास-ससुरकी ऐवा करनेकी सीख देते हैं, वहाँ सीता इसे स्वीकार सो करती है, किंतु पतिसेवा करना इससे मी बहा धर्म मानती है। मातु-तुल्य सास कौसल्याजी सामने विराजित हैं। अतः मर्यादा निवाहना आवश्यक है। इसलिये पतिकी सीखकर उत्तर पतिको न देकर किन मीठे शब्दोंमें अपनी सास श्रीकौसल्या-जीको देती हैं—

सागि सातु भग कह कर जौरी । छमवि देवि बहि अविनय मोरी ॥

शोल्नेके फहले भी साससे क्षमा मायना और उनके पैर पङ्कना; पतिसे प्रत्यक्षमें बात न करना—किननी मर्यादा है सीताके चरित्रमें। यही तो-भारतीय नारीधर्मका आदर्श है।

धर्म-संकटके समय शुद्धजनोंसे वात करना भी पड़े तो
पहले क्षमा माँग लेना उचित होता है । देखिये, सुमंतसे
वार्ता करते समय सीता क्या अहती है—

तुम्ह ऐसु संसुर सरिस छितकारी । उत्थ दें फिरि अनुचित भारी ॥

आरति वस सन्मुख महँ, बिनु न मानव तात ।

अतः स्पष्ट हुआ कि संकटकालीन स्थितिमें गुरुजनोंसे
क्षमा माँगकर (किंतु पर्दा करते हुए) वधू वात कर सकती
है । संकटकालीन स्थितिमें परपुरुषसे वात करनेका मर्यादित
दंग सीता-रावण-प्रसङ्गमें देखिये ।

रावण वारनार धाग्रह करता है सीतासे अपनी ओर
बेखेनका; किंतु नारीधर्मकी मर्यादाकी प्रतिमूर्ति सीता किस
दंगसे वात करती है, देखिये—

तुम धरि ओट कहति भैदही । सुनिरि अवधपति परम त्वेही ॥

पतिके प्रति नारीका धर्म

लीके लिये तो परि ही चब कुछ है । कुदुम्ही लोग
प्रिय हैं, किंतु पलीका नाता इनसे पतिके नातेको लेकर ही
है । यथा—

मत्तु पिता भैरिनी प्रिय भाई । प्रिय परिकाल सुहृद समुदाई ॥
सास संसुर गुर सजन सहाई । सुत सुंदर सुसील सुखदाई ॥
जहैं कुमि नाथ नेह थस नाते । पिता विनु तिमहि तरनिन्हुवे तते ॥

पतिका सुख ही नारीका सुख है । विना पतिके
सुख कहाँ ॥—

प्राननाश तुम्ह विनु जग माही । मो कहुं सुखद करहुं कहु नाही ॥

विना पतिके नारी ऐसी है, जैसे विना पानीके नदी और
विना प्राणकी देह—

जिय विनु देह नदी विनु वारी । तैसेब नाथ पुरुष विनु नारी ॥

कठिन विपत्तिके समय ही नारीके धर्मकी परीक्षा
होती है—

वीरज धर्म शिव अह नारी । आपद काल परमिति चारी ॥

कितनी नारियों हैं ऐसी जगतमें, जो पतिको सुखमें सुख
और दुःखमें दुःखकी अनुभूति करती हैं ।

सासरहपमें वधूके प्रति नारीका धर्म

कौसल्याजीका अपनी पुत्रवधूके प्रति अपने धर्मका
पालन और प्रेम-मावना देखिये—

मैं पुनि पुत्र वधू शिव पाई । वृण राति गुन सील सुहाई ॥
नयन पुतरि करि ग्रीति बढ़ाई । राक्षिड़ ग्रान जानकिदि लई ॥

जहाँ पुत्रवधूका धर्म सास-समुद्रकी सेवा करना है, वहाँ
सासका धर्म भी यह हो जाता है कि वह वधूको अपनी
वेटीसे बढ़कर समझे । आज हम देखते हैं कि सास-वधूका
मनमुदाय यह-नुखका कारण होता है । वहू माँसे पुत्र छीन
लेती है और उम्ही छुड़माको पृथक् कर देती है तो दूसरी
ओर सास वधूको भौति-भौतिकी यातनाएँ दे उसे संचल्त
करती रहती है । क्या ही अच्छा हो कि सास और वधूएँ
कौसल्या और सीतासे परस्परके वर्तावकी शिथा लें ।

नारीका व्यक्तित्व जितना महान् है, उतना ही उसका
धर्म भी महान् है । नारी-धर्म पालन करनेवाली नारी ही
अपने जीवनमें निसार ला सकती है । पतिके प्रति अद्वा,
स्वजनोंके प्रति प्रेम, पुत्रके प्रति स्नेह, अतिथिके प्रति
विनश्च्रता और सत्कार मिलो और पढ़ोत्तियोंके प्रति सदृश्य-
हर—ये सभी नारी-धर्मके अत्तर्गत आते हैं । इनसे विमुख
नारी नहीं हो सकती । आज पक्षिमकी हवाने भारतीय नारी-
संस्कृतिको कम आधात नहीं लगा है; किंतु भारतीय नारीकी
ये धर्म-परम्पराएँ इतनी गहन और महान् हैं कि इनकी नींव
अभी नहीं हिल पायी है । नारी पुरुषसे प्रतिसर्धा करनेवाली
नहीं वरं उसकी सहचरी है, यह कम-से-कम मारतीय नारियोंकी
महीं भूलना चाहिये । धर्म नारीका प्राण है । इसके विना नारीका नारीत्व शून्य है ।

(२)

(लेखक—शाहित्यवाचसंवित् ष० श्रीगुरुरामायजी शर्मा श्रेष्ठिय)

आये दिन सभ्य संसारमें ऐसी शङ्काएँ प्रायः उठती रहती हैं कि नर और नारी जब एक ही स्थितिकर्ता जगदीश्वरकी
संतान हैं, एक ही आत्मा दोनोंके अध्यन्तर बयात है, फिर दोनोंके अधिकार तथा धर्म पृथक्-पृथक् हों—ऐसा
क्यों? इसी शङ्कापर कुछ विचार यहाँ किया जाता है ।

अवश्य ही ली और पुरुष दोनोंमें एक ही आत्मा
विद्यमान है, किंतु दोनोंकी प्रकृति सर्वथा भिन्न-भिन्न है ।
जिस तरह स्त्यूल जगतमें भी मातृशक्तिके आधिकार से कल्पा
उत्पन्न होती है और पितृशक्ति अधिक होनेपर पुत्र देवा होता
है तो उसी तरह आदित्यहिमे भी जब प्रकृति-पुरुषके

तयोगसे जगत्‌की उपति हुई, तथ एक प्रकृतिकी शक्तिको अधिक लेकर नारी-धरा चली और दूसरी पुरुष किंवा परमात्माकी शक्तिको अधिक लेकर पुरुष-धरा चली। जो जीव नारी-धरामें आथा वह चौरासी लाल योनियोंतक नारी-जीव बनता-बनता अन्तमें मनुष्य-योनिमें आकर छी ही बना और जो जीव पुरुषधरामें आथा, वह चौरासी लक्ष योनितक पुरुष जीव बनता-बनता अन्तमें मनुष्य-योनिमें आकर पुरुष ही बन गया। प्रायः ऐसा ही नियम है। इसका शाप, वरदान या अन्य विशेष कारणवश अपवाद भी होता है। उमय (स्त्री-पुरुष) यक्षियोंकी समानता होनेसे सुष्टि नहीं चल सकती; क्योंकि विषमता ही सुष्टिका कारण है और समता लक्षका कारण है। यही कारण है कि स्थूल जगत्‌में भी पिण्डात्मि तथा मातृत्वाकि अर्थात् रजोवीर्य-शक्ति-के वराद-वराद होनेसे प्रायः नपुंसक संतान उत्पन्न होती है, जिससे अगेकी सुष्टि नहीं चलती। अतः प्रमाणित हुआ कि स्त्री और पुरुष दोनोंमें आत्मा एक होनेपर भी प्रकृति विभक्ति होती है और इसी कारणसे दोनोंके अवश्यकोंमें और धर्म तथा अधिकारमें विभिन्नता है। पुरुषमें पुरुष-शक्तिकी प्रधानता और नारीमें प्रकृति-शक्तिकी प्रधानता होती है। यथा देवीभागवतमें—

सर्वाः प्रकृतिरप्यूता उत्तमाधर्मभ्यमः।
कलोशांशसमुद्भूताः प्रतिविक्षेषु योपितः॥

उत्तम, मत्यम, अधम—सभी प्रकारकी जियों प्रकृतिके अन्दसे ही उत्पन्न होती हैं। प्रत्येक विश्वमें सभी जियों उन्होंके कलांशसे बनी हैं। अतः सृष्टिके स्वभावानुसार ही पुरुषमें परमपुरुष-वक्तिका प्राधान्य और नारीमें प्रकृति-शक्तिका प्राधान्य होता है। जब प्रकृति अलग-अलग है, तथ धर्म और अधिकार भी अलग-अलग अवश्य ही होगा; क्योंकि प्रकृतिके अनुकूल ही धर्म तथा अधिकार होते हैं। यही कारण है कि अर्योंखामें नारीका धर्म तथा अधिकार पुरुषके धर्म और अधिकारके विभिन्न प्रकारका बनाया गया है।

मानव-जीवनका लक्ष्य वास्तवमें भावधारिया या सुकृति है। यह सुकृति परमात्मामें लब्धीन हुए निना नहीं मिलती। इस कारण सुकृतिके लिये स्त्री-पुरुष दोनोंको ही साधनाके द्वारा परमात्मामें लक्ष्य होना आवश्यक है। पुरुषमें तो परम पुरुष परमात्माकी शक्ति अधिक ही है, अतः सुकृति-त्वाभार्य

उसका इतना ही कर्तव्य होता है कि वह पैतानेशाली माया या प्रकृतिको छोड़कर अपने भीतर जो परमात्माकी अधिक सत्ता है, उसे पहचान ले कि—‘शहं यज्ञासि’ मैं ब्रह्म हूँ; किंतु जीके भीतर तो ऐसा नहीं है। उसमें कैसानेबाली माया या प्रकृतिकी सत्ता अधिक है; वहिक जी उसकी अंशरूपिणी है। इसलिये वह ध्यनी सत्ताको कहाँ छोड़ेगी! वह अपनी सत्ताको छोड़ नहीं सकती, किंतु पुरुषकी सत्तामें हृत्या सकती है। इस कारण अपनी जी-सत्ताको पुरुष-सत्ता या पति-सत्तामें हुओ देना ही जीका धर्म है और इसीको पातिव्रत्य-धर्म कहते हैं। जो जी ध्यनी सत्ताको मैत्री, गार्भी आदिकी तरह यक वार ही परम पति परमात्मामें लक कर सकती है, वह ‘ब्रह्मदादिनी’ कहलाती है। ब्रह्मदादिनी जियों रजवल्ल नहीं होती, फलतः उनमें कामदिकाम नहीं होता। अन्यान्य जियों अपने पतिको ही भगवान्का रूप समझकर उन्होंमें सीता, सावित्री आदिकी तरह अपने मन-प्राणको तल्लीन बर बैठती हैं और वही उनके लिये स्वामिक तथा सहज सरल साभन है। इसी कारण आर्योंखामें पातिव्रत्य-धर्मका इतना गौरव तथा जीजातिके मोक्षके लिये इसे एकमात्र धर्म बताया गया है। यथा मनुसंहितामें—

नास्ति जीर्णा पृथग् थज्ञो न ग्रन्तं वान्मुण्डपणम्।

पति शुद्धपते येन तेन सर्वे महीयते॥

(५। १५५)

अर्थात् जियोंके लिये अल्प न यश है, न बत है, न उपवास है—केवल पतियेकाके प्राप्त ही उनको उत्तम गति उपलब्ध होती है। यही धर्मशास्त्रवर्णित पातिव्रत्य या रक्षी-धर्मका रहस्य है। सतीधर्मके इस रहस्यको संसारकी सब जातियोंने पूर्णरूपेण नहीं समझा है। जित जातिकी आचार्यिक खितिका उच्चयन जिताना अधिक हो पाता है, यह जाति इस रहस्यको उतना ही अधिक समझ पाती है। आर्यजातिके महर्षियोंने इस जातिका लक्ष्य आत्म-नन्दकी प्राप्ति तथा मोक्ष-सिद्धि ही रखा था। इस कारण आर्यजातिके धर्मसिद्धान्तानुसार स्थूल-इन्द्रियोंका विषय-मोग जीवनका चरम उद्देश्य नहीं है; किंतु विषय-हृत्याको ब्रूर करके परमात्माके आनन्दमें लीन होना ही चरमोद्देश्य है। अतः त्वागमय सती-धर्मका गौरव भी यही परमात्मापर पहुँचा हुआ है।

आर्यनारी अपने शरीरको पतिदेवताके सुख-अर्द्धनकी सांसारी समझती है और जिस प्रकार भक्तलोग देशताकी

पूर्वसामन्यों देवताओं प्रसन्नतासे हिंदे उच्चार रखते हैं उसी प्रकार केवल पवित्रदेवताओं प्रसन्नताके लिये ही उत्तीर्णी शब्दान्तर बायक करती है। उनका जीवनधरण यथा उन्हें कुछ अपने लिये नहीं, किंतु जोकिए कुछन्हीं बहुती तरह पवित्रदेवताके लिये ही है। अतः जिस प्रकार देवताओंके विसर्वन से उनमें तात्परीकी अप्रसवकता नहीं रहती, फ्रैंक उच्ची कठोर पवित्रदेवताके त्यूल वर्षिक अप्रसव ही जानेवाली छोटी भी उनके साथ सहमृग्य दैवितीय है वही उच्चों उच्चों उच्चों है और इससा जल भी चाकने चिना है। यथा—

सिन्हको उच्चीकोशी च याति रोकणि भावते ।

तावद् अर्द्धं वसेत् स्वर्णे भर्तां चातुर्गच्छति ॥

अपर्याप्त जो की नरोंके साथ सहमृग्यमें जाती है उच्चार जितने (उद्दे रीति करोइ) रोदे नहुय-वरोरोन्हे हैं, उनमें विस्तृत तर्मन-वर होता है। हरीतर्चित्वाने आवा है—जाति कैसा भी है, उत्तीर्णी उच्चों साथ सहमृग्य होकर अपने चतुर्गच्छते उच्चों पवित्र करके पत्तिजीक के जा जकतो है। उत्तीर्णी उच्च ऋचीन सहमृग्य-वर्णका अद्युर्व वर्णन है, जो कल्पनामध्ये भुषणाद्या हो रहा है; जिस जी आज इस धीर कल्पकाम्ये भी देखी भग्नतीत्य हैं जो नवासो पुष्टिकाल्य-विशेष, पुष्टिसंहस्र एवं सार्वो इत्यकल्पकी उपस्थितिमें जरने सूच नहिंते दावको गोदमें लेकर चितारव होती हैं तथा गीताके पौच्छात स्लोक वाँचनेके बाद ही चिताको पूँक देती हैं और चिता धार्म-वार्ताएं बह लहूक उठती है और स्वस्त्ररीसे प्रकट हस्त वौगान्मलमें ही चितिकौं अग्रना भौतिक घरीर दाव कर दती ही जाती है। उत्तीर्णभवत्कल्पकी इत्य उच्चाको बढे नान्न दृष्टोत्त-अद्योत्त ही वर्ष द्वारा है। उक्त उत्तीर्णी साम प्रभासी देवीः योः तोः पठन् मित्रात्मात् उद्दावा यामायो यान-देव उद्यव यमां भ्रोत्रिय ऋषानांकी कल्प एवं उत्ता अनवासी श्रीत्तदेवतर्जी मन्देवकी भवितव्यती थी। वह उत्तानाम भवदेवके नन्दिके निकट ही योही दूर उच्च गड्ढके पायन वद्वर उत्तीर्णी नन्दिर (श्रीमद्भागवते कैर्णीवालद्वापा निर्मित) दर्शनीय है।

अब इसी उत्तर उच्चके तारतम्यातुजार संसारके नर-नारियोंकी अश्चीजितित्र द्वितीय उत्तामी जा उकती है। यथा—

(१) उच्चे उत्तम पूरुष वह है जितने प्रवृत्तिमार्गको

नियम ही नहीं, किंतु नैषिक ब्रह्मचारी बनकर तीष्ठे निहृति मार्गके अद्यतन्मनमें उत्तमात्मक पर्वत यथा।

(२) उच्चगे छोटे वह है, जिसमें पूर्व विवह से कर्त्ता नितु एकाव नन्दान उच्चार कर, निवृत्तिसेवी हीकर वापरद्वाग मोहन-कान करे।

(३) दैनंदी छोटे वह है, जिसमें एक छोटे नर कनेकर तुच्छ तुनः विवह न करे और निवृत्तिसेवी हीकर वापरद्वाग मोहन-कान करो।

(४) चीरी छोटे वह है, जिसमें केवल वंशज व अप्रिहेतके विचारे एक कीवियोग दोनोंपर द्वितीय विवाह हो। वर्द्धिक अवधनकी छोटि है।

(५) इसमें याद उत्तम छोटे वह है, जिसमें एक छोटे कर्त्ता के नर कनेकर तुच्छ विवह-दाक्षतामें द्वितीय विवाह हो।

(६) और अति अचन यह छोटि वह है जिसमें केवल वर्मन्मीमार्य कदं विवैचना नहीं हो। ये दोनों ही निवृत्तीय अनार्थ भाव हैं।

इसी प्रकार भागीजातिके लिये भी निम्नलिखित छः कोषिकी उत्तमी जायें। यथा—

(१) अद्याधरय कोटि—जितने ब्रह्मचारिनी जित्ये अन्तर्दुक होती हैं; उनके विवह न करनेकर भी कोई जरूर नहीं है।

(२) पतिका छोटि, जिसमें पति के साथ जी उत्तमनाम जाय।

(३) पतिका कोटि, जिसमें जी उत्तमता न होकर मित्र ब्रह्मचर्यमें स्थित हो और नर्लोकगत पतिके अत्मकी उत्तमता करे या उसी अत्माको उत्तमालमें विलीन उत्तमसकर उत्तमात्मकी अत्मायता करे। पतिके द्विवर्गमध्ये होनेपर उत्तीर्णी पूर्ण, कर्मसूक्ष्म या पूर्ण वाक्यर जीवन धरण करे, किंतु कभी भी अपने पतिके लिया अन्य पुरुषका उत्तम-तक न करे। आयतनार्थी कोटि यहाँउक है; क्योंकि इसमें लोकमन्त्रयमें एक ही पति उत्तम है; उसी पतिको भवताव, उत्तमकर वद्वरके वंशजित रहें; उत्तमक-उत्तमें उत्तमी उच्चार मूर्तिकी पूजा और उनके त्यूलदारीरके भूत होनेपर उत्तमादिनी उत्तम उनके नियकार अत्माकी पूजा या नमवान्द्ये किसी भी दिव्य उत्तमपूजाकी पूजा और उसी पूजाके द्वारा निष्पानन्दमय, भगवत्वाति य

भीक्ष-लाभ स्वयं है। इसी लक्ष्यपर विचार करके भगवान् भगुने कहा है—

न विवाहविधादुक्तं विवादेवनं पुनः।

अर्थात् वैदिक विवाहविधिमें विधवाका पुनर्विवाह कहों नहीं पाया जाता।

(४) इसके पश्चात् चौथी कोटि वह है, जिसमें प्रथम पति के मृत होनेपर द्वितीय पतिका ग्रहण हो। यह आर्य कोटि नहीं है; क्योंकि इसमें स्थूल इन्द्रियोंका भोग लक्ष्य है, अत्यन्त लक्ष्य नहीं है। यह रीति आर्यजातिके अतिरिक्त पृथ्वीकी अन्य जातियोंमें तथा हिंदुओंमें भी कहोंकहों शुद्धोंमें प्रचलित है।

(५) इसके उपरान्त पञ्चम कोटि वह है, जिसमें जीवित पति को भी स्वाग (Divorce) करके द्वितीय, तृतीय अनेक पति ग्रहण किये जायें। यह रीति उर्वथा निन्दनीय तथा अमर्य-भावाभन्न है। अनेक पाश्चात्य जातियोंमें यह रीति प्रचलित है, जिसे उनमें दाम्पत्य-प्रेमका सर्वेया अभाव तथा एहमें अशान्ति देखी जाती है और हमारे दुर्भाग्यसे भारतमें भी इस पापका प्रसार हो रहा है।

(६) षष्ठ कोटि अतिरिक्त अधम है, जिसमें दस-बीस दिनोंके लिये एक मुकुरके साथ कन्ट्रैक्ट हो और उसके बाद उसे छोड़कर दूसरे-तीसरेके साथ कन्ट्रैक्ट हो आदि। पारस्य देशमें कहोंकहों हस्त प्रकारकी अति वृद्धित रीति देखनेमें आती है।

इन सब विचारोंमें यही प्रमाणित हुआ कि आर्य रीति ही सबसे उत्तम कोटिकी है और अन्यान्य जातियोंकी रीति अपनी-अपनी स्थितियोंके अनुसार अनर्य-भाव-प्रधान तथा स्थूल इन्द्रियोंके भोगमानकी लक्ष्य करके निर्दिष्ट हुई है।

अब इस प्रकारके उच्चमायकी रसा कैसे हो सकती है, यही विचार्य विषय है। नारी-जीवनको प्रधानतः तीन भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—यथा कन्या, शृणी और विभवा। ‘कन्याप्येवं पालनाया रिष्टशीदातिकन्तः’—अत्यन्त यत्के साथ कन्याका पालन तथा शिक्षण होना चाहिये, किन्तु उनकी शिक्षा उन्हें पुरुष बनानेवाली नहीं होनी चाहिये; क्योंकि जिसके भीतर जो मौलिक सत्ता है, उसीको प्रकट तथा पुष्ट करना शिक्षाका लक्ष्य है। सौजातिकी मौलिक सत्ता तीन हैं—एह अच्छी माता; सदृशिणी तथा

आदर्श सत्ती है। अतः इन तीनों भावोंको पुष्ट करनेके लिये ही उनको शिक्षा देनी चाहिये। अदि श्री० ए०, एस० ए०, आचार्य पाल करनेपर भी जीजाति इन तीन भावोंको खो देते तो उनको शिक्षा किसी कामकी नहीं कहलायेगी। अतः यहुत सोच विचारकर कन्याओंको शिक्षा देनी चाहिये। उनके विचारमें जो परम्परागत सामाजिक आस्थिकता तथा भक्तिका भाव है शिक्षाके द्वारा उसे पुष्ट करना चाहिये। आर्यशीर तथा आर्य सतिशीके चत्रिं रामायण, मदभारत तथा अन्यान्य इतिहासोंसे तंश्रह करके उनको पढ़ाने चाहिये। संस्कृत-शिळा, मानुसामा-शिळा, साहित्य-शिळा, गीतादि धर्म-ग्रन्थोंकी शिक्षा उनकी अवश्य देनी चाहिये। साधारण रूपसे विकित्या तथा पदार्थ-विद्याकी शिक्षा देनी चाहिये, जिससे बाल-बच्चोंकी सामान्य बीमारीमें भी डाक्टर न हुआना पड़े। उनके शिल्प-शिळा तथा रसोई बनानेकी शिक्षा विशेष रूपसे देनी चाहिये, जिससे वे सच्ची माता बन सकें और उनका अवकाशका समय बच्चोंके लिये बच्चादि बनानेके कार्यमें अच्छी तरहसे करें। अन्यथा जगत्को अलज्जान करती है—इस कारण उनकी अंशलगिणी छोड़ जातिको भी योजन बनाने तथा मोजन विलानेमें गौरवकाम भान रहना चाहिये। यही सच्चा मातृधर्म है।

इस प्रकार कन्यावस्थामें शिक्षा होनेके उपरान्त विवाहके योग्य अवस्था अनेकपर योग्य पापको कन्याका दान होना चाहिये। आजकल युवतीविवाह होने लगा है, जो सर्वेष्य हानि तथा घटनका कारण है। अबः वाहृ यश्चक्षी अवस्थातक कन्यादान हो ही जाना चाहिये। पुरुषसे स्त्रीमें भोगशक्ति अधिक होनेके कारण साधारणतः शालमें यही आज्ञा पायी जाती है कि कन्यासे बरकी उप्र लिहुनी हो—‘वैष्णवसुणो भार्यामुद्वहेत्प्रिणः स्वयम्।’ किंतु सुश्रुतके सिद्धान्तानुसार १६ वर्षकी स्त्री और २५ वर्षका पुरुष—इतना अन्वर तो अवश्य ही रहना चाहिये। अन्यथा गर्भस्य संतानको क्षति होती है। इस कारण कम-से-कम १२वें वर्षमें विवाह होकर दो-तीन वर्षतक सात्यिक पति-प्रेमकी शिक्षा तथा संयमके बाद सोलहवें वर्षमें गर्भाधानकी आज्ञा आर्यसाम्बर्में दी जायी है। विवाहोपरान्त वारीका शृणी-जीवन ग्रासम्य होता है, इसमें पति ही पत्नीके लिये साक्षात् भगवान् हैं और समस्त रहस्येवा उनकी ही है। उसी सेवामें शरीर, मन, ग्राग समर्पण करना सती जीका जगद्-पवित्रकर पातिशत्य-धर्म है। जिसके विषयमें भगवान् शीरमने आदर्श सती सीता माताको लक्ष्य करके कहा है—

कर्मेषु मन्त्री करणेषु कासो धर्मेषु पल्ली क्षमया धरिवी ।
स्नेहेषु माता शयनेषु समा स्नेसखो लक्षणं सा प्रिया भे ॥

अर्थात् हे लक्षण ! सीता सती परामर्शी देनेमें मन्त्रीके समान, कार्य करनेमें दासी-भद्री, धर्मकार्यमें अर्द्धाङ्गिनी और पृथिके तुल्य लहूलीला, माताके समान स्नेहीला, सहशास्त्रमें दिव्य छी और कौतुकके तुल्य रसीके सहश आचरणशीला हैं । यह सब सती स्त्रीकी दिव्य गुणवली है ।

नारी-जीवनकी तीसरी दशा वैधव्य है । यदि भाव्य-क्रमसे किसी स्त्रीको यह दशा देखनी पड़े तो संन्यासिनीकी तरह श्रव्यवर्ण, संयम आदि निरूपि भावके साथ उसे निवाना ही सबोन्तम तथा परम धर्म है । वैधव्य ननो होता है, इस विषयमें स्कन्दपुराणमें अस्त्विती-आख्यानमें निम्नलिखित प्रमाण मिलता है । यथा—

यः स्तनारां परित्यज्य निर्दोषां कुलसम्मवाम् ।
परद्वारस्तो वा स्यादन्यां च कुले चित्यम् ॥
सोऽन्यजन्मानि देवेशि ! स्त्री भूल्या विधवा भवेत् ।
या नारी तु पर्ति त्यक्त्वा मनोकाक्षयक्षमिभिः ॥
यह करोति वै जारं गत्वा वा पुरुषान्तरम् ।
तेन कर्मसिपाकेन सा नारी विधवा भवेत् ॥

पार्वतीसे शंकर कहते हैं—हे वैवेशी ! तो पुरुष अपनी निर्दोषा कुलीन पत्नीको छोड़कर परखीमें वासक या अन्य स्त्री प्रहण करता है, यह दूसरे जन्ममें छी-योनि पाकर विधवा हो जाता है । इसी प्रकार जो छी अपने पतिको छोड़कर अन्य पुरुषमें रत हो जाती है, उसको भी जन्मान्तरमें ऐधव्यकी प्राप्ति होती है । अतः वैधव्य जब स्त्री या पुरुष दोनोंको ही किसी प्राप्ततन दोषके कारण होता है, तब तमस्यके द्वारा उस दोषका भावा-करना ही धर्म होगा । विधवाके कुल्य ब्रह्मचारी तथा संन्यासीके तुल्य होते हैं और इसी कारण परिव्र विधवा छी एहसोंकी पूज्या भी होनी चाहिये । आजकल विधवाएँ जो निराही देखी जा रही हैं, इसके अनेक कारणोंमें से उनके प्रति घर-बालोंका अनुचित व्यवहार भी एक प्रधान कारण है । इसीका तुरा परिणाम है कि हवारों विधवाएँ विभर्मियोंके कराल ग्राममें गिरती जा रही हैं । यदि प्रदृशिते निरूपिका गौरव अधिक है और भोगी एहसोंके त्यागी संन्यासियोंका गौरव अधिक है तो संघवाङ्मेषि विधवाओंका गौरव निरूपिकी दृष्टिसे अवश्य अधिक होना चाहिये ।

पति-धर्म

समस्कर पल्लीको अर्धाङ्ग । धर्ममें रखता संतत सह ॥
दीन, दासी, गुलाम-सी जान । न करता कभी भूल अपमान ॥
मिरस्तर छुड्डुद मित्र निज मान । सदा करता विद्युद्द सम्मान ॥
‘पूर्ण करनी दुष्टियोंको नित्य । मिटाती दुविधा सभी अनित्य ॥
हरण करती दुश्चिन्ता क्षान्ति । चित्तको वेती सुखकर शान्ति’ ॥
देख यो—पल्ली सद्गुण-स्त्रप । हृदयका देता भ्रेम अनूद ॥
उसे गुह्यानी कर स्वीकार । समझ उसका समान अधिकार ॥
सलाह-सम्मति ले सदा ललाम । धलाता घर-आहरका काम ॥
मधुर चाणी सुपुरुष व्यवहार । सदा करता आदर-सत्कार ॥
शुद्ध सुख पहुँचाता अविशाम । यही पति-धर्म अमल अभिराम ॥

नारी-धर्म

(लेखिका—यहन श्रीशश्विनाला 'विद्वारो' 'विद्वारद')

अग्रतक नारी-धर्मपर हमारे विद्वानों तथा तत्त्वके मर्मज्ञ पण्डितोंद्वारा बहुत कुछ कहा तथा लिखा जा चुका है। पर ज्ञान अस्तीम है। उसकी कोई सीमा नहीं, कुछ बन्धन नहीं। अपने गहन अनुभवके द्वारा सभी अपना स्वतन्त्र विचार प्रकट करते हैं।

इस सुषिर्में नारीका एक विशेष महत्वपूर्ण स्थान है। नारीके बिना नर अनाथ है, संरक्षणश्वित है। नारी नस्की प्राणदायिनी एवं प्रेरणादायिनी है। पर नारी तभी ऐसी है जब कि वह आदर्श जननी और शहिणी—पत्नीके पवित्र रूपमें हो। आज इस परिवर्तनशील परिस्थितिमें नारी अपने कर्तव्य को सूखती जा रही है। पाञ्चात्य-सम्यताका अन्धानुकरण करती हुई वह क्षुद्रदृष्ट्या दुर्बलचित्ता होकर केवल विलास-त्रासनामें आकृत देने जा रही है। सच वहाँ जाय तो वह स्वतन्त्र होने जाकर ग्रामदब्दश पुरुषके परतन्त्र होने जा रही है। अतः उसे सावधान होकर अपने भर्मपर आरुद्ध रहना चाहिये। मातृत्व और पत्नीत्व ही उसका असली धर्म है। प्रत्येक नारी यदि चाहे और प्रयत्न करे तो माला सीता, सती अनसुखा एवं यमविजयिनी सायित्री आदि यन सकती है। चैवल चौ० ए०, एम० ए०की डिग्री धारण करनेवे ही कुछ नहीं होगा। इसके लिये सर्वी भारतीय संस्कृति—आदर्श प्रातिव्रत्य-धर्मके पादम पथसे आगे बढ़ना होगा। पतिके रूपमें भगवानका दर्शन करनेवाली नारी ही पतिमता कही जा सकती है। पतिके नामे पतिके पूज्य माता-पिता, भाई, बहन और जितने भी सरो-सम्बन्धी हैं, सभीकी यथायोग्य आदर, ममता, स्नेह तथा प्रेम देना चाहिये।

ब्रह्मवैर्तपुण्यके श्रीकृष्णजन्मस्तुपदमें पातिव्रत-धर्मके विषयमें अस्त्रैकिक वर्णन आया है। पतिमता स्त्री अपने पतिके प्रति भक्ति-भाव रख निश्च उनकी आशा ले भोजन करे। सती स्त्री अपने पतिको मायणाका रूप समझती है। वह सौन्दर्यशाली पतिके सुखकी ओर न देख चरणोंमें दृष्टि कुरकाये रखती है। जो आहार पतिको ग्रिय होता है वही उसे भी मान्य होता है। सती नारी अपने पति एवं अपने पूर्वजोंकी एक हजार पीढ़ियोंतकका उद्धार कर देती है। पृथ्वीपर जितने भी तीर्थ हैं, उसी सतीके चरणोंमें विद्वास

करते हैं। पतिमताको नमस्कार करनेसे मनुष्य अनेकों पापोंसे मुक्त हो जाता है। पतिमता सौ जन्मोतक पुण्य-संग्रहबले पुण्यबानोंके ब्रह्मतम छेती है और पतिमताके जन्मसे उसके माता-पिता पावन तथा मुक्त हो जाते हैं।

शिवपुराणकी वायवीयसंहितामें यहोंतक वर्णन आया है कि 'को स्त्री पतिकी सेवा छोड़कर व्रत तथा उपवासमें तत्वर होती है कह नरकगमिनी होती है।'

पाञ्चात्य-सम्यतामें पली नारी आज अपने इस गौरवपूर्ण पातिव्रत्यके आदर्शको भूलती जा रही है। इसीसे पतिव्रत-धर्मका स्थान आज विधवा-विवाह, अवैध अपवित्र सम्बन्ध तथा तलाक और भरण-योग्यके मुकदमें ले रहे हैं। कितने महान् परिवरका विषय है कि जिस नारीको गृहलक्ष्मीकी उपाधिये विभूषित किया जाता है, वही आज हजारों पुरुषोंके बीच कुले व्यायालयोंमें न्यायाधीशके समक्ष तलाकका आवेदनयत्र उपस्थित करती है।

आजके समझे जानेवाले घरोंकी लड़कियोंका बनाव-शृङ्खल और पेशाक देखकर भारतीय आत्मा रो उठती है। परिस्थितिको देखकर राज्यपालको आदेश देना पड़ता है कि कॉलिन्ज तथा विश्वविद्यालयमें पढ़ने जानेवाली छात्राएँ तंग कुरती, ऊँची घड़ीकी जूती तथा बक्षःस्थलका प्रदर्शन करनेवाली पोशाक न पढ़ने। पश्चिमी सम्यताने हमारी औरंगापर काली पट्टी डाल दी है। उनकी अच्छी चीजोंकी भक्ति हम नहीं करते—गुरुओंको ग्रहण नहीं करते; परंतु पर-मुरुर्गोंके सङ्ग भ्रमण, स्वच्छन्द विचरण, सेल्फ-कूर-प्रतियोगितामें भग्न लेना, सिनेगा, नाचने-गाने तथा सहगोज आदिको ही विकास समझने लगे हैं।

मैं अपनी भारतीय जहानोंसे प्रार्थना करती हूँ कि जेवियो! आप समय रहने चेत जायें। गृहलक्ष्मीके आदर्शको कभी न भूलें। आजकी पट्टी-लिंगी लड़की फैशनके चक्रमें रहकर अपना खेत्र बाहर तुनवी हैं। उन्हें विधानसभा तथा टेलीफोन गर्ल्सका काम करना अधिक पसंद है। घरमें रहना कठाई पसंद नहीं। पर यह बाह्यवर्षों परतनकी भूमिका है। पतिव्रत नारीका ऐसे घर हैं बाहर नहीं। भ्रमणशील नारियोंके जीवनमें अधिक-से-अधिक शर्तरा है। आख बहते हैं—

अमर् सम्पूर्णते राजा अमर् सम्पूर्णते धनी ।

अमर् सम्पूर्णते चिह्नान् लो अमल्ती विनश्यति ॥

आज देशपर घोर संकट है; दिनों-दिन हम गरीब होते जा रहे हैं—विदेशोंसे बड़ी रकमका ब्रूण हमें लेना पड़ता है। इस आर्थिक संकटकी धब्दीमें नारियाँ घरेंकी आवश्यकताएँ कम करनेमें अपुर्व शोगदान कर सकती हैं।

महामारत शान्तिमर्थके आपद्धर्मर्थमें पतिक्ताकी प्रशंसा-विषयक चर्चा आयी है—

नस्ति भार्यासमो वन्धुनांसि भार्यासमा नस्तः ।

नास्ति भार्यासमो लोके सहायो धर्मसंग्रहे ॥

अन्तमें लिखना है कि मातृत्व नारीका विशुद्ध रूप है—जगदमा प्राणिमात्रके लिये सभी नारियोंके हृदयमें कला तथा ईश्वरपत्रिं प्रदान करें। आदर्या माता कौसल्या, जननी मदालक्षण, सती सावित्री, सती सीता, मीरांगाई, महारानी लक्ष्मीवाई वादि विभूतियाँ विश्वप्रेम और विश्वनन्दुत्तकी धिक्षा देनेमें हमारी सबी पथ-प्रदर्शिका हैं। सबको जगन्माता सद्बुद्धि प्रदान करें।

सप्तनीधर्म

[माता कौसल्या और माता सुमित्राकी महत्ता]

मक्तुराज श्रीहनुमान्दुजी द्रोणाच्छल पर्वतको उठाये आकाश-मार्गसे अयोध्याके ऊपरसे उड़े जा रहे थे। श्रीभरतजीने राक्षस समझकर वाण मार दिया और वे 'राम' कहते हुए गिर पड़े। श्रावुदेवताने अयोध्याकी रक्षाके लिये पर्वतको करार ही रोक लिया। हनुमान्दुजी जमीनपर आ गये। भरतजी उमके सुखसे 'प्याम' नाम सुनकर चकित तथा हुखी हो गये। फिर भरतजीने हनुमान्दुजीके समीप जाकर उनको हृदयमें लगा लिया। हनुमान्दुजीने सब समाचार सुनाये। लक्ष्मणजीकी मूर्धा सुनकर भरतजी बहुत हुखी हुए। स्वामी रामजीकी आज्ञा अयोध्यामें ही रहनेकी है और उधर स्वामी दुखमें फैले हैं। भरतजी वहे ही असमझतमें पड़ गये। उनका चेहरा बड़ा उदास हो गया। यद्यपि वे जानते हैं कि भगवान् श्रीरामजी सर्वथा अजेय हैं।

माता कौसल्याजी, सुमित्राजी और श्रद्धा वही आये हुए थे। लक्ष्मणकी मूर्धाकी बात सुनकर कौसल्या माता अत्यन्त हुखी हो गयी। दाख-हाथ पुकार उटी। सुमित्राजी-को पुत्रकी इस दशापर तो तुख्य हुआ, पर साथ ही स्वामी रामके कामके लिये लक्ष्मणका यह वालिदान हो रहा है, यह सराग होते ही वे मुखी ही गयीं और कहने लगीं—

धन्य सुपुत्र पिता-पन राख्यै, अनि सुचूपू कुछ-लाज ।
सेवक धन्य अंत अद्वार जौ आवै ग्रामुके काज ॥
पुनि वरि धीर कही, अनि लक्ष्मन; रामकाज जौ आवै ।
‘सूर’ जिवै तो जग जरा फावै, मरि गुरुलोक सिमावै ॥

सुपुत्र श्रीराम धन्य हैं: जिन्होंने पिताके प्रणकी—सत्यकी

रक्षा की। उत्तम पुनर्वधू जानकी धन्य हैं जिन्होंने कुलीं लाज सखली। सेवक भी वही धन्य है जो प्राण छोड़ते-छोड़ते ग्रामुके ही काम आया। फिर धीरज धरकर घोर्णी—लक्ष्मण धन्य है जो श्रीरामके काम आया। अदि वह जीवित रहा तो संघरणमें अक्षय यथा प्राप्त करेगा और मर गया तो देवलोकमें जायगा। तदनन्तर वे श्रावुदुजीकी ओर मुख करके बोलं—‘वेदा। तुम अब हनुमान्-के साथ जाओ।’ इवना सुनते ही श्रावुदुजी हाथ जोड़कर लहे हो गये, उनका अरीर आनन्दसे पुलकित हो गया। ऐसे प्रसन्न हुए मानो देवयोगसे उनके पूरे-पूरे दोन्ह पड़ गये हैं। माता सुमित्रा तथा छोटे भाई श्रीश्रावुदुजीकी इस त्यागमयी प्रसन्नताको देखकर हनुमान्दुजी और भरतजी अपनी अयोध्यतापर अत्यन्त खलानिग्रह हो गये। तथ माताने उनको समझाकर सावधान किया।

तत् । जाहु कपि सङ्ग, रिपुसून उठि कर जोरि ल्हो है ।
प्रगुदित पुलकि ऐसे पूरे जनु विधिवस सुहर ढेरे हैं ॥
अंब-अमुज-गति लक्षि पदनज भरतादि गत्तनि गरे हैं ।
तुलसी सब समुद्धाइ मातु तेहि समय सचेत करे हैं ॥

तदनन्तर माता सुमित्रा देवी कौसल्याजीसे कहने लगीं—
‘थनि जननी, जो सुमठहि जावै ।

मेरि परि रिपु कौ दल दलि-महि, कौतुक करि द्विसरवै ॥
कौसित्रा सौ कहति सुमित्रा, जनि स्त्रामिति । दुख पावै ।
लक्ष्मन जनि हौ भई सपूर्ती, गम-काल जो आवै ॥

जैवे तो सुख विलासे जगमे कीरति लोकनि गावै ।
मरे तो भंडल भेदि भानु कौ; सुरसुर जाइ बसावै ॥
लोह गहै लालच करि जिथ कौ, औरै सुभट लजावै ।
'सूरदास' प्रभु जीवि रानु कौ, कुशल-छेम धर आवै ॥

'स्वामिनीजी ! आप अपने मनमें दुःख न करें ।
जननी तो वही धन्य है जो ऐसे शूर-नीरोंको जन्म देती
है जो युद्ध आ पड़नेपर शूरोंको ललको रैद-कुचलकर
खेलता करके हिलाते हैं । लक्ष्मण यदि रामके
काम आ जाय तो मैं तो उसको जन्म देकर सुपृती हो
गयी—मेरी कीरति सफल हो गयी । वह जीवित रहा
तो संसारमें रहकर सुख विलसेगा और लोकोंमें
उसकी कीरति गयी जायगी । मर गया तो सूर्य-
मण्डलका भेदन करके दिव्य लोकोंमें निवास करेगा ।
जो बाल उठाकर भी प्राणोंका लोम करते हैं, वे
कावर तो सूर्य-शूर-नीरोंको भी लजाते हैं । मैं
तो यह चाहती हूँ कि श्रीराघुनाथ शूरुको जीतकर
कुशल-क्षेमके साथ धर लैठ आये ।'

सुमित्राजीकी बात सुनकर माता कौसल्याजी
हनुमानजीसे कहने लगी—

सुनौ कापे । कौसल्या की बात ।
इहि पुर जनि आवहि मम वस्त्र, विनु लक्ष्मणसु जयु भात ॥
छाँड़ीबौ राज-काज, माता-हिंद, तुन चरननि वित लाह ।
वाहि विभुल जीवन विक रघुपति, कहियौ कपि समुशाह ॥
लक्ष्मिन सदित कुसल वैदेहोः आनि राज पुर कीजै ।
भातरु सूर सुमित्र-सुतपर वारि अपनपौ दैलै ॥

'हनुमान ! तुम कौसल्याकी बात सुनो ! श्रीरामसे
मेरा यह संदेश कह देना स्वरे ज्वरे बेटा ! मेरे पुत्र ही तो
छोटे भाई लक्ष्मणको साथ लिये विना इच्छ अशोध्या नगरमें
लौटकर न आना । हनुमान ! तुम यह समझाकर कह
देना कि रघुनाथ ! जिसने हुम्हारे चरणोंमें चिन्त लगाकर
राजकार्य (राज्यवैभव), माता और सारे हितेपी रक्ष्युओंको
छोड़ दिया, उससे विसुख (उससे रहित) जीवनकी
धिक्कार है । अतएव वा तो लक्ष्मण और जानकीके साथ
कुशल-पूर्वक लौटकर अशोध्याएँरीमें राज्य करो; नहीं तो,
सुमित्राकुमार लक्ष्मणपर अपनेको न्यौड़ाकर कर दो ।'

माता कौसल्याजी पिंज लोली—

विनती कहियौ जाइ पचनसुत तुम रघुपतिके आईं ।

या पुर जनि आवहु विनु लक्ष्मिन, जननी जाजनि लाईं ॥

'पवनकुमार ! तुम जाकर श्रीराघुनाथके सम्मुख मेरी यह
विनती सुना देना कि मौकों लाज बचानेके लिये ही विना
लक्ष्मणके तुम मन आना ।'



कौसल्याकी यह बात सुनकर सुमित्राजी हनुमानजीको
समझाकर लोली—

मालत सुतहि संदेश सुमित्र ऐसे कहि समुशाहै ।
सेवक गृहि भै रन भीतर ठाफुर तउ धर आवै ॥
जब तें तुम बनने कानन कौं भरत भोग सब छैवै ।
सूरदास प्रसु तुम्हारे दरस विनु हुखसमूह उर गावै ॥

'हनुमान ! मेरा वह संदेश भीरामसे कह देना—सेवक
राममें युद्ध करता हुआ अपने प्राण दे दे, तब मैं स्वामी
तो धर लौटकर आता ही है । अतएव हुम्हारे आनेमें कोई
अनुचित वात नहीं है । इधर भरतको यी देखना है । जबसे
तुम बनको गये ही तबसे भरतने तब भोगोंका ल्याग कर रखा
है । रघुनाथ ! हुम्हारे दर्शनके अभावमें उसने अपने हृदयमें
दुःखोंके समूहको बता लिया है । अतएव भरतके लिये मैं
हुम्हें अबह्य लौट आना चाहिये ।'

श्रीदग्निगन्जी नो माता गौतमीया, माना युगिया, और गाई भरत और शशुभके मांवोंको देख-देखकर मुख्य हो गहे हैं। पर स्वामीका कार्य करना है, यह चीज़ रही है, इसलिए उन्होंने भरतजीसे आज्ञा माँगी और कहा कि 'अब और देर

ले गयी और वहे रात लीन गयी तो वहा अनर्थ हो जावगा।' तब भरतजीने दग्निगन्जी को विदा किया।

माताओंमें त्यागकी होइ लगी है और भ्रान्तिये से आदर्श है ही। अस्य।

—८४७७—

माताके धर्मकी आदर्शभूता-पतित्रता मदालसा

गन्धर्वशरव विश्वावसुकी कल्या मदालसाका विवाह गजा शत्रुघ्निके राजकुमार ऋतुधजो हुआ था। राजकुमारने देवताओंके दिये अश्वपर आशुद्ध होकर ऋषिमुनियोंको पीड़ा देनेवाले यशस पातालकेतुका वध किया था और उस राजसदाग हण की गयी गन्धर्वकल्या मदालसामें पातालमें उनका साक्षात्कार हुथा था। गन्धर्वोंके पुरोहित तुम्हुरने दोनोंका विवाह सम्पन्न करावा था।

पावालकेनु मारा गया; किन्तु उसका छोड़ भाई नालकेनु मुनिका वैद्य यत्कर यमुनावटपर आथमगें रहने लगा। अपने वहे भाईकी मृत्युका वदला लेनेकी घातमें वह था। अतः उसने दृश्ये यजुर्मारकी मृत्युका भित्त्या समाचार मिलाकर मदालसाको मरवा दिया। राजकुमार पलीके विशेषे दुखी रहने लो। उन्होंने किसी भी दूसरी कल्यासे विवाह करना अस्वीकार कर दिया।

नागराज अश्वतरके दो पुत्र मनुष्यस्यमें यद्य-कदा पृथ्वीपर आया करते थे। राजकुमार ऋतुधजसे उनकी मित्रता हो गयी थी। अपने मित्रके दुश्यसे उन दोनोंको वहा दुख हुआ। उन्होंने प्रयत्न करके सरदतीके वरदानसे संपीड़तमें निपुणता प्राप्त की और कैलास जाकर अपने गानसे शंकरजीको प्रसन्न कर लिया और शंकरजीसे मदालसाके पुनः जन्म देने तथा पूर्वसूति रहनेका वरदान प्राप्त किया। इस वरदानके पलस्वस्य मदालसा उनके मध्यम फणसे प्रकट हुई।

नागराजके कुमार राजकुमार ऋतुधजको स्नान करने गोमतीमें ले गये और बहाँसे लेकर पाताल गये। वहाँ पहले-जैसे रूपमें ही मदालसाको राजकुमारने देखा। नागराजसे उसके पुमर्जन्मका वृत्त जानकर उन्होंने वहाँ फिर उससे विवाह किया। फिर, नागराजकी अनुमति लेकर वे दोनों वहाँसे पृथ्वीपर आये।

गजा शत्रुघ्निके परलोकवासी होनेपर अनुनन्दन सिंह-गनासीन हुए। समयपर उनके प्रथम पुत्र हुआ तो गाजने उसका नाम विकान्त रखा। भगवान् विवके वरदानसे मदालसा वैगचिद्याकी जान लोकर जन्मी थी। पुत्रका नामकरण देखकर वे हँसकर गह गर्य। उनके दो पुत्र और हुए। गाजने उनके नाम मुवाहु तथा शत्रुमर्दन रखते थे। उस समय भी यनी मदालसा हँसी थी।

नारीकी सदलसा गावृत्यमें है; किन्तु उसकी सार्थकता पुरुषको मुक्त करनेमें है। अतः वच्चोंको यनी मदालसा लोगी देने हुए गानी थी—



शुद्धोऽसि शुद्धोऽसि निरजनोऽसि

संसारमात्रपरिजिंतोऽसि ।

संसारस्वर्गं त्वज् मोहमिद्र्वा

मदालसा वाक्यमुवाच पुनः ॥

पुन ! तुम शुद्ध हो । ज्ञानस्वरूप हो ! निषेद्ध हो !
संसारकी मात्रामें सर्वथा रहित हो । अंमार स्वप्नयत् है । अनः
मोहनिद्राका त्वाग करो ।

रानीके चौथा पुन दुआ । उसके नामकरणका समय
आया तो राजने कहा—“मैं नाम रखता हूँ तो तुम हँसती
हो । इसका नाम तुझी रखो ।” रानीने न्यौथ पुनका
नाम “अलका” रख दिया । रानीने तीनों पुत्रोंको
ब्रह्मज्ञानका उपदेश वचनमसे किया था । वे
मुनक होते ही थीरथा, चृत्यागी हो गये थे । राजने
प्रार्थना की—“देवि ! अब इस पुत्रको भी ब्रह्मज्ञानका
उपदेश करके कुलका उच्छेद मत करो । इसे तो प्रहृति-
मार्गमें लगाओ ।”

चौथा पुन दुआ हुआ । उसे रानीने धर्म, अर्थ, कामकी
शिक्षा ही थी । उसे गहीपर दैटाकर दृपति तपस्या करने
वनमें चले गये । जाते समय रानी मदालसा पुत्रोंएक
ओंगूढ़ी देकर आदेश दे गयी—“जब विपत्ति आवे तो इसे
खोल लेना । इसमें उपदेशनपत्र है । उस समय उसके
अनुसार कार्य करना ।”

गङ्गायमुनाके संगमपर यमुनापर अलकनि अपनी
गजधानी बनायी । यह स्थान अब अरैल कहा जाता है ।
कुछ समय बीता । अलकने भाइयोंमें देखा कि छोटा भाई
नों संसारकी आमतिमें ही उत्थान है तो उसे सम्बधपर लानेके
लिये सुधाहुने कांडिराजकी सहायतासे आक्रमण कर दिया ।

अब शत्रुघ्नसे शुद्धधानी घिर गयी तो इस संकुचकालमें
अलकने मानकी दी हुई ओंगूढ़ी मोली । उसमें उपदेशावश
निकला—“धारकिन्त्याग ही पुरुषका धर्म है । कामनाएँ
नरकका द्वार हैं । वीर वह है जो कामनाओंको जीत लेता है ।
वरपने आत्मस्वरूपको जननेकी इच्छा करो । पुरुषके
जीवनका यही परम साफल्य है ।”

व्याप राज्य ले लैजिये । मुझे अब इसकी धार्यशक्ता
नहीं है । मात्राका उपदेश पढ़कर अकेले, शालहीन अलक
वहे भाई सुधाहुके समीप जाकर उसके चरणोंमें गिर पड़े ।

“मुझे राज्यका भय करना है ।” सुधाहुने कहा । ऐकिस
हुम अब हस मोहको छोड़ो । पुत्रको सिंहासन देकर अपने
उद्धारके प्रयत्नमें लगो ।

अलकने पुत्रको गद्दी दे ही । वे स्वयं मगवार्,
दत्तात्रेयकी शरण गये । इस प्रकार रानी मदालसाने पतिव्रत-
धर्मनिर्वाहके साथ मात्राके लेषु कर्तव्यका पालन किया और
वरपने सभी पुत्रोंको परनार्थकी प्राप्ति करायी । —सु०

प्रथम सती महारानी अर्चि

पृथ्वीके प्रथम राजा, जिनके प्रजारक्षनके कारण “राजा”की उपाधिने जन्म लिया, महायज पृथ्वीका दीर्घकाल
तक शासन करके भोग्योंसे विरक्त हो गये । पुत्रको सिंहासन देकर तपस्या करने वनमें चले गये । वहुत दिनोंतक उज तप
किया उन्होंने । प्रारुद्ध पूरा हुआ । शरीरकी तसातिका समय आया । पृथ्वीने आवन सेमाला, प्राण-निरोध किया और
शरीर छोड़ दिया ।

सप्तद्वीपवर्ती सम्पूर्ण पृथ्वीके प्रथम सभाष्टकी महायजी अर्चि अपने पतिके साथ वनमें आयी थीं । उसि तपस्या करते थे
और देवकी थी पतिकी भेदा तथा धर्मना । उस दिन पद्यन्वदन करने गयीं तो पतिका शरीर शीतल मिला । वहा शोक हुआ ।
वनमें एकाकिनी नारी—सप्तांशी और उसके पतिके देहकी उत्तरक्रिया स्वयं करनेमें कोई सहायक नहीं ।

महारानी अर्चिका चित्त शीघ्र शात्त हो गया । वैर्यपूर्वक उन्होंने वनमें काष्ठ चुगा और चित्त बनायी । पतिदेहकी लाम
करके चित्तापर रखका । स्वयं सरितामें स्वान करके उन्होंने पतिको जलाड़ालि दी और तप स्वयं चित्तापर जाकर ढैंड गयी ।
उनके स्वरण करते ही अशिवेष चित्तमें प्रकट हो गये ।

पतिदेहके साथ सती होनेवाली प्रथम नारी थी विश्वमें महायजी अर्चि । उनका शरीर आहुति वना तो आकाशमें
चित्तपर अस्वरूप पुष्पकर्प होती रही । —सु०

नारी-धर्मकी आदर्शभूता सतियाँ

(१)

भगवती सती

पतिके देहके साथ चित्तारोहण करनेवाली नारीको सती जिनके नामके कारण कहा जाने लगा। उन दम्भकन्या भगवती सतीका पतिके समानकी रक्षाके लिये देहत्याग अद्भुत तेजस्विता तथा उनके पतिप्राणा होनेका ज्ञानस्त्र प्रमाण है।

एक बार ब्रह्माजीकी सभामें सभी देवता उपस्थित थे। प्रजापति द्वारा सबसे पीछे बहाँ आये। उनको देख कर सब देवता उनके सम्मानमें उठ सड़े हुए। ब्रह्माजीके उठनेका प्रश्न ही नहीं था। वे दक्षके पिता ही थे। भगवान् शंकर ध्यानस्थ थे, अतः नहीं उठे। दक्षने अपनी पुत्री सतीका शिवाह शिवसे किया था। अपना जामाता ही अपने सम्मानमें आसनसे नहीं उठा, इसमें दक्षको अपना अपमान लगा। उन्होंने शंकरजीको बहुत बुरा-भला कहा। कोधमें शाप दे डाला। अपने स्वामी की शाप मिलनेसे चिन्दुकर नवदीशरले दक्ष तथा ब्राह्मणों की शाप दिया। प्रत्युत्तरमें महारि भूमुख शिवानुयायियों की शाप दे डाला। बात इस सीमातक नहीं गयी, यह देखकर शिवचित्त शंकरजी उठकर अपने गणोंके साथ बहाँ चले गये।

समय बीता; किंतु दक्षके मनका कोध नहीं गया। उन्होंने चिच्चमें शिवसे हौप ली कर लिया। ब्रह्माजीने जब दक्षको प्रजापतियोंका अग्रणी बनाया, तब दक्षने एक महायश प्रारम्भ किया। यह बान-कूशकर शंकरजीको तिरस्कृत करनेके लिये ही किया गया था। अतः यहमें दक्षने अपनी पुत्री सती वा जामाता शिवको निमन्त्रित नहीं किया।

भगवन्-मारसि कुंड-के-कुंड विमानोपर पतिवैके साथ ये देवाङ्गनाएँ कहाँ जा रही हैं? सतीने श्रेणीवद विमानविल जाते देखकर पूछा। चूम्हरे पिताके महायज्ञमें। भगवान् द्विवेन सहज भावसे बता दिया। मेरे पिताके यहाँ महायज्ञ है! तो मैं उसे देखने जाऊँगी। आप मुझे छे बलिये। सती उत्सुक हो उठी। व्या हुआ जो निमन्त्रण नहीं आया। पिता कार्याधिक्यमें भूल गये होंगे। माला-पिताके जर जानेके लिये विमन्त्रणकी व्या आवश्यकता है।

भगवान् शंकरने बहुत समझाया; किंतु सती उक्तना नहीं चाहती थी। वे अकेजी ही चल पड़ी। शंकरजीने उनके याथ अपने गण भेज दिये। पिताके घर पहुँचने पर साताने पुत्रीका स्वागत किया। वहिने भी मिलीं; लेकिन दक्षने बात ही नहीं की। दूसरे लोग भी मुख फेरे रहे। सती बजायालगमें गयी तो वह दिनानी पड़ा कि दूसरे देवताओंके लिये आसन हैं, यहमें उनका भाग है। किंतु भगवान् शिवका व्यामें कहाँ भाग नहीं। उन्हें व्यामें बहिष्कृत कर दिया गया है।

मैं ऐसे शिवद्वारी पितासे उत्तम इस देहको धारण नहीं कर सकूँगी। क्लोधमें उद्दीप सतीने दक्षको तथा समाप्तदौरोंको भिक्षारा और फिर देहत्यागका निश्चय करके यज्ञ-मण्डपमें ही उत्तर दिशामें आसन लमाकर बैठ गयी। भगवान् शिवका ध्यान करते हुए योगासनमें उन्होंने शरीरको मस्त कर दिया। विश्वमें वह आत्माहुति नारीकी प्रथम प्रटना है।

कुद्र शिवगणोंके उत्तातको एक बार महर्षि भूगुने सन्ध्यवदसे रोका; किंतु सतीके देहत्यागका समाचार पाकर शंकरजीने वीरभद्रको यक्ट करके भेजा। वीरभद्रने यज्ञ नष्ट कर दिया। दक्ष मारे गये। देवताओंको चोट आयी। भगवती सतीने फिर हिमालय-कन्या होकर जन्म लिया और तप करके उन्होंने मुनः पवित्रस्त्रमें शंकरजीको प्राप्त किया। ——न०

(२)

भगवती उमा

नगाधिराज हिमालयकी कन्या और उनका वह उम्र तप भगवान् आशुतोषकी प्राप्तिके लिये, जिसकी कल्पना उस युगमें भी वास्त्री कठिनाईसे ही कर सकते थे। संभत सहस्र मूँह फह खात। सागु लाद सत वर्ष शर्वैण ॥
असु द्रिन भोजनु वरि बतासा। किए कठिन कसु द्रिव उपयत्ता ॥
बैठ जानी महि घर दुखाई। दीनि सहस्र संबत सोइ खाई ॥
पुनि भग्नरे सुखानेठ परना। उमहि नामु तच भयड अपरना ॥

तपस्त्रा कभी असफल नहीं हुआ करती। उसे सकल तो होना ही था; किंतु उसके पूर्व तपस्त्रीकी मिठा परीक्षा-की कसीटीपर कसी जाती है। उमा भी इसका अपनाद

नहीं रहें। यह परीक्षा तो निष्ठाको उज्ज्वल एवं प्रगल्भात करनेवाली होती है।

भगवान् शंकर प्रसन्न हुए। उन्होंने सप्तरियोंका सरण करके उन्हें आदेश दिया—

परायति पर्हि जाह तुम्ह प्रेम पौन्डा लेहु।
मिरहि भेरि पठयहु मनव इरि कोहु संदेहु।

फेल परीक्षा ही नहीं लेना है। तपःकल प्राप होगा ही, इस सम्बन्धका पक्षा आशासन देने मेंजा जा रहा है।

सप्तरियों अथे और उन्होंने उलटी-सीधी बातें सुनायी—
परिचानकुमारी। तुम कहाँ नारदके वहकोबें पढ़ गयी? नारद स्वयं धर्मदारहित दर-दर भटकनेवाले हैं। उन्हें सवको अपनेजैसा कमाना अच्छा लगता है। अरे, यिव तो भिक्षुक हैं। नंगे, विभूति लगाये, सर्व लघेटे, भूत-प्रेतोंके साथ रहनेवाले, विलपाक्ष हैं। उनके साथ निवाह करके तुम्हें कथा सुख मिलना है। चलो, जो हुआ, ही गया। तुमने व्यर्थ यह तप किये। लक्ष्मी-कान्त, वैकुण्ठाधिगति, विभुवनमनोहर श्रीनारायणसे हम तुम्हारा विवाह करा देंगे।

व्यर्थ था सप्तरियोंका वह प्रवाह एवं प्रबोधन। पार्वती-लीने यही दृढ़तासे स्पष्ट कह दिया—

महादेव अवगुन मनव किन्तु सकृद गुन चाम।

जेहि कर मनु सम जाहि सन तेहि तेही सन काम॥

थब मैं जन्मु संमु दित हागा। को गुन दूसन करै विचारा॥
जनम कोटि लगि भर हमारी। थर्तुं संमु न त सहूँ कुआरी॥

सप्तरियोंकी बातका स्पष्टन नहीं, विवाद नहीं; किंतु अपनी निष्ठापर अच्छल सुसिंहता। यही स्थिरता, यही निष्ठा थी, जिसमे उसको भगवान् शंकरके आधे अङ्गमें खान दिया। वे चन्द्रमौलीश्वर अर्द्धनारीश्वर वने पार्वतीको अपने अङ्गमें विवाह देकर।

भगवती पार्वती सतियोंको परम आदर्श एवं परमाराध्य हैं। उनका स्परण, उनका अर्चन नारीको सतीलम्बे स्थिर रहनेकी शक्ति देता है।

—५०

(५)

सती अनसूया

स्वाम्यमुनमनुकी दौहित्री, भगवान् ब्रह्माकी पीत्री,

प्रजापति कर्दमकी पुनी तथा सांख्यशास्त्रके प्रवर्तक भगवान् विष्णुके अवतार सिद्धेश्वर कपिलकी वधी वहिन अनसूयाजी महर्षि अश्रिकी पत्नी हैं।

अनसूयाके पतिव्रत्यकी महिमा अपार है। दीर्घकालीन अकाल पड़ा था चित्रकूटके उस प्रदेशमें, जहाँ महर्षि अश्रि वाश्रम बनाया था। महर्षि दीर्घकालसे समाधिमें स्थित थे और अनसूया उनकी देवामें। महर्षिकी समाधि दूरी। उन्होंने एलीरे कहा—“देवि! जल ले आओ।”

अनसूयाजीको अब ज्ञान आया कि स्वयं उन्हें अपने लिये आहार तथा जलकी आवश्यकता सूझी ही नहीं इतने दिनोंतक। पतिव्रतके समीपका स्थान स्वच्छ कर देना। उनकी गार्हपत्य अविको प्रजस्तिं रखना और उनका ज्ञान करना, इसके अतिरिक्त अपने शरीरका से स्परण ही उन्हें नहीं आया। उन्होंने कमण्डल उठाया और वे गुफासे बाहर निकलीं।

बनके बृक्षोंमें पत्तेतक नहीं थे। भूमिपर तृणका नाम नहीं था। वरमें केवल सूखे टूटे खड़े थे और कोई पक्षु-पक्षी तो कथा क्षुद्र कीट भी दृष्टि नहीं पड़ता था। द्वावश्व-वर्षीय अवधियने आद्रेताकर चिह्नतक मिदा दिया था। जल कहाँ ऐसे समय। लेकिन पतिने जल सॉगा है तो पतिव्रती क्या यह उत्तर दे कि जल कहीं है ही नहीं। पुरुषोंमें अल्प हो। जल हो तो सामान्य प्राणीका पोषण हो; किंतु जो धर्मपर स्थिर है, उसका पोषण करनेका दायित्व भूमिपर है। उसे प्रकृतिकी अवस्था कहों आवश्य करती है।

“भगवती! त्रिलोचनमौलिमण्डनी, विष्णुपादोद्दत्ता जाहवी। मैं कुद्दारा आवाहन करती हूँ। सुरसरि! अनसूया हुग्हें पुकारती है। पधारो माँ। इस वन्धुकीको अपने आराध्यकी अच्छिके लिये जल दी।” देवी अनसूयाने क्षण-भरको नेत्र बैद दिये। उन्होंने नेत्र खोलकर देखा कि वे जहाँ खड़ी हैं, वहाँ उनके पादतलके समीपसे और आसपास-से शत-सहस्र धाराओंमें सिर्वेष रक्षालक्षणी धारा फूट निकली है। आवतक चित्रकूटके अविज्ञाप्तसे वूरखक शत-शत धाराओंमें द्वार रहा है वह सुरसरिका जल जो एकत्र मिलकर मन्दाकिनीका प्रवाह बनता है।

“देवि! इस प्रकार बुधक कानन और उसमें द्वारे जल कहाँ मिला?” अनसूयाजीने लाकर जल दिया। महर्षि

अधिने आचमन किया। सेकिन जब वे गुप्तसे बाहर आये, अपने चारों ओरकी अवस्था देखकर चकित रह गये। पली-से उन्होंने जलका उद्भव जानना चाहा।

‘आपके श्रीचरण ही इस जलका उद्गमस्थान है।’
अनसूयाजीने मखक कुक्का लिया। नारीके लिये तो परि नारायणकी प्रत्यक्ष मूर्ति ही है। इन चरणोंके प्रमाणको देखते चिन्मुखने कुछ अलग्य, अकल्यनीय तो नहीं है।’

× × ×

देवलोकतक ही नहीं—कैलास, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठतक देवी अनसूयाकी यशोगथा गौंजी। उमा, रमा, ब्रह्माणीयों भी हृष्ट्या हुई उनके पातिमलकी प्रशंसा सुनकर। पलिवोंके आश्रहसे चिक, विष्णु तथा ब्रह्माजी विवश हुए अनसूयाकी धर्मपरीक्षा लेनेको। प्रस्थान तो तीनोंने पृथक्-पृथक् किया था; किंतु संयोग ऐसा था कि तीनों चिन्मुख पहुँचनेसे पूर्वी मार्याम ही साथ हो गये। तीनोंने छविरंग चढ़ाये।

महर्षि अन्नि दनमें फल-नसीधादि लेने गये थे। तीन देवतावी अतिथि साथ ही उनके बाहरमार पहुँचे। तीनोंने कहा—‘हम बहुत भर्जे हैं।’

अनसूयाजीने उनकी अभ्यर्थना की। उन्हें आमन दिया, जल दिया। लेकिन अतिथियोंने एक अद्भुत बान कही—जगतक आप निरावरण होकर बाहर नहीं देंगी, हमारे उपयोगमें वह नहीं आयेगा।’

‘अच्छा।’ अनसूया गम्भीर हो गया। वी आपने पतिके सम्मुख निरावरण होती है अथवा चिन्मुखके सम्मुख, जो उसके उदरसे ही उत्पन्न हुआ। अन्य पुरुषके सम्मुख सती निरावरण कैसे होगी? नेत्र बंद हुए क्षणभरको उन सती-चिरोमणिके। उनके खतोत्तके सम्मुख तो चिन्देवोंकी मावा भी आवरण नहीं बन सकती थी। तथ्य क्या है: उन्हें तत्काल पता लग गया। उनके अधरोंपर मन्द स्तित आ गया।

‘तुम तीनों नवजात दिशु बन जाओ।’ अनसूयाने हाथमें जल हिया और छिङ्क दिया तीनोंके ऊपर। चिन्देव नहीं शिशु बने किलकरने लगे। अब भान उन्हें कैसे रक्खनी है, कैसे दूध पिलाती है, इसका प्रश्न ही कहो रह गया। ऐसे ज्ञायें और ऐसे नहीं यह बाब जहनेवाला वहाँ कौन रहा।

महर्षि आये और पक्षीने उन्हें तीन पुच पानेका मङ्गल समाचार दिया। अविज्ञाश्रम तीन बालकोंकी क्रीड़ाने सुखारित हो गया; किंतु कैलास, वैकुण्ठ, ब्रह्मलोकमें लम्ही

प्रतीका असद्य दो उठी। जब प्रतीका सहन नहीं हुई, तीनों देवियाँ एकत्र हुईं। तीनोंकी विषत्तिकथा एक ही। अनः तीनोंकी अविज्ञाश्रम आना ही था।

‘हम आपकी पुत्रबहुए हैं। हमारे अस्तु अभ्यास करे।’ तीनोंने देवी अनसूयाके चरणोंपर सलाक रखते। अब हमारे स्वामी हमें प्राप्त हैं, ऐसा अनुज्ञा करें।

अनसूयाजीने चिन्देवोंके उनका बास्तविक तथा देविया: किंतु तीनोंको ही माता अनसूयाके बास्तव्यका लाद लग गया था। वे उने क्षीड़ीनको तत्त्व नहीं थे। अतएव अपने एक-एक अंशों वे महादि अविज्ञ तुच्छ बने। भगवान् विष्णुके अंदामें दस्त, शंकरकीके अंशमें हुर्वाना तथा ब्रह्माके अंशमें चन्द्रमा।

× × ×

मर्यादापुरुषोत्तम श्रीराम जब चिन्मुखोंसे विद्युत लेने वाले थे। महर्षि विद्युत लेने उनके द्वारा अस्त्रम तो नहीं। उस समय अनसूयाजीने श्रीजनकरन्तिनीको दामित्रव्य-धर्मका उपदेश किया। अन्येक नारीके मनन करने वाले हैं वह उपदेश।

मनु पिता ऋता हितकरी। निष्ठद तत्र सुन राजकुमारी। अस्ति दानि भन्ते द्वयदेही। अनः दो नारि जो सेव न तैर्ती। वीरज धर्म निय अन नारी। अपहरन फरीजिअहि चारी। वृद्ध दोमायस जड़ जन हैना। अंय वधिर क्षोधी अति दीना। एसेहु एति पद निर्वापना। नारि पाव जनपुर हुस भान। एकड़ धर्म एक ब्रत नेन। काँै बलन भन पद ब्रेना। जग भक्तिग्रहा चारि चिनि अद्भूती। देव गुग्न भंत रस चटही। ढन के लस बरु भन गाही। सफलहु जन मुहा जग नाही। नध्यम परपति देवत कैसें। शाशा पिता पुम निज कैसें। धर्म चिचार्म दमुहि तुल रहर्। को निष्ठुर निश शूनि अन रहर्। चिनु अनसूर भन ते रह जाइ। जानहु अधम नारि जम सेइ। एति वंचक परपति ननि कर्म। नैन्व नरक दरुप भन पर्यं। छन युक्त लम्हि अद्भुत भत लोही। हुत भ समुद्र तोहि जन कीलोदी। किनु ध्रम नारि पर्मेऽनि रहर्। परिप्रेन धर्म दाँड़ि छुट गहर्। याते प्रतिवृत्त लनन जहें जाइ। विश्वा हैद घट लग्नाई॥

सहज विषयन नारि पति सेवत सुम भक्ति रहदृ।

जसु यादत श्रुति चारि अजहुं तुलसिला हरिहि प्रिम॥

(४)

सती साधित्री

मद्रदेशनरेश अश्वपतिने भगवती साधित्रीकी आराधना करके एक कन्या प्राप्त की थी और उनका नाम उन्होंने साधित्री ही रखा था । उनकी वह कन्या बचपनसे मुश्लील; विनयपूरणा तथा धर्मसे निष्ठा रखनेवाली थी । राजाओंका काम जनशास्त्रके अनुसार सब व्यवहार करनेसे नहीं चलता । मद्रदेशकी परम सुन्दरी, धर्मसा कन्याका स्वयंभर हो तो पता नहीं कौन उसका हरण कर ले जाव । राजाओं अपनी पुत्रीके आचरण तथा दुद्धिमर विश्वास था । उन्होंने उसे मन्त्रीके साथ पर्वटन करने मेज दिया । वह कुछ देशों तथा उनके राजकुमारोंको देख ले और जिसे वरण करें उससे उत्तरका विवाह कर दिया जाय ।

कुछ दिनों बात्रा करके कन्या लैटी । उस समय देवपिं नारद महाराज अश्वपतिके सभीप पधारे थे । पिताके आदेश से देवपिंके सम्मुख ही साधित्रीको बतलाना पड़ा कि उसने किसे वरण करनेका निर्णय किया है । धर्मनिषा रखनेवाली उस कन्याको कोई राज्य-वैभव छुआ नहीं सका था । उसके हृदयने शालदेवके नंदा शुभत्सेनके पूज शत्यवान्मूले छुना था । शुभत्सेनका राज्य शत्रुमे लीन लिया था । वे बनमें रहते थे परी तथा पुष्कके साथ और अंधे हो चुके थे । शत्यवान् ही उनका अवलम्बन था । बनमें निर्वलसाका दीवान व्यतीत करना, अम करना, किंतु शत्रुघ्नी, धर्मात्मा, पितृभक्त पति प्राप्त करना—यह निर्णय किया था मद्रदेशकी सर्वत्रुपवती पुत्रीने ।

सहस्र देवर्षि नरदका मुख खिल हो गया । वे बोले—‘एजन् । इसमें सदैद नहीं कि शत्यवान् रूप, शील तथा सद्गुणोंमें अहितीय है; किंतु उनकी आद्युक्ता तो एक ही वर्ष जीप है ।’

वे दीर्घियु हीं या अत्याद्यु मुण्डवान् हों या [निर्णय, मैंने हृदयसे उनका वरण कर लिया । अब कूरेर मुख्यको मैं स्त्रीकर नहीं करूँगी । हूरेर पुरुषकी चर्चा करता तथा छुनता भी मैं नहीं चाहूँगी ।] राजकन्याने वडे हृदरूपमें कह दिया । उसने पिता धर्मवा व्यतीको कुछ कहनेका अवसर ही नहीं दिया ।

व्यष्ट छुद्धिमती और धर्मज्ञ है । इसकी इच्छा पूर्ण कीजिये । देवपिंने भी अनुमति दे दी और विद्य हो गये ।

महाराज अश्वपति अपनी कन्या तथा विद्याद्यामग्री आदिके साथ तपोवन पहुँचे । सत्यवान्के पिताने उनका सल्कार किया । उनकी अनुमतिसे बनमें ही साधित्रीका सत्यवान्से विवाह हुआ । साधित्रीने पिताके आशह करनेपर भी व्याधिण, मूल्यवान् बलादि नहीं लिये । उसने कह दिया—‘बनमें हस सबका भैरो लिये कोई उपयोग नहीं है ।’

कन्याको परिष्ठह छोड़कर रजा अश्वपति लैट आये । अपनी देवासे साधित्रीने सास-शशुर तथा पतिको लंहुष कर लिया । लेकिन उच्चका हृदय देवपिंकी बातका सरण फरके उच्च व्यधित रहता था । जब देवर्षिहाय बताया समय आया; उसने तीन रात्रि तिरहार भत किया । चौथे दिन प्रातः स्नानादि करके उसने सास-शशुर तथा ब्राह्मणोंकी बद्दना करके उनका आसीनाद ब्रात किया । वह बही दिन था; जब सत्यवान् बनमें समिधा लेने जाने लगा, तब आशह करके सास-शशुरसे आज्ञा लेकर साधित्री भी साथ गयी ।

बनमें थोड़ी लकड़ियाँ एकत्र करनेके पश्चात् सत्यवान्के मस्तकमें पीड़ा होने लगी । वह पवित्रीकी गोदमें लिंग रखकर लैट गया । अचानक साधित्रीको लाल चल पहने कृष्णवर्ण तेजोमय पुष्पध अपने सभीप दीखे । साधित्रीने उन्हें मस्तक छकाया तो वे बोले—‘मैं बम हूँ । सत्यवान्को लेने आया हूँ । इनकी आयु पूरी हो गयी ।’

‘देव ! कुना है कि जीवोंको लेने आपके सेवक आया करते हैं ?’ साधित्रीने पूछा ।

‘तुमने ढीक बुना है, किंतु सत्यवान् पुष्पामा है ।’ यमने बतलाया । ‘और तुम्हारे जैसी पतिवता सभीप बैठी है । हसिये भेरे सेवक वहाँ नहीं आ सकते । मुझे स्वयं आमा पड़ा है ।’

भेरी गति प्रकृति नहीं अवश्य कर सकती । जब यमने सत्यवान्का जीव निकाल लिया और चलने लगे, तब साधित्रीने पतिदेहका सिर गोदसे जीवे रख दिया और उठ खड़ी हुई—‘जहाँ भेरे पति जायेंगे, मैं उनके साथ जाऊँगी ।’

पतीको पतिका अनुमसन करना चाहिये, वह बात धर्मसंग्रह थी । सती नारीकी गति सूक्ष्म दिल्लोकोतक भी अनवक्ष्य है और इच्छा करनेपर वह सबरीर वमलोंके जा चकती है, वह भी यमराज जानते थे । जहाँ अष्टिपुत्र नचिकेता जा रखता है—वहाँ सती नहीं जा सकती,

धर्मराजज्ञे ऐसा भ्रम नहीं हो सकता था । अतः उन्होंने कहा—“मनुष्यके धर्मवालनकी सीमा मर्त्यलोक है । तुमने अपने धर्मका सम्बन्ध निर्वाह किया है । इससे थैं प्राप्त हूँ । सत्यवानके जीवनको छोड़कर कोई भी वरदान मौग लो ।”

“मेरे शत्रुको नेतृत्वोति प्राप्त हो ॥३ सावित्रीने मौगा । एवमस्तु ॥” यमने कहा । “अब तुम लौटो ।”

“आप लोकपाल हैं, बैण्डवाचार्य हैं । आपके दर्शन एवं सङ्गका लाभ मुझे कहाँ प्राप्त होया । मैं सापका साथ छोड़कर अभी नहीं लौटूँगी ॥” सावित्रीने उत्तर दिया ।

“अच्छा, उत्यवानके जीवनके अतिरिक्त कोई और वरदान मौग लो ॥” यमने फिर कहा ।

“मेरे शत्रु अपना स्वीका राज्य प्राप्त करें ॥” सावित्रीने उत्तर मौगा ।

“ऐसा ही होया । अब तो तुम लौटो ॥” यमने पीछा छुड़ाना चाहा ।

सत्युत्पेक्षे साथ सात पद चलनेये मैत्री हो जाती है । मैंने आपके दर्शन तथा सत्यवानका लाभ पाया है । धर्मका तत्त्व अत्यन्त गूढ़ है और आप उस धर्मके चातान्निष्ठावक हैं ॥” सावित्री बोली ।

“तुम सत्यवानके जीवनको छोड़कर एक वरदान और ले लो ॥” यमराजने देखा कि कहाँ धर्मचर्चाँ छिड़ गयी तो बमलोक पहुँचकर भी उसके समाप्त होनेकी आशा नहीं । दूरुरे धर्म एवं सत्यवान्चर्चाँ स्वयं उन्हें प्रिय होनेसे आकृष्ट कर रही थी । अतः उरुरे शीज हूँड सकें, तभी कर्तव्यपालन सम्भव था ।

“मेरे निर्वातान मिताको उनके औरस सौ पुत्र हैं ॥” सावित्रीने भी वरदान मौगनेमें कोई संकोच नहीं किया ।

“देवि ! अब तुम लौटो ॥” यमराजने कहा ।

जीवन सत्यमहुर है । धर्म ही मनुष्यकी वास्तविक सम्पत्ति है । धर्मका भी परम तात्पर्य भगवत्प्रसिद्धि है और भगवत्प्रसिद्धि पथ सत्युत्पेक्षे सङ्घसे प्रश्रृत होता है । मेरा परम सौम्याद्य कि आज मुझे आप महाभावनतके साथका लाभ हुआ ॥” सावित्रीने घड़ी नम्रतासे कहा ।

“अहो ! तुम कोई और वरदान मौगो ॥” यमराज इस बार कोई प्रतिवन्ध लाना भी भूल गये ।

“सत्यवान्द्ये मुझे सौ पुत्र प्राप्त हों ॥” सावित्रीने मौगा ।

“त्यस्तु ॥” यमराज दोले । “अब लौटो ।”

“लौटती हूँ, मगवन् ॥” सावित्रीने हाथ जोड़े । “मिथु भैर यतिके प्राण लौटा दीजिये, विसरे आपका वरदान मिथ्या न हो ॥”

“धर्म नित्य विजयी है, देवि ! जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म नित्य युहसे भी उल्की रक्षा कर लेता है । सत्यवान् जीवित हों । तुम सफलकाम हो ॥” यमराजने सत्यवानका लौट उसके देहमें लौटा दिया ।

सत्यवान् उठ उठा । सावित्री पतिके भाथ व्याशम लौटी । सत्यवानके यिताको दृष्टि गिर चुकी थी । उसी समय उनके राज्यके प्रमुखजन उन्हें लेने आये थे । अनु-नैतेशको प्रजाने विद्रोह करके मार दिया था और अपने धर्मात्मा राजाको लेने वे आये थे । सावित्रीके साथ सत्यवान् को लेकर राजा शूमतंत्र उसी दिन गजधानी पहुँच गये ।

—३०

(५)

भगवती श्रीजनकीजी

सदी स्त्रीोत्तमि सिय गुम गाया ।

महासती श्रीअनसूदानीने सतीधर्मका उपदेश करनेके उपरान्त श्रीजनकीजीसे कहा—

सुनु सीता तब नाम सुमिरि नारि पतिग्रन करदि ।

तोहि भरम झिय राम कहेहैं कथा संसार हित ॥

महाराज जनककी इन अयोनिजा कन्या भूमिसुताका सरण ही सतियोंको अपने सतीत्व-धर्मपर स्विर रहनेकी चाचि देता है । इनके सतीत्वकी चर्चा भला, कोई कथा करेगा । श्रीरामको बन जाना था । भला कौसल्यासे विद्या मौगने वे आये । श्रीजनकीको समाचार मिला और वे सासके उद्दन गयी । उन्हें कुछ कहना नहीं पड़ा । उनके तो मनमें निश्चय था—

चलन चहत बन लैलन नामू । कहि सुकृदी सन दोइहि साथू ॥
कौ हनु प्रान कि कैबल प्राना । चिधि करतय करु जात न जाना ॥

भला कौसल्याने ही श्रीरामसे अनुरोध किया कि वे जनककुमारीको अयोध्या रहनेके लिये समझायें । श्रीरामने अपनी ओरसे बनके धर्दोका भय दिनुलावा । अयोध्या रहना धर्मसंग्रह है, यह भी वताया ।

आपन गोर नीक जों चहहू । वचन हमार गानि भूद रहहू ॥
आपसु मोर सासु सेकपाई । सय जिदि सामिनि गवन भलाई ॥
एहिते अधिक धरम नहिं दूजा । सादर सासु ससुर पद पूजा ॥

अंगरामके भथदर्जन एवं उपदेश-आदेशके उच्चरणे अत्यन्त
व्याकुलतापूर्वक जमकमन्दिमीने निवेदन किया—

प्राननाथ कहनायतन सुंदर सुखद सुजान ।
तुम्ह विनु रघुकुण कुमुद विनु सुरपुर नरक समान ॥
भानु घिना भिनी ग्रिय भाई । ग्रिय परिवार सदन सुखदाई ॥
सासु ससुर मुर सजन सहाई । सुत सुंदर सुसील सुखदाई ॥
जहौं लगि नाथ नेह अर नाते । ग्रिय विनु दियहि तरनिहुते ताते ॥
तनु धन धाम धरनि पुर राजू । परि विहीन सब सोक समाजू ॥
भेल रोग सम सूक्ष्म भार । जम जातना सरसि संसारू ॥
प्राननाथ तुम्ह विनु जग भारी । मो कहुं सुखद करहुं कोड नारी ॥
ग्रिय विनु देह नदी विनु बारी । तैसिय नाथ पुष्प विनु नारी ॥
नाथ सकल सुख साथ तुम्हारे । सख विमल विनु बदन निहरे ॥

कहौं राजसदनकी स्नेहपालिता राजकल्पा और कहौं
वनकर वीहद पथ, वल्कल-चंडी, कंद-मूल-आहार साथी-
शयन तथा पर्णकुटी । किन्तु श्रीजनकीको थह कष पभी प्रतीत
ही नहीं हुआ ।

थह ठीक है कि रावण छाया-सीताका ही हरण कर लका
था, जनककुमारीने तो श्रीरामकी आशाए पावकमें शुत निवाष
स्वीकार किया था; किंतु छाया-सीता भी तो अन्ततः सीताकी
ही छाया थीं । सुरासुरजयी रावण—‘कोकप जाके नंदी
छाना’ और उसे तिरकूत करके कह देना—

सुनु रावन खद्योत प्रकासा । कम्हुं कि नलिनी करद निकासा ॥
—यह ओजस्विता उन आदिशक्ति निखिलेश्वरीकी छायामें
ही सम्मव थी । लोकर्मण्डाकी रक्षाके लिये भले सर्वदा-
पुरुषोत्तमने अग्नि-परीक्षा आवश्यक मानी, किन्तु जगन्माता
दो नित्य मङ्गलस्त्री परम द्युदा है ।

—७०

(६) सती दमयन्ती

विदर्भनरेश राजा भीष्मककी कन्या दमयन्ती विवाह-
योग्य रुहि तो उसके सौन्दर्यकी प्रशंसा इतनी फैल रुकी थी
कि हन्त्र-जैसे लोकपाल भी उससे विवाह फरनेको उत्सुक थे ।
लेकिन एक हंसके द्वाया तिष्ठनरेश नलका वर्णन सुनकर
दमयन्तीने अपना हृदय ढहने अर्पित कर दिया था । राजा

नल भी दमयन्तीके रूप-रुणको मुनकर उससे विवाह फरनेकी
उत्सुक थे ।

दमयन्तीका लवंयर करना था । हन्त्र, अम, वश्य
और अग्नि—ऐ लोकपाल भी आ रहे थे लवंयरमें । हन
देवताओंदारा प्रदत्त अन्तर्धान-विद्याके प्रधावसे नल
अन्तपुरमें पहुंचे और दमयन्तीसे बोले—‘लोकपालोंके
समूख मनुष्य कैसे तुम्हारी रक्षा कर लकता है । तुम हन
लोकपालोंमें ही किसीका वश्य करो !’

दमयन्ती रोने लगी । उसने कहा—‘मैंने आपको पक्षि
मान किया है । सूर्सरको मैं स्वीकार नहीं कर सकती । मैं
अपने धर्मपर उच्ची हूँ तो देवता मुझे आशीर्वाद ही
देंगे ।’

नल लौट आये । स्वयंवर-समारोह नलके समीप उनके
ही रूपमें चारों लोकपाल भी आ दैठे । वरमाला लेकर
दमयन्ती आयी तो पौंच नल देखकर चकित रह गयी;
किन्तु उसने देवताओंसे मनही-मन प्राप्तेना की । उत्तीर्णे छल
फरनेका साहस देवताओंमें नहीं था । दमयन्तीने देख लिया
कि केवल एक नलको पक्षीना आशा है । वे ही आसनका
सर्व करके दैठे हैं । उन्हींकी भालाके पुष्प कुहलाये हैं ।
अतः उनके काठमें उसने वरमाला ढाल दी ।

दमयन्तीने मनोनीत पतिके लिये लोकपालोंका भी
तिरस्कार कर दिया था । इससे लोकपाल प्रसन्न हुए; क्योंकि
देवता धर्मके सहायक होते हैं । अग्निने आशीर्वाद दिया—
‘नल ! तुम्हारे सारण करते ही मैं प्रकट हो जाऊंगा ।’

हन्त्रने प्रत्यक्ष यज्ञसागर लेना स्वीकार किया । वश्यने
इच्छा करते ही जल प्रकट होनेका और यमने नलके
हाथसे सुखादु भोजन वसनेका आशीर्वाद दिया । देवता चले
गये । नल पत्नीके साथ राजधानी आये, अनेक वर्षोंतक
उन्होंने राजसुख [भोगा]; लेकिन नलको जुआ खेलेनेका
व्ययन था । अपने छोटे भाई पुष्करके साथ जुआ खेलते
हुए वे सारा रात्र हार गये । दमयन्तीने अपने पुत्र तथा
पुत्रीको आपने मित्रके घर मैज दिया और स्वयं पतिके साथ
राजभवनसे निकल पड़ी ।

जो नलको शारण देगा, उसे प्रणदण्ड मिलेगा ।
यह घोषणा पुष्करने राज्यमें करा दी । जो कलतक नैश
थे, वे नल परम सुकुमारी रानीके साथ अग्रण भटकने

दी। उन्होंने दम्भत्वाके हुए समझा कि वह अपने पिताके द्वारा विमुचित दिन काट दें। किंतु उस परिवर्तने नकलमें चालिया थाय दोइता लीकर नहीं किया।

तीस दिन बीत गये इन्हिंको बदले भटकते, कोई आहुर नहीं किया। जैसे दिन हुए हुएहो धंखाके पक्षी थीं हैं। तब्दे उन्हें लकड़ीके लिए बाली बोती लौकी दी है वही बोती ही लेकर उड़ गये। बल नहीं हो गये। दम्भत्वाकी वैहार नी एक ही लाडी थी। लूटेप्पाठे कोलों पक्कत थे गये। तबकी दिन शुद्धी। उन्होंने कोता—भैरो तो हुम्हेंके दिल हैं। भैरो कारण वह चलहुआरी कम्ह था रही है। कैं बल जाँचें तो यह धक्का खाकर नियोके द्वारा लाली ही जायगी।

गये रुही जाना दम्भन नहीं था। बोती हुई दम्भत्वाकी लाडी लाली नकले पक्कत लकड़ी और उसे बोती ही लेकर चले गये। दम्भत्वाकी जगी तो परिजो म वैहारकर लकड़ियां करदी हुई उन्हें बदले हुई हुई लाली। परिजियोगमें पागल इनी दम्भत्वाकी देता ही नहीं कि वह क्या अन्यतरके पास हुँह रखी। जवाहरले उसे दफ़्टा और नियोगमान बास्तव कर दिया।

कोई जाय बदले बोते ब्याह आया था। उसने दम्भत्वाकी चालाक लुती दो दौड़ा आया। अन्यतरो उसने मर दिया। लैकिन दम्भत्वाकी दौड़ीजो देखकर वह बामलोहित है नथा। उसने वैहारकरके प्रवल किया दो बरस लालीके क्रैप्पड़ी नेत्र दृढ़ते ही बाकेके शर्पिले अग्नि प्रकट हुई और वह नल हो गया।

उसने दम्भत्वाकी दम्भत्वाकी चाल लुकाहुकी चालत्वाकी चेदि नगर पहुँची। उठे दीनदिवामें नागर लाले उत्तमत्वाने झारोलें देता और अपने पास लुल्चा लिया। दम्भत्वाकी चालाक आवाहान नियोगम दम्भत्वाकी उनके सर्वांग गयी। यौवे उसमें परिचय हुआ दो पत्ता लगा कि दम्भत्वाकी यजमाताजी सभी चाहिलकी पूजी है और उसने बनकरनामे ही अपनी लौरीके दहाँ ही दरण-जहा की है। वह परिचय दो जल्दीर चालताजीने प्रवल छरके दम्भत्वाकीके उत्तरके दिलके द्वारा मेरे दिल।

दम्भत्वाकीके लालकर उठे बदले चले गये थे। इस बायामें उन्हें बाजानिये दिया बैठोटक नाम दिया। नकले उसकी प्रान-लाली। उठा देनेमें नीची हो गयी। उक्कीछुक्को नकला रुप लेवर्डिंग बन दिया। वह अवसरा मी द्वारा दी

हुई। हैलेज के अंदर कर रहा कर लें। उसकी समाप्तिदे लक्ष्य अनन्य नाम लालुक रख लिया। वे बहौदी अद्योत्ता पहुँचे और बहौदी राज लालुकगे के छाप अवश्यकिते अव्यक्त-द्वारा दिलुल होकर रहने लगे।

नियोके पहुँचे पहुँचकर दम्भत्वाकी नकले अन्यतरपाँच चारों ओर चर मेजे। उन्हें एक चर अद्योत्ता मी पहुँचा। वह चलुर ब्राह्मण था। उन्हें लालुको देखा। लालुकके अवश्यकते उने संदेह हुआ। उनका विवरण पाकर उसकत्तिये अद्योत्तके राज लालुकने नाम संदेह मिलाया—मी पुनः लालुक लाली। कम्हक आप आ जायें।

प्राह्लादप्रियतामें पड़े। एक दिनमें अद्योत्तके निर्दम्भ नला कैरे पहुँचा जा दक्षता है। लैकिन लालुकपे गंगाको निर्वित कर दिया। उसने रथ संग्राम। लालुकका रथ लालुकपे उड़ा ला रहा था। नाममें लालुकपे लालुकने लालुको रथ हाँकनेकी यह कला सिलायी। उसके लालुकपे मी उठे शूलमें विजय पानेकी विद्या बड़ा दी।

लालुकका रथ एक ही दिलमें अद्योत्तके विद्यमें पहुँच गया। बहौदी लूटप छोड़े राज नहीं आया था और उस लालुकपे कौई व्यापोकन था। दम्भत्वाकी तो वह लानना था कि लालुक नल ही हैं या नहीं।

एक और पुत्री दम्भत्वाकी दम्भत्वाकी लाय नेजे। लालुक उद दीलको दृद्धते लगाकर लैले लगा। मोजन लूलोपे लालुक अवसरा कर दी गयी थी कि लालुकको न घड अल्पाल मिले। न अस्ति। लालुकने लूलेने हूँक गरी और अस्तिदेह प्रकट हो गये। लक्षण उसने देखा दो वह कमरतक मर गया। उसका लोकन कैलालपे दम्भत्वाकीमें मंगाया और लालुक दैदूँ। उसपरके लगालमें लाल लाल होता था। वह कोई कैरे हिना लेता। मूरी परिजा करते दम्भत्वाकी लूले पात्र आयी। अल्पतः नलको जग्नो बालानिका लूलकार करती पड़ी। उन्होंने अपना अद्योत्त रथ धरण कर दिया।

नियोगे निया हैकर यह नल नियम पहुँचे। उन्होंने पुक्करको हुआ लेलेकी हुन्हेंदी दो और हुसने सोया चाल्य हुसने ही लीट दिया। असने उद्धार लालुकके काल उन्होंने रथ पाकर छोड़े नारे पुक्करको नियोगित नहीं किया।

विलक्षण पत्नी-धर्म

भास्त्री देवी

संयम, संटोष उथा शास्त्रनिष्ठा ही ब्राह्मणका धर्म है। इस ब्राह्मणत्वके मूर्तिमान् सजीव स्वल्प थे श्रीवाच्चस्पति गिरा। वे विद्याध्ययन करके लौटे तो भास्त्राग्निताने विवाह कर दिया। एकान्तमें झोपड़ी सिल गयी रहनेको और वे अपने अध्ययन-चिन्तन तथा शास्त्र-प्रणयनमें लग गये।

शरीरके धर्म सबके साथ लगे हैं। शौच-स्नान, भोजन-निष्ठाके अतिरिक्त ब्राह्मणके साथ संव्याचन्दन, दृवन-तर्पणके कर्म भी लगे रहते हैं। चिकित्सा, स्नान, समवर्प संख्या, पूजन, पिण्डतर्पणमें प्रभाव नहीं होता था; किंतु जिसे भोजनका ही सरण न दी कि मुखमें कैसा ग्रास जा रहा है, उसे दूसरे कर्मोंकी ओर ध्यान देनेका समय कहों था। शरीर जैसे यन्त्रके समान समवर्प अभ्यासवदा सब काम करता था; किंतु श्रीवाच्चस्पति गिरका मन तो निरन्तर शास्त्रके गम्भीर चिन्तामें लीन रहता था।

एक रचिकी घटना है पण्डितजी बार-बार नेत्र चंद करके कुछ सोचते हैं और फिर लिखने लगते हैं। आस-पास ग्रन्थोंकी ढेरी विरक्ती पड़ी है। कभी-कभी कोई ग्रन्थ उल्टकर कुछ देखते हैं। अचानक दीपक बुझ गया। पण्डितजीके

कार्यमें बाधा पढ़ी, व्यान भङ्ग हुआ। इतनीमें उनकी पत्नीने आकर दीपक जला दिया और चहोंसे जाने लगी। पण्डित-जीने पूछा—‘देवी! आप कौन हैं?’

पत्नीने तिर छूका लिया। लड़े नक्ष शब्दोंमें बोली—‘मैं आपकी सेविका हूँ।’

‘मेरी सेविका! मेरी सेवामें दुर्गम हिस्ते नियुक्त किया।’ पण्डितजीकी समझमें बात आशी नहीं थी।

पत्नीने बहुज्ञा—‘धर्मके अतिरिक्त पत्नीको पतिकी सेवामें दूरया कौन नियुक्त कर सकता है।’

‘मूँग मेरी पत्नी हो! पण्डितजी अब भी पूर्णतया मनको इत और नहीं ला सके थे। हमारा विवाह कब हुआ था? मुझे तो कुछ सरण नहीं है।’

‘उस चढ़नाको तो पचास वर्ष हो चुके।’ पत्नीने कहा। ‘विवाहमण्डपमें भी आपने एक हाथमें मेरा हाथ पकड़ा तो दूसरे हाथमें पुस्तकके पन्ने थे आपको। आपका ध्यान उस शास्त्र-चिन्तानसे पृथक् न हो, यह मैंने प्रयत्न किया। आज मेरी असाधजालीसे दीपक बुझा और आपके कार्यमें बाधा पड़ी। मुझे धमा करें।’

पचास वर्ष एक झोपड़ीमें एक साथ रहनेपर भी जिसका स्थान ही नहीं गया कि उसके रुपान, भोजन, अध्ययनकी समस्त सेवा कौन करता है, कौन उसके लिये सब सुधिधार्दें सब समय प्रस्तुत करता रहता है वह शास्त्र-चिन्तामें लगा ब्राह्मण श्रेष्ठ है अथवा पूरे पचास वर्ष निरन्तर पतिकी सेवामें लगी, उसके लिये जल-अज्ञसे लेकर दीपक जलानेतकी छोटी-बड़ी सम्पूर्ण सुविधा क्षण-क्षणकी देख-रेख करनेवाली तपस्तिनी पतित्रता श्रेष्ठ है। हसका निर्णय तो धर्मराजसे ही सम्भव है।

‘मैं तुम्हारा नाम अमर कर दूँगा।’ पण्डितजीने अपने ग्रन्थके नामके स्थानपर लिखा ‘भास्त्री।’ ‘मुझे और क्या चाहिये?’

शास्त्रनिष्ठ दंयमी ब्राह्मण ऐसा क्या है जो देनेमें समर्थ नहीं, किंतु पतिकी सेवा को पति-सेवाके अतिरिक्त कुछ चाहिये ही कहों।

बेदान्तदर्शनका अपूर्व भाष्य ‘भास्त्री’ आज भी इस धर्मग्राण विषय-धर्मतिकी उल्लङ्घन यशोगाथा है। —५०



पत्नी-धर्मकी आदर्शभूता श्रीमती वासुकी

तमिलके प्राचीन प्रसिद्ध कवि संत तिरुबल्लुवरकी पत्नी श्रीमती वासुकी आदर्श पतिप्रतिष्ठा नारी थी। एक बार वे कुएँसे जल निकाल रखी थीं। उसी समय पतिने पुकारा उन्हें किसी कामसे। आधे कुएँतक घड़ा आया था। उसे वहाँ छोड़कर दौड़ा—‘आत्री खायी।’

पतिव्रताने जहाँ छोड़ा था, घड़ा बौच कुएँमें बहीं लटक रहा था।

देशके कुछ भागोंमें चरीकोंमें यह रीति है कि दामको चावल पकाकर भातको पानीमें हुबाकर रख देते हैं और सबेरे नमक मिलाकर उसे खाकर काम करने लगे जाते हैं। बड़े सबेरे कामपर जाना आवश्यक होता है। जो पत्नी दिनभर साथ काम करे और लौटकर भोजन बनावे, उसे सबेरे बर्दन-चौका खन्ना करके पिर सेतपर जाना होता है। इसलिये सबेरे लासी भात खानेकी यह प्रथा श्रमिकोंमें बहाँ चल पड़ी है, जहाँ सुख्य भोजन भात है।

उस समय तमिलनाडुमें भी वह प्रथा थी। पता नहीं, अब वहाँ लासी भात खानेकी यह प्रथा है या नहीं। लेकिन मध्यप्रदेशके छत्तीसगढ़के जिलोंमें तथा उत्कल एवं निहारके बहुतमें भागोंमें अब भी है। ऐसा ही पानीमें भीगा लासी भात खाने लगे वैठे वैठे ये तिरुबल्लुवरजी। उन्होंने अचानक पत्नीसे कहा—‘भोजन बहुत गरम है, पंखा करो।’

संतकवि तो अपनी झुनमें थे। इन्होंने मनहीनन आराध्यको भोजन अपित करना चाहा और भूल ही गये कि भोजन लासी तथा जलमें छूथा है। उनके मनमें तो ताजा उत्तम भोजन या चोंडे वे आराध्यको अपित करने वैठे थे।

‘अच्छा, खायी।’ सरी नारीने पंखा उठाया और झटने लगी। पतिने कोई भूल की है, उनकी आशा सदोष है—
यह लोचना उन्होंने सीखा ही न था।

—४०—

कुछ सती देवियाँ (१)

सती कुमारी सूर्यपरमाल

बात है सन् ७१८ ई०की। वरदादके सलीका बलीदमे अपने युवक सेनापति मुहम्मद विन कासिमको आर्य-धरापर आक्रमण करनेकी आशा दी। मुहम्मद विन कासिम अपनी वाहिनीके साथ देवल (सिंध) पर छूट पड़ा।

उस समय सिंधका शालंग महाराज दाहरके हाथमें था। युवराज जयद्याहरे वनन-सेनाका ढटकर सामना किया। किंतु आम्य विपरीत था। आर्यसेनाएँ परजित हुईं और उसके दौंदरसाहपर चाँदतारिके निशानवाला हरय झंडा फहराने लगा।

अपनी परजियका समाचार सुनते ही महाराज दाहर तड़प उठे। अपनी सेनाके साथ वे स्वयं युद्धस्थिरमें उत्तर पड़े और वनन सेनाओंको गाऊर-भूर्लंकी भाँति काटने लगे। वे रणाङ्गणमें जिधर सुड़ते, वनन-दल समाप्त हो जाता। आर्य-सेनाएँ भी बड़ी वीरतासे शत्रुको समाप्त कर रही थीं, किंतु महाराज दाहर अनन्तोंसे घिर गये। सैकड़ों शत्रुओंको अपनी तलवारके घाट उतारकर उन्होंने बीरगति प्राप्त की। कर्यर वननोंने महाराज दाहरके निव्याण जरीरसे उनका मत्तक काट लिया, लालीका के समुद्र अपनी वीरता-प्रदर्शनके लिये।

महाराज दाहरकी वीरत्वनीने यह समाचार सुना तो वे कोखे दाँत पीचने लगा। किंशेही सेनाके साथ वे स्वयं

इस प्रकार युद्ध समाप्त हुआ।

बिजयोन्मत्त यथन भद्राराज दाहरका रज-भवन लूटने लगे। इस लूटमें सेनापति मुहम्मद विन कासिमने तीन प्रमुख वस्तुएँ ग्राप की—महाराज दाहरका सिरु उनकी दो परम स्पवती बेटियाँ—सूर्य और परमाल तथा दाहरका छत्र।

सेनापतिने लूटका सारा समाचार लालीका बलीदके पास बगदाद भेज दिया और स्वयं भारतपर विजय प्राप्त करनेकी शुक्ति सोचने लगा।

× × ×

‘या खुदा !’ महाराज दाहरके कटे सिरको देखकर लालीका सहम गया। उसके खुँहसे आश्चर्यभरा घाक्य निकल गया—‘हिंदुस्तानी काफिर इतने डराकरे होते हैं। जल्दी हटाओ इसे यहाँसे।’

कट चिर हटा दिया गया और सूर्य और परमाल महाराजकी दो बेटियाँ समुद्र उपस्थित की गयीं।

उनका रूप और लालण। लालीका हैरान था। वे

लक्षियाँ हैं कि बहिकलकी हुईं ? यैतान जाग्र दुखा ।
आशानुसार सैनिक चहोंसे इट गये ।

मैं तुम्हें अपनी बेगम बनाना चाहता हूँ । खलीफा
आगे बढ़ा । वह मार्गीय देवियोंके सतीत्व और धर्मपर
प्राण देनेकी बात सुन चुका था । उसे आज्ञा यो कि वे
लक्षियाँ कुपित होंगी ।

किंतु उसकी आज्ञाके विपरीत वे रोने लगीं ।

खलीफा आगे बढ़ा तो पीछे हटती हुई सूर्यदेवीने
कहा नहीं जहाँपनाह ! मुझे न छोरें ।

‘मैं ?’ कुछ भी न समझकर खलीफाने पूछा । ‘क्या
बात है ?’

मैं हुमें बोध्य नहीं रही । रोते-रोते सूर्यदेवीने उच्चर
दिया । वह शरीर आपके अधम सेनापति मुहम्मद विन
कासिम्से अपवित्र कर दिया है ।

खलीफा ठक् रह गया । कोधरसे उसकी ओरें लाल हो
गया । उसने अपने सुने सैनिकोंको आशा दी—मुहम्मद किम
कासिम्से जिदा ही सूखी खालमें सीकर हिंसानसे
लाकर भेरे हुजूरमें जाजिर करो ।

सैनिकोंने प्रसान किया और वे भारतवर्ष पहुँचे । मुहम्मद
विन कासिम चिल्लामें लगा, अपनेको निर्दोष बताने लगा
और प्रार्थना करने लगा कि वह जहाँपनाहके सामने अपनेको
बेगुनाह साक्रित कर देगा; उसे गोका दिखा जाय । पर हुक्म
हो हुक्म था । सैनिकोंको उसकी तामील करनी थी ।

रोता, गिरियांडाता जिंदा मुहम्मद विन कासिम सूखी
खालमें झेंसकर अच्छी तरह बंद करके सी दिया गया । उसे
सैनिक बगदाद के बढ़े ।

सूखी खालमें मुहम्मद विन कासिमका बंद मृत शरीर
खलीफाके सामने पेश किया गया । खलीफाने गुस्सेमें बढ़-
बढ़ते हुए उसे दो लात कसकर जमाया और उसे दूर ऐ
जानेका हुक्म दिया ।

पर उसने अपने विश्वासी और साहसी दीर सेनापति
(मुहम्मद विन कासिम) का अन्तिम संदेश सुना तो वह अबाकू
रह गया । उसे अपने कानोंपर विश्वास नहीं हो रहा था ।
व्या वह सम्मव है ! कुछ निश्चय नहीं कर पा रहा था ।

महाराज दाहरकी धर्मग्राण पुत्री सूर्यदेवी और परमात्मा
सामने खड़ी थीं ।

‘तो होता या हो गया?’—दलीदने हुए चिन्तित रसमें
कहा । पर हुम सच सच बतला दो—मुहम्मद विन कासिमके
सामलेमें तुमने जो कुछ कहा था, वह सच या या नहीं ?

‘विलुल छुड़ !’ सूर्यदेवीने दौँत पीसकर कहा, पहिं
कन्याको अपवित्र करनेकी सामर्थ्य त्रुम्भारे सेनापतिमें कहाँ ।
अपने मातापिता तथा सैनिकोंवी मुखुका बदल लेनेके लिये
मेरे पास अन्य कोई मार्ग ही नहीं बच गया था ।

खलीफाकी ओरें जैसे कठसी गर्भी । उसे चाहर आने
लो । महाराज दाहरकी उन दोनों वेटियोंको कटोरतम
दण्ड ढेनेके लिये उसने सिर उठाया तो देखा दोनों वेटियों
की निजींव देह धरतीपर छहक गयी हैं । अपनी विष्वुही
कठार दोनोंने एक दूसरेके वक्षमें दुखा दिया था ।

खलीफा हैरान देखता रह गया ।

—शि० ३०

(२)

सती पश्चिमी

मैं पश्चिमीको नहीं चाहता—अलाउद्दीनने चित्तीह दुर्ग-
के शासक भीमतिह (स्लारिह) को सुदेश भेजा । आप उसे
एक बार सिर्फ दिखला दें, मैं दिल्ली लौट जाऊँगा ।

चित्तीहपर थेरा ढाले अलाउद्दीन शक गया था । उसके
सैनिक भूखी मरने लगे थे, किंतु चित्तीहपर इसका कोई
प्रथाव नहीं पड़ा । अपनी लज्जा छिपानेके लिये अलाउद्दीनने
उत्तरुक संदेश मिजवाया ।

चित्तीह-विनाशमें मैं निभिता नहीं बतना चाहती—ओधसे
कैप्टे अपने पतिको अत्यन्त विनीत शब्दोंमें सती पश्चिमीने
समझाया । आपत्तिके सभय राजपूत-नारी अपना कर्तव्य जानती
है; पर विपत्ति सरलतासे टल जाय तो अच्छा है । दर्पणमें
धेरी आया देसकर वह वृश्चक लौट जाय तो कल्याणकर है ।

दर्पणमें आयासारा !—अलाउद्दीन इतनेपर राजी हो
गया । चित्तीह-दुर्गमें उसका स्वागत हुआ । दूसरे दर्पणमें
उसने पश्चिमीका मुँह देखा तो उन्मत्त-सा हो गया । वही
कठिनतासे वह संयमित हो सका ।

दुर्ग-द्वारके बाहर भीमतिह उपे पहुँचने आये और
कुछिल अलाउद्दीनने उन्हें गिरफतार कर लिया ।

चित्तीह-दुर्गमें कूर बननेके प्रति अत्यविक घृणा और
अशान्ति व्याप्त हो गयी ।

* * *

भौवालका सूर्य अस्त न हो जाय—बहुत सोङ्क-विचारकर

पृथ्वीराजने हृषि प्रतिका की—निश्चय ही मैं आपके पिताका राज्य वापिस दिलाऊँगा ।'

अवधर देखकर पृथ्वीराजने सूर्योनके चरणोंका स्पर्श करके आश्रित प्राप्त की और पाँच सौ तुने हृषि बीर सैनिकोंको लेकर बदनौरकी ओर चल पहा । उसके हृषिकी सीमा नहीं थी, जब उसने देखा कि सैनिकके बेपर्मे स्वयं ताय उसके साथ घोड़ेपर चल रही थी । उसकी लंबी तलवार बगलमें अटक रही थी ।

X X X

उस दिन भोर्हम मनाया जा रहा था । ताजियोंके जनाजोंके साथ मुख्यमान हा हुसेन हा हुसेन कहते अपनी छाती धीट्वे रोते-चिल्लते आगे गढ़ रहे थे । तुर्कोंके ऊपर बैठा अफगान लाइलाहा जनाजोंका उठना देख रहा था ।

पृथ्वीराजने अपना पैना तीर कसकर छोड़ा । वह लाइलाहाके बक्षमें धैंस गया । लाइलाहा वहाँ लुढ़क मरा । मुख्यमानोंमें खालवली मर्यादा । पृथ्वीराज और तारा अपने सैनिकोंसे यिल्ले पीछे भागे । मुख्यमानोंने पीछा किया । युद्ध छिड़ गया । यदनोंको अख्त उठानेके पूर्व ही समाप्त कर दिया गया । जो जहाँ था, वहाँ मौतकी गोदमें सो गया ।

ताराने भी अपनी तीक्ष्ण तलवारसे अनेक थवनोंका संहार किया ।

अदनौरका दुर्ग मुनः सूर्योनके हाथमें आ गया और अपनी प्रतिक्षाके अनुसार ताराने पृथ्वीराजके साथ विवाह कर लिया । —शि ५०

कुछ आदर्श हिंदू-नारियाँ

(१)

सती चंचलकुमारी

‘तू बहू जैतान मालूम होती है, बुद्धिया ।’ रूपनगरकी लम्बती और चंचल राजकुमारी चंचलने कुछ रोपसे कहा । ‘या तो मुख्यमान बादशाहोंकी तस्वीरें दिखाती हैं या मानसिंह, जयसिंह और जगतसिंह आदि उनके नौकरोंकी । मैं युसुसे बास्तार हिंदू नरेशोंके चित्र दिखानेके लिये कह रही हूँ ।’

‘यह देखिये, राजकुमारी’ बुद्धियाने कहा । ‘आप नाराज क्यों होती हैं ?’ और उसने प्रतापसिंह करमसिंह और राजसिंहके चित्र दिखाये ।

‘और ? अबकी चंचल प्रसन्न हो गयी थी ।

‘दिल्लीके बादशाह, आलमगीरकी तस्वीर है यह ।’ फिर औरंगजेबका चित्र सामने रखकर बुद्धियाने कहा । ‘इसकी सिजदा करो, राजकुमारी ।’

‘सिजदा !’ यजकुमारीने दौँत पोस लिये ।

भुजों । अनेक दासियोंको छुलाकर दैसती हुई कुमारी चंचलने कहा । ‘इस नरकों देखताकी सिजदा करो ।’

और सबने उस चित्रपर जूतियाँ बरसायीं । चित्रके चीथड़े हो गये ।

बुद्धियाने चित्रके चीथड़े उठा लिये और चुपचाप चली गयी ।

वह दिल्ली पहुँची और सारी घटना उसने नमक-मिर्चके साथ औरंगजेबको सुना दी ।

औरंगजेब आग-बबूला हो गया ।

उसने सेनापतिको तुरंत आशा दी—अभी रूपनगरके लिये फौज कूच करे और राजकुमारी चंचलका डोला यहाँ आ जाय ।

‘ऐसा ही होगा ।’ सेनापतिने उत्तर दिया और औरंगजेब की सहाय सेना रूपनगरके लिये चल पड़ी ।

X X X X

‘आप अपनी लड़कीका डोला तैयार रखें—सेनापतिने रूपनगरके राजा, कुमारी चंचलके पिता, विक्रम सोलंकीको पत्र लिख मेजा । शहर आ रहे हैं । अगर ऐसा नहीं हुआ तो रूपनगर खूनमें नहायेगा और कुमारी तो हमारे साथ आयेगी ही ।’

विक्रम कौँप गया । ‘दिल्लीशरकी अपार शक्तिके सम्मुख में क्या कर सकूँगा ?’ फिर क्यों न कुमारीको मैत्र दें ? कितने ही राजपूतोंकी कत्त्वाएँ तो मुख्यमानोंसे ब्याही जा जुकी हैं । और अपना यही मत्तव्य उसने अस्तपुरमें चंचलको सुना दिया ।

पत्तमें स्वान रूपनगर कर ले ।—चंचलने उत्तर दिया । व्यस्तमें कोई हानि नहीं; पर आपकी पुत्री मुख्यमानकी बेगम बते, यह महापाप है । कैसे सहेंगे इसे आप ?

‘किंतु तेरी रक्षाकी शक्ति मुझमें नहीं ।’ विक्रमने कहा । ‘मैं तुमसे स्वप्न बता देता हूँ । औरंगजेबकी विश्वाल सेनाके सामने हम मुहीभर राजपूत कर ही क्या सकते हैं ?’

प्राकि आयमें नहीं सर्वशक्तिकुम्भ अपदीक्षितमें है निश्चिती ! अत्यन्त हुनी होकर चंचलने कहा । ऐ निश्चय ही मेरी रसा कर्गे और इन्हाँ तो आप जानते ही हैं कि अन्ति दिव और दिवान्त कठार तो हम क्षत्रजियोंकी सदाकी नाथिन हैं । हमारे धर्मकी न्या वे कर ही सकते हैं । मैं युनः एक देकर कहती हूँ, आप मेरी चिन्ता न करें ।

दिनम उदास, नुँह लड़काये याहू चला गया और गजकुमारी निश्चित, उदास, ये ने उनीं ।

‘करणमय स्तानी ! मेरे धर्मकी रसा करना ।’ चंचलने प्रार्थना की और अनानन्द उम्ही हाथि लग ढाँचा तो देखा गजकुमारी चित था । ‘गजसिंह—महाराजा प्रतापके चंचलउ निर्वाहके अक ।’ गजकुमारी निश्चित और उकड़की दौधे देखक: वहुत देरक देखती रही ।

‘करणमय भगवन् !’ उसने युनः प्रतुको सरण किया और पत्रमें नारी बते विदारसे लिखकर राणके पास पत्र भेज दिया । उन रक्षितकीं द्वाय श्रीहर्षणको पत्र लिखनेकी बात समझ आ गयी थी ।

कुछ ही दिनोंमें उत्तर भी आ गया ।

‘पत्र भिला ।’ यजर्णिहने स्थंथ लिखा था । ‘आप निश्चित हैं ।’

‘पत्रो !’ गजकुमारीने युनः दशमय प्रभुका सरण किया ।

‘यह बहु ग्रस्त थी ।

* * * *

‘यह रहा, गजकुमारीका होता ।’—सुखल देखानी आश्चर्यचकित था । उनकी एक छूट भी थे जिन ढोता आ जायगा, इनकी कर्मना थी तरही थी । सुखल देखतीने प्रभुका घुर्ख कीट पड़ा ।

मेराहै अगवर्दी पर्वतक बीचबाले नंग मार्गमें जा रही थी और गजकुमारी चंचल रहनहकर पढ़ी हड़कर बही उलुकनामे प्रतीका कर रही थी । उसे गजा राजरिहने आश्चर्यने तो है दिया था ।

अचानक विजाम यित्रान्त्रज्ञानी छूटे होने लगी निश्चित ।

‘या खुदा ।’ निश्चित आगे आगे किन्तु मार्ग अवश्य था । रोके भगो, न उत्तरमें निकलनेवा कोई पथ नहीं ।

सुखल नेता कैसे छूटेगलीमें फैल गयी थी । उधर विश्व रक्षणोंकी बायों होती था रही थी ।

कुछ ही क्षणोंमें हजारें सुरल्लास मौककी गोदमें थे गये । कुछ श्व इधर-उधरसे ग्राण बचाकर भाग लगे होगे ।

महायात्रा चंचलके पास पहुँचे ।

‘अब आप अपने चिताके रास नुराशित पहुँचा दी जायेगी ।’ राजसिंहते बड़ी बालीमताते राजकुमारीमें निवेदन किया । सुखल नेताएं जो गर्भीं, बच्ची-खुच्ची मास गर्भीं । अब कोई वाप्त नहीं ।

मेरे चिता तो मुझे और गजेके बहाँ भेज दुके हैं । चंचल बोली । ‘अब मैं किर उनके पास कैसे जा सकती हूँ ?’

‘तो किर क्या किया जाए ?’ गणामें पूछा ।

‘मैं तो हन्दी श्रीचरणोंकी लास……’ गजकुमारीका मुँह लज्जसे लाल ही गया । वह आगे नहीं बोल सकी ।

‘क्षम्य भाष्य मेरे ।’ राजसिंहते सुदित मनसे कहा ।

‘भेदाइकी महारानीकी जय ।’ राज्यूतोंने उच्च घोपमे आकाशमण्डलको गुँजा दिया । —३० दु०

(२)

सती लाजवंती

‘ओक !’ अकबर मी जैने अधीरता हो गया । दूरहे दल नये भव्य प्रापाद, जली अस्तियाँ एवं मांसके लोशडोंको देखकर उल्लते कहा । नार्यकी सौमा बढ़ानेके लालचनों किनाने केगुलाहौंका ल्लू करना पड़ता है । हरी-भरी दुनिया-की बीशन कर देना पड़ता है । या खुदा ।

‘कुम कौन ?’ अपनी क्रत्तामर पश्चात्ता प करते हुए अकबरने हाथि उठायी और पीछे बैठे हाथबाले तेजस्वी सैनिकोंको देखकर प्रसन किया ।

‘मैं युद्ध नहीं, जी हूँ—जैनिजने उत्तर दिया ।’ दृग्गत्तर मेरा बरहै । मेरा पति पहले ही उदके लिये आ गया था । मैं जी जैनिजनमें रमिलिन होना चाहती थी, पर यहाँ तो मेरे आनेके पहले ही सद समग्र हो गया । अब अपने पति-की लाय दूँहनी हूँ, पर तुम्हारे चिगाहियोंने मुझे जबरदस्ती कैद कर दिया ।

‘तुम्हारे चिगाहियोंने……’ सब तुम्हे ‘जहाँभनाह’ और न जाने क्याक्या कहते हैं । लेकिन वह गतपून कल्पा । सबमुन्न वह जाति बही निझर होती है ।

‘मुम्हरी शादी कव छुई थी ?’ अकबरने पूछा ।

‘अभी तो सगाई हुई है ।’ सैनिक वैपर्स लड़कीने कहा ।

‘तब तुम दूसरी शादी क्यों नहीं कर देती ?’ अकबरने सहातुम्हाईके साथ कहा । ‘अभी तो हुम्हरी सारी जिद्दी पढ़ी है । क्यों बरवाद करती हो ?’

‘शाली मत दो, अकबर !’ लड़कीकी ओरें भर आयीं । ‘मुनती हूँ तुम बहुत बड़े बादशाह हो । भगवान्ने तुम्हें शक्ति-सामर्थ्य इसलिये नहीं दी कि तुम किसी सती नारीका अपमान करो ।’

‘भद्री, देटी, नहीं !’ अकबरने कुछ सहमकर कहा । ‘विल्कुल नहीं । मेरी यह विल्कुल मंशा वहाँ थी । इन देर-सी एकी लाडीमें हुम्हरे पतिकी लाला मिल जाय तो हँड़ लो, ले जाओ । मुझे कोई ऐतरज नहीं ।’

लड़कीका नाम लाजवंती था । उसने पतिका शब्द हँड़ लिया । कुछ लकड़ियों लाली । चिता थीं । उसकर पतिका शब्द सुला दिया, पाँच बार परिक्रमा की और पुनः प्रणाम करके स्वयं चितापर बैठ गयी । पतिका मस्तक गोदमें लेकर चक्क मक्कसे आग पैदा की । अणभरमें ही धूधूकर चिता जल उठी । लाजवंतीकी कोमल काश उसके पतिके शब्दके साथ अनिकी लाल लपटोंमें समाप्त हो गयी, राखकी देर बन गयी ।

अकबर और उसके सैनिक राजपूत-कन्याका साहस और त्याग देखकर चकित थे । सतीके सहज पतिभ्रमकी प्रशंसाके अतिरिक्त वे और क्या कहते ! —३० द०

(३)

पतितिता मयणल्लदेवी

चन्द्रपुरके राजा कादम्बराज जयकेशीकी पुत्री थी मशणल्लदेवी । वह शरीरसे कुछ मोटी और कुल्ला थीं; लेकिन उसका हृदय गुजरातनरेश भीमदेवके पुत्र कर्णको बरण कर चुका था । पिताके देहानवानके पश्चात् कर्ण सिंहासनासीन हुए । वे अपनी माता उद्यमतीके परम भक्त थे । वे अत्यन्त रूपकान् तथा बीर थे ।

‘मैं दूसरेका बरण नहीं कर सकती ।’ राजकुमारीने यिवाह-की चर्चा चलनेपर सप्त कह दिया । लेकिन चालुक्यनरेश इस समय भारत-सप्ताष्टु होनेके लिये स्पर्धा कर रहे थे । दक्षिण भारतसे उनका मैत्रीसम्बन्ध नहीं था । ऐसी अवस्थामें यदि कन्याके विवाहका प्रताप वे अस्तीकार करें, तुम्ह अनिवार्य था । चन्द्रपुरनरेश जयकेशी सुदूरे डरते

नहीं थे। किंतु सुद करके मानी कर्णको विवाह करनेके लिये प्रस्तुत करना कठिन था ।

‘वे मेरे आगच्छ हैं । सुद करके उन्हें विवश किया जाय, यह मैं सहज नहीं कर सकती ।’ राजकुमारीने तुम्हकी चर्चा ही उठने नहीं दी । ‘मुझे जानेकी आज्ञा दीजिये । वे मुझे स्त्रीकार करें तो और अस्तीकार करें तो; मेरी गति तो उनके चरणोंमें ही है ।’

पुत्रीका हठ राज जयकेशीको स्त्रीकार करना पड़ा । उन्होंने एक चित्रकारको आगे भेजा । चित्रकारने राजसभामें जाकर कर्णको काम्बोजराजकी कल्पाका चित्र दिखलाकर निवेदन किया—‘मेरे महाराजने आपकी मैट्टमें हाथी भेजा है ।’

हाथी देखने समाप्तदोंके साथ राजा कर्ण आहू लिकले । हाथीपर राजकुमारी मयणल्ल स्वयं बैठी थी । लेकिन कर्णने उनसे विवाह करना अस्तीकार कर दिया । राजकुमारी उनका निर्णय सुनकर हाथीसे उतरी । उन्होंने कहा—‘आर्य-कन्या एक बार ही पतिका बरण करती है । इस देहका उपयोग कुछ नहीं, यदि आप इसे स्त्रीकार नहीं करते ।’

राजकुमारीके आदेशपर उनके साथ आये लोगोंने वहीं चिता बनायी । राजकुमारीने कर्णको प्रणाम किया और चितामें चढ़ने चली । उसी समय राजसत्ता उदयमती पधारी । उन्होंने पुत्रको ढौंडा—ज्ञेत्रे जीवित रहते हुए घरण करनेवाली साल्ली चितारोहण कर गी । तुम्हे देहका आकार ही दीखता है, हृदयका शुद्ध सौन्दर्य नहीं दीखता । चितामें ही चढ़ना हो तो मेरी पुत्रबधू नहीं चढ़ेगी, मैं चढ़ूँगी ।’



अब शजा कर्णका हृदय ग्रसित हुआ। उन्होंने माताके चरणोंमें सिर रखकर क्षमा माँगी। मथणललका पाणिग्रहण किया उन्होंने। यही गनी मथणललदेवी सिद्धराज जयतिह की जन्मदात्री हुई। उनकी शिद्धा तथा देखनेरेखने ही सिद्धराजको इतना निपुण तथा समर्थ बनाया।

चालुक्यवंशके हतिहासमें आदर्श पतिव्रता तथा आदर्श माताके रूपमें मथणललदेवीका नाम अमर है। —८०

(४)

साध्वी कान्तिमती

शाकल भगवीमें श्रीवत्स गोव्रमें उत्पन्न ब्राह्मण था वह। उसके पास अपार समर्पि थी और अत्यन्त मुन्दरी, गुणवती पत्नी मिली थी; किंतु कुरुक्षेमें पड़कर वह वैश्यके मोहजालमें फँस गया था। उस वैश्यको उसमें धरयें ही दिका लिया था।

पतिकी आशासे साध्वी पत्नी कान्तिमती उस वैश्यके भी वैर घोती थी। रत्निम पति जब वैश्यके साथ श्रमन करता तो वह उन दोनोंके पैरोंके पास सो रहती। अत्यन्त अद्वार्द्धक वह उन दोनोंकी सेवा करती थी।

वह ब्राह्मण निवम-संथम छोड़ ही चुका था। मनमाने आहार-विहारका फल वह हुआ कि रोगोंने उसके शरीरको अपना घर बना लिया। बमन-विरेक्षन हुआ, संग्रहणी हुई और फिर भगवंदर हो गया। वैश्यने उसका धन अपने घर पहुँचा दिया था। अब उसे छोड़कर चली गयी। साम्बन्धियोंने उससे पहिले ही समर्के ल्याग दिया था। अब वैश्य पत्नी इस कष्टमें उसकी सहायक रह गयी। वह अपने शरीरके विभागकी चिन्ता ल्याकर रात-दिन उसकी सेवामें लगी रहती थी।

मैंने हुस्ते बड़ा कष्ट दिया, हुम्हारे अपमान करवा। अब हसी पापका फल भौग रहा हूँ। मुझे शमा करो। एक दिन उस पुरुषके मनमें यशस्वाप्न जागा तो वह बोला।

‘आप मेरे शरीरके देव हैं। मुझे अपराधिनी मत बनाइये। मैं तो आपकी हुच्छ दासी हूँ। आपकी सेवा



करके मुझे अपराधिनीय आनन्द प्राप्त होता है।’ यह कहकर कान्तिमतीने उसके पैरोंपर मस्तक रख दिया। पतिकी भज्जल-कामनासे वह कई प्रकारके व्रत रखती थी। देष्टाओंकी आराधना करती थी। पतिका कष्ट घटानेके लिये ज्ञेय कर सकती थी, करती थी। धरमें कोई अस्तिथि-महात्मा आ जाते तो उनका सल्कार करती। उनका चरणोदक पतिके कपर छिड़कती।

सहसा एक दिन उस ब्राह्मणको संनिपात हो गया। वैचारी ब्राह्मणी वैधके पास भागी गयी और वहोंसे ओपणि के आयी। तथेवक ब्राह्मणके दोते घैठ गये थे। बलरूपक दोतोंको खोड़कर वह मुखमें औपध ढालनेका प्रथमन करने लगी। रोगीने संनिपातके आवेदनमें दाँत दबाये। लीकी एक अङ्गुली कटकर उसके मुखमें रह गयी। उसके प्राण छूट गये।

कान्तिमतीने रुक्मि किया। नवीन भज्ज पहिला। अपना शुक्कार किया। केव्योंको खुला छोड़ दिया। सिन्दूरसे माँग मरी। पतिके शरीरके साथ शम्बान गयी और उस वैहके साथ उसने चितारोहण किया।

नारीके लिये पति साक्षात् पुरुषोत्तम है। पतिव्रता नारी पतिकी आराधना उसे एक व्यक्ति, एक जीव मानकर नहीं करती। जैसे उपासकके लिये मन्दिरकी सूर्ति धातु, काष्ठ, पाण्यादि नहीं है, वैसे ही नारीके लिये पति व्यक्ति नहीं है। वह तो साक्षात् भगवान्का स्वरूप है। इसलिये पतिभक्ति करके नारी उस पुरुषके साथ सर्व-नरक नहीं

जाती। यद्यपि वह ब्राह्मण वैश्याका चिन्तन करते मरनेके कारण तथा पलीकी अँगुली मुखमें रह जानेसे दूसरे जन्ममें व्याध हुआ, किंतु साथी कान्तिमती तो वैकुण्ठ चली गयी।

—४०

(५) सती वासंती

‘मुझे इसी समय झाँसी ले चलिये।’ करारीकी वासंतीने अपने शशुर प्रसादीको छुलकर कहा।

‘यह कैसे समझ है वहू।’ प्रसादीने प्रसूति-गृहमें पढ़ी वहूको प्रेससे समझाया। ‘अभी तो कुछ पॉच दिन हुए हैं। हम बाहर कैसे निकल सकती हो और यदि जाना ही था तो किशोर (वासंतीका पति) अभी कुछ ही पढ़ी पूर्व गया है; उसके साथ क्यों नहीं चली गयी ?

‘यह मुझे अपने परिवार तथा ग्रामीणकी आवश्यकता नहीं—वासंतीने बल देकर कहा। ‘आप मेरी बातका विश्वास कीजिये। उद्दे काल नामने ढैंस लिया है। वे बच वहाँ सकते। तमीकल उनके प्राण वचे रहेंगे, जबतक मैं उनके पास नहीं पहुँच पाती। आप तनिक भी देर करेंगे तो मेरी अभिलापा अधूरी रह जायगी।’ ‘और वह बच्चा ! जीजी पाल लेंगी इसे। इसे कुछ नहीं होगा। यह स्वस्थ रहेगा।

‘वफातीका लौंगा झाँसीके लिये तैयार हो रहा है। आप जाकर देखिये, जल्दी कीजिये। इसनेपर तो आपको मेरी चारोंका विश्वास हो जाएगा।’

प्रसादी बत्रायेसे बाहर दौड़े। उन्होंने देखा सचमुच वफाती लौंगा कसकर झाँसीके लिये तैयार है। प्रसादी उसे अपने हारपर के आये। तबतक वासंतीने जल्दी-जल्दी कुछ बस्त्र-आभूषण पहन लिये थे।

करारी और झाँसीकी दूरी लगभग छः मील है। पैन घटेमें तौंगा पहुँच गया। वहे अस्पतालमें ले जाले। शहरमें पहुँचते ही वासंतीने कहा। तौंगा अस्पताल पहुँचा।

वासंती तौंगेसे छूटकर सर्वथापरिचितकी भाँति अस्पताल-के उस कक्षमें पहुँच गयी, जहाँ डाक्टर और कम्पाउंडर नियाय होकर अपने यन्त्र संभाल रहे थे। डाक्टर थार्डर्चकित ही गया, जब वासंतीके पहुँचते ही दो बैठेसे बेहोश किशोरने आँखें खोल दीं और हाथ उठाकर माथेसे लगा लिया।

‘कुछ चिन्ता नहीं।’ वासंतीने वही शान्तिने कहा। न्यूलिये में भी तैयार होकर आयी हूँ।’

डाक्टरके संकेतसे वासंती पकड़कर एक कमरेमें बंद कर दी गयी। न्यूरे निवायसे तुम मुझे डिगा नहीं सकते।’ कहती हुई वासंती कमरेमें चली गयी थी।

किशोरने आँखें बंद कर ली—सदाके लिये। उसके पिता चिल्लने लगे।

X X X

‘क्यों अम कर रहे हो ?’ मार्गमें पिण्डदानके लिये शब उत्तारा गया तो हर प्रयत्न करनेपर भी उठ नहीं रहा था। समीपस्थ मन्दिरके स्वामी श्रीमुगलानन्दने आकर कहा। ‘इसकी सती पत्नी वासंतीका शब आये तिना यह नहीं उठ सकेगा। उसका शब ले आओ तो वह तुरंत उठ जायगा।’

कुछ आदमी लौटे। देखा वासंतीका जरीर निर्जीव था। उसके प्राण अपने ग्रामपतिके पास पहुँच गये थे।

उक्त दम्पतिकी अन्त्येष्टिमें सहस्रों छाँ-पुरुष (कौटूहल-वश भी) समिलित हुए और जय-जयकार एवं गुण्डोंकी वर्पां की। —शि० द०

(६)

सती ब्राह्मणपत्नीका प्रभाव

संवत् १९५६ विक्रमान्वयमें मारवाड़में भयानक डुर्मिश पड़ा। अन्नके अमावस्ये लोग तड़प-तड़पकर ग्राण-स्थाय करने लगे। मारवाड़के डीडियाना मगरका एक ब्राह्मण अपनी नव-बधूको छोड़कर चल था। बेचारी हुस्ती पढ़ी ब्राह्मण अनिय और वैश्योंके बरोंसे मिलाय माँगकर जीवन-निर्वाह करने लगी। भिक्षाके लिये उसने अपना गाँव छोड़ दिया। इस तरह वह सुजानगढ़के एक याँवके ठाकुरके राघवेंमें गयी और अपना लाला दुश्यद तुसान्त तुमा दिया। मगरवान्दी द्यासे ठाकुरने उसे अपने श्रीराधाकृष्ण मगरवान्दीके मन्दिरकी पुजारिन नियत कर दिया। ब्राह्मणी वही ही सात्तिक प्रकृतिकी देवी थी। अद्वा-भक्तिपूर्वक श्रीमगवान्दी सेवा-पूजा एवं कथा-कोर्तनमें अपना दिन ब्यतीत करने लगी।

एक बार ठाकुरकी उसकी पक्कीसे कुछ कहा-तुनी हो गयी। ठाकुरकी पक्कीके मनमें यवित्र पुजारिनके प्रति कुछ सदैह उत्तेज हो गया। उसने पुजारिनको निकलवानेका पद्धयन रचना चुरू किया। उसने अपने पीढ़रसे एक रानाको छुलवाया।

वह देहनी है । राजने श्रीदाकुरजीका प्रसाद आने हातकर ठाकुरसे कहा । वे इसका सर्व किया हुआ प्रत्याद नहीं स्वीकार कर सकता । इसे मैं अच्छी प्रकार लाना चाहूँ हूँ ।

वेचार ठाकुर किकर्त्तव्यविभूषा हो गया । राजने फिर दल देकर कहा—मेरी वातका विश्वास न हो तो आप आगमे दहकते लोहेके दो गोले भेंगता हैं । मैं उन्हें उठा लौंगा और मेरा कुछ नहीं विगड़ेगा ॥

आगमे तभी दो गोले भेंगते गये । गोलके अविकांश छो-पूर्व एकत्र होकर देख रहे थे । राजा अग्निस्तम्भनविद्या जननेके कारण तभी गोलोंको हाथोंमें लेकर दुनाता और उठाल रहा था । ठाकुर दुखी और चिन्तित था तथा ग्राहणी नहीं भन रही थी, वेचारी अर्थ ही अत्यन्त लिद्द हो रही थी ।

महायज । कहिये, ये गोले कहाँ डाल् ? राजने ठाकुरसे पूछा । घाल सूर्यमगान्दके सिरपर ॥ दुखी और चिन्ती व्राहणीने दौँत पीटते हुए कहा । याने गोले बमीन-पर फैक हिये ।

आदर्शकी वात हुई । गोले अचानक व्याकाशकी ओर उठे और एक गोला जशसे सीधे राजाके सिरपर गिरकर फल गया । राजाकी तकाल मृत्यु हो गयी ।

अब सब लोग वकराये । ठाकुरने पुजारिके चरण पकड़ लिये—माँ ! तुम सती हो, रक्ष करो ॥

प्रमो ! वे ने असाधना है । सती व्राहणीने दोनों हाथ लोहकर श्रीत्यभगवान्से ग्रार्थना की । उसल और चिन्द्रोप हैं ॥ दनकी रक्षा कीजिये ॥

दूसरा गोल नीचे नहीं आया । सभी दर्शक सतीका चमकार देखकर दूँग रह गये । ठाकुराइन सती व्राहण पुजारिके चरणोंने गिर पड़ी और अमा मौसने लगी ।

—३० द०

(७)

सती रामरत्नीका प्राणोत्सर्ग

(लेखक—श्रीतिवकुमारजी गोपल, पञ्चार)

सुप्रसिद्ध कल्पितकारी देवतास्वरूप भाई परमानन्दके भाई कल्पितकारी वालमुकुन्दको गिरल्ये पहुँचन लेस के मानदेमे फौसीका दण्ड चुनावा गया । उनपर लाई हाईडिंगकी सवारिपर दम फैकने सथा श्रीजी-शासनका नस्ता पलड़नेका पहुँचन रक्षनेका आरोप लगावा गया था ।

भाई वालमुकुन्द दिल्ली ज़ेलकी कोटरीमें बैद थे । उनकी पत्नी श्रीमती रामरत्नी कठुर धर्मस्थाना एवं पतिवता नारी थीं । वे एक दिन अपने पतिसे मिलने बैल गर्या तो उन्होंने भाई वालमुकुन्दजीसे प्रश्न किया—‘आपको खाना कैसा मिलता है ?’

‘मिट्टी-मिट्टी दो रोटी एवं दालका चानी’—भाईजीने उत्तर दिया ।

‘आप सोते कहाँ हैं ?’—रामरत्नीने दूसरा प्रश्न किया ।

‘कोटरीके अंदर केवल दो कम्बलोंमें—उत्तर मिल ।

उमरत्नी बग्गीर होकर घर लौट आयी और उन्होंने उसी दिनने मिट्टी-मिट्टी दो रोटियाँ खानी प्रारम्भ कर दीं और भाईत्त चारोंमें केवल दो कम्बलोंमें सोना प्रारम्भ कर दिया ।

परमानन्दजीने उमरत्नी को रामरत्नीने उत्तर दिया—‘मेरे पतिदेव तो मिट्टी-मिट्टी रोटी खावे और मैं अच्छा भोजन करूँ, यह मला कैसे सम्भव है ! पत्नीका यह धर्म है कि वह पतिके दुश्वरमें दुखी रहे, सुखमें लुखी ।’

रामरत्नीका शरीर कुछ ही दिनोंमें सूख गया । वह अपने इच्छेव भगवान्से प्रार्थना करने लगी—‘जा तो मेरे पतिदेव रिहा हो जायें, अन्यथा मैं भी उन्होंके साथ-साथ परलोक सिधार जाऊँ ।’

भाई परमानन्दजीने वालमुकुन्दको फौसीने वचानेका भाई प्रश्न किया, पैरवी की; किन्तु फौसीकी सजा टल न सकी ।

५ अक्टूबर सन् १९१५ भाई वालमुकुन्दको फौसी देनेके लिये निवाट हुआ । ५ अक्टूबरको प्रातः रामरत्नीने शृङ्खल किया, भगवद्गीता किया और एक चक्रत्रैपर बैठ गयी । वे प्रसिद्धचित्त पतिनामका स्वरण कर रही थीं ।

उधर लेलकी फौसीकी कोटरीमें भाई वालमुकुन्दने देश-की स्वाधीनताके लिये मृत्युका आलिङ्गन किया, इधर ढीक उसी समय श्रीमती रामरत्नी अपने ग्राणघ्रिय पतिके चियोगमें परलोक सिधार गयीं ।

पतियत्नी दोनोंके शर्वोकी एक साथ अन्वेषित-किया की गयी ।

श्रीमती रामरत्नी इह युगकी महान् पतिवता सतियोंमें अग्रणी थीं । देशमें स्वाधीनता-संभासके महान् वहाँमें जब इस महान् पतिवताकी आहुति पड़ी, तब उसे आहुतिने अंगेजी साम्राज्यवादको भस्त्रीभूत ही कर डाला ।

अद्भुत सतीत्व

जापानका रसेहे मुझ चल रहा था । रसी सेनाकी एक टुकड़ीने सामन्तराज सातोभीके दुर्गमपर थेरा ढाल दिया था । पर्वतपर बना सुदृढ़ दुर्ग था और चारों ओर गङ्गी खाई थी, किंतु लैवे घेरेके कारण दुर्गमें भोजन समाप्त होता जा रहा था । एक दिन हुर्षपतिने शोषणा की—‘शत्रुसेनाके सेनापतिका सिर लैवेवालेके साथ मैं अपनी पुत्रीका विवाह कर दूँगा ।’

शीतकाल आ गया था । एक दिन शामसे हिमपात्त प्रारम्भ हो गया । उस दिन सामन्तराजका कुत्ता सुखूसा नहीं मिला दुर्गमें तो वे चिन्तित हो उठे । वह शिकारी जातिका ऊँचा, बलवान् कुत्ता वहा स्वासितका था । रात्रिमें बाहर रहनेपर हिमपात्तसे उसके मरनेका भय था; लेकिन कुचा रात्रिमें मिला नहीं ।

रात्रिमें भारी हिमपात्त हुथा । शत्रुकी बड़ी तोपे हिमपात्तसे हिलनेकी लिंगिमें नहीं रह गयी । उसपर आक्रमणका यह अच्छा अवसर था । माताकाल दुर्गके सब चैनिक एकत्र हुए । सामन्तराज आक्रमणकी योजना बनाने जा रहे थे । उसी समय उनका कुत्ता सुखूसा दुर्गमें पहुँचा । उसके मुखमें रक्त-नदा शत्रु सेनापतिका सिर था । सुखूसा शामको निकला था और शिकिर निरीक्षण करने रात्रिमें निकले रसी सेनानायकी भास्त्रमें सफल हो गया था ।

‘ठिः !’ युद्ध समाप्त हो गया था, शत्रु हारकर लैट खुका था; किंतु अरते कुत्तेकी देखते ही सातोभीका हृदय घृणसे भर जाता था । भारतीय राजपूतोंके समान जापानके सामुरायी वंशके लोग भी अपने बचनके पक्के होते हैं । कितना अश्वगा दिन था वह, जब सामन्तराजने शत्रुसेनापतिका सिर लैवेवालेको लेटी श्याहनेकी धोषणा की थी । कुत्तेको अब, सबसे तिरस्कार मिलता था; वह जिसके समीप जाता था, वही उसे भार बैठता । उसको भोजन देना नश कर दिया गया । स्वासितका पशु समझ नहीं पाता था कि किस अपराधके कारण उसे वह तिरस्कार मिल रहा है ।

सामन्तराज सातोभीकी एकभाव संतान उनकी पुत्री थी । वह कितनी रुपवती थी, उतनी ही गुणवती रथा ईक्षरमत्ता थी । वह सोचने लगी—‘मातापितासे मुझे यह शरीर मिला है । सामुरायी सामन्त अपनी बाल छूठी कर नहीं सकते । पितामे मुझे देनेकी जो प्रतिशा की, उसके अनुसार सुखूसा

मेरा स्वामी है । मेरे मोहके कारण मिता उसका तिरस्कार करते हैं । मैं उसे तिरस्कार, भूला देखूँ, यह तो धर्म नहीं है ।’

अन्तमें वह धर्मला एक यशिको कुत्तेके साथ सुखूसा दुर्गमें निकल गयी । उसने थोर बनमें एक गुफाको अपना निवास बनाया । बनके केंद्र तथा फल तुन लाती थी अपना पेट भरनेको । शिकारी कुत्ता सुखूसा अपने लिये डाक्टेट कर लैता था । वह सामन्तकुमारी तपस्तिनी बन गयी । एक ही प्रार्थना प्रसुते वह वार-आर करती—‘प्रभो ! इस स्वामिमत्त कीवको अपने चरणोंमें स्वीकार करो ।’



सामन्तराज सातोभीने बहुत खोज करायी; किंतु उन्हें उनकी पुत्रीका पता नहीं लगा । एक दिन उनका एक रैनिक बनमें आलेको गया । गुफाके सामने उसने सुखूसाको खड़े देखा । अपने स्वामीके कुत्तेको पहिचानकर उसने बेटूक सीधी की—‘इस अमागे कुत्तेके कारण ही सामन्तराज दुखी हुए । उनकी पुत्री सोची गयी ।’

बेटूककी गोली छूटी । कुत्ता तो गिरा ही, एक कोमल कण्ठका चीकार भी सुन पड़ा । कुत्तेकी आहमें उससे सटकर बैठी सामन्तकुमारीको भी गोलीने थीं वाला था । कुत्तेके साथ ही उनका निष्प्रण देह पड़ा था । —४०

त्याग दिया था, उस पलीके समीप जाना चाहिये अयवा जिसने भैरी पलीके जीवित करनेके लिये अपनी आहुति दे दी, उसका अनुकरण करना चाहिये ?

मधुचूडन्दा तपत्वी थे । तपकी अभित शक्ति उनके पास थी । उन्होंने वहाँ सूर्यके रथका स्थापन करके भगवान् सूर्यकी सूति की और भगवान् भास्करसे राजको जीवित करनेका वरदान मांगा । सूर्यनारायणके वरदानसे राजा शर्वाति जीवित हो गये । वे चित्ताभस्मि उठ चढ़े हुए । महाराजके साथ ही मधुचूडन्दाने सजधानीमें प्रवेश किया ।

—३०

(२)

पतिप्राणा रानी पिङ्गला

पतिकी मृत्युके पश्चात् जो जीवित रहे, वह सती वहाँ कहला सकती । सती वह नारी है, जो पतिकी मृत्युका समाचार पाते ही देह त्याग दे । पतिदेहके साथ चित्तारोहण करनेवाली नारीको केवल वीरस्ती कहा जा सकता है । रानी पिङ्गलाने यह बात अनवसर कह दी । चन्द्रबन्धमें उत्तम परमार्थवशके अन्तिम राजा हून आसेदसे लौटे थे । उस समय जै उत्साहमें थे । उन्होंने बनमें सर्व काटनेसे मृत व्याधके शवके साथ उसकी जीको चित्तापर बैठकर जलते देता था । व्याधजैसे छोटे कुलमें ऐसी पातिकता देखकर उन्हें आश्वर्यके साथ शब्द हुई थी । ऐसे समय पतिका उत्साहभङ्ग करना उन्हित नहीं था ।

ऐसी सती तो रानी पिङ्गला ही होंगी । उत्साह मङ्ग होनेसे चिढ़कर राजा कहा । रानी चौंक गयी । वे समझ मर्यां कि उनसे भूल हुई है । अब उनकी परीक्षा अवश्य ली जावायी । लेकिन अब तो भूल हो चुकी थी । अनने धर्मगुरु दत्तात्रेयजीके राजभवनमें पधारनेपर रानीने अपनी कठिनाई बतायी ।

दत्तात्रेयजीने एक दीज देकर कहा—“हसे आँगनमें चोदो । छोटी पौधा बन जावगा । जब महाराजके जीवनके विषयमें शह्वा हो तो उस पौधेसे पूछना । यदि उस जीवित हुए तो उससे जलके विन्दु टपकेंगे । जीवित न हुए तो उसके पसे सूखकर उसी समय शह्वा जायेंगे ।”

रानीने दीज बोया । वह उमा, बड़ा और हस्तभरा

ध० सं० ८१—

हो गया । राजके राज्यमें दस्तु बढ़ गये थे । वे उनका दमन करने गये । उनका दमन करके लौटते समय रानीके सतीत्वकी परीक्षाका विचार मरमें आया । उन्होंने एक दूसरों अपना मुकुट देकर भेजा । दूसरे राजधानीके द्वारपरते ही रैनार्पीटना प्रारम्भ किया । उसने समाचार दिया—“दस्तुओंने राजाको मर डाला ।”

दूसरे राजधान धूँचनेसे पहले ही रानीके पास सखियोंने दूतके रोते हुए आनेका समाचार पहुँचा दिया था । रानीने स्थान करके बृक्षसे पूछा । बृक्षसे जलके विन्दु टपके । रानी निश्चिन्त ही गवी शीं कि महाराज सकुशल हैं । दूसरे समाचार दिया वो उन्होंने सोचा—“महाराजने भैरी परीक्षाके लिये दूत भेजा है । उनकी इच्छा है कि मैं देहत्याग करूँ । पतिकी इच्छाका फलन ही ल्लोका धर्म है । परलोकमें तो मैं उसे प्राप्त होंगे ही ।”

पतिको सकुशल जानकर भी रानी पिङ्गलाने देहत्यागका निश्चय किया । वे घोगिनी थीं । दूतके द्वारा ल्यवे मुकुटको गोदमें लेकर वे आसन लगाकर बैठ गईं । उन्होंने नेत्र बंद किये, मार्णोंका संयम किया और शरीर छोड़ दिया ।

यह संवाद मिथ्या है । दूतने कहा उकितु उत्तरक रानीका शरीर निष्पाण हो चुका था । उधर नरेशको दूत भेजनेके पश्चात् लगा कि कहीं रानी सचमुच देहत्याग न कर दें । वे बहुत शीघ्रतासे चले । लेकिन जब नगरके समीप पहुँचे, उस समय इमारतमें रानी पिङ्गलाका शरीर चित्तकी लपटोंमें जल रहा था ।

राजने वस्त्र-आभूषण उत्तर फेंके । पैदल अमरण पहुँचे । लोग तो चित्ता जलाकर लौट चुके थे । अकेले चिदित्स राजा वहाँ रोते हुए धूमने लगे । उन्हें इत अवस्थामें रिद्देष्ठ गोरखनाथजीने देखा । महापुरुषको देखा था गयी । उन्होंने समझायेका बहुत प्रयत्न किया, किंतु राजका दोक दूर नहीं होता था ।

इनमें अपनी पिङ्गला पहचान ले । गोरखनाथजीने एक चुटकी भस्त्र चित्तापर फेंक दी । चित्तसे नारियोंकी एक गीह उठ जड़ी हुई । उब उपर्यंगमें पिङ्गलाके ही समान थीं । राजा पहचाननेमें असमर्थ रहे । तबके ताली बजानेपर अकेली पिङ्गला रानी रह गयीं । शोद उब अदृश्य हो गयीं ।



पेरा मोह दूर हो गया । अब मुझे अपने चरणोंका आश्रय दें । राजा को संचकी कृपासे वैराग्य हो गया । वह दीर्घनेवाले पिङ्गल तो माया थी, अहश्य हो गयी । —३०

(३) पतिप्राणा लयदेव-भट्टी

पद्मावती भक्तशर श्रीजयदेवजीकी अर्थाङ्गिनी थी । यनमनमें उनका बड़ा सम्मान था । वे प्रायः रानीके पास जाती और उसे भगवान्की मधुर सील-कथा तुनाया करती । रानी उनकी बातें वहे आदर और अमसे झुन्ती तथा उनका भी सम्मान करती ।

‘उरीरात हो जानेपर पतिके साथ चिरापर भस्य हो जानेवाली लो उच्चकोटिकी सती नहीं होती ।’ पद्मावती रानीसे कह रही थीं । ‘उच्चकोटिकी सती तो पतिके देशान्तरके संवादसे ही प्राण छोड़ देती है ।’

रानी चुपचाप लुनती रही । पर सच बात तो यह थी कि उसे पद्मावतीकी यह बात अच्छी नहीं लगी । उसने अवसर देखकर पद्मावतीकी परीक्षा करनेका मन-ही-मन निश्चय कर लिया ।

एक दिन नरेश आजेटपर गये । उनके साथ लयदेवजी भी थे । धीरे-धीरे संवा हो रही थी ।

‘पण्डितजीको सिंह ला गया’—नेत्रोंमें आँख भरकर उदाद मुँह बनाकर रानीने पद्मावतीके पास जाकर कहा ।

‘श्रीकृष्ण ! श्रीकृष्ण !!’ पद्मावती धड़ासे गिर पड़ी और तुरंत उनके प्राणपद्मेरु उड़ गये ।

रानी बवरा गयी । उनकी चुदिका सम नहीं कर रही थी । वह फूट-फूटकर रोने लगी । उसे कल्पना भी नहीं थी कि ऐसा हो जावगा । सतीकी महिमा उसने सुनी थी, किंतु इस कोटिका सतीत वह सोच भी नहीं सकती थी ।

नरेशके साथ लयदेवजी लौटे । वहे ही दुःखसे उहँ वह संवाद तुनावा जा सका । रानी दुखी तो थी ही, किंतु लज्जा एवं म्लानिये भी वह भरी जा रही थी ।

भक्त लयदेवजी पश्चिमे शरीरउनसे दुखी भर्हे थे । रानीकी सनःस्तिविकी कल्पना करके उन्हें दुःख हो रहा था ।

रानी-भौमोंको नेह लंदेश दे दो । संदेशवाहकसे भक्तशरजने मधुर वाणीमें कहलवाया—‘मेरी मूल्युके संवादसे पद्मावती चली गयी है तो मेरा जीवन सुरक्षित रहनेके समाचारहै उसे बापल भी आना होगा ।’

भक्तशरजने परमेश्वरसे प्रार्थना की एवं पद्मावतीके शब्दके संनिकट बैठकर भगवान्के मधुर मङ्गलमय नामका कीर्तन करने लगे । धीरे-धीरे पद्मावतीके नेत्र खुले और मुसकराती हुई उठकर उन्होंने पतिके चरणोंपर सिर सख दिया ।

—शि.० ३०

पतिप्राणा सतियोंकी जय

आत्मसमर्पण बात्मविसर्जन कर पतिमें पति-हित निर्भय ।
‘पति-सुख ही है नित्य परम सुख’, रखती सदा यही निश्चय ॥
तन-मनसे पति-सेवन करती, सदा मनाती पतिकी जय ।
वन्दनीय सौभाग्यवर्ती उन पतिप्राणा सतियोंकी जय ॥

नारीधर्मकी आदर्श—सिरिमा

श्रीलङ्कामें 'सिरिमा' बहुत आदरणीय नाम सज्जा जाता है। वह 'श्रीमा' का सिहली भाषामें हुआ लगातार है। 'सिरिमा' नामकी इस कुमारीका जन्म श्रीलङ्काके अनुराधपुरमें हुआ था। वचपनसे ही बौद्धधर्ममें उसकी पक्षी निषा थी। तथागतके चरणोंमें उसकी भक्ति दूसरोंको भी प्रेरणा देती थी।

धार्मिक शिक्षाके साथ मातापिताने अपनी सुशीला, सुन्दरी बालिकाको शृणु: संगीत, वाद आदिकी भी शिक्षा दी। संगीतके साथ काव्योंका भी उसने अध्ययन किया था। सुमङ्गल नामके एक सुन्दर समव्यापारी युवकसे उसका विवाह हुआ।

सुमङ्गल व्यापारी था। समुद्रभारके देशोंमें जाकर वह अपनी बस्तुएँ बेचता और विनिमयमें बहाँकी बस्तुएँ ले आता था। एक ऐसी ही लंबी यात्रापर वह गया था। इस यात्रामें उसे बहुत लाभ हुआ। उसके लौटेका समाचार पाकर 'सिरिमा' बहुत हर्षित हुई। पतिके त्वागतके लिये उसने अपने बवनको सजाया।

देशका प्रतिष्ठित व्यापारी बहुत लाभ करके लौट रहा था। सिंहल (उस समय श्रीलङ्काका यही नाम था) वैसे भी छोटा हीप है। बहाँके प्रतिष्ठित लोग समुद्रतटपर सुमङ्गलका स्वागत करने गये। उन लोगोंमें नगरकी सबसे सुन्दर गणिका भी थी। सुमङ्गलने उस गणिकाको देखा तो उसका चिच उसपर आसक्त हो गया।

'सिरिमा'ने पतिका स्वागत किया। लेकिन उसने लक्षित कर लिया कि पतिके मुखपर उत्तास नहीं है। बंदरगाहपर ही पतिकी हाथी कहाँ ठहरती है, वह वह देख चुकी थी। एकान्तमें मिलनेपर उसने पूछा—'आप उस गणिकाके लिये ही उदास हैं?'

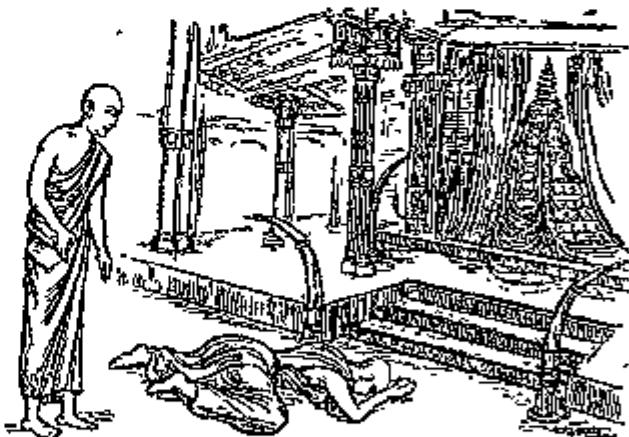
सुमङ्गल बोला—'मूम जब मेरी पीड़ा जानती हो तो पूछती थीं हो!'

उसी समय गणिकाका संदेश लेकर दूरी आयी। गणिका इस्तेमें सम्पन्न सुन्दर युवकको, भला, अपनी ओर आकर्षित होते देख तटस्थ क्यों रहती? लेकिन सिरिमाने दूरीसे कहा—'मूम क्यों आयी हो, जानती हूँ। अपनी स्वयमिन्नीसे कहना कि इस कुलका पुरुष उनके कोठेपर जाकर अपने वंशको कलङ्कित नहीं करेगा। उन्हें यदि अपना व्यवसाय छोड़कर इस धरकी वधु जनना स्वीकार हो

तो कल आ जायें। मैं उनके लिये अपना स्थान छोड़नेको तैयार हूँ।'

गणिकाको तो जैसे वरदान मिला। उसे ऐसा समझ बर तथा पति कहाँ मिलना था। वह दूसरे ही दिन आ गयी। सिरिमाने उसे मन्दिरमें ले जाकर अपने पतिये उसका विवाह करा दिया और ख्यं वह दीक्षा लेकर मिष्टुणी बन गयी। वह मठमें रहने लगी। कुछ काल बीत गया। एक दिन एक मिष्टु रक्तसे भीगा मठ लौटा। पूढ़नेपर पता लगा कि एक राहस्यकी पत्नीने उसे चाँदीका पात्र खोचकर तब मारा, जब वह उसके बहाँ मिशा लेने गया।'

सुमङ्गलकी नयी पत्नी (भूतपूर्व गणिका) मन्दारमाला ही है वह, यह बात मिष्टुके द्वारा मिले विवरणसे सिरिमा समझ गयी। उसने मन्दारमालासे मिलनेका निश्चय किया। मिलकर उसने पूछा—'एक निरपराध राहुपर तुमने ग्रहार क्यों किया?'



मन्दारमाला रो पड़ी—मैं कहाँ अपने आपमें हूँ। सुमङ्गलने तुम्हें त्यागकर मुझे अपनाया और अब कल वह दूसरा विवाह करने जा रहा है।'

'प्रभु! सुमङ्गलको सद्बुद्धि दो। उसके प्रति मेरा कुछ कर्तव्य है, उसे पूरा कर दो प्रभु!' सिरिमा सीधे मन्दिर गयी। वह फूट-फूटकर रो रही थी। वह क्षवरक वहाँ पड़ी रही, उसे पता नहीं। लेकिन उस यत सुमङ्गलने जो स्वप्न देखा, उसका वह प्रभाव हुआ कि प्रातः उसने अपनी सब सम्पत्ति दान कर दी। वह मिष्टु कलने मन्दिर आ गया।

आदर्श मित्र-धर्मका निरूपण

(लेखक—कविभूषण 'जगदीश' साहित्यका)

यानव एक सामाजिक जीव है। वह समाजसे कदाचि
विला रहना पसंद नहीं करता। जीवनमें उसे थोड़े-बहुत
साधियोंकी, कुछ-कुछ मित्रोंकी आवश्यकता अवश्य प्रतीत
होती है। नमुप्प ही दौरा, पशु-पक्षी भी बिना साथीके
अलग नहीं रहते। पशु प्राण टोलियोंमें रहते हैं। विहंग-
रण भी कुछ बनाकर विचरते हैं एवं इत्यतः उड़ते-
फिरते हैं। वास्तवमें मित्रगणसे जीवनमें सहार्ति और मुदुर
मिठाई आ जाता है। कपट और विनाशके चंगुलोंसे
मित्र ही छुड़ाता है और मुन्दर भविणा देकर कर्तव्य-
मार्गपर अग्रसर करता है। इसीलिये कहा गया है कि
दो हृदयोंका दूध और पानीकी तरह मिलकर एक ही
जाना ही सच्ची मित्रता है। श्रीपतिरामका कथम है—

मित्रका व्युत्पत्तिजन्य अर्थ होता है—हुखोंसे बचाने-
वाला (प्रसीते ऋष्यते)। हुखोंसे त्राण पानेके लिये तथा
एकान्त जीवनमें विशीको समीप पानेके लिये मित्र बनाना
परमावश्यक है। जब बचा मित्र मिल जाता है, तब चिच्चको
बढ़ा आनन्द उपलब्ध होता है। वह यात निश्चय है कि
सन्मित्रसे बद्धकर संसारमें कोई बस्तु नहीं है। जिनके
मन धर्मानुकूल आपसमें मिले हुए हैं, वे एक दूसरेको
बहुत सुख देते हैं, हुख-सुखमें उत्तमभूति प्रकट करते
हैं और सद्विचारोंमें एक सूसरेके साथी और सहायक होते हैं।
उनमें दिन-दुरुना तथा रात-नींगुना प्रेम बहुत रहता है।
मैत्रीमें अगर प्रेम न हो तो वह जड़ मैत्री ही कहलायगी।
अतएव ग्रीतिके लिये कविवर रहीम कहते हैं—

'हिमन' ग्रीति सरहिषः मिले होत रैंग दून।

ज्यों जरदी हरदी तजै, तजै सफेदी चून॥

मित्रके कर्तव्य वडे महत्त्वपूर्ण होते हैं। जब हम हुखों-
में झूँडे हुए हों, हमारे लिये संसार अनधकरसे आच्छादित
हो, जिधर हाइ डालें, सहाही-सत्ता दिलायी देता हो, उस
समय सच्चा मित्र ही हमारी तन-मन-धनसे सदाबद्या करता
है। इसमें कोई संदेश नहीं कि यिवकी परीक्षा विषयिके
समय ही होती है। गोत्वासीजीने कहा है—

वीरज धर्म मित्र अर नाही। आपत काल परिषिवर्जि चारी॥

विषयिमें मित्रसे दी कार्य सधना है। युद्धमें मित्र ही

काम आते हैं। रघुकुल-तिलक श्रीरामचन्द्रजीने मित्र
सुश्रीबकी रहावदासे गहायायेंगाली लहू-बर रावणका तंहार
करके पुनः सीताको ग्रास किया। विशासपात्र गिरसे हमें
अनुदिन अपेक्षा रहती है कि वह हमें शुराइयोंसे पग-पगपर
बचाता रहेगा। कुमारर्जी और जानेते रोकेगा। हमारे
गुणोंको प्रकट करेगा तथा अवगुणोंको छिपायेगा। युमित्र-
कुमित्रके लक्षण रामचरितमानसमें अभिव्यक्त हैं—

जे न मित्र हुख होहि दुखारी। निन्हाहि लिलोत्तम पातक भारी॥
निज हुख गिरि सम रज करि जाना। मित्र क हुख रज भेद समाना॥
जिन्ह के असि भति सहज भ आई। ते सठ कत हठि करत मिताई॥
कुरु निनारि सुरंथ चलावा। मुन प्रगटद असुनहि दुरुना॥
देत लेत मन संक न घर्जै। वह अनुमान सदा हित कर्जै॥
विपति काल कर सत्तगुन नेहा। श्रुति कह संत मित्र गुम फहा॥
अप्ते कह मृदु बन्दन बनाई। पाले अनहित मन कुटिलाई॥
जा कर चित अहि भति सम भाई॥ अस कुमित्र परिहरेहि मराई॥

हमारे अन्योंमें अनेकानेक सच्चे मित्रोंके दृष्टान्त भरे पढ़े
हैं। मगवान् श्रीकृष्णकी अजूनके प्रति मित्रता आदर्श
मानी जाती है। उनकी और सुदामाकी मित्रताए कौन
अपरिचित होगा। उहदों बत्सर व्यतीत होनेपर भी वह
आदर्श मित्रता अद्यावधि सजीव है और उसका गुण-
गम आजतक सब गते रहते हैं। कहाँ देशर्जेंगाली
श्रीकृष्ण और कहाँ दानेदानेको तरलनेवाला दीन दिल
सुदामा! आकाश-पातालका अन्तर था। पर कर्णा-
बलगाल्य श्रीहरिने अपनी भहनताका अभिमान न करके
किस प्रकार प्रेमसे आपत्तिगत विग्र सुदामाकी दशासे
दयार्द्र होकर उसकी सहायता की! श्रीकृष्णने अपने मैत्री-
भावको लिप्त सचाई और निष्ठाके साथ निमाया; वह सच्चे
मित्र-धर्मका अप्रतिम उदाहरण है। कविवर नरेन्द्रमदासकी
दृष्टिमें दीन-बन्दु श्रीकृष्ण सुदामाकी दीन दशापर किस प्रकार
अनवरत आँख बहाते हैं—

ऐसे बिहारि विचाइन याँ, यम कंठक जाल गड़े पुनि जोये।
हाय ! महाखुल पाये सद्या, तुन आये इत्तै न कितै दिन खोये।
देखि सुदामा कौ दीन द्वसं कहना करि कै करनामियि रोये।
पानी पगत कौ छाया कुझौं नहि, जैनन के जह सौ धम बोये॥

सच्चे मिश्रोंमें ही सच्चे अपनत्वका अनुभव होता है। केवलमें भव्य विश्वकी कल्पना एवं विश्वमैत्रीकी भावना वर्णित है। वे कहते हैं—“सर्वा आशा सम मिश्र भवन्तु”। (सारी दिशाएँ भेरि मिश्र बन जायें) तथा “मिश्रत्व चक्षुषा समीक्षादहे”। (हम एक दूसरेको मिश्रताकी हाउडे अथलोके।) मिश्रताको मध्यवृत् वनानेके लिये हमें अपने अन्तःखलमें उत्तर्गकी मावनाको खान देना होगा। स्वार्थको आमूल्यचूल हटाना होगा। आपके जमानेमें मिश्र बनाना कोई सहज कार्य नहीं है। विश्वके विश्वाल वअस्तलपर आपको अनेक तरहके छोग मिलेंगे। आप उनके चक्रमें पङ्कर मिश्रता कर दैठेंगे। पर वे आपको स्वार्थी, लोकुरी प्रतीत होंगे; क्योंकि जयतक आपके पास वैदा होगा; वे आपकी छावा नहीं छोड़ेंगे। ऐसोंके लिये गिरिधर कविरामने क्या ही अच्छा कहा है—

सदैं सब संसारमें नतुरजका व्यवहार।

जब लग पैसा गाँठमें, तब लग ताको भार॥

तब लग ताको यार, यार हँग-दी-सैंग ढौँडै।

पैसा रहा न पास यार मुखतों नहिं बैठै॥

कह जिरधर कविगम, जगत् अद्वि हेत्या भारै।

करत दैगली प्रीढि, यार चिरला कोर्दे चारै॥

मिश्रका धर्म है कि वह कर्मक्षेत्रमें स्वयं भी श्रेष्ठ कर्म करे और अपने मिश्रको भी श्रेष्ठ कर्मकी ओर प्रेरित करे। जीवनसंग्राममें स्वयं भी विजयकी प्राप्त करे और अपने प्रेमीकी भी विजयवैजयन्ती फहराये।

यह निर्विवाद सत्य है कि मनुष्यका चरित्र उसके मिश्रमसे ही शात होता है। इसलिये सच्चरित्र व्यक्तियोंसे ही मिश्रता जरनी चाहिये।

मिश्र-धर्मके विलक्षण आदर्श

(१)

भगवान् श्रीकृष्ण

अर्जुनके साथ श्रीकृष्णकी मैत्री इतनी प्रतिद्वंधी ही कि सबं दुर्बोधनने पाण्डवोंके राजसूय-न्यज्ञका वैभव वर्णन करते हुए अपने प्रिया भूतराष्ट्रसे कहा—

आत्मा हि कृष्णः पार्थस्य कृष्णस्यात्मा धनंजयः ॥
मद् शूद्राद्वर्जुनः कृष्णं सर्वं कृष्णद्वस्यायम् ।
कृष्णो धनेजयस्यायैं सर्वगलोकभिपि ल्यज्ञेत् ॥
सर्वैव पार्थः कृष्णायैं प्राणानपि परित्यजेत् ।

(महाभारत, समाप्ति ५२। ३३-३४)

श्रीकृष्ण अर्जुनके आत्मा हैं और अर्जुन श्रीकृष्णके आत्मा हैं। अर्जुन श्रीकृष्णको जो कुछ भी करनेके लिये कहते हैं, श्रीकृष्ण निस्तदेहरसे वह सब करते हैं। श्रीकृष्ण अर्जुनके लिये दिव्य धारका त्याग कर सकते हैं और अर्जुन भी श्रीकृष्णके लिये प्राणोत्तकका त्याग कर सकते हैं।

श्रीकृष्णका अर्जुनके प्रति संहज ही सख्य-प्रेम था। साण्डवदन-द्वाहके पश्चात् जब इन्होंने सर्वसे आकर अर्जुनको वर माँगनेको कहा और उन्हें इन्होंने बहुतसे शब्दात्र दिये, तब श्रीकृष्णने भी उनसे यह वर माँगा कि “अर्जुनके साथ मेरा प्रेम निरन्तर बढ़ता रहे” और इन्होंने शुद्धिमान् (मिश्रधर्ममें प्रधीण) श्रीकृष्णको यह वर दिया।

वासुदेवोऽपि जग्राह प्रीतिं पार्थेन शाश्वतमीद् ।

ददौ तुरपतिश्चैव चरं कृष्णाय धीमते ॥

(महाभारत, आदिपर्व २३३। १२)

मिश्र अर्जुनके लिये किसी भी छोड़े-नड़े काममें श्रीकृष्णने कभी इन्कार नहीं किया। पाण्डवोंके राजसूय-न्यज्ञमें, वहाँ सब चड़ेशूदोंके सामने एकमग्न उन्होंको अव्ययुक्ताकै थोग्य समझा जाता है और उनकी अव्यूपता होती है, वहाँ उसी राजसूय-न्यज्ञमें वे समागत अतिथियोंके पैर धोनेका काम स्वयं करते हैं और अर्जुनके समानके लिये अन्यान्य राजाओंकी माँति युधिष्ठिरको चौदह हजार चारिंशा हाथी भेट-खलस्त देते हैं।

वासुदेवोऽपि वार्ष्णेयो मानं कुर्वन् विशेषिनः ॥

अददद गजसुख्यानां सहजाणि चतुर्दशा ॥

(महाभारत, समाप्ति ५२। ३०-३१)

संजय पाण्डवोंके यहाँसे लौटकर भूतराष्ट्रसे वहाँका समाचार लुनाते हुए अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णके विलक्षण ग्रैमका वर्णन करते हैं—“अँ उन देवोंसे वात करनेके लिये अत्यन्त विनीत भावसे अन्तःपुरमें गया था। वहाँ जाकर मैंने देखा एक रज्जुतित महामूल्यवान् स्वर्ण-समपर श्रीकृष्ण और अर्जुन विराजमान हैं। श्रीकृष्णके चरण अर्जुनकी गोदमें हैं और अर्जुनके दोनों पैर देवी द्रौपदी

और सत्यभामाकी गोदमें हैं । वहाँ श्रीकृष्णने अपने श्रीमुखसे अर्जुनकी प्रशंसा करते हुए और अर्जुनको अपने समान बतलाते हुए कहा—

‘देवता, असुप्त मनुष्य, यज्ञ, गन्धर्व और नारोंमें सुधो कोई ऐसा दीर दिखायी नहीं देता, जो पाण्डुनन्दन अर्जुनका सामना कर सके । बल, पराक्रम, तेज, शीशकारिता, हाथोंकी कुत्ती, विभादिहीनता और वैर्य—ये सभी सदृश अर्जुनके लिए किसी भी दूसरे पुरुषमें एक साथ नहीं हैं ॥’

देवासुरमनुव्येषु यश्चगन्धर्वभोगेषु ।
न तं पश्याम्ह शुद्धे पाण्डवं योऽभ्यवाद् रथे ॥
यहं वीर्यं च तेजश्च शीघ्रता लघुहस्ततः ।
अवियदक्षं वैर्यं च वार्थकान्वयत्र विघ्नते ॥

(महाभारत, उच्चोग ५९ । २६, १९)

महाभारत-युद्धमें वहै कौशलज्ञे दुर्योधनको लेना दे वी और स्वयं सारथि बनकर मित्र अर्जुनका रथ हाँकनेका काम किया और उन्हें विपक्षियोंसे बचाते रहे ।

इन्द्रकी दी हुई शक्तिका धटोलकच्चपर प्रयोग करके जब कर्णने धटोलकच्चों सार दिया, तब श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न हो गये और उन्होंने सात्यकिसे जो कुछ कहा; उसमें पता लगता है कि अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णका किंतु न आदर्श प्रेम था ।

मगधान् श्रीकृष्णने कहा—‘सात्यकि ! इन्द्रकी दी हुई शक्तिका धटोल एक ही द्वार प्रयोग हो सकता था । कर्ण उस शक्तिसे धटोल अर्जुनको ही मारना चाहता था । इसलिये जब-अब कर्णका सामना होता, तथ-तब मैं कर्णको मोहित कर रखता । जिससे उसे शक्तिका सारण ही नहीं होता । पर उस शक्तिके कारण मैं कर्णको अर्जुनका काल समझता और मुझे यहाँ नांद महीं आती थी एवं कभी मेरे भनमें हर्ष नहीं होता था । मैं अपने पिता-माताकी, तुमलोगोंकी, भाइ-बहींकी और अपने प्राणोंकी रक्षा भी उतनी आवश्यक नहीं समझता, जितना रणमें अर्जुनकी रक्षा करना आवश्यक समझता हूँ । सात्यकि ! तीनों लोकोंके राज्यकी अपेक्षा भी यदि कोई वस्तु अधिक हुल्लम हो तो मैं अर्जुनको छोड़कर उसको भी नहीं चाहता । आज मुझे इसी बातकी प्रसन्नता है कि मेरे अर्जुन मौरके मुँहसे लूट गये ॥’

और भी अनेकों प्रसङ्ग ऐसे हैं, जिनसे श्रीकृष्णका अर्जुनके प्रति विलक्षण प्रेम लिद्ध होता है ।

(२)

मित्र-धर्मके आदर्श महारथी कर्ण

श्रीकृष्ण पाण्डवोंके शान्तिदूत बनकर हस्तिनापुर आये थे । उन्होंने कहा था कि पाण्डव पौँछ गौँव पाकर संस्कृत हो जायेगे । लेकिन दुर्योधन तो युद्धके बिना सुर्दकी नोक-जितनी भूमि भी देनेको उद्दात नहीं था । श्रीकृष्णका प्रयास विफल हुआ । युद्ध विस्तृत हो गया ।

लौटते समय पहुँचाने आये लोगोंको विद्या करके श्रीकृष्णने कर्णको अपने रथपर बैठा लिया । कर्णका साली रथ सारथि पीछे ला रहा था । श्रीकृष्ण बोले—‘वसुषेण । द्रुम वीर, धर्मात्मा और विचारवान् हो । मैं एक गुप्त बात द्वारे बतला रहा हूँ । द्रुम अधिरथ सूतके पुत्र नहीं हो । दूसरे पाण्डवोंके समान द्रुम भी देवपुत्र हो । भगवान् सूर्य तुम्हारे पिता और देवी कुत्ती भाता हैं । द्रुम पाण्डव हो ।’

कर्णने मस्तक छुका रखता था । श्रीकृष्ण कहते रहे—‘द्रुम युधिष्ठिरके बड़े भाई हो । अन्यायी दुर्योधनका साथ छोड़ दौ, मेरे साथ चलो । कल ही तुम्हारा राज्याभिषेक हो । युधिष्ठिर द्वारा द्रुमराज होंगे । पाण्डव द्वारा दीक्षा चलेंगे । मैं स्वयं द्वारे अभिवादन करूँगा । तुम्हारे साथ पाण्डव छः माई खड़े होंगे जो त्रिभुवनमें उनका सामना करनेका साहस कियमें है ॥’

अब कर्णने दिर उठाया और थड़ी गम्भीरतासे कहा—‘वासुदेव ! मुझे पता है कि मैं सूर्योपत्र हूँ और देवी कुत्ती मेरी भाता हैं । धर्मतः मैं पाण्डव हूँ । लेकिन दुर्योधनने उस समय मुझे अपनाया, उस समय मुझे सम्मान दिया, जब सब मेरा तिरस्कार कर रहे थे । मेरे भरोसे ही उसने सुद्धका आशोजन किया है । मैं उसके साथ विवारघात नहीं करूँगा । आप मुझे उसके पक्षसे सुद्ध करनेकी आशा दें । होगा तो थड़ी जो आप चाहते हैं; किंतु अनियं वार युद्धमें वीर-गति प्राप्त करे, जाट्यपर पष्ठा-पृष्ठा न मरे, यह मेरे इच्छा है ॥’

‘जब तुम मेरा प्रस्तुत नहीं भानते तो सुद्ध अनियार्थ है ॥’ श्रीकृष्णने रथ रोक दिया ।

उत्तरसे उत्तरसे समय कर्णने कहा—‘वासुदेव ! मेरी एक ग्राथ्यन है । मैं कुत्ती-सुब्रह्म हूँ, यह जात आप गुप्त स्वर्ण । युधिष्ठिर धर्मात्मा हैं । उन्हें पता लग गया कि मैं उनका बहु भाई हूँ तो वे मेरे पक्षमें राज्य-स्वत्व त्याग देंगे और मैं दुर्योधनको राजा मान दूँगा । मैं दुर्योधनका कुत्ता हूँ, अतः सुद्ध उसके पक्षमें करूँगा, किंतु चाहता थड़ी हूँ कि

न्धायकी विजय हो। धर्मात्मा पाण्डव अपना राज्य प्राप्त करें। आप जहाँ हैं, विजय तो वहाँ होती ही है।^१

श्रीकृष्णने कर्णका अनुरोध स्वीकार किया। कर्ण अपने रथसे लौट गये।

* * *

बुद्धकी तिथि निश्चित ही गयी। श्रीकृष्ण लौट गये। देवी कृतीको विदुरजीसे सब समाचार मिलता ही था। उनके मनमें वही व्याकुलता हुई। उन्होंने कर्णको समझाने का निश्चय किया।

कर्ण गङ्गालान करके संध्या कर रहे थे। देवी कृतीको वहाँ पहुँचकर थोड़ी प्रतीक्षा करनी पड़ी। संध्या समाप्त करके कर्णसे मुख छुआया। पाण्डवजनीको देखते ही ही हाथ छोड़कर थोड़े—देवि! यह अधिरथका पुत्र कर्ण आपको प्रणाम करता है।^२

“वत्स! मेरे सामने तुम अपनेको सत्यपुत्र मत कहो। मैं यही कहने आवी हूँ कि मैं तुम्हारी साता हूँ और जगत्के सभी ये भगवान् आदित्य तुम्हारे पिता हैं।^३ वहीं संकोचसे व्यथामरे स्तरमें कृती देवीने कहा। मैं तुम्हारी माता तुम महादानीसे यह मिथा मौरने आवी हूँ कि अपने सुगे भाइयोंसे युद्ध करनेका हठ छोड़ दो।^४

कर्ण गम्भीर ही रक्षे—“आप मेरी याता हैं, यह मुझे पता है। लैकिन दुर्योधन मेरा उस समवका मित्र है; जब कोई नुस्खे पूछनेवाल नहीं था। मैं उस मिथको आपत्तिको समय नहीं छोड़ सकता। युद्ध तो मैं उसीके पक्षमें करूँगा।^५

मैं निराश लैटूँ।^६ बहुत व्यथाभरे स्तरमें पूछा गया।

अत्यन्त रिक्ष स्तरमें कर्णने कहा—“मैं कर्तव्यसे विवश हूँ। इतनेपर भी वचन देता हूँ कि अर्जुनके अतिरिक्त किंती पाण्डवको समुच्च पाकर भी मैं उसपर धातक प्रहार नहीं करूँगा। आपके पाँच पुत्र कायम रहेंगे।^७

कृतीदेवी कर्णको आदीर्वद देकर लौट गयी।

* * *

पितामह भीम सदा कर्णका तिरस्कार करते थे। वे उसे “अर्दरथी” तथा रहे थे, जब युद्धके प्रारम्भमें भावरथी-अतिरथी आदि वीरोंका दुर्योधनको परिचय दे रहे थे। इस अपमानसे चिढ़कर कर्णने प्रतिशो कर ली—“जबतक पितामह कौरव-सेनाको छेनापति है, मैं घर नहीं उठाऊँगा।^८

इस दिनोंके युद्धमें कर्ण तटस्य दशक रहे। इसमें दिन पितामह युद्धभूमिमें गिरे। अर्जुनके दाणोंने उहें अस्त्रमा दे दी। उस समय स्वजनकर्मके प्रायः सभी उनके समीप आये। भीड़ समाप्त होनेपर पितामहके पास एकान्तमें कर्ण आये और उन्होंने प्रणाम किया।

पितामहने स्वेधपूर्वक कर्णको उमीप तुलाया और कहा—“पुत्र! मैं जानता था कि तुम अद्भुत वीर तथा ऐष महारथी हो, किंतु तुम्हें इतोत्साह करनेके लिये मैं सदा तुम्हारा तिरस्कार करता रहा। तुम युद्धमें उत्साह न दिखलावे तो दुर्योधन युद्धका हठ छोड़ देता। वह तुम्हारे बलपर ही कहला है। तुम मेरी बातोंका दुरा मत मानना।^९

इसके पश्चात् भीमपितामहने भी कर्णको बतलाया कि वह सूत अधिरथका पुत्र नहीं है। वह कृतीपुत्र है। वे थोड़े—स्वर्णनदन ! तुम पाण्डवोंमें थे ही हो। दुर्योधन मेरा भित्र है। उन्हें मेरे साथ सदा सम्मानका अवहार किया है। आज वह युद्धमें उलझा है। अपनेपर उपकार करनेवाले मित्रका साथ मैं ऐसे समव किसी भी कारणसे कैसे छोड़ सकता हूँ। आप तो मुझे यह आदीर्वद दें कि कौरव-पक्षमें युद्ध करते हुए मैं वीरता प्राप्त करूँ।^{१०}

पितामहने आदीर्वद दिया—“तुम्हारी कामना पूर्ण हो।^{११}
—३०

(३)

राजधर्मीका विलक्षण मित्र-धर्म

[घोर कृतज्ञपर अहेतुकी प्रीति]

गौतम अदि खत्तम पापी था, छिजारीरमें असुर कठोर। शृणुद, धनद रसायमीकी मिसाने की हत्या अदि घोर॥ दिव्यपात्र जे मित्र रसायमीके राशस-अधिपति एक। एकह मैगाला गौतमको रस मित्र-धर्मजी सभी टेक॥ किया भर्यकर पाप हुएके कर विशास सखलना मह। कट्टायं शस्त्रोंसे उरा पापी जीतमें सारे अह॥ नरभक्षी असुरोंमें दस्मुणोंने भी न किया त्विकर। गहापतसी उस कृतज्ञके मास-ग्रहणको किसी प्रकार॥

विलपाक्षने किया मित्रका दाह, एवं सब शाश्वतिवान् । जहो चितापर सुरमि-सुमुखसे झरे केन-अग्रं सुधा-समान ॥ जीवित हुए राजधर्मी, उड़ गये तुरंत मित्रके पास । विलपाक्षने हृदय क्षमाया; भर मनमें अतिशय उल्लास ॥ सुनते ही, दोनों मित्रोंसे मिलनेको अथं सुशोज । इन्द्र, धृष्णिपति, राज्ञेश—तीनों सुखपूर्वक हो विश्व ॥ सुरसतिसे बोले विहृणपति, कर प्रणाम, “हे सुर-सम्राट् ! गौतमको जीवित कर मेरे मनका दूर करै निष्ठाट् ॥ गौतम मेरा मत्र, उसे मैं कभी नहीं सकता पर” मान । सुघावृष्टि थ. देव । धर्मस्य उसे दीजिये जीवन-दान” ॥ विलपाक्ष-सुरपतिसे होकर चकित कहा—“हे यक्षी मित्र । ऐसे नीच कृतज्ञ जन्मुको मित्र मानना बहा विच्छिव ॥ छोड़ो इस अकृत आश्रहको, मानो मित्र । हमारी बात । ‘मचने दो उस महापातकीको, नस्तोमि ही दिन-रात ॥ मानी नहीं बात धर्मात्मा बढ़ने, उनका आग्रह मान । सुधा-वृष्टिसे उसे जिहाया, हर्षित हुए इन्द्र धीमान ॥ गौतम जीवर आस्मलानिये हुआ शुद्ध, कर पक्षान्ताप । हुआ धर्मजीवन फिर उसका सत्य मित्रके पुण्य-प्रताप ॥

गौतम नामक एक ब्राह्मण व्याधोंकी संबंधिते रहकर हिंसक सर्वभक्षी व्याघ-सा दन गया था । उसे देवराजसे एक वार “राजधर्मी” नामक बुगुलोंके धर्मात्मा राजा से मिलनेका दीभाय प्राप्त हो गया । उसने ब्राह्मणको आश्रय दिया और दुखी समझकर सबंयं राजधर्मनि उसका मित्र बनकर कहा कि “तुम भेर मित्र हो; बताओ, मैं हुम्हारे क्या काम करूँ ?” गौतमने कहा—“मैं धनके लिये आया हूँ । मुझे धन मिले, ऐसा कोई उपाय बतलाइये ।” राजधर्मनि उसको अपने एक बड़े धनी मित्र राज्ञसराज विलपाक्षके पास धन देनेके लिये पत्र लिखकर भेज दिया ।

गौतम विलपाक्षके पास पहुँचा । विलपाक्ष बड़ा बुद्धिमान् था । उसने गौतमको अच्छा आदमी तो नहीं समझा, पर राजधर्मी मित्रका आग्रह समझकर उसे पर्योत्त धन देकर लौटा दिया । इन दोनोंके तीसरे मित्र ये देवराज इन्द्र । तीनों मित्र प्रावः प्रतिदिन ही मिलते थे ।

गौतम लौटकर राजधर्मके पास आया । राजधर्मनि उसे परम मित्र भानकर अपने पास आदरपूर्वक रखा । उसको अपरिमित लोह-दान दिया । परंतु गौतम अत्यन्त कुटिल, राज्ञसी स्वभावका दुष्ट मनुष्य था । उसने सोचा—यस्तेमें

योनेको कुछ है नहीं; चलो, राजधर्मको ही मारकर ले चलें । वह दृष्टिसंकृतप्र सोते राजधर्मको मारकर उसके मृतशरीरको लेकर चलता बना ।

इधर जब दोनों दिनोंसे राजधर्मी नहीं आये, तब विलपाक्षको सदैह हुआ कि वह ब्राह्मण बड़ा नूर दीखता था, कहीं उसीने मेरे मित्रको न मार दिया हो । विलपाक्षने अपने पुत्रको पता लगाने भेजा । उसने सच्छन्द जाते हुए गौतमको पकड़ा । राजधर्मका लहूलुहान शरीर मिथ गया । गौतमको पकड़कर विलपाक्षके पास लाया गया । विलपाक्षने राज्ञसराजना दुष्ट गौतमके शरीरको बोटी-बोटी करके कटवा दिया । उस कृतज्ञका मांस नरमझी लोगोंने भी लेना स्वीकार नहीं किया ।

तदनन्तर विलपाक्षने विधि-विधानके साथ मित्र राजधर्मीका दाह-संस्कार किया । इसी दीच सर्ग-सुरभिने मुखके फेमके स्तम्भमें मित्रवत्सल राजधर्मीकी चितापर सुधार-भर्वी की । राजधर्मी जीवित ही गये । विलपाक्षकी प्रसन्नताका पार नहीं । उन्होंने मित्रको गले लगा लिया । तदनन्तर इन्द्र सब बात सुनकर वहाँ आ गये । तीनों मित्र ग्राहुलित हृदयसे मिले । राजधर्मी वहे उदास थे । प्रसन्नताके सानमपर उनके मुखपर विशाद देवराज इन्द्र और विलपाक्षने इसका कारण पूछा । राजधर्मनि कहा कि “गौतम चाहे जैया रहा हो, वह मेरा बड़ा मित्र था । उसकी मृत्युसे मुझे बड़ा दुःख हो रहा है । आपलोग मुझे मुखी करना चाहते हैं तो देवराज इन्द्र अमृत-कर्ता करके उसे जिल दें ।” देवराज इन्द्र तथा राज्ञसराज विलपाक्षने राजधर्माको समझाकर कहा कि “इस प्रकारके कृतज्ञका तो विनाश ही समुचित है । वरं उसे अब दीर्घकालक भिन्न-द्वौह तथा कृतज्ञताके पापका फल मोगनेके लिये नरकमें रहना चाहिये ।” राजधर्मनि वहे विनयके साथ कहा—“देवराज ! आप उसके जीवनको धर्मयुक्त बनाकर उसे जीवन-दान दीजिये । मैं उसके पापके प्रत्यक्षित-रूपमें पुण्यद्यान करता हूँ ।” इन्होंने केवल मित्रकी बात भानकर उसे जिल ही नहीं दिया, अपितु धर्मसम्बन्ध जीवनके लिये आशीर्वाद भी दिया । इन्द्र तथा विलपाक्षपर राजधर्मीके इस आदर्श मैत्री-धर्मका बहा प्रभाव पढ़ा ।

गौतम जीवित हो गया । अब ही उसे केवल शरीरसे ही नहीं, मनसे भी श्रेष्ठ जीवन प्राप्त हो गया । राजधर्मनि चरणोंमें पढ़ते हुए गौतमको उठाकर हृदयसे लगा लिया ।

मित्र-धर्मकी जय ।

(४)

मैत्री-धर्मका आदर्श हंसश्रेष्ठ सुमुख

हिंमक गायमे एक उत्तम सरोवर था । उसमें अनेक चलपत्ती विहार करते थे । हंसोंमें उड़ते समय कमलोंसे भरे उत्त सरोवरको देखा । अपने राजाके पास जाकर उन्होंने सरोवरकी प्रणाली की और आग्रहपूर्वक उसे वहाँ ले आये । वहाँ सरोवरके पास एक व्याघने अपना जाल पैला रखा था । हंसोंका राजा वहाँ उत्तप सो जालमें फँस गया । दूसरे हंस सरोवरपर जलमें उत्तरे थे ।

वैर्यदाली हंसराज जालमें पड़कर भी शान्त रहा । वह नहीं चाहता था कि उसके चिक्कोंसे धक्काकर दूसरे हंस भूले ही मार जायें । संघके समय जब लैटने की बारी आयी, तब उसने अपनी स्थिति बतलायी । वहाँ विरचि है यह जानकर सब हंस वहाँसे उड़ गये; किंतु चुमुक नामक हंसराजका मन्त्री वहाँ रह गया ।

हंसराजने कहा—‘वहाँ रहकर हम भी प्राण दो, हंसें कोई लाभ नहीं । अतः तुम्हें चले जाना चाहिये ।’

सुमुख बोला—‘मैं वहाँसे मार भी जाऊँ तो अमर तो नहूँगा नहीं । अपके साथ मैं सुखमें रहा, दुःखमें आपका साथ छोड़कर जाना मेरे धर्म नहीं है ।’

सबेरे व्याध आया । उसे यह देखकर आश्वर्य हुआ कि एक स्वरूप हूँ भी जालके पास बैठा हूँ और उसे देखकर उड़ता नहीं । उसने पूछा—‘तुम क्यों बैठे हो? तुम्हें चौट लगी है क्या?’

सुमुख बोला—‘व्याध! मुझे चौट नहीं लगी है । मैं वहाँ अपने राजाके पास बैठा हूँ । तुम हमको छोड़ दो और बदलें मुझे पकड़ लो । मुझे तुम बेच दो या चुम्हारी इच्छा हो तो मारकर खा लो ।’

व्याधका हृदय द्रवित हो गया । उसने दोनों हंसोंको छोड़ दिया । बोला—‘तुम्हारे जैसा मित्र जिसे मिला है, उसे मारनेका पार मैं नहीं कहूँगा ।’ —८०

(५)

मैत्री-धर्मके आदर्श डेमन और पीथियस

सिद्धीके सिराम्बूज नगरके गला वियोनितिवरने एक सामान्य अंगराखमें डेमन नामक सुचकको ग्राणदण्डकी आशा दी । डेमनने ग्राधना की—‘एक वर्षका अवकाश मुझे दें । ग्रीष्म जाकर अपने परिवार तथा सम्पत्तिका प्रबन्ध कर आऊँ ।’

राजने कहा—‘कोई हुम्हारी जमानत ले, हुम्हारे न लैटनेपर फँसीपर चढ़नेको उद्यत हो, तो तुम्हें छोड़ा जा सकता है ।’

‘मैं ज्ञानत लेता हूँ ।’ डेमनका मित्र पीथियस आगे आया । उसे नजरबंद किया गया । डेमन स्वदेश चला गया । दिन बीतते गये, वर्ष पूरा होनेको आपात किंतु डेमन नहीं लौटा । लोग कहते थे—‘डेमन अब क्यों प्राण देने आयेगा? पीथियस मूर्ख है ।’

पीथियसको विश्वास था कि डेमन अवश्य लैटेगा । वह सोचता था कि—‘कहाँ समुद्रमें बूफान आ जाय, डेमनका जहाज मार्गमें भटक जाय और डेमन समयपर न आये तो अच्छा । उसके प्राण वज्र जायें और मेरे चले जायें तो बचा ही उत्तम हो ।’

डेमन समयपर नहीं पहुँच सका । वह चला तो समयपर था, किंतु उसका जहाज समुद्री दूफानमें हँस गया था । किनारे पहुँचा तो वो भी सदारी मिली, उससे दौड़ा । कई दिनोंका भूजा, दौड़नेसे पैरोंमें छाले पड़े; दिलेरे केश डेमन भागता पहुँचा तो उसके मित्र पीथियसको ग्राणदण्डकी आशा हो चुकी थी, वह वध-स्थलपर पहुँच चुका था; किंतु दूसरे पुकारकर डेमनमें अपने आनेकी सूचना देकर वधिकोंको रोक लिया ।

राजाको इस दोनों मित्रोंकी मैत्रीका समाचार मिला तो इनकी मैत्रीसे प्रभावित होकर उसने डेमनको क्षमा कर दिया और स्वयं दोनोंका मित्र बन गया । —८०

(६)

मैत्री-धर्मके आदर्श—रोजर और एण्टोनिओ

एक समय आ नव धूरोष तथा मव्य एशियाके वर्दी लोग दूसरे दूरस्थ देशोंकी बसियोंपर आक्रमण करके उड़े बंदी बना देते थे और खुले चाचारोंमें पशुओंकी भाँति बेच देते थे । रोजर तथा एण्टोनिओ इस प्रकार भिन्न-भिन्न स्थानोंसे बंदी बनाकर बेचे गये थे । वे एक स्वामीके द्वारा खरीदे गये गुलाम थे । साथ रहनेके कारण उनमें मित्रता हो गयी ।

दोनोंको समुद्रके किनारे पर्वतपर भागी बनानेके काममें लगाया गया था । एण्टोनिओ बसुद्र देखता तो लंबी इच्छा छोड़ता । इस सागरके पार उसका देश, धरू छी और पुन थे । उसका सरण करके उसका चित्त ब्यकुल हो जाया करता था । एक दिन समुद्रमें एक जहाज दीख पड़ा । एण्टोनिओको इस गुलामीके पशु-जीवनसे उद्धारकी आशा दोखी । वह वह तैरकर जहाजतक पहुँच जाय तो दाउलतसे छुटकाया हो ।

रोजर तैरना नहीं जानता था। अपने मित्रको दासताकी यन्त्रणामें छोड़कर एट्टोनिओंको अकेले निकल जाना स्वीकार नहीं था। रोजरने बहुत कहा कि वह अकेला चला जाय; किंतु एट्टोनिओंने रोजरको बलपूर्वक पर्वतसे समुद्रमें पिरा दिया और स्वयं भी कूद पड़ा। उसने रोजरको हृत्यनेसे बचाया और उसे अपनी कमर पकड़ाकर लैरने लगा।

गुलामोंकी देखरेख करनेवालोंने इन दोनोंको समुद्रमें कूदते देख लिया था। उन लोगोंने एक नौका ली और इनका पीछा किया। वह देखकर रोजरने कहा—‘मिश्र। हम दोनों पकड़ जायें, इससे अच्छा है कि हम युश्च छोड़कर अकेले तैरकर जहाजपर चढ़ जाओ। नोबके लोग मुझे पकड़ गें, हृत्यनेसे बचायेंगे, तबतक हम निकल जायेंगे। मुझे लेकर चलायें तो इस मन्द गतिके कारण वे हम दोनोंको पकड़ लेंगे।’

रोजरने वह कहकर एट्टोनिओंकी कमर छोड़ दी। तैरना न आनेके कारण वह जलमें हृत्य गया। एट्टोनिओंने मिश्रको छूला देखा तो उसने भी हृत्यकी लगायी। पीछा करनेवाली नौका दोनोंको जलपर न देखकर रुक गयी।

जिस जहाजको देखकर ये लोग जलमें कूदे थे, उसका

कसान प्रारम्भसे ही इन दोनोंको देख रहा था। जहाज लंगार ढाले सखा था। दोनोंको हृत्यते देखकर उसने एक छोटी नौकापर कुछ खलली इनकी सहायताकी भेजे। वह नौका इनको हृत्यकर निपटा होकर लैट्येवाली ही थी कि एट्टोनिओं जलसे अपर आया। उसने एक शाखसे रोजरको पकड़ रखा था और वह जहाजकी ओर तैर रहा था। नौकावालोंने दोनोंको ऊपर उठा लिया। वे जहाजपर पहुँचाये गये।

नौकापर पहुँचते ही एट्टोनिओं मूर्छित हो गया। उसे बहुत अम करना पड़ा था। रोजर पहले सूर्णित था; किंतु बहन हुआ, पेठे समुद्रका पानी निकला तो वह हीषमें आ गया। अपने अचेतन मिश्रके घारीरका आलिङ्गन करके वह फूट-फूटकर रोने लगा—‘तुमने मुझे बचानेके लिये माण दे दिये। मैं तुम्हारे बिना जीकर क्या करूँगा।’

एट्टोनिओंमें जीवनके चिह्न नहीं दीखते थे। रोजर मिश्रके घोकमें लगभग पागल हो गया था। उसे पकड़ न लिया जाता तो वह समुद्रमें कूद पड़ता। वह बार-बार समुद्रमें कूदनेकी चेष्टा कर रहा था। इतनेमें एट्टोनिओंने दीर्घ शास्त्र लिया। रोजर आनन्दसे नाचने लगा।

उस जहाजने दोनोंको ले जाकर माला उतारा। वहाँसे वे अपने-अपने घर गये। —८०

पुत्रधर्म और उसके आदर्श

(ऐतिहासिक शास्त्री श्रीबलदामजी शास्त्री, पृष्ठ ४०, साहित्यरत्न)

‘पुत्र’ शब्द कितना प्रिय और मधुर है, इसे एक पिता ही अनुभव करता होगा। जिना पुत्रबाल मनुष्य ‘पुत्ररन’-की प्राप्तिके लिये कितना लालायित हो जाता है। इसे एक पुत्रहीन ही अनुभव करता है। हमारे भारतकी संस्कृति और सभ्यतामें ‘पुत्र’को ‘नरकरे बचानेकाला’ माना गया है। पुत्रका वास्तविक महत्व इसीलिये है कि ‘पुत्र’ माता-पिताके क्रृत्यसे उद्धार पानेके लिये अपने कर्तव्यको पूर्य करेगा और आद्वारा पितरीको तुस करेगा। इच्छादिक कर्म करके देवोंको संतुष्ट करेगा और वेद-पाठसे शूष्यियोंको प्रसन्न करेगा। ‘पुत्र’के ऊपर मातृ-शृण और मुरु-शृण तथा शृणि-शृण भी रहता है। हन्ती क्रृत्यसे उद्धार पानेके लिये पुत्रको कर्मणोगी बनना पड़ता है और इसीलिये ‘पुत्र’-रन महान् रहोंमें सर्वधेष्ठ रहता है। पुत्रके घारीरका राशी चन्द्रमसे मी शीतल है। पुत्र स्नेहका केन्द्र है—लाल-प्यारका मुख्य स्थान है। भारतीय आचारोंनि

‘पुत्रकी’ बहुत सुन्दर व्याख्याएँ उपलिखित की हैं। महर्षि धर्मिष्ठजीने ‘पुत्रकी’ पवित्र व्याख्या करते हुए लिया है—‘जिस पुत्रका मन सर्वदा पुष्यमें लगा हो, जो सर्वदा सत्यके पालनमें तपार हो, जो दुर्दिनान्, शानी, तथोनिष्ठ, शेष वक्ता, कुशल, धीर, वैदाम्बाली, सम्मूर्य यास्तोंका जाता, देव-वाहाणोंका उपासक, अनुष्ठानकर्ता, व्यानी, त्यागी, प्रियवादी, भगवानका भक्त, शान्त, जितेन्द्रिय, जापक, पितृमक, स्वजनप्रेमी, कुलभूषण और विद्वान् हो तो ऐसा ‘पुत्र’ ही यथार्थ पुत्र-सुखको देनेवाला होता है। अन्य भौतिके पुत्र तो सम्बन्ध जोड़कर केवल शोक-संतापदायक होते हैं। (पद्मपुराण, सूमिद्याण्ड १३। २०-२५)

विद्वान् एक ही पुत्र मी जेष्ठ है, बहुतसे गुणहीन पुत्रोंसे क्या लाभ। मुपुत्र एक ही सारे वंशको तार देता है, दूसरे तो संतापकारक ही होते हैं।

एकमुत्रो दरे विद्वाद् यदुभिर्मितुणीदु किम् ।

एकलास्यते वंशमन्ये संतापकाकाः ॥

(पद्म० भ० ११ । ३९)

एक ही पुत्र वहि गुणवान् हो तो अन्य सैकड़ों पुत्रोंसे कोई लाभ नहीं; क्योंकि एक चन्द्रमा आकाशके अन्धकारको दूर कर देता है और असंख्य तारे कुछ भी प्रकाश नहीं देते। एक ही पुत्र उत्पन्न करके चिह्निति विना भवके घनवोर जंगलमें सोती है, किंतु गर्दभी दस पुत्रोंको मी जन्म देकर केवल बोका ढोती है। एक कविने लिखा है—“उस गौसे क्या लाभ जो न तो दूध दे रही है और न तो गर्भिणी हो। और उस पुत्रसे क्या लाभ जो न तो धार्मिक ही हुआ और न विद्वान् ही।”

हमारी भारतीय संस्कृतमें मानवमें “धर्म”की भावनाको प्रथम गुण माना गया है। आज नवे संसारके कुप्रभावमें युवक-समाज वहता जा रहा है और अपने धर्म तथा संस्कृति और समाजसे दूर भागता जा रहा है। ऐसे लोगोंसे धर्मकी कुरी बहन नहीं की जा सकती। जब धर्म नहीं तो कुछ नहीं। एक कविने कहा है—“जिसने पुण्य किया, जिसने तीर्थठिन किया; जिस मानवने कठिन तपस्या की है, उसीका पुन धार्मिक होगा, विद्वान् होगा, धनवान् होगा और वंशमें रहेगा।” यहाँपर पुत्रकी प्राप्तिके लिये पिता के कर्मोंका बल भी उत्तरदायी बतलाया गया। यह तो सत्य है कि पिता के कर्मोंका फल पुत्र है। इस तथ्यको माननेपर भी यह मानवा पढ़ेगा कि “पुत्र-धर्म” एक पृथक् तथ्य है और “पिता-धर्म” एक पृथक् सत्य है। “एक सुन्दर और सुगन्धित वृक्ष अपने पुत्रोंकी भीष्टी और सूधुर सुगन्धसे वन्यप्रदेशको सुगन्धित कर देता है, उसी प्रकार एक पुत्र प्रह्लाद और ध्रुवकी भौति वंशको प्रकाशित कर देता है।” पिता के पाएकर्मोंका फल पुत्रपर ऐसे स्थानोंपर नहीं प्रभाव दिखाता। एक ही पुत्र अपनी प्रजा, अपने प्रभाव, बल तथा धनसे अपने वंशकी शाई छाँचता है और उसी पुत्रसे उसकी माता “जननी” कहनेकी “धर्मिकारिणी” होती है। ऐसे पुत्रोंमें महाभागांधी, १० जनाद्वरलाल नेहरु आदि थे।

आजके युगमें सुपुत्रोंका अमाव है, कुपुत्रोंकी बहुलता है। फलस्वरूप उनकी उद्धण्डता, उच्छृङ्खलता, अनुशासनहीनता, चौरी, स्वार्थपरता और अदिष्टतासे माता-पिता, शुद्ध, अच्यापक-सभी परीशान हैं। ये दुरुष बालकोंमें घरसे ही प्रारम्भ हो रहे हैं और विद्यालयमें उनका विस्तार ही जाता है। इस कुप्रभावसे राष्ट्र भी प्रभावित है। एक लेखकने लिखा है—“एक सूखे वृक्षमें आग लगानेपर वह आग दावानिं बनकर बनकर समाप्त कर देती है जैसे एक कुपुत्र सम्पूर्ण वंशको नष्ट कर देता है।”

एकेस शुक्लक्षणं दद्मानेन वह्निना ।

दद्मते चद्मनं सर्वं कुपुत्रेण कुर्लं यथा ॥

पुत्रका “धर्म-पालन” पुत्रको सत्यपर चलानेमें सहायता ही नहीं, अपितु साफूके लिये भी कल्पणकारक माना गया है। यहाँ यद्य साण रखनेकी बात है कि “पुत्र-धर्म”को निमाना कठिन है और सरल भी। भगवान् राम, भीम तथा यशातिने जिस पुत्र-धर्मको निमाया, उसे आजके पुत्र तो नहीं निमा सकते; किंतु कोई पिता भी अपने सुपुत्रको बनामें ऐजनेका प्रस्ताव नहीं करेगा और न कोई पिता अपने पुत्रके मार्गमें कोई धनना चाहेगा, कोई पिता अपने पुत्रसे आखुकी यातना भी नहीं करेगा। हाँ, कुछ कुपिता भी होते हैं। उस युगमें हिरण्यकशिपु-जैसे पिता थे। आज भी हो सकते हैं। नहाँपर प्रसन्न केवल “पुत्र-धर्म-पालन”का ही है। यदि पुत्र अपने कर्तव्यका पालन नहीं कर सकता तो उसका जन्म व्यर्थ है।

तुलसीदासजी कहते हैं—

पुत्रती जुवती जग सोई। रघुपति भगतु जासु सुनु होई ॥
नसग चाँझ महि बादि बियानी । राम निमुख सुत तें हित जानी ॥

“जगत्में वही युवती पुत्रवती है, जिसका पुत्र भगवान्का भक्त होता है। नहीं तो, जो रामविषुव पुत्र उत्पन्न करके उससे अपना हित समर्पती है, उसका तो वैश्व ही रहना मला था। वह तो व्यर्थ ही व्यायी (पशु उत्पन्न किया)।

पुत्र-धर्मके आदर्श

(१)

विष्णुशार्मा

“वैदा ! समस्त रोगों तथा जराभृत्युक्ता नाशक अमृत चाहिये मुझे ! उसे पीकर मैं अपने देहको अजर-अमर बना देना चाहता हूँ ।” विष्णुशार्मनि अपने पुत्रसे कहा ।

“जो आजा !” पिता लाक्ष्मत नारायण है—यह जिसका इदृ निश्चय है, वह पिताकी आज्ञाके विषयमें विचार कर्या करने लगा और स्वधर्मनिष्ठ, तपस्वी नालण्डकुमारके लिये विलोकीमें ऐसा क्या है, जो वह लाभ न बना सके ? पिता-की आज्ञा स्वीकार करके विष्णुशार्म सर्वको चल पड़े ।

तपोवल्ले सुवर्णीर आते उन विप्रकुमारको देवराज-ने देखा । उन्होंने अपसराओंमें शेष मेनकाको भेजा कि वह इस ग्रस्ताण शुबकको अपनी ओर आकृष्ट करे । समूर्ण शुद्धारसे सजी-धजी मैनका नन्दन-बनमें मार्गके लगीप छलेपर बैठकर मधुरस्तरे गाती हुई छल कूलने लगी । उसका संगीत अपने माधुर्य तथा भावमें आकृष्ट ही था ।

“मनोहरी सुधक ! इसनी लगामें कहाँ जा रहे हो ! लग्न पहुँचनेकी इसनी दीप्रता क्यों है तुम्हें १ स्वर्णका सौन्दर्य तो यहाँ तुम्हारे स्वागतको देइ है । मैं मममधके शरणधात्मे न्याकुल तुम्हारी शरण आयी हूँ । मुझे स्वीकार करके मेरी ग्राम-रक्षा करे ।” जब एससे जाते हुए विष्णुशार्मनि मैनकाकी ओर आँख उठाकर देखा भी नहीं, तब वह अप्सरा कूलसे कूद पड़ी और स्वयं बोली । उसकी वाणीके साथ उसके आङ्ग-आङ्गकी चेष्टा उन्मादक थी ।

“मुन्द्री ! तुम्हारे मनकी वात मुश्तके अशात नहीं है ।” विष्णुशार्मनि हँसकर मैनकाको इत्यभ कहते हुए कहा । तुमने महर्णि विश्वामित्रके तपका नाश किया था, किंतु अपने पिताकी भक्तिके प्रतापसे मैं तुम्हारे वयमें नहीं आनेका । तुम और किसीको हूँड़ो ! मैं पिताजीके कार्यसे जा रहा हूँ । उसमें वाधा बनोगी तो जानती ही हो कि ब्राह्मणका क्रोध कितना दाढ़ण होता है ।”

वेचारी मैनका—उसमें कहाँ शक्ति थी कि इस तुगौरौतीके बाद उद्वरनेका साहस करे, उसका सौन्दर्य तो केवल प्रमत्तको आकृष्ट कर सकता था । विष्णुशार्म इन्द्रके स्वीप पहुँचे और उन्होंने माँगा—“मेरे सिलाजी अमृत पीना

चाहते हैं ! अमृत-कल्पा मुझे देनेकी कृपा कीजिये ।”

इस प्रकार दे देनेके लिये तो देवताओंने अमृतसे भेल करके इतने कठसे समुद्र-मन्थन करके अमृत नहीं लिकाया था । अतः देवराज इन्द्र नाम प्रकारकी वाधाएँ उपस्थित करने ल्ये । किंतु शक्तिशाली पुरुषोंका स्वभाव होता है वाधा देखकर उदीप होना । वाधा पाकर निराश तो कामुक होते हैं । विष्णुशार्मनि चोचा—“यह इन्द्र मेरी आज्ञा नहीं मानता । नालण्डकी आज्ञा जब जगत्त्रियन्ता श्रीहरि नहीं दालते, तब यह मेरी अवश्यमानता करता है । मैं इसे अप्री स्वर्णसे भेजे फेंक दूँगा । मेरे तपका शुद्धांश पाकर कोई जीव हन्द्रस्तको सँभाल ही लेरा चहे ।”

देवता संकल्पदृष्ट हैं । विष्णुशार्मके लेकलपने इन्द्रको भयभीत कर दिया । वे अमृतकल्पा लेकर तत्काल उपस्थित ही गये । उनसे अमृत लेकर विप्रकुमार पृथ्वीपर लौटे ।



देह नश्वर है। तपसी, वीतराग व्राह्मणको देहसक्ति नहीं हो सकती थी। शिवशर्माको अमृत पीना नहीं था। उनको तो पुत्रकी परीक्षा लेनी थी। अमृत लेकर आये पुत्रको उन्होंने मगवद्वाम प्राप्त करनेका आशीर्वाद दिया।

—८०

(२)

पितृभक्त सोमशर्मी

शिवशर्मके सभी पुत्र पिताके परम मक्त थे। उनके चार पुत्र तो पितृभक्तिके प्रतापसे मगवद्वाम जा चुके थे। तबसे छोटे पुत्र सोमशर्माको उन्होंने अमृतवट देकर उसे सुरक्षित रखनेकी कहा और स्वर्य पत्नीके साथ तीर्थयात्राको निकल गये। दस वर्षके पश्चात् जब लौटे तो तपोबलसे पत्नीके साथ कुष्ठ-रोगीका रूप धारण कर रखता था। सर्वाङ्ग गल रहा था। उन धारोंसे फीच जा रहा था।

सोमशर्मने माता-पिताको देखा तो वे उनके चरणोंमें गिर पड़े। माता-पिताके बुझसे वे बहुत दुखी हुए। दोनोंके धाव धोये, उनपर पट्टी बाँधी और उन्हें फोमल शिलैनेपर सुलाया। वहे परिश्रमसे वे माता-पिताकी सेवामें लग गये। दोनोंके धाव निल थोते, पट्टी बाँधते। उनके कहा मल-भूत सच्छ करते। स्नान करते, भोजन करते अपने हाथसे उनके मुखमें शास देकर ध्योक्ति वे दोनों द्वायमें शाव होनेमें स्वयं तो भोजन कर नहीं सकते थे।

माता-पिताकी इच्छा होनेपर अपने कंधोंपर उठाकर उन्हें आसपासके तीर्थ-मन्दिरोंमें ले जाते। अपना नित्यकर्म, स्नान, तर्जण, देवपूजन भी नियमपूर्वक करना था। माता-पिताके लिये भोजन भी बनाना था। किंतु सोमशर्माके किसी मार्गमें, किसी सेवामें कोई त्रुटि नहीं होती थी। उनमें आलस्य कभी आया नहीं।

रेगने शिवशर्माको चिङ्गचिङ्गा कर दिया था। ऐसे रेग उनकी इच्छासे आया था। जान-धूक्षकर वे चिङ्गचिङ्गे भी बढ़ गये थे। अपनी सेवामें रात-दिन कठोर अग्र करते हुए लो पुत्र सोमशर्माको वे प्रायः लिङ्गकर्ते रहते थे। वहे कठोर बचन करते थे। उनका तिरस्कार करते थे। हँडा अथवा जो कुछ हाथ लग जाय, उसीसे सोमशर्माको भार घैंडते थे।

नप्तसाकी मूर्ति पितृभक्त सोमशर्माने पिताके डॉटने, मारने, तिरस्कार करनेका कभी चुरा नहीं माना। पिताका उत्तर तो वे क्या देते। मनमें भी रुष अथवा खिल नहीं

हुए। पिता-माताकी सेवामें सनिक भी शिखिता उन्होंने आने नहीं दी।

‘अरे वह अमृत तो ले आ! दीर्घकालतक युशकी परीक्षा लेनेके पश्चात् शिवशर्मा संतुष्ट हो गये थे; किंतु पुत्रकी तपशक्ति तथा आस्था उन्हें और देखनी थी। अपनी शक्तिसे उन्होंने अमृतको अदृश्य कर दिया था।

सोमशर्माको अमृतका समरण न हो, ऐसी धात नहीं थी। वे जानते थे कि अमृत लर्वरेनहारी है। देखिन पिताने ही उसे सुरक्षित रखनेकी दिया था। माता-पिता उस दैवी पदार्थका उपयोग उचित नहीं मानते तो उनसे अधिक योग्यता दिखलाकर अमृतकी चची करना उन्हें अविष्टता लगा था। इसलिये वे त्रुपचाप सेवामें भैलग्न थे। पिताने माँगा तो अमृतवट उन्होंने उठाया; किंतु वह तो खाली पड़ा था।

‘वादि मुश्यमें तथा तथा गुरु-गुरुभूपालय धर्म है, वादि मने निश्चलभावसे तप किया है, यदि मन तथा इन्द्रियोंके मंवम-से भी कभी चिन्हित नहीं हुआ हैँ, तो वह घट अमृतसे पूर्ण हो जाय?’ सोमशर्मने संकल्प किया। घटके अमृतका क्षा हुआ, इस लहोपासें उन्होंने समय नष्ट कर्ही किया। घट अमृतपूर्ण हो गया।

‘क्षस !’ मैं प्रसन्न हुआ त्रुम्हारी सेवा और तपसे। अमृत-कलश लेकर लघ सोमशर्मा माता-पिताके पाय पहुँचे तो वे दोनों कोही-रूप त्यागकर लघ बैठे थे। पुत्रको साथ लेकर दोनों उसी दिन विष्णुलोक चले गये। —८०

(३)

पितृसेवी सुकर्मा

‘व्राह्मण ! भूर्ल द्वे हुम ! तुम समशते हो कि जगत्में हुमसे बड़ा कोई नहीं है ! निर्विद्येष तच्चका तो तुम्हें ज्ञान है ही नहीं। कान खोलकर सुनो ! इस समय संसारमें कुण्डल-के पुत्र सुकर्मके समान कोई ज्ञानी नहीं है। यद्यपि उन्होंने तप नहीं किया, दान नहीं दिया, धान-हवनादि कर्म भी नहीं किये और तीर्थयात्रा करने भी नहीं गये, हृतेपर भी वे समस्त शास्त्रोंके ज्ञाता हैं। बालक होनेपर भी उन्हें जो ज्ञान ग्रास है, वह त्रुम्हे अवतक दुर्लभ है।’ महातापल मिष्ठलके सम्मुख अचानक एक सारस पत्ती आ रैद था और वही उनसे वे यातें कह रहा था।

तीन सहस्र वर्षोंके पिपलने कठोर तप किया था। उस समय उनके देहको दीपकोने अपना घर बनाकर मिट्टीसे ढक दिया था। फिर मीं उस मिट्टीके ढेरसे अग्निकी लपटोंके समान पिपलके शारीरका तेज प्रकट हो रहा था। इस तपसे प्रसन्न होकर देवताओंने वरदान दिया था—‘सत्ता जगत् तुम्हारे चश्मे हो जायगा।’ इस वरदानसे पिपल विग्राधर हो गये थे। जिस व्यक्तिका मनसे विन्दन करते थे, वही उनके चश्मे हो जाता था। इस सिद्धिके कारण उन्हें गर्व हो गया। वे अपनेको संसारमें सर्वश्रेष्ठ मानने लगे। अहंकारने भगवत्प्राप्तिका मार्ग अवरुद्ध कर दिया। तपस्त्री ब्राह्मणकी इस अवश्यापर ब्रह्मजीको देखा आ गयी। वे सारसका रूप रखकर पिपलको सावधान करने आये थे।



सारसकी बातें सुनकर पिपल यीम कुरुक्षेत्रकी ओर चल पड़े। वहाँ विश्वेष कुण्डलके आश्रमपर पहुँचकर उन्होंने सुकर्मीको अपने माता-पिताकी सेवामें लगे देखा। उपर आये अतिथिका सुकर्मीने स्वागत-सत्कर किया।

इसके पश्चात् सुकर्मीने ही बतला दिया कि सारसके बचन सुनकर पिपल उसके पास आये हैं।

‘आपकी आत्म कम है। आपने कोई तप किया हो; ऐसा भी नहीं लगता। इतनेपर भी आपका शान अपार है। इसका कारण क्या है?’ सुकर्मीने जब साक्षात् देवताओंको झुलाकर दिखा दिया और निर्विशेष तत्त्वका सम्बन्ध बर्णन किया तो पिपलने पूछा।

‘मैं तप या धर्म नहीं करता। दादा, तीर्थोंने अथवा कोई अन्य धर्म मैं नहीं जानता। माता-पिता ही मेरे इष्ट देवता हैं और मैं उनकी सेवाको ही अपना परम धर्म मानता हूँ।’ सुकर्मीने बतलाया। ‘आलस्य छोड़कर रात्रिदिन मैं माता-पिताकी सेवामें लगा रहता हूँ। जबतक माता-पिता जीवित हैं और उनकी सेवाका अलभ्य लाभ प्राप्त है; तबतक मुझे दूसरा तप, तीर्थयात्रा एवं अन्य पुण्यकर्मोंके करनेका क्या प्रयोगन है।’ तप, यज्ञ, अनुष्ठान, दानादिसे जो कर्म शिलित है, वह सब मैंने माता-पिताकी सेवासे प्राप्त कर लिया है।’

‘पुत्रके लिये माता-पिताते बड़ा कोई तीर्थ नहीं।’ अल्पसे सुकर्मीने बतलाया। ‘माता-पिता इस लोकमें तथा परलोकमें भी साक्षात् नारायणके समान हैं। जो माता-पिताका आदर नहीं करता, उसके सब शुभ कर्म व्यर्थ हो जाते हैं।’

दूसरे अनेक उपाख्यान सुकर्मीने पिपलको सुनाये। पिपलका गर्व सुकर्मीके उपदेशको सुनकर दूर हो गया। वे उसको प्रणाम करके बहाँसे चले गये। —८०

(४)

पुनर्धर्मके आदर्श पुण्डरीक

‘धर्मस्त प्रभुरच्छुतः’

भ्रातान् धर्मके लक्ष्य हैं। धर्मके परम प्राप्य और रक्षक हैं। किंतु धर्ममें हृद निष्ठा हो तो वह भ्रातान्को भी अपने समीप आनेकी विश्व कर देता है। ऐसे धर्मात्मा ये पुण्डरकाळमें पण्डरपुर (भृशराष्ट्र) के महाभाग पुण्डरीक। उन्होंने अपने माता-पिताको ही साक्षात् धर्म माना-जाना था।

जैसे कोई अत्यन्त अद्वात् भक्त अपने आगाधकी उप-

उस रात्रिमें महाराज दशरथ घासेट करने निकले थे । अबणकुमारने जब सरयूके जलमें कमण्डल हुआया तो उसका शब्द सुनकर राजको लगा कि कोई लंगली हाथी जल पी रहा है । उन्होंने शब्दके लक्ष्यपर वाण छोड़ दिया । वह वाण अबणकुमारकी छातीमें लागा । वे चीकर करके गिर पड़े । बुद्धके अतिरिक्त हाथीका वथ खालीचर्जित है । हाथी समझकर भी राजाको वाण नहीं छोड़ना था । वह जो धर्ममें अमाद हुआ, उसीसे धर्मात्म राजाके हाथसे अनजानमें यह अनर्थ ही गया ।

चीकर सुनकर महाराज दशरथ वहाँ पहुँचे और घाँसका दृश्य देखकर चाकुल हो गये । अबणकुमारने समझाया—मैं ब्राह्मण नहीं, वैश्य हूँ । थापको ब्रह्महत्या नहीं लगेगी । लेकिन मेरे सातान्पिता प्यारे हैं । उन्हें जल पिला दीजिये और वह वाण भेरी छातीसे निकालिये ।

वाण निकालते ही अबणकुमारके प्राण निकल गये । महाराज दशरथ जल-ठेकर उनके सातान्पिताके पास पहुँचे तो उन दम्पतिके आग्रहपर बोलना पड़ा । उन्हें यह दुःसंवाद देना पड़ा । उन दोनोंने पुत्रके पास पहुँचनेको कहा । वहाँ चिता भी काष्ठ चुनकर महाराजने बनायी । पुत्रके देहके साथ वे दोनों अन्धे धूम चितामें बैठ गये । अन्तिम समय उन्होंने राजाको त्याप दिया—इसारे समान दुम भी पुत्र-विद्युगमें ही मरेगे ।

पितृभक्तिका प्रताप—महाराज दशरथने देखा कि अबणकुमार दिव्य देह धारण कर भगवद्वाम जा रहे हैं । उनके सातान्पिता भी उनके साथ ही गये । —श०

(६)

पितृभक्त देवत्रत भीष्म

महाराज चान्तनुके पक ही पुत्र थे देवत्रत और वे भी सामान्य भानवीकी संतान नहीं थे । भगवती गङ्गाके पुत्र थे वे । देवी गङ्गाने महाराज चान्तनुसे विश्वाह ही इस शर्वपर किया था कि महाराज उनके किसी कार्यमें वाधा नहीं होगे । जो पुत्र उत्सन्न होता, उसे वे भागीरथीके प्रवाहमें विसर्जित कर देती । लात, पुत्र, उन्होंने प्रवाहमें डाल, दिये थे । अठवेके समय महाराजने उन्हें रोका । इस प्रकार गङ्गा-लैसी पल्लीका त्याग करके चान्तनुको देवत्रत मिले थे । देवताओंने अस्त्र-विद्या दी थी उन्हें ।

अचानक महाराज उदास रहने लगे । उनका शरीर दिनोंदिन धीण होने लगा । मुख बलान्त हो गया । देवत्रतको

पिताकी यह अवस्था असह्य हो गयी । वही कठिनाईसे मन्त्रियोंके द्वारा उन्हें रोगके कारणका फता लगा । महाराज चान्तनुने कहीं दाशरथकी कन्या योजनगन्धा (मत्स्यगन्धा) सत्यवतीको देख लिया था और उसपर वे मुख हो गये थे । उसकी चिन्ता उन्हें धीण बना-रही थी और दाशरथ या कि हस्तिनापुरके सम्माट्को अपनी कन्या केवल तथा दे सकता था, जब उसका दौहित्र सिंहासनका अधिकारी माना जाय । भला, देवत-जैसे देवतात्मा पुत्रको, उसके अधिकार विक्रित करनेकी बात महाराज कैसे सोच सकते थे ।

देवत्रतने कारण जाना और कहा—मस, इतनी-सी बात ! इसके लिये पिताजी इतना कष्ट पा रहे हैं ।

उन्होंने रथ सजाया और कैथर्सेपल्ली पहुँचे । देवट दाशरथकी होपहीके हारपर रुका उनका रथ । उन्होंने दाशरथसे कहा—‘आपकी कन्याका पुत्र सिंहासनाचीन होगा । मैं अपने सत्यका त्याग करता हूँ । आप अपनी पुत्रीको विदा करें । ये महाभागा, राजसदन पहुँचकर मुझे मातृ-वरण-बन्दनाका पुण्य प्रदान करें ।’

‘राजकुमार ! आप धन्य हैं !’ दाशरथने कहा । आपका त्याग महात्म है । अन्यथा आप जैसा धनुर्धर प्रतिपक्षमें हो, तो देवता भी कैसे सुरक्षित रह सकते हैं । अप्य बचन न देते तो महाराज भेरी पुत्रीसे हुई संतानको राज्य देनेका बचन देते भी तो वह निष्फल था । लेकिन आपने भले अपना सत्य त्याग दिया, आपकी संतान तो उसे नहीं त्याग देगी । आपके पुत्र क्या मेरे दौहित्रको निष्कण्ठक राज्य करने होंगे ?

देवत्रत गम्भीर हो गये । बात उचित थी । वे सुना थे । वे विवाह करें तो उनके पुत्र इस नवीन सावके पुत्रेसे आयुमें बहुत छोटे कदाचित् ही होंगे । वे अपना स्वल छोड़ ही दींगी—यह कोई कैसे कह सकता है । दो अप्य सीचकर, बहुउठाकर उन्होंने प्रतिशोधी—मेरे कोई संतान नहीं होगी ! मैं आजन्म ब्रह्मचारी रहूँगा ।

भीष्म ! भीष्म प्रतिशोधी ! देवताणी-गौंजी और कुमार-के ऊपर गमनते सुसन्धर्षा हुई । उसी समयसे देवत्रतका नाम भीष्म पड़ गया । सत्यवतीको साथ लेकर जब वे यजसदन पहुँचे—साश्रुतन, गद्यगद्यकण्ठ पिताने आदीर्वाद दिया—वत्स ! भूत्यु भी तुम्हारा अमिभव नहीं कर सकेगी । तुम इच्छा नहीं करोगे, तबतक तुम्हारा शरीर नहीं छोटेगा ।

(७)

आदर्श पुत्र सनातन

केवल ग्यारह वर्षका वालक था सनातन । उडीसाके एक निर्धन दम्पतिके दो बच्चे थे । उसमें सनातन ग्यारहका था और दूसरा उससे ड़: वर्ष छोटा था । अचानक देशमें अकाल पड़ गया और अकाल निर्धनोंके ही सारता है । जिनके पास बन है, खंग्रह है; वे भी अकालके समय अपना व्यव कम कर देते हैं । मजदूरके घरमें वैसे ही कुछ नहीं रहता, अकालके समय बहुतसे चलते काम बड़े लोग व्यव बढ़ानेको बंद कर देते हैं । अतः 'हुहरी सार दरिशर' अब महँगा हो जाता है और काम मिलना प्रायः बंद हो जाता है ।

सूर्योदयके पूर्व ही सनातनका पिता धरसे निकल पहता था । सूर्यास्तक कहीं कुछ भी काम मिल जाय और उससे दो मुझी अन्न प्राप्त हो जाय तो वह दिन भाष्यशाली समझा जाता था । लेकिन प्रथेक दिन तो भाष्यशाली दिन किसीके जीवनका नहीं होता, फिर निर्धनके जीवन-दिन और वे भी भयानक अकालके समवर्में । कहूं दिनोंतक ज्यातार कुछ काम नहीं मिला तो अज्ञ कहांसे आता । घरमें जो टूटे-भूटे बर्तन आदि थे, पेटकी ज्वालामें आहुति देनेको पहले विक लुके थे । उधार कुलमर्यमें निर्धनको कौन देने चला था । कोई उपाय नहीं था । सनातनके पिताने एक दिन रात्रिमें चुपचाप शर व्याप दिया । कोई नहीं जानता कि वे कहों गये । अपने नैत्रोंके सामने अपनी संतानको भूखे तड़पते न देख सकनेके कारण वे कहीं चले गये ।

पिता गये और उस असहाय परिवारको बद्दोंका दो मुझी अज्ञ मिलनेकी आशा भी गयी । उपवास—कितने दिन केवल जल धीकर कोई जीवित रह सकता है ? नारी खाटपर पड़ गयी । नार वर्षका नद्या वालक मरणासन हो गया । कक्षालग्नाय ग्यारह वर्षका वालक सनातन अन्तमें पिताकी लाठीका सहार लेकर निकला । अनेक दिनके उपवासके कारण उसे वार-वार चक्रर आ रहे थे । वार-वार मूर्छित होकर वह गिरा पड़ता था; किंतु उसे चलना चाहिये—चलता गया वह ।

व्यैया । शोङ्गासा मात ॥ किसी दृढ़ा नारीको मरणासन वालक सनातनकी इस याचनापर दशा आ गयी । उसने योङ्गा भाल दे दिया उसे ।

सर्वेषी अपने बच्चे खा लेती है, यह अवश्य मिला है उसे; किंतु अकालमें भूखसे व्याकुल मनुष्य अपने बच्चे बेच डालता है । माता अपने मरते बच्चेके हाथसे छीनकर अन्न खा लेती है । वे दृश्य कितने भी द्राक्षण हों, मानवताको हृदयपर पत्थर धरकर देखने पड़े हैं और वार-वार, सान-सानपर देखने पड़े हैं; किंतु मानवमें ही देयोगम—नहीं, देवदुर्लभ असामार्द भी अवतीर्ण होती है । न्यानह वर्षका मन्दा वालक, अनेक दिनके उपवाससे वार-वार मूर्छित होता; गिरता और द्विष्टमें भोजन; किंतु तुलमें एक दूना नहीं डाला उसने ।

श्रीया भाई चौखता दौड़ता आया तो उसके मुखमें एक प्राप्त अन्न दे दिया सनातनने और फिर उसकी चौखती की भी उपेक्षा करके खाटपर छुआसे अगल अर्धमूर्छिता माताके पास बढ़ गया—‘मौं ! भात लाया हूँ ।’

वेदा । कल्याण हो तेरा । उस नारीका आशीर्वाद । किसी तपती, श्रूपि, देवता, लोकमालका आशीर्वाद उस माताके आशीर्वादकी समता करनेमें सर्वथ हो सकता था ॥

—३०

(८)

मातृभक्तिके आदर्श वालक रामसिंह

अमरसिंहकी रानी पामल-मी हो उठी ।

‘शाहजहाँके भरे दरवारमें अपमान करनेवर उसके बीर पति अमरसिंहने बादशाहके साथे सलवतलाँका सिर उत्तर लिया था । बादशाह भयसे भीतर माग गया था और अमरसिंह थोड़ेसाहित दुर्गके प्राचीरसे कूदकर निकल आये थे । रानीका चाटुकार भाई अर्जुन गौड़ अमरसिंहकी उलटातीधा सिल्लाकर महलमें ले गया और पीछेसे अमरसिंहको मार डाला ।

शाहजहाँने अमरसिंहकी नंगी लादा बुर्जन डलका दी । चील-कौवे उसपर बैठने लगे ।

इस समाचारसे रानीकी दुर्दि काम नहीं कर रही थी । उसके भेजे सभी सैनिक मार डाले गये । वे शबके समीप भी नहीं पहुँच सके ।

‘जिसकी लादा चील-कौवे खा रहे हैं—बाहजहाँका यह कथन भी रानीने सुना था—पर उसके खानदानमें एक भी ऐसा नहीं, जो उसकी लादा ले जाय ॥’

रानी बैचैन थी। अपने कहलानेवाले सभी लोगोंके सामने वह रो आयी। औचल पसारा; पर किसीमें ध्यान नहीं दिया। रानी अधीर ही उठी।

“बाँदी मेरी तलवार ला”——रानीने कहा। “और मेरे साथ चल। मैं स्वयं महाराजलकी लाश शाहजहाँके किलेसे निकाल कर ले आऊँगी।”

रानीने ऐनिकका बेड़ बनाया, तलवार ली और अन्तःपुरकी सभी नारियोंने तलवार भाले और बड़े संभाले।

“चाची, ठहरो।” दीड़ते हुए आकर रामसिंहने कहा। “मेरे जीवित रहते हुएँ महलखोर बाहर जानेकी आवश्यकता नहीं। पूर्ण चाचाके निष्प्रण शरीरकी रक्षा एवं उनकी अन्त्येष्टि में परम पावन धर्म है। ग्राण दे दूँगा मैं इसके लिये।”

“वेदा, जा।” रोतेन्होते रानीने आशिष् दी। अहिम-चिमार्दिनी हुर्ग मुग्धारी सहायता करें।

“रो भत, चाची।” घोड़ेको एक लगाते हुए रामसिंहने कहा। “चाचाजीके शब्दके साथ मैं अभी लौटता हूँ।”

रामसिंह अमरचिंहके बड़े भाई जसवत्तसिंहका एकमात्र पुत्र अभी नेतृत्व पंद्रह वर्षोंका था, पर या अपने पिता एवं चाचाकी ही भाँति वीर और परामर्शी।

वह दौड़ पड़ा शाहजहाँके दुर्गकी ओर।

दुर्गका द्वार खुला था और तीरकी भाँति एक युवक अश्वारोही उसे पार करते भीतर चला गया। द्वारस्थक उसे पहचान भी न सके।

दुर्गके निकटसैकड़ों मुस्लिम सैनिक तैयार थे। युद्ध छिड़ गया। मुँहमें लगाम पकड़े पंद्रह वर्षके वीर वच्चेने

जिधर दोनों हाथ उठाये उधर ही शब्द लौटते दीखते। अन्ततः वह दुर्जपर चढ़ गया।

पूर्ण चाचाजीका शब्द उठाया, उतरा और घोड़ेपर बैठा। पुनः वही युद्ध। पर उस देवतावालकका अनेक ऐनिक मिलकर भी युद्ध अनिष्ट नहीं कर सके। वे ताकते रहे और रामसिंह हुर्गके बाहर निकल गया।

महलमें चिता पहलेसे तैयार थी।

वेदा। तूने मेरी लम्मान-घृतिष्ठा एवं धर्मकी रक्षा की है। जरणोंपर गिरे रामसिंहको उठाकर अत्यन्त स्नेहसे उसके शीशपर हाथ फेरती हुई रानीने आशिष् दी। वैसे ही भगवान् तेरी रक्षा करें।



और रानी पतिके शब्दके साथ चितामें प्रविष्ट हो गयी।

रामसिंह नेतृोंमें औसू भेरे त्रुपचाप देखता रहा। वह स्था बोलता, बाणी जो अवश्य हो गयी थी। —शि. दु०

धर्मशील सुपुत्र

पुत्र सुपुत्र वही जो करता नित्य यिता-भातका भान।
तन-मन-धनसे सेवा करता, सहज सदा करता सुख-दान॥
भगवद्गुरुक, जितेन्द्रिय, स्याती, कुशल, शान्त, सज्जन, धीमान्।
जाति-कुटुम्ब-स्वजन-जन-सेवक, भूत-मिति-हित-वादी, विद्वान्॥
धर्मशील, तपनिष्ठ, भनसी, मित्रव्ययी, दाता, धृतिमान्।
पुत्र वही होता कुल-तारक, फैलाता कुल-कोर्ति महान्॥

कवि और लेखकका धर्म

(१)

(लेखक—आचार्य श्रीविष्णुपदी पाठक)

‘निरक्षुताः कवयः’ का आमणक प्रायः सुननेमें आता है और ऐसे कहाँहि दोनों चौं सामर सिंह सप्तूः की उक्ति भी बहुत प्रचलित हो गयी है। अतः प्रश्न उठता है कि क्या कवि सचमुच उच्छृङ्खल होते हैं? उनकी कोई मर्यादा नहीं होती। यदि ऐसी वात है, तब तो कविका महत्व एक आवारसे अधिक नहीं। परंतु प्राचीन ग्रन्थोंमें कविकी महिमाका मुक्ककण्ठसे गान किया गया है। अमरकोषके अनुसार कवि सर्वत्र होता है। वैदेशमें परमेश्वरके लिये कवि शब्दका प्रयोग मिलता है—

कविर्मनीषी परिसुः स्वयम्भूः।

श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजीको ‘आदिकवि’ की उपाधिसे विभूषित किया गया है—

तदे ब्रह्महस्त च आविकर्ये।

अनिषुशणमें कवित्वको मानवका दुर्लभ सुण चतुराया गया है—

कविर्वर्त्त्वं दुर्लभं तत्र शक्तिसत्र सुदुर्लभा।

आचार्य आनन्दवर्धनने कविकी हुलना प्रजापतिर्दो की है। व्यौक्ति वह अपने इच्छानुसार सम्पूर्ण विश्वको परिवर्तित कर सकता है—

अपारे काव्यसंसारे कविरेका प्रजापतिः।

वधात्मै रोचदे विश्वं कथैव परिवर्तते॥

इससे प्रतीत होता है, कवि कोई सामान्य व्यक्ति नहीं है। वह अलौकिक प्रसिद्धासम्पद पुरुष है। वह समाजका नेतृत्व करता है। उसकी लेखनीसे निकले हुए अक्षर ज्योतिस्फुलिय बनकर गोहनिशाये ग्रान्त प्राणियोंको भार्गदिशाका संकेत देते हैं। उसकी कल्पना-शक्तिसे अमृतका वह अक्षय उत्तम फूलता है जो दुःख-द्वाप-दण्ड हृदयोंको अनन्त कालतक शीतल सुधार-ससे सीचता रहता है। वह अपने प्रातिम नेत्रोंसे तीव्रों कालोंका साक्षात्कार कर जिन मात्यताओं और आदर्योंकी लुटिय कर देता है, समझ शुग-शुगतक उसका अनुवर्तन करनेमें गौरवान्वित होता है। प्राचीन आद्योंकी सम्यता और संस्कृतिके प्रचारक कवि ही ये। समाजमें जो कुछ तपः त्याग, अहिंसा, दया, दाक्षिण्य,

धर्म, नीति एवं वलिदानकी भावना है, उसकी नीति कवियों और लेखकोंने ही ढाली है।

वाल्मीकि और व्यासने कवियोंने ही हमें उँचे आदर्श और उच्छृङ्खल परम्पराएँ प्रदान की हैं। अतएव कवियोंको उच्छृङ्खल समझना भूल है। विश्वका सम्पूर्ण हालाहल पीकर भी जो अपने काव्यामृतसे समाजको अमरत्व प्रदान करता है, वही वाल्मीकि कवि है। कवि या साहित्यकार होना असिधारा-त्रसना पालन करता है। इस ब्रतमें जिसकी निष्ठा नहीं, उसे लेखनी रख देनी चाहिये।

आजका साहित्यकार कहानी लिखता है वासनाको उद्दीप करनेके लिये; उपन्यास लिखता है सन्मार्गपर चलनेवाले भोले-भाले नवमुद्योगोंको उम्राह करनेके लिये; गीत लिखता है समाजमें विरह-वैदेशी जगानेके लिये। ऐसा लगता है कैसे इसके अतिरिक्त वह कुछ जानता ही नहीं। जिस देशके महान् मर्यादावादी कवि गोस्वामी हुलसीदासजीने कमी बोयणा की थी—

कौरशि भनिति मूर्ति मङ्गि सोई।

सुरसरि सम सब कहै हित होई॥

आज उसी देशके कवि और लेखक विनाशकारी साहित्यकी सर्जनामें ही अपनी प्रतिभाकी सार्थकता समझनेमें हैं।

साहित्य धर्मतक पहुँचदेका उरल सोपान है और धर्म है ऐहिक एवं आमुभिक लुत्तोंका निष्पादक। जब साहित्य धर्मकी उपेक्षा कर सनसाने मार्गपर चलने लगता है, तो उसमें लोकभङ्गकी भावना नहीं रह जाती। ऐसा साहित्य देशको पतनकी ओर ले जाता है। अतएव साहित्यपर धर्मका मियन्वण रहना अनिवार्य है। धर्म-नियन्त्रित साहित्य ही समाजकी दुराइयों और कुरीतियोंको दूर कर सकता है। साहित्यकार जबतक धर्मके प्रति आस्थावान् नहीं होगा, तबतक उसकी बाणी देव और जातिका अभ्युत्थान करनेमें असमर्थ रहेगी।

गद्य और पद्य साहित्यके दो रूप हैं। विद्वानोंने दोनोंको ‘काव्य’ कहा है। काव्यकी उपयोगिता जीवनके सभी क्षेत्रोंमें है। विकालदर्शी अवृश्यियोंने धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्षकी विज्ञा देनेके निमित्त काव्यकी रचना की थी। वेदव्यासने महाभारतमें स्पष्ट कहा है—

धर्मं वर्थं च कामे च मोक्षे च पुरुषंभ ।
यदिहस्ति सदन्यज्ञ यन्नेहस्ति न तत् क्वचित् ॥

अलंकार-शास्त्रके आचार्योंने काव्यको धर्मादिसाधनोपाय कहा है। यकोक्तिजीवितकारने काव्य-प्रयोजनका निष्पाण करते समय लिखा है—

धर्मादिसाधनोपायः सुकूप्तारक्षमोदितः ।
काव्यवद्योऽभिजातानां हृदयाहुदकारकः ॥

अर्थात् काव्य अभिजातवर्गको धर्मादिकी शिक्षा देनेका सुखमार साधन है। वकोक्तिजीवितकार काव्यके भाष्यकालमात्रसे संतुष्ट नहीं। वे इसी कारिकाकी वृत्तिमें आगे लिखते हैं—सथा 'सत्यमि तदाहुदकरते काव्यवन्वस्य क्रीडनक्षिदि-प्रस्थता माज्जोतीत्याह—धर्मादिसाधनोपायः'। यदि काव्यमें सरसताका रहना ही अनिवार्य मान लें तो उसमें और वालकोंके खिलौनोंमें कोई अस्तर ही नहीं रह जायगा। अतएव उसे धर्मादिसाधनोपाय कहा गया है। खिलौने वालकोंका मनोविनोद अवश्य करते हैं; परंतु प्रौढ़ व्यक्तियोंके जीवनमें उनका क्या उपयोग ही सकता है? क्या तत्त्वदर्शी कवियोंकी सारांशित वाणीका मूल्य वालकोंकी क्रीड़ा-कान्तुकसे अधिक नहीं? क्या संत कवि द्वृत्योदासका रामचरितमानस बच्चोंका खिलौना है? रसालमंजरीमें छिपकर गानेवाली कोयलकी कूक मनोरंजनके लिये हो सकती है; परंतु विवेक-शील कवियोंके व्यापार केवल सहृदयोंके रंजनके लिये नहीं होते। प्रत्येक लेखक या कविका यह धर्म है कि वह ऐसा चाहिय रचे जो अधारिकोंको धर्म, कामियोंको त्याग, दुष्टोंको दण्ड, उज्जोंको संकट, नपुंसकोंको भृष्टा, शूरोंको उत्साह, मूरोंकी शान, विद्वानोंको वैद्युत, शोकार्ते और दुखी हृदयोंको विश्रान्ति देनेमें सक्षम हो। तभी उसकी कला सार्थक होगी, तभी उसकी शाखा पूर्ण होगी।

शील-सौन्दर्यसे मणित काव्य ही सल्लाह्य है। जिस काव्यसे कोई जिक्षा नहीं मिलती; कोई दर्शन, कोई सत्रोणा, कोई आदर्श नहीं मिलता वह वाजालमात्र है। काव्यमीमांसामें राजशोत्सरने काव्यको हितोपदेश देनेमें धर्मशालके समक्ष माना है—

गद्यपद्ममयत्वात् कविपर्मत्वाद्वितोपदेशकञ्जात् तद्दि-
शास्त्राण्यसुधाचति ।

रामायण पढ़नेपर शमकी पितृभक्ति, सीताका सतीत्व, लक्ष्मणका भ्रातुप्रेम और भरतका त्याग हमारे हृदयोंको वशी-

भूत कर लेता है। उनके शील-सौन्दर्यपर हम इतना मुग्ध हो जाते हैं कि उसीके अनुकरणमें अपने जीवनका साक्ष्य समझने लगते हैं।

कवि और लेखकोंका काम समाजको परिष्कृत एवं सुखचित्तसमज्ञ बनाना है। कृतयुग और कल्याण उन्होंने लेखनीके परिणाम हैं। अतएव साहित्यकारको बहुत सोच-कामकार लेखनी उठानी चाहिये। एक-एक शब्द, विषेक-निकाशपर कासकर लिखना चाहिये। उन्हें सोचना चाहिये कि उनका लीखन राष्ट्रकी सेवामें अपूर्ण है। उन्हें देशमें नवी स्फूर्ति, नवी चेतना, नवा उत्साह और नवी आशाका संदेश देना है। उन्हें सत्य, अहिंसा, तप, त्याग, विजुद्ध प्रेम, सेवा एवं बलिदानकी भावना जन-जनके हृदयस्तक पहुँचानी है। उन्हें समाजमें शिवाजी और प्रताप-जैसे देशमक्त, श्रीकृष्ण, शुद्ध और महावीर-जैसे महापुरुष, सीता और अनसूया-जैसी देवियाँ एवं मृत्यु और प्रह्लाद-जैसे दृढ़तरी वालकोंको जन्म देना है।

इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं कि कवित आदर्शको ही अपना धैर्य बना देनेमें आजके साहित्यकारका चरण साक्ष्य है। आदर्श तभी ग्राह हो सकता है, जब वह यथार्थ-की दोस भित्तिपर आभासित हो। परंतु नन यथार्थका वीभत्त प्रदर्शन करने भयावह नहीं। हमारा शरीर यदि नंगा कर दिया जाय तो क्या उसकी शोभा होगी? सर्वेशुण-सम्बन्ध साहित्य वही हो सकता है जो सत्य, शिव और सुन्दर हो। इनमें किंचि एक गुणका विवरण होनेपर साहित्य विकालक हो जाता है। असत्य साहित्यपर किसीकी निष्ठा नहीं होती; शिवत्व न रहनेपर वह समाजका अस्वृद्ध नहीं कर सकता और सौन्दर्यके अभावमें वह नीरस हो जाता है। यथार्थके भीतर छिपे शिवत्वको द्वैद्व निकालनेमें ही साहित्यकार-का सबसे बड़ा कृतित्व है, सबसे वही साधना है। यथार्थके आस-समुद्रके भव्यत्वसे जो अधूर्य अभूत निकलता है, उसीकी संशा साहित्य है। उस साहित्यमृतका पान करनेवाला अजर और अमर हो जाता है। यथार्थके नामपर दीन्दील्य एवं प्रश्नाचारको प्रेरणा देनेवाले साहित्यकार देखदेखी हैं। उनकी रचनाओंका अहिकार दीना चाहिये।

आज हमारे साहित्यपर विदेशी शमाव घड़ता जा रहा है। हमारे नवशुक्रक विदेशी आचार-विचार और सम्यता-संस्कृतिपर लट्टू होकर अपनी आचीन संस्कृति और

संदेशके बलपर युग-युगतक जीवित रहता है। जीवनके उद्देशकी पूर्तिके लिये वह प्रशंसा और निन्दा दोनोंको समान मात्रे सहन करता है। उसका जीवन बहुत कुछ एक दार्शनिकका जीवन होता है। प्रकृतिके साथ सबी एकात्मता प्राप्त करनेपर ही वह संकोचहीनता एवं उन्मुक्तताका अनुभव करता है। वह एक अत्यन्त साधारण घटनापर भी अपने जीवन-आदर्शके आलोकमें विचार करता है और कविता सुन्दर स्तोत्रियनीके समान वह चर्चती है।

यदि सौभाग्यसे धन्यात्मा वालीकिके समान उसके समने एक वहाँ चित्रपट हुआ तो अपने नाटकके सभी भावोंको वह उस विशाल चित्रमें अपने-अपने द्यानपर यैरके साथ बैठा देता है। वालीकिके काव्यमें युणाकी पात्री शानी कैकेशीके लिये भी उसके लड़केके सामने ही श्रीरामके मुखसे प्रशंसाके ही शब्द निकले। उस महाकाव्यमें भरत और उनके अनुज शत्रुघ्निका वहुत थोड़ा चरित्र हीनेपर भी कविने उसको अपने उचित शानपर बैठाकर अधिकारभरे हाथीसे उनका चरित्र विश्लेषण किया है। गुह और शवरी भी अपने सुन्दर उद्यारोद्धारा सहायिके संदेशको अभिव्यक्त करते हैं।

कविका धर्म है रंसारको उस रूपमें देखना; लिख स्त्रीमें उसे दिलायी देना चाहिये। बन्दर और शृंखल जातियोंकी महिमानित करके उनके द्वारा भी सत्यकी महान् कथा कहनेवाले उस कविके धर्मको संसारके समुच्च रखता राया है। कविकी छोड़ीकी सरलता; उसके भावोंकी उच्चता और जहाँ-जहाँ आवश्यक प्रतीत हो, वहाँ-वहाँ उसके काव्यमें धर्मके पास उसकी सीधी पहुँच—उसको बस्तुतः भगवान्का संदेशाहक बना देती है।

वह अपने धर्मका सर्वोत्तम रूपसे तभी पालन करता है जब अपनेकी भूलकर अपनी विशाल रचनामें अपने पात्रोंसे वयोव्यक्त व्यवहार करतात है और संसारके लिये केवल शब्दोंमें ही नहीं, बरं कियार्थों तथा जीवनमें भी संदेश छोड़ जाता है। सभी युगोंके महाकवि अपने महान् संदेशको अपनी रचनाके द्वारा इसी रूपमें छोड़ गये हैं। कविका वास्तविक जीवन उसकी रचनाओंमें ही प्रस्फुटित होता है। उसका पाञ्चमीतिक शरीर सहस्रों वर्ष पूर्व ही विदा हो चुका हो, परंतु उसकी रचना युग-युगतक उसके धर्मका प्रचार करती रहेगी।

पुराणों और महान् इतिहासोंकी कथाएँ ज्ञानकी खान

हैं। प्राचीन कालके महान् मनसी हन कथाओंके धार्मिक पक्षकी ही व्याख्या सदा करते आये हैं। पक्षियों और पशुओंको भी किसी संदेशका बाहक बनाया गया है। कवि वही कुशलतासे अपनी बुद्धिको प्रत्येक पात्रमें भरजन उसके द्वारा, जहाँ वह खी-पुरुष या पशु-पक्षी कोई भी हो, अपने अस्तुताम भावोंको व्यक्त करता है।

श्रीभगवद्गीता एक महान् काव्यकृति है। उपनिषद् भी अपने विचारों और अभिव्यक्तिमें काव्यमय हैं। भीताके लेखक व्यास भाने जाते हैं, परंतु वह है—श्रीकृष्णद्वारा उद्देशित संदेश। विचारोंको विशाद-स्पष्टसे व्यक्त करनेके लिये यत्न-तद्व उपमाओं और रूपकोंका प्रबोध हुआ है। यहाँ कविने उच्च दार्शनिक एवं धार्मिक सभ्योंको अत्यन्त सरल भाषामें अभिव्यक्त किया है। वह अपने कवि-धर्मको सदा अपनी दृष्टिके सामने रखता है। वह आत्मगोपनकी देवता करते हुए भी प्रत्येक परिस्थितिका समुचित वर्णन करनेसे नहीं भागता।

उपनिषदोंमें भी मानव-कल्पणके लिये तपस्या एवं अहंकारके सञ्चे पात्रोंकी सहायतासे उच्चतय विचारों और मानव यहत्वाकाङ्क्षाओंकी सरलताम भाषामें अभिव्यक्त किया गया है। हनका लेखक जाहे जो भी हो, उसने अपने काम-की बड़ी निर्भिलतासे निराया है। और साथ ही उनमें व्यक्त सत्यके साथ अपनेको नहीं जोड़कर आत्म-प्रचारसे पूरी तरहसे बचाया है। भूत, वर्तमान और भविष्यके बड़े-से-बड़े कविका सर्वधेषु धर्म है—आत्मप्रचारके प्रति उपेक्षा।

(३)

(केविका—शिक्षानिमाय-अङ्गी साधित्री मंत्रुष्णाजी)

साहित्य युगका प्रतिभिन्न ही नहीं, सुरक्षा निर्माता भी है। जिस युग और देशका साहित्य जितना भौतिक और परिष्कृत होगा, वह युग और देश उत्तना ही चमकेगा। यद्यपि महापुरुषोंका जीवन भी युग और देशकी चमकाता है, किंतु दिव्य-जीवन न तो उत्तना व्यापक ही होता है और न उत्तना स्थायी भी, जितना कि साहित्य होता है। दूसरे साधकका समग्र दृष्टिकोण व्यक्तिगत होता है, जब कि साहित्यकार अपने धर्मको विश्वासमें परिणत करके चलता है।

मैं वहुत धार सोचती हूँ कि उपदेशकों, व्याख्याताओं और प्रवचनकारोंको अपना मृद बदल लेना चाहिये और

उन्हें सहित रेतान्ते लग जाता चाहिए। जोकी सहितने तो ऐकात्मिक प्रभाव होइती चाहती है। वह प्रबन्धने नहीं। प्रबन्धना इमं व इत्यनुपत्त ही चाहिए है। बर्तनतो और प्रबन्धना प्रभाव पर्वीकर्ता वही शोषणाते लौट जिसीकैदीकर वहे चलनाते दृष्टि होता है। परंतु उठने नहीं और वीजे प्रबन्धना जोइ बाहित कर्ता।

कहींकहीं हम और अम् इन्द्रजीका प्रभाव स्वात्मकता, स्वात्मकना कर देता है जिस नी उन्हें वह चाहता है तो उन्हीं ही होती ही सहितने होती है। बर्तन तुम रुप रुपे अधिक प्रभावाली बिना, विदेश आदि इस उठनाते जाना है। रुपे वे ऐपन वर्तनाको ही प्रभाव दिय लगते हैं। अपेक्षा और अवश्य इन्होंनी नी लर्भा अस्तु ही वह लगते हैं। एक चाहिए ही देवी विद्या है जो जाहे अन्तराहे जन्मे नालिक लग्ते किंतुको नी कौर कन्ती नी अस्तु नहीं गहने देती। बड़ा हमेषा चरोंकुम और चरक उत्तर चाहिए है। इतनेमें चाहिएकर चिरांकी चरक हस्तिनें शोर्षसनें हैं। ऐकेन जो मिथ्या अधिक चाहियाली होता है। वह उन्हीं ही मिनेदार नी कैत है। युग्मो या द्वंद्वको जने और दिवाइनेकी रुपे बड़ी दिसेकरे अद्वा चाहिएकर है। चाहिएकर जाहे हो ग्रस्त भवो है और जाहे जो निकिता ला दे। जाहे ही लड़को भासाद् कर दे और जाहे हो हैलेको रुप है। बड़े चाहिएकर अन्यो दिनेदारिया वयाये लंडन लगते लो और मिनेनै को दो दो दिसेकर ही वही गुरजो और चन्द्रचुम्बकों काम बहुत हस्ता हो जाता।

जाहे ऐपन क बड़ा होता एक रुप है और उठने कार्यको मिनाना बहुती जात। जो स्वर्यो प्रेरित होकर उत्तरनेमेहनके लिए या जिसी नी ऐहीक देवताको चाहने रखता हाहियाजी रचना करता है। वह साहित्यकार ऐपन का कृति नहीं—एक महाराजा चैरागर है। चुकाने ऐपन ही जो दो लो द्वाको खुश करने का तिर चलताज्ञा कर वहानेके लिये कुछ नी हिताहित सेवे मिना जैराटेषा लिया जाता है। वहीं जैराटे कुछ रुपेने नहीं हाजर होते हैं। वहीं रथर्षीत चर्या आँखू बहुत ही बहुत है। वे ही दोनों लिहीं जाती हैं जो महत्वाली या चुम्बेलीको जिय जाती है। ऐसा जैराटेलीकी रुपेण प्रहिना कनी सुरेत नहीं होती और दे उत्तरे चरण जैराते लिहीं करते हैं। लाल ही उठाका रुप ही बहुत जाहेत भी।

चहे वे एक वर लैपेंटे चलाउचालें बदने भजने यही जर लैं जिहु उसका चाहिए हूँचाइने मैरिं जारेक चलकर मिलाकर उठाके लिये विटीन है जाता है। ऐसे लैकलिक सहित उठानें चर्या विक्रीत रस्त चाहिए। शश्वतचाहिम जाहे लरदाते प्रजातेत नहीं नी चरण है लैतेर यस्ते एक वीर नलके वर उठाते लो प्रजावेत्रकर आती है। वह अनेक होती है। कहे वर मैरी दूष बल लैपेंटोंही समाज उठाना नी चरण है। उन्हीकर्ता उन्हें उठानेनै कौर विदेशके नी मुकरना पहुँचा है। परंतु जिस नी जैरायो और चाहिएकरके अवल भजन करन्य नामान शाल शालट उठानें ही असी रुपाने मिने छलान चाहिए।

एक शूलकिः चूलित एवं डिप्पत काम जाहे जैरायी प्रतिष्ठको चरम दीनार के लक जिहु उठाए जावे कर्त्तव्यसुद्ध होता है। जैरायी वह जन्मे अक्षये नामने दाराने लचाहिनामि उठानें पैश रहा है। उन्हीं अवहेला चक्र नी परि जैर चाहिएकर चाहिएकर जन्मे रस्तामें उन नैदेक रुपों उन जाम्हालिक वर्मो दाय लैपेंटेशनके दृष्टेनो चाहिएक जैरता है। मिने लिय हुका चम्भकरा जैरस्तर लैंच उठ लके तो वह अवहस ही। जाव नहीं दी कला घूसासद देता। अन्ये कर्त्तव्यसुद्धके उठाए होते दाय ही वह उठानें दायके लिये जन्म हो जाता।

वाल्मीकिः व्यस्त तुलसी दीर्घ दूको जाव हृषिहटीने नहीं पहुँचा नहीं। जिहु उठावेको वर नी जाव के उत्तरनके हुँदे लैल रहे हैं। जैराते उठाने गिरहन लिया था।

जावके जैरि: ऐपन एवं चाहिएकरको अन्यो दिनेदारिया उचाहिके दाय निर्विहन करत चाहिएके सत्ति कामे अनेवाह युग उत्तरे दियो-र्द्धन यात्र कर लके।

(४)

(लैपेंट—चाहिएकरकी रुप इरि)

ऐपनका रुप है कि अन्यो लैपेंटकरके—चाहिएकरके उत्तरेनो अनुसेच और उत्तरेन इव उठानेने दायके दृष्ट उठानेने दायकर लैंच उठानें उठाना चाहिएकर-उठार चुनौतीय है।

ऐपनके रुपों ऐपनके जो बदना यात्र है। उठाना बहुत्वाने उठान उप चढ़ा देता है; उठान उठानी पर

खुंडी हो जाती है तेज फौका पढ़ जाता है। लिंगे कुछ नहीं, केवल लेखक होनेका दम भरें, गर्व करें—सप्त ही यह अधार्मिकता है।

व्यर्थ उपयोगकी व्यर्थता दीपक लेकर लिखनेकी बरहु नहीं। चाहे जब अंट-चांट, अनाप-ज्ञानाप, जो जीमें आया, ट्रेड़ा-सीधा लिख मारा। भला, यह भी कोई यात्रा हुई। इच्छ तरह धर्मका पालन तो होनेसे रहा; अहमति बौद्धमदासकी उपाधिसे भूषित होकर लोगोंकी 'हाहा-हीही', एवं व्यग्य-ज्ञानोंका शिकार अवश्य हुआ जा सकता है।

दुरुपयोग तो और भी भवावह है। नितान्त धर्म-निरद्ध की यह ही ही, साथ ही यह हमें क्षमताके सत्त्वसे भी विक्षित कर दें सकता है। जो क्षमता मिली है, वह दुरुपयोगके लिये नहीं, दुरुपयोगसे तो वह दिन-भ्रति-दिन छोड़ती चली जाती है और एक दिन हमें कोरा आयाजी बनाकर छोड़ देती है।

तो धर्मका पालन हो सकता है—अमताको अनुपयोग, व्यर्थ उपयोग एवं दुरुपयोगसे बचाकर उसका सदुपयोग करनेसे।

अब प्रश्न होता है कि सदुपयोग क्या है।

दुरुपयोग-सदुपयोगकी दुँधली-दुँधली तसवीर तो सबके मानस-चक्षुओंके समक्ष घूमती रहती है। तनिक सप्त हाँकी करें। सीधे सरल शब्दोंमें कहें तो कह सकते हैं कि जो लिखा जाना चाहिये, वह न लिखना और जो न लिखा जाना चाहिये, उसे लिखना दुरुपयोग है। ऐसे ही जो न लिखा जाना चाहिये, उसे न लिखना और जो लिखा जाना चाहिये, उसे ही लिखना सदुपयोग। यों भी कह सकते हैं कि असत् साहित्यका सूजन दुरुपयोग है और सत्-साहित्यका सूजन सदुपयोग।

लेकिन सत् क्या ? असत् क्या ?

लेखक जब जिस अपन सत्योनुख दुआ, सरस ग्रेमयताका पथेय लिये, मुख-तुःखकी पगड़ियोंपर समझावसे पग धरता, छग भरता, सत्यका साक्षात्कार करता है, सत्यरूप होता है तब उसी क्षणको शब्दोंमें (भले ही न पकड़ा-सा ही हो) पकड़कर उसकी झल्क-झाँकीसे जन-जनको रसमय करना एवं उनके मस्तिष्कोंको कुरेदते हुए, हृदयोंको छूते हुए एवं हाथोंमें कर्मण्यता

लाते हुए उन्हें सत्योनुख करना, सत्यका साक्षात्कार करनेके लिये, सत्यरूप होनेके लिये प्रेरित करना, सहाय देना उसके लेखनका उद्देश्य होता है। जो इस उद्देश्यके अनुकूल लिखा जाता है, वह सब सत्-साहित्य होना है; योग सब असत्।

उत् साहित्य और पैसेका कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है। लिखनेपर पैसा मिल जाय, वह और यात्र है। पैट सबके लगा हुआ है; उसे प्रहण कर लेनेमें भी दोप नहीं है। किंतु लिखते हुए पैसा ध्यानमें आ गया तो साहित्य सत्-साहित्य नहीं रहेगा। ध्येय—वास्तविक ध्येय सहज और असहज हो जायगा और हम कहीं-कहीं जा पड़ेंगे। ऐसा न होता तो उचित विगड़नेवाले सस्ते मनोरुक्त साहित्यकी साहित्य-जगतमें इतनी भरभर न होती।

यशोभावना भी कुछ ऐसा ही सेव रिलाती है। सत्-साहित्य लिखनेपर यश मिल जाय, अच्छी वात है; पर मिल ही जाय—यह आवश्यक नहीं। अपयश भी मिल सकता है। यश-अपयशकी भावनासे मुक्त रहकर ही सत्-साहित्यका सूजन किया जा सकता है; अन्यथा सत्-साहित्यका सूजन तो दूर, यशोलिप्सा अन्य नामी लेखकोंकी रचनाओंमें काठ-ठाँठ, कमी-वेशी करके किसी प्रकार उन्हें अपनी बनानेके चक्रमें फँसा, हमें चोर-दल्लुतक बनाकर हमारी दुर्गति कर सकती है।

लिखनेमें रस आता है, केवल इस लिये लिखना भी खतरेसे राखा नहीं। रस लिसमें आगा चाहिये, सदा उसीमें आये—यह तो जल्दी नहीं। और ऐसी अवस्थामें जो लिखा जाय, वह सत्-साहित्य ही हो—इसकी क्या गारंटी।

संक्षेपमें कह सकते हैं कि जो साहित्य सीमित ('अहं') की त्रुटिके लिये, उसे उसकी सीमिततामें ही कुलने-फैलानेके लिये लिखा जाता है, वह सत्-साहित्य नहीं होता। सत्-साहित्य तो निष्प्रितरूपसे वह होता है, जिसे सीमित अहंकी संकीर्णता द्वा भी नहीं गयी होती, जो सबके लिये होता है, सबके हितार्थ होता है उसके जीवनमें समृद्धि, यशस्विता एवं रस लाता है। यहें यह समरण रहे कि लेखक इस प्रकार सत् विक्रित नहीं रह जाता। सबमें वह भी हो समिलित होता है। इस प्रकार तो सबकी निर्विरोधताके कारण उसकी स्वयंकी प्राप्ति उल्टे और भी सुरक्षित रहती है।

ऐसा साहित्य—सत्-साहित्य निरुण होता है। निर्णय से आश्रय गुण-विद्वीनतासे न होकर गुण-सामग्र्यसे है। उसमें सब गुण होते हैं; पर उसका कोई गुण किसी अन्य गुणस्तर आश्रित नहीं करता। उसपर छाता नहीं, उसे हतप्रभ नहीं करता। सब गुणोंसे पूरा होते हुए गुणोंसे निर्लिप्त बह, प्रेममें द्वनदा-द्वनदा-सा, तेवापथपर चलता-चलाता-सा, सत्यकी ओर ही लिये चलता है और एक दिन सत्य-साक्षात्कार करकर—फहाना चाहिये कि सत्यरूप करके

ही रहता है—निना मेदभाव सब किसीको। धन्य है ऐसा साहित्य और उसका सुजक साहित्यकार!

तो निष्कर्ष यह मिकला कि 'अहंता'से दूर रहकर सर्वभवतामें रहते हुए व्यर्थके तथा असत् साहित्यके सजनसे बचकर निरालस्य भावसे सदैव आवश्यकतानुसार सत्-साहित्यका सजन ही लेखकका धर्म है, जिसका उसे प्राप्तप्रयत्नसे पालन करना चाहिये। इसीमें कल्पना है, कवि-जीवन-साधकता है।

✓ आदर्श निर्मांक कवि—श्रीपति

(देवक—श्रीषिवकृष्णारजी गोपक)

वादशाह अकबरके राज-दरवारमें प्राप्त: कविसम्मेलनों एवं कवि-द्रव्यारोंका आयोजन होता रहता था। देवभरके प्रसिद्ध कवि और शायर जहाँ अपनी सच्चनाएँ प्रस्तुत करके भारी पुरस्कार प्राप्त करते थे, वहाँ दरवारी कवियोंका भी वादशाही ओरसे सम्मान किया जाता था।

कवि अपना धर्म और कर्तव्य भुलाकर वादशाह अकबरकी प्रदर्शनमें नवीनी कविताएँ बनाते, चाटुकारिता करते एवं भद्रलीक्षणी वा जगदीक्षणी वा' की घनिसे राजदरवार रुँज उठता। कवि क्वाह भाष्ये तथा चाटुकारोंसे दरवार भरा रहता था।

अकबरके दरवारमें जहाँ चाटुकार कवियोंका वाहूल्य था, वहाँ बजका एक तपस्वी ग्राहण कवि श्रीपति भगवान् श्रीराम-कृष्णके गुणमानमें कविताएँ तुनाकर अपने कविधर्म-पर अटल था। श्रीपतिने भगवान्के अतिरिक्त कभी किसीकी प्रशंसामें एक शब्द भी मुख्ये न निकाला था।

वादशाहकी प्रशंसाके पुल बाँधनेवाले मुसलमान कवियोंमें अनंतोप फैल सत्या कि 'जब यह वादशाहकी प्रशंसामें तो एक शब्द भी नहीं कहता और हिंदू देवी-देवताओंकी स्तुति करता है, तिर इसे दरवारसे सम्मान और पुरस्कार क्यों दिया जाता है!'।

अन्य कवियोंने कवि श्रीपतिको दरवारसे हटानेका धृत्यन्त रचा। एक तमसा रखती गयी—

'जो सब यास अकबर की'

सत्यने कहा—देखें, अब श्रीपति कैसे अपने मुखसे

वादशाह-सलामतकी प्रशंसामें कविता न बनायेगे? अब कैसे अपने देवी-देवताओंकी प्रशंसाके पुल बैंधेंगे?

दरवारके सभी कवि समस्या-पूर्तिकी तैयारियोंमें लग गये। अकबरकी प्रशंसामें तृक्यंदी करने लगे। किन्तु कवि श्रीपति तो एक निर्मांक एवं धर्मात्मा कवि थे। इंधरके अतिरिक्त अन्य किसीसे भयभीत होना अभवा किसीकी चापदर्शी करके प्रसन्न करना वे जानते ही न थे। उनका यह हड़ विश्वास था कि कविका धर्म सरलतीकी उपासना करना है, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डनावक भगवान् श्रीराम-श्रीकृष्णके गुणगान करके बाणीको सार्यक बनाना है। अतः कवि श्रीपतिने भी समस्यापूर्ति की।

निष्प्रित दिन अकबरका दरवार लगा। दरवार दर्शकों एवं कवियोंसे सच्चासच भरा हुआ था। दरवारमें जहाँ अनेक कवि दैठे हुए थे, वहाँ कविवर श्रीपति भी भाषेपर लंगा तिलक लगाये, दानीदार कुरता पहिने, गलेमें तुलसीकी भाला पहने हुए विराजमान थे।

अनेक कवियोंने फैले सब आस अकबर की समस्यापर गुणगान और चापदर्शीकी कविताएँ सुनानी प्रारम्भ की। दरवार बाह। बाह! की घनिसे गौँज उठा। जब बारी आयी कवि श्रीपतिकी, तब दरवारमें सक्रादा ढा गया। कविगण श्रीपतिको पथसे गिरता देखनेके लिये उत्सुक हो उठे। 'आज देखें हस्तका कवि-धर्म—कुसकुसाहड प्राप्तम हो गया।

कवि श्रीपतिने सरखती-बन्दनाके पश्चात् प्रारम्भ किया—
पक्षिं छाँडि कै दूजौ भजै, सो जैरे रसना अस हच्चर की।
अबकी दुनियाँ मुनियाँ जो बनो, वह बौधनि फैट अङ्गल्वर की॥

सदि श्रीपति आसथे रातहि कोः हम फैट गही बड़ जब्बर की ।
जिनको हरि मे है प्रीति नहीं, सो करो सब आस अकब्बर की ॥

निर्भीक कानि श्रीपतिके सुखसे उक्त शब्द सुनते ही
दरवारमें सज्जाटा छा गया । बादशाह अकब्बर भी कवि
श्रीपतिके कवि-धर्मकी दृढ़ता एवं निर्भीकताकी देखकर देंगे

रह गया । दरवारके सभी चाढ़कार कवि एक-एक करके
दरवारसे बिसक गये ।

कविका लंबोंपरि धर्म देव, धर्म और हमस्तके गुणगाम
करना है, उसस्तीकी आशाखना करना है; किसी व्यक्ति-
विशेषके गुणगाम करना तो मैं उसस्तीका तिरस्कार ही है ।

धर्मकी वलिकेदीपर

[एक विल्कुल सच्ची रोमाञ्चकारी गाथा]

(लेखक—महात्मा श्रीरामकृष्णदासजी)

घटना सन् १९४७ की है ।

भारतभातोंके अङ्ग-भङ्ग, खण्ड-खण्ड होकर धकिखान
बननेकी धोरणा होते ही समझ पंजाब, सिंध, बंगालमें
मुस्लिम गुंडोंने हिंदुओंको भारताभाटना तथा प्रामोंको आगकी
लपटोंमें भस्तीभूत करना ग्रामधर्म कर दिया था । हिंदुओंको
या तो तालबारके बलपर हिंदू-धर्म छोड़कर सुखलान बननेको
धार्य किया जा रहा था, अन्यथा उन्हें मास्काटकर भगाया
जा रहा था ।

पंजाबके ग्राम दहलराममें भी मुसलमानोंने हिंदुओंको
आतहिल करना प्रारम्भ कर दिया । गुंडोंकी एक सच्चाई
भीड़ने हिंदुओंके घरोंको बेर लिया तथा हिंदुओंके सम्मुख
प्रत्याप रखना कि—‘या तो सामूहिक रूपसे कलमा पढ़कर
सुखलान हो जाओ अन्यथा सभीको मौतके घाट उतार
दिया जाएगा’ । बेचारे वेतन हिंदुओंने सोचा कि जबतक
हिंदू शिल्दी म आये इतने समयतक कलमा पढ़नेका विद्धना
करके जान बचायी जाय । उन्होंने मुसलमानोंके कहनेसे कलमा
पढ़ लिया, किंतु सभीं राम-रासका जरूर करने लगे ।

मैं काँपिर हमें धोखा दे रहे हैं । हिंदू सेवा आते ही
जान बचाकर भाग जायेंगे । हन्दें गोमांस खिलाकर इनका
धर्म भ्रष्ट किया जाय और जो गोमांस न खाय, उसे मौतके
घाट उतार दिया जाय ।—एक शरारती मुसलमानने धर्मन्धर
मुसलमानोंकी भीड़को सम्पोशित करते हुए कहा ।

दूसीक है इन्हें गोमांस खिलाकर हनसौ परीआ की
जाय । मुख्यानोंकी भीड़ने समर्थन किया ।

मुसलमानोंने गोमांस दहलरामके प्रतिष्ठित व्यक्ति तथा हिंदुओं
के नेता पं । विहारीलालजीसे कहा कि—‘आप रामी लोग
गोमांस खाकर यह सिद्ध करें कि आप हृदयसे हिंदू-धर्म

छोड़कर सुखलान हो गये हैं । जो गोमांस नहीं खायेगा, उसे
हम काफिर समझकर मौतके घाट उतार डालेंगे ।’

पं । विहारीलालजीने सुस्तिम गुंडोंके मुखसे गोमांस
खानेकी बात सुनी तो उनका हृदय हाहकार कर उठा ।
उन्होंने भस्ते विचर किया कि धर्मकी रक्षाके लिये शाणोत्तमी
करने, सर्वस्त समर्पित करनेका समय आ गया है । उनकी
आँखोंके सम्मुख धर्मकी इकोकक्षयतय तथा गुरु गोविंदरिंद्रके
पुत्रोंद्वारा धर्मकी रक्षाके लिये शाणोत्तमी करनेकी शक्ती
उपस्थित हो गयी । बीर बंदा वैशीद्वारा धर्मकी रक्षाके लिये
अपने शरीरका मांस गरमनारम चिमटीसे तुच्छवाये जानेका
दृश्य लापने आ गया ।

पं । विहारीलालजीने विचार किया कि इन गो-हत्याएं
धर्म-हत्यारे म्लेच्छोंके अपवित्र हाथोंसे भरनेकी अपेक्षा स्वयं
प्राण देना अधिक अच्छा है । हमारे प्राण रहते थे म्लेच्छ
हमारी विहारी-शैशियोंकी उदाहरण न ले जायें और उनके पवित्र
शरीरको इन पापात्माओंका सर्व भी न हो सके, ऐसी युक्ति
निकालनी चाहिये ।

पं । विहारीलालजीने मुसलमानोंसे कहा कि वहें चार
घटेका समय दो, जिससे सभीको समझाकर तैयार किया जा
सके । मुख्यलान तैयार ही गये ।

पं । विहारीलालजीने घर जाकर अपने समलू परिवार-
वालोंको एकान्तित किया । घरके एक कमरेमें पली, बहिन,
बेटियाँ, बालक, बूढ़े—सभीको एकान्तित करके बताया कि
मुसलमान नराधम गोमांस खिलाकर हमार प्राणप्रिय धर्म
भ्रष्ट करना चाहते हैं । अब एक ओर गो-मांस स्ताकर धर्म-भ्रष्ट
करना है, दूसरी ओर धर्मकी रक्षाके लिये शाणोत्तमी करना
है । सभी शिल्कर निश्चय करो कि दोनोंमें से कौन-सा समय
अपनाना है ।

सभी छो-पुरुष, वाल-दूद्दोने निर्भकतापूर्वक उत्तर दिया—गो-मांस स्वाकर, धर्म-श्रद्ध होकर परलोक बिगाड़नेकी अपेक्षा धर्मकी अलिङ्गिपर, प्राण देने चाहते हैं। हम सभी मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये तैयार हैं।

पं० विहारीलालजीने महिलाओंको आदेश दिया—‘तुरंत नाना प्रकारके सुखादु भोजन बनाओ और भगवान्को भोग उत्तरकर खूब छोड़कर खाओ, अन्तिम बार साथो। और फिर सुन्दर बड़ाभूषण पहनकर धर्मकी रक्षाके लिये मृत्युसे खेलनेके लिये मैदानमें डट जाओ।’

तुरंत तरह-तरहके सुखादु भोजन बनाये जाने लगे। भोजन बननेपर ठाकुरजीका भोग लगाकर सबमें छटकर भोजन किया तथा अच्छेसे बल पहिने। उजकर एवं बड़ाभूषण धारण करके सभी एक लाइनमें बराबर-बराबर लड़े हो गये। सभीमें अपूर्व उत्साह व्याप्त था। पं० विहारीलालजीका समूल परिवार गो-ऋणार्थ, धर्म-ऋणार्थ प्रणोपर खेलकर सीधे गोलोक-धर्म जानेके लिये, शीघ्रातिरीभ मृत्युका आलिङ्गन करनेके लिये व्याकुल हो रहा था।

सभीको एक लाइनमें लड़ा करके पं० विहारीलालजीने कहा—‘आज हमें हिंदूसे मुसल्मान बनाने और अपनी पूज्या गो-माताका मांस खानेकी वाय्य किया जा रहा है। हमें धर्मकी दी रथी है कि यदि हम गोमांस खाकर सुसल्मान न बनेंगे तो सभीको भौतिक घाट उतार दिया जायगा। हम सभी अपने प्राणप्रिय सनातन-धर्मकी रक्षाके लिये गो-माताकी रक्षाके लिये हँसते-हँसते बलिदान होना चाहते हैं।’

सबने श्रीभगवत्सरण किया और पं० विहारीलालजीने अपनी बंदूक उठाकर धौंय ! धौंय !! करके अपनी धर्म-पत्ती, पुत्रियों, बस्तु-वान्धवों तथा अन्य सभीको गोलीसे उड़ा दिया। किसीके सुखसे उफ्रूतक न निकली—हँसते हुए, मुस्कराते हुए, गो-ऋणार्थ, धर्म-ऋणार्थ बलिदान ही थये। धर्मलाशोंके ढेरसे भर गया।

अब पं० विहारीलाल एवं उनके भाई दो व्यक्ति ही जीवित थे। दोनोंमें आपरामें संघर्ष हुआ कि ‘पहले आप सुझे गोली मारें; दूसरेने कहा नहीं’, पहले आप मुझे गोलीका निशाना बनायें। अन्तमें दोनोंने अपने-अपने हाथोंमें बंदूक थामकर आपने-समाने लड़े द्विकर एक-दूसरेपर गोली दाय दी। पूरा परिवार ही धर्मकी रक्षाके लिये बलिदान हो गया।

आमके अन्य हिंदुओंने जब पं० विहारीलालजीके परिवारके इस महान् बलिदानको देखा तो उनका भी दून खौल उठा। वे भी धर्मपर प्राण देनेवो मनमढ़ उठे। मुसल्मान शरारतियोंके आनेसे पूर्व ही हिंदुओंने जलकर, कुओंमें कूदकर एवं मकानकी छतसे छलांग लगाकर प्राण दे दिये, किंतु गोमांसका संश्वरक न किया।

मुसल्मानोंकी गोड़ने जब कुछ समय पश्चात्, मुनः अम द्वच्छारामें प्रवेश किया, तब उन्होंने ग्रामकी गली-गलीमें हिंदू बीरोंकी लाज़ों पड़ी देखीं। पं० विहारीलालके मकानमें हुस्नेपर लाशोंका ढेर देखकर तो मुडे दाँतों तके ऊंगुली दबा उठे।

सदाचार-धर्म

आचाराल्पते शायुराचाराल्पते श्रियम् । आचारात् कीर्तिमासोति मुख्यः भ्रेत्य चैह च ॥
दुराचारो हि उल्पो नेहायुर्विन्दते महत् । ऋलन्ति यसाद् भूतानि तथा परिभवन्ति च ॥
तसात् कुर्वन्दिवाचारं यदीच्छेद् भूतिमामनः । अपि पापशारीरस आचारो हृत्यलक्षणम् ॥
आचारलक्षणो धर्मः सन्तश्चारित्रलक्षणः । साच्चन्द्रं च यशाष्वत्त्वाचारालक्षणम् ॥

(महामारत अनुशासन ० १०४ । ६-१)

सदाचारसे ही मनुष्यको आयु प्राप्त होती है; सदाचारसे ही वह सम्पत्ति पाता है तथा सदाचारसे ही इहलोक और परलोकमें भी कीर्तिकी प्राप्ति होती है। तुराचारी मनुष्य, जिससे उच्च प्राणी डरते हैं और तिरस्कृत होते हैं, इस संसारमें ही आयु नहीं पाता। अतः यदि मनुष्य अपना कल्याण चाहता है तो उसे इस अगत्यमें सदाचारका पालन करना चाहिये। पापयोगि मनुष्य भी यदि सदाचारका पालन करे तो उसके तम-मनके बुरे संकारणोंको दबा देता है। सदाचार ही धर्मका लक्षण है। सच्चरित्रसा ही श्रेष्ठ पुरुषोंकी पश्चात्याग है। श्रेष्ठ पुरुष जैसा व्यर्तव करते हैं, वह सदाचारका संकल्प अभ्यास करता है।

भ्रातृ-धर्मके आदर्श

(१)

त्यागमूर्ति श्रीभरतजी

आगे होइ केहि सुरपति लेरहे । अरब सिंहासन आसन देरहे ॥
—यह महाराज दशरथका प्रभाव कहा गया है । अयोध्या-के चक्रवर्ती सप्ताट्का वह सिंहासन भरतके लिये मुलम था । श्रीराम बनमें चले गये, महाराज दशरथने उनके चियोगमें देहको त्याग दिया । अयोध्या सूती हो गयी । जब राज्यपरिषद्-एकज हुई, तब किसीको इसके अतिरिक्त कोई मार्ग ही नहीं दूहाता था कि भरत शासनाधीश बनें । सत्यप्रतिष्ठ श्रीराम चौदह वर्षों पूर्व बनसे लौट नहीं सकते और न लक्षण या जनकनन्दिनीके लौटनेकी सम्भावना है । अयोध्याका सिंहासन रिक्त तो रहना नहीं चाहिये । मन्दिरोंमें, ग्रनाफे प्रमुख लेगोने, गुरु वशिष्ठने तथा माता कौसल्यातकने आग्रह किया कि भरतको सिंहासन स्वीकार कर लेना चाहिये । कमसे-कम चौदह वर्ष तो समझ वे राज्य करें ।

सौंफेहु राजु राम के आई । सेवा करेहु सनेह सुहाएँ ॥

लैकिन भरतजीका उत्तर चहुत सष्ट है—

हित हमार सियपति सेवकाइ । सो हरि लीक्ह मातु कुठिलाइ ॥
सोक समालु राजु केहि लेहें । लखन राम सिय चिनु पद देलें ॥

जिस राज्यकी सुहा सुरपतिको भी हो, वह दुकराया किर रहा था । भरत बनको चले और चले भी नंगे पैर, पैदल । उनसे जब रथपर बैठनेको कहा गया, तब वे बोले—

राम पश्चेदहि पर्यं सिधाए । हम कहूं रथ मज बाजि बनाए ॥
सिर भर जड़ डचित अस मौरा । सब तं सेवक धर्म कठोरा ॥

श्रीराम पैदल गये हस पथमें और मेरे लिये रथ, हाथी, धोइ । और । मुझे तो सिरके बल चलकर जाना चाहिये; क्योंकि मैं उनका सेवक हूँ ।

श्रीरामको लैटना नहीं था, वे लौटनेके लिये तो बन गये नहीं थे; किंतु भरतको संतुष्ट करके ही उन्होंने लौटाया । श्रीरामका ब्रत रहा तो भरतका प्रेम भी समूर्ण सम्मानित हुआ । भरत लैटे श्रीरामकी चरण-पादुका लेकर । राज्यका कार्य बे करेंगे तो केवल प्रतिभिरुपमें और वह भी राजमन्त्रनमें रहकर नहीं । अग्रज बनमें पर्णकुटीमें रहता है तो अनुजने भी नन्दिग्राममें पर्णकुटी बनावी और—

महि खनि कुस साथरी सैंकरी ।.....

राम लखन सिय कानन बसहों । भरत भगव वसि तपतन कसहों॥

श्रीराम क्षंद-मूल-फलका आहार करते होंगे; किंतु भरतने तो चौदह वर्ष शोभूष-वावक-ब्रत किया । अर्थात् यव गायको खिलाया । वह गोबरमें निकला तो धोकर स्वच्छ करके गोमूत्रमें पकाया गया और दिन-रातमें एक बार उसका आहार किया गया । यह तप भी कोई छेंग मानकर नहीं किया गया ।

पुरुक यात हिंस्य सिय रघुबीर । जीह नाम जप कोचन नीर ॥

यह अवस्था भरतकी रही । ‘भासप भगति भरत आनन् ।’ परम पावन है इस ‘प्रायप मणति’का समरण भी... ।

—३०

(२)

धर्मराज युधिष्ठिर

बनवासका समय व्यतीत करते हुए पाण्डव द्वैतवनमें पहुँचे थे । एक दिन उन्हें बहुत प्यास लगी । युधिष्ठिरने बृक्षपर चढ़कर देखा । दूर एक स्थानपर हरिशंखी और जलधी दिखायी पड़े । वहाँ जलका अनुभान करके उन्होंने नकुलको जल लाने मेजा । वहाँ स्वच्छ जलसे पूर्ण रुपोवर था । लैकिन नकुल सरोवरके तटपर पहुँचे ही थे कि उन्हें सुनायी पड़ा—‘इस सरोवरपर मेरा अधिकार है । इसका जल पीनेका साहस मत करो । मेरे प्रश्नोंका उत्तर देकर तब जल पीना ।’

एक यक्ष चागुलेके रूपमें बृक्षपर बैठा यह बात कह रहा था । नकुल बहुत प्यासे थे । उन्होंने यक्षकी धातपर ध्यान नहीं दिया । किंतु सरोवरका जल मुखसे लगाते ही वे विघ्नाण होकर गिर पड़े ।

बहुत देर हो गयी; नकुल महों लौटे तो युधिष्ठिरने सहदेवको मेजा । उनके साथ भी नकुलजैसी ही घटना हुई । इसी कमरे अर्जुन तथा भीम गये और उन दोनोंकी भी नकुल-जैसी ही दशा हुई ।

जल लाने गये कोई भाई भी जब लौटे नहीं, तब बहुत थके होनेपर भी युधिष्ठिर स्वयं वहाँ गये । वहाँ अपने भाइयोंको मृत देखकर वे बहुत व्याकुल हुए । शोक चाहे जिरना हो, प्याससे व्याकुल प्राणोंको तृप तो करता ही था । वे जल पीने वाले तो यक्षकी वही बात उन्हें मो मुनायी पड़ी ।

युधिष्ठिर लड़े हो गये। उन्होंने कहा—‘सरोवरके जलपर तुम्हारा यदि अधिकार है तो ठीक है; दूसरेके स्वतंत्री वस्तु में लेना नहीं चाहता। हम प्रश्न करो, अपनी हुद्दिको अनुसार मैं उत्तर देनेका प्रयत्न करूँगा।’

यश प्रश्न करता गया। युधिष्ठिरने उसके प्रश्नोंका उचित उत्तर दिया। अन्तमें वह योल्ल—‘हमने मेरे प्रश्नोंका ठीकठीक उत्तर दिया है; अतः हम जल पी सकते हो और अपने भाइयोंमेंसे जिस एकको चाहो, वह जीवित ही जाएगा।’

‘आप मेरे छोटे भाई नकुलको जीवित कर दें।’ युधिष्ठिरने कहा। वहे आश्चर्यमेरे स्वरमें धर्म युधिष्ठिरकी बात सुनकर बोला—‘हम कहाँ विवेक तो नहीं खो वैठे हो। शज्जहीन होकर हुम वनमें भड़क रहे हो। यहों अनेक विपक्षियाँ हैं। अन्तमें प्रश्न शत्रुघ्नोसे हुगड़े युद्ध करना है। नकुल हुम्हारी क्या सहायता करेगा? वसमें जो सहायक हो सके और शक्तिओंका मान-मर्दन कर सके, ऐसे महापराक्रमी

भाई भीमयेन अथवा दिव्याखोंके पारगत अर्जुनको छोड़कर नकुलको क्यों जीवित करना चाहते हों?’

युधिष्ठिर बोले—‘यह! अनवासका दुःख या राज्य तो प्रारब्धसे मिलता है। मैं भोगकी चिन्ता करके धर्मका त्याग करूँगे। जो धर्मकी रक्षा करता है, धर्म स्वयं उसकी रक्षा कर लेता है। मेरे दो मालाएँ हैं। उनमें कुन्तीका पुत्र मैं जीवित हूँ। मैं चाहता हूँ कि मेरी दूसरी माता माद्रीका वंश नष्ट न हो। उनका भी एक पुत्र जीवित रहे। अतः हम नकुलको जीवनदान देकर उनको पुश्वती बनाऊ।’

‘वत्स! हम अर्थे और कामके विषयमें भी धर्मनिष्ठ हो, अतः हम्हारे चारों भाई जीवित हों।’ यश साक्षात् धर्मके रूपमें ग्रकट होकर बोला। भीं तो हुम्हारा पिता धर्म हूँ। हुम्हारी धर्मनिष्ठाकी परीक्षा लेने आया था।’

युधिष्ठिरके चारों भाई ऐसे उठ वैठे, जैसे निराए जागे हों। —झ०

पुरोहित-धर्मके आदर्श

महाराणा प्रताप अपने छोटे भाई शक्तिंहके साथ आखेटको निकले थे। विजयादशमीका पर्व था और इस दिन आखेट करना यजपूत हुम मानते थे। संयोगपत्र दोनों भाइयोंकी हाथि एक साथ एक सुगार पड़ी। दोनोंने बाण चलाया। सूर्ग तौरे भर गया; किन्तु दोनों भाइयोंमें विवाद छिह्न यमा कि सूर्ग कियके वाणसे मरा। दोनों उसे अपना आखेट बतलाने लगे। वात बढ़ती गयी और इतनी बढ़ी कि दोनोंने तलाशर लीच ली।

राजपुरोहित साथ आये थे। उन्होंने दोनोंको समझानेका प्रयत्न किया। लैकिन राणप्रताप छोटे भाईके स्नेहको क्रोधमें भूल गये थे और क्रोधके आकेशमें शक्तिंह वहे भाईको अद्वा-सम्मान देनेको प्रस्तुत नहीं थे। राजपुरोहितकी शपथका भी उनपर कोई प्रभाव नहीं पड़ा।

मैंने इस भूमिमें जग्य लिया और राजकुलके अज्ञसे पला। थजमानकी विपक्षिसे रथा करना पुरोहितका मुख्य धर्म है। मैं नहीं देख सकता कि मेरे यज्ञमान परस्पर कट मरे। गजपुरोहित दोनोंके सध्यमें कटार लेकर लड़े हो गये—‘आज जब विधर्मी हम मातृभूमिको रौद्रनेका अवसर देख रहे हैं, रक्षाका जिमपर दायित्व है,



उनके सिर कोषका प्रिशान चढ़ गया। इसे यदि रक्त गीकर ही शान्त होना है तो वह मुझ वाहाणका रक्तपान करे।"

ब्राह्मणों का दार अपनी छातीमें मार ली। उनका शरीर भूमिपर पिर पड़ा। दोनों भाइयोंने मस्तक छुका लिया। —^{३०}

—३०—

धर्म और मल्लविद्या

(लेखक—डॉ. श्रीनीकलाण्ड मुख्योचम जोशी)

भारतीय विचार-परम्पराके अनुसार मानवजीवनकी सार्थकता पुरुषार्थ-चतुष्यकी सिद्धिमें मानी गयी है। ये चार पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष हैं। इनकी शृङ्खला हस्त प्रकार बनी है कि प्रथम पुरुषार्थके द्वारा दूसरेकी तथा प्रथम और द्वितीयके द्वारा तीसरेकी सिद्धि मानी गयी है। मोक्षकी सिद्धि धर्मात्मोदित अर्थ तथा धर्मार्थसे सम्पादित कामके द्वारा सम्भव है। इसलिये सर्वप्रथम धर्मकी सिद्धि अत्यावश्यक है। हस्त पुरुषार्थकी सिद्धिके लिये जितने भी आवश्यक साधन या अङ्ग हैं, उनमें मानवके शरीरको आश्रय साधन माना गया है—शरीरमार्थ साञ्च धर्मसाधनम्। अत्यपि उसे सुदृढ़ एवं कार्यक्षम रखना धर्मसाधनका श्रोगणेता है। इमारा वह शरीर एकादश इन्द्रियोंसे युक्त है—पञ्च कर्मेन्द्रियों, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों तथा मन। मन एवं ज्ञानेन्द्रियोंके संबंधनके लिये अत्यावश्यक शास्त्रोंका निर्माण हुआ; पर कर्मेन्द्रियोंके विकास एवं धर्मनके लिये व्यायाम-शास्त्र बना। भारतीय पद्धतिके अनुसार कोई भी विद्या शास्त्रका स्वरूप नहीं है, जब वह श्रुति-स्मृति एवं सदाचारके अनुरूप हो। व्यायाम-शास्त्र भी इसके लिये अपवाद नहीं है। उसकी भी विशिष्ट धर्म-परम्पराएँ एवं मान्यताएँ हैं। साधारण मान्यताओंके अतिरिक्त व्यायाम-शास्त्रके विशिष्ट अङ्गोंकी—यथा मल्लविद्या, सूर्याया, जलजीवा, अम्बविद्या, गनविद्या, शख्वविद्या आदिकी भी अपनी स्वतन्त्र मान्यताएँ एवं धर्म हैं। भारतीय ग्रन्थोंमें इनका विवेचन किसी एक स्थानपर तो नहीं, परंतु प्रत्यक्षानुसार विभिन्न स्थानोंपर अङ्कित है, जिनका संकलन उपयोगी होगा। प्रस्तुत लेखमें हम ऐसल मल्लविद्याकी धर्मिक मान्यताओंका विचार करेंगे।

आचार्य और देवता

प्रथम व्यायाम-शास्त्रके जिसका एक प्रधान अङ्ग मल्लविद्या है—देवता और आचार्योंका विचार करें। यह विद्या कई आचार्योंद्वारा पल्लवित हुई, जिनमें अपास्त्य, वसिष्ठ, विश्वामित्र, जाप्तवान्, द्रोण, कृष्ण, परक्षुराम

आदिकी यज्ञना सुख्यतासे फी जाती है। अमुरोमें इस विद्याके सुख्य आचार्य शुक्र थे। मल्लपुराणके अनुसार मल्लविद्याका उपदेश सर्वप्रथम ब्रह्माने नारदको किया था (मल्लपुराण १। ४)। इस शास्त्रके प्रसुख देवताओंमें सूर्य और इन्द्रमान ली हैं ही, इनके व्यतिरिक्त इस सम्बन्धमें अन्य देवताओंके भी उल्लेख मिलते हैं। कृष्णपुराणके अनुसार व्यायामविद्याके देवता बायु हैं (कृष्ण उत्तरा २०—२३)। यहाँ वतलाया गया है कि बायुको प्रसन्न करनेसे बलकी प्राप्ति होती है। कदाचित् परवर्ती कालमें वायुपुत्र हनुमान् और व्यायामका शिर सम्बन्ध हठीलिये स्थापित हुआ। बायुका बलसे सम्बन्ध बायुवेदसे भी अनुभोदित है। पहलवानोंके एक आश्रमदेव यथा पूर्णदद्म मी थे। चम्पानगरीमें नट बाजीगर, विदूषक आदि लोग वहाँके मन्दिरमें इस यष्ठका पूजन पुष्य, छूर्ण-वीण आदिसे किया करते थे (आनन्द कुमारस्वामी, बहा, भाग १, पृष्ठ २०)। दण्डियकी मान्यताके अनुसार मल्लोंके प्रथम पूजनीय भगवान् श्रीकृष्ण है। महाराज सोमेश्वर बाल्मीकी के द्वारा निर्भित 'प्यानसोल्लास' नामक प्रथके मल्लविनोद नामक प्रकरणमें बतलाया गया है कि रङ्गभूमि या असाधेमें अग्नेश दिशाकी ओर श्रीकृष्णगण्डप ननाया जाय (सामसोल्लास, अच्याय ५ विश्वाति ४, १७०)। पहलवान मी अक्षत और द्वार्ढाकूरोंको हाथमें लेकर प्रवेश करते ही प्रथम श्रीकृष्णको नमस्कार करते थे (वही १८२)। इस तथ्यका विस्तृत उल्लेख मल्लपुराण नामक प्रथमें भी मिलता है। यह एक प्राचीन ग्रन्थ है, जो अभी हालमें ही प्रकाशित हुआ है। इसके अनुसार देवालय ग्राम (वर्तमान देल्माल, गुजरातमें मोदेराके निकट) में मधुरासे द्वारकाकी ओर जानेवाले श्रीकृष्णद्वारा सोमेश्वर नामक वाहाणको यह पुराण सुनाया गया था। इस ग्रन्थमें मल्लोंके आश्रम 'सर्वकामप्रद' श्रीकृष्णका जो रूप बतलाया गया है, उस व्यायामें वायी और हरि, शाहिनी और शिव, नामिमें ब्रह्मा तथा हाथोंमें

माताओंका निवास कहा गया है (मल्ल० ६-५)। इदै 'नारावण' नामसे भी पुकारा गया है (वही १४-५६)। मल्लविद्यासे श्रीकृष्णका सम्बन्ध कुछ आचारन मूर्तियोंसे भी सिद्ध होता है। मधुराकी अपाणकालीन कलामें भारथम (weight-lifting) के कुछ ऐसे साधन मिले हैं, जिनपर श्रीकृष्णकी लीलाएँ वया केशिवध अङ्गित हैं (नी०प० जोशी, मधुराकी मूर्तिकला, फलक ६४३ पुरातत्त्व-संग्रहालय मधुराकी मूर्तिसंख्या ५८४४७४)।

श्रीकृष्णके अतिरिक्त सुदर्शन (मल्ल० ६-२), हलभर तथा बाहुकि (वही ६-३७), बमुंधरा (वही ६-४२) भी मल्लोंके लिये सदा वनदीनीय थे। मल्लोंकी कुलदेवीका नाम लिंगद्वादशतलाया गया है—महालाल्हा लिंगद्वादशतलाया शक्ति। मल्लपुराणके अनुसार लिंगद्वादशतलाया योगमाधाका स्वरूप है। श्रीकृष्णने सेमेवस्को एक लिंग-नीमके बृक्षपर इस सिंहद्वादशी चतुर्मुखा देवीके दर्शन कराये थे (मल्ल० १८-३-३—३६)। इसका सारण, पूजन आदि विजय देवेवाला साना गया है।

इस प्रकार आचार्य तथा देवताओंकी उपस्थितियें मल्लविद्याका धार्मिक लक्षण निखरने लाता है। इस शालका अध्ययन प्रारम्भ करनेके लिये भी धार्मिक वन्धन हैं। यौद्ध ग्रन्थ दिव्यावदानके अनुसार चिकित्सा, यात्रा, दान, अध्ययन, शिष्य एवं व्याधमें लिये पञ्चमी तिथि शेष मात्री गती है (दिव्या० ३३, शार्दूलकण्विदान, पृ० ४२१)। अज भी नारापद्मीके दिन मल्लोंके उत्सव होते रहते हैं। अन्य शास्त्रोंके समान इस शालके अवध्याय या छुड़ियोंकी तिथियों भी निश्चित हैं। मल्लपुराणके अनुसार चाष्टमी, चतुर्दशी, दर्ढी (अमावस्या), धद्यातिथि, सूरक्ष, महाष्ठमी, प्रतपक्ष या कन्यागत, अक्षयनवमी एवं चन्द्र और सूर्यके प्रहण—मल्लशालके लिये अनव्यायकी तिथियाँ हैं (मल्ल० ९-२६-५०)।

मल्लोंके धर्म और आचार—

मल्लोंके धर्मका जितना सुन्दर विवेचन महाभारतके खिलबर्व 'हृषिकेश' में मिलता है; उतना कदाचित् अन्यत्र कुछ नहीं है। विवेचकर्ता हैं श्रीकृष्ण तथा सभामें उपस्थित बृद्ध यादव। ये मल्लधर्म निम्नाङ्कित हैं (हरिवंश गीताप्रेरण सं० विष्णु०, ३०। १२—३०) :—

(१) रक्षस्थलमें भुजाओंके अतिरिक्त किसी अन्य घोड़ा या अस्त्रका प्रयोग नहीं होना चाहिये।

(२) दोनों पहलवानोंका जोड़ निश्चित करनेके लिये सथा नियुद्धके नियमोंका पालन करनेके लिये भव्यता अथवा प्राक्षिक होने चाहिये। इन अधिकारियोंको मल्ल-पुराणमें 'मतिकार' कहा गया है।

(मल्ल० ६। ५३। ५२)

(३) दोनों पहलवानोंका विज्ञा और वर्वां समान होना आवश्यक है।

(४) जो पहलवान लड़ते समय जिस भागे या दौँव-पेंवका अनुसरण करता था, उसका प्रतिस्पर्धी भी उसी मार्गको अपनाता था।

(५) एक समय एक पहलवानके साथ एकाग्रिक मल्ल नहीं भिड़ सकते थे।

(६) विद्वान् प्रवन्धकोंके लिये वह आवश्यक था कि वे योद्धाओंके लिये जल तथा करीप या चोवरका चूर्ण प्रस्तुत कर फैट उनका सल्कार करें।

(७) प्रतिदूषीको गिरा देनेके उपरान्त जेता मल्लको उसके साथ और कुछ भी करमा अनुचित था।

(८) प्रत्येक पहलवानका कर्तव्य था कि वह बाहुबुद्ध-के नियमोंका उल्लङ्घन करके अपनी परम्पराको कलंदित न करे।

(९) मल्लोंके निर्मित आचारके अनुसार गोवरके चूर्णको उत्थानके समान शरीरमें मढ़ना, घलका उपयोग तथा गोलके रंगका लेपन करना रक्षस्थलके धर्म थे।

(१०) हंसम, शिरसा, जौर्य, व्यायाम, शत्रुघ्नि तथा वल—ज्ञानिदिके छः साधन हैं।

(११) नियुद्ध या कुशसीमें मल्लका प्राणहरण करना मल्लमार्गको फलांकित करना है। युद्धगारमें शत्रुको विदीर्ण कर देना सिद्धिका घोतक है, परंतु बाहुबुद्धमें प्रतिमल्लको निरा देनेमें ही लिद्धि है।

यद्यपि यह सिद्धान्त अर्थात्: मात्र रहा होगा और मल्ल-पुराण भी उसका इसी रूपमें उद्योग करता है (मल्ल० १५। २२-२३); तथापि अन्यान्य उदाहरणोंसे स्पष्ट होता है कि उक्त नियम कदाचित् सर्वसाम्य नहीं रहा। श्रीकृष्णने स्वयं ही इसका सकारण उल्लङ्घन किया था। कंसकी सभामें दिये हुए अपने गायपरमें उन्होंने उन करणोंकी भी स्पष्ट किया है। ऐसे ही एक युद्धमें भी उसे विश्वर नगरीमें प्रसिद्ध

मल्ल जीमूरको भार डाला था। भीमने कुरतीमें ही जपसंघके प्राण लिये थे। वादमें भी यही परम्परा चलती रही।

(१२) चालसुद्र प्राणान्तिकर यात्रा है, उसमें धर्मशास्त्री होनेवालेको स्वर्ग मिलता है; परंतु मल्लमार्ग बल और दौँबरेंचके कौशलका भाग है। इसमें न तो भरनेवालेको स्वर्ग है और न मारनेवालेको यथा।

मल्लोंके उपर्युक्त धर्मोंके अतिरिक्त कुछ अन्य आचारोंकी चर्चा महाभास्त्रमें भीम-जरासंध-सुद्रके अवसरपर मिलती है। जैसे—

(१) निषुख-कर्म या कुरतीके प्रारम्भमें सर्वधर्मधलिकार्मादि माङ्गलिक आचार किये जाते थे। भीम-जरासंधवाले प्रकरणमें ये आचार क्रमशः श्रीकृष्ण और जरासंधके पुरोहितद्वय समवा किये गये थे (महाभास्त्रमा० २३।१५।३)।

(२) बाहुदुर्दके भारममें दोनों मल्ल एक कूसरेद्वय मिलते और पैर छूते थे (महाभास्त्र, सभा० २३।११)।

मल्लपुराणमें भी स्थान-स्थानपर मल्लोंके विविध आचारोंकी चर्चा है, जिनमें मुख्य निम्नानुकूल हैं—

(१) दैनिक व्यायाम प्रारम्भ करनेके पूर्व भूमि—व्यायामभूमिको बन्दन करना आवश्यक है (मल्ल० ६। २५)। इसे भूमिकन्दन कहते थे।

(२) ज्ञायामके समय बाल, बूढ़, अंधा, बहरा, छिन्नाङ्ग, क्षेत्रीय रोगी, रिशुन या उन्मत्त, अनुत या अनत्प्रवादी, पालण्डी, मर्त्त, बक्षक जरमेवाला, भूर्त, आर्त, क्षेत्री, छली, चोरु, चाणडाल, मायिक या जादूगर तथा द्विष्ठो—इनसे प्रत्येक पहल्वान अपनेको बचाये। साथ ही वह उस समय उच्छास्य, खाँसी, छोंक, आपसी विवाद, रोना तथा ज़िसी दूरवालेको पुकारना—इनसे भी बचा रहे (मल्ल० ६। २६-२७)।

(३) खाँसी तथा दमेका रोगी, भूजा या दुरंत ही भोजन किया हुआ। दुर्बल, असमर्थ, व्यग्रचित्त, चिन्ताद्वय अजीणिसे पीड़ित, महीड़ित वा मतनाला, सिरका रोगी, भ्रान्त जादि प्रकारके लोगोंको मल्ल-कर्म नहीं करना चाहिये (मल्ल० ८। २५-२६)।

इस प्रकार मल्लोंके भोजन, खी-समागम, भैषज्य आदिके विषय भी मल्लपुराणमें चर्चित हैं; पर वहाँ हम उन्हें विस्तारभवे छोड़ देते हैं।

धर्म और मल्लविद्याका विचार करते समय मल्लोंकी सामाजिक स्थितिका भी विचार करना होगा। वलोपासनाके लिये मल्लविद्याका अभ्यास तथा जीविकोपार्जनके लिये उसका उपयोग हो मिल बस्तुएँ सामी जाती थीं। वलोपासनाके लिये मल्लविद्याका अध्ययन सभी लोग कर सकते थे और करते थे। भगवान् श्रीकृष्ण, दीक्षाकल्याणके पूर्व भगवान् शृंघभास्त्र, तीर्थकर महाबीरके पिता भगवाज सिद्धार्थ, सीराट्टके शासक कुमारपाल, विजयनगरके पराक्रमी शासक कृष्णदेवराय, महाराष्ट्रके कई पेशवा राजा मल्लविद्याके मान्य जाता थे (नी० प० जोशी, भारतके कुछ प्रमुख महापुरुषोंकी व्यायामसाधना, विवरण, फरवरी १९६० प० १२१-१३२)। जीविकोपार्जनके हिस्से मल्लविद्याका प्रश्रय लेनेवालोंकी बात दूसरी थी। मल्लपुराणके अनुसार ब्राह्मणोंकी ही एक शासने यह कार्य अपनाया था, जो वादमें पतित उद्घोषित कर दी गयी (सौंडेसरा, ज्येष्ठोमल्ल जाती थी अने मल्लपुराण, पृ० २)। लक्नापुराणकी यही सावधाना है (सन्द० ३, ब्रह्मापण ३६३ २८७) कि ये ब्राह्मण कलिन्दुगमें शूद्रोंके अन्तर्गत याने जायेंगे। धर्मशास्त्रियोंने भी इसे स्वीकार किया है। मल्लोंकी एक स्वतन्त्र जाति ही मानी गयी है, जो सैव नदी, जल्ल, ब्राजीगर आदिके साथ ही शूद्रोंमें निराशी गयी है (बन० १०-२३, काणे पा० १० चा०, History of Dharmashastr, खण्ड १, प० १० ८०: १०)। कभी-कभी मल्लोंकी नियुक्ति अपराधियोंको शारीरिक दण्ड देनेके लिये की जाती थी (जैन महापुराण, ४६, २९३), जो उनके निमस्तरीय होनेकी ओर संकेत करती है।

इस प्रकार मल्लोंका सामाजिक स्तर निम्न होनेका परिणाम यह निकला कि शानैः शानैः मल्लविद्या भी कर्त्ता-कर्त्ता है व्यक्तिसे देखी जाने लायी। परंतु उपर्युक्त विवेचनसे यह सुसाइ हो जाता है कि इस विद्याकी उपादेशताको देखकर प्राचीन कालसे ही उसे धार्मिक बन्धनोंसे एक सुरक्षित शालका स्वरूप दिया गया। यही नहीं, उस विद्यासे सम्बन्धित एक छोटेसे पुराणकी भी रचना हुई।

✓धर्म और स्वानन्दान

(लेखक—श्रीगणेशनंदनी उपाध्याय ‘आर्य मुसाफिर’)

धर्म और स्वानन्दान—इस विषयपर विचार करनेसे पूर्व हमें यह जानना आवश्यक है कि ‘धर्म’ शब्दका क्या अर्थ है। यदि इसे हम जान लें तो धर्म हमें क्या खाना, कैसा खाना अथवा किस प्रकारका खाननान करना चाहिये—इन सब प्रश्नोंका यथार्थ ज्ञान करता है। अस्तु,

धूम् धारणप्रेषणयोः—इस धातुसे मन् प्रत्यय करके ‘धर्म’ शब्द बनता है। जिसका अर्थ महर्षि पाणिनिमे उणादि-कोपमें ‘धियते सुखप्राप्ये सेव्यते स धर्मः—अर्थात् जो सुखकी प्राप्तिके लिये धारण किया जाय वा जिसका मानवके पोषणके अर्थ सेवन किया जाय, वह धर्म है।

व्याकरणशास्त्रके महात् आचार्य महर्षि पाणिनिजीकी—इस कसौटीसे हमें इस वातको समझनेसीचनेके लिये वही सरलता और सहजता मिल गयी है कि संसारमें जो कर्म मनुष्य करे, उसमें सबसे पहले वह विचार कर ले कि जिन कर्मोंको मैं कर रहा हूँ, उनसे वस्तुतः वर्तमानमें मुझे क्या सुख प्राप्त हो रहा है और भविष्यमें क्या होगा।

अपनी आत्मामें उस आत्मतत्त्व प्रमुका साक्षात्कार करते हुए कृपि कहते हैं—‘वेदविहिलकर्मजन्मो धर्मः, निविद्दस्तु अधर्मः’ अर्थात् वेदोंमें जिन कर्मोंका विधान है, वे सब धर्म हैं और निविद् कर्म सब अधर्म हैं।

अब पाठक विचार कर सकते हैं कि जो स्वानन्दान धर्मानुकूल है, वह यथार्थ है और जो इसके विपरीत है, वह सब निविद् है। साक्षात्कारके आदिग्रन्थ महर्षि मनुने कहा है—

वेदः स्मृतिः सदाचारः स्वत्वं च प्रियमत्मनः ।

एतत्तुर्विधिं प्राहुः साक्षात् धर्मस्य लक्षणम् ॥

(मनु० ३ । १३)

अर्थात् धर्मके ये चार लक्षण हैं, जिनसे हम धर्मधर्मको पहचान सकते हैं। प्रथम मानवकृत कर्म वेदके अनुकूल हों; दूसरे स्मृति आदि धर्म-ग्रन्थोंसे प्रतिपादित हों; तीसरे महापुरुषोंके आचार व्यवहारके अनुकूल हों और चौथे हमारी आत्माके अनुकूल मी हों। वही सच्चा धर्म है। अस्तु,

इन चारों कसौटीयोंपर करनेसे पता चलता है कि आजके युगमें शिक्षित कहे जानेवाले मनुष्यसमुदायने जो

✓मद, मांस, मछली, अंडा आदि निष्ठा पदार्थोंको अपने मोजनमें सम्मिलित कर लिया है, वह सर्वथा हैरान है। किसी का भी मांस हिंसा विना किये प्राप्त नहीं हो सकता और किसी भी प्राणीकी कष्ट देकर उसके प्राणोंका उसके शरीरसे वियोग करके जो उदर-पोषण करना है, वह सर्वथा जगत्पृष्ठ कृत्य है। महान् अधर्म पूर्वभयानक पाप है, जिसका कोई भी प्रायशङ्का नहीं है।

फारसी भाषाके तत्त्वज्ञानीने कितना सुन्दर कहा है—

इसके बुद्धराम पस्त्व, दीगरामपसन्दी ।

अर्थात् ओ इन्द्रान ! जो ब्रात त् अपने लिये पसंद नहीं करता, वह दूसरोंके बास्ते भी पसंद भत कर। तात्पर्य वह कि जब मनुष्य नहीं चाहता कि मेरे कोई कौदा लगे तब उसे भी उचित है कि वह भी किसीके चाकू न भारे। वह है मनुष्यका मनुष्योचित धर्म।

हम मनुष्यके मोजनको दो मार्गोंमें चाँड़ सकते हैं—एक धर्मशास्त्रोऽक्ष, दूसरा द्यामुखेद-शास्त्रोऽक्ष ।

धर्मशास्त्र और धर्मचार्य मनुष्यको मनुष्यत्वसे ऊपर उठाकर उसे देवता बनाकर परम पदपर पहुँचाना चाहते हैं। अतः उनकी आशा है कि जो मोजन छल, कपट, धोखा, चोरी, विश्वासजात आदि दुष्कर्मोंद्वारा उपार्जित धनते प्राप्त हो, वह रुपैश्च अभव्य है; उसे कदापि नहीं खाना चाहिये। क्योंकि इस प्रकारके मोजनसे उसकी आत्मशक्ति दूषित तथा मन, चित्त, द्वाद्दि अत्यन्त मलिन होते हैं जिससे निष्ठित धोर पतन होता है। भारतका धार्मिक द्विविद्या इस प्रकारके उदाहरणोंसे मरा पड़ा है। साथ ही मल-मूत्र-विद्वादिके संसर्गसे उत्पन्न पदार्थ भी ब्राह्मण, धार्मिय, वैश्य और सद् शून्यित्वात् शुद्र भी न खावे। देखिये, मनु० अ० ५ । श्लोक ५—अभक्षण्यं द्विजातीनामसेव्यप्रभवाणि च । इसी प्रकार ‘वर्जयेत्प्रभु मात्सं च’ (मनु० अ० २ श्लोक १७७) ।

मनुस्मृतिके उपर्युक्त द्वितीय अध्याय तथा थाशवल्मी-स्मृतिके आचाराध्यायका इस विषयके ग्रन्थियोंको विशेष रूपसे अध्ययन करना चाहिये। मनुष्य अपनी शारीरिक, आत्मिक, धौलिक एवं मानसिक उन्नतिके हेतु क्या आहार-विहार करें इसका विशद वर्णन उपर्युक्त ग्रन्थोंमें किया गया है। लेद है कि परिचयी सम्यताकी चमक-दमक-

में आज हम शृंखियोंकी संसाधित कल्याणमयी शक्ति
भर्यादाओंको भूल गये हैं और भूलते जा रहे हैं। इसीके
फलस्वरूप उत्तरोत्तर दुःखकी बुद्धि और मुखका क्षय होता जा
रहा है।

अब आप थोड़ा आसुवैदिक दृष्टिरे विचार कीजिये।
आसुवैदिक पक्ष है कि नरीको हृष्ट-पुष्ट बनानेके
लिये उत्तम, स्वच्छ, पवित्र और ताजा भोजन, ताजे फल
आदि जाये जायें। साथ ही उसका निपेक्षाधिकार यह है कि—

उर्द्धि लुभ्यति यद् ब्रह्मं भद्रकारि तदुच्यते।

(शास्त्रोर्थ ४। २१)

अर्थात् जिन पदार्थोंके सेवनसे बुद्धि, विचार-शक्ति, मरण-
शक्तिका विनाश हो, उन्हें भद्रकारी पदार्थ जानकर कदाचित्
सेवन नहीं करना चाहिये।

इससे सहज ही यह स्पष्ट हो जाता है कि अराव, भैंग,
चरस, गौंजा आदि तथा सड़े-नले शारीर पदार्थ स्वास्थ्यके
लिये अहिंतकर हैं। उनका सेवन सर्वया वर्जित है।

धर्मग्रन्थ आङ्गा देते हैं कि उत्तम ताजा स्वच्छ भोजन
मी यदि अनुचित उपायोंसे प्राप्त किया गया है तो वह असाध्य
है; क्योंकि उससे जो रसादि अनेंगे वे मरनको, बुद्धिको दूषित
संस्कार तथा दूषित विचारसे युक्त कर देंगे।

प्राचीन इतिहास बताता है कि हमारे ऋषिभोजनपर बड़ी
गहरी दृष्टि रखते थे। छान्दोग्य-उपनिषदमें महर्षी उद्दालक
महाराज अश्वपतिके अतिथि होकर उनके थहाँ भोजनसे
झक्कार करते हैं।

अभिप्राय यह है कि रात्यमें चोर जुआरी, व्यभिचारी—
सब तत्त्वके लोग रहते हैं और यजाके यहाँ सभीसे कर आदिके
सभमें पैसे आते हैं। अवश्य राज्याच्च निकृष्ट कोटिका भोजन
है और दुष्किंशो विगाढ़नेवाल है। इसपर यजा अश्वपतिने
जब विश्वास दिलाते हुए यह कहा—

न मे स्तेनो जनपदे न कद्यो न मधुः।

नानाहितास्मिन्निविद्वात् न स्तेरे स्वैरिणी रुतः॥

अर्थात् मेरे समस्त शज्जमें न हो चोर हैं न जुआरी,
न शराबी, न अनाहिताग्नि, न अविद्वान् और न कोई दुराचारी
ही है। दृष्टि कुलया जी तो आती ही कहाँसे। और जब भूमिको हस्त
वातपर पूरा विश्वास हो गया, तभी उन्होंने भोजन ग्रहण किया।

भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—

कट्वस्त्वल्लवणात्युष्णतीष्णस्त्विद्विहिनः ।

आहूरा राजस्त्वेष्टा दुःखशोकामयमद्यः ॥

यातयाम गतरसं पूर्ति पर्युषितं च अस् ।

उच्छिष्ठमपि चामेयं भोजनं चामस्त्रियम् ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता २७। ८-९)

बहुत कडवे, खट्टे, लकड़ायुक्त, गरम, तीखे, रुखे
और जलन पैदा करनेवाले तथा परिणामसे दुःख, चिन्ता
और रोगोंको उत्पन्न करनेवाले आहार राजस मनुष्यको
प्रिय होते हैं। अधरका, रसरहित, दुर्गंधयुक्त, वारी और
जहा तथा अधरित्र भोजन तामस पुरुषको प्रिय होता है।

आजकल सर्वथा निर्मित माल, अद्दे आदिका प्रचार हो
रहा ही रहा है। साथ ही उपर्युक्त दोषोंवाले,—जिनसे
दुःख, चिन्ता तथा रोग उत्पन्न होते तथा बढ़ते हैं और
मन-दुष्किंशके तमसाच्छन्न होनेपर फतन होता है,—आहारका
प्रचार भी बहुत हो रहा है। प्याज, लहसुन, निर्कुट,
पावरोटी तथा हर किसीका लौटून खाना तो स्वभावसा हो
चला है। ये सब अधर्मस्य आहार हैं। इनका लाग
अत्यावश्यक है।

लेखक कलेक्टर बहनेके भयसे मैं अब यहाँ ही विश्वास
देते हुए कल्याणके पाठकोंका ध्यान व्रत्यूर्धक आकर्षित करता
हूँ कि आजके युगमें जब कि दैहिक, दैविक और भौतिक तायोंसे
मनुष्य-समाज अत्यन्त दुखी है, आवश्यकता है कि हम
धर्मानुकूल आचरण करके अपने खान-पानको शुद्ध बनायें
और सब्जे अयोग्यमें भगवान्के अमृतपुष्ट व्रनेका यत्न करें।
तभी हम उन त्रितीयोंसे बच सकते हैं और इस नरकतुल्य
धराधामको लगाईपास बनाकर देवभूमि उद्घोषित कर
सकते हैं। ओप्र शाम्।

शुद्ध आहार

मिला हुआ हो न्यायोपार्जित धनसे जो विशुद्ध आहार ।
हिंसारहित, पवित्र, शुद्ध तन-भन्तसे हो निर्मित अविकार ॥
सादा, सात्त्विक, शुक्त, स्वास्थ्यकर हो, जिससे, न यद्ये न्ययभार ।
अभुक्तो अर्पित भोजन, करता उदय हृदयमें शुद्ध विचार ॥

✓पतिधर्म

(लेखक—श्रीमहान्द्रसत्तापनी पाठ्य)

धर्म हमें शुद्ध एवं पवित्र जीवन वितानेका मार्ग बतलाता है। धार्मिक भावना हमें सुख-शान्ति तथा आनन्द-मय जीवन प्राप्त करती है। धर्मका आधार है—इश्वरपर विश्वास । सबमें इश्वर है। अतः सबकी सेवा तथा सबसे ग्रेम करना चाहिये। पतिधर्म भी एक आधश्वक धर्म है। पतिकी परिभाषा क्या है? मनुष्य पति कथ बनता है? ब्रह्मचर्याश्रमके बाद गृहस्थ-आश्रममें प्रवेश करना अर्थात् शास्त्रीय विवाहमें किसी एक कल्याका पाणिग्रहण करना उस लड़कीका पवित्र बनता है। माँगमें लाल सिन्दूर भरते ही मनुष्य उसके जीवनकी लालीकी रकाका जिम्मेवार बनकर पतिका पद ग्रहण करता है। जब कर्तव्य धर्मभावनासे ग्रेमित होकर हमारे मनमें नहूता है, तब हम अपने उपर नैतिक एवं आत्मिक उच्चरबायित्वका अनुभव करने लगते हैं।

पति-पत्नीका धर्म

भारतीय संस्कृति अव्याप्तपर आधारित है। इसी कारण हम परिणाममें जीवनका सच्चा सुख प्राप्त कर पाते हैं। जहाँ शिकालज्ञ कृष्ण-मुनियोंने पत्नीके लिये पातिकर्त्यधर्मका आदेश दिया है, वहाँ पतिके लिये एलीश्टका वहा महत्व बताया है। स्त्री-पुरुषमें लिङ्ग-भेदके साथ ही शारीरिक एवं मानसिक विभिन्नताएँ भी हैं। सब वात्सोंमें दोनोंकी समानता नहीं की जा सकती। स्त्री-पुरुष दोनों मिलकर ही पूर्ण बनते हैं। स्त्री आज व्यर्थ ही समानाधिकारका दावा करती है। स्त्रीका कर्तव्य-क्षेत्र धर्म-प्रिवार है एवं पुरुषका वाहीरी दुनियामें है।

पतिके कर्तव्य

एवं दोनों वास्तवमें हैं एक ही सल्लक्षके दो पूरक तत्त्व। पति-पत्नी दोनों धर्ममय जीवन विताते हुए एक दूसरेके लिये त्याग करके हित करते हैं और एक दूसरेको भगवद्यातिके मार्गपर अग्रसर होनेमें सहयोग—सहायता देते हैं। वही धर्म है।

पतिके लिये सबसे अहा कर्तव्य है—कन्चनमते विवाहका पूर्णरूपसे यौन-पवित्रतासे रहना। हर आदमी चाहता है कि मेरी पत्नी शुद्ध एवं पवित्र चरित्रकी हो; तब स्वयं उसका कर्तव्य है कि वह भी उसे एक सद्वित्र पतिके स्वप्नमें भिले। क्या कोई आदमी ऐसी लड़कीसे विवाह करना चाहेगा, जिसकी पवित्रता नहीं हो चुकी है? नहीं, कभी नहीं। इसका व्यर्थ हुआ कि आप उसकी चारित्रिक शुद्धता केंच्ची चाहते हैं। तो किर आपसे भी वह आदा रखती है कि

आप भी परम पवित्र-न्दरिधि, सुप्रसन्न, स्वस एवं कुदालताद्ये जीवन चलानेमें सक्षम हों। यौन-दुर्बलता रहते विचाह करनेमें पति-पत्नीका धर्म विगड़ता है। विश्वाद् पवित्र, स्वस एवं प्रखल स्थितिमें ही हेना चाहिये।

पत्नी विचाह होते ही आपके प्रति आत्मसमर्पण कर देती है अपने जीवनका। वह आपकी प्रियतमा हृदयेभ्यो बनती है। आपके वर्षोंकी ममतामयी माँ बनती है। आपकी और आपके परिवारकी सेविका तो होती ही है, साथ-साथ आपकी सदी जीवम-सन्ति भी बनती है। वह अपने स्नेहपूर्ण मातापिता तथा परिवारका परिवार करके आपके प्रत्यक्ष मुख-दुखमें यथार्थहयों हिस्सा बैठाने अनन्ती है। इसलिये पत्नीकी लुपता, उसे सुख तथा भग्नूर ग्रेम देनेकी जिम्मेदारी आपर है। अपसे मातापिता एवं परिवारके अन्य सदस्योंसे उसे सेह दिलानेमें आप बड़े महायक बन रहते हैं। यदि पत्नीमें कोई दुरुण है तो उसे कहार्दि, आवात या आलोचनात्मक दंगसे न सुधारकर ग्रेमसे पहले उसकी प्रवृत्ति करदें; तदेवन्तर सबा अवगुण विनाश तथा सहज-भूतिनी भाषामें बनलाकर सुधारा जा सकता है। इसीके माध्यं आपको चाहिये कि आप उसे अच्छे विवारोंके बाताचरणमें रखते ही तथा स्वस एवं प्रसन्न बनायें।

पत्नीकी उचित आवश्यकताओंका ल्याल इत्यनां शब्द-साम्र उनकी पूर्ति रखना एवं उसकी उचित आदर करना सीखिये। उसके मनोभावोंको उठाइये, अपने जायेमें उसका दृश्य सीजिये ताकि उसके अंदर अपनेको हीन माननेकी भावना न रह जाय। उसके मातापिता, भाई-भाइन पांडे अन्य राजवंशियोंसे मधुर सम्बन्ध बनाये राखिये। अपनी घेम्पूर आत्मीयताके रखसे उसके हृदयको सरावोर विद्ये रहिये। यो करनेपर आप दोनोंका विशुद्ध ग्रेम तथा आत्मिन सुख बहुता रहेगा। आपस दाम्पत्यकीवन सुख-शान्तिमय हो जायगा। आप अपने सदाचार तथा सद्व्यवहारमें अपनी छोटी-सी दुनियाको न्यर्ग बना लें। परिवारमें आत्मीयताका भग्नाम जीवन-क्षेत्रमें भी बड़ी कुशलता देता है।

कभी भी पत्नीके चरित्रपर गंदेट मन कीजिये। उसके पिछले जीवनको भूलकर अब नये दंगसे जीवन चलाइये। बोडी समझदारीसे आप काम लेंगे तो प्रतिदिनके लड्डाई-कामके,

अनथनसे बचकर आप दोनों बड़ी शान्तिके साथ खुशी-खुशी धार्मत्य-जीवन चला सकते हैं। आप स्वयं संयमी तथा अच्छे स्वभावके बचकर पत्नीको भी अपनी चालपर ढाल लीजिये। अभीतक तो वह मिनूष्टहमें रही, आपसे अनभिज्ञ थी। उसका चातावरण दूसरा था। अब उसे अपने आदरप्रेम तथा शुद्ध व्यवहारके द्वारा अपने संस्कारोंमें मिलाकर बदल लीजिये।

उसे कोई रोग या कष्ट हो तो सहानुभूतिपूर्ण सान्त्वना दीजिये। वीमारीकी स्थितिमें उसके असमर्थ होनेपर उससे काम सो कर्यहये ही नहीं। उसकी यथास्थग्य सेवा कीजिये—स्नेहके साथ, अहंकारसे नहीं। आपकी सान्त्वनासे उसका आधा रोगकष्ट दूर हो जायगा। उसे रोगमुक्त कराइये, प्रसन्न रहिये, चिन्ता-उलझनोंसे बचाकर प्यार दीजिये, ताकि वह आपके साथ अपने जीवनको सुखी एवं सुरक्षित बनाए। सोचिये—अम्य आप पति बन गये हैं, पत्नी भी आपके साथ है; इसलिये आपकी अफेलेकी नहीं चलेगी, घरं दोनोंकी चलेगी। आप प्रेमदूतमें बैठे हैं। हर कामको मन मिलाकर कीजिये। आप यहस्य-जीवनमें आये हैं तो यहस्यका ब्रह्मचर्य अपनाइये। न अनावश्यक संयमिततासे जीके मनोभायोंको कुचलिये, न पत्नीको मानसिक वृत्तिका शिकार ही बनाइये और न अनर्गल वासनाको ग्रोसाहन दीजिये। आध्यात्मिक जीवनके लिये ब्रह्मचर्य जल्दी है। परंतु यहस्यजीवनमें परस्परकी स्त्रीकृतिसे सीमित यौन-व्यवहार भी आवश्यक है। पत्नीको आपके कामोंसे अपनाल्य एवं हार्दिक सहानुभूति दिखायी दे, ऐसा ध्यान रखिये।

संत यशस्य कहते हैं कि जिस वरमें पतिपत्नी एकमन होकर रहते हैं, वहाँ स्वर्गसे भी अधिक आनन्द बना रहता है। यह असार संसार भी पतिपत्नीके हार्दिक ऐक्यसे मधुर लगता है।

क्षीरदासबीने अपने एक शिष्यसे कहा था कि 'साक्ष वनों ही अत्यन्त चिन्ता और क्रोधरहित वनों। यदि यहस्य बनना है तो मुश-जैसा वनों। मैं यदि पत्नीसे दिनमें दीपक लालानेके लिये कहता हूँ तो वह विना कुछ पूछे मुरंत जला देती है।' इतनी छाप पड़ जाय पत्नीके मनपर आपके प्रति विश्वासकी कि उसमें कभी आपसे दूर होनेकी कल्पना ही न आये।

सुशील, धार्मिक भावना रखनेवाली, पति-सेवा करनेवाली; उसमें शान्ति दबाये रखनेवाली जीके प्रति आदरसे सिर छुकता है। ही किनना उहती है आपके लिये। क्या आप उसके लिये उससे अधिक नहीं करेंगे? दुष्ट, शायबी-खुआरी एवं व्यभिचारी पतिसे पत्नी परीक्षान रहती है। एवं उसमें आत्महत्याकी भावना जन्म ले लेती है। आप भी पति हैं। अतः इन दुरुर्णांसे सदा बचिये।

आप पति हैं—पतीकी सुन्दरता, उसका रूप-लक्षण आपको मनमोहक लगता है। पर याद रखें—जीका बाह्य रूप-सौन्दर्य एवं शिक्षा उसनी गूल्यवान् तथा कामकी बस्तु नहीं है। जिनना उसका हृदय-सौन्दर्य है। विदाह होनेके बाद आपको अपनी पत्नी संसारकी सबसे सुन्दर योग्य एवं अच्छी पत्नी लगनी चाहिये। आपके मधुर व्यवहारसे विगङ्गी तथा खराब स्वभावकी जी ठीक हो सकती है। यदि उसके व्यवहारमें कहुता होगी तो आपके व्यवहारसे उसकर मन बदलकर वह सीधी एवं सुशील बन जायगी। पहाड़के प्रति दिक्षायत रखना, अपनेको कोसना कि सुन्ने कैसी पत्नी मिली है—यह बहुत गलत है। जैसी है, चहुत अच्छी है। उसीको आप स्वयं बहुत अच्छे बनकर और अच्छी बनाइये। अच्छी खेतीमें तो तभी अस्त उत्पन्नकर पेट भर लेते हैं, परंतु यंजह भूमिको मुधारकर उसमें अच उत्पन्न करना ही प्रशंसाकी बात है। ल्याग, प्रेम, सहदेयता, आत्मीयता एवं उच्च तथा आध्यात्मिक विचारोंकी सहायतासे आप उसे कोयलेसे हीरा बना सकते हैं। आप अपने मनको अपनी पत्नीके प्यारसे तूस एवं संतुष्ट रखिये।

परंतु इसका अभिप्राय यह नहीं कि आप पत्नीके प्यारमें अपने परम लक्ष्यको भी भूल जायें। याद रखिये—पहले आप मनुष्य हैं और पति नाममें। अतः सबमें ईश्वरत्वका ध्यान रखकर सबकी निःस्वार्थमात्रसे सेवा करनेकी भावना रखिये—चाहे वे माता-पिता हों, पत्नी हों या अम्य कोई भी संतारी। उदा सत्सङ्ग, भजन, जप, कीर्तनादिमें पत्नीके सहित भाग लेकर निरन्तर उस परम ज्योतिर्मय परमात्मामें अपनी खण्ड ज्योति आत्माको मिला देनेका प्रथम करते रहिये। ईश्वरपर अनन्य विश्वास रखेंगे तो इस लोकमें तो तुल भोगेंगे ही। परमात्माकी ग्राहित्वप परम लाभके भागी ही सकेंगे।

✓ गुरुधर्म और आदर्श

(लेखक—श्रीरामानन्दनी गौड पर० ए०, व्या० सा० आचार्य, साहित्यरत्न, कान्तिर्वार्थ आदि)

समय था जब गुरु बासनमें गुरु था—गौरक्षाली, ग्रहाशानी, चिद्वान् तथा समाजका संचालक था । वह अधिकारहीन सर्वोधिकारी होकर स्वराज्यमें विचरण करता और अमृतपान करके जीवित रहता था । भारतीय सम्मता और संस्कृतिका वह उद्गम माना जाता था । उसके जीवनका लक्ष्य था—

आख्यात्य तु द्वैर्होऽर्थं क्षुद्रकामत्य नेप्तते ।

कृच्छ्राय तपसे चैत्र प्रेत्यानन्तसुखाय च ॥

प्राचीन कालमें ऐसे गुरुओंके आश्रम लंगलमें होते थे । गुरुकुलोंके बालवरण सात्यिक और भानवतोंके बेन्द्र होते थे, जिससे प्रभावित होकर हिंसक जीवनन्तु भी हिंसात्मक द्वितिको त्याग सौहार्दसे विचरण करते । लोकनायक गुलसीको परसिये—

फूलहि परहि सदा तस कामन । रुहि एक सैंग मज रंचानम ॥
खग मृग सहज बयरु विसराई । सवन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई ॥

गुरुदेवकी सबी अहिंसाकी प्रतिष्ठाका उल्लेख दर्शनकार पतकुलि महर्थिने किया है—‘अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सनिधि वैरत्यागाः ।’ चक्रवर्ती राजा-महाराजातक आचार्योंकी आज्ञा पालनमें जीवनकी सर्थकता समझते थे । गुरुकी इसी गरिमाके कारण तो गुरुको इन शब्दोंमें नमस्कार किया जाता है—

शुरुर्वद्वा सुखिंश्चार्थुर्देवी भवेश्वरः ।

गुरुः साक्षात् परं शक्ति समै शीघ्रुते नमः ॥

अज्ञानतिमिश्रानन्धस्त ज्ञानाक्षनशस्त्राक्षमा ।

चक्षुरामीलितं येन तस्मै श्रिगुरुवे नमः ॥

‘शिष्यादिष्ठेत् पराजयम् ।’ जीवनमें कोई पराजय नहीं चाहता । गुरु ही एक ऐसा व्यक्ति है, जो अपने ही विषयसे अपनी पराजय चाहता है । शिष्यकी उत्तिर्की और दृष्टि देखकर आचार्य फूल नहीं सहता । अपने शिष्यके व्यक्तित्वमें वह अपनी आत्माके दर्शन करता है । वह भेदमालके धरातलसे ऊपर उठकर ज्ञानामृतकी वर्षा करता है । गुरुकी महिमा अपार है । उसके अनुग्रहसे मानव सहज ही बह गति ग्राप कर लेता है, जो कोटि जन्म पानेपर भी जीवको दुर्झम है ।

गुरु कुम्भकारके समान है, जो ध्वेषके नीचे हाथ देकर

उसे धपकी मारता है, उसके दोप दूर करता है । गुरु भी शिष्यके अन्तर्हृदयमें प्रविष्ट होकर, उसकी आत्माओं सहारा देकर, बाहरसे कठोर बच्चोंसे ताङ्गा देकर, उसे सर्वथा निर्दोष बना देता है । नीतिकार भर्तृशरिने कहा है—‘गोभिर्गुरुस्त्वा परुषाक्षरभिस्तिरस्कृता यान्ति नरा महत्त्वम् ।’ गुरुके कठ और तीक्ष्ण वाण्याणोंसे तिरहृत होनेपर ही मानवका महत्त्व बढ़ता है । गुरुका स्थान मनुष्योंमें ही नहीं, देवोंमें भी विशिष्ट है—

शिवे रुषे गुरुसाता गुरुर्ण रुषं न कथन ।

ईश्वरके रुष हो जानेपर गुरु रौप्याल (रथा) कर सकता है; परंतु यदि कहीं गुरु अप्रसन्न हो जाय तो ईश्वरके सहायक नहीं बन सकते । मनोंमें गुरुकी महिमामें लिखा है—

गुरु गोविद दोङ सङ्गं नाकं लाग्नं पाच ।

वलिहारी गुरुदेवकी, जिन गोविदं दियो मिलाय ॥

वहीं गुरु पद पहुंच पराण । मुख्नि सुवास सरस अनुपमा ॥
अमित्र भूरिमय चूर्म चारू । समन सकूल भव रुज परिवाह ॥

प्राचीन कालमें गुरु घनका नहीं, गम्भानका इच्छुक था । वह अपने आदर्शी और सिद्धान्तोंका रखक था । आज तो उसकी कलमा भी नहीं की जा सकती । वर्तमानमें गुरु चलाला शिष्य चलाला, शिक्षा और संस्कृति चलाला । गुरु-शिष्य-परम्पराका इतिहास वही तीव्र गतिके साथ चलाला जा रहा है । गुरु-शिष्य, आचार्य-अन्तोवासी, उपाध्याय-छात्र, अध्यापक-विद्यार्थी, दिक्षिक-परीक्षार्थी, प्रोफेसर-स्कॉलर, डीचर्चर-स्टूडेंट आदि अनन्त रूप होते चले जा रहे हैं । आगे पता नहीं, यह परिवर्तन कहाँतक चलेगा । आजकी परम्परा वही शिकूत हो चली है—

लोमी गुरु लालची चेला, दोमो नसक मै ढेलमेंगा ॥

आजकी स्थिति वही भयावह और विप्रम है । गुरु-शिष्यमें सौदेवाजी पनपने लगी । अनुदासनका नामतक न रहा । शिला और शिशकपर अधिकारियों और शोमानेत्र-नियन्त्रण है । शिष्यादिस्थान शिष्याशालियोंके हाथोंमें नहीं; शिक्षारे सम्बन्ध न रखनेवाले व्यवसायी लोग उनके मालिकत्वन रहे हैं । निस समाजमें शिक्षक, कवि और कलाकार व्यावारियोंके,

धनियोंके उपजीवी होंगे, विश्वकर अधिकारियोंका अधिपत्य होगा, अन्तर्जीवी, ब्राह्मण निर्भय न होंगे, उस समाजमें शिक्षक अपने प्राचीन आदर्शोंको अक्षुण्ण कैसे रख सकेंगे !

आजके युगमें शिक्षक संचरत है। उसका उदास मस्तिष्क कुषिट है। वह इस अर्थप्रथान् युगमें अपनेको अपाचशस्त्र पाता है। मेरे विचारमें समाजका स्वर सदा एक समान नहीं रहता। जब कोई कहता है—प्राचीन कालका गुरु कहीं गया, तब वह आमनिरीक्षण क्यों नहीं करता ? वह यह क्यों नहीं कहता कि अशोक, चन्द्र, विक्रम, भोज-जैसे शासकोंको कीन दे गया, व्याशभृजैसे भगवान्मध्यीका त्याग-तपोमय जीवन क्यों आजके मन्त्रियोंमें नहीं रहा ?

जब समाजका प्रत्येक वर्ग पहले-जैसा नहीं रहा, तब गुरु ही पहले-जैसा रहे—यह कैसे सम्भव है ? फिर भी गुरु अपने प्राचीन आदर्शोंको समर्टे हैं। उसे अपने आदर्शोंकी अग्रजी चिन्ना है। पर शासन और समाजपर इसका यह उत्तरदायित्व है। जब उसकी अर्थ-व्यवस्थाका व्यवित्य शासनपर होया, उसे समाजमें प्रतिष्ठा प्राप्त होगी। वह चिन्ता-रहित होगा और उसका उर्वर मस्तिष्क अप्रतिहत यतिसे सक्रिय होगा, तब गुरु-आदर्शोंकी एवा सम्भव होगी।

शिक्षककी सबसे बड़ी विशेषता यही है कि यह अपने मस्तिष्ककी अतुल शास्त्राशिको अपने विष्ववर्गमें वितरित करता रहता है। इसी त्याग (अध्यापन) में वह अपने जीवनकी सार्थकता समझता है। गुरुके जीवनमें दान है, आदान नहीं। 'परोपदेशो पाण्डित्यम्' अध्यापकमें न होमा चाहिये। उसके जीवनपर तो अनेक जीवोंको गहरी दृष्टि है। 'पश्चादाच्चरति श्रेष्ठस्तदेवेतरो भवः।' इस लिङ्गान्तके अनुसार अध्यापकों बहुत सावधान रहनेकी आवश्यकता है। उसकी आत्मामें विश्वास, जीवनमें संयम और बाणीमें सत्त्व और ओज होना चाहिये। यदि अध्यापकके जीवनमें धर्मिनित् भी व्यवित्य आने लगेगा तो वह अकेला ही पतिष्ठ नहीं होगा; अपि तु समाजका एक बहुत बड़ा भाग पथग्रन्थ हो जायगा। राष्ट्रनियोंका जितना व्यक्ति विश्वकर पर है उतना अन्य किसीपर न है, न होगा।

शिक्षकपर ही निर्भर है कि वह समाजको किस संकेतमें ढाले—अवैध यालकोंके निरीह जीवनको किल रंगमें रंग दे। शिक्षकके पास विद्यार्थी गीली मिट्टीके समान आता है। कुम्भारकी भाँति गुरु बैसा चाहे, उसका बर्तन बना दे। उस-

समय उसके हाथमें अपार शक्ति है। वह अपनी स्वतन्त्र सुषिट्का निर्माण कर सकता है। उसके ही हाथमें व्यास-गुरु, विवाजी-प्रताप, गाँधी-नेहरू-जैसे व्यक्तियोंका निर्माण है। गुरुके मस्तिष्कके ही तो आविष्कार है—तिलक, गोखले, राजेन्द्र, राधाकृष्णन्-जैसे देशरत्न। यदि किसी अध्यापकने ऐसे उत्तरदायित्वपूर्ण पदपर आसीन होकर भी अपनेको न समझा, मनमानी की और कल्पामें यालकोंसे गँगाकर सिगरेट-बीड़ी पी ली, बच्चोंके सामने चाट ला लिया, दिनेभा देख लिया तो समझमें अनन्तराख-भ्रष्टाचारका थोलबाला ख्यों न होगा ! अतः शिक्षकको हर समय जागरूक रहनेकी आवश्यकता है।

आजका शिक्षक यदि अपने यर्म और आदर्शको भूलकर स्वेन्डाचारिताका दास बना रहे, विलासिताके पङ्कमें फँसा रहे, आनन्दराशकी अपेक्षा अर्थको प्रधान भूलेगा तो उसे वह सुनना ही पड़ेगा—

मैं फीस देता हूँ तो पढ़ता हूँ। अध्यापक द्वारा कीत दास है, तभी तो वरपर प्रतिदिन आकर हमें पढ़ाता है। यदि मैं नहीं पढ़ता तो अपना ही समय और पैसा खोता हूँ, इसमें अध्यापककी भवा हानि है। मैं काम करूँ या न करूँ, अध्यापक कौन होता है सुसे डॉट्नेझपटनेवाला—मारनेवाला अध्यापक कानूनी अपराधी है। रही परीक्षा पास करनेकी बात उसके लिये आज अनेकों साधन हैं। गैरिपेपर लेकर नकल करके, रिक्विट देकर गुंडागवर्भी मचाकर, भास्टर लाडें। छोड़ मत देना हमें नकल करतेको, जानते हाथ धोना पड़ेगा। देखा है यह घासू, पिस्तौल ! किनना बड़ा चैलेंज है गुरुके प्रति आजके शिष्यका। प्राचीन कालका आदर्श था—

गुरुर्वैत्रं परिषादो विन्दा वापि प्रवर्तते ।

कर्णी दद्र विद्यातव्यी गम्भत्यं च तनोऽन्यतः ॥

गुरुणा चैद्र लिवैष्टो न कर्तव्यः कदाचन ।

अलुमान्यः मरावद्य गुरुः कुद्रो युधिष्ठिर ॥

युधिष्ठिर ! गुरुकी कुराई अथवा निन्दा जहाँ होती हो, वहाँ दोनों कान मूँद लेने चाहिये अथवा वहाँसे कहीं अन्यत्र चले जाना चाहिये। गुरुके लाय कभी हठ नहीं करना चाहिये और गुरु शदि कुद्र हो जायें तो उमरें पूछकर कोई काम करना चाहिये एवं अनुनय-विनयसे उन्हें प्रसन्न कर लेना चाहिये।

धर्म

(रचयिता—पण्डित पं० श्रीरामनारायणदत्तजी शास्त्री 'राम', साहित्याचार्य)

(१)

धर्म नर-नारायणका रूप, धर्म है संतत सत्त्वप्रधान,
धर्मके विना मनुज पशुतुल्य, धर्म मनवताकी पहचान।
धर्म दैवी सम्पत्ति, अधर्म दस दानवताका है रुप,
धर्मके पाण्डुपुञ्ज दण्डान्त, अधर्म उष्माधनसा भूप ॥

(२)

धर्म जगतीका धारक तत्त्व, धर्म ही है सबका आधार
धर्म ही सार, धर्मके विना नहीं इक सकता है संसार।
सिंह यदि खो दे अपना शौर्य, शृगालेंसे भी हो अति दीन,
करें सब जंगम ही फद-फलित, भुजंगम जो होवे विषहीन ॥

(३)

खल्ममें भी पूजित होगा न, तपनमें तपन-कर्म न जो,
राख बन जाये, रहे न साख, दहनमें दाहक धर्म न जो ।
चन्द्र तज दे आहादक धर्म, उसे चितये क्या कभी चकोर ?
जलद जो दे न सके जलदान, घने क्या धातकका चितचोर ? ॥

(४)

धर्म जीवन है, इससे कौन भला हो सकता है निरपेक्ष,
अत लंसुतिके सारे राष्ट्र धर्मके प्रति संतत सापेक्ष ।
भूष शिवि, रन्तिदेव, हरिचंद, राम, दशरथ, पुरु थादि नरेश,
पाण्डुसुत ग्रस्ति जनोंने सहे धर्मपालन हित कितने क्लेश ॥

(५)

धर्मसे ही भूतलका राज्य है जबनने भोगा चिरक्षल,
धर्मकी अवहेलासे गिरे रसातल वीच नहुए तत्काल।
शिवा-राणाने कर लंघर्ष धर्मका रक्षा गौरव-मान,
हकोकतराय वीर-सिरमौर धर्मके हेतु हुए चलिदान ॥

(६)

धर्म गोविन्दसिंह गुरुदेव, धर्मरत जिनके पुश महान्,
समुद्र दीवरामें चुन गये, धर्मके लिये दे दिये ग्रान।
यहाँ जनतन्त्र या कि नुपतन्त्र—रहे दासनका कोई रूप,
राष्ट्रपति निर्वाचित हो था कि परमपरथ आगत हो भूप ॥

(७)

भगव-रक्षण सशका ही धर्म, शान्ति-संलापन सबका कर्म,
सभीको इप—जगतमें बना रहे अस्तेय आदि सद्गमे।
दस्तुओं-दुष्टोंका कर दमन अमन कायम रखना सर्वत्र,
धर्मका, सत्यरूपोंका ज्ञान—यहाँ झूँसित है अत्र-परत्र ॥

(८)

धर्म ही को हैं विविध विधान, चला करता जिनसे सौराज्य,
न जगमें कहीं धर्मनिरपेक्ष कभी हो सकता कोई रज्य ।
सती सावित्रीने तत्काल धर्मबलसे जीता यमराज,
धर्मने ही बनकर परिघान, बचायी हुपद्भुताकी लाज ॥

(९)

धर्म ही माता-पिता सुखन्धु, धर्म ही है सब जगका मीत,
धर्म है जहाँ, वहाँ श्रीकृष्ण, कृष्ण हैं जहाँ, वहाँ हैं जीत ।
धर्ममें तत्पर हैं सब लोग, धर्मकी शक्ति अवन्त व्यापार,
धर्मकी दृढ़ नौकासे शीघ्र किया जाता भवसागर पार ॥

—*—*—*

धर्म और प्रेम

(लेखक—श्रीनन्ददुलालजी नववारी भक्ति वैमन)

मानव शिशु दस मास, दस दिन माताके गर्भमें अशेष दुःख-भोग करके इस पृथ्वीके विद्युत्यल्पर भाविर्भूत होता है । शिशुके जन्म लेनेपर माताके स्तनसे दुर्घट करित होने लगता है । अपने सुख-स्वातन्त्र्यको भूलकर आहार-निदा त्यागकर माता संतानके पालनमें रत हो जाती है । माताकी अक्षेप कृपाके बलसे शिशु धीरे-धीरे बढ़ने लगता है और उसके साथ-साथ इस संसारके साथ वह परिवय प्राप्त करने लगता है । वह इश्याय समझने लगता है माताके नाना प्रकारके अङ्ग-नन्दनालनसे, सिर हिलानेसे वह हँसने लगता है । जन्मके साथ माता वसुमती उसके सारे प्रयोजनीय उपकरणोंकी व्यवस्था करती है—खेलका स्थान, मोजनकी वस्तु, जलवायु आदिकी आवश्यकताओंको पूर्ण करनेके लिये प्रकृति सहायकके रूपमें नियुक्त होती है ।

उसके कुछ बड़े होनेपर पाठशालाकी पढ़ाई हुल होती है । वहाँ अभ्यापक नियुक्त होते हैं पिता संरक्षक होते हैं । वह पाठशालासे स्कूलमें और स्कूलसे कालेजमें जाता है, नियालयके साथ-साथ संसारसे उसका परिचय भी बढ़ता जाता है । सांसारिक विद्योपार्जनके मूलमें रहती है प्रतिष्ठाकी आशा और अयोपार्जनकी सृष्टि, जिसके द्वारा वह मुख-शालिकी आशा करता है । आवी सुखकी आशासे वह कर्मपथकी ओर चढ़ता है ; मोणासक इन्द्रियोंका इन्धन छुटानेके लिये वह जी-जानसे परिश्रम करता है । अजकलका विशानका युग उसने अपने हाथों गढ़ा है, किनना सुखका

सम्भार उसके पास है ! कलकत्तेके समान यान्त्रिक बाहनोंसे मरा जाहर, वैद्युतिक आलोकमालासे विजलीके समान दीसिमान् रातकी शोभा, अपने सोफापर बैठे-बैठे टेलीफोनसे परस्पर बातचीत, रेडियोसे अप्रत्याशित बातोंवहन तथा निकट भविष्यमें टेलिविजनसे प्राप्त होनेवाले गायकन्यायिकाकी राग-रागिनीके प्रच्छेदपट्टसे नैवेंका आनन्दवर्द्धन ! जलमें, स्खलमें, आकाशमध्यमें—सर्वत्र आज मानव अभियान कर रहा है । आधुनिक सम्भालके मूलमें है—सिनेमाकी मल-मोहिनी चित्रकला । इसी कारण आज भगवान्के अध्यवा किसी भद्रान् पुरुषके चित्रके स्थानमें सिनेमा-नियोक्तेके चित्र घरकी शोभा बढ़ा रहे हैं । आधुनिक सम्भालके नामपर भोगवादने अमेरिकाके Bikini dress और इंग्लैण्डके Shock frock dress को हमारे भारतवर्षकी ऐचीखलपिणी मातृजातिकी सम्मानमें ला दिया है ।

क्या मनुष्यजन्मकी अन्तिम प्राप्त वस्तु यही है ? क्या यही चरम सुख है या और कुछ भी है ? इस यदि एक बार कौपीनधारी सर्वसागरी शृणिकोकी ओर देखें और उनके आदर्शको उपाख्यान कहकर उड़ा न दें तो इस तत्वको जनश्रुति और रैक्व मुनिके उपाख्यानसे जान सकते हैं । एक बार राजा जनश्रुति एक सहस्र गायें एक सुवर्णद्वारु एक रथ और अपनी कन्याको छेकर रैक्व मुनिके पास गये और वैले—“आप ये कारी वस्तुएं ग्रहण करें, मेरी इस कन्याको भायोंके रूपमें स्वीकार करें और इस ग्रामको अपने आश्रमके

ल्पमें ग्रहणकर मुक्तकी कृतार्थ करें । परंतु ऐनव मुनिसे अन्तीकार करते हुए कहा—ऐ शोकार्त शुद्ध । देखिये, वे किस धनके चर्नी थे । जगत्में आशा करें किस स्थिरे । पशुका जन्म हो या पश्चीका जन्म हो, सभी जन्मोंमें तो आहार, विहार, मैयुन और निद्राका भोग किया जाता है । तब फिर मनुष्य-जन्मकी विद्योपता कहाँ रहती है ।

धर्मेण हीनः पशुभिः समानाः ।

जब मनुष्य अनुभव करता है कि वह पशु-प्रज्ञातिसे उच्च स्तरकी कोटिका प्राणी है, तब उसे जागरिक सफलता या भौतिक विज्ञानकी विद्यये सनस्तुष्टि नहीं होती । धर्म इम्बी पाप और हेषप्ते चुद्ध करनेमें लद्ध करता है तैतिक कर्त्ति प्रदान करता है तथा जगत्की रक्षा करनेके प्रबलमें उत्ताह प्रदान करता है । वह मानवकी वास्तविक योग्यता और गैरवके अनुभवान तथा उसके ऊर्ध्वलोकके साथ सम्बन्धपर आधारित है ।

वेदकी परिभाषामें अहिरः-स्मृति कहती है कि जो कार्य-कलाप आत्मज्ञानकी प्राप्तिमें सचावक नहीं होता, वह केवल वाहककी किया-चयत्ता सत्त्व है । मनु कहते हैं—‘अनारक्तः विगतस्तृह पण्डितं जो ज्ञानोक्तिके लिये बाजन करते हैं, वही धर्म है ।’ और भी कहते हैं कि (१) वेदके अनुशासनका पालन, (२) स्मृतिके अनुशासनका पालन; (३) महापुरुषोंके द्वारा प्रधातित धाराका अनुग्रहन, तथा (४) जो कर्म मानसिक घान्ति प्रदान करते हैं, उनमें प्रवृत्त होना—वही धर्म है । इस प्रकार आज्ञाकाराण कोई धर्मको, कोई योगको, कोई तर्कको, कोई पुण्यको, कोई वैराग्यको, कोई तपस्याको, कोई धर्मयुद्धको, कोई ईश्वरोपासनाको, कोई शुद्धकी उपासनाको, कोई प्रायश्चित्तको और कोई दानको धर्मका पर्याय भानते हैं । समयानुसार तत्त्वज्ञान (Philosophy) ने इच्छार्थीमें इस्तेष्यप किया दो जान पड़ा कि वे जन उपाय मूळतः तीन तत्त्वोंके अवृत् कर्म, जान और भक्तिके नामान्तर हैं ।

श्रीभगवान्नने अपने प्रिय दिव्य अर्जुनको उक्त करके जगत्के नित्यारका एक उपाय, उर्वोदासार्थं उपोद्घातके रूपमें गीताके प्रारम्भमें बतलाया है—‘योगसः कुरु कर्माणि ।’ (गीता २ । ४८) फिर आपो वे कहते हैं—“न कर्मणाम-भारम्भान्नेष्वर्णं पुरुषोऽस्तुते ॥” (गीता २ । ४) कोई विना कर्म किये रह नहीं सकता । परंतु नैकर्म्य-प्राप्तिके लिये वधार्थ

कर्म होना चाहिये, नहीं तो वह वन्धनकारक होगा । ‘अज्ञाथोर् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मवन्धनः ।’ (गीता ३ । ६) अनधिकारी व्यक्तिके लिये कर्मत्यागकी अपेक्षा कर्म करना ही धेष्ठ है । जब कर्मत्यागके द्वारा शरीरवानाका भी निर्वाह नहीं होता, तब कर्मत्याग कहाँतक सम्बद्ध हो सकता है । अतएव काम्य-कर्मका स्थाग करके (कर्मणा वध्यते अनुः-हस्ते स्मृतिः) सकाम होते हुए भी भगवत्-उपासना करे । जो कर्मके अवान्तर कल्पत्रय अन्य वस्तुकी कामना करते हैं, वे कर्मसङ्गी हैं । अब और कर्मसङ्गी पुराणको तत्त्वज्ञानका तात्त्वर्थ बतलाओ तो वे वह अद्वापूर्वक उसके लिये आग्रह प्रकट नहीं करेगा । अतएव ऐसे लोग अपनी-अपनी राजसिक और तायचिक प्रकृतिके द्वारा प्रेरित होकर उन छोटे-छोटे लियमेंकर पलबन करते हुए तदनुरूप सब देवताधोर्णी उपासना करें (गीता ७ । २०) । भगवान् के इन अधिकारानुरूप साधनोंकी बात पढ़कर और अर्जुनकी वास्तविक स्थिति न समझकर द्यूलहर्षी सावधाने यही सिद्धान्त दिख कर लिया कि ऋणाश्रम-विहित कर्म नित्य है, अतएव सारी गीता अवधि करनेके बाद अर्जुनने युद्धस्ती धत्रियर्थको ही अद्विकार किया । अतएव ऋणाश्रम-धर्म-विहित कर्मका आश्रय ही गीताका तात्त्वर्थ है । पर सूक्ष्म-दर्शी साधक हस्त प्रकारके सिद्धान्तमें संतुष्टि नहीं होते, वे अहोदान अथवा पराशक्तिके आश्रयको ही तात्पर्यरूपमें स्थिर करते हैं । साधनकालमें जबतक हृदयमें क्षम चिरञ्जीवन रहता है, तबतक धर्णाश्रमादि धर्मकी अपेक्षा रहती है । इसी कारण श्रीमद्भागवतमें स्वयं भगवान् कहते हैं—

तावल्कर्माणि कुर्वीत न निविष्येत शाश्वता ।

भक्तवाद्यत्रणाद्यै वा अद्वा चावत्त जायते ॥

(११ । २० । ५)

‘जबतक कर्मफलमें विरक्ति नहीं होती अथवा भक्तिमार्गमें भैरवी (भगवान्की) कथामें अद्वा नहीं उत्पन्न होती, तभीतक सब कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिये ।’

शानी पुरुष शानका उदय होनेपर यांत्रिक वस्तुके अनिलत्वको जानकर साम्यमावकी प्राप्तिसे त्रैमये अवस्थित होकर लाभालाभसे अविच्छिन्न—सिरखुद्धि बनता है और योगीपुरुष अष्टाङ्गयोगके द्वारा इन्द्रिय-निरोध करके परमात्म-स्वरूप, सर्वभूत-अन्तर्धानी पुरुषको प्राप्त करता है । शानी और योगी आत्मा और परमात्माके तत्त्वज्ञानसे मोक्ष प्राप्त करते हैं । निष्काम कर्मयोगी परमात्मस्ती पुरुषके उद्देश्यसे ही धर्म करते हैं । भगवत्समें कहा है—

निर्विषयमात्रा ज्ञानयोगी न्यासिनामिह कर्मसु ।
देव्यतिरिष्यचित्तात्मा कर्मयोगसु कामिनाम् ॥

(११ । २० । ७)

जिनको कर्म और कर्मफलसे निर्बेद उत्पन्न हो गया है, वे ज्ञानयोगके अधिकारी हैं और जिनकी फलभोगकी वासना दूर नहीं हुई है, वे कामी योग कर्मयोगके अधिकारी हैं । कलियुग-पावनावतार श्रीचैतन्य महाप्रभुके इस प्रश्नपर कि—

प्रकृतिमुक्ति याव्यु जैर काहौं दोहार गति ?
श्रीरामनन्दजी कहते हैं—
स्पावर देह देवदेह जैरे अस्थिति ।
अरसङ्ग काक चूसे जाम निम्बफले ।
रसद लोकिल खाम प्रेमाक्षमुकुले ॥
अमाग्निय जानो आहवदये शुष्क जान ।
कृष्णप्रेमाभृत धन करे भाग्यवान् ॥
(चैतन्य-चरितामृत म० ८ । २५६ । ५८)

श्रीमद्भागवतमें लिखा है—

भक्तिलु भगवद्गतसङ्गेन परिजायते ।
ब्रह्माण्ड प्रमिते कौन भाग्यवान् जीव ।
गुरु रूपा प्रसादे पाय भक्तिलता बीज ॥
भक्त मनुष्ट कोड भाग्यवान् जन पावद दुर्लभ चीज ।
गुरु-भागवत् प्रसाद ते अनुहित मक्तिलता के बीज ॥

पूर्वजन्मोंकी भक्तयुन्मुखी सुकृतिके फलवस्तुप भाग्यवान् जीव गुरु और श्रीकृष्णके प्रसादसे भक्तिलताका बीज अर्थात् भगवा प्राप्त करके साधकरूपी माली बनकर उस बीजको हृदय-स्त्रेनमें वपन करता है और निरन्तर भगवन्तकथा-अवधारण-कीर्तनलली जल्सेनमें लगा रहता है । यह भक्तिलताका बीज अद्भुतिरूप छोवर भक्तिलता-स्त्रेनमें बढ़ते-बढ़ते इस व्याधिक ब्रह्माण्डका भेद करके, विरजा और ब्रह्मलोकका अतिक्रम करके परब्रह्मोमके ऊपर गोलोक-वृन्दावनमें श्रीकृष्ण-चरणरूपी कल्पवृक्षके आश्रयमें प्रेमफल प्रदान करता है ।

प्रेमफल पर्लि पड़े मल्ली आस्तादथ ।
सुखे प्रेमफल रस करे आस्तादन ॥
यह प्रेम-भक्ति प्राप्त होती है कैसे ?
चुद मिलि हैते हृषि प्रेमा द्वप्त ।
शुद्ध मक्तिसे ही होती है प्रेमाभक्ति सरस द्वप्त ।
ब्रह्माण्डकी किसी घस्तुके प्रति भक्ति प्रयुक्त नहीं हो

सकती । ब्रह्माण्डको पार करके विरजा नहीं है, वहाँ गुणवय साम्यावस्थामें लक्षित होते हैं; वह प्राकृत मल्को धो डालने-वाली सौतिनी है, उसके पार करनेपर ही जानीलोगोंका आदर्श ब्रह्मलोक आता है । विरजामें जैसे भक्तिलताके आश्रय-के उपयुक्त कोई बुझ नहीं है, ब्रह्मलोकमें भी उसी प्रकार भक्तिलताके लिये सेव्य दृश्यका अभाव है । परब्रह्ममें श्रीनारायणकी पूजामें जान्त, दास और उत्थार्दमात्र रस हैं और गोलोक-वृन्दावनमें श्रीकृष्णकी सेवामें इनके अतिरिक्त विश्रम, सख्य, वास्तव्य और मधुर रस पूर्णमात्रामें विकसित हैं । यहाँपर भक्तिलता रर्वतोभावेन आश्रय प्राप्त करके प्रेम-फल प्रदान करती है ।

निरामकलपतरोर्गतिं फलं

कुम्भमुखादसूतदकर्संसुतम् ।

मिक्त्र भागवतं रसमालयं

सुहुरहो रसिका भुवि भावुकाः ॥

(श्रीमद्भागवत १ । १ । ३)

हे भगवत्-प्रीतिरसव अपाकृतिक रसविशेष-साधना-चतुर भक्तवृन्द । श्रीशुक्लके मुखसे निरसुत होकर स्वैच्छासे पृथ्वीपर अस्तप्तरूपमें अवतीर्ण, परमानन्द-रसमय त्वक्-जटि आदि कठिन हेयांशसे रहित, तरल, पानयोग्य इस श्रीमद्भागवत-नामक बैद्यल्पतरके पक्षफलका आपलोग सुकावस्थामें भी निरन्तर पान करते रहे ।

पूर्वीरय भावनावर्त्म यश्चमत्कारभारस्यः ।

हृषि सख्योदलवले वाहं स्वदते स रसौ भतः ॥

भावनापथके परे अलौकिक चमत्कारकी परमाकृष्णका आधारस्वरूप जो स्थायी मात्र शुद्ध सत्त्वसे उत्त्वये हृदयमें निष्ठिरस्त्रपमें आस्तादित होता है, वही 'पर' कहलाता है । श्रीमद्भागवतमें श्रीकृष्णको 'उच्चमश्लोक' कहा गया है । श्लोकका प्रतिपाद्य विश्वय है वस्तुके माध्यमसे रूपके प्रकाशमें रसकी संयोजना । 'पर' शब्दसे छः सुख्य और सात गौण रसोंकी आलोचना प्राकृत काव्यमें देखनेमें आती है और वैष्णवोंके काव्यमें इन समस्त रसोंका पूर्ण परिचय भगवत्ताको केन्द्रित करके हुआ है । इन रसोंका आस्तादन सुक्तिके परे भक्तिके आश्रयमें होता है—

सुक्तिर्हित्वान्यवाह्यं स्वरूपेण स्वत्त्वित्वः ।

इसी कारण वैष्णव काव्यका उत्तम होता है वैकृष्ण्ठे—

वैकुण्ठजनितो परा मधुपुरी तत्रापि गोवर्धने
राधाकृष्णमिहापि गोकुलपतेः प्रेमामृताप्लावनात् ।
कुर्यादस्य विराजतो निरिति लेखा विवेको न कः ॥

वैकुण्ठसे उत्पन्न भक्तिका वीज-चपन हुआ मधुपुरी
(मधुरा) में। उसने अङ्गुरित होकर रासोत्सवमें श्रेष्ठता प्राप्त
की। छूटदावनमें गोवर्धन-शैलपर वह श्रेष्ठतर हुआ तथा
राधाकृष्णमें श्रेष्ठतमताको प्राप्त हो गया, यही उत्तमशलोककी
उन्नतता है।

भक्तिमें स्वार्थ या लाभका विचार ही नहीं होता। भक्ति
केवल अपने प्रभुकी सेवा-आपाधनके लिये अपने-आपको
उत्तम्य करनेकी चेष्टामें लगी रहती है।

आत्मेन्द्रियं प्रीतिवाञ्छा तरे बहि काम ।
कृष्णेन्द्रियं प्रीतिवाञ्छा धरे प्रेम नाम ॥

कलियुग धर्म हय कृष्ण नाम संकीर्तन ।
नाम संकीर्तने उपजय प्रेम धन ॥
केवल जे रागमार्ग भजे कृष्ण अनुग्रहे,
तरे कृष्ण-माधुर्यं सुखम् ।
कृष्णरूपामृत सिन्धु, ताँहार तरङ्ग धिन्धु,
एक विन्दु जगत् डुबाय ॥

अर्थात् अपनी इन्द्रियोंकी प्रीतिकी इच्छाको 'काम'
कहते हैं और श्रीकृष्णकी इन्द्रियोंकी तुलिकी कामनाका प्रेम
नाम है। कलियुगका धर्म श्रीकृष्ण-नाम-नंकीर्तन है, नाम-
संकीर्तनसे प्रेमधन प्राप्त होता है। जो केवल रागमार्गसे
अनुरागपूर्वक श्रीकृष्णका भजन करता है, उसको श्रीकृष्णका
माधुर्य-रस सुखम् होता है। श्रीकृष्ण-रूप-सुधाके समुद्रकी
तरङ्गोंका एक विन्दु सारे जगत्को हुबो देता है।

अनन्य शरणागति-धर्म

(छेदक—स्वामीवी श्रीरूपगीतीश्वरणदेवाचार्यजी, साहित्यवेदानावाची, कार्यार्थ, मीमांसा-शास्त्री)

नान्या गतिः कृष्णपदस्त्रिन्द्रिय
संदृश्यते ब्रह्मशिवादिवन्दितात् ।
भक्तेच्छ्वगेपातसुचिन्त्यविग्रहा-
इच्छ्वल्पशक्तेरनिच्छ्वसाशयाद् ॥

(श्रीनिवार्काचार्यसुत वैदानिकानवेदन्)

आनन्दकांद गोविन्द शुकुन्द श्रीकृष्ण प्रभुके उदार
पदारविन्दके अतिरिक्त कोई अन्य गति नहीं है। वसुता:
साधकोंके लिये शाश्वत सुख-शान्तिका सुन्दर सदन और
कोई दूसरा उपाय ही नहीं है।

शरणागति-धर्ममें ज्ञानप्रभृति सर्व-साधनोंके अभियान-
को छोड़कर आत्मा-आत्मीय सर्व-सम्बन्धको प्रभुके उदार
पदारविन्दमें समर्पण करना होता है। वहाँपर किसी अपनी
योग्यता तथा कला-कौशलका प्रदर्शन करना या भनमें
रखना शरणागति-धर्मके सर्वथा विशद है। वहाँ तो साध्य-
साधन सर्व-सम्बन्धको प्रभुसे जोड़ना है; क्योंकि—

'तन्निष्ठस्य मोक्षन्यपदेशात् ।' 'सर्वधर्मोपयत्तेश्च ।'

सहृदेव प्रपन्नात्य तत्त्वसीति च आचर्ते ।

अभयं सर्वभूतेभ्यो ददान्येतद्वत् मम ॥

(वाचनीकिरामायण)

विग्रहारूप प्रपन्नपर प्रभु प्रसन्न होकर अभ्यदान देते हैं।

शरणागति-धर्मका नित्यपण वेदके संहितामालमें
देखिये। श्रीनिवार्काचार्यकथित वचनमें प्रमाण—

— त्वं जाता तस्यै चेत्यो भुः पिता माता सहस्रिं मरुषाण्याम् ।

(नववेद ष १ १ ५)

‘इस असार संसार-सागरसे पार करनेवाले प्रभो !
मनुष्योंके सच्चे माता-पिता तथा रक्षक तुम ही हो ।’

जौर हम तुम्हारे हैं तथा तुम हमारे हो। ‘ल्लभस्माकं
तत्त्वास्यहम् ।’

हम तुम्हारे सेवक एवं शरणागत हैं और तुम हमारे
स्वभी तथा शरण हो ।

श्रुति कहती है—

यो ब्रह्माणं विद्धाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रह्लिति तस्मै ।

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रभाशं सुसुक्ष्मं भारणमहं प्रपद्ये ॥

(श्वेतामर ० ६ । १८)

यो ब्रह्माणं विद्धाति पूर्वं

यो विद्यां तस्मै गोपयति स्म कृष्णः ।

तं ह देवमात्मबुद्धिप्रभाशं

सुसुक्ष्मः शरणं वज्रेत् ॥

(गोपालपूर्वतापिनी० ६)

अर्थात् जो मग्नात् श्रीकृष्ण विधाताके भी विधाता
हैं और उर्वप्रथम जिन प्रभुने अपने दिव्य ज्ञान वेदोंका
प्रकाशको उपदेश दिया, जो आत्मा, मन एवं बुद्धि
तथा सकलेन्द्रियोंके प्रकाशक हैं, उन जगत्के अभिज्ञनिभित्तो-
पादानकारण श्रीकृष्ण प्रभुकी मैं शरण प्राप्त करता हूँ।

श्रीभगवद्गीतामें भी शरणागतिका ही प्रधानतथा
निरूपण किया गया है।

श्रीनिवार्कभगवान्के मतसे श्रीताका उपकाम शरणागतिसे
और आहृति शरणागतिकी और पर्यावरण शरणागतिमें
है। यथा—

किञ्चन्द्रोऽहं शाधि मां त्वं प्रपन्वम् ।
(उपकाम)

× × ×
निवासः शरणं सुहन् । तसेव शरणं गच्छ । मामेव ये प्राप्नान्ते ।
(आष्टुचि)

× × ×
सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं प्रज ।
(उपसंग्रह)

यही शालोव पद्धति है । शरणका अर्थ रक्षक तथा आश्रय होता है । (शरण गृहसंक्षिप्तोः इत्यमर ।)
शरणागति प्रविशा होती है—

आसुकूल्यस्य संकल्पः प्रतिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वासो गोप्युज्वरणं तथा ॥
आत्मनिषेपकार्यं प्रविशा शरणागतिः ।
(नारदपात्रपत्र)

अनुकूल आचरण करना, प्रतिकूल्या-निषेध, प्रभु श्रीकृष्ण हमारे रक्षक हैं—ऐसा विश्वास पूर्व रक्षा के लिये प्रार्थना करना, आत्मनिषेदन और दैन्य । वथा—

श्रीकृष्ण रुक्मिणीकान्त गोपीजनभनोहर ।
संसारसागरे मर्त्त मासुबर जग्नुरुरो ॥

इसमें आत्मनिषेदन जहाँ है एवं अन्य पौच अक्ष है । यह विदान्तरूपमङ्गलाभाका प्रमाण है । भगवान्की शरणमें किसी भी भावसे आये, वे उसका परम अल्पाण करते हैं । कृपाकृष्ण पूतना अपने उरोजोंमें हलाहल विष लगाकर भगवान्को मारनेकी भावनासे आयी । दीनदयाकृ ग्रसुने उसको भी जननीकी उत्तम गति दी । इस दयालुतापर श्रीउद्धवजीका हृदय गद्यद हो उठा—

लहो थकी यं सुनकालकृद
क्रिदांस्यापायदप्यसाधी ।
उमे भाति धार्म्युचितां ततोऽन्यं
कं वा दयालुं शरणं ग्रजेम ॥
(श्रीमद्भगवत् ३ । २ । २३)

धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप पुरुषपार्यकी प्राप्तिके लिये लौकिक-पारलौकिक भोगत्याग, उपरति, तितिक्षा, मुमुक्षुता आदि वदे विकट संकटसाथ साधनोंकी आवश्यकता पड़ती है; किन्तु शरणागतिमें तो दीनदयामें, औसू भरकर आश्रय लेनेसे ही प्रभुकी कृपा प्राप्त हो जाती है । प्रभुकी कृपा ग्राणीके ऊपर कैले एवं कब उत्तरती है, अनन्य ग्रेम-शरणागति-धर्मका निष्पण करते हुए, महावाणीकार कहते हैं—

विधि-निषेद आदिक जिते, कर्म-धर्म तजि तास ।
प्रभुके आश्रय आवई, सो कहिये निज दास ॥

जो कोई प्रभुके आश्रय आवै । सो अन्याश्रम सब छिटकावै ॥
विधि-निषेद के जैजे धर्म । तिनि कोत्यागि है विकर्म ॥
जूठः क्रोध, निदा तजि देहों । जिन प्रसाद मुख और न लेही ॥
सब जीवनि पर करना राहै । कबहुँ कठोर वचन नहि राहै ॥
मन माझुर सस माहिं समोहै । वरी-फूर-फूर बुशा न लोहै ॥
सतगुर के मारन पशु धारै । हरि सतगुर बिच मेद न परै ॥
ए दादस लक्खन अवगाहै । जे जन परा परम पर चाहै ॥
(लिङ्गात्म-सुख)

शरणागत श्रीभद्रजी कहते हैं—

मदन गोपाक सरम सेरि आयै ।

चरन कमल की सेवा दीजै, चैरी करि राखी धर जायै ॥
धनि-धनि भात-पिठा, सुत-बंधु, धनि जननी, जिन गोद लिलायै ।
धनि-धनि चरन चलत हीराय कौ, धनि गुरु, जिन हरि-नाम सुनायै ॥
जे नर बिसुख मप गोचिद हाँ, जगम अोक महादुख धायै ।
श्रीमटकौ प्रभु दियौ अमय पद, जम दरायै, जब दास कहायै ॥

अनन्य शरणागति-धर्मका पालन करनेवाली सौभाग्यवती श्रीमती सती-शिरोमणि तत्सुखवती वज-युवतियोंको देखकर उमला-रसामृत-मधुर-सूर्ति श्रीकृष्ण श्रृंगी होकर उम्भण होनेकी प्रार्थना करते हैं—“न पारयोऽहं” कहकर अपनेको असमर्थ बताकर वे कहते हैं—

तब बोले ब्रजराज सुन्दर, हौं रिमी तुम्हारै ।

अपने मन ते दूरि करै किन दोस इमारै ॥

कोटि कल्प हमि तुम प्रति प्रति उपकार करै जै ।

है मन-हरनी तहनी उरिनी नाहिं तबौं तौ ॥

गोपियोंसे यों कहकर, फिर निश्चोरी ठकुरानी श्रीगुरानीलीका सम्मान करते हुए रतिश्चिरोमणि सुन्दर न्याम श्रीप्रभु बोले—

सजल विच्व अपन्बस करि मो माया शोहति है ।

प्रेममयी तुम्हरी माया सो भोहि मैहति है ॥

तुम जो करी, सो कोठ न करै, सुनु भवल निसोरी ।

कोक-बैद की सुदृढ सुंखला तुन सम तोरी ॥

सकल-कला-कलाप-कुशल विश्वारी श्रीखामिनिवू यहे संकोचके साथ विषुल मुलकवती होकर बोलौ—

प्यारे । तुम्हे सुनाऊँ कैसे अपने मनकी सहित बिदेक ।

अन्योंके अनेक, पर मेरे तो तुम ही हो, अियतम । एक ॥

सरल सुगम सुंदर सुखदहै । साथन सरनागती सुदृढ ॥

बोऽग्रेष्यदोषं करणागुणेण

मनोज्ञवेषं सकलेषुवेशम् ।

धजेद् वजेषं शरणं परेषं

स व्येषेषेषं न समेति शेषम् ॥

एक प्रभालाभी देखना ही वास्तविक धर्म है

(तेजिक—प्रस्तुति संक्षिप्ती)

समस्त अद्वाचर जगत्‌में एक आल्या भर्तुलता का एक नयवादको देखनेवाला बर्द ही वास्तविक धर्म है। बस्तुतः एक आल्या का नयवादके अनिवार्य नाम उच्छरणी चतुर ही कहाँ है। बर्द देखना सीख लीजिये। नाम उपरको उच्चा देकर बाहर उपरको अभी नहीं देख राखिये। किनको देखना आपका परम धर्म है। जार तुक्को देख रहे हैं उपरको देख रहे हैं; न्युय दया पुक्को देख रहे हैं; न्यु उन उच्च उपरको अनुसूत आल्यको नहीं देखते। इन्हींने गुणाली भौति देखरें खाते इष्टपूर्वधर नक्कते निर रहे हैं।

स्थूलः न्युन और लालप द्वारा की पौशाक उत्तर दीजिये; लाग्नुः ल्यन और हुम्मुति अवस्थाओंको ल्यग दीजिये; जिस प्रबुचर जगत्‌में उच्च उच्च उपरको अनुसूत होने

लगें। वही आपका सच्चा धर्म है। आप निष्ठिक हैं; इन उर्मीये विद्या लवस्तुओंके साथ आपका वस्तुदः कोई उपर्युक्त नहीं है। आप निष्ठिक हैं—उन कर्ताओं ने न नम्बलेन-बाले हैं; न भस्तेवाले। ये सब तो उड हैं; आप चैदन हैं। चमी चैदन हैं। एक चैदन प्रभालाके स्विव अप्य कुछ है दी नहीं। आपकी आज्ञायक नाम उपरको पदो द्वारा है। इसी कारण रस्तीमें दौर दिखायी दे रहा है।

चद्यालाज्ज्ञा चरम्या ल्याकर देखिये। चद्य एक प्रभाला ही दिखायी देंगे। चर्वर जगत्-उपरमें एक प्रभाला ही नहीं है। उन्होंको देखिये; वही आपका ल्यरप है और यह ललनदर्शन ही धर्म है। सरे लालनांदा यही प्रकाश फूल है।

धर्म

(तेजिक—अौं लौ० छ०० लोहदर प००० प०००, स्फ॒क्तर० १०० प००० नदेद०)

वह वास्तविका मिश्य है कि वहीं विनिनाके पुरुषे हम आत्मनिक लोग दाहूजीवनकी स्तोत्रों डोकरें खाते, मिलेनहरे और भवकटे चिर रहे हैं; वहीं उच्छ्वासों वर्ष पुर्वी हमरे पूर्वजोंमें अन्तर्दृष्टि अन्तज्ञेया तथा वैतानिक सौंचेमें हलीं सौंहग हुदिके द्वय बालिगत रूपमें समाजके एक अहंके रूपमें एवं नयवादकी धार्ममैन दृष्टिके अन्तर्चान एक मिलुके रूपमें नामनंभदर्भी तथा उच्चवैष्णों बान लिया था। उन्होंने यह मी पक्ष ल्या लिया था कि वैष्णवों का अर्थ है; तीव्रता का न्यून है और इच्छा उच्चान उपर्योग का है उक्तवा है।

चद्यालाज्ज्ञी नींदर अप्यवा विनाके हमको पक्ष नहीं है। ऐसे ल्य-न्युपाके नींदर द्वारा द्वारा विनाके हुआ उनका पुल्लीभूत शान हसलोचोके पास देहोः उन्निदर्दोः वैदाङ्गोः, शाङोः एवं पुर्णोके रूपमें उपरा है जो नव्य-न्युपके उपर लौंगोंमें चक्रवौष्ठ उत्पन्न कर रहा है तथा जो याह हुदेनालके उत्पन्नते मी अधिक न्युयवान् है। वह वह वैदिक निष्ठि है विष्णो न सो रोन, न पूजन, न मिल, न ईर्ष्येन्द्रिय, न चीन, न ज्ञान, न पैदा, न

मेलिको या निती मी साथके अच्चीन तन बरने वैद्यवर्पोंके लिये छोड़ गये हैं।

इस निष्ठिके क्षेत्रमें संसारनरमें हमाप देश अतुल्यीय है। यदि कोई चाउ-एन-लाई या इकेड़, तुक्कों, न्यीर या हेलेसिलासी, लाई रेह अयवा तैलीकिन नैनउन या कैल्द्रोमे पूर्व—धर्म ल्या है? तो विवारजन हैकर अस्ते चिहुङ्को तुक्काते हुए वे कैदें—धर्म है अंका आहागज्ञा, पाद्याक्षिण देहमाति द्वं वैर गत्तन्त्रया।

किंतु इस प्रभाला उच्च दृश्ये हुक्कर वर्ष चले वैदेशमें चलन्त अकर्ते एवं गरजता हुई बासमें दिया गया था, जिन्हों दोहरे आज्ञाको हम कुछ नस्त ताम चैद कर लेना चाहते हैं। उन्होंने इस या—

धर्मो विष्वस्य जगतः प्रतिष्ठा

षष्ठोंके धर्मोन्म प्रजा उपर्युक्ति।

धर्मेण यास्तनप्सुदति।

धर्मे लर्य प्रदिष्टिद्यु।

तस्माद्वन्दं परम वद्विति॥

धर्म ही विष्णु का आधार है। सारी प्रजा धर्मनुयाकोंके द्वारा चूलेगी। धर्मों परमता उदय नहीं होता। धर्ममें सभी लोग प्रतिष्ठित हैं। इसीलिये धर्मको उपर्योग कर्त्ता नहीं होता है।

उन लोगोंने उसी धर्मको उथेहकर उसका विश्वेषण किया और समाजके विनियोग कर्तोंके व्यक्तियोंके लिये उदयके आवश्यक प्रभनिर्देश किया। नाम नितामें तो कुछ धर्म देखे हैं—चारधर्म, आर्यधर्म, हीरधर्म, कुरुधर्म, वर्दिधर्म, आनन्दधर्म इत्यादि।

उत्तरवर्णके भास्त्राय उपार्थकोंमें उपर्योग का आहरण शाम ज्ञालिदारके द्वारा उपर्योगके नियन्त्रित वर्णनकी विवरण अनुकरणीय है—

तोऽहमाज्ञान्तम्भुदानामाप्त्वोद्यकमंगम् ।
सालतुद्वितीयान्तानानाकर्त्यवर्तमान् ॥
वयदिविधिद्वितीयान्तां चशकामार्चित्तार्चितान् ।
वयावद्विधिद्वितीयान् चशकामार्चित्तार्चितान् ॥
त्प्रापाद सम्भूतार्चितान् कर्त्यवद मित्रभृतिगम् ।
द्वासौ विजिगीष्टूणो ग्रत्यै गृहनेवितान् ॥
शैशवेऽभ्यक्षविद्याकां वौद्वै विवर्चिषिगम् ।
वार्द्धके मुनिहृतीनां वौमेगन्ते तत्त्ववदाम् ॥

(खण्ड ४ । ५-८)

वे द्वितीय उपार्थके जन्मदे ही पवित्र होते थे, वे किसी कन्धको उठाते थे तो उसे पूज उकड़के ही छोड़ते थे। उनका राज्य उन्नुद्वयके इस पासे उच पारक कैला हुआ या और इन्होंने सीधे सर्ववक उनके रथ आपाजाया करते थे। वे ज्ञालामुखर दह करते थे, वे वास्तक को अनिन्दित रान देते थे, वे अवराधिगीतोंको अत्यरिक्तके अनुराग दह देते थे और वे अवतर देखकर काम करते थे। वे त्वाग करनेके लिये घन उठाते थे, उल्कों द्वारा लिये चहत कम दौलते थे, असना दह दहनेके लिये ही दुर्दे देशको जीद्वते थे और वे भोग-वित्तात्मके लिये नहीं दक्षिक चत्ताव उत्तम करनेके लिये विचाह करते थे। वे वत्त्वकालमें पढ़ते थे, तत्त्वार्थमें दर्शात्मके भोगोंको भोगते थे, उद्धरितें त्रुतियोंके उनान जंगलोंमें रहकर उपस्था करते थे और अन्तमें योगके द्वारा शरीरका परिस्ताग करते थे।

वा कोई और देश राजसंघका ऐसा विधान प्रस्तुत कर चक्रता है?

उपनिषदोंमें ज्ञातक विद्यार्थीका धर्म दक्षाय गया है। मुख उचको आदेश देते हैं—

सर्वं चद। धर्मं चर। स्वाम्भाव्यात्मा प्रभदः। लव्यस्त्र प्रसदितव्यस्। धर्मस्त्र प्रसदितव्यस्। कुशलाङ्ग प्रसदितव्यस्। भूर्यै न प्रसदितव्यस्। लालैदेवो भव। पिलैदेवो भव। भाचार्यदेवो भव। अर्दिपिदेवो भव। लाम्य-वरदानि कर्माणि तानि सेचितव्याणि। यान्यसाकृत्युच्चरितानि तानि स्वयोपास्यानि। जो इत्तराणि॥

(विंश्टराम० शंशान० ४७० ११)

सर्व चोर। धर्मका आवरण कर। स्वाम्भाव्यात्मे प्रसाद न कर। सर्वसे प्रसाद नहीं करना चाहिये। धर्मसे प्रसाद नहीं करना चाहिये। कुशल (कर्त्तव्य) कर्मसे प्रसाद नहीं करना चाहिये। ऐस्यद्वैतेन्द्रले माहात्म्यक कर्मसे प्रसाद नहीं करना चाहिये। तु भासांशो देवता (भगवान्) भास निवाको देवता भास वाचार्यको देवता भास, अतिथिको देवता भास। जो अनिन्द्य कर्म हैं उन्हींका तेजन कर। अन्य चाहु पुरुषोंके द्वारा आचरणका अनुकरण कर। दिसी कार्यके औचित्यमें तरेह होनेपर वैलों परिस्तिरिदें आदरणीय गुरुवाने कर करने, इनको जानकर वैला ही कर।

प्राचीन जात्यों लालजोंके लिये धर्मका यही विधान था। आज लालजोंके लिये धर्मस्त्र द्वीक्षात्मभासण होते हैं, किंतु उनमें किसी उपर्योगी उपदेशकी धारकी दोरोंमें सूझके उमन सोनवा पड़ता है।

धार्मिक उपदेशोंकी जान विधान स्वाम्भाव्यात्म्यमें एक रोचक कथा है, जिसमें नाना प्रकारके धर्मोंका विस्तृण किया गया है। कौरोंके नानधारी एक चत्त्वी व्रायामण एक दिन दोपहरके समय एक छायादार वृक्षके नीचे खड़ा था। अचानक एक पसीकी बीड़ उसके दिसर गिरी। इस गंदगीमें कुद्द झेंकर उसने रोकरी हड्डिसे झर देजा और द्वुला निशाम हीकर उचके चरणोंपर गिर पड़ा। इस इससे उत्तम हीकर उचके नाने अनुत्तम बगा और उसने द्वुलेकी आमाके लिये प्रार्थना की। पीछे वह मुनिनोकी उल्लीला गया, जहाँसे वह नित्य निजों संग लाया जत्ता था। एक बरके बाहर उड़े होकर आवाज उगायी—“देवि ! मिजा दो !

यहिणीने भीतरसे उत्तर दिया—‘महायज ! छहरिये ।’ किंतु दूसरे ही अग्र उसके पतिने उसकी मुकारा और उनकी सेवामें उसको कुछ समय ला गया । तत्पश्चात् वह किंचित् भोजन लेकर ब्राह्मणके पास शीघ्रतासे गयी । उसने क्रोधको रोककर उसकी ओर देखते हुए पूछा—‘तुमने मुझे क्यों छहरनेके लिये कहा और किर इतनी देर क्यों की । हुम्हे मालूम नहीं कि अपमानित ब्राह्मण मरानक शक्ति है ?’ यहिणीने उत्तर दिया—‘महाराज । मैं जानती हूँ । मैं वह भी जानती हूँ कि आपके क्रोधने वनमें अमागे बुलेकी जात ले ली । किंतु उसी प्रकार मुझे मृत्युके घाट नहीं उतारा जा सकता । मैं एक सती और धर्मनिरता हूँ । आपको छहरनेके लिये कहनेके बाद मुझे अचानक पतिकी सेवामें जाना पड़ा । पत्नीके लिये पति-सेवाके अतिरिक्त और सब कर्तव्य गौण हैं । इसीलिये मुझसे देर हुई । कृपा करके मुझे छमा कीजिये और अपने क्रोधका दमन कीजिये । महाशय । क्रोध मनुष्योंका शरीरनिहित शक्ति है ।

श्रुतियोंने कहा है—

जो कामक्रोधसे मुक्त हो मुका है, वही सच्चा ब्राह्मण है । जो सत्यवादी है, गुरुको आनन्द देनेवाला है, जो मार खानेपर उलटकर मारता नहीं, वही सच्चा ब्राह्मण है । जो जितेन्द्रिय है, धर्मपरायण है, स्वाध्यायनिरत, तन-मनसे पवित्र तथा कामक्रोधसे रहित है, वही सच्चा ब्राह्मण है । जो अध्ययन एवं अध्यापन करता है, जो यज्ञोंकी करता एवं करवाता है और यथार्थकि दान देता है, वही सच्चा ब्राह्मण है । ५

मान्यवर । मुक्तको संदेह नहीं है कि आप धर्म जानते हैं; किंतु धर्मकी गति बड़ी सूखम और जटिल है । यदि आप इसको ठीकसे जानना चाहते हैं तो मिथिलामें धर्मव्याधके

क्रोधः शक्तुः शरीरस्ये मनुष्याणां द्विजेत्रम् ।
यः क्रोधसोद्दी ल्पजति तं देशा ब्राह्मणं विदुः ॥
यो वदेतिर शत्यानि शुरुं संतोषयेत च ।
हिस्तिश्य न हिसेत सं देशा ब्राह्मणं विदुः ॥
जितेन्द्रिये धर्मपरः स्वाध्यायनिरतः शूचिः ।
कामक्रोधै बडे यस्त तं देशा ब्राह्मणं विदुः ॥
क्रोड्यापयेद्योदीत यज्ञे वा याज्येत वा ।
दशाद् वापि यथार्थकि तं देशा ब्राह्मणं विदुः ॥
(महाभारत बन० २०६ । ३२-३४, ३५)

पास बाइये और उनसे ठीकसे समझिये । मेरी बकवासको क्षमा कीजिये और विश्वास करिये कि मेरा अभिग्राय आपको रुष्ट करनेका नहीं था ।

कौशिक एक क्षणतक तो स्तम्भित होकर उत्तर अनुत्तर लीके सामने लटड़ा रहा, फिर बोलने लायक स्थितिमें आकर उसने निश्चल मनसे उसको धन्यवाद दिया और अपनी राद ली ।

तत्पश्चात् धर्मव्याधके प्रति उत्सुकता लिये हुए वह मिथिला पहुँचा और मांस-वाजारमें एक कसाईकी दूकानपर उनको मांस बेचते हुए पाया । हिचकिचाते हुए वह थोड़ी दूरपर लटड़ा हो गया । उसे देखकर धर्मव्याध शीघ्रतासे उसके पास गये और अभिवादन करनेके पश्चात् बोले—‘स्वागत है, मान्यवर । मैं जानता हूँ, आप भक्तिमती महिलाके आदेशसे पधारे हैं । मैं यह भी जानता हूँ कि उन्होंने क्यों आपको मेरे पास भेजा है । कहिये, मैं आपकी क्या सेवा कर सकता हूँ ?’

दूसरे बात जाननेकी इस दूसरी घटनापर ब्राह्मण चकित रह गया और धर्मव्याधके साथ उनके घर गया । वहाँ उसे आदरसहित आसन दिया गया । आरम्भमें ही ब्राह्मणसे यह पूछे गिना नहीं रहा गया—‘मैं इस बातका मेल नहीं लेता पा रहा हूँ कि आपके समान आध्यात्मिक उपलब्धिवाला अस्ति ऐसा गहित व्यापार करे ।’ धर्मव्याधने उत्तर दिया, ‘महाशय ! मैं धर्मपूर्वक अपने व्यापारका पालन करता हूँ । मैं किसी प्राणधारीकी हत्या नहीं करता । मैं मांस लेकर उसे ईमानदारीके साथ बेच देता हूँ । मैं अधिक दाम नहीं लेता । मैं सत्य बोलता हूँ, किसीको धोखा नहीं देता, किसीको मरता नहीं और न देनेसे अचूचि रखता हूँ । मेरे माता-पिता, जिन्होंने मुझे जन्म दिया और वहा बनाया, युद्ध हो चुके हैं; मैं कर्तव्य-परिवर्णनाके साथ उनकी सेवा करता हूँ । जो कुछ मैं कर्माता हूँ, उसे भावान् और मनुष्योंकी सेवामें लमा देता हूँ । अपने लापर केवल योषांश ही व्यय करता हूँ । मैं मांस नहीं खाता । मैं दिनमें उपवास रखकर केवल यज्ञमें एक बार भोजन करता हूँ । कोई व्यापार तभी गहित है, यदि वह किसीको नीचे निरा दे । यदि धर्मपरायण व्यक्ति धर्मपूर्वक कोई व्यापार करता है तो व्यापारकी बख्तरे कुछ बनतानियोगदाता नहीं । यही कारण है कि अपने पूर्वजोंके मांस बेचनेके व्यापारको मैंने भी अपना रखदा है ।’

धर्मव्याख्यके प्रभावपूर्ण विवेचनसे मुख होकर कौशिकने उन्हें धन्यवाद दिया और धर्मके गृह तत्त्वोंसे अवगत करनेके लिये उनसे प्रार्थना की । कई अध्यायोंमें समानेवाला धर्मव्याख्या धर्मके उपर प्रबन्धन सुनारात, ईसामसीह अथवा शुद्धके मूँहसे भी सुना जा सकता है; किन्तु धर्मव्याख्यके ये उपदेश हैं उनसे सहजों धर्म पूर्वकर्ता ।

महाभारतके वहूमूल्य आनुशासनिक पर्वमें शब्दायर पढ़े हुए भीष्मसे शुधिष्ठिर पृच्छते हैं—

को धर्मः सत्त्वधर्माणां भवतः पस्तो मतः ।
कि जपन्मुद्धयते जन्मुज्ञन्मसंसारवन्धनात् ॥

(१४९ । ३)

‘पूर्ववर ! आपकी हाथियों सब धर्मोंमें कौनसा धर्म सर्वश्रेष्ठ है ?’ और भीष्म उत्तर देते हैं—

एष मे सर्वधर्मोणां धर्मोऽधिकतमो मतः ।
यद्युभक्त्या पुण्डरीकाक्षं सत्त्वर्थेन्द्रः सदा ॥

(१४९ । ८)

‘मुझके स्थान, सबके पालक और सबको क्रोडीकृत करनेवाले भगवान् पुण्डरीकाक्षका एकान्त निश्चापूर्वक निरन्तर स्वाम करनेको ही मैं सबसे बड़ा धर्म मानता हूँ ।’ और ज्ञानके सागर महर्षि व्यासके अनुसार—

सर्वांगमानामाचारः प्रथमं परिकल्पते ।
आचाराभवो धर्मो धर्मस्य प्रभुरुच्युतः ॥

‘सभी आगम-अन्य आचारको प्रथम स्थान प्रदान करते हैं । आचार ही धर्मका आधार है और धर्मके स्वामी हैं अविनाशी भगवान् ।’

गुरु स्नातक शिष्यको आदेश देता है—‘सत्य वद ।’ (सच बोलो ।) किन्तु सत्य क्या है ? इसपर एक ज्ञान-सम्पन्न प्रत्यक्षि कहते हैं—

सत्यं धूयात् प्रियं द्रूपान्नं शूयाद् सत्यमप्रियम् ।
श्रिये च मातृत्वं धूयादेष-धर्मः सनातनः ॥

सत्य एवं मिथ वचन बोलना चाहिये । अप्रिय सत्य नहीं बोलना चाहिये । प्रिय किन्तु अवश्य भी नहीं बोलना चाहिये । यही सनातन धर्म है ।

इसका अर्थ हुआ—अप्रिय सत्यवादन भी अधर्म है ।

भगवान् चासुदेवने कहा है—

द्वौकाद्यैन ग्रवक्षयामि यदुवतं मन्यकोटिः ।

परोपकारः पुण्डरीक पापाय परमीडनम् ॥

धर्म अं० ८७—*

करोड़ो अन्योंमें जो कहा गया है, उनको मैं आधे ललोकमें बता रहा हूँ । परोपकार ही पुण्य है और परमीडनका ही नाम पाप है ।

धर्मके विभिन्न विविध स्वरूप हैं और उनमें कुछ परस्परविरोधी भी हैं । वस्तुतः सात रंगोंसे बनी हैनेपर भी इतेव दीखनेवाली सर्वकी रक्षिती धर्मकी भौति धर्मकी गति भी कही गहन और अटिल है । भगवान्के द्वाया नियुक्त वेदोद्वारा उद्घोषित इस देशके अनेक माक्षर और रसोंसे भिन्न ज्ञान-सम्पन्न विचारकोंने युग-युगमें धर्मको संगठित और व्यवस्थित करनेकी चेष्टा की है । उनके नाम हैं—मनु, पराशर, यशवल्क्य, आङ्गिरा, वीधायन, आपस्तम्भ, नारद, आश्वलायन इत्यादि । सहजान्वयैक इनके धर्मशास्त्रोंकी व्याख्या की गयी एवं उनका संकलन-सम्पादन हुआ ।

यदि इस देशकी अधिकांश जनता धर्मप्राण न होती तो अरजकता फैल गयी होती और हमलोग अप्रीकाकी लिसी जंघली जातियों अच्छे नहीं होते । किन्तु इस देशके लोगोंकी अन्तश्चेतनामें अब भी धर्म सो रहा है । वह यहोंकी धरती और आकाशका अङ्ग बन गया है । यह उस धूषके समान है, जो वस्तन्में खिलता और पतशब्दमें मुरझा जाता है । प्रायः इसकी शाखाओंको अनाचारी तोड़ डालते हैं और इसकी जड़ों कीड़े खा जाते हैं । पुनरज्योगित करनेके लिये इस धूषको भी सेंधालकी व्याययकता पड़ती है ।

इसीलिये भगवान्ने श्रीता (४ । ७) में कहा है—

यदा यदा हि धर्मस्य गतिर्भवति भारत ।

अभ्युत्थानमधर्मस्य तदाऽऽरमानं सृजन्यहम् ॥

‘हे भारत ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी चुद्धि होती है, तब-तब मैं धर्मने रूपको रचता हूँ अर्थात् प्रकट होता हूँ ।’

जब हमको पता चलता है कि आजके पहले ही नौ अवतार हो चुके हैं, तब यह सप्त ही जाता है कि धर्मका हास्त हमारे ही सामने पहली बार नहीं ही रहा है । इसका उतार-चढ़ाव भूतकालमें भी ही चुका है और अब वर्तमानमें यह फिर शायद उतारपर है; परंतु पूर्वकी भौति अब भी इसकी चिनगारी धर्मप्राण, हड़, कियादील व्यक्तियोंकी अस्ति, छूट्य और मानसमें छिनी है, जो उस धावन पावकनो पुनः प्रज्वलित करनेये खूबेंी नहीं ।

चालीस करोड़ नर-नारियोंमेंसे प्रत्येक धर्मकी मूर्ति

नहीं वन सकता । परंतु उनमेंसे कुछ आदमी तो ऐसे होने चाहिये, जो राष्ट्रके हृदयस्थानीय हों, जो धर्मकी धाराको इसकी रक्षाहिनियोंमें मैजते रहें, जिससे विकृतियोंके उपरान्त भी राष्ट्र बीत्तित रहे ।

कहाँ इस मूर्खतासे यह न मान लें कि कुछ खार्थ-साक्षक, अहंमन्य अद्वैताश्रित अल्पश व्यक्तियोंसे वनी हुई वालकी खाल निकालनेवाली धारासभाके द्वारा लोगोंके ऊपर विधानके रूपमें जो कुछ लादा जाता है, वही धर्म है । हमारे ऋषि अधिक समझते थे । वे धर्मको मनुष्योंके कस्ताणके लिये भगवान्का वनाया हुआ भानते थे । समहादारीया शोड़ा भी दावा करनेवाला व्यक्ति इसे अखोकार नहीं कर सकता ।

किसी निर्मल शरिको सिर उठाकर ऊपर देखनेपर हम करोड़ों मील दूरसे सहस्रों नक्षत्रोंकी हिलमिलाते हुए पायेंगे । हमारे विश्वासप्राप्त वैज्ञानिकगण कहते हैं कि सभी नक्षत्र दूर हैं । हमारे अपने सूर्यसे अनेकुना चढ़े हैं । वे नहाँपर करोड़ों वर्षोंसे निरधार निश्चित, निकल्प अक्षय बने रहे हैं । मैंनपर रक्षी हुई संगवरमरकी गोलियोंकी भाँति उनमें व्यवस्थानिहीन छड़क-पुढ़क कर्तों नहीं मचती । कौन दैवी व्यक्ति ऐन्जालिक या जादूगर उनको अपने-अपने खानपर रोके हुए है ? नथा सारी भानव-जाति एक साथ लगकर उनको तिनके भर भी हठा सकती है । कभी नहीं ।

फिर यदि हम कहें कि सुविस्तृत अनवगाया, अचिन्त्य और विशाल नक्षत्रोंको भगवान्का वनाया धर्म थामे हुए है तो क्या इसे 'अन्धविश्वास' कहा जावगा ६ नहीं । वैदिक ऋषियोंने यशी वात सहस्रों वर्ष पूर्व हन वृद्धोंमें कही थी—'धर्मो विश्वस जगतः प्रतिष्ठा' (अखिल ब्रह्माण्ड धर्मपर अवस्थित है ।)

धर्मके निकट पृथ्वीलाई वही गेंदको देखें । क्या पृथ्वी और ललका वह एक विकिय दलदल भर है ? वैज्ञानिक है सूर्योंकी परिसरा करनेवाला एक पिण्ड बताते हैं । सबा भी करोड़ मील दूर वसनेवाला वह अद्भुत सूर्य, लट्टू नचारेखाले पाठशालाके विद्यार्थीजी भाँति, पृथ्वीकी बटोंमें हजार भीलकी चाल्हे नचा रहा है और सालभरमें एक चक्र कदाता हुआ इसे अपनी ओपर एक दृश्यमें चक्रकर करा रहा है । निरक्षा व्याप साढ़े अठारह करोड़ मील है । करोड़ों-करोड़ों वर्षोंसे वह खेल चल रहा है और भगवान् ही जाने कश्तक चलता रहेगा । वह लड़का उदा खेलता ही

रहता है । कभी पढ़ता नहीं । वडा दुष लड़का होना चाहिये सूर्यको ।

किस लौहरज्जुसे पृथ्वी और सूर्य बैंधे हुए हैं ? क्यों नहीं पृथ्वी भुवन-प्रदलके गत्तमें गिरकर बिल्लीन हो जाती ? यदि सूर्य इसे खोन्च रहा है तो सबा नौ करोड़ मील वूरपर ही यह क्यों ठहर गयी ? क्यों नहीं, वह सूर्यकी ओर दौड़कर उसमें ल्प हो जाती ?

क्योंकि सूर्य और पृथ्वी दोनों भगवान्के बनाये धर्मका अनुसरण कर रहे हैं । भगवान्प्रबन्धके बाद अन्तरिक्षपौत्र या अन्तरिक्ष-न्यायीजी ऊपर भैजकर आज हमारे वैज्ञानिक फूले नहीं सभा रहे हैं । भगवान्के द्वाय निर्मित और चालित बुविस्तृत, असीम, अचिन्त्य, अननगाय ब्रह्माण्डलाई विस्पकारी एवं अवर्णनीय अद्भुत बत्तुकी तुलनामें यह सब कुछ कितना दुर्लभ और बालोचित है !

इस विश्वाल ब्रह्माण्डको भगवान् कैसे चलते हैं ? उत्तर है—'धर्मके द्वाय ।'

यह हमारे पूर्वजोंके लिये गौरवकी बात है कि उनके पास वह जान, वह प्रकाश, वह कल्पना थी, जिससे उन्होंने ब्रह्माण्डकी विश्वालताको जाना, स्थानी महिमाको पहचाना और उन्हें अपनी अजब अद्वैत-धर्मकि समर्पित की ।

उन्होंने समझा कि जब एक नगरका निर्माण करनेमें, एक इस्यातका कारणाना रद्दा करनेमें, जलविद्युतकी योजना दनानेमें परिषक मस्तिष्कोंकी सावधान विद्येचना और प्रथलकी आदेशकता पड़ती है, तब किसी निष्णात मस्तिष्क, सद्यसे वडे निष्णात मस्तिष्कसे इस सुविश्वाल ब्रह्माण्डको रचा होगा, जिसमें भीमकाय नक्षत्र हैं, तराशाण हैं, भ्रह हैं, उपग्रह हैं और सब अपने पथको बिना इधर-उधर हिले आकासे रत बढ़ताके साथ पकड़े हुए हैं ।

इस प्रकार यदि भगवान्का धर्म ब्रह्माण्डको बौधे रखकर उसको नियन्त्रणमें रखता है तो स्वामविक बात है कि भगवान्का बनाया हुआ मनुष्योंके लिये भी कोई धर्म होगा । हमारे महर्घियोंने उस धर्मका दर्जन करनेकी चेष्टा की है और अपने साथी मनवोंके लिये धर्मदृष्टों और धर्मशालोंमें उसकी व्याख्या करनेका प्रयास किया है और जनतामें उसका प्रचार करनेके लिये सुन्दर संसीतमय एवं नीतिमय पुराणोंकी रचना की है ।

शक्तिशारी किसी दल अथवा संघके द्वारा अधाधुंध

रूपसे स्वार्थमें भरकर या निरहुद्यारूपसे लादे हुए विधानका हम विरोध कर सकते और छल-वलयसे उसके परिणामसे मी चंच जा सकते हैं; किंतु यदि हम भगवान्के धर्मका विरोध करेंगे तो हम हिरण्याभ, हिरण्यकशिषु, राक्षण, हिंडिम, वक, कंस वर्नेंगे और उनकी ही गति भोगेंगे।

सबको छोड़कर देवल हमारे ही मुद्राद्वारे सत्यको समझा है और पीछे आनेवाली पीढ़ीयोंके लिये उसकी इहानी सुन्दर प्रभावोत्पादक, विशद एवं परिश्रमपूर्ण व्याख्या की है। प्रत्येक पीढ़ीको उस ज्ञानको एक पवित्र धरोहरके रूपमें प्रहण करना चाहिये और आगामी पीढ़ीके सीकारोत्सुक हाथोंमें रख देना चाहिये; किंतु मूर्खतासे लादी हुई विदेशी शिक्षा यदि किसी पीढ़ीमें उचित विनष्ट और विश्वासके साथ उसे प्रहण करनेकी क्रियाके प्रति अवश्चि पैदा कर देती है तो वह पीढ़ी नष्ट हो जायगी तथा मार्त्त्व, लेभिन एवं उनके जैसे व्यक्ति उस विनाशको और जट्ठी बुला लेंगे।

उर्ध्वीके विषमें उपनिषदोंमें कहा है—

अविद्यायामन्तरे धर्त्तसानाः

स्वर्गं धीराः पण्डितस्मन्यमानाः।

इन्द्रस्यमानाः परियन्ति सूडा

अन्धेनेव नीयमना यथानधाः ॥

(कठ० १ २ । ५)

‘ये अविद्याके भीतर रहनेवाले, किंतु अपने आप वहे बुद्धिमान् बने हुए और अपनेको परिषत् माननेवाले मूँह पुरुष, अंधेरे ही ले जाये जाते हुए अचेके समान अनेकों कुटिल मतियोंकी इच्छा करते हुए मटकते रहते हैं।’

और शीता (१६ । २१-२२) में भगवान्की वाणी कहती है—

निविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।

कामः कौषलस्था लौभक्षस्यादेतत्त्वयं त्यजेत् ॥

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय लमोद्वारैऽस्मिभिरुः ।

आचरत्यात्मनः श्रेयस्तो शासि परां गतिम् ॥

काम, कौषल तथा लोभ—ये तीन प्रकारके नरकके द्वार आत्मका नाश करनेवाले हैं अर्थात् उसे अधोगतिमें ले जानेवाले हैं; इससे इन तीनोंको त्याग देना चाहिये। हे अर्जुन ! इन तीनों नरकके द्वारोंसे मुक्त हुआ पुरुष अपने कल्याणका आचरण करता है। इससे वह परमगतिको जाता है अर्थात् सुख भगवान्को प्राप्त होता है।’

अधर्मरूप आधुनिक धर्मसे सर्वनाश

(देवक—स्वामीजी श्रीजगदामदेवजी महाराज)

आज मनुष्य धौतिक विकासके चमत्कारते हुए रंगीन रंगमंडोंमें प्रवैशा करके स्वयं ऐक्यर बनकर आनन्द धोगता चाहता है। किंतु परिषामका विचार न करके वह विमुङ्ग हो रहा है, अतः अन्तमें उसे अन्धकार एवं घोर पतन प्राप्त होता है। जब प्रवैश ऊँकरे लगती हैं, तब दुष्टि ठिकाने आती है। देवल बाहा रूप-रंग सुन्दर देखकर मिठाई खा लेना ही बुद्धिमानी नहीं है—उसकी परीक्षा करके उसके परिणामस्वर विचार करना ही चाहुर्य है। यदि उस पिठाईमें विष मिला हुआ हो तो परिणाम क्या होगा ? रूप सुन्दर नेंद्रोंको सुख देगा, स्वामेषे दृष्टि होगी; किंतु अन्तमें उस पिष्का जब प्रभाव होगा, तब वह प्राणान्त कर छलेगा। इसीलिये आजके रहन-सहन एवं कर्त्तव्योंपर विचार करनेकी आवश्यकता है।

सहशिक्षाके दुष्परिणाम

ग्रन्थीन समयमें भारतवर्ष मयोद्याभालनपर जोर देता रहा। स्त्रियाँ अपने पतिको छोड़कर दूसरेको देखना था उससे वातचीत करना भी पसंद नहीं करती थीं।

लङ्घकियोंको यूर्ण नियन्त्रणमें रखता जाता था। जियोंकी स्वच्छन्ता देनेसे वे वहक जाती हैं—जिमि स्वतंत्र होइ पिगरहि नारी। कुसङ्क्षेपे भन निश्चय ही विगहसे छलता है—आगको पाप घीकी रखतोंगे तो वह पिवलेगा ही।

कुछ दिनोंसे लङ्घकियाँ और लङ्घके साथ पदाये जाने लगे। जबान लङ्घकियाँ सच्छन्द होकर उनसे बातें कहने लगीं। किसने ही मालदर ऐसे होते हैं, जो लङ्घकियोंसे हाथ्य-विनोद करते हैं। कितने व्याधन-मालदर लङ्घकियोंके साथ दुर्घावर करते पकड़े गये हैं। उधर जबान लङ्घके भी अंग्रेजी शिक्षा-प्राप्तकर निरहुश हो ‘धर्म-धर्म तुङ्ग नहीं’ ऐसे कहते हुए आन्धरण्ड्रघृष्णीमें ही अपनी समस्त उन्नति माम बैठते हैं। आसके होकर कन्याएं भी दिन-रात असदृचिन्तनमें धरवालोंको बैरी बना लेती हैं।

इस दुराचारके परिणाम-खलप ऐसी सैकड़ों धटनाएँ जहाँ-तहाँ ही रही हैं, जिनके घर्षणसे इदय काँप उठता है। लोग सत्य और धर्मको त्याग रहे हैं। उसके बदले दुष्कर्मोंको सरीद-

रहे हैं; जिसका परिणाम भयंकर घण्डके रूपमें भोगना पड़ता है। अभी हालमें ही एक सद्गुरको लकड़ा हो गया। भयंकर कट पा रहे थे। जबानीमें ही तड़प-तड़पकर मरे थे। मैंने उनसे पूछा था कि ‘आप तो बहुत सच्चे व्यक्ति हैं; आपको इतना कष्ट कैसे मिल रहा है?’ उन्होंने बताया—‘मैं कालेजमें जब पढ़ता था तो एक कालेजमें आनेवाली लड़कीसे मेरा प्रेम हो गया। उसके धर्म रह गया। जब वच्चा हुआ तो उसने मुझे बुलाया कि मेरी इज्जत बचाओ तो मैंने ही अपने हाथोंसे वच्चेको मारकर उसे जमीनमें गाड़ दिया था। अब यह उसी पापका फल है कि मुझे जीते ही नरक भोगना पड़ रहा है।’ धोर कष्ट पाकर वे मरे। इस प्रकार कितने ही नित्य हत्याकाष्ठ हो रहे हैं। मनुष्य छिपकर पाप कर लेता है, परंतु सर्वदृढ़ी परमात्मा उसका भी दण्ड समयकर किसी-न-किसी रूपमें अवश्य देता है।

इसलिये भारतवर्षकी यदि वास्तविक उचिति चाहते हैं तो लड़की-लड़कोंको ब्रह्मचर्यकी शिक्षा देना आवश्यक है। वचनसे ही ब्रह्मचर्य नए होनेके कारण लड़की-लड़के निस्तेज हो जाते हैं। भविष्यमें भीम-अर्जुनसे बलवान् कैसे हो सकते? शिक्षा ही बालकोंको बनाने और विगड़नेवाली होती है। प्राचीन समयमें तपस्वी ऋषियोंके अश्रममें जाकर पचीस वर्षतक पूर्ण ब्रह्मचर्य धारणकर बालक शिक्षा ग्रहण करते थे। वे जब दर आते थे, तब पूर्ण जानी, बलवान्, अमर चहकायोंमें दक्ष होकर संसारमें सुधार प्राप्त करते थे।

जिसमें ब्रह्मचर्यका बल नहीं है, वह न संसारके कार्य दुचादलप्से धला सकता है, न परलोकके लिये साधनमें सफल हो सकता है। इसलिये ब्रह्मचर्यकी रक्षाके उपाय करना सबके लिये आवश्यक है। गीताप्रेसदे प्रकाशित पुस्तक—‘ब्रह्मचर्य’ अवश्य पढ़नी चाहिये। प्रत्येक बालकको देसी पुस्तकें पढ़नी चाहिये।

सिनेमा

इसी प्रकार सिनेमा जो भनोरुक्तनका प्रधान साधन बना जाता है और जिसका विसार अरथकी अनिके समान अत्यन्त दीप्रदादेह हो रहा है, सार्वत्रिक चरित्र भ्रष्ट करनेका एक प्रधान साधन है। सिनेमा मानो आकर्षक मीठे विषयकी बहु प्रबल धारा है, जिसमें पहङ्कर सारा समाज चिप्पन्जर द्वे चरित्र-विनाश-सामग्री और तेजीसे बहा जा रहा है। चड़े संतापकी बात तो यह है कि पण्डित-मूर्ख, धनी-निर्बन्ध,

मालिक-मजदूर, सरकारी-वेस्टर्नरी, आवालवृद्ध-चनिता उभी इसकी अनिवार्य दासतामें फँसकर हरपर्के साथ अपना पतन कर रहे हैं। कुण्डे भौंग पड़ी।

सिनेमा विलक्षुल नहीं देखना चाहिये। कुछ शिक्षाप्रद सिनेमा देखनेकी इच्छासे लोग जाने हैं; परंतु प्रत्येक फिल्ममें कुछ-न-कुछ कामोन्जक सामग्री रहती है। नृत्य, शूस-विलास न हो तो मनवले लोग पसंद ही नहीं करते। इसीसे धार्मिक चित्रोंमें भी ऐसी चीजें दिखा देते हैं कि निरुम मन स्वराव हो जाता है।

साहित्य

गदे उपन्यास, कहानियाँ आदि आधुनिक साहित्य ऐसा निकल रहा है कि जिसे पहङ्कर सदाचारी व्यक्ति भी विश्वलोकुप बन जाता है। भारत-सरकारको ऐसे साहित्यके प्रकाशनपर रोक लगानी चाहिये।

आधुनिक रहन-सहन तथा स्थान-पान

आजके पहङ्किये कहसुनेवाले बहुतसे लोग माताको माता तथा पिताको पिता कहनेमें भी लजित होते हैं। नमस्कार करना तो असम्भवा समझते हैं। यहाँतक कि पिताको वैद्यकृ तक कहते सुना गया है। हमारे एक मित्रने अपने लड़कोंसे सहस्रसहस्र रुपये लच्चे करके पढ़ाया और विलायत मेजा। विलायतसे वह एक छेड़ी ले आया। उससे शादी भी कर ली। जब यमर्ह आया तब वहाँ आते ही उसको उच्चकोटिकी डिग्री मिलनेके कारण नौकरी भी मिल गयी। फिर वह पितासे मिलने कमी अपनी जन्मभूमिमें गया ही नहीं। पिता स्वयं यमर्ह उसके पास मिलने गये तो पिताका निरादर किया। पिता दुखी होकर सौंठ आये। फिर पिताने पत्र लिखा तो कहं महीने बाद उन्होंने पत्रका उत्तर्याद्यं न देकर कड़कसे लिखाया दिया कि ‘साहचकी पत्र लिखनेका अवकाश नहीं है।’ वह है आजकलकी सम्यता! माता-पिता रोमीटकर बैठ रहे। भगवान् धीराम कथा करते थे, जरा उनका आदर्श धर्म देखिये—

प्रातकाल उठि करि रघुनाथ। महु पिता गुरु नामहि मथा ॥

पिता आदि गुरुजनोंको नित्य प्रणाम करनेसे—आशा-पालन करनेसे पुक्रकी आयु, विद्या, बल और क्षीरि बढ़ती है। भगवान् राम पिताके बचनपर राज्य स्थानकर जौदह बधके

लिये बनको चले गये। उस आदर्शको लागकर आजका नवयुवक अपने पैरोंमें अपने-आप कुख्याती मार रहा है। रहन-रहनकी बात बहुत ही विगड़ चुकी है। खड़े-खड़े पैशाच करनेमें लोग सम्भवा समझने लगे। यह बहुत खराब आदत है। पैशाचके छाँटि उछलकर पाजामे या भोतीपर पड़ते हैं। इस तरह खड़े होकर पैशाच करनेवाले सब अशुद्ध होते हैं; उनके पास बैठना, उनकी दूना दोषरूप है। एक दिन घाजारमें एक सद्गुर दीवालके सहारे खड़े पैशाच कर रहे थे; वे सिगरेट भी पीते जाते थे। उनका स्थान दूसरी ओर था। दीवालसे लगकर उछलकर उनका पैशाच उनके पाजामेपर पड़ रहा था। पाजामा भौंग गया। पिछे वे आकर सामने बात्तनालयमें बैठकर अस्तर पढ़ने लगे। जाहेके दिन थे। पाजामा कुछ ठंडा लगा तो उन्होंने दोनों हाथोंसे बहापर पाजामा निचोड़ा। यों पैशाच निचोड़कर फिर उन्हीं हाथोंसे वे अस्तर पढ़ने लगे। पक्षात् आकर बिना हथ धोये ही नमकीनचाट खाने लगे। इस प्रकारकी अशुद्धि अज्ञ प्रगतिके या सम्भवाके नामपर धर्म बन रही है और शुद्धताको ढोंग बताया जाता है। अतः 'कल्याण' पढ़नेवाले सभी बन्धुओंसे मेरा निचेदन है कि वे आजसे इस दूषित आदत-को ल्याकर दूसरोंको भी इस कार्यसे मना करें और बैठकर सानभानीसे ऐसे पैशाच करें कि ऊपर छाँटि न पड़ने पायें। अपवित्र रहनेसे मन ईश्वर-चिन्तनमें न लगकर तमोगुणी बन जाता है।

ऐसे ही दूसरोंका जूळा खानेये, अशुद्ध तामसी चीजें खानेसे मनमें आसुर-भाव उत्पन्न होता है। लोग जग-जरा-सी धातुपर क्रोधित होकर लहजे लग जाते हैं, शाली देते हैं, मारपीट करते हैं, मुक्कदमे चलाते हैं। इसका कारण, एक प्रधान कारण अशुद्धतासे रहना और अशुद्ध भोजन करना है। बिना भगवान्को भौंग लगाये, पशुकी तरह जो भिला सो खा लिया। इससे बुद्धिका बिनाश होता है। प्राचीन कहावत है—

जैसा अन्न वैसा मन। जैसा संग वैसा रंग॥

होटलोंमें चाय पीना, भोजन करना महान् दोषरूप है। वहाँ बर्तन टीकसे धोये नहीं जाते। एक होटलमें लिखा था—'शुद्ध वैष्णव भोजनालय'; किंतु परीक्षाके लिये उसमें हमारे एक मित्र गये और उन्होंने कहा—'हम लद्दुन्नप्याज

खाते हैं।' तो होटलवाले कहा—'वह भी तैयार है, दो तरहका लाग हम बनाते हैं।' मित्रने पूछा—'क्या मांस चौराह-का भी प्रबन्ध हो सकता है?' होटलवाले कहा—'भीतरके कक्षमें वह सब तैयार है, आप चले जाइये।' भीतर भी मैज, कुर्सियाँ पड़ी थीं, लोग अण्डे-मछली-भांस सब खा रहे थे। यह दशा है आज होटलोंकी। उनको वैसेसे मतलब है—। धर्म-अधर्मसे क्या लेना-देना? इसलिये शुद्ध भोजनके अभावसे बुद्धि मालिन रहती है। इसीसे काम-क्रोध विद्वान्स्तरसे उत्पन्न होते हैं। अतः होटलोंमें कभी नहीं खाना चाहिये। अपने घर शुद्धतासे बनाकर तुलसी डालकर भगवान्को समर्पित करके तब खाना उचित है। देसा भोजन करनेसे मन आनंद रहता है, बुद्धि निर्भल रहती है और ईश्वर-चिन्तनमें स्थिरता आती है। इस प्रकार अनेकों वातें रहन-रहनमें विगड़ी हुई हैं। अनेकों अपराध करके लोग अधर्म कमा रहे हैं। पापोंको ही धर्म समझ रहे हैं। सुख चाहते हैं, पर करते हैं अधर्म—'सुख चाहिए भूमि न धर्म रता।' यह बुद्धि विपरीत होनेका ही फल है। लोग अपनी विपरीत बुद्धिको ठीक समझ रहे हैं—धर्मकी ढोंग समझते हैं, यही आसुर भाव है। जिसका फल चिन्ता, दुःख, अशान्ति और नरक है।

अतएव इस अधर्मसे आधुनिक धर्मका परिणाम निश्चय ही सर्वनाश होगा। संसारमें धर्मसे ही मनुष्य-जन्म मिला है। यदि अब अधर्मका बीज बोथेंगे तो दुःख-ही-दुःख आगे मिलेगा। मनुष्य-जन्म तो हो ही नहीं सकता। पशु-पक्षी आदि योनियोंमें भी निकृष्ट योग्य मिलेगी और नाना प्रकारके कष पाने होंगे। मगवान्से कहा है, 'आसुरो प्रकृतिवाले मूलोंको जलम-जन्ममें कामुकी योनिकी प्राप्ति होती है। तदमन्त्र उन्हें नरक भोजन पहता है। भगवत्पासि तो होती ही नहीं।' (मीता १६। २०)

इसलिये अपने प्राचीन महापुरुषोंके बताये सनातन-धर्मके मार्गपर चलना ही सर्वश्रेष्ठ है। इस छोटेये लेखमें क्या-न्या लिखा जाय—यह दिव्यर्द्धनमात्र है। इसीसे सब रहस्य समझ जायें। अपने समस्त आचरण मुधार लें। पवित्र, सत्त्वगुणी जीवन सुखमय होता है। धर्मवान् पुरुषोंको सर्वत्र सुख-ही-सुख मिलता है।

तिमि सुख संपति बिनहि बुलाएँ। धर्मसील वहि जहि सुमारँ॥

विश्वास-धर्म—भगवान्का प्रत्येक विधान मङ्गलमय

भगवान् सब प्राणियोंके सहन सुदृढ़ हैं। उर्द्धशान्तवत्तर हैं और सर्वशक्तिमान् हैं। अतएव उनके दयापूर्ण निवाचनमें जीवोंके लिये कल्पनर्त्तकों जो कुछ नियान किया जाता है, सब उनके कल्पणके लिये होता है; कर्मोंके भगवान् सुदृढ़ हैं वे अहिंस कर नहीं सकते, तब उचित होता है; कर्मोंके दानस्वरूप भगवान् जानते हैं कि कौनसे कार्योंने इतका वास्तविक कल्पण होगा। और तब यूरा होता है; कर्मोंके उर्द्धशक्तिमान् भगवान् सब कुछ करनेमें समर्थ हैं। अतएव विश्वासी भक्त प्रत्येक परिस्थितिमें प्रत्येक परिणाममें मङ्गलमय भगवान्का कल्पण-विधान समझकर प्रटन्न रहता है, उनकी अग्र अहैतुकी हुआका—उनके अनन्त सौहार्दका अनुभव करता और परम प्रतन्न रहता है, उसे प्रत्यक्ष मङ्गल दिखायी देता है। वह अतुकुछ भजने ही नहीं, प्रतिकूल-कैश्चिकूलमें भी भगवान्ही हुआ देखकर निर्विकार रहता और एकान्त आनन्दका अनुभव करता है। प्रत्येक अपमान, तिरस्कार निन्दा, धननाश, विवेच-प्रिय वस्तुके चिनाव तथा अन्य दोष नुस्खे—उन्हींमें उमानलनमें प्रतन्न रहता है। किसी भी स्थितिमें उसका निशास जप भी नहीं हिलता।

भक्त नरसीनीके एकमात्र पुत्र था। वहा प्रिय था। भगवान्के मङ्गल विवाहे उसकी मृत्यु हो गयी। नरसीनी-को शिवायी दिया—ऐरे भनमें पुत्रमोह था। मैं इस भोगमें भगवान्होंने उन्हींकी भूल जाता था। यह एक बाधा थी



मज्जमें। भगवान्होंने हृग करके इन बाधाको दूर करके मेरा बड़ा मङ्गल किया। उहोंने भगवान्नामकीर्तन करते हुए गाया—
मूँ श्वूँ रे मैरी जंज़क। सुखेयी मज्जुं श्रीगोपाल ॥
दहुत अच्छा हुआ, जंज़ल दूट गया। अब लुकाने निर्वाच श्रीगोपालका भजन करता ॥

प्रभुका प्रत्येक विधान मङ्गलमय

वगमें जो कुछ भी है मिलना—कर्तिं जीर्णि, जान-अपमान ।
चन-दार्दिध, शुभाशुभ, विष-जश्व, सुख-नुख, लाभ-नुक्लान ॥
जन्म-हत्य, आरोग्य-रोग, लक्ष ही निश्चित हितपूर्ण विधान ।
स्वते मङ्गलहेतु जानमन सुहृद-जिरोमणि श्रीभगवान् ॥
विश्वासी अति भक्त मिल्य संतुष्ट बना रहता यह जान ।
इह स्थितिमें पाता वह मङ्गलमय प्रभुका संसर्श महान् ॥
हृषी-विद्युत-रहित वह रहता सदा परम आवन्द-विनास ।
चित्त-बुद्धि सब रहते उसके विष्व सतत प्रभुमें संलग्न ॥
प्रभुका अतिशय प्रिय वह होता, परम दिव्य समता-सम्पद ।
होता उसके दरमें प्रभुका विष्व नवीन प्रेम उत्तम ॥
एकमात्र प्रभुमें होती उसकी अनन्य मंसका एकान्त ।
हो जाता दुर्लभ फिर उसका परम भगवत् जीवन जान्त ॥

परहित-धर्म

परहित वस जिन्ह के मन महीं । तिन्ह कहूँ जग दुर्लभ कषु नाहीं ॥

सामसी प्रकृतिका महान् बलशाली रावण जगजननी सीताका अपहरण करके लिये जा रहा था । वयोद्धु पश्चिराज जटायुने सीताका कश्चण विछाप मुना और वे दुर्वृत्त रावणके हाथसे उन्हें छुड़ानेके लिये रावणसे मिड गये । पश्चिराजने रावणको रणमें बहुत छकाया और जबतक उनके जीवनकी आहुति न ला गयी, तबतक लड़ते रहे । अन्तमें रावणने जटायुके दोनों पक्ष काटकर उन्हें मरणासन बनाकर निशा दिया और घर सीताजीको ले गया । कुछ समय बाद भगवान् श्रीराम लक्ष्मणके साथ सीताजीको खोजते हुए वहाँ पहुँचे । जटायुको अपने लिये प्राण न्योछावर किये देखकर भगवान् श्रीराम शङ्खद हो गये और ज्ञेशाश्रु चहासे हुए उन्होंने जटायुके मस्तकपर अपना हाथ रखकर उसकी सारी पीढ़ा हर ली । फिर गोदमें उठाकर अपनो जाथसे उसकी धूल झाड़ाने लगे ।

दीन महीन अधीन है अंग जिहंग परयो छिति छित दुखारी ।
राधव दीन दगाकु कृष्णलु को देखि दुखी कहना भद्र भारी ॥
मीठ को गोद में राखि कृपानिधि नैन-सरोजन में मरि बारी ।
बारहि बार सुचारत पंख जटायु की धूरि जटान सों शारी ॥

गुधराज कृतार्थ हो गये । वे गुध-देह त्यागकर तथा चतुर्भुज नीलसुन्दर दिव्यरूप आस करके भगवान्का स्वनन करने लगे—

गीध देह तमि धरि हरि रूप । भूमन बहु पट पीत अनूप ॥
स्थाम गात विसाह मुज चारी । अस्तुति करत नयन धरि बारी ॥



खनन करनेके पश्चात् अविरल भक्तिका वर प्राप्त करके जटायु वैकुण्ठधामको पधार गये—

अविरल मरति मापि वर गीध गदड हरिधम ।
तेहि की किया जयोचित निज कर कीत्वी राम ॥

पर-हितकारीके लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं

पर-दुखको निज-दुख समझकर, कर प्रथम करते परिहार ।
निज सुख देकर सुखी बनाते सहज यान-मद, रहित-उदार ॥
पर-हितको निज स्वार्थ मान, वे परहित करते निज-हित त्याग ।
अतुलनीय सुख असुख करते पुरुष इसीमें वे वदभाग ॥
पर-क्षणमें कर देते वे अपने जीवनका बलिदान ।
मममें इसे समझते वे सज्जन अपना सौभाग्य महान ॥
नहीं मानते वे किं इसको किसी तरह भी पर-उपकार ।
रविके सहज प्रकाश-दान सम होता यह उनका व्यवहार ॥
विमय-विनम्र-हृदय वे नर-वर नहीं जनाते कुछ अहसान ।
उनपर सदा स्वर्यं वरसते अपने हृषा-सुभा भगवान ॥
उनके लिये न रह जासा फिर दुर्लभ कुछ भी कहीं पदार्थ ।
वन जाते वे आप सहज ही परवन परम रूप परमार्थ ॥

सर्वत्रभगवद्गीता-धर्म

पुरानी बात है। कान्तिपुरमें चोल नामक चक्रवर्ती ने द्वारा राज्य करते थे। उनके राज्यमें कोई पापी, रोगी और दुखी नहीं था। यजा निरुत्तर मुक्तदस्तरे दान-पुण्य तथा यह किया करते थे। अपार धन-सम्पत्ति थी। वे बड़े प्रेमसे भगवान्‌के श्रीविग्रहका राजोपचारये पूजन किया करते थे। पर उनके मनमें कुछ गव्व था। वे ऐसा समझने लगे थे कि मैं प्रचुर धनके द्वारा दान-शूलन करके भगवान्‌को जितना अधिक प्रसन्न कर सकता हूँ, उतना दूसरा कोई नहीं कर सकता। वे इस बातको धन-मदमें भूल गये थे कि भगवान् धनसे नहीं, भावपूर्ण मनसे प्रसन्न होते हैं।

उसी कान्तिपुरमें विष्णुदास नामक एक धनदीन दीन बाह्यण भी रहते थे। वे बड़े निष्ठान् तथा भगवान्‌के भक्त थे। उनका विश्वास था कि अद्वा-भक्तिसे समर्पित पञ्च-पुण्यादि छोटी-से-छोटी वस्तुको भी भगवान् बड़े चावंस ग्रहण करते हैं। समुद्रके तटपर थने भग्निरमें राजा चोल और ब्राह्मण विष्णुदास दोनों भगवान्‌के श्रीविग्रहकी पूजा करने जाया करते। एक दिन राजा चोल शहुमूल्य मोतियों, रलों तथा सुन्दरसुन्दर स्वर्ण-पुण्योंसे भगवान्‌की पूजा कर दण्डवत्-प्रणाम करके मन्दिरमें बैठे थे। इतनेमें भक्त विष्णुदास एक हाथमें जलका लोटा और दूसरेमें तुलसी तथा पुष्पसे भरी छोटी-सी छलिया लिये थाहां पहुँचे। विष्णुदासने न राजाकी ओर देखा न रेखाके द्वारा की हुई पूजनकी वहुगूल्य सामग्रीको। वे भावमें मत्स्यालैसे थाये और सीधे भगवान्‌के पास जाकर उनकी पूजा करने लगे। विष्णुस्तकका पाठ करके भगवान्‌को भक्तिके साथ स्नान कराया। स्नानके जलसे राजाके द्वारा चढ़ाये हुए सारे वस्त्राभूपण भींग गये। तदनन्तर उन्होंने फूल-पत्तोंसे भगवान्‌की पूजा की। वह सब देखकर राजाको दुःख हुआ। राजाने कहा—‘केगले ब्राह्मण। मात्रम् होता है हुमसे तनिक मी दुष्टि नहीं है। मैंने मणि-मुक्ताओं तथा लोनेके फूलोंसे भगवान्‌का नितना सुन्दर शुक्रार किया था। तुमने सब क्यों विगाह दिया? वह भी कोई भगवान्‌की पूजा है?’

ब्राह्मणने कहा—‘राजन्! मैंने तुम्हारी पूजाकी सामग्री-को देखा ही नहीं, मेरी समझसे भगवान्‌की पूजा स्वर्ण-पुण्य और मणि-मुक्ताओंसे ही होती हो, ऐसी बात नहीं है। जिसके पास जो कुछ हो, उसीसे वह भक्तिभावपूर्ण हृदयसे भगवान्‌का पूजन-अर्चन करे। भगवान्‌की तुष्टिके

लिये भावकी आपदाकदा है, न कि अनुद्वौलका ही। भगवान् बहिं धनसे ही प्रसन्न होते ही गरीब बेचारे ईसे पूजा कर सकते। अतः तुम धनका गव्व छोड़ दो और अपनी स्थितिके अनुसार वस्तुओंसे भगवान्‌की भावसे पूजा-अर्चना किया करो। दूसरे लोग अपनी स्थितिके अनुसार पूजा करें, इसमें तुम्हें प्रसन्न होना चाहिये।’

पर राजाको तो अभी धनका मद था। उन्होंने पुनः ब्राह्मणका तिरस्तार करते हुए कहा—‘तेरी दरिद्रताने भगवान् प्रहृत्व होते हैं या मेरी धन-सम्पत्तिके अर्पण? अब देखूँगा कि हम दोनोंमें किसको इसके भगवान्‌के दर्शन होता है। मैं भी साधन करता हूँ, तू भी कर।’ ब्राह्मणने राजा की दर्पोंकिसे न हटकर उनका चेलेज स्वीकार किया।

राजा ने महलमें जाकर मुद्रल भुनियों तुलसी और उनके अन्नार्थत्वमें एक बहुत बड़े विष्णुप्रसादका आरम्भ कर दिया। यहुत बड़ी संख्यामें ब्राह्मण विद्वान् तुलसी गंडे तथा राजा गंडे मुक्तदस्तरे धनका सदुपयोग करने लगे। बरीव विष्णुदासके पास धन तो था लें नहीं। उन्होंने जलोंका आचरण, तुलसीवन-सेवन, भगवान्‌के दास्तावर (इन सभी भगवते वासुदेवाय) यन्वका सभाविक जप, नित्य भक्ति-पूर्वीक भगवान्‌का पूजन करना आरम्भ किया। इसीके साथ उन्होंने शाते-योति-साति-जागते, जाते-आति-सत्य यसव भगवत्ताम-का प्रेमपूर्वक समरण करने हुए सर्वत्र समानभावसे भगवान्-के दर्घनका अभ्यास किया। ब्राह्मणके कोई भी वास आदर्शर महीं था। यों राजा और ब्राह्मण दोनों ही इन्द्रियों-को बद्रा करके अपनी-अपनी शक्तिके अनुसार साधन करने लगे। बहुत काल बीत गया।

ब्राह्मण विष्णुदास प्रातःकाल निष्ठकर्म करनेके बाद रोटी बनाकर रख देते और भव्याद्वामें एक यार खा लेते। दिन-रात साधनमें लगे रहते। एक दिन रोटी बनाकर रखती थी, पर रोटी गायब हो गयी। ब्राह्मण भूखे तो थे, पर उचारा रोटी बनानेमें साधनका समय ब्यवहारना अनुचित समझकर ये भूखे रह गये। दूसरे दिन रोटी बनाकर रखती थीं और जब भगवान्‌को भोग लगाने गये तो देखा रोटी नहीं है। इस प्रकार रोटियोंके चौरी होते सात दिन यीत गये। ब्राह्मण भूखसे विकल थे। सोचने लगे, रोटी कौन तुयता है—देखना होगा। अतः आठवें दिन वे रोटी बनाकर एक तरफ छिपकर लड़े हो गये।

उन्होंने देखा कि एक चण्डाल रोटी तुरा रहा है। वह चण्डाल भूख से ब्याकुल था, उसके मुख पर दीनता छायी थी और शरीर चमड़ी से ढाका के बल हिँड़ियोंका छाँचा था। चण्डाली यह दर्शनीय दशा देखकर ब्राह्मण के हृदयमें दशा उमड़ आयी, उसी रसमें यत्कृतमें सर्वत्र भगवान्‌को देखने वाले विष्णुदासने चण्डाली को भगवान् गानकर कहा—“ठारो-ठहरो, रखा अज्ञ कैसे लाओगो ? मैं की चेता हूँ, इससे रोटी तुराइकर लाओगो ।” चण्डाल दरकर भगा। ब्राह्मण थीका पात्र लिये ‘ठहरो, थी ले लो’—पुकारते हुए



पीछे-पीछे दौड़े। कुछ दूर जानेपर भूखा-थका चण्डाल भूषित होकर निर पढ़ा। ब्राह्मण श्रेष्ठ विष्णुदास कृपापूर्व उसको कपड़ेसे हवा करने लगे। इसी थीव विष्णुदासने देखा—“चण्डालके शरीरमें साक्षात् शश्वत्-चक्रभद्रा-पदा धारण किये सर्वं चतुर्सूज भगवान् नारायण प्रकाश हो गये हैं। विष्णुदास आनन्दमें बेसुख हुए उस मधुर मनोहर छवि-सुधाका नेत्रोंके द्वारा पान करने लगे।

तदनन्तर इन्द्रादि देवता सथा नृपि आ गये। भगवान् विष्णुने अपने परम सत्त्विक मन्त्र विष्णुदासको प्रेममें आस्तिहनकर अपने साथ विमानमें बैठाया। विमान आकाश-पथसे चोल राजा के यशस्विलके कपरसे निकला। पश्चातीक्ष्ण चोलराजने देखा—दरिद्र ब्राह्मण केवल मानपूर्व भक्तिके प्रतापसे उनके यहकी पूर्णहुतिके पहले ही भगवान्‌का प्रत्यक्ष दर्शन करके उनके साथ वैकुण्ठ का रहा है। चोलराजका सारा धन-दर्प चूर्ण हो गया। सारा गर्व गल गया। राजा के सनमें धनसे सम्पन्न होनेवाले कर्षणी जी एक विशेष महत्त्व थी, वह नष्ट हो गयी। वही एक प्रतिवन्धक था, वह दूर ही गया। यजकी पूर्णहुति हो रही थी। चोलराजके पुत्र नहीं था, अतः उन्होंने भानजेको राज्यविकारदे दिया और यशकुण्डके समीप रहने होवार—है भगवन् ! सुझे मन याणी, शरीर और कर्मद्वारा होनेवाली अविचल भक्ति प्रदान कीजिये—कहते हुए वे यशकुण्डमें कूद पड़े। राजा भगवान्‌के भक्त दे ही, उनकी धन-सम्पत्ति भी भगवान्‌की सेवामें ही लगी थी, विष्णुयज्ञका फल भी होना था। एक धन-भार्वकी यात्रा थी, वह दूर ही गयी। अतः उनके यशकुण्डमें कूदते ही भक्तवत्सल भगवान् नारायण यज्ञमिति आसिर्भूत हो गये। राजा को हृदयसे लापकर विमानपर बैठाया और अपने साथ वैकुण्ठधामको ले गये।

सर्वत्र भगवद्दर्शन

जो नित सबमें देखता, चिन्मय और भगवान् ।
हीता कभी न वह परे, हृषि-हगये विद्वत् ॥
के जाते हरि सबं आ, उसको निज परवाम ।
देते नित्य रुह्य नित, विदानन्द अभिराम ॥



COLLECTION OF VARIOUS
→ HINDUISM SCRIPTURES
→ HINDU COMICS
→ AYURVEDA
→ MAGZINES

FIND ALL AT [HTTPS://DSC.GG/DHARMA](https://dsc.gg/dharma)

Made with
By
Avinash/Shashi

[creator of
hinduism
server]

धर्मपर स्वामी विवेकानन्दके कुछ विचार

(संकलनकारी—श्रीमुकुलालजी मालवीय ‘भरत’ पर्सू काम०)

संसारका प्रत्येक धर्म गङ्गा और युफेटिस नदियोंके मध्यवर्ती सूखपट्टपर उत्पन्न हुआ है। एक भी प्रधान धर्म दूरोप वा अमेरिकामें पैदा नहीं हुआ। एक भी नहीं। प्रत्येक धर्म ही धर्मान्वयन्मूल है और वह भी केवल उसी अंदरके बीच। ये सब धर्म अब भी जीवित हैं और जितने ही मनुष्योंके लिये उपकारजनक हैं।

* * * *

‘हिंदू-जातिने अपना धर्म अपौरुषेय वैदेशी प्राप्त किया है। वैदान्तमें दिये हुए धर्मोंके सिद्धान्त अपरिवर्तनीय हैं; क्योंकि वे उन शाश्वत सिद्धान्तोंपर आधारित हैं जो कि मनुष्य और प्रकृतिमें हैं। वे कभी भी परिवर्तित नहीं हो सकते। आत्माके और बोक्षप्राप्ति आदिके विचार कभी भी नहीं बदल सकते।’

‘भिन्न-भिन्न मत-सत्तान्वयोंपर चिश्चासके समान हिंदू-धर्म नहीं है वरं हिंदू-धर्म तो प्रत्यक्ष अनुभूति या साक्षात्कारका धर्म है। हिंदू-धर्ममें एकजातीय भाव देखनेको मिलेगा। वह है आध्यात्मिकता। अन्य किसी धर्ममें एवं संसारके और किसी धर्म-ग्रन्थमें ईश्वरकी संज्ञा निर्देश करनेमें इतना अधिक बल दिया गया हो। ऐसा देखनेको नहीं मिलता।’

* * * *

‘धर्म अनुभूतिकी वस्तु है। मुखकी वात, मत्तवाद अथवा युक्तिमूलक कल्पना नहीं है—व्याहृत वह कितनी ही सुन्दर हो। आत्माकी प्रश्नात्वरूपताको जान लेना, तप्तप हो जाना—उसका साक्षात्कार करना—यही धर्म है।

{ धर्म केवल सुनने या मान लेनेकी चीज नहीं है, समझ मन-प्राण विश्वासके साथ पुक छो जाय—यही धर्म है।’

‘धर्मका अर्थ है आत्मानुभूति, परंतु केवल कोरी कहस, खोखला विवास, अँचेरेमें टटोलबाजी तथा तोतेके समान शब्दोंको हुहराना और ऐसा करनेमें धर्म समझना यद्य धार्मिक सत्से कोई राजनीतिक विष छँड निकालना—यह सब धर्म विलुप्त नहीं है।’

* * * *

‘प्रत्येक धर्मके तीन भाग होते हैं। पहला दार्शनिक भाग—इसमें धर्मका सारा विषय अर्थात् मूलतत्त्व, उद्देश्य और लाभके उपाय निहित हैं। दूसरा पौराणिक भाग—यह

स्थूल उदाहरणोंके द्वाय दार्शनिक भागको स्पष्ट करता है। इसमें मनुष्यों एवं अति-प्राकृतिक पुरुषोंके जीवनके उपायान आदि लिखे हैं। इसमें सूक्ष्म दार्शनिक तथ्य मनुष्यों या अति-प्राकृतिक पुरुषोंके जीवनके उदाहरणोंद्वारा समझाये गये हैं। तीसरा आनुष्ठानिक भाग—यह धर्मका स्थूल भाग है। इसमें पूजा-पढ़ति, आचार अनुष्ठान, शारीरिक विविध अङ्ग-विन्यास, पुष्प, धूप, धूती प्रस्तुति जैसा प्रकारकी इन्द्रियग्राह्य वस्तुएँ हैं। इन सबको मिलाकर आनुष्ठानिक धर्मका संगठन होता है। उने विलयात् धर्मोंके ये तीन विभाग हैं।’

* * * *

‘ईश्वर पृथिवीके सभी धर्मोंमें विद्यमान है। वह अनन्त-कालसे वर्तमान है और अनन्तकालतक रहेगा। भगवान्-से कहा है—‘मयि सर्वैमिदं प्रोत्तं सूत्रे मणिमाणा इत्।’ मैं इस लगतमें मणियोंके भीतर सूत्रकी भाँति वर्तमान हूँ—प्रत्येक मणिको एक विशेष धर्म, मत या सम्प्रदाय कहा जा सकता है। पृथक्-पृथक् मणियाँ एक-एक धर्म हैं और प्रभु ही सूत्र-रूपसे उन सबमें वर्तमान है।’

* * * *

‘निःस्वार्थता ही धर्मकी कसीटी है। जो जितना अधिक निःस्वार्थ है वह उतना ही अधिक आज्ञातिक और विद्यके समीप है।’

‘जहाँ यथार्थ धर्म वहाँ आत्मशल्दान। अपने लिये कुछ मत चाहो, दूसरोंके लिये ही सब कुछ करो—वही है ईश्वरमें तुम्हारे जीवनकी शिति, गति तथा प्रगति।’

‘क्या वास्तवमें धर्मका कोई उपयोग है ? हाँ, वह मनुष्यको अमर बना देता है। उसने मनुष्योंके निकट उसके यथार्थ स्वरूपको प्रकाशित किया है और वह मनुष्योंको ईंधर बनायेगा। यह है धर्मकी उण्डोगिता। मानव-समाजसे धर्म पृथक् कर लो तो सभा रह जायगा। कुछ नहीं केवल पशुओंका समूह।’

‘संसारमें जितने धर्म हैं, वे परस्परविवेदी या ग्रन्तिरोधी नहीं हैं। वे केवल एक ही विरलतन शाश्वत धर्मके भिन्न-भिन्न भावमान हैं। यही एक सनातन धर्म चिरकालसे समस्त विश्वका आधाररूप रहा है।’